कल्याण पथ :
निर्माता और राही
भगवती प्रसाद सिंह

'कल्याण' के यशस्वी संपादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार (भाईजी) भारतीय मनीषा के अनन्य आराधक तथा उच्चकोटि के चिंतक थे। जिस अप्रतिम अध्यवसाय से उन्होंने इस पत्रिका द्वारा जनता में ज्ञानवर्द्धन के साथ-साथ धार्मिक और नैतिक चेतना भरी है, वह पत्रकारिता-जगत में सर्वथा अदृष्टपूर्व एवं अनुपमेय है। कल्याण के माध्यम से उन्होंने भारतीय साधना-जगत के अनेक रहस्य आस्तिक विश्व के समक्ष उपस्थित किये।

पोद्दारजी की कर्मशीलता मात्र साहित्य तथा संस्कृति के ही क्षेत्र में आबद्ध नहीं रही। लौकिक जीवन की भीषण समस्यायों से पीड़ित मानवता के आर्तिनाश हेतु वे सतत् प्रयत्नशील रहे। इतना ही नहीं साधन-जीवन की जटिल समस्याओं को भी प्रत्यक्ष उपदेश अथवा पत्राचार के माध्यम से दूर करने का इंगित कर वे असंख्य साधकों के व्याकुल हृदयों को शान्ति प्रदान करते रहे। इन सारे कार्यों के पीछे उनकी अपनी साधना की प्रेरणा रही है।

पोद्दारजी एक अप्रतिम पत्रकार, धार्मिक साहित्य के प्रणेता और लोक-सेवानिष्ट महापुरुष ही नहीं, महाभाव और रसराज—श्री राधा-माधव-तत्व—में निमग्न भागवती-स्थिति-प्राप्त रसिकभक्त भी थे। उन्होंने उच्च भाव-साधना के द्वारा प्रिया-प्रियतम की दिव्य लीला में प्रवेश तथा उससे निर्गत महारस के आस्वादन का दुर्लभ अधिकार प्राप्त किया था।

एषणाओं से मुक्त ऐसे महामानव के जीवन-दर्शन का अनुशीलन तथा कृतित्व का चिंतन-विवेचन वर्तमान समाज के पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने और आध्यात्मिक दिशा प्रदान करने में निःसंदेह प्रेरक सिद्ध होगा।

मूल्य : साठ रुपए

कल्याणपथ : निर्माता और राही

[श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार का जीवन-दर्शन]

भगवतीप्रसाद सिंह
आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

श्री राधामाधव सेवा संस्थान, गोरखपुर

KALYAN-PATH : NIRMATA AUR RAHI

BIOGRAPHY AND DEVOTIONAL PHILOSOPHY OF
SHRI HANUMAN PRASAD PODDAR

by

Bhagwati Prasd Singh
PROFESSOR & HEAD
DEPT. OF HINDI
UNIVERSITY OF GORAKHPUR

FIRST EDITION : 1980
Rs. 60·00

प्रथम संस्करण : सं० २०३७
मूल्य : साठ रुपये

प्रकाशक—श्री राधामाधव सेवा संस्थान, गीतावाटिका, गोरखपुर
मुद्रक—शिवलाल प्रिन्टर्स, नायकबाजार, विशेश्वरगंज, वाराणसी

भाईजी की
स्वरूपस्थिति के मर्मज्ञ
स्मृतिशेष
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
को
सप्रणति
सर्मपित

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

□

प्राक्कथन

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार महाशय मेरे चिरपरिचित सुहृद् हैं। अपने इस दीर्घ जीवन में मुझे अनेक साधु-पुरुषों के सत्संग का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके जीवन के उपलब्ध सत्य को मैं जितना समझ सका, उसे मैंने उन्हीं के शब्दों में लिपि-बद्ध कर रक्खा है। इन महात्माओं द्वारा अनुभूत सत्य से मैंने अपने जीवन में भी साधना के अनेक संकेत प्राप्त किये हैं। वस्तुतः साधना के संकेत प्राप्त करना ही उन दिनों मेरा मुख्य उद्देश्य था। किसी दिन उन साधुओं की जीवनी और उनके वचनों को प्रकाशित करके पाठकों के सामने रखा जायगा, ऐसी न तो मेरी धारणा थी और न तब इसकी कोई आशा ही थी। इधर मेरे द्वारा लिखित 'साधु दर्शन ओ सत्प्रसंग'

दो भागों में प्रकाशित हुआ है, वह मेरे साधु-संग और उनके जीवन-परिचय का ही फल है। मेरे प्रिय शिष्य एवं परम स्नेहभाजन डा० भगवतीप्रसाद सिंह महाशय द्वारा लिखित 'मनीषी की लोकयात्रा' नामक ग्रंथ में भिन्न-भिन्न साधुओं से मेरा परिचय कैसे संभव हुआ, इसका विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

'भाईजी' एक उच्चस्थिति-प्राप्त निष्काम-कर्मयोगी और साधक हैं। इनकी व्यक्तिगत जीवन-धारा से पूरा अंतरंग परिचय न होने पर भी मैं इन्हें जितना जान सका, उससे मेरी यह धारणा हुई कि कर्म-कोलाहल में निरत रहते हुए भी भाईजी अपनी साधना के गूढ़ रहस्य को जन-सामान्यकी आँखों से ओझल रखने के लिए सर्वदा चेष्टित रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप साधारण लोग इन्हें निरालसी कर्मयोगी के रूप में ही मानते हैं या ऐसी धारणा रखते हैं।

जो लोग साधन-जगत में असाधारण स्थिति प्राप्त करते हैं, उनकी जीवनधारा साधारण मनुष्यों के जीवन से अनेक अंश में पृथक् होती है। सुनने में आया है कि भाईजी ने राजस्थान के नाथपंथी महात्मा श्रीटूँटिया महाराज तथा बखन्नाथजी के पवित्र आशीर्वाद से जन्मग्रहण किया था। जिस परिवार में इनका आविर्भाव हुआ; वह धर्मजीवन की पवित्र परिधि से सम्पन्न था। इनकी पितामही ने स्वयं पौत्र की जीवनधारा में आध्यात्मिकता का स्रोत प्रवाहित किया था, जिसके फलस्वरूप बचपन में ही ये गीता, विष्णुसहस्रनाम तथा भगवन्नाम-जप के प्रति आकर्षित हो गये थे। आगे चलकर अपने जीवन में ये गीताप्रेस, 'कल्याण' और ऐसे संगठनों के पूर्ण संचालन का भार ग्रहण करेंगे, भगवान ने इस जीवन-स्वरूप के निर्माण का कार्य इनके भूमिष्ठ होने के पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था। अपने जीवन की कार्यावलियों की कारण-परम्परा का अध्ययन करते हुए भी हमलोग प्रायः यह नहीं जान पाते कि कौन-सा कार्य किस विशेष उद्देश्य से सम्पादित हो रहा है? सभी कार्यों के पीछे श्रीभगवान का अलक्ष्य संकेत वर्तमान है, इस तथ्य की यथार्थ उद्भावना कितने लोग कर सकते हैं? पोद्दारजी की जीवनधारा एक अलक्ष्य इंगित से परिचालित होकर जिस प्रकार नित्य-जीवन के रसस्रोत में अवगाहन करने के लिए अग्रसर हो रही थी, यह बात क्या इन्हें स्वयं भी विदित थी? जगत-व्यवस्था का यह एक अत्यन्त गोपनीय तत्त्वरहस्य है। इसके प्रकट होने पर ईश्वरीय अभिरुचि के यथायथ सम्पादन का मार्ग विघ्न-संकुल हो उठता है।

भारत भूमि को विदेशियों द्वारा पदाक्रान्त देखकर किशोरवय में पोद्दारजी का हृदय मर्माहत हो उठा। इस असह्य वेदना का भार वहन एवं सहन करते हुए मूक जैसा जीवन व्यतीत करना भाईजी जैसे कर्मी के लिए सम्भव नहीं था। फलतः अन्य सहस्रों स्वाधीनताप्रेमी भारतीय युवकों की भाँति ये भी स्वतन्त्रता-संग्राम की कर्मभूमि में कूद पड़े। अध्ययनकाल में वपित स्वाधीन भारत के स्वप्न-बीज ने अग्नि-स्फुलिंग

की भाँति जैसे मेरे जीवन की समग्र सत्ता को उद्दीप्त कर दिया था, वैसे ही विदेशी अंग्रेजों द्वारा शृंखलिता जननी के कातर-क्रंदन से भाईजी का भी मानस उद्वेलित हो उठा। अपनी जन्म तथा कर्मभूमि बंगदेश में व्याप्त विप्लवी (क्रान्तिकारी) आन्दोलन में सक्रिय योगदान देने से वे स्वयं को न रोक सके। फलतः तत्कालीन क्रान्तिकारी दलों के नेता श्रीअरविंदघोष, श्रीब्रह्मबान्धव उपाध्याय, श्रीरासबिहारी घोष, श्रीविपिन चंद्र गांगुली आदि के साथ उनका घनिष्ठ योग शीघ्र ही संघटित हो गया। प्रत्येक स्वाधीनताकामी के भाग्य में जो असहनीय दुःख, कष्ट तथा वेदना होती है, अंग्रेजों के कठोर निष्पेषण से वह पोद्दारजी के भी हिस्से में आयी। निष्ठुर शासन ने उन्हें अविलम्ब बन्दी बना लिया। अलीपुर जेल में कुछ समय तक रहने के पश्चात् उन्हें बाँकुड़ा के समीपस्थ शिमलापाल नामक स्थान में २१ महीने तक अन्तरीण (नजरबन्द) रहना पड़ा। यह स्थिति इनके लिए शाप में वरदानस्वरूप सिद्ध हुई। यद्यपि पूर्वजन्म के साधनलब्ध इस जन्म के पूर्व से ही घर के धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण, पितामही के आध्यात्मिक आकर्षण से समय-समय पर घर में शुभागमन करनेवाले विभिन्न विलक्षण साधु-महात्माओं के सत्संग, पितामह तथा पिता के द्वारा प्राप्त आदर्श आध्यात्मिक शिक्षा आदि के द्वारा प्राप्त प्रबल तथा पवित्र आध्यात्मिक संस्कार इनके हृदय में प्रचुर मात्रा में विद्यमान था, पर इनके राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र के राजसिक वातावरण में संलग्न एवं व्यस्त रहने के कारण वे प्रायः सुप्त-से हो गये थे। मन नाना प्रकार के बहिर्मुखी विचारों से विक्षिप्त-सा रहता था। श्रीभगवान् के मंगल विधान से प्राप्त इस एकान्तवास में साधन-तत्परता के परिणामस्वरूप वे संस्कार जाग उठे, विक्षिप्त मन भगवान में केन्द्रीभूत और स्थिर होने लगा। श्रीजयदयाल गोयन्दका, स्वामी जगदीश्वरानन्द भारती प्रभृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क तथा आगे चलकर श्रीअरविन्द का निकट संग प्राप्त होने से इनको भगवान की गीतोक्त दिव्य-वाणी के अनुसार भागवत-जीवन-निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। वास्तव में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी रूप में सही, इनकी जीवनधारा के निर्माण में गीता का महत्त्व मुख्यतया सर्वोपरि है।

इक्कीस महीने तक अन्तरीण व्यवस्था में रखने के उपरांत अंग्रेजी सरकार ने इन्हें बंगदेश से निष्कासित कर दिया। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि पोद्दारजी के हृदय में बंगदेश के प्रति एक बंगाली-जैसा ही प्रेम है। बंगला भाषा साहित्य तथा बंगाल की सांस्कृतिक भावधारा के वे अनन्य भक्त हैं। वे न केवल धाराप्रवाह बंगला बोलते हैं, वरन् बंगीय विद्वानों की भाँति ही बंगभाषा में पत्राचार तथा काव्यरचना भी करते हैं। उनकी जन्मभूमि वर्तमान आसाम प्रांत का 'शिलांग' नामक नगर है, जो तत्कालीन बंग-प्रदेश के ही अन्तर्गत था। इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि बंगदेश से निष्कासित होते समय इनका हृदय कितने मर्मान्तिक शूल से आहत हुआ होगा।

बंगाल से निष्कासित होने के अनन्तर ये राजस्थान होते हुए पूर्व परिचित सेठ जमनालाल बजाज की प्रेरणा से बम्बई गये। महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय एवं बालगंगाधर तिलक के साथ इनका सम्पर्क पहले से था ही, वह और भी बढ़ा और अनेक अन्यान्य आध्यात्मिक महानुभावों से इनका निकट का सम्बन्ध हो गया। इसी समय इनके हृदय में क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रति आकर्षण का ह्रास हुआ और आध्यात्मिकता का द्रुतगति से विकास होने लगा। देशवासियों को स्वाधीनता के प्रति आकृष्ट करने तथा उनके जीवन को गीता के आदर्श के द्वारा प्रबुद्ध करने के उद्देश्य से श्रीजमनालाल बजाज की सम्मति से इन्होंने बम्बई में सत्संग का दैनिक कार्यक्रम आरम्भ किया। इसके साथ ही गीतातत्त्व के प्रचार का कार्यक्रम भी चलता रहा। इनकी यह दृढ़ धारणा हो गयी कि गीता में उपदिष्ट निष्कामकर्म के आदर्श द्वारा प्रेरित होने पर ही भारतीय जनसमुदाय सर्वकर्म में भगवत्सेवा की भावना तथा कर्म करते हुए भी फल की ओर लक्ष्य न रखकर कर्म करने की पवित्र शिक्षा ग्रहण कर भगवान् की ओर अग्रसर हो सकेगा। सत्संग, गीतातत्त्व का प्रचार करते तथा साधना में प्रवृत्त रहते समय इनके मन में यह विचार उठा कि व्यापार आदि के साथ सम्पर्क रखते हुए न तो गीता के आदर्श का प्रचार-कार्य ठीक-ठीक सम्पन्न हो सकता है और न साधना में ही पूर्णरूप से लगा जा सकता है। इन्होंने अपनी व्यक्तिगत व्यवसाय-वृत्ति का उपेक्षा के साथ त्याग कर दिया। तब से निःस्पृह, निरहंकार तथा अकिंचन होकर भागवत-जीवन-यापन करना ही इनका यथार्थ कर्मादर्श बन गया।

कह नहीं सकता कि सं० १९२७ के किस सुयोग में पोद्दारजी का गोरखपुर आगमन हुआ। श्रीभगवान् की असीम करुणा से श्रीजयदयाल गोयन्दका महाशय के साथ इनका सम्पर्क पहले से था ही। गोयन्दकाजी कुछ दूर के सम्पर्क में इनके मौसेरे भाई लगते थे। उन्हीं की सत्प्रेरणा-सहयोग से 'गीताप्रेस' नाम की संस्था स्थापित हुई और उन्हीं की देखरेख में उसका संचालन होता रहा।

हमारे देश में पुस्तक-प्रकाशन एक व्यवसाय है। उससे सामान्यतया सर्वत्र प्रकाशकगण लाभान्वित होते हैं। उनके प्रकाशन-कार्य का मुख्य उद्देश्य ही होता है— व्यापार-वृद्धि के द्वारा यथेष्ट अर्थोपार्जन। ऐसी स्थिति में यह देखकर प्रसन्नता होती है कि गीताप्रेस का लक्ष्य आरम्भ से ही धार्मिक ग्रंथों को केवल प्रकाशन-व्यय तथा कभी-कभी उसमें भी अर्थक्षति उठाकर धर्मानुरागी व्यक्तियों को अत्यन्त अल्पमूल्य में सुलभ कराना रहा है। इस प्रकार इस संस्था के द्वारा गीता, रामायण, उपनिषद्, विविध पुराण, पुराण-कथाएँ तथा चरित्र निर्माणोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार केवल पुस्तक-प्रकाशक के रूप में ही नहीं, इस संस्था ने मानव में यथार्थ मानवता का निर्माण करने वाले मानव-समाज-कल्याणकारी नाना-विध कार्यों के द्वारा सच्चे सार्थक सेवक के रूप में भी अपने को उपस्थित किया है और इसमें देशव्यापी ख्याति प्राप्त की है।

'कल्याण' एक वर्ष तक बम्बई से प्रकाशित हुआ था। फिर पोद्दारजी के साथ वह भी गोरखपुर आ गया था। गोरखपुर में 'कल्याण' का प्रकाशन-कार्य आरम्भ होने के समय से ही श्रीजयदयाल गोयंदका के साथ और उसके कुछ ही दिनों बाद पोद्दारजी से मेरा घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। जब से मुझे इन दोनों महानुभावों को अति निकट से देखने का अवसर मिला, तभी से इनकी निष्कपट-निष्ठा, त्याग-भावना तथा लाभेच्छा के प्रति तीव्र उपेक्षा देखकर मेरा हृदय स्वभावतः ही उनके कर्मोद्यम के प्रति श्रद्धाशील हो गया। कालांतर में यही 'कल्याण' के साथ मेरे अनवरत सहयोग का कारण बना। इसी बीच पोद्दारजी अनेक रूपों में मेरे दृष्टिपथ में आये—कभी एक निरभिमानी कर्मी के रूप में, कभी सर्वहित-रत समाज-सेवक के रूप में तथा कभी धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धालु एवं दृढ़ विश्वासी के रूप में। छात्र जीवन में पढ़ा था 'कर्म ही उपासना है' (Work is worship), परिणत वय में ऐसे 'उपासक' को पोद्दारजी के रूप में अपने सामने खड़ा पाया।

'कल्याण' के प्रकाशनकाल से ही उस पत्र के साथ मेरा जो संयोग और पोद्दारजी के साथ जैसी आत्मीयता या सौहार्द्रंच स्थापित हुआ, वह आज तक अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। यह योग, हृदय का योग है। पोद्दारजी को सम्पादन-कार्य से सम्बन्धित सर्वकर्म में मेरा अनवरत सहयोग सहज ही उपलब्ध रहा है। उन्हीं के आग्रह से मैंने इतने कालतक जो रचनाएँ की हैं, उनके मुख्य अंश 'कल्याण' के विभिन्न अंकों में यथासमय प्रकाशनार्थ अर्पित होते रहे हैं। आज से ४० वर्ष पूर्व स० १९८८ में 'भगवत्-विग्रह' नामक मेरा प्रथम लेख 'कल्याण' के 'श्रीकृष्णांक' में निकला था। उस समय से लेकर आगे जब कभी भी 'कल्याण' का कोई विशेषांक निकालने की योजना बनी, तो पोद्दारजी ने कभी स्वयं उपस्थित होकर और कभी लोकमाध्यम से उसकी विषयसूची तैयार कराने में सदा मेरे परामर्श का सत्कार किया। इस प्रकार श्रीकृष्णांक, ईश्वरांक, शिवांक, शक्ति-अंक, योगांक, संतांक, गो-अंक, साधनांक, वेदान्तांक, हिन्दू-संस्कृति-अंक, मानवता-अंक, परलोक एवं पुनर्जन्मांक प्रभृति प्रस्तुत हुए।

'कल्याण' के विशेषांकों में मेरे निबन्ध अवश्य रहें, इस विषय में पोद्दारजी का एकान्त आग्रह रहता था और अब तक है। काशी गोरखपुर से दूरस्थ है। अतः इन्होंने मेरे सन्निकट एक ऐसे बंगभाषी सज्जन को नियुक्त कर रखा था, जो प्रतिदिन मेरे यहाँ आकर 'कल्याग' के लिए निवंध संग्रह करते थे। वे थे—मेरे अति परिचित दिवंगत सतीशचन्द्र गुह ठाकुरता। ये 'डान सोसाइटी' के संस्थापक साधक सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय महाशय के विशेष स्नेहपात्र थे। गुह महोदय पहले मेरे सिगरा-स्थित घर के पास ही 'छोटी-गैबी' नामक मुहल्ले में रहते थे। किन्तु बाद में मेरे घर में ही रहने लगे थे। उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक असुविधा न भोगनी पड़े, इस हेतु पोद्दारजी ने उनके लिए मासिक वृत्ति की व्यवस्था कर दी थी। इससे 'कल्याण' के निमित्त सामग्री-संकलन का कार्य अनवरत निर्बाध रूप से चलता रहता था।

विशेषांकों के अतिरिक्त 'कल्याण' के अन्य साधारण अंकों में भी मेरे रचित अनेक निबन्ध प्रकाशित होते रहे हैं। आज यही 'कल्याण' पोद्दारजी के असामान्य कर्म एवं सेवा के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित है। इसके द्वारा भारतीय साधना जगत के अनेक रहस्य पाठकों के समक्ष उपस्थित किये जा सके हैं। भविष्य में जो लोग भारतीय साधना के इतिहास के सम्बन्ध में अनुसंधान करेंगे, 'कल्याण' के विशेषांक उनके लिए निस्संदेह अक्षय ज्ञानराशि के कोष सिद्ध होंगे। भारतवर्ष का पाठक-समाज पोद्दारजी के इस असामान्य ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

'कल्याण' जिस प्रकार हिन्दी में धार्मिक विषय की नानाविध आलोचना से समृद्ध है, उसी प्रकार 'कल्याण-कल्पतरु' नामक अंग्रेजी मासिक एक उत्कृष्ट धार्मिक पत्र है। मेरे छात्र श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित होकर यह गीताप्रेस से ही प्रकाशित होता है। इसके माध्यम से प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान की ज्योति विश्व तथा भारत के अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में विकीर्ण होती है।

'कल्याण' के सम्बन्ध में मुझे एक बात स्मरण हो रही है। मेरे पूज्य गुरुदेव परमहंस विशुद्धानन्दजी महाराज ने मुझसे इस पत्र की कई बार भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। वे कहते थे—' इस प्रकार की धार्मिक पत्रिका के बहुत प्रचार से मनुष्य जीवन की भावशुद्धि होती है और धर्म के प्रति उसका मन आकृष्ट होता है, जिससे अंत में परमकल्याण सम्पादित होता है।'

पोद्दारजी की कर्मशीलता मात्र साहित्य तथा संस्कृति के ही क्षेत्र में आबद्ध नहीं रही। 'कल्याण' के माध्यम से ही वे लौकिक जीवन की भीषण समस्याओं से पीड़ित मानवों की आर्तिनाश के लिए उपयुक्त पथ-निर्देश करते हुए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। इसके साथ ही साधन-जीवन की जटिल समस्याओं का संकेत प्राप्त होने पर ये उन्हें दूर करने के मार्ग का इंगित देकर असंख्य साधकों के आकुल हृदयों को शान्ति प्रदान करते रहे हैं।

इन सभी कार्यों के पीछे इनकी अपनी साधना की प्रेरणा रही है। नाथपंथी तथा अन्यान्य महात्मा एवं वैष्णव संतों से इन्हें प्रारम्भिक जीवन में जो साधनक्रम प्राप्त हुआ था, वह था भगवन्नामजप के साथ ही गीता और विष्णु सहस्रनाम का पारायण। यह प्रक्रिया १२ वर्ष की अल्पायु के पूर्व से ही आरम्भ हो गयी थी। सुनने में आया है कि कलकत्ता में रहते समय पोद्दारजी एक प्रसिद्ध तान्त्रिक महानुभाव के सिद्ध शिष्य के सम्पर्क में आये थे और उनकी प्रेरणा से तारायन्त्र स्थापन करके कुछ समय तक उसकी पूजा की थी। उस समय इन्हें कुछ दिव्य अनुभव भी प्राप्त हुए थे। पीछे शिमलापाल के राजनीतिक-बन्दी-जीवन में इन्हें गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय के विविध ग्रन्थों का एकाग्रचित्त होकर स्वाध्याय करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

गौड़ीय-वैष्णव-साधना और राधाकृष्ण-तत्त्व के सम्बन्ध में इनका आग्रह पूर्व जन्मार्जित संस्कार, वैष्णव संतों के संग, साम्प्रदायिक साहित्य के गहन अनुशीलन और विशेषरूप से श्रीराधामाधव की अनिर्वचनीय कृपा का ही प्रतिफल है। इस आग्रह से अन्य साधु-संतों के प्रति भी इनकी निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। मेरे पूज्य गुरुदेव परमहंस श्रीविशुद्धानन्द, साधक-श्रेष्ठ सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय, पागल हरनाथ, वैष्णव-श्रेष्ठ रसिकमोहन विद्याभूषण, श्रीउड़ियाबाबा, शरत्चन्द्र बनर्जी, भोलेबाबा, महात्मा श्रीअच्युतमुनि, स्वामी योगानन्दजी, शंकराचार्य श्रीभारती कृष्णतीर्थजी, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, स्वामी मंगलनाथजी, रामानुजाचार्य श्रीअनन्ताचार्य जी, स्वामी श्रीभक्तिवेदान्त सरस्वती प्रभृति साधु-महात्माओं के सान्निध्य में रहकर इन्होंने उनकी साधना के विभिन्न गुह्य-तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त किया।

पोद्दारजी का जीवन किस प्रकार साधन जगत के गूढ़ अन्तर्लोक में प्रविष्ट हुआ है, यद्यपि इसकी सविशेष जानकारी मुझे नहीं है, तथापि उनमें लोकसेवा का जो आदर्श प्रकट हुआ है, उसके सम्बन्ध में तथा उसीके साथ-साथ उनकी ऊँची भावसाधना के स्वरूप का कुछ संकेत यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

भारतवर्ष का प्राचीन जीवनादर्श था—अपने पारमार्थिक-आदर्श-पालन के साथ-साथ जगत तथा समाज के सर्वांगीण हितसाधन की चेष्टा करना। प्रायः लोग इसीको 'सर्वभूत-सेवा' अथवा 'जगत-सेवा' के रूप में ग्रहण करते हैं, किंतु मेरे विचार में यह वास्तविक सेवा का आदर्श नहीं है। सेवा अतीव उच्चस्तरीय धर्म है, जो मुक्ति-प्राप्ति अथवा मुक्ति के आदर्श से अनुप्राणित होने के पूर्व यथार्थ रूप से कथमपि नहीं की जा सकती। जीव तथा जगत की सेवा प्राचीन भारतीयों का आदर्श था, परन्तु पुण्यकर्म के रूप में उसका अनुष्ठान होने पर उसे आदर्श सेवा नहीं माना जा सकता। चित्त-शुद्धि तथा ज्ञान के उदय के पूर्व नाना प्रकार के पुण्यकार्यों का विधान अवश्य है। इन सब पुण्यकार्यों का सुफल कर्म के कर्ता को ग्रहण करना पड़ता है। कर्म का कर्ता चाहे तो उस सुफल को विश्व-कल्याण के निमित्त अर्पित कर सकता है। प्राचीन काल में प्रायः लोग ऐसा किया भी करते थे। परन्तु वास्तविक बात यह है कि इस प्रकार का कर्म पुण्यजनक है, किन्तु निष्काम भाव से किये जाने पर वह परमकल्याण की प्राप्ति का हेतु बन सकता है। फल की आकांक्षा रहने पर पुण्यकर्म का फल कर्ता स्वयं ग्रहण करता है, फल की आकांक्षा न रहने पर वह कर्म विश्वकल्याण के लिए अर्पण किया जा सकता है। किन्तु आदर्शसेवा तो उसी को कहते हैं, जिसमें फलाफल का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस आदर्शसेवा-भाव की प्राप्ति के पूर्व सेवको सेवाभाव के उपयुक्त बनना पड़ता है। प्रसिद्ध है—

'सेवा धर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।'

वास्तविक सेवक होने पर स्वभाव से ही सेवा-कार्य सम्पन्न होता रहता है। सूर्य जैसे किसी के उद्देश्य से, किसी के भी आदेश से, किरणों का दान नहीं करता, सूर्य स्वयं तेजोमय है, उस में अनन्त-तेज-राशि सन्निविष्ट है। वह तेज उसमें से स्वभावतः ही निर्गत होकर चतुर्दिक् व्याप्त हो जाता है। उसी अवस्था में कहा जाता है कि सूर्य जगत की सेवा कर रहा है। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। जिन्हें स्वभावतः ज्योति प्राप्त हो गयी है, उनके लिए ज्योति को विकीर्ण करना स्वभाव का ही कार्य मात्र है, 'ज्योति या प्रकाश फैलायेंगे' यह कहकर उन्हें ज्योति को विकीर्ण नहीं करना पड़ता। यही निःस्वार्थ सेवा का आदर्श है। प्राचीन काल में इसीलिए जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में लोकसंग्रहकी चर्चा मिलती है। जो स्वयं जीवनमुक्त नहीं है, वह तो स्वयं ही अभावग्रस्त है, उसके लिए अन्य को कुछ देना सम्भव नहीं है। किन्तु जिसने सूर्य की भाँति देदीप्यमान होकर मुक्तावस्था प्राप्त कर ली है, उसे इच्छा करके ज्ञान-विज्ञान आदि सद्वस्तुओं का दान करना नहीं पड़ता। ये सब उसके स्वरूप से स्वभावतः विकीर्ण होते रहते हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष द्वारा इस प्रकार का शक्ति-वितरण जगत के लिए कल्याणकारक है। मनुष्य का जीवन जब मुक्तावस्था-प्राप्ति के अनन्तर इस प्रकार स्वाभाविक कल्याण शक्ति के आश्रय-रूप में प्रकाशित होता है, उस समय विश्वकल्याण स्वभावतः ही उससे निर्गत होता है। तब उसके द्वारा समग्र जगत् को उद्देश्य बनाकर शक्ति का प्रदान होता है। इस प्रकार के दान में कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। यही वास्तविक सेवाधर्म है। साधारण मनुष्य नाम, यश, और कीर्ति के लिए जो सेवा करता है, यहाँ तक कि परोपकार के उद्देश्य से भी जो सेवाकार्य किया जाता है, वह भी वास्तविक सेवा नहीं है। कारण कि वास्तविक सेवा इच्छामूलक नहीं होती। अग्नि की दाहिका-शक्ति जैसे स्वाभाविक है, वैसे ही प्रेमिक मुक्त महापुरुष की जीवसेवा भी स्वाभाविक है। इसीका अनुकरण करते हुए साधारण लोग पुण्यकर्म के रूप में परहित-व्रत का अनुष्ठान करते हैं। सर्वभूत का हितसाधन चित्त का संशोधक एक महान लक्ष्य है। गीता में श्रीभगवान ने निष्काम-कर्मयोग के रूप में इसीकी चर्चा की है। परन्तु जिस प्रकार की सेवा को योगीगणों के लिए भी अगम्य बतलाया गया है, वह अत्यन्त उन्नत अवस्था की बात है। अवश्य ही पुण्यकर्म में भी सेवा की भावना रहे तो पुण्यकर्म होने पर भी उसे सेवा का नाम दिया जा सकता है। उपर्युक्त आलोचना के द्वारा मैंने पोद्दारजी की सेवा के आदर्श के स्वरूप के सम्बन्ध में किंचित् प्रकाश डाला है।

हमलोग पोद्दारजी को केवल ऐसे एक 'सेवक' के रूप में ही नहीं देखते, महाभाव और रसराज—श्रीराधा-माधव-तत्त्व के रस में निमग्न रसिक के रूप में भी पाते हैं। उनके इस स्वरूप का किंचित् दर्शन मेरे पास थोड़े ही दिनों पूर्व लिखे गये उनके एक पत्र की निम्नांकित पंक्तियों में प्राप्त किया जा सकता है—' मैं सदा-सर्वदा इस

प्रकार का अनुभव करता हूँ कि श्रीभगवान की दिव्य कृपासुधा का वर्षण मेरे ऊपर नित्य हो रहा है····वर्तमान समय में बहुत दिनों से मेरा शरीर अस्वस्थ है। पर भगवत्कृपा से शरीर की इस अस्वस्थ-अवस्था में भी मैं विलक्षण आनन्दलाभ कर रहा हूँ। प्रायः एकान्त में रहता हूँ और उस समय एक ऐसी स्थिति रहती है, जो सर्वथा अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य है।'

चित्त के क्षुब्ध होने पर जब भाव की धारा भगवान की ओर अथवा परमसत्ता की ओर चलने लगती है, तब वह 'भक्ति' संज्ञा प्राप्त करती है। भक्तिशास्त्रज्ञ विद्वानों ने भगवद्भक्ति की आलोचना के प्रसंग में भक्ति की व्याख्या ईश्वर में परमानुराग तथा भाव के रूप में की है। भावभक्ति ही वास्तविक भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति में साधन नहीं है, किन्तु अनुभव होता है। भाव के उदय होने पर वह भावरूप बीज अंकुरित होकर क्रमशः विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं की सृष्टि करता है। इस भाव-भक्ति से प्रेम का उदय होता है और उससे अन्त में इसका आस्वादन होता है। भाव महाभाव का अंश है, यह बात याद रखनी चाहिए। भाव की प्राप्ति हुए बिना महा-भाव की उपलब्धि हो नहीं सकती और महाभाव की प्राप्ति हुए बिना रसास्वादन कदापि सम्भव नहीं। महाभावरूपा महाशक्ति नित्यरस-विलास में प्रतिक्षण अग्नि-स्फुल्लिंग की भाँति भावों की सृष्टि कर रही है। ये भाव कालराज्य में परमात्मा के द्वारा सृष्टि के समय उस क्षण में आविर्भूत प्रत्येक आत्मा में प्रविष्ट होते रहते हैं। परंतु साथ-साथ वे माया के आवरण से आवृत्त भी होते जाते हैं। गुरुकृपा से माया का आवरण हट जाने पर प्रत्येक के भीतर अपना 'स्व' भाव जाग उठता है। उसी भाव के आश्रय से वास्तविक साधना सम्पन्न होती है।

जिसे 'साधन-भक्ति' कहा जाता है, उसके साथ 'भाव-भक्ति' का साक्षात् संबंध नहीं है। 'साधन-भक्ति' जबतक 'भाव-भक्ति' में परिणत नहीं हो जाती, तबतक वह 'ऐश्वर्य-भक्ति' तक उत्थित हो सकती है, जो ज्ञान में पर्यवसित होकर ब्रह्मप्राप्ति में सहायक बन जाती है। 'साधन-भक्ति' तथा 'भाव-भक्ति' दोनों में ही माया की निवृत्ति होती है। परन्तु जहाँ प्रथम स्थिति 'साधन-भक्ति' में 'स्वरूप' के आवरण की निवृत्ति होती है, वहाँ दूसरी स्थिति 'भाव-भक्ति' में 'स्वरूप' के स्व-भाव के आवरण की निवृत्ति होती है। आत्मस्वरूप का स्वभाव जब अनावृत्त हो जाता है, तब उसकी क्रिया के लिए दो मेरु (Pole) खुल जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप भाव का 'आश्रय', जो 'अप्राकृतस्वरूप' है, उसका आवरण खुलने लगता है। उसके साथ ही साथ भाव का जो 'विषय' है, उसका भी आवरण खुलने लगता है। इन दोनों आवरणों की निवृत्ति हो जाने पर 'विषय' और 'आश्रय' के बीच का व्यवधान कटने लगता है। इसके फलस्वरूप 'भाव' से 'प्रेम' का विकास सम्भव होता है। यह स्मरणीय है कि 'भाव-साधना' के मार्ग में ही सत्ता का पूर्ण परिवर्तन संघटित होता है। 'मायिक-देह' से

'भाव-देह' का विकास 'भक्तिराज्य' का एक अद्भुत व्यापार है। 'भावदेह' का विकास हो जाने पर उस समय स्वभाव ही नियामक हो जाता है। तब कर्तृत्वाभिमान लेकर भजन नहीं करना पड़ता। 'मायिकदेह' रहते हुए भी भावुक भक्त को 'भावदेह' की प्राप्ति हो जाती है और उसी देह में 'भाव-साधना' का क्रमोत्कर्ष होने लगता है। यह भाव-साधना वास्तव में 'रस-साधना' न होकर उसका पूर्वरूप है। 'भाव' प्रेम में परिणत हुए बिना 'रस' में पर्यवसित नहीं होता। इसीलिए रागानुगा भाव-भक्ति 'परमात्मभूमि' तथा 'ऐश्वर्यमयी भगवद्भूमि' पार न कर सकने पर 'रागानुगा' ही रह जाती है, 'रागात्मिका' नहीं बन पाती। कारण कि 'रागात्मिका-भक्ति' ऐश्वर्यविरहित सर्वथा माधुर्यमय है। मानव-भाव के विना अन्य भाव द्वारा इसकी साधना सम्भव नहीं है। पर इस मानव-भाव में अज्ञान नहीं है विशुद्ध, भगवद्भाव है। वस्तुतः यह भगवान से स्वयं भगवान में ही सम्भव है। 'परमात्मभूमि' वस्तुतः 'योगभूमि' है। 'भगवद्भूमि' ऐश्वर्य-प्रधान होने के कारण 'भक्तिभूमि' है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यह भक्ति 'ऐश्वर्य-प्रधान' है, 'माधुर्य-प्रधान' नहीं। ऐश्वर्य-भाव के तिरोहित हुए बिना माधुर्य का आविर्भाव सम्भव नहीं है। माधुर्य-भाव सहज सरल मानवीय भाव है। ऐश्वर्य की गन्ध जितनी ही कम रहे, उतना ही उसका उत्कर्ष है। 'रागानुगा' भक्ति एकमात्र जीव कोटि में ही सम्भव है, कारण कि जीव है—तटस्थ शक्ति। परन्तु जीव के स्वाभाविक तटस्थ भाव की रक्षा करते हुए भी अनुगत रूप में रागमार्ग का अनुशीलन हो सकता है।

प्रेम की साधना भाव की द्रुति के पश्चात् होती है। जब तक भाव विगलित अथवा द्रुत नहीं होता, तब तक वह प्रेम के रूप में परिणत नहीं हो पाता। द्रुति होने पर 'आश्रय' तथा 'विषय' का मिलन होता है। उस समय 'प्रेम' का उदय होता है। प्रेमपुष्ट-अनुभूति की इस दशा में आत्मा स्वयं ही प्रेमिक और स्वयं ही प्रेमपात्र बनकर नानाविध लीला-विलास में लीन होता है। भाव के महाभाव में उत्थित होने की यही स्थिति है। महाभाव में उत्थित हुए बिना अखण्ड महारस का आस्वादन नहीं होता। यह आस्वादन महाभावरूपा महाशक्ति ही कर सकती है। भावरूपी जीव जिस अनुपात में महाभाव के साथ योगयुक्त होता है, उसी अनुपात में उसे उस दिव्यरस की मात्रा का आस्वादन प्राप्त हो सकता है।

महाभाव से जैसे भाव का विकास होता है, उसी प्रकार भाव भी महाभाव को स्पर्श करने का अधिकारी है। महाभाव के अंशरूप में परिणत हो जाने पर जीव को उसी अंश में रसराज माधव के साथ मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है। 'कुञ्ज-लीला' तथा 'निकुञ्ज-लीला' का रहस्य अत्यन्त गम्भीर है। कहा जाता है कि 'निकुञ्ज-लीला' का कोई द्रष्टा अथवा साक्षी नहीं होता। युगलकेलि की साक्षी सखी ही हो सकती है, किन्तु उसके लिए भी यहाँ कोई स्थान नहीं है। अथवा यों कहिये कि उस समय सखी

का महाभाव के साथ तादात्म्य हो जाता है, अतः उसका पृथक् अस्तित्व रह ही नहीं जाता। महाभाव (राधा) के साथ रसराज (माधव) का साक्षात् सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध से जो अमृतधारा निर्गत होती है, वही उस सखी का प्राप्य है। किसी-किसी दृष्टि से महाभाव के साथ रसराज के मिलनोत्सव में रसधाराका जो निर्गमन होता है, वही सखीजनों को प्राप्य है या उनका अभिप्रेत है। सखियों के साथ साक्षात् मिलन संभव नहीं है अथवा उनको साक्षात् मिलन की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता, फिर अधिकार-प्राप्ति का प्रश्न ही क्या ?

उपर्युक्त इंगित से पोद्दारजी की उच्च भावसाधना के स्वरूप का किंचित् आभास मिल सकता है। वास्तव में इस विषय में बहुत-सी बातें कहने की थीं, किंतु इधर तीन वर्षों से शरीर असमर्थ है। इसलिए संप्रति अधिक कुछ लिखना संभव न हो सका। भाव-साधना के गूढ़ रहस्य का निरूपण करने की इच्छा मन में ही रह गयी। अब वह सुयोग कब होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

मेरे परम स्नेह-भाजन प्रिय शिष्य डा० भगवतीप्रसाद सिंह महाशय ने असीम प्रयत्न एवं श्रद्धा के साथ पोद्दार महाशय का यह जीवन-दर्शन उपस्थित किया है। यह ग्रंथ अनेकानेक पाठकों का पथप्रदर्शन करने वाला होगा, इसमें संदेह नहीं है। श्रीपोद्दारजी एक विलक्षण महापुरुष हैं। उनकी इस जीवनगाथा के प्रकाशन से भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण कालखण्ड उज्ज्वल रूप में दृष्टि के सामने उद्भासित हो उठेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। इस महान् प्रयास एवं सार्थक प्रचेष्टा के लिए मैं बारंबार साधुवाद के साथ लेखक श्रीभगवतीप्रसादसिंह के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ।

गोपीनाथ कविराज

३१ दिसम्बर, १९७०

२ ए, सिगरा

वाराणसी

निवेदन

लोकपावनी गंगा की भाँति इस चरित-मंदाकिनी के अवतरण की भी एक अपनी कथा है।

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की छाप मेरे किशोर हृदय पर १९३७ ई० से ही पड़नी आरंभ हो गयी थी। उस समय मैं हाईस्कूल कक्षाओं का विद्यार्थी था। मेरे पिताजी के मित्र एक सद्‌गृहस्थ, जो बाद में संन्यासी हो गये, यदाकदा 'कल्याण' से कुछ प्रेरक तथा रोचक प्रसंग छाँटकर मुझे सुनाते और उसे पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। उच्च शिक्षा के निमित्त बाहर चले जाने पर उसका क्रम टूट गया।

सात वर्ष बाद जब बलरामपुर के डी० ए० वी० कालेज में प्रिन्सिपल-पद पर मेरी नियुक्ति हो गयी, तो 'श्रावस्ती-पुनरुद्धार-समिति' के मंत्री होने के नाते मैं उसके संस्थापक बाबा राघवदासजी के घनिष्ठ संपर्क में आया। बाबाजी उक्त समिति के कार्य से जब कभी बलरामपुर आते तो मेरे साथ ही ठहरते थे। उस समय वे पोद्दारजी की धर्मनिष्ठता, परोपकार-परायणता, राष्ट्र-प्रेम, शास्त्र-मर्मज्ञता आदि की चर्चा प्रायः करते थे। एक दिन मेरे साथ अयोध्या जाने पर वे महात्मा बनादास जी के मंदिर में ठहरे। उन्हें यह जानकर बहुत संतोष हुआ कि बनादासजी (१८२१—१८९२ ई०) हमारे पूर्वज थे और उनके आश्रम की व्यवस्था में इस जन को निमित्त बनने का सुयोग प्राप्त है। बनादासजी की घोर तपश्चर्या तथा विशाल वाङ्मय का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने 'कल्याण' के पाठकों को उनका परिचय देने के उद्देश्य से एक लेख प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की। उस सिलसिले में बाबाजी ने पोद्दार-जी से अपनी आत्मीयता की चर्चा चलायी। पोद्दारजी के प्रति मेरी हृदयस्थ श्रद्धा जागृत हो उठी। मैंने बाबा जी को उक्त निबन्ध के लिए अपेक्षित सारी सामग्री दे दी। उनका तत्सम्बन्धी लेख 'कल्याण' के 'भक्तांक'[1] में 'विरक्त रामभक्त श्री बनादासजी' शीर्षक से प्रकाशित हो गया। महात्मा बनादास को साहित्य-जगत के समक्ष प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रयास था। बाबाजी की प्रेरणा से पोद्दारजी ने उक्त अंक मेरे पास भेज दिया। इस घटना से मैं अपने को भीतर ही भीतर पोद्दारजी के बहुत निकट अनुभव करने लगा, किन्तु अभी तक उनके दर्शन का सुयोग प्राप्त नहीं कर सका था।

इन्हीं दिनों संयोगवश बलरामपुर-राज्य के ठाकुरद्वारे में आयोजित एक सभा में पोद्दारजी प्रवचन देने के लिए पधारे। उनके साक्षात्कार का मेरे लिए यह प्रथम अवसर था। उनकी सादी वेष-भूषा, विनम्र स्वभाव तथा भक्ति-रस-प्लावित वाग्धारा से अपने मानस में प्रतिष्ठित भावमूर्ति का पूर्ण सादृश्य पाकर मैं संतृप्त हो गया। इसके

---

१. 'भक्तांक', पृ० ५५७।

कुछ ही दिनों बाद दैवयोग से वृत्ति के निमित्त से बलरामपुर छोड़कर मैं गोरखपुर आ गया। यहाँ सुव्यवस्थित हो जाने के बाद मेरा पहला काम था—गीतावाटिका जाकर पोद्दारजी का दर्शन करना और उनके कर-कमलों में अपनी कृति 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' अर्पित करना। इसके अनंतर पोद्दारजी की व्यस्तता को ध्यान में रखते हुए आवश्यक होने पर ही वर्ष में एक-दो बार मैं उनकी सेवा में उपस्थित होता था।

दस वर्षों तक उनके दरस-परस का यही क्रम चलता रहा। मैं जीवन-प्रवाह में बहता रहा और वे लोकसंग्रह तथा अध्यात्म-साधना के सोपानों को पार करते हुए उत्तरोत्तर ऊर्ध्वस्थिति प्राप्त करते रहे। किन्तु श्रद्धेय तथा श्रद्धालु के बीच सम्मान्य दूरी अथवा मर्यादाजनित संभ्रम, मेरे अपने पूर्वार्जित संस्कारों के कारण, बना रहा। इस आवरण का नाश अदृश्य महाशक्ति की एक आकस्मिक लीला के द्वारा हुआ।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के जीवन-दर्शन पर लिखी गयी 'मनीषी की लोकयात्रा' नामक अपनी नवप्रकाशित (१९६८ ई०) पुस्तक समर्पित करने के लिए मैं १९७० ई० के मार्च के प्रथम सप्ताह में श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। ग्रन्थ को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। कुछ देर तक कविराजजी के कुशलक्षेम-सम्बन्धी वार्ता के बाद पोद्दारजी ने उनके जीवन तथा साधना विषयक दुर्लभ तथ्यों के प्राप्त करने की प्रक्रिया और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने का वृत्तान्त पूछा। मैंने पूरी कथा सविस्तर निवेदित कर दी। तदनन्तर प्रणतिपूर्वक विदा ली।

'मनीषी की लोकयात्रा' के निर्माणकाल में प्रसंगवश कविराजजी महाराज पोद्दारजी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भावपूर्ण चर्चा किया करते थे—इसके पूर्व 'राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' के लेखन-काल में भी उन्होंने मुझे रामोपासना तथा उसके पुरस्कर्ता आचार्यों एवं संतों के सिद्धान्त और जीवन-वृत्त जानने के लिए 'कल्याण' के कुछ विशेषांकों के अनुशीलन की प्रेरणा दी थी; किन्तु पोद्दारजी की आत्मगोपन प्रवृत्ति से परि-चित होने के कारण उन्होंने उस ग्रन्थ में जानबूझकर उनका उल्लेख नहीं किया था। उपर्युक्त साक्षात्कार के समय पोद्दारजी की कविराजजी में अगाध श्रद्धा देखकर मुझे इन दोनों महापुरुषों के परस्पर गूढ़-स्नेह-सम्बन्ध का विशेष अनुभव हुआ। घर लौटने पर एक विचार रह-रहकर मन में घुमड़ने लगा—'क्यों न कविराज जी की भाँति पोद्दारजी का भी जीवन-दर्शन प्रकाश में लाया जाये'। ऐसे श्वेतवस्त्रधारी निष्काम-कर्मयोगी का वृत्त 'कल्याण' के लेखों और गीताप्रेस द्वारा प्रचारित धार्मिक ग्रन्थों की भाँति ही असंख्य पथ-भ्रान्तों को सन्मार्ग दिखलायेगा तथा लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होगा। इस विचार ने धारणा की स्थिति से ऊपर उठकर अल्पावधि में ही संकल्प का रूप धारण कर लिया। अब समस्या यह थी कि अपेक्षित सामग्री प्राप्त कैसे की जाय? गीता-वाटिका में रहनेवाले उनके अनुगतों में से किसी से मेरा इस स्तर का परिचय नहीं था कि उसके माध्यम से तथ्य-संचय का कार्य अभीष्टरूप तथा गति से आगे बढ़ाया जा

सके। स्वयं पोद्दारजी से इतना व्यावहारिक नैकट्य था नहीं कि उनसे सीधे मिलकर इस कार्य में सहायता करने की प्रार्थना करने का साहस कर सकूँ।

अपनी इस उद्विग्नतापूर्ण मानसिक स्थिति की चर्चा एक दिन मैंने गीतावाटिका जाकर अपने पूर्व परिचित पोद्दारजी के एक सेवारत अंतेवासी से की। उन्होंने हमारी योजना से सहमति व्यक्त करते हुए भी उसकी सफलता में सन्देह व्यक्त करते हुए कहा, 'बाबूजी अपनी जीवनी लिखने और लिखाने के घोर विरोधी हैं। अबतक घनिष्ठ मित्रों तथा श्रद्धालुओं द्वारा प्रस्तावित और आयोजित ऐसी कितनी ही योजनाओं को वे आग्रहपूर्वक निरस्त करा चुके हैं। १९५३ ई० में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'हनुमानप्रसाद-पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ-समिति' का गठन किया। सम्पादक-मंडल में डॉ० बी० एल० आत्रेय, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० राजबली पांडेय—जैसे प्रतिष्ठित विद्वान् थे। प्रस्तावित ग्रन्थ की विषय-सूची छपाकर लेखकों के पास भेज दी गयी, किन्तु पीछे पोद्दारजी के विरोध[1] के कारण आयोजकों को उसके प्रकाशन का विचार त्याग देना पड़ा। १९६२-६३ ई० में राष्ट्रभाषा-परिषद, बिहार के निदेशक तथा कल्याण के संपादकीय विभाग के पूर्व सहयोगी डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने पोद्दारजी के जीवन एवं कृतित्त्व पर एक ग्रन्थ निकालने की योजना बनायी और मुझे उसके संयोजकत्व का दायित्व सौंपा। विवेच्य विषयों की रूपरेखा तैयार करके टंकित करायी गयी, किन्तु इसका पता लगने पर बाबूजी ने 'माधवजी'[2] तथा मुझको[3] पत्र लिखकर इससे विरत होने का निर्देश

---

१. 'मेरे प्रति आप महानुभावों का जो अकृत्रिम प्रेम है, उसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। परन्तु आप लोगों ने मेरे सम्मान के लिए जो कार्य आरम्भ किया है, आप के सद्भाव के प्रति सिर झुकाकर आदर प्रकट करते हुए भी मुझे खेद है कि मैं उसका समर्थन किसी हालत में नहीं कर सकता। आप लोगों के हृदय को ठेस पहुंचे, यह मेरे लिए बड़े खेद की बात है, तथापि मेरा निश्चित मत है कि—मुझे इस प्रवृत्ति का सर्वथा विरोध ही करना है। महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'अपने मुख से अपनी प्रशंशा करना आत्महत्या करना हैं।' वैसे ही अपने प्रयत्न से मित्रों के द्वारा अपनी प्रशंसा करवाना, उसमें सहयोग देना और उसे सुनना भी आत्महत्या ही है। आप मेरे हितैषी हैं, मुझपर स्नेह रखते हैं—मुझे प्रसन्न देखना चाहते हैं—इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक ऐसा कोई भी प्रयत्न न करें, जिससे मुझे दुःख हो और मेरा अहित हो।'

—पोद्दारजी द्वारा श्रीसीताराम चतुर्वेदी को लिखे गये पत्र दि० १७-१२-१९५३ ई० से उद्धृत।

२. 'लोकप्रथा के अनुसार मेरा समादर करके लोक-सेवा का जो प्रयास आप कर रहे हैं, अत्यन्त प्रीति के साथ, जरा भी दुःख अनुभव न करते हुए गम्भीरतापूर्वक मेरी मनोवृत्ति पर और इस कार्य के दोषों पर विचार करके उसे त्याग दें।'

—पोद्दारजी द्वारा सितम्बर ६३ में श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' को लिखे पत्र से उद्धृत।

३. 'मेरे जीते जीवनी लिखने-लिखवाने की बात सोचना-करना मेरे लिए मरने के समान ही है। अब भी तुमसे तथा सबसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि इस काम को ही नहीं, इस विचार को भी सर्वथा त्याग दो।'

—पोद्दारजी द्वारा संयोजक को लिखे गये पत्र, दिसम्बर १९६३ से उद्धृत।

दिया। लाचार होकर हम दोनों ने हाथ समेट लिया। तीसरा प्रयास बाबूजी के अभिन्न मित्र और क्रान्तिकारी-जीवन के सहयोगी कलकत्तावासी श्रीओंकारमल सराफ ने किया। उन्होंने 'गांधी-स्मारक-निधि' तथा 'स्वामी विवेकानन्द शत वार्षिकी समिति' के आदर्श पर 'श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार हीरक-जयन्ती' की एक विशाल योजना तैयार की और बाबूजी को पत्र लिखकर उसे कार्यान्वित करने के लिए स्वीकृति प्रदान करने का अनुरोध किया।[1] बाबूजी ने किसी भी रूप में अपना अभिनन्दन स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त करते हुए उनसे इस विचार को मनसा-वाचा-कर्मणा परित्याग करने का आग्रह किया।[2] अन्ततः ओंकारमलजी को भारी हृदय से श्रद्धार्चन का यह महान् आयोजन निरस्त कर देना पड़ा।

---

१. 'भाईजी! अनास्था के इस युग में व्यक्तिगत मुक्ति का अर्थ नहीं है, सामाजिक मुक्ति ही सर्वोपरि है और उसके प्रवर्तक की मुक्ति तो स्वतःसिद्ध है। मैं यह जो कुछ करना चाहता हूँ तुम्हारे लिए नहीं, तुम्हारे प्रचार के लिए नहीं; महत्त्वपूर्ण है तुम्हारा वह कार्य, जो तुमने हिन्दू-संस्कृति की पुनर्स्थापना के लिए किया है। अपनी रचनाएँ अपने नाम के लिए चाहे तुमने छपवायीं; किन्तु उसके पाठक उस रचना की मूलभूत भावना से प्रभावित होते हैं और धर्म इसी वैयक्तिक भावना का सामाजिक रूपान्तर है।............तुमने धर्म के लिए अपना जीवन अर्पित किया है। तुम्हारा इस जीवन पर कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं रहा; वह समाज और देश का है, अतः तुम्हें अपने पर निर्णय का कोई अधिकार नहीं है।

तुम्हारे भीतर जो प्रकाश है, उसे हम लेकर समाज पर छिड़क दें, तो तुम्हें आपत्ति क्यों है? तुम्हारे भीतर का प्रकाश समाज के अन्धकारयुक्त पंथ पर बहेगा और तुम्हारे पीछे सारा मानव-समाज भी उस आनन्द की प्राप्ति का अधिकारी होगा, जिसे तुम पाकर धन्य हो।..... ....मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर तुमसे तुम्हारी सहमति मांगता हूँ।'

श्रीओंकारमल सराफ के पत्र दि० २८-११-६७ से उद्धृत।

२. 'भैया ओंकार! इस समय तुम जो आयोजन कर रहे हो, माना कि वह केवल भारतीय संस्कृति का महत्व दिखलाने तथा बढ़ाने के लिए ही कर रहे हो, पर उसके साथ जो हनुमानप्रसाद पोद्दार नाम जुड़ा है, वह मेरे प्रति तुम्हारे अतुलनीय स्नेह तथा आत्मीयता के कारण ही है। और चाहे कहने को मैं कुछ भी कह दूं, पर इसमें मेरी प्रशंसा—चाहे वह काम को लेकर हो—पद पद पर होगी ही। यदि मैं समता को प्राप्त होता, मेरे मन में जूतों की माला तथा पुष्पों के हार-दोनों में एक-सा भाव होता तो कोई कुछ भी करता, मेरे लिए कुछ भी कहने की बात नहीं थी। पर मुझे तो निन्दा बहुत ही बुरी लगती है; अतः स्वाभाविक ही प्रशंसा प्रिय लगती ही है। मैं जीवन भर इसीलिए प्रशंसा से बचने की कोशिश करता रहा, वरन् प्रशंसा चाहने वालों का विरोध करता रहा। आज वही मैं अपने ही अभिन्न आत्मा ओंकारमल के द्वारा अपनी प्रशंसा की योजना का समर्थन करूँ, यह सर्वथा अनुपयुक्त है।............तुम्हारे स्नेह पर भरोसा करके तुमसे यह विनम्र अपील करता हूँ कि तुम इस आयोजन को तुरन्त बन्द कर दो। तुम्हारा काम बहुत आगे बढ़ चुका, यह ठीक है। तुम चाहो तो यह घोषणा कर दो कि 'हनुमान के दुराग्रह से' यह बन्द करना पड़ रहा है।............यह मैं तुमसे नम्रता से. जोर से, हाथ

इसी वर्ष (सन् १९६८ ई०) में 'सम्मेलन-पत्रिका' प्रयाग के सम्पादक श्रीज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने भी पोद्दारजी के अभिनन्दन की एक योजना बनायी और उसकी स्वीकृति के लिए २७-११-६८ को उन्हें एक पत्र लिखा। पोद्दारजी ने अपने सहयोगी श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी द्वारा मिश्रजी को विनम्रतापूर्वक इस कार्य से विरत होने के लिए पत्र लिखवा दिया। मिश्रजी को विवश होकर इस आयोजन से हाथ समेट लेना पड़ा।

पाँचवीं योजना १९७० के अप्रैल महीने में 'गुरुगोविन्द सिंह कालेज', पटना के हिन्दी-प्रवक्ता तथा पोद्दारजी के भक्त डॉ० श्रीकृष्ण उपाध्याय के संयोजकत्व में 'हनुमानप्रसाद पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ' प्रकाशित करने के लिए बनी। इसमें सम्पादक के रूप में डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का नाम दिया गया था और प्रेरक तथा पुरस्कर्ताओं में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० चिम्मनलाल गोस्वामी, पं० सीताराम चतुर्वेदी, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० बलदेव उपाध्याय प्रभृति विद्वानों के नाम रखे गये थे। इसे स्वीकृति प्रदान करने के लिए पोद्दारजी के पास जो पत्र आया, उसकी नियति अपने अग्रजों से भिन्न नहीं थी। मानस-पटल से कागज पर उतरने की स्थिति में ही उसे अंतर्धान हो जाना पड़ा।'

अन्तेवासी द्वारा प्रस्तुत इस विवरण ने मेरे उत्साह पर पानी फेर दिया। सोचने लगा—

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

गनीमत यह हुई कि यह धक्का निराशा का रूप नहीं धारण करने पाया। उसका एकमात्र कारण था—पोद्दारजी की कृपाशीलता और अपनी निष्ठा में अगाध विश्वास—

सुचि सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।

इसलिए उद्विग्नता के बावजूद लक्ष्य-सिद्धि के विषय में भय या संशय की भावना अंकुरित नहीं होने पायी। समय अधिक हो चुका था। इसलिए उस दिन बात यहीं समाप्त हो गयी। फिर मैं जीवन-रथ में जुत गया।

कुछ समय बाद एक दिन पोद्दारजी के उक्त अन्तेवासी अकस्मात् मेरे निवास पर पधारे। उस समय वहाँ कुछ और लोग बैठे थे। उनके चले जाने पर उन्होंने जीवनी-लेखन-विषयक पूर्व चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहा, "बाबूजी आपकी पुस्तक

जोड़कर, तुम्हारा हाथ पकड़कर तुमसे अनुरोध करता हूँ, प्रार्थना करता हूँ, बलपूर्वक आग्रह करता हूँ। कुछ भी समझो, इसे बन्द कर दो।'

—पोद्दारजी द्वारा श्रीओंकारमल सराफ को लिखे गये पत्र दि० २०-४-६८ ई० से उद्धृत।

(मनीषी की लोकयात्रा) से बहुत प्रभावित हैं। विश्राम के क्षणों में उसे मुझसे पढ़वा कर सुनते हैं। कविराजजी के जीवन के मार्मिक प्रसंगों को सुनते-सुनते प्रायः उनके नेत्र गीले हो जाते हैं। बाबूजी के निरन्तर विरोध के बावजूद मेरी आंतरिक इच्छा उनके व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन का एक प्रामाणिक वृत्त तैय र कराने की है। इधर उनके सम्बन्ध में कुछ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। उनमें सैद्धान्तिक तथा तथ्यात्मक भूलों की भरमार है। बाबूजी के जीवनकाल में ही जब उनका व्यक्तित्व इस प्रकार 'विकृतरूप' में प्रस्तुत किया जा रहा है, तो उनके न रहने पर भक्तों का श्रद्धातिरेक उसे किस साँचे में ढाल देगा, नहीं कहा जा सकता। मैंने इस तथ्य की ओर बाबूजी का भी ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया; किन्तु उन्होंने मेरी आशंका को अनावश्यक कहकर उपेक्षित कर दिया। पर मुझमें बाबूजी की अपने प्रति कृपा एवं प्यार पर पूरा विश्वास है—"राम सदा सेवक रुचि राखी।" इधर कुछ दिनों से आपके प्रति भी उनके हृदय के स्नेह-भाव को देखकर मुझे प्रतीत होने लगा है कि यदि इस प्रकार का प्रस्ताव हम दोनों की ओर से किया जाय तो वे उसे सहसा अस्वीकार नहीं करेंगे।' पोद्दारजी के पार्षद के इन शब्दों में दैवी संदेश का आभास पाकर मेरी मुरझाई आशा-लता हरी हो गयी। अगले दिन अपराह्न में श्रीचरणों के दर्शनार्थ उपस्थित होने का वचन देकर मैंने उन्हें अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण भाव से विदा किया।

पूर्व निश्चित पुरोगम के अनुसार में दिनांक २१ अप्रैल '७० ई० की संध्या को ५ बजे गीतावाटिका गया। उक्त सज्जन प्रतीक्षा कर रहे थे, इसलिए प्रवेश करते ही मिल गये। उन्होंने पोद्दारजी से मेरी भेंट का समय तय कर रखा था; अतः तत्काल पहले तल्ले में स्थित उनके कक्ष में ले गये। चरणवन्दन करके मैं एक ओर बैठ गया; पास ही वे भी बैठ गये। उस समय वहाँ हम दोनों के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं था। कुछ व्यावहारिक चर्चा के पश्चात् मैंने डरते-डरते अपने आने का उद्देश्य निवेदन किया, "महाराजजी! कविराजजी की ही भाँति मैं आपकी भी जीवन-गाथा लिखना चाहता हूँ। संत-साहित्य और संत-चरित का अनुशीलन ही मेरी साहित्य-सेवा का लक्ष्य रहा है। श्रीमुख से श्रुत तथा कृतियों से संग्रहीत तथ्य मेरे विवेचन के मूलाधार होंगे। इस विषय में आपके सभी निर्देश मुझे शिरोधार्य होंगे।" इसी प्रकार के एक प्रस्ताव के उत्तर में इससे चार वर्ष पूर्व कविराजजी ने कहा था, "दाल-भात खाने का विवरण एकत्र करके क्या करोगे? वह बहिरंग जीवनमात्र है, अन्तरंग का अनुसंधान होना चाहिए।" लगभग इसी स्वर में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए पोद्दारजी बोले, "संसारी जीवों के नाम-रूप नश्वर हैं, उनके वृत्त-संचय में अपना समय नष्ट न करके अविनश्वर के गुणगान में समय और शक्ति का सदुपयोग करें तो अच्छा होगा।" मैंने तर्क न करके विनम्र शब्दों में पुनः प्रार्थना की, "भक्त-चरित भगवच्चरित

से अभिन्न है—"भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर्नाम वपु एक" ऐसा सन्तों का मत है। आपका लोकार्पित जीवन और साधना जनसामान्य के लिए प्रेरणाप्रद होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। उसका रहस्य वही जान सकता है, जिसे आप कृपापूर्वक बता दें। अपनी ओर से मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी स्वार्थ-भावना, वैषयिक वृत्ति अथवा हीन संस्कार उसके यथार्थ चित्रण में बाधक नहीं होने पायेंगे।' पोद्दारजी के उपस्थित परिकर ने हार्दिक समर्थन करते हुए इस प्रार्थना को स्वीकार करने का आग्रह किया। विनय-प्रेम के वशीभूत श्रीमुख पर मुस्कान की एक हलकी लहर दौड़ गयी। आज्ञा हुई, "कल से आइये।" समय पूछने पर बोले, "प्रातः व्यस्त रहता हूँ। अपराह्न में चार बजे से ही मिलनेवाले आने लगते हैं। ऐसे कार्य के लिए अबाधित एकान्तता अपेक्षित है। वह २ से ४ बजे तक रहती है; किन्तु अप्रैल का महीना है। इस समय भीषण लू चलती है। आप तीन मील दूर रहते हैं। आने में बड़ा कष्ट होगा।" मैंने कहा, "आपका सान्निध्य यात्रा का सारा ताप हर लेगा। मैं नियमित रूप से दो बजे आ जाया करूँगा।"

कुछ व्यवधान के साथ यह क्रम लगातार दो महीने तक चलता रहा। मेरे उक्त मित्र अनवरत रूप से समय से उपस्थित रहते। पोद्दारजी अपने जीवन और साधना का सारा वृत्त बताते गये। विषय को स्पष्ट करने के लिए हमलोग बीच-बीच में जिज्ञासा करते थे। उसका समुचित समाधान करने के बाद ही वे आगे बढ़ते थे। इस प्रकार पाँच रजिस्टर भर गये। यह क्रम कुछ दिन और चलता और उससे और भी गूढ़ रहस्य प्रकाश में आते, पर विधि का विधान! इसी बीच पोद्दारजी का शरीर अत्यधिक अस्वस्थ हो गया। इस कारण काम बन्द कर देना पड़ा। मेरे योजना-सूत्र में 'सत्संग' शीर्षक एक अध्याय रखा गया था। उसके लिए पोद्दारजी ने सम्पर्क में आये हुए संतों की एक बृहत् सूची तो किसी प्रकार तैयार करके दे दी, किन्तु उनकी साधना तथा जीवन के विषय में अपने विचार लिपिबद्ध करने के पूर्व ही कैंसर ने उन्हें शय्याग्रस्त कर दिया।

श्रीचरणों के दर्शनार्थ मैं यथासमय उपस्थित होता रहा। मार्च ७१ के प्रथम सप्ताह में एक दिन मैं बहुत देर तक बैठा रहा—पोद्दारजी चारपाई पर निश्चेष्ट पड़े थे—बीच-बीच में कभी-कभी कराहने का स्वर मुखरित हो उनके चेतना-सम्पन्न होने का आभास देता था। एकाएक उनकी आँखें खुलीं, करवट बदली, मुझे निकट आने का संकेत किया, फिर धीमे स्वर में बोले, 'एक पंक्ति उठ रही है, लिख लीजिये'—

अन्याश्रय कर त्याग
उड़ी प्रपत्ति विहगी।
पहुँची प्रभु के पास
ले भाव अनन्य॥

मैंने उसे नोट कर लिया। वे फिर पूर्व की भावलीन-दशा में चले गये। सचेतावस्था में पोद्दारजी का यह मेरा अंतिम दर्शन था और श्रीमुख के मेरे कर्ण-कुहरों में पड़नेवाले ये ही अंतिम शब्द थे।

पोद्दारजी ने सहज सौजन्य अथवा शीलवश हमलोगों का बालहठ स्वीकार करके अपनी जीवन-कथा बता तो दी, किन्तु उनका अंतर्मन सिद्धान्ततः इसका पूर्ववत् विरोध करता रहा। श्रुत-लेखन-प्रक्रिया के बीच अपने विश्वस्त अंतेवासी को लिखे गये निम्नांकित पत्र से इस कार्य के प्रति उनके आंतरिक विरोध तथा तज्जन्य व्यथा का पता चलता है—

॥ श्रीहरिः ॥

गीता वाटिका

१२-१-७१

भैया ....

सप्रेम हरिस्मरण।

कई दिनों से तुमको एक बात कहने की मन में आ रही थी, पर संकोचवश नहीं कह रहा था; आज लिख रहा हूँ। इधर तुम दिन रात तन-मन से जिस कार्य में लगे हो—तुम्हारी उसमें अद्भुत लगन तथा बुद्धिमानी के साथ कार्य-सम्पादन देखकर आश्चर्य होता है, तथा तुम्हारे प्रति मन में बड़ी श्रद्धा हो गयी है। तुम्हारी नीयत भी तुम्हारी दृष्टि से तो सर्वथा श्रेष्ठ है ही, मैं भी उसका बड़ा आदर करता हूँ। उधर डा० श्रीभगवती प्रसाद सिंहजी महीनों से दिनरात जिस प्रकार कार्य-सम्पादन में लगे हैं, उसे देख-सुनकर उनकी श्रमशीलता, कार्यपटुता, तत्परता, शुद्ध उदारभावना तथा मेरे प्रति अपार स्नेह देखकर मेरा मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है। उनके सामने उनकी किसी बात का समर्थन न करते संकोच होता है। अतः उनका मेरी किसी बात से जरा भी तिरस्कार न हो जाय, मैं इसका सदा ध्यान रखता हूँ। पर मेरे मन की विचित्र-सी स्थिति हो रही है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे भीतर मिथ्या नाम-रूप में अज्ञान-मूलक अहं भरा है तथा नाम-रूप की ख्याति-पूजा आदि उसे अच्छे लगते हैं। ऐसा न होता तो जैसे अब तक ऐसे किसी प्रयास का मैंने कभी समर्थन नहीं किया, तथा प्रयास करने वालों का निरादर न करते हुए भी उन्हें नम्रता से, कहीं कड़ाई से रोक दिया, वैसे ही तुमको भी रोक देता—उनसे भी प्रार्थना करता। मुझे अपनी वासना प्रत्यक्ष-सी दिखाई देती है। नहीं तो, मेरी बुद्धि के अनुसार मेरे मन में यह कार्य मुझे सर्वथा अवांछनीय और अप्रिय लगना चाहिए। वास्तव में यह है भी व्यर्थ का कार्य ही। इसमें उनका तथा तुम्हारा जो समय, बुद्धि, शक्ति आदि का व्यय हो रहा है तथा जो अर्थ-व्यय होगा, वह यदि किसी भगवत्सेवा या लोकसेवा

के माध्यम से भगवत्सेवा में व्यय होता तो कितना अच्छा होता ? यह तो व्यर्थ में अपव्यय हो रहा है। दूसरे, मैंने जीवन भर जिसका विरोध किया—अब भी मेरे शुद्ध मन की भावना में उसका सर्वथा विरोध है, उसके लिए प्रोत्साहन देना, उसमें सहायक होना—मेरी किसी छिपी वासना को प्रकट कर रहा है। 'मेरे पीछे से लोग अनर्गल कुछ भी लिख देंगे, जो सत्य से दूर होगा।' यह ठीक है; ऐसा सम्भव है, पर उससे अपना वस्तुतः क्या बनता-बिगड़ता है ? कोई स्तुति करे या निन्दा—वह तो नाम-रूप की होगी; आत्मा की तो हो सकती नहीं। फिर कोई कुछ भी करे, कहे। कहा जा सकता है, 'उससे दुनिया को नुकसान होगा', पर यह भी एक प्रकार से मनको समझाने की बात ही है; कोई खास तथ्य नहीं है। वरन् इसके प्रकाशित होने से लोगों में क्षोभ अवश्य होगा। जिनका स्नेह-प्रेम है, उनके मन में 'हर्ष' होगा, जिनमें दोष-बुद्धि या ईर्ष्या है, उनके मन में 'उद्वेग' या क्षोभ होगा। शान्त और निस्तब्ध वातावरण में एक हलचल-सी हो जायगी एवं उसके परिणामस्वरूप सम्भवतः कुछ लोगों की अपने-अपने भावानुरूप प्रतिक्रिया भी हो सकती है। अपने निकट के सत्सङ्गी समुदाय के कुछ महानुभावों को यह प्रत्यक्ष दिखाई देगा, जो एक तरह सत्य ही है, कि भाईजी जो कुछ विरोध करते थे, वह इसीलिए करते थे कि कहीं उनकी अधूरी बड़ाई न हो जाय। अब बहुत अधिक बड़ाई लिखी जाने लगी तो उन्होंने प्रोत्साहन देकर उसे लिखवाया और प्रकाशित कराया। यों व्यर्थ ही एक चर्चा का विषय बन जायगा।

इसी के साथ सिद्धान्त तथा साधना की दृष्टि से जिन उपलब्धियों, अनुभवों तथा साधनों को गोपनीय ही रखना चाहिए और अब तक जिनमें से कई बहुत थोड़े लोगों की जानकारी में थे, कुछ तो बिल्कुल ही गुप्त थे—वे सब लिखे जाने पर विज्ञापन के विषय बनेंगे—केवल मुझे महात्मा सिद्ध करने के लिए ही। यह एक प्रकार से सैद्धान्तिक या साधन-सम्बन्धी दोष होगा, जिससे मुझे बचना चाहिए और तुम-जैसे मेरे हितैषियों को भी चाहिए कि मुझे इस दोष से बचावें। विज्ञापन का विषय होने पर भी इन सबका पूर्ण यथार्थ वर्णन तो होगा ही नहीं, क्योंकि जो अनुभव की चीजें हैं, उनके लिए शब्द ही नहीं हैं, जो उन्हें व्यक्त कर सकें। वर्णन अधूरा तथा कहीं-कहीं विकृत भी हो सकता है। पर इससे कई लोगों के मन में डाह तथा दुःख होना सम्भव है। ये तथा और भी बहुत-सी बातें हैं, जो इस प्रयास का समर्थन नहीं करतीं। अतः मेरी यह प्रार्थना है कि तुम इस विषय पर फिर से विचार करो और इस कार्य को यहीं रोक दो। उससे मुझे बड़ा सन्तोष होगा। मेरी सिद्धान्त-रक्षा होगी, लोगों में क्षोभ नहीं होगा और शक्ति का व्यर्थ उपयोग बन्द हो जायगा। यों सम्मान्य डाक्टर साहब और तुम जिस भाव से कर रहे हो, उस भाव के प्रति मेरी आदरबुद्धि है और उसके लिए मैं सदा ही नतमस्तक हूँ।

बहुत संक्षेप में मैंने बड़े संकोच के साथ अपने मन की बात का सच्चा संकेत किया है। इसपर गम्भीरता के साथ विचार करने का अनुरोध है।*

मेरे इस निवेदन को पढ़कर सम्भव है, तुम्हें दुःख हो। मुझे इसका बड़ा संकोच है। पर कठिन धर्म-संकट-सा आ गया है; इसीसे मैंने तुम्हारे दुःख की सम्भावना समझ कर भी ऐसा किया; क्षमा करना। तुमसे भी बहुत अधिक मुझे संकोच है डाक्टर साहब का। मेरी किसी चेष्टा से उनका जरा भी तिरस्कार न हो जाय। पर यहाँ भी मैंने दुःस्साहस किया है। वे भी कृपया क्षमा करें—यह प्रार्थना है।

हनुमान

इस प्रकार जीवन-दर्शन की सामग्री मूलस्रोत से उपलब्ध करने के पश्चात् प्रस्तावित योजना का प्रथम चरण पूरा हो गया। ग्रंथ की रूपरेखा का निर्माण करते समय मैंने उसकी भूमिका कविराजजी महाराज से लिखवाने का निश्चय किया। कारण यह था कि उस समय धराधाम पर पोद्दारजी की आन्तरिक जीवन-धारा से अभिज्ञ महापुरुषों में वे अन्यतम थे। सामग्री-संकलन का कार्य पूरा हो जाने पर उस दिशा में क्रियाशील हो गया। 'मनीषी की लोकयात्रा' प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद रक्तशर्करा तथा उच्च-रक्त-चाप से पीड़ित हो जाने से कविराजजी ने कर्मण्यजीवन से विश्राम ले लिया था। उत्तरोत्तर शिथिलता बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थिति में उनकी सेवा में उपस्थिति होकर 'भूमिका' लिखने का आग्रह करना एक दुस्साहसमात्र था, किन्तु 'अर्थी दोषो न पश्यति'। निदान इस उद्देश्य से काशी जाने का पुरोगम बन गया। २७ दिसम्बर ७० को सिगरा-स्थित आचार्य-निवास में उपस्थित हुआ। प्रातः ८ बजे थे। कविराजजी बाहर से आये कुछ संभ्रांत व्यक्तियों से तत्व-वार्ता में व्यस्त थे। उनसे निवृत्त होने पर मैंने अपनी अर्जी पेश की, "महाराजजी, मैंने पोद्दारजी की जीवनी लिखने का संकल्प किया है। आपकी भाँति उन्होंने भी सब-कुछ बता दिया है। उसका श्रुत-लेख इन पाँच रजिस्टरों में लिपिबद्ध है। ग्रन्थ का योजना-सूत्र भी तैयार कर

---

* इसी प्रसंग में पोद्दार जी ने मई ७० ई० में एक स्वजन को पत्र लिखा था, जिसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

प्रिय भैया..............

सप्रेम हरि-स्मरण।

"........आज कल मेरे नाम-रूप, असत् शरीर के कार्यों को लेकर उनके संकलन के लिए बड़ा परिश्रम कर रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका भाव पवित्र है। मेरे प्रति उसके मन में जो आत्मीयता, राग, श्रद्धा आदि के मृदु, मधुर स्नेहपूर्ण भाव हैं, उन्हीं का यह बाह्य परिणाम है। और भैया! मैंने अपने स्वभाव की दुर्बलता वश मन के विरुद्ध होते हुए भी उसके कहने पर उसके इस काम में सहयोग देना शुरू कर दिया है।"

तुम्हारा भाई
हनुमान

लिया है।'' यह कहकर मैंने उसकी टंकित रूपरेखा श्रीहस्तों में दे दी। वे प्रसन्नमुद्रा में बोले, 'पोद्दार महाशय की जीवनी लिख रहे हैं—अच्छी बात है। इस समय मेरा स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा है, फिर भी उसकी भूमिका लिख दूँगा। कितने दिन ठहरेंगे?' मैंने कहा, ''जितने दिन का आदेश हो।'' उस समय कविराजजी के एक अनुगत श्रीहेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती वहाँ उपस्थित थे। उनसे कहा, ''सन्ध्या को मुझे इसका स्मरण दिलाना और दो-तीन दिन आकर इसे मुझसे पूरा करा लेना।'' कविराजजी बंगला-भाषी थे, अतः अपने लेखों की मूल प्रतियाँ वे बंगला में ही तैयार करते थे। स्वयं लिखने की स्थिति में न होते तो बोलकर उसे किसी बंग-लिपि-ज्ञाता द्वारा लिखाते थे। उसके अनन्तर उन्होंने मुझसे कहा, ''आया करना, चार-पाँच दिनों में धीरे-धीरे पूरा करा दूँगा।' मैं प्रतिदिन उपस्थित होता—कुछ देर बैठकर चला आता। ३१ दिसम्बर ७० को बंग-लिपि में भूमिका तैयार हो गयी। उसी दिन संध्या को महाराजजी ने दो घण्टे श्रम करके उसका हिन्दी-अनुवाद मुझे लिखा दिया। मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। इसलिए नहीं कि रुग्णता की स्थिति में भी उन्होंने बारह पृष्ठों की तत्त्वपरिप्लुत भूमिका तैयार करके दे दी, बल्कि यह देखकर कि पोद्दारजी पर उनका कितना स्नेह है, उनकी आध्यात्मिक स्थिति एवं लोकसेवा-भावना के प्रति उनके हृदय में कितना समादर है! इसके अतिरिक्त मेरे लिए यह भी कम विस्मय की बात न थी कि कविराजजी ने अपनी अनुशासन और सिद्धान्तप्रियता की शृङ्खलाएँ ढीलीकर ग्रन्थ के आकार ग्रहण करने के पूर्व ही उसकी भूमिका लिख डाली। कृपा और स्नेह की स्रोतस्विनी बाँधों की परवाह नहीं करती!

इतना सब हो जाने के बाद भी पोद्दारजी की भावना और उनके समक्ष किये गये अपने वादे को ध्यान में रखते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने उनके जीवन-काल में इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने की बात नहीं सोची।

पोद्दारजी के नित्यलीलालीन होने के पश्चात् 'श्रीराधामाधव संस्थान' की ओर से उनकी स्मृति में एक बृहद् श्रद्धांजलि-ग्रन्थ 'भाईजी : पावन स्मरण' नाम से प्रकाशित करने की योजना बनी। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज तथा श्रीचिम्मनलाल जी गोस्वामी के साथ उसके सम्पादन का दायित्व वहन करने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। उक्त योजना में पोद्दारजी की जीवनी तथा विविध सेवाओं का विवरण तैयार करने का कार्य इस जन को सौंपा गया। ईश्वर की कृपा से इस ग्रन्थ ने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की।

इसके अनन्तर मुझे अपनी पहले से चली आती हुई साहित्यिक योजनाओं में व्यस्त हो जाना पड़ा। 'महात्मा बनादास : जीवन और साहित्य', 'रामकाव्य-धारा : अनुसंधान एवं अनुचिंतन', 'हिन्दी-साहित्य : अनिर्दिष्ट शोध-भूमियाँ' तथा 'भुशुण्डि रामायण पूर्वखण्ड' आदि ग्रन्थ इसी कालावधि में निकले। 'मनीषी की लोकयात्रा'

के द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण की पाण्डुलिपि भी इन्हीं दिनों तैयार की गयी। मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावति' का पाठ-निर्धारण और भुशुण्डि रामायण—दक्षिण खण्ड का सम्पादन कार्य हाथ में ले लिया था—इसलिए उसे भी यथासम्भव शीघ्र पूरा करने की धुन थी। इन साहित्यिक अनुष्ठानों में व्यस्त रहते हुए भी ऋषि-ऋण से मुक्त होने की आकुलता अंतर्मन को चैन नहीं लेने देती थी। पोद्दारजी का जीवन-दर्शन उनकी प्रत्यक्ष कृपा के बावजूद अब भी बस्तों और फाइलों में न्यानस्थ था। अनेक कारणों से उसके भूमिष्ठ होने का सुयोग घटित नहीं होने पा रहा था।

१९७८ ई० के श्री राधाष्टमी-महोत्सव के बाद एक दिन श्रद्धेय राधाबाबा के दर्शनार्थ गीतावाटिका गया। सत्संग-वार्ता के क्रम में बाबाजी ने पोद्दारजी के जीवन से सम्बद्ध पूर्वचर्चित ग्रन्थ के प्रकाशन की चर्चा स्वयं चलायी और कहा, 'पोद्दारजी महाराज का जीवन-दर्शन आपके द्वारा शीघ्र प्रकाश में आना चाहिए। समय न मिलता हो तो संक्षेप में ही निकालिये।' श्रीमुख के इन शब्दों को भागवदादेश मानकर यथा-संभव शीघ्र कार्यान्वित करने का निश्चय हो गया। उसमें बहुत थोड़ा कार्य शेष रह गया था; भगवत्कृपा से एक वर्ष के भीतर ही उसकी पाण्डुलिपि तैयार हो गयी।

इस सारस्वत-यज्ञ को सफल बनाने में पोद्दारजी की नाद तथा विन्दु परम्परा से सम्बद्ध स्वजनों का विशेष हाथ रहा। उनके अनन्य भक्त श्रीगम्भीरचन्द दुजारी ने साथ रहकर दैनंदिन-पद्धति से सेव्य के जीवनतथ्यों का प्रायः अलक्षित रूप से एक प्रामाणिक विवरण तैयार किया था। उनके सुपुत्र श्रीहरिकृष्ण दुजारी ने हमारे उप-योग के लिए उसे सहर्ष सुलभ करा दिया। इसी प्रकार भाईजी के स्नेहभाजन श्रीराधे-श्याम बंका ने भी स्वलिखित 'मां और बाबूजी' नामक ग्रन्थ तथा कुछ अन्य उपादेय अप्रकाशित सामग्री प्रदान कर हमें कृतार्थ किया। इसके लिए हम इन आत्मीयजनों के पारमार्थिक उत्कर्ष की कामना करते हैं।

श्रीकुञ्जविहारी पालड़ीवाल ने अपने संग्रह से पोद्दारजी का वसीयतनामा, महत्त्वपूर्ण पत्र, संस्मरण, जीवन की विविध स्थितियों के चित्र आदि जिस अगाध विश्वास के साथ मुझे दिये, उसके मूल में पूज्यचरणों में उनकी अंतस्थ ममता एवं श्रद्धा थी। इसके लिए किसी भी रूप में कृतज्ञता व्यक्त करने से उनके अपनत्व का अवमूल्यन होगा।

मेरे प्रिय शिष्य डॉ० सदानन्द गुप्त इस ग्रन्थ की निर्माण-प्रक्रिया में आद्योपान्त सेवारत रहे हैं। इसके स्वरूप-धारण की विविध स्थितियों में उन्होंने जिस मनोयोग एवं श्रमशीलता का परिचय दिया है, वह अपने आदि प्रेरक तथा जीवन-निर्माता छायापुरुष के चरणों में उनकी असामान्य निष्ठा का द्योतक है। मैं उनके सर्वविध-कल्याण की कामना करता हूँ।

'भाईजी : पावन स्मरण' में इस ग्रन्थ के निर्माण की विज्ञप्ति हुई थी। उसी समय से जिज्ञासुओं के पत्र निरन्तर आते रहे। इसके पूरा हो जाने पर कतिपय अन्य

प्रतिष्ठित प्रकाशकों के अतिरिक्त श्रीराधामाधव संस्थान (गोरखपुर) के मंत्री श्री कुञ्ज-बिहारी पालड़ीवाल ने भी इसके प्रकाशनार्थ अपनी सेवाएँ अर्पित करने की इच्छा व्यक्त की। भाईजी से घनिष्ठरूपेण सम्बद्ध होने के नाते 'संस्थान' को वरीयता देना उचित प्रतीत हुआ। प्रकाशक का यह प्रयास रहा है कि यह ग्रन्थ सर्वप्रकारेण—बाह्यत: भी, पोद्दारजी की गरिमा के अनुरूप हो। इसके स्वरूप-परिष्कार में उनकी कलात्मक अभिरुचि तथा सदाशयता का विशेष हाथ रहा है। अपने कार्य के लिए अपने को धन्यवाद कैसे दिया जाय ?

श्रीहरिप्रसाद निगम, व्यवस्थापक शिवलाल प्रिन्टर्स, वाराणसी के अथक श्रम तथा अनवरत सहयोग से ही हमारी योजना अल्पावधि में साकार हो सकी। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

संतों की रहनी और कहनी का मर्म समानधर्मा व्यक्ति ही हृदयंगम कर सकता है, उसकी अपने शब्दों में अभिव्यक्ति तो और भी दुष्कर व्यापार है। इस दृष्टि से पोद्दारजी के विराट् व्यक्तित्व की छाया भी स्पर्श करने की पात्रता मुझमें नहीं है, उनकी आध्यात्म-साधना के गह्वर में प्रवेश करने की बात भी सोचना चींटी के सागर थहाने-जैसा दुस्साहसमात्र है। किस पूर्वसम्बन्ध अथवा सुकृत से उन्होंने इस मिट्टी के घड़े में अमृत भरने का उपक्रम किया, कह नहीं सकता। प्रकृत विषय में घोर अन-भिज्ञता के बावजूद अपनी ओर से उसके निरूपण में पूरी ईमानदारी बरतने का प्रयास रहा है, फिर भी पृथ्वी शेष के फण पर है; अत: अज्ञान अथवा प्रमादजनित भूलों का रह जाना असम्भव नहीं। तत्वग्राही पाठक कृपापूर्वक उनकी ओर ध्यान नहीं देंगे तथा भावग्राही भाईजी की व्यापक आत्मा शरणागत के अज्ञानजनित अपराध को क्षमा कर अपने विरद की रक्षा करेगी, इतना विश्वास है और यही प्रार्थना है।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, सं० २०३७ **भगवतीप्रसाद सिंह**
साकेत, बेतियाहाता
गोरखपुर

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

	पृ० सं०
लोकयात्रा	१-२१३
क. निर्माण प्रक्रिया (सं० १९४९-१९७५)	१-६८

पूर्वज १, पितामह की आसाम यात्रा २, व्यापार स्थापना ३, आनुवंशिक धर्माचरण ३, समस्या और समाधान ४, पारिवारिक व्यवस्था ४, एक नयी चिन्ता ४, आध्यात्मिक उपचार ५, जन्म ८, नवजात शिशु के विचित्र लक्षण ८, नामकरण ८, मातृवियोग ९, भीषण रोग से मुक्ति ९, भूकम्प से प्राणरक्षा ९, शिलांग से कलकत्ता आगमन ११, शिक्षा ११, महाजनी ११, उर्दू १२, संस्कृत १२, हिन्दी १४, बंगला १४, गुजराती और मराठी १५, अंग्रेजी १५, अन्य भाषाएँ १७, दीक्षा १७, उपनयन संस्कार १७, विवाह १८, स्वावलम्बन के पथ पर १९, पितृचरणों का सान्निध्य १९, नियमित जीवन का आरम्भ २१, इतर धर्मावलम्बियों से सम्बन्ध २२, एक अलौकिक आत्मोत्सर्ग २२, पत्नी का देहावसान २४, स्वामी जगदीश्वरानन्द भारती से सत्संग २५, स्वामी शंकरानन्द की राजनीतिक प्रेरणा २५, दूसरा विवाह २५, पिता का स्वर्गवास २५, समाजसेवा २७, क्रान्ति की लपटों में (बंगभंग और स्वदेशी आन्दोलन २७, स्वदेशी व्रत २९, कलकत्ता कांग्रेस ३०, अघोषित युद्ध ३०, गुप्त समितियों का संगठन ३१, मारवाड़ी सहायक समिति से सक्रिय सहयोग ३३, चपकनपार्टी ३४, हिन्दू क्लब ३४, साहित्य-संवर्द्धिनी-समिति ३४, क्रान्ति की बाइबिल गीता ३५, स्वाध्याय ३६, साहित्यकारों से परिचय ३६, राष्ट्र नेताओं से नैकट्य ३८, अन्य बंगविभूतियों से स्नेह सम्बन्ध ३९, संत-समागम ३९, सेठ जयदयाल गोयन्दका से प्रथम सत्संग ३९, अरविन्द की स्नेह प्राप्ति ४०, अग्निवर्षी समाचारपत्र ४१, धधकती ज्वाला में ४२, दमनचक्र का तांडव ४२, मानिकतल्ला बम केस ४३, अरविन्द की अन्तर्धान लीला ४४, देशबन्धु की दानशीलता ४४, पारिवारिक आपत्ति ४६, आर्त्तसेवा की शिक्षा ४७, विप्लववादियों की कार्य प्रणाली ४८, राजद्रोहियों की सूची में ४९, तृतीय विवाह ५०, रोडाकांड ५०, कारागारसेवन : डुराण्डा

हाउस कारागार ५२, गिरफ्तारी की प्रक्रिया ५३, समाज में आतंक ५४, घर की स्थिति ५४, अलीपुर जेल का जीवन ५५, नामाश्रय ५५, कारावधि की समाप्ति ५६, वे अविस्मरणीय क्षण ५८, बाँकुड़ा के लिए प्रस्थान ६०, शिमलापाल का अज्ञातवास ६०, स्वावलम्बन ६१, अधिकारियों से सौहार्द्र ६१, शास्त्राध्ययन ६२, स्वजन सम्पर्क ६२, सेवाकार्य ६३, नामनिष्ठा का चमत्कार ६४, विपत्ति के साथी ६५, धर्मपत्नी का शिमलापाल आगमन ६६, शिमलापाल से विदाई ६७।

ख. जीवन संघर्ष (सं० १९७५ वि०–१९८४ वि०) ६९–१२६

पितृभूमि की शरण में ६९, वृत्ति की चिंता ६९, सेठ जमनालाल बजाज का आत्मीयतापूर्ण आह्वान ७०, सेठ जमनालाल बजाज की छत्रछाया ७०, योगक्षेम की व्यवस्था ७०, हठयोग का अभ्यास ७१, आर्तरक्षा ७१, जाको राखै साइयाँ ७२, पुत्र की मृत्यु ७४, राजनीतिक प्रवृत्ति का पुनरुत्थान ७५, सेठ जमनालाल बजाज का संसर्ग ७५, लोकमान्य से नैकट्य ७६, लाला लाजपत राय की स्नेह प्राप्ति ७६, गाँधीजी से संपर्क वृद्धि ७७, बापू के संस्मरण ७७, मालवीय जी से पारिवारिक सम्बन्ध ८३, कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में ८६, महाराजा सिंधिया से भेंट ८८, खादी प्रचार ८९, खादी के सम्बन्ध में विचार ८९, विलायती वस्त्रों की टोली ९०, सक्रिय राजनीति से उपरामता ९२, सामाजिक जोवन में रुचि ९३, अग्रवाल महासभा के कार्यों में योगदान ९३, स्वतन्त्र रूप से समाज-सेवा ९४, आपद्ग्रस्तों की सहायता ९७, 'भाईजी' उपनाम ९७, मनोरंजन ९८, तीर्थयात्रा ९८, स्वाध्याय ९८, लेखन ९९, पारिवारिक दायित्व का निर्वाह ९९, विवाह में स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग १००, बहन की आत्महत्या १००, अध्यात्मभावना का पुनरुद्रेक १०१, गोयन्दकाजी का संसर्ग १०१, कीर्तनासक्ति का सूत्रपात् १०२, सेठ रामकृष्ण डालमिया से घनिष्ठता १०२, प्रार्थना के चमत्कार १०३, दैन्य का आविर्भाव १०५, गोयन्दकाजी का बम्बई आगमन १०६, प्रथम प्रवचन १०६, सत्संगभवन की स्थापना और पोद्दारजी का नियमित प्रवचन १०७, पं० हरिवक्षजोशी तथा श्रीविष्णु दिगम्बर का सहयोग १०८, गीताशिक्षक की भूमिका १०९, दादी का परलोकवास १०९, शिरोवेदना और उपचार १०९, पं० विष्णु दिगम्बर की रागसेवा ११०, गोयन्दकाजी की द्वितीय सत्संग-यात्रा १११, सामूहिक जपयज्ञ का श्रीगणेश १११, कब्बूभाई का सत्संग १११, पं० नरहरिशास्त्री का

स्नेह सम्बन्ध १११, स्वामी योगानन्द से परिचय और मंत्रानुष्ठान ११२, 'कल्याण' का प्रवर्त्तन ११३, पुनः जीवन रक्षा ११५, गोयन्द-काजी के स्वास्थ्य लाभ के लिये अनुष्ठान ११६, 'कल्याण' के लिए गांधीजी का आशीर्वाद तथा सुझाव ११७, 'अग्रवाल महासभा' का कलकत्ता अधिवेशन : एक दुःखद अनुभव ११८, व्यापार संवरण ११८, संसार की नश्वरता की अनुभूति ११९, गंगातट-सेवन की आकांक्षा १२०, एक महात्मा की सेवा १२२, 'कल्याण' का प्रथम विशेषांक 'भगवन्नामंक' १२२, विदाकाल का भागवत-अनुष्ठान १२३, मित्र की स्नेह भरी सीख १२४, बम्बई से बिदाई १२४।

ग. कर्मयोग-साधना (सं० १९८४-२०२७ वि०) १२७–२१३

प्रलोभनों का इन्द्रजाल १२७, भगवद्दर्शन की उत्कंठा १२९, भगवन्नाम-प्रचार १३१, नामप्रचार-यात्रा १३२, नाम-जप-विभाग की स्थापना १३३, दोषदर्शियों का समादर १३६, उपरामवृत्ति १३७, अग्रवाल महासभा—अन्तिम नमस्कार १३७, साधन-समिति की स्थापना १४१, रुद्रयाग १४३, अन्तिम सन्तान १४३, श्रीवियोगी हरि का गोरखपुर आगमन १४३, कुम्भ में 'गीता ज्ञानयज्ञ' १४४, गोरखपुर : प्लेग की चपेट में १४४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का गोरखपुर अधिवेशन १४४, गीता-भवन (ऋषिकेश) प्रवास १४५, पड़रौना का नमक-सत्याग्रह १४५, आर्थिक स्थिति १४६, 'कल्याण कल्पतरु' का आरोपण १४७, अयोध्या एवं ब्रजयात्रा १४८, स्वामी विशुद्धानन्द का दर्शन १४८, देवदास गांधी की सँभाल १४८, सतीशचन्द्र बनर्जी का साक्षात्कार १४९, रतनगढ़ प्रवास १५०, कलकत्ता में शल्य चिकित्सा १५१, बिहार के भूकम्प में सहायता १५१, हरिबाबा के बाँध महोत्सव में १५१, एकान्तवास का ज्वार १५४, भगवन्नाम प्रचार की दूसरी योजना १५५, एक वर्ष का अखण्ड संकीर्तन १५५, पं० जवाहरलाल नेहरू का गोरखपुर आगमन १५६, बाढ़ में सहायता १५६, गीताप्रेस का कर्मचारी आन्दोलन १५७, कल्याण की मूल्य वृद्धि : समाधान १६१, रतनगढ़ का पुनः प्रवास १६४, शरीर साधना १६७, दादरी में एकान्तवास १६७, हिन्दू कोडबिल का विरोध १६९, रोगों का प्रकोप : अजमेर में उपचार १७०, गीताप्रेस में पुनः हड़ताल १७१, नोआखाली काण्ड १७२, गीताद्वार का निर्माण १७३, गीताद्वार का राष्ट्रपति द्वारा उद्घाटन १७४, तीर्थयात्रा १७५, गोविन्द-भवन का शिलान्यास १७५,

शिमलापाल की पुनर्यात्रा १७५, उपाधियों से विरति १७६, उपरामता १७७, सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्ध त्याग १८१, चिर विश्राम की भूमिका १८६, अवसान के पथपर १९४, अन्तिम श्वास तक सिद्धान्त-रक्षा १९५, लीला-प्रवेश २०१, समाधि २०२, जीवनधारा के सहायक स्रोत : जीवन संगिनी माँजी २०३, स्वामी श्रीचक्रधरजी 'राधा बाबा' २०४, श्रीगम्भीरचन्द दुजारी २०७, श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी २१०, दादा रामस्नेही २१२ ।

द्वितीय अध्याय

कल्याण तथा गीताप्रेस योजना २१४–३०१

विकास के सोपान २१५, विशेषांकों का परिचय (भगवन्नामांक, भक्तांक, श्रीमद्भगवद्गीतांक, श्रीरामायणांक, श्रीकृष्णांक, ईश्वरांक, शिवांक, शक्तिअंक, योगांक, वेदांतांक, संतांक, मानसांक, गीता-तत्त्वांक, साधनांक, श्रीमद्भागवतांक, संक्षिप्त महाभारतांक, संक्षिप्त वाल्मीकि रामायणांक, पद्मपुराणांक, गौ अंक, मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक, नारी अंक, उपनिषदांक, हिन्दू संस्कृति अंक, स्कंद पुराणांक, भक्त चरितांक, बालक अंक, संक्षिप्त नारद-विष्णु पुराणांक, संतवाणी अंक, सत्कथांक, तीर्थांक, भक्ति अंक, मानवता अंक, संक्षिप्त देवी भागवतांक, संक्षिप्त योगवाशिष्ठांक, शिव-पुराणांक, संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणांक, श्रीकृष्ण वचनामृतांक, भगवन्नाम महिमा और प्रार्थना अंक, धर्मांक, रामवचनामृतांक, उपासनांक, परलोक और पुनर्जन्मांक, अग्निपुराण और गर्ग सहितांक, अग्निपुराण, गर्गसंहिता एवं नरसिंह पुराण अंक) २१७-२३६, 'कल्याण' और सामयिक समस्याएँ २३७, समाज सुधार : शिष्ट होली २३७, दहेज का विरोध २३८, राजनीतिक समस्याएँ २३८, धार्मिक समस्याएँ : ईश्वरविरोधी सम्मेलन की भर्त्सना २४२, हिन्दू कोडबिल का विरोध २४३, विशिष्ट स्तम्भ : शिव उपनाम से लिखे गये लेख २४६, पढ़ो समझो और करो २५०, विवेकवाटिका २५३, परमार्थ पत्रावली २५४, सम्पादन व्यवस्था २५५, सम्पादकीय कार्यालय २५६, कार्यपद्धति २५८, सम्पादकीय विभाग की दिनचर्या २५९, सम्पादन सहयोग २५९, विशेषांकों का सम्पादन २६२, सम्पादन नीति २६४, 'कल्याण' का लेखक मण्डल २७१, लोकप्रियता का रहस्य २७७, कल्याण का अवदान २८४, गीताप्रेस : स्थापना एवं विकास २८७, गीताप्रेस का वर्तमान स्थान पर स्थानांतरण २९०, गीताप्रेस का मुद्रण विभाग २९१, छपाई विभाग २९१, दफ्तरी

विभाग २९१, ढलाई विभाग २९२, कम्पोजिंग विभाग २९२, कार्यशाला २९३, संचालन सहयोग : घनश्यामदास जालान २९४, श्रीसुखदेव अग्रवाल २९६, श्रीगंगाप्रसाद अग्रवाल २९८, पं० लादूराम शर्मा २९९।

तृतीय अध्याय

साहित्य-सर्जना एवं ग्रंथ-सम्पादन ३०२–३१९

प्रथम रचना : लेख ३०२, प्रतिपाद्य विषय ३०७, साहित्य की परिभाषा ३०७, साहित्य निर्माण के विविध रूप ३०८, गद्यात्मक रचनाएँ : निबन्ध ३०८, टीका साहित्य ३०८, पत्र ३०९, प्रवचन ३०९, सम्पादकीय टिप्पणियाँ ३०९, गद्यकाव्य ३१०, संस्मरण ३१०, विषयानुसार वर्गीकरण २१०, शैलीगत वर्गीकरण ३१०, भाषा ३११, पद्यात्मक रचनाएँ ३११, काव्य की भावभूमि ३१४, ग्रन्थ-सम्पादन ३१७, संस्कृत के ग्रन्थ ३१७, हिन्दी के ग्रन्थ ३१८, बाल-साहित्य ३१९।

चतुर्थ अध्याय

लोकाराधन ३२०–३५०

पोद्दारजी की लोकसेवा का स्वरूप ३२०, सेवा के प्रकार ३२४, आपत्कालीन सहायता ३२५, प्राचीन देवालयों का पुनरुद्धार ३२६, श्रीरामजन्मभूमि (अयोध्या) का उद्धार ३२६, श्रीकृष्ण जन्मभूमि मथुरा में 'भागवतभवन' का निर्माण ३२८, चतुर्धाम-वेद-भवन की स्थापना ३३०, विकलांग सेवा : मूक बधिर विद्यालय की स्थापना ३३१, कुष्ठसेवाश्रम योजना ३३२, जीवदया ३३२, संस्कारमार्जन ३३३, भ्रान्त बालिका की सँभाल ३३६, गोसेवा ३३७, संक्रामक रोगी की शुश्रूषा ३४३, बाद तथा भूकम्प सेवा ३४४, अकाल सहायता ३४६, आर्त्त सेवा ३४७।

पंचम अध्याय

पथ निर्देश ३५१–४२१

भगवद्दर्शन-प्राप्ति के साधन ३५३, आत्मकल्याण और भगवत्कैंकर्य ३५६, अपने दोष देखिये और दूसरों के गुणों का मनन करिये ३६०, असत् स्फुरणाओं को मार भगाइये ३६१, सच्चे सम्बन्धी से नाता जोड़िये ३६३, संकटनाश के अमोघ उपाय ३६५, ध्यान साधना ३६६, मेरा कृष्ण हिन्दू का नहीं गोपी-हृदय का है ३६८, जीव की

देह धारण प्रक्रिया और श्राद्ध-तर्पण ३७२, भगवान विष्णु और शिव की अभिन्नता ३७४, साधना में मन की प्रधानता है, स्थूल वस्तुओं की नहीं ३७५, अपना मत (वोट) किसको दें ? ३७६, आदर्श प्रेम और मोह का अन्तर समझिये ३७९, रूसी साम्यवाद, अस्पृश्यता तथा मन्दिर-प्रवेश, खानपान में पवित्रता महात्मा गांधी, विधवा-विवाह, तलाक, नामजप : कुछ विचार ३८१-३८८, अर्थ-अनर्थ-मीमांसा ३८९, सुधार होता निज के सुधारे ३९०, भारतीय संस्कृति विनाश के पथ पर ३९४, आज का असुर मानव ३९६, वैराग्य का भ्रम ३९८, पाप का प्रकट होना हितकर है ४०१, घर छोड़ने से ही भगवत्प्राप्ति नहीं होती ४०२, जीवन से विषाद को निकालिये ४०३, माता प्रत्येक स्थिति में सेवनीय है ४०४, मंगलसाधन न हो सके तो मंगल विचार में ही लीन रहिये ४०५, त्याग प्रेम की आधार भूमि है ४०७, पापी से नहीं पाप से घृणा करो ४०९, मैनेजर बनिये मालिक नहीं ४११, प्रसुप्त आत्मशक्ति को जगाइये ४१४, आठ आध्यात्मिक प्रश्न ४१६-४२१ ।

षष्ठ अध्याय

अध्यात्म-साधना ४२२-४५६

बाल्यावस्था से ही साधना की ओर प्रवृत्ति ४२२, जयदयाल गोयन्दका से सत्संगलाभ ४२३, तारादेवी की उपासना ४२५, अलीपुर जेल की साधना ४२६, शिमलापाल की साधना ४२६, बम्बई प्रवास में ध्यानाभ्यास ४२९, निराकार की साधना ४३० निर्गुण-निर्विशेष की साधना के सोपान ४३१, सगुण-साकार की ओर प्रवृत्ति ४३२, भगवान राम के दर्शन ४३३, साधक समिति की स्थापना ४३५, नामजप साधना ४३६, भगवान् विष्णु के दर्शन ४३८, लीलापुरुषोत्तम का साक्षात्कार ४४०, श्रीकृष्णलीला दर्शन ४४१, राधामाधव का एकात्म्य-बोध ४४२, आराध्य का स्वरूप-वैलक्षण्य ४४२, लीला-रस-भोग ४४२, दिव्य प्रेमराज्य में प्रवेश ४४३, भावसमाधि ४४४, भागवती स्थिति ४४५, धर्मतत्त्व निर्णय ४५०, भगवत्कार्य-सिद्धि ४५२, स्वरूपस्थिति ४५४-४५६ ।

सप्तम अध्याय

रहस्य कथा ४५७-४८१

आत्मा की अनन्त यात्रा, परलोक तथा पुनर्जन्म की समस्या ४५७, प्रेतात्माओं से सम्पर्क स्थापना ४५८, पोद्दारजी के लोकोत्तर व्यक्तित्व

का रहस्य ४५९, पारसी प्रेत के लिए श्राद्ध व्यवस्था ४५९, प्रेतलोक की स्थिति एवं जीवनपद्धति ४६१, दिव्यलोकों से सम्बन्ध ४६२, स्वप्नादेश द्वारा आवास व्यवस्था ४६३, आश्रित-रक्षा ४६३, दिव्य संतमण्डल में अन्तर्निवेश ४६५, नामस्मरण का अद्भुत प्रभाव ४६५, शिवशक्ति का साक्षात्कार ४६६, स्वप्न में पुस्तक प्राप्ति ४६७, स्वप्न में उपदेश ग्रहण करने का भगवदादेश ४६८, देवर्षि नारद तथा महर्षि अंगिरा के दर्शन ४६९, श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे की परोक्ष सँभाल ४७६, मित्र को स्वप्न में सदुपदेश ४७४, अदृश्य हाथों द्वारा आतिथ्य-व्यवस्था ४७४, अनुगत की प्राण-रक्षा ४७५, एक समर्पिता की अभीष्टसिद्धि ४७६, अंग्रेज भक्त को 'हृषीकेश' का दर्शन ४७७, पोद्दारजी द्वारा श्रीराधाकृष्ण प्रेम भिखारी को लिखा गया उत्तर ४७८, पोद्दारजी की उच्च आध्यात्मिक स्थिति का तत्कालीन गृहमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पंत एवं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को अनुभव ४७९-४८१ ।

परिशिष्ट ४८३-५९४

क. अमृतानुभव ४८३
ख. वसीयतनामा ५२२
ग. काव्यांजलि ५३६
घ. पोद्दारजी की कृतियाँ ५७२
ङ. नामानुक्रमणिका ५७६

●

हनुमान प्रसाद पोद्दार असाधारण विलक्षण महा-पुरुष।

गोपीनाथ कविराज
२७-१२-७०

कल्याणपथ :

निर्माता और राही

लोकयात्रा

निर्माण प्रक्रिया (सं० १९४९–१९७५)

शूरों, सतियों और संतों की पुण्यभूमि राजस्थान में रतनगढ़ नामक एक प्रसिद्ध स्थान है। यह अंग्रेजी राज्य में बीकानेर रियासत का जिलास्तरीय शासन-केन्द्र था। इसमें मारवाड़ी अग्रवालों के कई घराने शतियों से बसे हुए हैं, जिसमें गर्ग तथा बांसल गोत्रीय वैश्यों की कुलीनता सर्वस्वीकृत है। बांसल गोत्र के इन्हीं राजस्थानी अग्रवालों की एक शाखा 'पोद्दार' नाम से अभिहित की जाती है। यह अल्ल अथवा उपाधि वृत्तिमूलक है। इस शाखा के पूर्व-पुरुषों को मध्यकाल में हिन्दू तथा मुसलमान सामन्तों के यहाँ असाधारण ईमानदारी के कारण 'पोत'[1] अथवा खजाने का काम सौंपा जाता था। कालान्तर में यह वृत्ति ही उनकी वंशानुगत पदवी का आधार हो गयी। हनुमानप्रसादजी का आविर्भाव ऐसे ही एक पोद्दार-परिवार में हुआ था। रतनगढ़ की इस शाखा के प्रवर्तक सेठ सखीराम थे।

---

१. पोतदार फारसी 'पोतःदार' का अपभ्रंश रूप है। 'पोतः' का अर्थ होता है 'भांडागार' या 'खजाना' और 'दार' वाला या अधिकारी का बोधक है। अतः पोतदार का अर्थ हुआ—'कोषाध्यक्ष' अथवा 'खजांची' (द्रष्टव्य—उर्दू-हिन्दी कोश, मुहम्मद मुस्तफा खाँ मद्दाह, पृ० ३८८)। भारतीय भाषाओं में संपत्ति अथवा धन के अर्थ में 'पोत' शब्द के व्यवहृत होने की परंपरा इससे कहीं पुरानी है। संस्कृत में 'पोत' अलंकारवाचक है (संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम्स, पृ० ६५०); राजस्थानी में यह शब्द एक विशेष प्रकार के छोटे मोती का बोधक है, जो स्त्री के कंठाभरण में पिरोये जाते हैं (राजस्थानी सबद कोस, तृतीय खंड, पृ० २६०५); कौटिल्य के अर्थशास्त्र के ३७ वें प्रकरण में 'पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तात् कारयेत' का उल्लेख मिलता है, जिसमें पौतवाध्यक्ष रस, रत्न, वस्त्र, पत्थर आदि पदार्थों की मापतौल का निर्धारक अधिकारी का द्योतक माना गया है।

'पोत' का अर्थ जहाज अथवा नाव लेने से प्राचीन काल में समुद्री व्यापार करने वाले वैश्यों को 'पोत-वणिक' कहा जाता था—सायांत्रिकः, नौवाणिज्यकरः आदि इसके पर्याय थे (शब्दकल्पद्रुम, तृतीय खंड, पृ० २३५)। किन्तु व्यवसायविशेष का वाचक होते हुए भी वर्तमान प्रसंग में प्रयुक्त 'पोद्दार' शब्द निश्चय ही मध्य-कालीन राज-व्यवस्था से सम्बद्ध है, 'फारसी' का 'दार' प्रत्यय इसका प्रमाण है। जमींदारी उन्मूलन के पूर्व १९५० ई० तक अवध की रियासतों में तहसीलों से राजस्व अथवा खजाने की धनराशि राज्य केन्द्रों को पहुँचाने वाले अधिकारी 'पोतदार' कहे जाते थे। संभवतः राजस्व से सम्बद्ध होने के कारण ही महाराष्ट्र में भी एक वर्ग विशेष में 'पोतदार' उपाधि प्रचलित है।
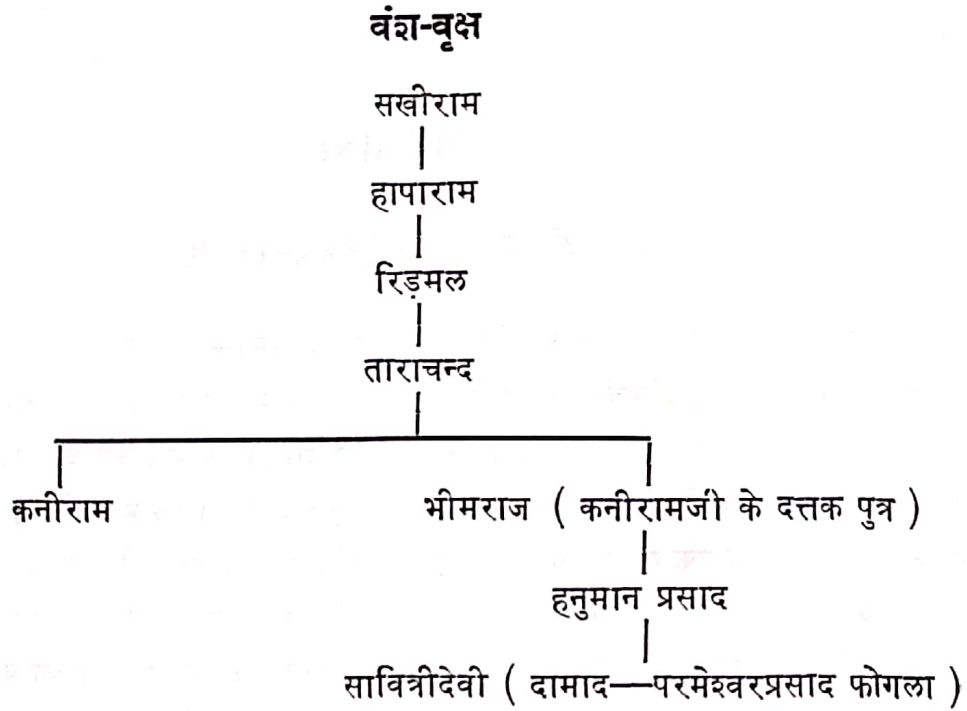
हनुमानप्रसादजी के पितामह सेठ ताराचन्द की गणना नगर के इने-गिने व्यापारियों में होती थी। वे बड़े ही धर्मप्राण व्यक्ति थे। उनके दो विवाह हुए थे और दोनों स्त्रियों से एक-एक पुत्र—कनीराम और भीमराज थे। इनमें कनीराम[1] बड़े थे, भीमराज छोटे। पिता ने बाल्यावस्था में इन दोनों को पैतृक व्यवसाय में लगा दिया था। वयस्क होने पर बड़े लड़के कनीराम ने 'देस' से बाहर जाकर व्यापार करने की इच्छा व्यक्त की। ताराचन्द उनकी बुद्धिमत्ता और अध्यवसाय से आश्वस्त थे। अतः उन्होंने इसकी अनुमति सहर्ष दे दी।

पितामह की आसाम यात्रा

उन दिनों राजस्थान में यातायात की बहुत कम सुविधाएँ उपलब्ध थीं। पक्की सड़कें और रेलवे लाइनें गाँवों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े कस्बों तक के लिए स्वप्न थीं। रतनगढ़ से निकटतम रेलवे स्टेशन वर्तमान फुलेरा जंक्शन का पार्श्ववर्ती कुचामन रोड था। कहीं भी बाहर जाने के लिए रतनगढ़वासियों को ऊँट या बैलगाड़ी पर बैठकर तीन दिन की दुर्गम तथा खतरनाक यात्रा करके वहाँ पहुँचना पड़ता था।

युवक कनीराम को अपने कुछ सम्बन्धियों से पता चला था कि आसाम में व्यापार फैलाने का पर्याप्त क्षेत्र है। अतः धनोपार्जन की आशा में पथ की कठिनाइयों की परवाह न करते हुए इन्होंने आसाम जाने का निश्चय कर लिया। कुटुम्बियों से

१. कनीरामजी के कोई संतान न थी, अतः उन्होंने अपने छोटे भाई भीमराज को गोद ले लिया। इससे दत्तक पुत्र के रूप में ये ही उनके उत्तराधिकारी हुए।

विदा लेकर ये किसी प्रकार कुचामन रोड गये और वहाँ गाड़ी पकड़कर नये प्रदेश में समृद्ध व्यापार के कल्पनाजन्य आनन्द-सागर में डूबते-उतराते कई दिनों की रेलयात्रा करके शिलांग पहुँचे। रतनगढ़ से शिलांग जानेवाले मारवाड़ी व्यापारियों में ये सर्वप्रथम थे। कालांतर में इन्हीं की प्रेरणा से रतनगढ़ के कुछ अन्य परिवारों, अजीतसरियों और गणेशराम गोयन्दका, को शिलांग जाकर बृहद् व्यापार आयोजित करने का सुयोग प्राप्त हुआ।

व्यापार-स्थापना

शिलांग पहुँचने के थोड़े ही दिनों बाद इन्हें सेना को खाद्य पदार्थों की आपूर्ति का ठेका मिल गया। काम बहुत बड़ा था, उसे अकेले सम्हाल पाने में कठिनाई का अनुभव कर कनीरामजी ने रतनगढ़ से अपने पिता ताराचंदजी और छोटे भाई भीमराज को भी आसाम बुला लिया। पूर्वी कमान के विभिन्न सेना-केन्द्रों पर सामग्री पहुँचाने की सुविधा के विचार से कुछ दिनों बाद इन्होंने गौहाटी तथा कलकत्ता में दो नयी शाखाएँ खोल दीं। मुख्य कार्यालय शिलांग में ही रखा। स्थायी रूप से परिवार के साथ रहते हुए वहीं से सारा कारबार देखते रहे।

आनुवंशिक धर्माचरण

कनीरामजी जितने कुशल व्यापारी थे, उतने ही आस्थावान गृहस्थ भी। रामचरितमानस में उनकी अगाध निष्ठा थी। वे उसका नियमित रूप से पाठ करने के पश्चात् ही भोजन करते थे। दैवयोग से उनकी धर्मपत्नी रामकौर देवी भी सात्विक विचार की थीं। सामान्य पढ़ी-लिखी होने पर भी सत्संग तथा स्वाध्याय से शास्त्र का मर्म ग्रहण करने की उन्होंने अद्भुत क्षमता उपार्जित कर ली थी। हनुमानजी उनके इष्ट थे। मानस-पाठ और रामनाम-जप निरंतर किया करती थीं। वेदान्त में उनकी प्रगाढ़ निष्ठा थी। वे बड़ी मितव्ययी थीं। गृहस्थी के खर्चों में कमी करके, बचे हुए पैसे सत्कार्यों में व्यय करना उनका स्वभाव बन गया था। प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को ब्राह्मण-विद्यार्थियों को भोजन कराने का उनका नियम था। वे बड़ी ही साहसी तथा नियम-पालन में कठोर थीं। स्त्री होते हुए भी निर्भयता उनका प्रकृत गुण था। इसके साथ उनमें नम्रता इतनी थी कि प्यार और सेवा से रूखे और असंतुष्ट व्यक्ति को अपना बना लेने में उन्हें देर नहीं लगती थी। इससे पास-पड़ोस के कई परिवारों में उनकी प्रतिष्ठा थी। जन्म, विवाह, मरनी-करनी आदि अवसरों पर उन घरों में भी सामाजिक कृत्यों की व्यवस्था का भार उन्हीं पर रहता था। वे स्वयं अत्यंत परिश्रमशील थीं और परिवार के सभी लोगों को निरंतर काम में लगाये रखती थीं। इन असाधारण गुणों के कारण घर की वास्तविक कर्ता वे ही थीं। कनीरामजी भर्ता थे और अन्य आश्रितजन इन दोनों के प्रसाद के भोक्ता मात्र।

रामकौर देवी की कार्यकुशलता से कनीरामजी को गृहप्रबन्ध से निश्चिन्त होकर अपना सारा समय और शक्ति व्यापार में लगाने का अवसर मिला। दंपति की धर्म-निष्ठा और कर्तव्य-परायणता से कारोबार में आशातीत सफलता मिली, जिससे अल्प-काल में ही पोद्दार-संस्थान शिलांग की सम्पन्न व्यापारिक कोठी बन गयी।

समस्या और समाधान

वय के साथ वैभव की अनगिनत सीढ़ियाँ पार करते-करते सेठ कनीराम तीसरेपन में ही थकावट का अनुभव करने लगे। शरीर उनका अब भी नवयुवकों-सा ही फुर्तीला और श्रमशील था, किन्तु मन का सारा उत्साह चिंता की एक काली रेखा से धूमिल हो चला था। अवकाश के क्षणों में वे सोचते रहते कि पसीना गारकर कमायी गयी इस सम्पत्ति का भोग कौन करेगा ! अब तक उन्हें संतान देखने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका था। भविष्य में उसकी आशा मृगमरीचिका मात्र थी। इस उद्विग्नता से उन्हें भावीजीवन अन्धकारपूर्ण प्रतीत होने लगा। पत्नी रामकौर देवी इससे कम दुःखी नहीं थीं, किन्तु उनकी गहरी आस्तिकता इस तमसावृत्त स्थिति में भी ईश्वरीय विधान की कल्याणरश्मियों का दर्शन करती थी। अतः उनके स्वास्थ्य अथवा कार्यपद्धति पर इसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव लक्षित न हो सका।

एक दिन दम्पति ने पूरी परिस्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार करके एक महत्त्व-पूर्ण निर्णय लिया। अपने पिता सेठ ताराचंद तथा कुछ अन्य विशिष्ट सम्बन्धियों की सम्मति प्राप्त कर कनीरामजी ने छोटे भाई भीमराज को, जो उन दिनों कलकत्तावाली दुकान का प्रबन्ध देखते थे, दत्तक पुत्र घोषित करके उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति का अधिकारी बना दिया। इसके बाद भीमराज बड़े भाई कनीराम को ही अपना धर्म-पिता और भाभी रामकौर देवी को धर्ममाता मानकर सेवा करने लगे और इस भाव-सम्बन्ध का वे आजीवन निर्वाह करते रहे।

पारिवारिक व्यवस्था

भीमराज का विवाह हो चुका था। उनकी पत्नी रिखीबाई को रामकौर देवी की पुत्रवधू के रूप में अगाध स्नेह प्राप्त हुआ। व्यापार के सिलसिले में उन्हें कलकत्ता रहना पड़ता था, किन्तु कनीरामजी और रामकौर देवी के प्रेमभाव से आकृष्ट होकर वे दोनों बराबर शिलांग आते-जाते रहते थे। कभी-कभी माता की सेवा के लिए भीमराजजी पत्नी को शिलांग छोड़ जाते थे। उनके आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से रामकौर देवी और कनीरामजी को संतानहीन होने का दुःख भूल गया।

एक नयी चिन्ता

इस प्रकार सुख के प्रकाशमय दिवस बीत ही रहे थे कि कनीरामजी के जीवन

की गोधूलि वेला आ गयी। रामकौर देवी को इसके साथ ही एक अन्य चिंता ने आ घेरा। भीमराज का विवाह हुए कई वर्ष बीत चुके थे, किन्तु कोई संतान हुई ही नहीं। रामकौर देवी इस आशंका से निरंतर भयभीत रहने लगीं कि कहीं उनकी भाँति पुत्रवधू की भी कोख खाली न चली जाय। इस कुयोग को टालने के लिए उनसे जो कुछ दान-पुण्य बन पड़ता, बराबर करती रहती थीं। किन्तु कार्यसिद्ध होते न देखकर उनकी बेचैनी सीमा पार करने लगी।

शिलांग में सब प्रकार की भौतिक सुविधाएँ प्राप्त थीं, फिर भी था वह 'परदेस' ही। रामकौर देवी का साधु संतों में बड़ा विश्वास और अवतारों में अगाध निष्ठा थी। किन्तु राजस्थानी दंपति के लिए आसाम के उस नये वातावरण में आस्था की स्थापना एवं विकास के लिए उपयुक्त आधार प्रस्तुत ही नहीं हो पाता था। उस प्रदेश के धार्मिक आचार-विचार उनकी जन्मभूमि की रीति-नीति से सर्वथा भिन्न थे। अतः प्रकृत प्रसंग में वहाँ के लोगों से किसी प्रकार की सहायता-प्राप्ति की आशा न देखकर वे पति की अनुमति प्राप्त कर एक नौकर को साथ लेकर रतनगढ़ चली आयीं। यहाँ स्वजनों तक से अपनी मनोव्यथा व्यक्त न कर वे उसके शमनार्थ अपनी प्रकृति के अनुकूल साधनों के अनुसंधान में लीन रहने लगीं।

आध्यात्मिक उपचार

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही रतनगढ़ की प्रसिद्धि नाथपन्थी साधना के विशिष्ट केन्द्र के रूप में हो गयी थी।[1] इसकी परम्परा १९ वीं शती के प्रथम चरण तक

---

१. रतनगढ़ में नाथ 'परमहंसों' की गद्दी की स्थापना लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुई थी। इसके आदि प्रवर्तक श्रीभाऊनाथजी थे। इनकी समाधि चुरू के बीड़ में है। इन्होंने १२० वर्ष की आयु पायी थी। उस समय रतनगढ़ कोलासर नामक ग्राम के रूप में था। जहाँ अब नगर के उत्तरी द्वार के बाहर पोद्दारों की धर्मशाला है, वहाँ उस समय श्मशान-भूमि थी। बाबाजी प्रायः दिगम्बर रहते थे, केवल बस्ती में जाते समय कोपीन धारण कर लेते थे। एक बार श्मशान भूमि में श्रीभाऊनाथजी महाराज दिगम्बरावस्था में समाधिस्थ थे। उसी समय कुछ व्यक्ति एक शव को लेकर मृतक संस्कार करने आये। बाबाजी ने समाधि से जाग कर उन्हें उस स्थान पर मृतक संस्कार करने का निषेध किया, परंतु वे लोग नहीं माने। महात्माजी के मुख से निकल गया–'तो फिर मुर्दों को लाते जाओ।' इसके बाद कुछ ही दिनों के भीतर मृतक परिवार में लगातार चार-पाँच मौतें हुईं। तब अवज्ञा करने वालों ने बाबाजी से क्षमा याचना की और श्मशान भूमि दूसरी जगह बना ली गयी। महात्माजी ने उस स्थान पर एक बगीची लगा दी। यह स्थान अब 'परमहंसों का आश्रम' नाम से जाना जाता है।

भाऊनाथजी के चेले श्रीलक्ष्मीनाथजी हुए। ये ९० वर्ष की आयु में परम् धाम सिधारे। उनकी समाधि रतनगढ़ के बीड़ में है। यह स्थान सरदारशहर रेलवे लाइन के

अबाध चलती रही। इस समय यह नाथपंथ तथा वैष्णव सम्प्रदाय के अनेक लब्धप्रतिष्ठ साधकों से विभूषित था। नाथ योगियों में मोतीनाथ[1] (टूँटिया महाराज), लक्ष्मीनाथ, मंगलनाथ तथा बखन्नाथ[2] अपनी अलौकिक सिद्धियों के लिए विख्यात थे और स्थानीय

पश्चिम में रतनगढ़ रेलवे स्टेशन के बाहर पश्चिमी सिगनल के पास है। श्रीलक्ष्मीनाथजी उच्चकोटि के विद्वान् और परम सिद्ध थे। उनके चेले श्रीधर्मनाथजी हुए।

श्रीधर्मनाथजी के चेले श्रीरम्भानाथजी हुए, जिन्होंने गोपालपुरा की पहाड़ी में, जो सुजानगढ़ से चार-पाँच मील पश्चिम को तरफ है, १२ वर्ष की अखंड समाधि लगायी। कहा जाता है कि ग्वाल बालकों ने समाधि में ही पत्थर मारकर उनके मस्तक में घाव कर दिया। इस पर भी उनकी समाधि अचल रही। गोपालपुरा के तत्कालीन ठाकुर साहब ने उसी स्थिति में वहाँ से बाबा को अपने गढ़ में ले जाकर रखा। समाधि खुलने पर उनके आदेश से उन्हें रतनगढ़ पहुँचाया गया।

१. श्री मोतीनाथजी महाराज (टूँटियाबाबा) रंभानाथजी के शिष्य थे। इनका जन्म बछरारा नामक गांव के एक राजपूत परिवार में हुआ था। ये पैरों से पंगु और कुबड़े थे। इसीलिए माँ बाल्यावस्था में ही इन्हें परमहंसों की बगीची में छोड़ गयी थीं। लक्ष्मीनाथजी ने उस बालक को देखते ही भविष्यवाणी की कि यह बालक बड़ा तेजस्वी और विख्यात संत होगा। इनकी समाधि सुप्रसिद्ध तीर्थ श्रीकोलायत में है। मोतीनाथजी सिद्ध महात्मा थे। कथा प्रचलित है कि रतनगढ़ के तत्कालीन पोद्दार-परिवार में २५ वर्ष का एक युवक रोगाक्रान्त था। किसी के बताने पर उस परिवार ने श्रीमोतीनाथजी महाराज को रोगी के प्राण बचाने की इच्छा से भोजन के लिए निमंत्रित किया। महात्माजी भोजन करने पधारे, उससे पहले ही रोगी का प्राणान्त हो चुका था और शव आँगन में चारपाई पर चादर से ढँक दिया गया था। बाबा से यह बात छिपाकर रखी गयी, परन्तु वे सब जान गये। उन्होंने उठकर कमण्डलु से मृतक के मुख में पानी डाला। मृतक तत्काल जी उठा। तब से इस गद्दी के साधु जब कहीं भोजन के लिए पधारते हैं, तो लोग अपने बालकों को कमण्डलु का पानी पिलाते हैं। कोलायत में बीकानेर नरेश की महारानी बड़ी श्रद्धा रखती थीं, उन्होंने परमहंसों की गद्दी के लिए भवन निर्माण करवाया, जो 'मोतीधीरा' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीमोतीनाथजी ने बीकानेर नरेश को प्रभावित करके रतनगढ़ में गोचर भूमि के रूप में ३५०० बोघा जमीन बीड़ छुड़वाया। यह अभी तक परमहंसों की व्यवस्था में है। इससे रतनगढ़ की पिंजरापोल (गोशाला) लाभान्वित होती है। नगर की गायें भी इसमें चरती हैं। बीकानेर राज्य द्वारा इस गोचर भूमि के तीन पट्टे १९३८ में दिये गये थे। मृतक को जीवनदान देने के पश्चात् अपनी ख्याति को गुप्त करने की इच्छा से ये कोलायत जाकर रहने लग गये। श्रीशिवदास मोहता के मुनीम पोरदानजी पुरोहित की प्रार्थना पर उनके वृत्तिदाता सेठ शिवदास को, जो निःसंतान थे, बाबाजी की कृपा से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। इसके उपलक्ष्य में मोहताजी ने कोलायत में वर्तमान श्रीगंगामाई मंदिर का निर्माण कराया।

२. श्रीमोतीनाथजी के चेले श्रीबखन्नाथजी हुए। ये भी पहुँचे हुए संत थे। विलासराय नाम के एक व्यक्ति के पैर में 'कीडीनगरा' रोग हो गया था। डाक्टरों ने पैर काटने का परामर्श

निम्बार्क पीठ के आचार्य मेहरदासजी वैष्णव भक्तिसाधना के पुरस्कर्ता के रूप में प्रतिष्ठित थे। रामकौर देवी रतनगढ़ में अपने पूर्व निवास काल से ही इन सन्तों की यथोचित सेवा करती रहती थीं, इसलिए इन पर सभी कृपाभाव रखते थे। सालासर के सुप्रसिद्ध हनुमानजी उनके इष्टदेव थे। वे उनका स्मरण करती हुई नित्य मानसपाठ और नामजप के साथ ही 'पञ्चमुख हनुमान कवच' का पाठ करती थीं।

रतनगढ़ के इस प्रवास काल में रामकौर देवी ने अपने गुरु बाबा मेहरदास की प्रेरणा से अभीष्ट सिद्धि के लिए स्थानीय लक्ष्मीनारायण मन्दिर में 'विष्णु-सहस्रनाम' के १०८ सम्पुट पाठ का आयोजन किया। अनुष्ठान समाप्त होने पर यथोचित रीति से साधु-ब्राह्मण-भोजन तथा दरिद्रनारायण-सेवा की व्यवस्था हुई। अनुष्ठान के विधिवत् पूर्ण होते ही बाबा मेहरदासजी ने कहा—'रामकौर! तेरा मनोरथ पूर्ण होगा। यह अभिमन्त्रित जल तू अपनी बहू रिखीबाई को पिला देना। निश्चय ही एक भगवद्भक्त धर्मात्मा पौत्र की प्राप्ति होगी, जो वंश की कीर्ति को उज्ज्वल करेगा। उसका नाम हनुमान्जी के नाम पर रखना।'

सत्संग और पुण्यकर्मानुष्ठान का क्रम छः महीनों तक चलता रहा। इसी बीच एक दिन अध्यात्म चर्चा के प्रसंग में बाबा बखन्नाथजी को भान हुआ कि रामकौर देवी भीमराज के संतानहीन रहने से दुःखी रहती हैं। उहोंने समय पाकर यह बात टूँटिया महाराज के सामने रखी और प्रकारान्तर से रामकौर देवी की अभीष्ट-सिद्धि का प्रस्ताव किया। टूँटिया महाराज रामकौर देवी को सम्बोधित करते हुए बोले—'और कौन? मैं ही आ जाऊँगा। तेरे पौत्र होगा, असामान्य।' नाथजी ने इसके साथ ही रामकौर देवी से भावी सन्तान के लक्षण बताते हुए कहा कि जन्म के समय बालक के शरीर में ये चिह्न होंगे—मस्तक पर श्रीरेखा, कन्धों पर बाल, दाहिनी जंघा पर काला तिल और

दिया, तब उन्होंने बाबा की शरण ली। श्रीबखन्नाथजी महाराज ने कहा—'कीड़ी तुम से दलिया माँगती हैं और कोई डर की बात नहीं है।' विलासराय ने 'कीड़ीनगरा' सींचना आरंभ किया और वे कुछ ही दिनों में रोग-मुक्त हो गये। इसके बाद भी वे कीड़ीनगरा का सिंचन जीवन पर्यन्त करते रहे।

इसी प्रकार गजानन्द धानुका को कुष्ठ रोग हो गया था। महात्माजी के आशीर्वाद से ठीक हो गये। महावीरप्रसाद पोद्दार के दादा तथा गोविन्दराम पोद्दार के पिता को राजयक्ष्मा हो गया था। वे भी बाबाजी की कृपा से रोगमुक्त हो गये। बाबाजी के पास एक सिद्धयंत्र था, जिसके द्वारा वे पुत्र की कामना रखने वाले लोगों को पुत्रोत्पत्ति का वरदान दे दिया करते थे।

श्रीबखन्नाथजी की समाधि पर ककेड़े का एक वृक्ष उगा हुआ है। ककेड़ा काँटेदार वृक्ष होता है, परन्तु उस वृक्ष में काँटे नहीं हैं।

मुँह में एक तार, जिसे अँगुली डालकर निकालने पर ही वह रोयेगा। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद टूँटिया महाराज का शरीर छूट गया। इस प्रकार मातृभूमि में स्वजनों तथा संतों की शीतल छाया में कई महीने निवास कर रामकौर देवी मनोकामना सिद्धि की आशा लेकर प्रसन्न हृदय शिलांग लौट गयीं।

जन्म

शिलांग आने के कुछ समय बाद रामकौर देवी को ज्ञात हुआ कि पुत्रवधू रिखीबाई गर्भवती है। इस संवाद ने निराश कुटुम्बियों के मन में उल्लास की एक नयी चेतना भर दी। समय पूरा होने पर रामकौर देवी की चिर आकांक्षा फलवती हुई। आश्विन कृष्ण १२, शनिवार सं० १९४९ (१७ सितम्बर, १८९२ ई०) के प्रातःकाल में रिखीबाई ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। संयोग की ही बात थी कि यह सुयोग हनुमानजी के ही दिन शनिवार को संघटित हुआ।

नवजात शिशु के विचित्र लक्षण

सौरगृह में उपस्थित स्त्रियों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शिशु के शरीर पर असाधारण लक्षण थे—माथे पर श्री जैसा लाल चिह्न था, कन्धों पर केश थे और दाहिनी जाँघ पर काले तिल जैसा निशान था।[१] इन बाह्य लक्षणों के अतिरिक्त एक अन्य आश्चर्यजनक बात यह देखने में आयी कि वह जन्म लेने के बाद रोया नहीं। बाद में एक कुशल स्त्री के द्वारा मुँह में अँगुली डालकर कोई तार जैसी माँसनलिका निकालने पर ही उसने सामान्य बालकों की भाँति रोना आरम्भ किया।

नामकरण

दादी रामकौर देवी ने अपनी हनुमत् निष्ठा के अनुकूल बालक को इष्टदेव की कृपा का प्रसाद मानकर उसका नाम 'हनुमान बख्श'[२] रखा। प्यार का नाम मन्नूलाल पड़ा, जिसे स्वजनों एवं स्नेहियों के मुख सुख ने 'मन्नू' अथवा 'मानिया' का रूप देकर इनके बाल कलेवर की स्थायी संज्ञा बना दी।

रामकौर देवी यह न भूलीं कि हनुमानप्रसाद टूँटियाबाबा का ही प्रतिरूप है। बड़े होने पर भी वे इनसे बराबर कहा करती थीं कि 'तू नाथजी के ही आशीर्वाद से मिला है।'

---

१. पोद्दारजी के शरीर में ये सभी चिह्न अंतिम समय तक विद्यमान थे। केवल मस्तक की श्रीरेखा कुछ सांवली पड़ गयी थी।

२. किशोरावस्था में कलकत्ता-जीवन में साहित्यकारों के संपर्क से रुचि परिष्कृत होने पर 'बख्श' का स्थान उसके पर्याय 'प्रसाद' ने ले लिया और हनुमानप्रसाद नाम प्रचलित हो गया।

मातृवियोग

इस मंगलमयी घटना के साथ ही पोद्दार-परिवार के अबाध सुखभोग का पटाक्षेप हुआ। आपत्तियों के दृश्य आरम्भ हुए। प्रपौत्र के आविर्भाव के दो मास बाद ८४ वर्ष की दीर्घ आयु भोगकर सेठ ताराचन्द परलोक सिधारे। भरापूरा परिवार छोड़कर एक सौभाग्यशाली गृहस्थ की भाँति उनका लोकांतरण किसी भी दृष्टि से असामयिक तथा अप्रत्याशित न था; किन्तु इसके दो वर्ष बाद एक घटना ऐसी घटी, जिसने सारे परिवार को अथाह शोकसागर में डुबो दिया। श्रावण कृ० १, सं० १९५१ को सामान्य बीमारी के बाद माता रिखीबाई अबोध शिशु को नियति की गोद में रखकर दिवंगत हो गयीं। मातृहीन शिशु के पालन-पोषण का सारा भार दादी पर आ गया। अब तक वे भावना से ही उसका स्नेहपोषण करती थीं, किन्तु परिवर्तित परिस्थिति में शिशु के शरीर-पोषण का भी दायित्व उनपर आ पड़ा। अतः बालक जब जानने-पहचानने योग्य हुआ तो माता-रूप में उसने दादी रामकौर देवी को ही पाया। उसने उन्हें ही 'माँ' कहना आरम्भ किया और यह सम्बोधन जीवन पर्यन्त चलता रहा। पिता ने गृहस्थी चलाने के लिए दूसरा विवाह किया। विमाता रामदेवी 'मानिया' के पालन में पर्याप्त रुचि लेती थीं, किन्तु उनके स्नेह में स्वभावतः ही उस नैसर्गिकता का अभाव था, जो दादी के व्यवहार में पदे-पदे झलकती थी।

भीषण रोग से मुक्ति

माँ की गोद से वंचित होने के एक वर्ष बाद सं० १९५३ में बालक हनुमानप्रसाद सहसा सूखारोग से आक्रान्त हो गया। उस समय उसकी आयु तीन वर्ष से कुछ अधिक थी। रामकौर देवी उसे लेकर शिलांग से रतनगढ़ आयी हुई थीं। उन्होंने स्थानीय चिकित्सकों से राय लेकर हर सम्भव प्रकार से दवा-दारू का प्रबन्ध किया, किन्तु स्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ती ही गयी। अन्त में सभी ओर से निराश होकर उन्होंने देवी-देवताओं तथा सन्त-महात्माओं की शरण ली और पूजापाठ, जप-दान, अनुष्ठानादि का मार्ग अपनाया। ईश्वर की कृपा से रोगमुक्ति के लक्षण दिखलाई देने लगे और शनैः-शनैः बालक पूर्णतया स्वस्थ हो गया। तब दादी उसे लेकर शिलांग चली गयीं।[१]

भूकम्प से प्राणरक्षा

बालक हनुमानप्रसाद का रोग-जर्जर-शरीर अभी पूर्णरूप से स्वस्थ नहीं हो

---

१. रामकौर देवी द्वारा अपनी बाल्यावस्था में की गयी सेवाओं का कृतज्ञतापूर्ण स्मरण करते हुए एक स्थान पर पोद्दारजी लिखते हैं—"माताजी की बहुत छोटी उम्र में मृत्यु हो जाने से मेरी दादी ने मुझको पाला। उनका मुझपर जो स्नेह था एवं उन्होंने मेरे लिए जितने कष्ट सहे, उसका बदला मैं हजार जन्म सेवा करके भी नहीं चुका सकता।"

—'ईश्वर की सत्ता और महत्ता', पृ० ४७६

पाया था कि उसकी जीवन-नौका एक घातक भँवर में फँस गयी। सं० १९५३ में आसाम में एक भीषण भूकम्प आया। उस समय इनकी आयु लगभग पाँच वर्ष की थी। यह अप्रत्याशित दुर्घटना सन्ध्या के लगभग ५ बजे घटी। सारा शिलांग कुछ ही क्षणों में ध्वंसावशेष में परिणत हो गया। बड़ी-बड़ी हवेलियाँ भूलुंठित हो मलवे के नीचे दबे हुए लोगों के आर्तनाद तथा लाशों से श्मशान-सी भयानक लगने लगीं। स्थान-स्थान पर धँसी और फटी हुई पृथ्वी प्रलय-सा दृश्य उपस्थित करती थी।

कनीरामजी की कोठी पूरी तरह नष्ट हो गयी। उसके भीतर अतिथिरूप में आयी उनकी बहन की दो अबोध सन्तानें——एक कन्या और एक पुत्र——दब गयीं। ये दोनों ही हनुमानप्रसाद के समवयस्क थे। कनीरामजी, उनकी बहन और रामकौर देवी किसी प्रकार बच निकले। बालक हनुमानप्रसाद उस समय भजनलाल श्रीनिवास के गोले में अकेले ही किसी व्रत के उद्यापन में निमन्त्रण खाने गया हुआ था। वह गोले के पीछे रसोई घर में से भोजन करके निकल ही रहा था कि भूकम्प के धक्के से पृथ्वी काँपने लगी और कड़ाके के शब्द के साथ पत्थर की वर्षा होने लगी। मकान की दीवारें और छत देखते-देखते पृथ्वी चूमने लगीं।

हनुमानप्रसाद प्राणों का संकट देखकर अनवरत चिल्लाता रहा। उसका भी शरीर हजारों शिलांग-वासियों की भाँति क्रूर नियतिचक्र में पिस गया होता, किन्तु जगत्पिता के अदृश्य हाथों ने उसके चारों ओर दीवार की भाँति खड़े पत्थर, उनके ऊपर एक पत्थर की चौड़ी पट्टी और उसके ऊपर असंख्य पत्थर रखकर एक सुरक्षित गुफा बना दी, जिसमें वायु का प्रवेश भी कठिनाई से संभव था। भूकम्प बन्द होने पर घोर वर्षा हुई। उसी बीच निकटस्थ गोले में आग लग गयी। पत्थर और पानी का उत्पात बन्द होने के बाद दादा कनीराम और दादी रामकौर देवी तीनों बालकों का पता लगाने के लिए बाहर निकले। बहन के दोनों बच्चे गोले में पत्थरों के नीचे दबे मिले। पास ही दूसरी बहन के पुत्र श्रीराम गोयनका का भी शव मलवे के नीचे दबा मिला। इन दृश्यों ने उनके धैर्य का बाँध तोड़ दिया। अपने बुढ़ापे की लकड़ी और कुल की एकमात्र आशाकिरण के अस्तित्व की गहरी आशंका ने उन्हें चेतनाशून्य कर दिया। इसी स्थिति में रोते-बिलखते वे दोनों श्रीनिवास के गोले के पास आये। अन्तः-प्रेरणा से साहस बटोर कर कनीरामजी जोर से 'मन्नू-मन्नू' पुकारने लगे। मलवे से घिरे रोते हुए नन्हें-से बालक के कानों में पड़े इन शब्दों ने संजीवनी बूटी का काम किया। वह साहस बटोर कर चिल्लाया, 'यहाँ हूँ। जल्दी निकालिये।' शब्दों के माध्यम से स्थान का संधान पाते ही सबने जुटकर कुछ ही क्षणों में सारा मलवा हटा दिया। दैवनिर्मित गुफा का द्वार खुलते ही 'मन्नू' दौड़कर दादा की गोदी में चढ़ गया। खोयी हुई जीवन-निधि को पाकर कनीरामजी ने उसे हृदय से चिपका लिया। वात्सल्य वियोग के उद्रेक से दोनों एक दूसरे की अन्तर्ज्वाला को आँसुओं

की धारा से सींचते रहे। इस बीच रामकौर देवी अपने इष्टदेव हनुमानजी की अहैतुकी कृपा का स्मरण कर मौन भावांजलि अर्पित करती रहीं। इस घटना को देखकर उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अपने प्रसादरूप में दिये गये बालक के प्राणों की रक्षा संकटमोचन हनुमानजी ने स्वयं उपस्थित होकर की है।

शिलांग से कलकत्ता आगमन

भूकम्पजनित इस भयानक तबाही के बाद अपार आर्थिक हानि के साथ ही कई स्वजनों की मृत्यु से उनके हृदय पर गहरा धक्का लगा। कनीरामजी का मन शिलांग से उचट गया। इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और वे रुग्ण रहने लगे। बहुत-कुछ सोचने-विचारने के बाद उन्होंने वहाँ का सारा व्यापार समेटकर परिवार सहित कलकत्ता चले जाने का निश्चय किया। किन्तु व्यापार लम्बा था, उसे इतनी जल्दी समाप्त करने में भारी घाटे का भय था। इस चिंता ने उन्हें और उद्विग्न कर दिया। शरीर उत्तरोत्तर क्षीण होता गया और कलकत्ता जाने की योजना के कार्यान्वित होने के पूर्व ही मार्गशीर्ष शुक्ल १, सं० १९५६ को उनका परलोकवास हो गया। धर्मपिता के दिवंगत होने से भीमराजजी असहाय हो गये। अकेले अपने बूते पर शिलांग, कलकत्ता और गौहाटी——तीनों स्थानों का व्यापार चलाना उनके लिए सम्भव नहीं था। अतः सं० १९५८ में शिलांग की दूकान बन्द करके वे सपरिवार कलकत्ता चले आये।

शिक्षा

पति के देहावसान के अनन्तर रामकौर देवी की भी शिलांगवास से अरुचि हो गयी थी। वहाँ पर अब उनके साथ मात्र पौत्र रह गया, उसके पिता भीमराज सपरिवार कलकत्ता में रहते थे। शोकसंतप्त मन के लिए एकान्तवास असह्य हो गया। इस आपत्तिकाल में सान्त्वनाप्राप्ति का एकमात्र स्थान उनकी दृष्टि में राजस्थान ही दिखाई पड़ा। निदान पौत्र को साथ लेकर वे रतनगढ़ चली आयीं। यहाँ से कभी-कभी कलकत्ता आती-जाती रहती थीं।

हनुमानप्रसाद की आयु अब लगभग छः वर्ष की हो चुकी थी, किन्तु आपत्ति-जनित परिवारिक अव्यवस्था तथा शिलांग से कलकत्ता और रतनगढ़ के आवागमन के झमेले में फँसे रहने के कारण रामकौर देवी उनकी पढ़ाई की व्यवस्था नहीं कर पायीं थीं। पतिवियोग का दुःख भूल कर अब वे कर्तव्यपालन में संलग्न हो गयीं।

महाजनी

रतनगढ़ में एक सरकारी प्राइमरी स्कूल था। उसके अतिरिक्त निजी तौर से शिक्षा देनेवाले कई गुरुओं की घरेलू पाठशालाएँ थीं। इनमें हिन्दी के साथ ही महाजनी की पढ़ाई होती थी। सरकारी स्कूल की अपेक्षा इन व्यक्तिगत पाठ-शालाओं में छात्रों पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पैतृक व्यवसाय में योग देने

के लिए भी महाजनी का ज्ञान आवश्यक था। अतः हनुमानप्रसाद का प्रवेश इन्हीं में से एक पाठशाला में करा दिया गया। वह 'जोरजी' की पाठशाला के नाम से जानी जाती थी। इन गुरुजी का वास्तविक नाम जोरावरमल था, 'जोरजी' उसी का लोक-प्रदत्त संक्षिप्त रूप था। यहाँ बालक हनुमानप्रसाद को महाजनी के साथ हिन्दी और गणित का भी ज्ञान कराया गया। रोकड़खाता आदि लिखने का सामान्य ज्ञान इन्होंने यहीं प्राप्त किया। आगे चलकर कलकत्ता और बम्बई के व्यापारिक जीवन में महाजनी का यह आरम्भिक ज्ञान बहुत सहायक हुआ। व्यक्तिगत प्रयास से इन्होंने कालान्तर में महाजनी की अनेक लिपियों—बीकानेरी, जैसलमेरी, भिवानीवालों की, हरियानवी आदि के भी पढ़ने और लिखने में दक्षता प्राप्त कर ली।

उर्दू

रामकौर देवी का पीहर अमृतसर में था। वहाँ के लोगों का अनुरोध वर्षों से इन्हें अमृतसर बुलाने का चल रहा था। सं० १९५७ में ये पौत्र को लेकर अमृतसर गयीं। वहाँ उसके पढ़ाने की चिंता हुई। रतनगढ़ में पढ़ाई का जो क्रम चल रहा था, उसके टूट जाने से बालक का मानसिक विकास अवरुद्ध होने की आशंका थी। स्कूलों में उसके प्रवेश के सम्बन्ध में पता लगाने पर भाषा की समस्या सामने आयी। उन दिनों पंजाब में उर्दूभाषा का बोलबाला था। प्रारंभिक से लेकर उच्च-कक्षाओं तक उसी का प्राधान्य था। हनुमानप्रसाद का प्रवेश जिस स्कूल में हुआ, वह इसका अपवाद न था। मामा के प्रभाव तथा दादी के आग्रह से उस 'मदरसे' का शिक्षकवर्ग हनुमानप्रसाद की शिक्षा में अतिरिक्त रुचि लेता था। परन्तु उस भाषा के सीखने में हनुमानप्रसाद का मन ही नहीं लगता था। उसके अब तक के सारे पैतृक तथा सामाजिक संस्कार इसके विपरीत पड़ते थे। अतः एक महीने के अनवरत परिश्रम के बाद भी शिक्षक इन्हें उर्दू-वर्णमाला की समुचित जानकारी कराने में असफल रहे। पोद्दारजी को इस स्वाभाविक असमर्थता से उर्दू लिपि न सीख पाने का परवर्ती जीवन में बराबर खेद बना रहा।

संस्कृत

इस तथ्य पर कितने लोग विश्वास करेंगे कि आधुनिक विश्व में गीतातत्त्व तथा गीता-साहित्य के अन्यतम पुरस्कर्ता की गीता-शिक्षा का सूत्रपात् आठ वर्ष की अबोधावस्था में हुआ और वह भी किसी आध्यात्मिक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए नहीं, जिसके उन्मेष का उस छोटी आयु में प्रश्न ही नहीं था, बल्कि 'बेर खाने' के लोभ से। घटना इस प्रकार है :

दादी रामकौर देवी अपने रतनगढ़ निवास के समय संत बखन्नाथ के पास नित्य सत्संग के लिए जाया करती थीं। साथ में हनुमानप्रसाद भी रहते थे। नाथजी

की इस मातृहीन बालक पर विशेष कृपा रहती थी। आश्रम पर बेर के कई पेड़ थे। उनके फलों में अद्भुत मिठास होती थी, किन्तु नाथजी के डर से बिना आज्ञा लिये कोई तोड़ नहीं सकता था। दादी तो सत्संग में व्यस्त रहतीं, किन्तु हनुमानप्रसाद का मन बेरों के लिए ललचाता रहता। नाथजी इनकी इच्छा देखकर पूछते—'बेर खाओगे ?' स्वीकारात्मक उत्तर पाकर वे इन्हें झाड़ियों से तोड़कर बेर खाने की अनुमति दे देते। मनचाही मुराद पाकर बालक हनुमानप्रसाद झाड़ियों से कूद-कूदकर पके बेर तोड़ता और खाकर आनन्दित होता। कभी-कभी नाथजी दादी के साथ इनके आश्रम पर पहुँचने के पहले ही पके बेर तुड़वाकर अपने पास रख लेते थे और इनके जाने पर एक-एक करके देते थे। इस प्रकार नाथजी से हनुमानप्रसाद की आन्तरिक निकटता बढ़ती गयी और धीरे-धीरे इनका भय छूट गया। बखन्नाथजी ने इनकी लोभ-वृत्ति के सहारे इस आत्मीयता का लाभ उठाने की बात सोची। अब जब भी अपनी दादी के साथ ये नाथजी के आश्रम में जाते, वे पहले गीता का एक श्लोक स्वयं कहते, फिर उसे इनसे दुहरवाते। कभी इन्हें उद्विग्न देखकर कहते,—'बेर खाकर आ जाओ, परन्तु गीता पढ़नी पड़ेगी'। इस क्रम से गीता का पाठ चलने लगा। एक श्लोक कंठस्थ होने पर एक बेर इनाम में मिलता था। नाथजी की यह पद्धति उपयोगी सिद्ध हुई। 'मन्नू' ने एक वर्ष के भीतर सारी गीता कंठस्थ करके नाथजी को सुना दी। पौत्र की अद्भुत प्रतिभा तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति देखकर दादी गद्‌गद हो गयीं। इस छोटी उम्र में भी ये गीता के क्लिष्ट शब्दों का शुद्ध उच्चारण कर लेते थे, केवल एक शब्द कहने में जबान लटपटा जाती थी और वह था निम्नांकित श्लोक का 'अश्वत्थामा' शब्द। इसे ये 'अश्वस्थामा' कह जाते थे। नाथजी 'मन्नू' को बार-बार सिखाते—कभी पुचकारकर, कभी आँख दिखाकर और कभी कान में कहकर—'अश्वस्थामा नहीं छोरा, उच्चारण करो 'अश्वत्थामा'। किन्तु उच्चारण दोष अपने स्थान से तिलभर भी हटने का नाम न लेता।[1] श्लोक था—

> **भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।**
> **अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥**
>
> —गीता १।८

आठ वर्ष की आयु में रतनगढ़ में बाबा बखन्नाथ के सान्निध्य में गीता-पाठ के

---

१. पोद्दारजी ने इन पंक्तियों के लेखक को यह वृत्तान्त सुनाते हुए बताया कि बड़े होने पर 'अश्वत्थामा' कहना तो आ गया, किन्तु थोड़ी बहुत हकलाहट बनी रही। कुछ विशेष शब्दों के उच्चारण में जिह्वा थम जाती थी। इस प्रकार के उच्चारण दोष से बचने के लिए इन्होंने एक नयी तरकीब निकाली। जिन शब्दों के उच्चारण में कठिनाई होती थी—बातचीत में उनके पर्याय अथवा समानार्थक शब्द सतर्कतापूर्वक प्रयुक्त कर ये लोगों पर अपनी यह असमर्थता प्रकट नहीं होने देते थे।

ब्याज से प्राप्त संस्कृत की यह मौलिक शिक्षा ही हनुमानप्रसाद के लिए 'सुदामा का तंदुल' हो गयी। दस वर्ष की आयु में इन्होंने गीता कंठस्थ कर ली। इसके बाद न किसी संस्कृत पाठशाला में पढ़ा, न किसी संस्कृत के विद्वान् द्वारा घर पर ही शिक्षा पाने का सुयोग प्राप्त कर सके। गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित विशाल संस्कृत वाङ्मय, 'कल्याण' के विशेषांकों में भारतीय संस्कृति के आर्ष ग्रंथों पर आधृत सामग्री का सम्पादन तथा मौलिक लेखों का प्रासाद इन्हीं नींव की ईंटों पर खड़ा हुआ।

बखन्नाथजी का हनुमानप्रसाद पर यह स्नेह आजीवन बना रहा। ये भी उनपर अगाध श्रद्धा करते रहे। रतनगढ़ से कलकत्ता चले आने पर भी ये जब कभी रतनगढ़ जाते तो नाथजी का दर्शन अवश्य करते थे। बखन्नाथजी इन्हें सदाचार, भजन, भगवान् पर आस्था और नाम-जप का उपदेश करते थे। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से वैराग्य, योग और वेदांत उनकी साधना का मुख्य अंग था, परन्तु इनकी रुचि देखकर वे भक्ति-साधना पर ही जोर देते थे। साम्प्रदायिक दुराग्रह से वे सर्वथा मुक्त थे। वे व्याख्यान नहीं देते थे, प्रश्न करने पर ही बात करते थे। दर्शनार्थ उपस्थित होने पर वे इनसे कहा करते थे—'गायों की सेवा किया करो, बीमारों की सेवा किया करो, अनाथों की सेवा किया करो। यह न भूलो कि भगवान् सभी में हैं।' उनके संसर्ग से इनके मन में जीवदया, मानवसेवा तथा भगवत्सत्ता की सर्वव्यापकता में निष्ठा बढ़ी और इसके संस्कार बद्धमूल हो गये।

हिन्दी

हिन्दी वर्णमाला का आरंभिक अभ्यास इन्हें मातृभाषा के साथ जोरजी की पाठशाला में कराया गया और उसका व्यावहारिक ज्ञान सामाजिक संपर्क एवं स्वाध्याय से हुआ। पीछे कलकत्तावास के समय तत्कालीन हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों एवं सम्पादकों के संपर्क में आकर इन्होंने हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता का समुचित ज्ञान प्राप्त किया। किशोरावस्था में सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर इनके द्वारा लिखे लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे।

बंगला

आसाम में जन्म लेने और पिता के साथ बाल्यावस्था में ही कलकत्ता की दूकान पर बंगाली ग्राहकों से व्यापारिक सम्पर्क के कारण बंगला एक प्रकार से इनकी मातृभाषा ही हो गयी थी। पिताजी बंगला के अच्छे जानकार थे। वे अपने साथ बैठाकर इन्हें उसका साहित्य पढ़ाते थे, बंगला-साहित्य की पुस्तकें मँगाकर देते थे और उन्हें पढ़ने के लिए बराबर प्रोत्साहित किया करते थे। पीछे कलकत्ते के क्रान्तिकारी जीवन में बंगीय राष्ट्रभक्तों के साथ सम्पर्क और बंगला समाचार-पत्रों के अध्ययन तथा शिमला-पाल की नजरबन्दी में बंगीय धार्मिक साहित्य के गहन अनुशीलन से बंगला भाषा

और साहित्य में इनकी गहरी पैठ हो गयी। इसके फलस्वरूप इनके द्वारा लिखने और बोलने में प्रयुक्त बंगला को सुनकर उस भाषा का मर्मज्ञ भी यह नहीं भाँप सकता था कि बंगला इनकी मातृभाषा नहीं है। 'कल्याण'-सम्पादन करते समय बंगला भाषा के लेखों, विशेषकर महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथजी कविराज के दार्शनिक निबन्धों का हिन्दी रूपान्तर ये स्वयं करते थे। बंगला बोलने में इनकी दक्षता का प्रमाण बंगीय साहित्य परिषद् के गोरखपुर अधिवेशन—(२५ दिसम्बर १९६२) में स्वागताध्यक्ष पद से किया गया धारा-प्रवाह भाषण था, जिसे सुनकर समागत बंगभाषी विद्वान् मन्त्रमुग्ध हो गये थे।

गुजराती और मराठी

व्यापार के सिलसिले में बम्बई प्रवास में उन्हें गुजराती तथा मराठी सीखने का सुयोग प्राप्त हुआ। वहाँ भी इन दोनों भाषाओं के सीखने में इन्होंने किसी शिक्षक का सहारा नहीं लिया। अभ्यास से लिपिज्ञान प्राप्त करके इन्होंने उसके साहित्य का आलोडन अन्तःप्रेरणा से किया और प्रवृत्ति के अनुकूल तत्वग्रहण करते रहे। रुचि धार्मिक साहित्य में विशेषरूप से थी, अतः गुजराती तथा मराठी दोनों के आध्यात्मिक और उसमें भी मुख्यतः वैष्णव भक्ति-साहित्य की जमकर अन्तर्यात्रा की। दिनभर व्यापारिक धन्धे में लगे रहते; रात में पूजा, ध्यान और भोजन के पश्चात् घण्टों स्वाध्याय में बिताते। यह क्रम सामान्य रूप से बारह बजे तक चलता, कभी-कभी पृष्ठों के साथ ही खिसकती हुई घड़ी की छोटी सुई दो तक पहुँच जाती थी। गुजराती और मराठी की यह पटुता सम्पादकीय जीवन में वरदान सिद्ध हुई। इन भाषाओं में लिखे विद्वानों एवं धर्माचार्यों के लेखों का अनुवाद करने में इन्हें किसी का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ा। इन्होंने गुजराती तथा मराठी साहित्य में निहित दुर्लभ तत्वों एवं रहस्यों को हिन्दी-भाषी जनता के लिए सशक्त एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता इसी प्रकार उपार्जित की थी।

अंग्रेजी

भारतीय भाषाओं के ज्ञानोपार्जन की ही पद्धति अंग्रेजी सीखने में भी अपनायी गयी। इसका श्रीगणेश तो रतनगढ़ में ही हो चुका था, किन्तु विकास कलकत्ते में हुआ। वहाँ कालीगोदाम में दूसरे तल्ले पर बालकों का एक स्कूल था। नीचे बलदेवदास ठाकुरदास बिड़ला की फर्म थी। स्कूल के सर्वेसर्वा थे पं० अयोध्याप्रसाद। वे आर्य-समाजी विचार के थे। यहाँ हिन्दी के साथ अंग्रेजी शिक्षा देने की व्यवस्था थी। अयोध्याप्रसादजी अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् होने के अतिरिक्त बड़े सदाचारनिष्ठ शिक्षक थे। यहाँ कुछ दिनों अध्ययन करके इन्होंने अंग्रेजी का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया। व्यावसायिक व्यस्तता के कारण यह क्रम थोड़े ही दिन चल सका, किन्तु अयोध्याप्रसादजी

का व्यक्तित्व इनके जीवन पर स्थायी प्रभाव छोड़ गया। उनके निर्देशन में हनुमानप्रसाद को निर्भीकता, स्पष्टवादिता तथा सदाचारपरायणता के साथ ही देशभक्ति की शिक्षा मिली। हनुमानप्रसाद के पिता अंग्रेजी जानते थे। उनके यहाँ पास-पड़ोस के लोग तार और चिट्ठियाँ पढ़वाने तथा पत्रों पर अंग्रेजी में पता लिखवाने आया करते थे। उन दिनों कलकत्ता-जैसे उन्नत नगर में भी मारवाड़ी समाज में अंग्रेजी जानने वाले कम ही थे। पिता की अनुपस्थिति में अंग्रेजी तार तथा पत्रपाठ-सेवा का दायित्व हनुमानप्रसाद बड़ी कुशलता से निभाने लगे। अंग्रेजी-साहित्य के दर्शन तथा सदाचार सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ इन्हें अत्यन्त प्रिय लगे, विशेष रूप से जेम्स एलेन और लिली एलेन के नैतिकता तथा सदाचारपरक ग्रन्थ। अंग्रेजी के शून्यवादी (निहलिस्ट) साहित्य में गहरी रुचि होने के कारण इन्होंने उस समय तक प्रकाशित उस विषय की अधिकांश उपलब्ध पुस्तकें पढ़ डालीं।

अंग्रेजी मासिक 'कल्याण-कल्पतरु' की योजना बनने पर उसके लिए उपयुक्त लेखों का संकलन, प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति पर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का अंग्रेजी अनुवाद, प्राप्त लेखों का भाषा-परिष्कार आदि समस्याएँ सामने आयीं। पोद्दारजी की अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की पुरानी पूँजी और अन्तर्दृष्टि इस आड़े समय में काम आयी। भारत ही नहीं विदेशों में भी, जहाँ की मातृभाषा अंग्रेजी है, इसका जैसा सत्कार हुआ, वह उसके सम्पादक श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी द्वारा पोद्दारजी से निर्देश एवं वस्तु-व्यवस्था विषयक पदे-पदे प्राप्त सहयोग का ही फल था।

इस प्रकार पोद्दारजी की बाल्यावस्था में विविध भाषाओं के जो संस्कार बीजरूप में आरोपित हुए, उनका उनके आगामी जीवन में आशातीत विकास हुआ। भाग्य की विडम्बना से इन्हें किसी मान्यता-प्राप्त विद्यालय का छात्र बनने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु लोकोत्तर प्रतिभा और अनवरत स्वाध्याय से इन्होंने उसकी कमी ही पूरी नहीं की, बल्कि एक सच्चे व्यापारी की भाँति सूद-दर-सूद लगाकर उसे बढ़ाया और असंख्य गुना कर दिया। पूँजी से व्यापार करना लौकिक परम्परा है, इस अलौकिक व्यापारी ने बिना लौकिक पूँजी के अपार अक्षर सम्पत्ति अर्जित कर ली। इस विस्मयकारी उत्कर्ष का कारण थी—उनके द्वारा की गयी अखण्ड अक्षरोपासना। पोद्दारजी ने अक्षर पढ़ा कम—उसकी साधना अधिक की। इसी से उनकी लेखनी के संस्पर्श से निर्मित शब्द 'शब्द ब्रह्म' और वाक्य 'महावाक्य' की भाँति सर्वमान्य एवं मननीय बन गये। आदिगुरुओं से प्राप्त ज्ञानबीज को अपनी साधना के बल से इन्होंने वृक्ष बना दिया। भाग्यचक्र ने नियमित क्रम से इन्हें किसी प्रारम्भिक पाठशाला का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने का अवसर न दिया। सारा अध्ययन रागमार्ग से हुआ। विधि मार्ग से प्राप्त की गयी शिक्षा में योग्यता की इयत्ता होती है, रागपथ के

इस निराले राही को नियति ने उससे दूर रखकर कक्षाहीन असीम ज्ञान का अधिकारी बना दिया ।[1]

अन्य भाषाएँ

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त राजस्थानी पर इनका असाधारण अधिकार था। यह इनकी मातृभाषा थी। ये इसमें काव्यरचना भी करते थे। बाल्यावस्था आसाम में बीती थी। अतः असमिया भाषा का इन्हें अच्छा ज्ञान था। दादी के साथ पंजाब निवास करने के कारण गुरुमुखी भाषा के समाचार-पत्र ये सरलता से पढ़ लेते थे। इन्होंने उड़िया तथा तमिल भाषा भी सीखने का प्रयास किया था, किन्तु समयाभाव के कारण वह अधूरा ही रह गया।

दीक्षा

रामकौर देवी की आन्तरिक इच्छा हनुमानप्रसाद को अध्यात्मनिष्ठ सद्गृहस्थ बनाने की थी। पौत्र के मानस में अध्यात्म-तत्व स्थायी रूप से प्रतिष्ठित करने के विचार से उन्होंने उसे रतनगढ़ के निम्बार्कपीठ के आचार्य बाबा मेहरदास के प्रशिष्य ब्रजदासजी से सं० १९५७ में द्वादशाक्षर मन्त्र की दीक्षा दिला दी।[2] गले में भागवती कण्ठी पहनायी गयी। इस समय ये आठ वर्ष के थे। प्रिया अथवा राधापरत्व इस सम्प्रदाय की अपनी विशेषता है। अबोध बालक हनुमानप्रसाद के हृदय में इस प्रकार राधा-तत्त्व का बीजारोपण कहने को तो अत्यन्त स्वाभाविक पद्धति से और सहसा हुआ, किन्तु उस के परवर्ती जीवन में इसके कायाकल्पी प्रभाव को देखते हुए इसे किसी अदृश्य शक्ति द्वारा नियोजित मानना असंगत न होगा।

उपनयन संस्कार

रतनगढ़ में रहते हुए ही दादी ने सं० १९५७ में हनुमानप्रसाद को यज्ञोपवीत दीक्षा दिलाने का उपक्रम किया। उस समय हरद्वार के एक प्रसिद्ध विद्वान् पं०

---

१. प्रसंगवश पोद्दारजी ने एकबार कहा था, 'मैंने आयु भर यदि कोई वस्तु खरीदी है तो पुस्तकें। कलकत्ते के कालेज स्क्वायर में जाकर कबाड़ियों के यहाँ से छाँट-छाँटकर अपने काम की पुस्तकें ले आता था। बाद में गोरखपुर आने पर जब कभी दिल्ली जाता तो वहाँ से भी पुस्तकें लाता।' उनके इस पुस्तक-प्रेम से ही गीता प्रेस का हस्तलिखित तथा मुद्रित पुस्तकों का विशाल पुस्तकालय स्थापित हो गया। जीवन में संग्रह के नामपर रिक्थ के रूप में वे पुस्तकों का यह 'रतनधन' ही छोड़ गये।

२. मेहरदासजी के शिष्य रामरतनदासजी थे। व्रजदासजी उन्हीं के अंतेवासी थे। बाबा मेहरदास ने रामकौर देवी को इन्हीं से हनुमानप्रसाद को वैष्णवी दीक्षा दिलाने का आदेश दिया था। मंत्र था—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'।

छोटेलाल[1] संयोगवश रतनगढ़ आये हुए थे। उन्हीं के हाथ से सं० १९५७ में यह शुभकार्य सम्पन्न हुआ।

विवाह

हिन्दू-समाज के कतिपय अन्य वर्गों की भाँति उन दिनों मारवाड़ी अग्रवालों में भी बाल-विवाह की प्रथा थी। हनुमानप्रसाद १२ वर्ष के हो चुके थे। परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। मारवाड़ियों में सामाजिक दृष्टि से भी 'कनीराम भीमराज' फर्म की प्रतिष्ठा थी। कलकत्ता में इनके पिता भीमराज का उन्नतिशील कारबार था। इससे रामकौर देवी के पास अच्छे-अच्छे घरानों के विवाह-प्रस्ताव आने लगे। रतनगढ़ के भी कई सम्बन्धी हनुमानप्रसाद के विवाह के लिए जोर डालने लगे। रामकौर देवी को रुपये-पैसे का लोभ नहीं था। वे पौत्र के लिए एक कुल-शील-सम्पन्न सद्गृहिणी मात्र चाहती थीं। बहुत कुछ सोच-विचार करने के बाद अपने परिवार के अनुकूल उन्हें रतनगढ़ का ही एक सम्बन्ध पसन्द आ गया। गुरुमुखरायजी ढंढारिया की पुत्री महादेवी बाई से सगाई पक्की हो गयी। दुर्भाग्य से विवाह के कुछ समय पूर्व वह लड़की भीषण रूप से चेचक से आक्रान्त हो गयी। परिवार के लोग उसके जीवन की आशा खो बैठे। काफी दिनों तक शय्याग्रस्त रहने के बाद ईश्वर की कृपा से उसके प्राण तो बच गये, किन्तु सारा शरीर मधुछत्ते की भाँति दागों से विकृत हो गया। किशोरी महादेवी का सौन्दर्य और स्वास्थ्य दोनों शीतला देवी को अर्पित हो गये। पुत्री की ऐसी दशा देखकर ढंढारियाजी को चिन्ता हुई कि रामकौर देवी सम्बन्ध करना अस्वीकार न कर दें। विवाह का दिन निकट आने पर वे रामकौर देवी के पास गये और बड़े ही आर्तस्वर में अपनी विवशता कह सुनायी। रामकौर देवी मर्यादानिष्ठ सात्त्विक विचार की महिला थीं। उन्होंने बड़े ही सहानुभूति-पूर्ण शब्दों में कन्या के पिता को सांत्वना देते हुए कहा :

"जैसे कन्या का वाग्दान एक बार ही होता है, एक बार किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थिर हो जाने पर दूसरे पुरुष के हाथ उसे नहीं देना चाहिए; वैसे ही अपने पौत्र का वाग्दान मैं महादेवी के लिए कर चुकी हूँ। महादेवी के जीवित रहते मैं अपने वचन को कदापि नहीं छोड़ूंगी।"

गुरुमुखरायजी के चले जाने पर रामकौर देवी ने पौत्र को बुलाया और सारी बातें बताकर उससे इस बारे में अपनी राय बताने को कहा। हनुमानप्रसाद का विनीत उत्तर था—'इसमें मेरी सम्मति की क्या आवश्यकता है ? आप जो करेंगी, मेरे लिए

---

१. ये बड़े ही त्यागी एवं सदाचारी विद्वान् थे। आरंभ में कुछ दिनों तक इन्होंने रतनगढ़ की खेमका पाठशाला में प्रधानाचार्य पद पर कार्य किया था। पीछे ये हरद्वार चले गये थे। इससे पोद्दारजी के परिवार से इनका प्रगाढ़ परिचय था।

अच्छा ही होगा।' इसके बाद भीमराजजी को रामकौर देवी ने सारा वृत्तान्त लिख भेजा। उनकी भी सहमति प्राप्त होने पर विवाह की तिथि निश्चित कर दी गयी।

विवाह के कुछ समय पूर्व ही भीमराजजी विवाह की तैयारी के लिए सपरिवार कलकत्ता से रतनगढ़ आ गये। ज्येष्ठ कृष्ण ४, सं० १९६१ को बालक हनुमानप्रसाद को गाजेबाजे के साथ माया के सात फेरों में बाँध दिया गया।

विवाह के उपरान्त कुछ दिन रतनगढ़ में रहकर भीमराजजी माता, पुत्र तथा पत्नी को लेकर कलकत्ता लौट आये।

स्वावलम्बन के पथ पर

कलकत्ता आने के बाद हनुमानप्रसाद के जीवन में एक नये युग का आरम्भ हुआ। इसके पूर्व उसके जीवन-सूत्र का संचालन दादी के हाथ में था। बाल्यावस्था में 'मार्जारवत्सन्याय' ही श्रेयस्कर होता है। समझदार हो जाने से उसे अपनी जीवन-नौका स्वतः संचालित करने का अवसर दिया जाने लगा। नियन्त्रण अब भी दादी और पिता का था, किन्तु उसकी डोर बहुत ही ढीली थी। प्रवृत्तियों के स्वतंत्र-रूप से स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक भी था। यह सोचकर दादी रामकौर देवी ने अपनी अधिकारसीमा स्वतः संकुचित कर ली। किशोरावस्था के प्रवाह में हनुमानप्रसाद कलकत्ता नगरी की चकाचौंध में दिग्भ्रान्त न हो जाय, इसलिए पिता का अनुशासन अपरिहार्य था। रामकौर देवी ने बालक के कल्याण के लिए यही व्यवस्था दी। अहं को इदं में लीन करना ही उनके साधक जीवन का मूल मन्त्र था।

अब रामकौर देवी के समय का अधिक भाग साधन, भजन, देव-दर्शन और दीन-दुःखियों की सेवा में बीतने लगा। प्रातः गंगा-स्नान, साँवलियाजी के मन्दिर की मंगल आरती का दर्शन, पञ्चमुखी हनुमान तथा सत्यनारायण मन्दिर में पूजा-पाठ, कथा-श्रवण, तथा निर्धन रोगियों को दवा का वितरण—उनकी दिनचर्या हो गयी।

पितृ-चरणों का सान्निध्य

भीमराजजी बड़े ही सरल, सादगीपसंद और सेवाभावी सात्विक व्यक्ति थे। कनीरामजी के देहावसान के बाद उन्होंने शिलांग की दूकान बंद कर सारा कारोबार कलकत्ता में ही स्थानांतरित कर लिया था। यहाँ पगया पट्टी की पारख कोठी में उनकी कपड़े की दूकान थी। इसके सामने हरिदास साँवलका की फर्म थी। हनुमान-प्रसाद पिता के पथ-प्रदर्शन में दूकान का काम सीखने लगे। धीरे-धीरे परिश्रम और सूझबूझ से इन्होंने इस कार्य में पूरी दक्षता प्राप्त कर ली। इनके सद्व्यवहार और ईमानदारी से ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी। जो एकबार इनकी दूकानपर आ जाता, वह इनका अपना हो जाता। वह फिर किसी दूसरे की दूकान पर माल लेने नहीं जाता था। ग्राहक जब स्वयं न आते और पत्रों से माल मंगाते तो अपने व्यापारियों को इन्हीं की

दूकान पर माल खरीदने की ताकीद कर देते थे। इससे अल्पकाल में ही व्यापार का आशातीत विकास हो गया। पूजा के दिनों में आधी रात तक इन्हें छुट्टी न मिलती। इनकी कार्य-कुशलता को देखकर भीमराजजी ने धीरे-धीरे हाथ समेटना आरंभ किया और फिर सारा भार इन्हीं पर आ गया। अब माल मँगाना, गाँठ खुलवाना, रोकड़ रखना, तकादा-वसूली का प्रबंध करना आदि में व्यस्त रहने के कारण ये खाने-पीने का समय भी मुश्किल से निकाल पाते थे। पुत्र के काम सँभाल लेने से भीमराजजी को परमार्थ-साधन और समाज-सेवा के लिए पर्याप्त समय मिलने लगा। गीता-पारायण, विष्णु सहस्रनाम-पाठ तथा माला के सहारे नाम-जप की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। भीमराजजी व्यापार के साथ ही इनके चरित्र-निर्माण पर विशेष ध्यान देते थे। वे इन्हें कहीं भी अकेले नहीं जाने देते थे। जब कभी दूकान से बाहर जाते तो दरबान साथ रहता। वे स्वयं मितव्ययी थे, अतः पुत्र में भी वे इस गुण का विकास देखना चाहते थे।[1]

रात में वे दूकान पर सत्संग कराते थे। इसमें १०-१५ व्यक्ति नियमित रूप से आते थे। छुट्टी के दिन संख्या बढ़ जाती थी। भीमराजजी रामायण, महाभारत और भागवत की कथाएँ पढ़कर सुनाते थे। समागत सत्संगियों के मनोरंजन और सामान्य ज्ञान-वर्द्धन के लिए वे अखबारों में प्रकाशित देश-विदेश के समाचार भी बताते थे।

धार्मिक कार्यों में भी उनकी बड़ी रुचि थी। अपने साथियों—मदनगोपाल कोठारी, शिवनारायण व्यास तथा शिवप्रताप आचार्य के सहयोग से उन्होंने 'सनातन-धर्म पुष्टिकारिणी सभा' नामक एक संस्था स्थापित की थी। इसके मंत्री वे स्वयं थे और सहायक थे श्रीशिवप्रसाद आचार्य तथा श्रीशिवनारायण व्यास। इसका एक कार्यालय खोला गया था, जिसके हिसाब-किताब तथा पत्र-व्यवहार का सारा कार्य पं०

---

१. पोद्दारजी ने पिता द्वारा प्राप्त मितव्ययिता की शिक्षा के सम्बन्ध में कलकत्ता जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए बताया, 'एक दिन मैं बाजार से दो आने का एक कंघा खरीद लाया। जब पिताजी को इसका पता चला तो उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और कहा, 'बेटा ! तुझे एक सीख की बात कहता हूँ। तू एक कंघा खरीद लाया, अच्छा किया; पर अपने यहाँ पचासों कंघे रखे हैं। हम तो दूसरों को बाँट देते हैं। भेद इतना ही है कि घर का कंघा गोल है, तू जरा लम्बा ले आया है। यह देखने में सुन्दर लगता है, उपयोग तो दोनों का समान है। अपने लिए चीज तभी खरीदनी चाहिए, जब वह आवश्यक हो'। पिता की यह सीख इनके मन में बैठ गयी और ये आजीवन उसका पालन करते रहे। कभी भी अपने लिए कोई अनावश्यक वस्तु नहीं खरीदी। जो अपने पास रही, उसीसे काम चलाने की चेष्टा की।

विशेष :—दादी रामकौर देवी का नैहर अमृतसर में था। वहाँ से प्रचुर मात्रा में चंदन और हाथी दाँत के कंघे आते थे।

बालरुचि शर्मा नाम के एक उत्साही समाजसेवी करते थे। इस सभा में सनातनधर्म के सिद्धांतों के प्रचार के लिए बाहर से विद्वानों, पंडितों और संत-महात्माओं को बुलाकर उनके व्याख्यान का आयोजन किया जाता था। होशियारपुर के प्रसिद्ध सनातन धर्मोपदेशक स्वामी जगदीश्वरानंद भारती का सर्वप्रथम कलकत्ता आगमन इसी सभा के आह्वान् पर हुआ था। उनका भीमराजजी पर बहुत स्नेह था।[1] आवश्यकता पड़ने पर सभा के कार्यों में शर्माजी को हनुमानप्रसाद का सहयोग निरंतर मिलता रहता था। यह सभा इनके जेल यात्रा काल—सं० १९७३ तक चलती रही।

भीमराजजी पंडितों और साहित्यकारों का बड़ा सम्मान करते थे और समय-समय पर उन्हें आर्थिक सहायता देते रहते थे। इससे उनकी दूकान पर साहित्य-प्रेमियों की बैठक जमी रहती थी। हनुमानप्रसाद का कलकत्ते के तत्कालीन गण्यमान्य साहित्यकारों से परिचय इसी माध्यम से हुआ।

साधु-संन्यासियों[2] तथा दीन-दुःखियों की सेवा के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। आपत्काल में निज-पर-भेद त्याग कर वे लोगों की तन-मन-धन से सहायता करते थे। इससे वे बहुत लोकप्रिय हो गये थे। सबके प्रति आत्मीयता की भावना रखकर सेवा करना उनका स्वभाव था। इतना करते हुए भी वे प्रचार तथा आत्म-विज्ञापन से सदैव दूर रहते थे।

गायों के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी। सिंधी महात्मा हासानंदजी जब गोरक्षा-भावना के प्रचार के सम्बन्ध में कलकत्ता आये तो भीमराज से उन्हें सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। हासानन्दजी काला कपड़ा पहनते थे, काला झंडा लेकर गायों के लिए प्रचार करते थे और चंदा इकट्ठा करते थे। इस कार्य में भीमराजजी से उन्हें अभीष्ट सहयोग प्राप्त हुआ था।

नियमित जीवन का आरम्भ

विवाह के बाद कलकत्ता आने पर पिता की देखरेख में हनुमानप्रसाद का जीवन व्यवस्थित रूप से चलने लगा। यहाँ इनके मुख्य रूप से चार काम थे—दूकान देखना; साधु-महात्मा, दादी और पिता के निर्देशानुसार साधना करना; समाज-सेवा और स्वाध्याय। दिन-रात ये इन्हीं कार्यों में व्यस्त रहते थे। इनके अतिरिक्त न कहीं

---

१. स्वामीजी परिणत वय में कैलाश चले गये थे। गोरखपुर-हिमालय-यात्रा के समय पोद्दारजी से इनकी भेंट कलकत्ता छोड़ने के बाद केवल एक बार हुई थी।

२. इनके घर के पास ही मन्नालाल सुराना नाम के एक मारवाड़ी अग्रवाल रहते थे। सुराना परिवार भी रतनगढ़ का ही निवासी था। इससे उनसे बड़ी आत्मीयता थी। मन्नालालजी की एक बहन ने संन्यास ले लिया था। वह भी वहीं रहती थीं। रामकौर देवी उससे बहुत स्नेह करती थीं, अतः वह भिक्षा प्रायः इन्हीं के घर ग्रहण करती थीं।

आते-जाते थे और न किसी के साथ बैठकर व्यर्थ की बातों में समय नष्ट करते थे। घर पर आये दिन साधु, महात्मा, पंडित और विद्वान् आया करते थे। उनकी सेवा का भार इन्हीं पर रहता था।

इतर धर्मावलम्बियों से सम्बन्ध

कलकत्ते में दानचन्द चोपड़ा नाम के एक जैन व्यापारी थे। हनुमानप्रसाद की उनसे बड़ी आत्मीयता थी। चोपड़ाजी के यहाँ जैन मुनि प्रायः आया करते थे। उनके सत्संग में ये अनिवार्य रूप से उपस्थित रहते थे। इससे इन्हें भारतीय संस्कृति की वैष्णवेतर विचारधाराओं को समझने में सहायता मिली और किशोरावस्था में ही धार्मिक सहिष्णुता तथा उदारता के पुष्ट संस्कार पड़ गये।

हनुमानप्रसाद के मन पर पिता की लोकसंग्रही विचारधारा, घर के आध्यात्मिक वातावरण तथा सदाचारनिष्ठ जीवन-पद्धति का गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी अवस्था के अनुसार उसने भीमराजजी को इन कार्यों के सम्पादन में सहयोग भी दिया। इसी समय उसने निश्चय कर लिया—"जहाँ तक बन पड़े जीवन को पवित्र रखना, चरित्रवान बनना, चुपचाप काम करना, ख्याति-नाम से दूर रहना, अपने सत्कार्य का कोई भौतिक पुरस्कार न स्वीकार करना और न उसकी चाह ही करना।" आगे चलकर पोद्दारजी के विराट् व्यक्तित्व में इन गुणों का विस्मयकारी विकास देखने में आया।

"आत्मा वै जायते पुत्रः"

—श्रुतिवाक्य, व्यवहार-भूमि पर अवतरित होकर चरितार्थ हुआ।

एक अलौकिक आत्मोत्सर्ग

सं० १९६४ में पोद्दारजी के जीवन की सर्वाधिक रहस्यपूर्ण घटना घटी। उस समय इनकी आयु पन्द्रह वर्ष की थी। एक दिन अपने ननिहाल चाँदपुर जा रहे थे। सुखलाल नामक जमादार साथ था। कलकत्ते से चाँदपुर जहाज में बैठकर जाना पड़ता था। जहाज में इनके पास ही एक बंगाली परिवार बैठा, उसमें दम्पति के साथ उनकी १३-१४ वर्ष की कन्या और ५ वर्ष का एक बालक था। हनुमानप्रसाद ने स्नेहवश बालक को कुछ मेवे खाने को दिये। कुछ देर में स्टीमर लोहजंग (तारपासा) नामक स्टेशन पर पहुँच गया। वह परिवार वहाँ उतर कर डोंगी पर बैठा और गन्तव्य स्थान को चला गया।

इसके चार वर्ष बाद श्रावण कृष्ण ९, सं० १९६९ को काफी रात बीते कलकत्ते की पगया पट्टी में स्थित पारखकोठी वाली अपनी दूकान में सहसा उन्हें एक पत्र मिला। खोलने पर देखा कि उसे "सरोजनी" नाम की किसी बालिका ने भेजा है। पत्र में जो पता लिखा था, उससे इन्हें ज्ञात हो गया कि यह लड़की वही है, जिससे बंगाली परिवार

के साथ चाँदपुर जाते समय जहाज पर भेंट हुई थी। पत्र में उसने अपना वर्तमान पता कालीघाट बताया था। जहाज पर भेंट के समय उस बालिका ने बातचीत के प्रसंग में सुखलाल जमादार से इनका नाम तथा पता पूछ लिया था और उसे डायरी पर लिख लिया था। उसका विवाह हो चुका था। ससुराल त्यागकर इनसे मिलने की तीव्र उत्कंठा जाग्रत होने पर एक दिन उसने बर्दवान की बाढ़ के सम्बन्ध में प्रकाशित सूचना के प्रसंग में इनका नाम और पता वर्तमान समाचार-पत्रों में पढ़ा था। उसी सूत्र से यह पत्र आया था। पत्र में अपने जीवन की अनबूझ पहेली का संकेत करते हुए उसने हनुमानप्रसाद के प्रति प्रथम दर्शन में ही लौकिक विषयकामना से मुक्त सर्वात्मना आत्म-समर्पण का उल्लेख करते हुए इस जीवन में अन्य किसी को वरण न करने की अपनी दृढ़ भावना व्यक्त की थी। इसके साथ ही उसने माता-पिता द्वारा सं० १९६७ में किसी अन्य व्यक्ति के साथ प्रणय सूत्र में बाँधे जाने, उस व्यक्ति के ससर्ग से पूर्णतया अस्पृष्ट रहने और अन्ततोगत्वा उस लौकिक सम्बन्ध को त्याग कर अपने जन्म-जन्म के साथी एवं दिव्यसम्बन्धी की खोज में अपनी माता द्वारा विदाई के समय दी गयी ३० गिन्नियों को लेकर कलकत्ता जाने की बात लिखी थी और इनसे अगले दिन कालीघाट मन्दिर के पास ९ बजे प्रातः एकबार आकर दर्शन देने की प्रार्थना की थी।

यह पत्र पाकर हनुमानप्रसाद किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बालिका के पत्र से सात्विक प्रेमभाव झलक रहा था, इसलिए वे उसके स्नेह को ठुकरा न सके। दूसरे दिन प्रातः साथ में अपने एक मित्र बालचंद मोदी को लेकर वे कालीघाट की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर कहीं कोई लड़की दिखाई न दी, इसलिए चिंतित भाव से लौट आये। दूसरे दिन उसका एक पत्र और मिला, जिसमें लिखा था—'आप जिस समय वहाँ पहुँचे थे मैं वहीं थी, किन्तु आपके साथ एक सज्जन और थे, इससे मैंने मिलना उचित नहीं समझा। अब आपको मुझे खोजने की आवश्यकता नहीं। मैंने आप का स्थान जान लिया। स्वयं आकर मिलूँगी।' थोड़ी देर बाद उसी रात को एक पत्र फिर मिला, जिसमें इनसे 'आउटराम घाट' के स्टेचू (मूर्ति) के पास आकर मिलने की प्रार्थना की गयी थी। हनुमानप्रसाद दूसरे दिन वहाँ गये। प्रातः सात बजे का समय था, पर उस दिन भी वह बालिका वहाँ न मिली। मिला केवल एक चिट, जिसमें लिखा था, 'आप के आने में विलम्ब होने से मैं जा रही हूँ। यहाँ ठहरना मेरे लिए निरापद नहीं। अब मैं स्वयं आकर मिलूँगी।'

उसी दिन रात में जब ये दूकान बंद करके अपने हरिसन रोड पर स्थित मकान को आ रहे थे, तो रास्ते में शिव-मंदिर के पास इन्हें एक सिक्ख बालक मिला। उसने रास्ता रोक कर अपना परिचय बताते हुए कहा—'मैं सरोजनी हूँ।' हनुमानप्रसाद को ध्यानपूर्वक देखने पर उसे उस कृत्रिम वेष में भी पहचानने में देर नहीं लगी। इसके बाद दोनों में घंटों बातें हुईं। सरोजनी ने अपने सर्वस्व अर्पण की

प्रतिज्ञा से इन्हें अवगत कराया। हनुमानप्रसाद उसके लोकोत्तर प्रेम और त्यागभावना से अभिभूत हो गये। बोले—'देवि, मेरा विवाह हो चुका है। ऐसी स्थिति में अपने व्यक्तिगत आचार और जातीय संस्कृति की आज तक सुरक्षित मान्यताओं को छोड़कर यह शरीर तुम्हें अपनाने में विवश है, किन्तु तुम्हारे सात्त्विक प्रेम का मैं अभिनन्दन करता हूँ। तुम यहीं रहो। मैं तुम्हारे जीवन-यापन की पूरी व्यवस्था कर दूँगा।' सरोजनी इससे रंचमात्र भी खिन्न न हुई। वह अन्तस्तल से इन्हें वरण कर चुकी थी, किन्तु उस वरण में भोगलिप्सा रंचमात्र भी न थी, अतः शारीरिक नैकट्य प्राप्त करने की कामना का प्रश्न ही नहीं था। उसने उत्तर दिया—'मेरा दूर रहना ही उचित है। मैं भावसुमनों से ही आपकी अर्चना करती रहूँगी।' इतना कहकर वह वहाँ से चली गयी। जाते समय इस मधुर मिलन के प्रतीकस्वरूप वह अपनी सोने की अंगूठी इन्हें दे गयी। कहना न होगा कि घण्टों तक एक दूसरे से अत्यन्त निकट खड़े होकर बात करते हुए भी इन दोनों में किसी ने एक दूसरे का स्पर्श नहीं किया।

इस भेंट के कुछ ही दिनों बाद सं० १९६९ के कार्तिक में सरोजनी का एक पत्र आया। उसने लिखा था—'शरीर वियोग-व्यथा सहने में असमर्थ है। अब इसे नहीं रखूँगी। हिन्दू रमणी वरे एक पति'। यह संवाद पाकर हनुमानप्रसाद ने अनेक सूत्रों से उसे ढूँढ़ने का प्रयत्न किया, किन्तु कोई पता न चला। बाद में ज्ञात हुआ कि उसने प्रयाग में जाकर त्रिवेणी-संगम में जल-समाधि ले ली है।

कलकत्ते में अन्तिम भेंट के समय सरोजनी द्वारा प्राप्त अँगूठी को कालान्तर में स्वर्ण पदक में परिवर्तित करके इन्होंने उसी की स्मृति में जालन्धर कन्या महाविद्यालय की एक प्रतिभा-सम्पन्न बालिका को पुरस्काररूप में प्रदान कर दिया।

जीवन के अन्तिम दिनों में सरोजनी देवी के इस रहस्यमय आत्मोत्सर्ग की चर्चा करते हुए पोद्दारजी उसकी निष्काम प्रेम-भावना और तत्सुखसुखित्व में ब्रजेश्वरी राधा के त्याग की झलक पाकर भावविभोर हो जाते थे।

पत्नी का देहावसान

कलकत्ता आने के बाद हनुमानप्रसाद का दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखमय रहा। पत्नी की चेचक जनित कुरूपता के बावजूद इन्होंने स्वप्न में भी उसे यह अनुभव न होने दिया कि उसके कारण पारस्परिक प्रेम व्यवहार में किसी प्रकार की कमी है। परिवार का कलकत्ता से रतनगढ़ आना-जाना लगा रहता था। पौत्रवधू को गर्भवती जान रामकौर देवी उसे अपने साथ रतनगढ़ ले गयीं और वहीं ज्येष्ठ कृष्ण ८, सं० १९६६ को महादेवी के गर्भ से पुत्ररत्न का आविर्भाव हुआ। रामकौर देवी ने प्रपौत्र का मुँह देखकर अपना भाग्य सराहा, किन्तु यह प्रसन्नता अत्यंत क्षणिक रही। प्रसूति गृह में ही ज्येष्ठ शुक्ल ६, सं० १९६६ को पुत्र को अनाथ कर महादेवी गोलोक सिधारीं।

इसके बाद दो महीने के भीतर ही श्रावण कृष्ण चतुर्दशी को नवजात शिशु भी जगज्जननी का प्यारा हो गया।

स्वामी जगदीश्वरानन्द भारती से सत्संग

पत्नी और पुत्र की अन्त्येष्टि करके रतनगढ़ से कलकत्ता आने पर हनुमानप्रसाद का मन बहुत ही दुःखी रहता था। इन्हीं दिनों 'सनातन धर्म पुष्टिकारिणी सभा' के अधिवेशन में भाग लेने के लिए स्वामी जगदीश्वरानन्द भारती कलकत्ता पधारे। भीमराजजी से उनकी पहले से ही घनिष्ठता थी। भीमराजजी उक्त सभा के संस्थापक तथा मन्त्री भी थे, इसलिए स्वामीजी इन्हीं के पास ठहरे। स्वामीजी के सत्संग से इनके हृदय का भार हलका हुआ। धार्मिक प्रवृत्ति के जागरण से मानसिक स्थिति सामान्य स्तर पर आ गयी।

स्वामी शंकरानन्द की राजनीतिक प्रेरणा

सं० १९६६ में उक्त घटना के थोड़े ही समय बाद कलकत्ता में एक मद्रासी महात्मा का आगमन हुआ। इनका नाम था स्वामी शंकरानंद। हरिराम गोयन्दका के बगीचे में इनका आसन लगा। स्वामीजी की हठयोग में विशेष गति थी। बगीचे में ही इन्होंने सात दिन की समाधि लगाकर लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था। अध्यात्म-मार्ग के पथिक होते हुए भी ये राजनीति में उग्र विचारधारा के समर्थक थे। हनुमानप्रसाद पर इनका प्रगाढ़ स्नेह था। उनके घनिष्ट सम्पर्क से इनकी विचारधारा क्रांति के अणु-परमाणुओं से वेष्टित हो चली।

दूसरा विवाह

हनुमानप्रसाद को राजनीति की ओर मुड़ते देखकर भीमराजजी को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा कि गृहस्थी के बंधन से मुक्त रहने पर इनका समय इसी प्रकार के कामों में लगेगा। इससे व्यापार की हानि तो होगी ही, जीवन भी खतरे में पड़ जायगा। भीमराजजी की इच्छा पुत्र का कार्यक्षेत्र व्यापार तक ही सीमित रखने की थी। इसके अतिरिक्त वंश-परम्परा का निर्वाह भी आवश्यक था। इस हेतु पुनर्विवाह का प्रसंग चलाया गया। हनुमानप्रसाद इससे भागना चाहते थे, किन्तु दादी और पिता के स्नेहानुरोध की अवज्ञा न कर सके। निदान राजगढ़ (राजस्थान) के सेठ मंगतूराम सरावगी की पुत्री सुवटीबाई के साथ वैशाख शुक्ल ३, सं० १९६८ को द्वितीय विवाह सम्पन्न हो गया।

पिता का स्वर्गवास

कच्ची गृहस्थी को सँभालने का प्रयास चल ही रहा था कि भीमराजजी रोगाक्रांत हो गये। हनुमानप्रसाद पर दूकान का भार छोड़कर वे इसी स्थिति में

रतनगढ़ चले गये । वहाँ स्वजनों, स्नेहियों और कुशल चिकित्सकों की देखरेख में उन्हें स्वास्थ्यलाभ हो जायगा—ऐसा रामकौर देवी का भी विचार था । किन्तु विधाता की इच्छा कुछ और ही थी । लाख प्रयत्न करने पर भी स्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ती ही गयी और श्रावण कृष्ण ४, सं० १९६९ को भीमराजजी का भौतिक शरीर मातृभूमि की गोद में छूट गया । पति गये, पुत्रवधू गयी, पौत्रवधू गयी, प्रपौत्र गया ! हतभाग्या माता रामकौर देवी यह दिन देखने को ही बच रही थी । जीवन भर विषम परिस्थितियों से जूझते हुए उसने हार नहीं मानी थी, किन्तु इस घटना ने उसकी कमर तोड़ दी । कलेजा बैठ गया और नेत्र की ज्योति मंद हो गयी ।

पितृक्रिया के अनन्तर हनुमानप्रसाद परिवार[1] को लेकर पुनः कलकत्ता आ गये । दूकान का काम चलने लगा । परंतु अब उसमें इनकी वृत्ति उतनी नहीं रमती थी, जितनी पिता के समय में । इसके मुख्य कारण थे—अनवरत पारिवारिक आपत्तियाँ, धार्मिक प्रवृत्ति और राजनीतिक आकर्षण ।

इन्होंने अपनी आँखों दादा कनीरामजी का अपार वैभव शिलांग के भूकम्प में क्षणमात्र में ही नष्ट होते और उसी की चिंता में उन्हें प्राण विसर्जित करते देखा था । हजार प्रयत्न करने पर भी पिता भीमराजजी उस गौरव को पुनर्स्थापित करने में असमर्थ रहे । अंततोगत्वा वे भी उसी में खटते-खटते दम तोड़ गये । यह सब देखकर इन्हें अनुभव हुआ कि व्यापार वृत्ति का साधन हो सकता है, प्रवृत्ति की सीमा नहीं । दादी रामकौर देवी की संरक्षकता में इनकी जैसी शिक्षा हुई थी, उसमें उपार्जन की अपेक्षा दान तथा सेवा-भावना की ही प्रधानता थी; भोग की अपेक्षा त्याग द्वारा आत्मोत्कर्ष-सम्पादन का अधिक महत्त्व था । पिता के सामने ही उनकी देखरेख में सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में हनुमानप्रसाद सक्रिय सहयोग देने लगे थे । किन्तु उनके जीवनकाल तक इसका क्षेत्र अत्यंत सीमित था । व्यापार के साथ प्रवृत्ति प्रशिक्षण तथा मनोरंजन के साधनरूप में यह भी चलता रहता था—आनुषंगिक रूप में । मुख्य धंधा दूकान चलाना ही था । भीमराजजी के दिवंगत होने पर बंधन खुल गये । रामकौर देवी वृद्धावस्था और पुत्रशोक से जर्जर हो गयी थीं । पौत्र की सद्वृत्ति और कर्तव्यपरायणता

---

१. इस समय कुटुम्ब में दादी और पत्नी को छोड़कर हनुमानप्रसाद की एक विमाता और दो छोटी बहनें थीं—कमलाबाई और पूर्णांबाई । कमलाबाई का जन्म रामदेवी के गर्भ से माघकृष्ण १२, सं० १९५६ को हुआ । जब यह तीन वर्ष की थी, माता का शरीरांत हो हो गया था । इसके बाद भीमराजजी का तीसरा विवाह रतनगढ़-वासी सेठ मन्नालाल विमका की पुत्री गौराबाई से आषाढ़ १९६० में बर्दवान में हुआ । पूर्णांबाई सं० १९६२ में इन्हीं के गर्भ से उत्पन्न हुई थीं । विमाता गौराबाई का सौभाग्य-सूर्य ९ वर्ष तक ही प्रकाशमान रह सका ।

पर उनका अगाध विश्वास था। इसलिए इनकी गतिविधियों का नियंत्रण उन्हें अभीष्ट न था। परिवार में और कोई वयोवृद्ध था नहीं।

ऐसी दशा में युवक हनुमानप्रसाद को अपने इच्छानुसार जीवन नौका खेने की खुली छूट मिल गयी। उन्होंने अपना अधिकांश समय धार्मिक, राजनीतिक और समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यों में लगाने का संकल्प किया। प्रवृत्ति के तीव्र झकोरों से वृत्ति की चट्टान टूटने लगी। दूकान का काम ढीला पड़ गया था। परमार्थ के सामने अर्थ नत-मस्तक हो गया।

समाज-सेवा

कलकत्ता के सार्वजनिक जीवन के परिष्कार तथा विकास में आरंभ से ही इनकी रुचि थी। अब ये सभा-सोसाइटियों में स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेने लगे। जातीय जीवन के उस नवोन्मेष-काल में राष्ट्रीय, धार्मिक, साहित्यिक, शैक्षणिक आदि लोक-संग्रही संस्थाओं का बाहुल्य था। अपनी कार्यपटुता, योग्यता, ईमानदारी, सूझ-बूझ तथा विनयशीलता के कारण सभी जगह इनकी प्रतिष्ठा थी और सभी इन्हें अपना सहयोगी बनाने को लालायित रहते थे। समाज तथा देश की सेवा इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य बन चुका था, अतः न्यूनाधिक मात्रा में सभी को इनका अंशदान प्राप्त हुआ। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—हिन्दू क्लब, हिन्दू सभा, वैश्य सभा, हिन्दी-साहित्य-परिषद्, साहित्य-संवर्द्धिनी-समिति, बड़ा बाजार पुस्तकालय, सावित्री कन्या पाठशाला। इनके अतिरिक्त सांस्कृतिक पर्वों तथा धार्मिक मेलों में भी सेवा-कार्य के आयोजन का मुख्य दायित्व इन्हीं को सौंपा जाता था। 'श्रद्धोदय-योग' तथा 'शीतला मेला' में इनके द्वारा गठित स्वयंसेवक-दल ने प्रशंसनीय सेवा-कार्य किया था।

ये हनुमानप्रसाद की प्रकट रूप में की जानेवाली सेवाओं के क्षेत्र थे। इनके अतिरिक्त वे स्थिति और पात्रानुसार गुप्त सेवाओं की भी व्यवस्था करते रहते थे, जो उनकी अंतिम साँस तक उसी रूप में गतिशील रही। किन्तु उसका आभास पाना अन्तेवासियों और निकटतम सम्बन्धियों के लिए भी असंभवप्राय था।

क्रान्ति की लपटों में

बंगभंग और स्वदेशी आन्दोलन

हनुमानप्रसाद को विवाह के बाद रतनगढ़ से कलकत्ता आये कुछ ही दिन हुए थे कि सं० १९६२ में लार्ड कर्जन द्वारा की गयी बंग-विच्छेद घोषणा की प्रतिक्रिया में सारा बंगाल एक-प्राण, एकमत हो प्रलयंकर स्वर में हुंकार उठा। अंग्रेजी सरकार की इस विनाशकारी योजना के विरोध में कासिम बाजार के राजा मणीन्द्रचन्द्र की अध्यक्षता में एक विशाल सभा आयोजित की गयी, जिसमें बंगवासियों ने सामूहिक रूप

से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का व्रत लिया। इसीने आगे चलकर 'स्वदेशी-आंदोलन' का रूप धारण कर लिया। पूरे बंगाल में उत्कट देशप्रेम की एक दैवी चेतना व्याप्त हो गयी। अंग्रेजी वस्तुओं की सरेआम होली जलायी जाने लगी। विदेशी माल के साथ विदेशी शिक्षा के भी बहिष्कार की लहर फैली। विद्यार्थी विद्यालयों को छोड़कर बाहर निकल आये। कलकत्ता विश्वविद्यालय को 'गुलाम-खाना' की उपाधि देकर क्रुद्ध छात्र-समूह ने कक्षाओं में लगी मेज-कुर्सियों तथा खिड़की दरवाजों के शीशे तोड़ डाले। सड़कों, चौराहों और गलियों में जहाँ भी देखिये, वहीं देशभक्ति के गीत गाती हुई उत्साही छात्रों की टोलियाँ घूमती नजर आतीं। उनके गीत का प्रायः टेक होता था—

'निज वास भूमे परबासी होलो'
(हम अपने ही देश में परदेशी हो गये हैं !)

देशभक्ति की यह लहर इतनी प्रबल तथा व्यापक थी कि पत्र-पत्रिकाओं, नाटक-संगीत, कविताओं, लेखों—सभी में एक स्वर से देशभक्ति के गीत गाये जाते थे। वेश्याएँ तक इसी भाव के गाने गाकर श्रोताओं का उद्‌बोधन करती थीं।

आरंभ में 'स्वदेशी आंदोलन' का एकमात्र उद्‌देश्य स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की भावना का जन-साधारण में प्रचार करना था; किन्तु आगे चलकर यह देशप्रेम और सर्वांगीण राष्ट्रीयता का मूलमंत्र बन गया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में इंडियन नेशनल कांग्रेस ने जिस प्रकार राजनीतिक दासता से मुक्ति के लिए 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' चलाया, उसी भाँति स्वदेशी आंदोलन ने देश को आर्थिक परतंत्रता से मुक्त करने का आह्वान् किया।

इस आंदोलन का विस्तार एक प्रांत से दूसरे प्रांत, एक नगर से दूसरे नगर और एक गाँव से दूसरे गाँव में होता गया। इंग्लैण्ड में बनी वस्तुएँ भारतीय बाजारों में बिकें, भारत का धन विदेशों में जाये और इस तरह भारतीय जनता का शोषण हो, यह उद्‌बुद्ध भारतीय जनमानस को असह्य था। भारतीय जनता भारत में बनी वस्तुओं का व्यवहार करे तथा हर विदेशी वस्तु का परित्याग करे,—यही इस आंदोलन का नारा था। आगे चलकर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की भावना ने इतना व्यापक रूप धारण कर लिया कि लोग विदेशी साहित्य तथा विदेशी नौकरी का भी परित्याग करने लगे। विदेशी वस्तुओं में मुख्यतः विदेशी वस्त्रों की होली जलाने की एक प्रथा-सी चल पड़ी। लाखों का माल चंद मिनटों में स्वाहा कर दिया जाता था। नगर-नगर में यही हाल था। इस प्रकार की लोक व्यापकता ही स्वदेशी आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता थी। कांग्रेस का जन्म इससे वर्षों पूर्व हो चुका था और एक प्रकार से वही इस युग की सर्वाधिक प्रभावशाली राष्ट्रप्रेमी संस्था थी, किन्तु उसका प्रभाव अधिकतर शिक्षित वर्ग पर ही था। स्वदेशी आंदोलन ने निरक्षर तथा निरीह ग्रामवासियों तक के हृदय में राष्ट्रप्रेम की ज्वाला प्रज्वलित कर दी।

स्वदेशी व्रत

ये सारी घटनाएँ हनुमानप्रसाद की आँखों के सामने घट रही थीं। इस समय इनकी आयु तेरह वर्ष की थी। ये न किसी स्कूल के विद्यार्थी थे, न किसी राजनीतिक पार्टी के सदस्य ही। स्वभाव से शांतिप्रिय थे। फिर भी देशव्यापी विद्रोहाग्नि से ये अपने को अलग न रख सके।

सं० १९६२ में जिन दिनों स्वदेशी आंदोलन प्रारम्भ ही हुआ था, इनके पिता के मित्र तथा स्नेही पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' देखकर इन्हें बताया कि इंग्लैण्ड से जो कपड़े आते हैं, उनमें माड़ी देने के लिए जानवरों की चर्बी का व्यवहार होता है। इस जानकारी से इनके मन में विदेशी कपड़ों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। इसी समय इन्होंने निश्चय कर लिया कि अब विदेशी कपड़ा नहीं पहनना है। निदान ढाका के बने कपड़े प्रयोग में लाने लगे। पीछे मन में आया कि हाथ के कते सूत से हाथ के बने कपड़े पहनने चाहिए। यह प्रसंग गांधीजी द्वारा हाथ के कते-बुने कपड़ों के प्रचारित करने के दो वर्ष पहले का है। उस समय देहाती जुलाहे हाथ के कते सूत की मोटी खादी बनाते थे। हनुमानप्रसाद ने उसे पहनना आरम्भ किया। खादी मोटी होने से दर्जी उसकी सिलाई नहीं कर पाते थे। अतएव इन्हें एक वर्ष तक बिना कुर्ते कमीज के, ऊपर का अंग खद्दर की चादर से ढककर, रहना पड़ा। पीछे गांधीजी के प्रभाव-प्रचार से जब महीन खादी बनने लगी, तो इस समस्या का स्वतः समाधान हो गया। उन्होंने इस व्रत का आजीवन पालन किया। कहना न होगा कि परवर्ती-स्वदेशी आंदोलन के कर्णधार राष्ट्रपिता गांधी उस समय तक विदेशी वस्त्रों का व्यवहार करते थे। उन्होंने स्वदेशी वस्त्र धारण करने का नियम पोद्दारजी के एक वर्ष बाद अपनाया। पीछे पोद्दारजी की इस भावना के साथ स्वदेशी आंदोलन का सम्बन्ध जुड़ गया।

हनुमानप्रसाद ने स्वदेशी आंदोलन के मूल संदेश को इतनी गंभीरता से ग्रहण किया कि आगे चलकर वह उनके जीवन-दर्शन का मुख्य अंग बन गया। इस व्रत के निर्वाह में उन्हें आरंभ में बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। उन दिनों में हाथ के कते बुने कपड़े बहुत कम मिलते थे। अतः उन्हें इस प्रकार के वस्त्र राजस्थान से मँगाने पड़ते थे। ये बहुत मोटे होते थे। धोती-चादर भी मोटी होती थी। समाज में प्रायः लोग इन्हें उस प्रकार के खादी वस्त्रों को पहने देखकर व्यंग्य किया करते थे।

धीरे-धीरे घर में भी खद्दर की साड़ियों का प्रयोग होने लगा।[1]

---

१. इस सम्बन्ध में परवर्ती जीवन का एक रोचक प्रसंग दे देना असंगत न होगा। बंगाल से निष्कासित होने के बाद जिन दिनों ये बंबई में रहते थे, इनकी पत्नी मायके गौहाटी गयी हुई थी। श्वसुर सेठ सीतारामजी का वहाँ कारबार था। इन्होंने स्त्री के लिए वस्त्रों का एक पार्सल भेजा। श्वसुर महाशय उसे लेकर अंदर गये और अपनी पत्नी को पुकार कर

कलकत्ता कांग्रेस

बंगाल के नवयुवकों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रांति की यह भावना फैल ही रही थी कि सं० १९६४ में इंडियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इसके सभापति दादाभाई नौरोजी थे। राष्ट्रीय भावों से अभिसिक्त होने के कारण १५ वर्ष की छोटी आयु में ही हनुमानप्रसाद कांग्रेस के एक सदस्य के रूप में उसमें सम्मिलित हुए। उस अवसर पर राष्ट्रीय विचारधारा के लोग दो दलों में विभक्त दिखाई दिये—गरम दल और नरम दल। इनमें प्रथम उग्रवादी राजनीति का समर्थक था और दूसरा शांतिपरक विचार-धारा का। यह राष्ट्रीय जागृति की शैशवावस्था थी। कांग्रेस में नरमदली विचारधारा का प्राबल्य था। इसके पुरस्कर्ता थे गोपालकृष्ण गोखले। अंग्रेजी सरकार से कुछ सुधारों और नौकरियों की मांग में ही वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती थी। अब तक स्वराज्य-प्राप्ति उसका ध्येय ही नहीं बन पाया था। बंगाल में इस दल के नेता सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। इसका मुखपत्र था 'बंगाल'। गरम दल के नेता थे विपिनचन्द्र पाल। इस अधिवेशन की विभिन्न सभाओं में उक्त दोनों दलों के नेताओं ने विदेशी सत्ता से मुक्ति के लिए राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप निर्धारित करने के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये, हनुमानप्रसाद को उनमें उग्रवादी सिद्धांत ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। अतः इस समय से वे इसी के प्रचार में प्राणपण से लग गये।

अघोषित युद्ध

इस प्रकार अंग्रेजी शासन की कुटिल एवं शोषक नीति के विरुद्ध सरकार ओर जनता के बीच स्वदेशी आंदोलन के रूप में अघोषित युद्ध आरंभ हुआ। राजतंत्र ने कूटनीतिक चालों और पशुशक्ति से उसे दबाने का कोई तरीका बाकी न छोड़ा, किन्तु जनता झुकी नहीं। राष्ट्रीयता और देशभक्ति के उद्रेक से जो युद्धोत्साह उत्पन्न हुआ था, जन-जन के हृदय में दासता से मुक्ति की जो अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी,

---

राजस्थानी में कहा—'ए रामदेई का मां। कँवरजी ने एक पार्सल भेजा है। बड़ा भारी पार्सल है।' उस समय वे रसोई घर में थीं। वहीं से बोलीं 'खोलिये, देखें, क्या है?' सीतारामजी ने पार्सल खोला। उसमें खद्दर की दो साड़ियाँ निकलीं। उन्हें देखते ही वे रोने लगे और स्त्री को फिर पुकारा, 'यहां तो आ, देख तो सही, कँवरजी ने कैसी साड़ियाँ भेजी हैं।' पोद्दारजी की सास बाहर आयीं। साड़ियाँ देखकर उनके भी नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। व्यथा एवं उलाहना भरे शब्दों में बोली, 'हाय कितनी मोटी साड़ियाँ। ये तो मेरी बेटी से भी भारी हैं। ये भी भला पहनने की हैं?' पास ही खड़ी पुत्री (पोद्दारजी की पत्नी) ने किसी प्रकार समझा-बुझाकर उन्हें सांत्वना दी। उन्हें यह जानकर बड़ा कष्ट हुआ कि वह ससुराल में इसी प्रकार की साड़ी का प्रयोग करती हैं।

उसने शनैः-शनैः प्रचंड ज्योतिपुंज का रूप धारण कर लिया। सरफरोश दीवाने उसके चतुर्दिक मँडराने लगे।

अब तक इस राष्ट्रीय आंदोलन के कर्णधारों का यह विश्वास था कि बहिष्कार और स्वदेशी भावना के प्रचार से वे अंग्रेजी सरकार द्वारा किये गये 'बंग-भंग' विषयक निर्णय को रद्द कराने में सफल हो जायेंगे। किन्तु शासन की कूट-नीति को देखकर अब उन्हें आभास मिलने लगा कि उनके द्वारा अपनाये गये साधन लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उपयुक्त नहीं हैं। सभी दृष्टियों से समृद्ध एवं सुसंगठित विदेशी सरकार के नृशंसतापूर्ण दमनचक्र का खुले आम मुकाबला करने के लिए उनके पास साधनों का अभाव है, इस तथ्य से वे अनभिज्ञ न थे। किन्तु उसके सिवा सम्मानपूर्ण अस्तित्व का कोई दूसरा मार्ग भी न था। ऐसी स्थिति में उन्हें सशस्त्र क्रांति का रास्ता अपनाना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। आत्माहुति की इस भावना के उदय होते ही उनका लक्ष्य मात्र बंगविच्छेद को समाप्त करना न रहकर, संपूर्ण देश को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त करना बन गया।

गुप्त समितियों का संगठन

सरकार की दमननीति ने असंतोष को भूमिगत धाराओं में ढकेल दिया। स्थान-स्थान पर गुप्त समितियों का निर्माण होने लगा। दबी हुई चिनगारियाँ अंगारों का रूप धारण करने लगीं। बंगाल के जनजीवन में व्याप्त क्रान्ति की लपटों से मारवाड़ी युवक अप्रभावित न रह सके। कलकत्ता में उनमें से कुछ प्रगतिशील विचार के लोगों ने एक 'गुप्त समिति' स्थापित की। 'गुप्त' इसलिए कि इसकी सारी कार्यवाही गोपनीय रखी जाती थी। हनुमानप्रसाद इसके एक सक्रिय सदस्य थे।

इस समिति के अंतर्गत चार उपसमितियाँ थीं। इनमें प्रथम थी—'समाज सुधार समिति'। यह समाज-सुधार की योजना अपने ढंग से तैयार करती थी। इसे समाज के प्रतिष्ठित लोगों का सहयोग प्राप्त था। इस समिति में कुछ चुने हुए युवक थे और वे इतने संगठित थे कि जो बात यह समिति तय कर लेती थी, उसे समाज के बड़े-बड़े लोगों को मानना पड़ता था। इसके संगठन में घनश्यामदास बिड़ला और ओंकारमल सराफ का विशेष योगदान था। कुछ ऐसा ढंग बैठ गया था कि समिति के निर्णयों को समाज एकस्वर से स्वीकार कर लेता था। यह समिति केवल समाज-सुधार का काम करती थी। दूसरी उपसमिति राष्ट्रीय विचारों के प्रचार, नये सदस्यों की भरती और उन्हें पक्का राष्ट्रभक्त बनाने के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करती थी। तीसरी समिति का सम्बन्ध राजनीति से था। इसमें गुप्तरूप से काम होता था। चौथी अंतरंग समिति थी, जो विप्लववाद का समर्थन करती थी। इसका सम्बन्ध बंगाल के क्रान्तिकारियों से था। इस समिति में प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, बनारसी-

दास झुंझुनूवाला, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, कन्हैयालाल चितलानिया आदि प्रमुख कार्यकर्ता थे। मद्रासी संन्यासी स्वामी शंकरानन्द का भी इससे घनिष्ट रूपेण सम्बन्ध था। वे समय-समय पर इसके अधिवेशनों में उपस्थित होकर उपदेश देते थे। घनश्यामदास बिड़ला से उनकी अत्यन्त आत्मीयता थी। हनुमानप्रसाद को व्यापार से राजनीति की ओर लाने में स्वामीजी का विशेष हाथ था। समिति के समाज-सुधार तथा राजनीति सम्बन्धी कार्यों में वे इनके सुझावों को बहुत महत्त्व देते थे।

गुप्त समिति के सदस्यों को कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं—देश तथा समाज सेवा के लिए त्याग, समिति के आदर्शों का पूर्णतया पालन, उसके कार्यों को गुप्त रखना आदि। इसकी बैठक लिलुआ के बिड़ला बगीचे अथवा बेलूर में स्थित फूलचन्द चौधरी तथा नागरमल मोदी की वाटिका में हुआ करती थी। इसके निम्नांकित सदस्य थे—

श्री बनारसीप्रसाद झुंझुनूवाला	श्री बैजनाथ धानुका
,, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया	,, मोतीलाल लाठ
,, रामेश्वरप्रसाद मुरारका	,, महावीर शर्मा
,, घनश्यामदास बिड़ला	,, सीताराम सेकसरिया
,, रामकुमार जालान	,, हनुमानप्रसाद पोद्दार
,, बैजनाथ केडिया	,, ओंकारमल सराफ
,, केदारनाथ पाण्ड्या	,, नागरमल मोदी
,, गुलराज गनेड़ीवाला	,, हीरालाल सराफ
,, फूलचन्द चौधरी	,, जसराज जैन
,, हरिबख्श साँवलका	,, मुरलीधर सराफ
,, नर्मदाप्रसाद	,, रंगलाल जाजोदिया
,, बैजनाथ देवड़ा	,, देवीबख्श सराफ

श्रीरामकृष्ण मोहता।

इसके कार्यकर्ताओं में मुख्य थे—ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, फूलचन्द चौधरी, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, नागरमल मोदी और हनुमानप्रसाद पोद्दार।

इस समिति में जिन तरुणों को लिया जाता था, उनको पहले अलग रखा जाता था। समिति के सारे सदस्यों की न तो उन्हें नामावली बतायी जाती थी, न कार्य। सभी सदस्यों के लिए पाँच नियमों का पालन अनिवार्य था—

१—सूर्योदय से पहले उठना।

२—व्यायाम करना।

३—परस्पर प्रेम-व्यवहार रखना।

४—गीता का नियमित रूप से पाठ करना।

५—समिति की कार्यवाहियों को गुप्त रखना।

इसकी बैठक महीने में दो बार होती थी।

इस समिति के कार्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था तत्कालीन मारवाड़ी-समाज की बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह ऐसी अनेक कुप्रथाओं को दूर कर उसमें नवीन सुधारवादी विचारधारा का प्रभावशाली ढंग से प्रचार करना। इस क्षेत्र में नागरमल मोदी तथा देवीबख्श सराफ ने स्मरणीय सेवाएँ कीं।

मारवाड़ी सहायक समिति से सक्रिय सहयोग

यह समिति प्रबुद्ध मारवाड़ी युवकों द्वारा सं० १९६९ में स्थापित हुई थी। इसका मुख्य कार्य था—चिकित्सा, अकालसेवा, बाढ़-पीड़ित सहायता आदि लोकोपकारी कार्यों का आयोजन। इसके मंत्री ज्वालाप्रसाद कानोड़िया थे। सं० १९६९ में बर्दवान की प्रलयकारी बाढ़ में इसने बहुत बड़े पैमाने पर बाढ़-पीड़ितों की सहायता करके ख्याति-लाभ किया था। हनुमानप्रसाद पोद्दार सेवायोजकों में अग्रगण्य थे। अखबारों में सहायता-कार्य के लिए जो अपील निकाली गयी थी, उसमें भी इनका नाम था। इन्होंने अपने मित्र डूँगरमल लोहिया को सहायता-कार्य के लिए बर्दवान भेजा। मारवाड़ी सहायक समिति एक औषधालय भी चलाती थी। उसमें होमियोपैथिक, आयुर्वेदिक आदि विविध पद्धतियों से चिकित्सा की जाती थी। इस समिति की ओर से ही एक दातव्य औषधालय खोलने के उद्देश्य से डूँगरमल लोहिया को हनुमानप्रसाद ने सं० १९६९-७० में रतनगढ़ भेजा था। आगे चलकर इसके कतिपय कार्यकर्ता, जिनमें हनुमानप्रसाद पोद्दार, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका विशिष्ट थे—विप्लववादी क्रिया-कलापों में संलग्न होने के कारण राजद्रोह के अपराधी घोषित कर दिये गये। इससे समिति सरकार की आँखों में चढ़ गयी। इस अवसर पर कलकत्ते के तत्कालीन मारवाड़ी समाज में समादृत और अंग्रेजी शासन के विश्वासपात्र सर कैलाशचन्द्र बोस ने मारवाड़ी समाज के भीरु वर्ग की प्रेरणा से मध्यस्थता की। उनके प्रयत्न से इसकी गुप्त समितियाँ समाप्त कर दी गयीं। फलतः राष्ट्रीय तथा राजनीतिक विचारधारा का सर्वथा परित्याग कर यह मात्र समाजसेवी संस्था रह गयी। इसका परिवर्तित नाम 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' हो गया। इसके अध्यक्ष हुए सर कैलाशचन्द्र बोस और मंत्री घनश्याम दास बिड़ला। कलकत्ता के अखबारों में इस नाम परिवर्तन को लेकर तीव्र प्रतिक्रिया हुई।[1]

---

१. नाम बदलने के सम्बन्ध में हमें एक शंका होती है। वह यह कि कहीं अभी हाल की पकड़ा-धकड़ी ने समिति के संचालकों में यह रोग न पैदा किया हो। कारण, हमने सुना है कि इन घटनाओं के बाद कितनी ही सभा-समितियों के साइनबोर्ड उठ गये और कितने ही लोग विविध सभा-समितियों की सदस्यता से तथा पदाधिकारियों की सूची से नाम कटाना

चपकन पार्टी

नामपरिवर्तन की यह योजना गण्यमान्य मारवाड़ियों की सम्मति तथा प्रेरणा से बनी थी। कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में उस समय दो प्रकार की विचार-धारा के लोग थे—बड़े-बूढ़े सरकार को प्रसन्न रखते हुए सेवाकार्य करना चाहते थे, किन्तु नवयुवकों में सरकार के अत्याचारों के प्रति तीव्र असंतोष था। वे समाज में प्रचलित रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के भी तीव्र आलोचक थे। इसके विपरीत बड़े-बूढ़े प्राचीन परंपराओं की रक्षा के हिमायती थे। उनमें जो प्रमुख थे, उनकी पोशाक एक खास किस्म की होती थी। वे पगड़ी, अचकन और चुस्त पायजामा या कोट, धोती और कमीज का प्रयोग करते थे। यही उनका दरबारी लिबास था। अचकन और चुस्त पायजामा के प्रयोग के कारण नवयुवकों ने इस वर्ग के लोगों का उपनाम "चपकन पार्टी" रख छोड़ा था। सरकार से सहानुभूति रखने तथा सहयोग देने के कारण इनमें से बहुतों को 'सर,' 'रायबहादुर,' 'राय साहब' आदि खिताब मिले हुए थे। मारवाड़ी असोसिएशन, विशुद्धानन्द अस्पताल, विशुद्धानन्द विद्यालय आदि संस्थाएँ इन्हीं लोगों के द्वारा संचालित होती थीं। इस पार्टी के आयोजकों में प्रमुख थे—सर हरीराम गोयन्दका, रामजीदास बाजोरिया, विश्वेश्वर लाल हलवासिया, दौलतराम चोखानी, और जुहारमल खेमका।

हिन्दू क्लब

यह मारवाड़ी युवकों की कालीघाट में स्थापित एक संस्था थी, जिसमें क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के विकास के लिए युवकों को शारीरिक शिक्षा दी जाती थी। व्यायाम, लाठी चलाना, घुड़सवारी के अतिरिक्त समिति में आग्नेय अस्त्रों, बन्दूक, पिस्तौल आदि चलाने के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था थी, किन्तु उसमें केवल चुने हुए और विश्वासपात्र अंतरंग सदस्यों को ही प्रवेश मिलता था।

भारतीय क्रान्तिकारियों को इस प्रकार सशस्त्र क्रांति के लिए तैयार करने की प्रेरणा इटली, रूस और आयरलैंड की क्रांतियों से प्राप्त हुई थी। नवीन राष्ट्रीय भावना को (हिंसात्मक) रूप प्रदान करने में इन बाह्य प्रभावों का मुख्य हाथ था।

साहित्य संवर्द्धिनी समिति

इस समिति की स्थापना मारवाड़ी युवकों के मानसिक विकास के लिए हुई थी। यह सदस्यों को विचारोत्तेजक पुस्तकें उपलब्ध कराती थी और उनमें साहित्य-प्रेम के साथ ही देशभक्ति जाग्रत करने के लिए विभिन्न प्रकार के साहित्यिक आयोजन करती थी। इस समिति का एक अन्य मुख्य कार्य था—साहित्य का प्रकाशन। इसके मन्त्री नारायणदास

चाहते हैं। यदि समिति के संचालक भी इसी झूठे भय से भयभीत होकर समिति की काया पलटना चाहते"""। —'कलकत्ता समाचार', १७ अगस्त, १९१६ ई०।

बाजोरिया थे। कलकत्ता में सबसे पहले गीता का सानुवाद प्रकाशन इसी समिति ने किया था, जिसके सम्पादक थे पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर। गीता के इस संस्करण की विशेषता थी—आवरण पृष्ठ पर भारतमाता का एक हाथ में गीता और दूसरे हाथ में तलवार लिये हुए तेजस्वी चित्र। इसकी हजारों प्रतियाँ विप्लववादियों में बाँट दी गयीं। इसके प्रकाशन से सरकार के कान खड़े हो गये। उसने इसका अर्थ लगाया—भारतमाता द्वारा सशस्त्र क्रान्ति के लिए देशवासियों का खुला आह्वान। पुलिस ने कार्यालय पर छापा मार कर बची-खुची प्रतियाँ जब्त कर लीं।

इन समितियों की राजद्रोहपूर्ण कार्यवाहियों को समाप्त करने के उद्देश्य से सन् १९०८ ई० में सरकार ने एक दमनकारी विधान पास किया। इसके दो उद्देश्य थे—आतंकवादी अपराधों तथा अराजकता उत्पन्न करनेवाले षड्यन्त्रों का अविलम्ब निर्णय करना और विप्लववादी कार्यवाहियों में गुप्त-रूप से संलग्न सार्वजनिक हितकारी संस्थाओं को अवैध घोषित कर देना। इसके अनुसार इस प्रकार की संस्थाओं में भाग लेनेवाले, उनकी सभाओं को आयोजित करनेवाले तथा प्रकारान्तर से सहमति एवं प्रोत्साहन देनेवाले सभी लोग दण्डनीय घोषित कर दिये गये।

इसके अन्तर्गत बंगाल की अधिकांश समाज-सेवी संस्थाएँ अवैध करार दे दी गयीं, किन्तु इससे आतंकवादियों की कार्यपद्धति पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा; न उनके उत्साह में कमी दिखाई दी और न प्रयत्न में ही किसी प्रकार की ढिलाई आयी।

क्रांति की बाइबिल-गीता

बीसवीं शती के प्रथम चरण में उद्दीप्त राष्ट्रीय जागृति की मूल प्रेरकशक्ति धार्मिक तथा दार्शनिक निष्ठा थी। इसीलिए इसे धार्मिक राष्ट्रीयता के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रमुख पुरस्कर्ता बालगंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय, अरविन्द घोष आदि सभी प्रगाढ़ धार्मिक निष्ठा के व्यक्ति थे। अरविन्द ने तो देशभक्ति की परिभाषा ही 'देशात्मबोध' के रूप में की थी। लाला लाजपतराय के मत में देशभक्ति को धर्मनिष्ठा का स्वरूप देकर उसे ही अपने जीवन-मरण का लक्ष्य निश्चित करने में मानव-जीवन की सार्थकता थी। इस धार्मिक प्रवृत्ति ने इन्हें राष्ट्र-सेवा में परमात्मदर्शन की शक्ति दी।

देशभक्ति को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने में गीता और स्वामी विवेकानन्द द्वारा उपदिष्ट वेदान्त-दर्शन का सर्वाधिक योग था। उच्च जीवन मूल्यों का प्रतिपादन इन्हीं के आधार पर हुआ। मातृभूमि की रक्षा के लिए सर्वस्व अर्पण तथा हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करने के लिए गीतोपदिष्ट तत्त्वज्ञान ने अद्भुत प्रेरणा प्रदान की। इस दार्शनिक विचारधारा के प्रभाव का प्रमाण इस तथ्य से भी मिलता है कि क्रान्तिकारियों के पास गीता सदा रहती थी। उनकी रचनाओं में भी इसका सर्वत्र

उल्लेख पाया जाता है। तत्कालीन सरकारी रिपोर्टों में भी यह चर्चा मिलती है कि गिरफ्तार करने के पूर्व आतंकवादियों की पुलिस द्वारा ली गयी तलाशियों में गीता सभी के पास मिलती थी। एक प्रकार से गीता राजनीतिक पुनर्जागरण की 'बाइबिल' बन गयी थी।

हनुमानप्रसाद ने उसकी इस महत्ता को देखकर ही 'साहित्य संवर्द्धिनी समिति' द्वारा युगानुकूल नयी सजधज—खड्गहस्ता भारतमाता—के चित्र सहित गीता प्रकाशित करवायी थी। सेठ जयदयाल गोयन्दका के सत्संग से उनकी गीतानिष्ठा उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। आगे चलकर इन दोनों धर्मप्राण महापुरुषों ने गोरखपुर में गीताप्रेस की स्थापना करके गीता का विश्वव्यापी प्रचार किया।

स्वाध्याय

हनुमानप्रसाद को भावी जीवन की तैयारी के लिए अपेक्षित साहित्य के अनुशीलन तथा सन्त महात्माओं के सम्पर्क का इन दिनों पर्याप्त अवसर मिला। इन्होंने बंगाल में व्याप्त क्रान्तिकारी भावना के पोषण तथा तृप्ति के लिए 'नाशवाद' (निहिलिज्म) पर बंगला की अनेक पुस्तकें पढ़ीं। इसके साथ ही बंगाली सन्तों के चरित तथा भक्ति विषयक पुस्तकों का भी अध्ययन किया। जेम्स एलेन तथा लिलि एलेन की नैतिकता सम्बन्धी सारी पुस्तकों का बड़ी रुचि के साथ कई बार पारायण हुआ। इसके संस्कार पोद्दारजी के जीवन में अन्त तक बने रहे।

साहित्यकारों से परिचय

धर्म एवं राजनीति में बढ़ती हुई रुचि के कारण इन्होंने बंगला और अंग्रेजी के तद्विषयक ग्रन्थों का मनोयोग-पूर्वक अनुशीलन किया। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से ये बराबर मिलते रहते थे।[1] इसके अतिरिक्त 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी के लेखों से प्रभावित होकर उनके सम्पर्क में भी आते रहे और कुछ ही समय में विशेष कृपा-पात्र बन गये।

---

१. हनुमानप्रसादजी ने रवीन्द्र बाबू से अपने संपर्क की चर्चा करते हुए निम्नांकित घटना का उल्लेख इन पंक्तियों के लेखक से किया था :—

एक बार गांधीजी कलकत्ता आये थे। उस समय पोद्दारजी बंबई में रहते थे, वे भी गांधीजी के साथ आये। गांधीजी को किसी सूत्र से ज्ञात हुआ कि रवीन्द्र बाबू पर ६० हजार रु० के लगभग कर्ज हो गया है। इन्होंने इसके भुगतान की व्यवस्था करने के लिए पोद्दारजी से कहा। पोद्दारजी बोले, 'सेठ युगलकिशोर बिड़ला इसमें सहायक हो सकते हैं, किन्तु उनसे इसका प्रस्ताव मैं स्वयं नहीं करूँगा। यह आप को ही करना पड़ेगा। मैं सेठजी को आप के पास किसी कार्य से ले आऊँगा, आप कह दीजियेगा। मैं उसका समर्थन कर दूँगा। काम हो जायगा।' पोद्दारजी ने इसी प्रकार व्यवस्था की। सेठ युगलकिशोर बिड़ला राजी हो गये। ऋषि-ऋण चुका दिया गया।

कलकत्ता उन दिनों हिन्दी साहित्यकारों का केन्द्र था। पत्रकारिता के क्षेत्र में तो उस समय उत्तरी भारत के किसी भी नगर में संख्या और गुणात्मकता, दोनों दृष्टियों से कहीं भी इतनी प्रतिभाएँ एकत्र नहीं देखी जा सकती थीं।

स्वदेशी आन्दोलन में हनुमानप्रसाद का सर्वप्रथम परिचय 'संध्या' के सम्पादक श्रीब्रह्मबांधव उपाध्याय से हुआ। इसके बाद पं० गिरीशपति काव्यतीर्थ तथा श्रीश्याम-सुन्दर चक्रवर्ती से सम्पर्क स्थापित हुआ। उसी समय बंगला के प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय लेखक श्रीसखाराम गणेश देउस्कर से जान-पहचान हुई। उनकी 'देशेर कथा' पढ़कर ये बहुत प्रभावित हुए। बंगला पत्र 'युगान्तर' के आरम्भ से ही ये नियमित पाठक रहे। उसके लेख इनकी विचारधारा के मुड़ने में विशेष सहायक बने। 'भारतमित्र' के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त तथा उनके विनोदी मित्र पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी से हनुमानप्रसाद का कुटुम्ब जैसा सम्बन्ध था। 'हितवार्ता' नामक एक साहित्यिक पत्रिका पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर के सम्पादकत्व में निकलती थी। उसमें पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने एक लेखमाला निकाली, जिसमें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के विभक्ति को शब्द से अलग लिखने के सिद्धांत का विरोध किया गया था। मिश्रजी आचार्य द्विवेदी के प्रतिद्वन्द्वी रूप में विख्यात थे। पराड़करजी स्वयं विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखने के पक्षपाती थे। इस प्रकार के साहित्यिक विवाद पत्रिकाओं का महत्त्व बढ़ाते थे। 'बंगवासी' नाम की पत्रिका इसी नाम के बंगला पत्र के हिन्दी संस्करण रूप में निकलती थी। इसके सम्पादक थे—हरिकृष्ण जौहर। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र दो पत्र निकालते थे—'उचित वक्ता' और 'मारवाड़ी बंधु'। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी 'नृसिंह' के सम्पादक थे। पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे और 'कलकत्ता समाचार' के सम्पादक पं० झाबरमल शर्मा से भी पोद्दारजी की गाढ़ी मित्रता हो गयी। इन पत्रों में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विविध लोकोपयोगी विषयों के लेख और कविताएँ निकलती थीं। इनसे जनशिक्षा तथा मनोरंजन, दोनों उद्देश्यों की सिद्धि होती थी। साथ ही राष्ट्रभाषा का प्रचार भी होता था।

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के अनुशीलन तथा हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए कुछ स्वतन्त्र संस्थाएँ भी संगठित की गयी थीं—इनमें दो मुख्य थीं—'हिन्दी-साहित्य-परिषद्', जिसके मन्त्री पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी थे और 'एक लिपि विस्तार परिषद्', जिसका आयोजन जस्टिस शारदाचरण मित्र की अध्यक्षता में हुआ था। इस समय कलकत्ता के अन्य साहित्यकार थे—अमृतलाल चक्रवर्ती, नवजादिक लाल श्रीवास्तव, यशोदानन्द अखौरी, रामलाल वर्मा, रामकुमार गोयनका, पं० झाबरमल शर्मा, और पं० राधामोहन गोकुलजी। इन सबसे हनुमानप्रसाद का स्नेह-सद्भाव था, अतः इनकी सम्पादकीय प्रतिभा तथा साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में इन सभी महानुभावों का न्यूनाधिक योगदान रहा है।

साहित्यकारों के संसर्ग से इनकी कारयित्री प्रतिभा अंकुरित होने लगी। धर्म, समाज-सुधार और राजनीति तत्कालीन साहित्य-रचना के मुख्य उपजीव्य थे। हनुमान-प्रसाद की इन तीनों में न्यूनाधिक रुचि थी। स्वाध्याय से लेखन शैली भी परिष्कृत कर ली थी। अतः निबन्ध लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में भेजने लगे। 'मर्यादा', 'सरस्वती', 'नवनीत', 'कलकत्ता समाचार' आदि में उन्हें उचित स्थान मिला। 'नवनीत' में प्रकाशित 'निवृत्ति का सच्चा स्वरूप' शीर्षक इनके लेख की समकालीन साहित्यकारों में बड़ी चर्चा रही।

राष्ट्रनेताओं से नैकट्य

उन दिनों कलकत्ता राष्ट्रीय क्रान्ति का मुख्य कार्यक्षेत्र बन गया था। वह भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का कुरुक्षेत्र हो रहा था। इसलिए देश के कोने-कोने से चोटी के नेता वहाँ बराबर आते रहते थे। स्थानीय सामाजिक संस्थाएँ उनका स्वागत करतीं, उनके व्याख्यान का प्रबन्ध करतीं, अभिनन्दन पत्र देतीं और आजादी की लड़ाई के लिए थैली भेंट करती थीं। लिलुआ की 'मारवाड़ी सहायक समिति' इनमें अग्रणी थी। इस प्रकार के समारोहों का आयोजन प्रायः उसी के तत्त्वावधान में होता था। दूसरा स्थान हिन्दू-सभा का था। हनुमानप्रसाद की सेवाएँ इन दोनों संस्थाओं को अनायास उपलब्ध हो जातीं थीं।

सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर महात्मा गांधी रंगून होकर जब पहली बार कलकत्ता पधारे तो हिन्दू सभा की ओर से हनुमानप्रसाद ने मन्त्री के रूप में उनका स्वागत कर अल्फ्रेड थियेटर में अभिनन्दन-पत्र भेंट किया। इस समय सभा के अध्यक्ष हरद्वार ऋषिकुल के संस्थापक पं० भोलानाथ शर्मा थे। गांधीजी से यह उनकी पहली भेंट थी। इसके बाद बम्बई प्रवासकाल में गांधीजी से उनका घर जैसा सम्बन्ध स्थापित हो गया। कालान्तर में राष्ट्र तथा धर्म की विविध समस्याओं पर यद्यपि दोनों में मतभेद हो गया, तथापि व्यक्तिगत स्तर पर स्नेह-सम्बन्ध दृढ़ ही होता गया।

गोपाल कृष्ण गोखले और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक से भी परिचय उनके कलकत्ता आगमन के समय स्वागत-सत्कार के आयोजन के ही माध्यम से हुआ। तिलक के क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व में इन्हें विशेष आकर्षण दिखाई पड़ा।

हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के निमित्त धनसंग्रह के लिए सं० १९७२ में महामना पं० मदनमोहन मालवीय कलकत्ता पहुँचे। हिन्दू-सभा की ओर से उनके अभिनन्दन का प्रबन्ध हुआ। घनश्यामदास बिड़ला से परिचय कराया गया। आरम्भ में अपेक्षित सफलता न मिलने से मालवीयजी कुछ निराश हुए। महाराज दरभंगा ने कहा कि पहले आप कुछ एकत्र करके लाइये, तब हम पाँच लाख रुपये दे देंगे। हनुमान-

प्रसाद की मारवाड़ी समाज में साख थी। वे मालवीयजी को लेकर सेठों के पास गये। सेठ जुगलकिशोर बिड़ला से परिचय कराया। इस सम्बन्ध में वे कुछ प्रतिष्ठित बंगाली लोगों से भी मिले। इन्हीं के प्रयत्न से बाबू रूढ़मल गोयनका ने अपना विशाल पुस्तकालय हिन्दू विश्वविद्यालय को दान कर दिया और बाबू सुबोधचन्द्र मल्लिक ने एक लाख रुपया प्रदान किया। इस माध्यम से मालवीयजी से इनकी बड़ी आत्मीयता हो गयी। आगे चलकर तो वे इनसे स्वजनवत् व्यवहार करने लगे। उन्होंने अपने पुत्र राधाकान्त मालवीय को बहुत दिनों तक इनकी संरक्षकता में रखा और उसके व्यावहारिक जीवन के निर्माण में इनसे योग लेते रहे। 'कल्याण' के सम्पादक के रूप में इनके गोरखपुर आ जाने पर जब कभी मालवीयजी यहाँ आये तो इनके साथ ही ठहरे। यह स्नेह-सद्भाव उनके अन्तिम समय तक बना रहा।

राजर्षि टण्डन एक बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य से कलकत्ता गये। इन्होंने समिति की ओर से उनके ठहरने व्याख्यानादि का सारा प्रबन्ध कराया। तब से टण्डनजी इनके अभिन्न मित्र हो गये।

अन्य बंग-विभूतियों से स्नेह-सम्बन्ध

स्वदेशी आन्दोलन के प्रवाह में सुभाषचन्द्र बोस जिन दिनों आई० सी० एस० से हटकर देश-सेवा के क्षेत्र में आये, तब तक पोद्दारजी सक्रिय राजनीति के कार्यकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। ये उनके निःस्वार्थ, सच्चे, देशात्मबोधी और उच्च नैतिक आदर्श-सम्पन्न व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए। एक ही क्षेत्र में कार्य करते हुए दोनों में घनिष्ठ प्रेमभाव स्थापित हो गया। कलकत्ता छोड़ने के बाद यद्यपि यह सम्बन्ध पत्राचार अथवा प्रत्यक्ष सम्पर्क से पोषित न हो पाया, किन्तु सुभाषजी के महान् आदर्शों, त्याग तथा उत्कट देशप्रेम के प्रति इनके हृदय में बड़ा सम्मान रहा।

सन्तसमागम

माँ आनन्दमयी से पोद्दारजी की पहली भेंट सं० १९६९ में ढाका में हुई। उन दिनों ढाका में इनका पाट का काम था—श्रीनौरंगराम-रामचन्द्र की हिस्सेदारी में। इस सिलसिले से ये वहाँ प्रायः जाया करते थे। माँ आनन्दमयी भी तब ढाका में ही निवास करती थीं—दुदौलिया नामक मुहल्ले के एक मकान में। उस समय भी उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। इन्होंने माँ के प्रथम दर्शन यहीं किये। कुछ बातचीत भी की। इसके बाद माँ के दर्शन का संयोग काशी में प्राप्त हुआ। निःस्वार्थ धर्म-सेवा के कारण माँ की इनपर अगाध कृपा आजीवन बनी रही।

सेठ जयदयाल गोयन्दका से प्रथम सत्संग

सेठ जयदयाल गोयन्दका पोद्दारजी के मौसेरे भाई थे। मारवाड़ी समाज में आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे जब कभी कलकत्ता जाते

तो प्रायः अपने बालसखा श्रीहनुमानदास गोयन्दका अथवा स्नेही जोखीरामजी गोयन्दका के पास ठहरते थे। श्रीबद्रीदास और श्रीकेदारनाथ धानुका से भी उनका घनिष्ठ परिचय था। इन्हीं लोगों के द्वारा सेठजी के सत्संग की व्यवस्था होती थी। हनुमानप्रसाद ने सत्संगियों के मुख से उनके तत्त्वज्ञान की प्रशंसा सुन रखी थी, किन्तु साक्षात्कार का सुयोग नहीं मिला था।

सं० १९६७–६८ में गोयंदकाजी का कलकत्ता आगमन हुआ। संयोगवश अबकी बार उनका सत्संग पगया-पट्टी में हरबख्शज सॉंवलका की दूकान पर आयोजित हुआ। यह स्थान हनुमानप्रसाद की दूकान के सामने ही पड़ता था। बद्रीदास और केदारनाथ धानुका हनुमानप्रसाद के यहाँ दलाल थे। उनसे इन्हें इसका पता पहले ही चल गया था। अतः दूकान का काम समाप्त कर ये नित्य सेठजी के सत्संग में जाने लगे। उनका प्रेमिल-स्वभाव, मौलिक चिंतन, तथा दंभहीन अंतःकरण देखकर ये मंत्रमुग्ध से हो गये। इसके बाद ये सेठजी को सत्संग के लिए अपनी दूकान पर भी लाने लगे और मित्र ज्वालाप्रसाद कानोड़िया और बनारसीप्रसाद झुंझुनूंवाला को इनसे मिलाया। यद्यपि इस समय तक हनुमानप्रसाद के मस्तिष्क में राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों का घोर झंझावात चल रहा था, फिर भी सेठजी के सत्संग में इन्हें कुछ ऐसा आकर्षण और ऐसा रस मिलने लगा कि उधर से समय निकालकर ये उनके कलकत्ता आने पर नियमित रूप से सत्संग-लाभ करने लगे। इसके पीछे अचिन्त्य शक्ति की कौन-सी मंगल-विधायिनी प्रेरणा काम कर रही थी, उसका रहस्य बाद में खुला।

अरविन्द की स्नेह-प्राप्ति

इन्हीं दिनों अरविन्द घोष बड़ोदा छोड़कर कलकत्ता आ गये। वे पहले अपने मौसा कृष्णकुमार मित्र के यहाँ कालेज स्क्वेअर वाले मकान में ठहरे। कृष्णकुमार बाबू से हनुमानप्रसाद की पहले से ही अच्छी जान-पहचान थी। उनके माध्यम से इन्हें अरविन्द घोष का भी स्नेह प्राप्त हो गया। सं० १९६४ में घोष महाशय ने नेशनल कालेज में पढ़ाना प्रारंभ किया। इस संस्था का उद्देश्य था—विदेशी शासकों द्वारा स्थापित महाविद्यालयों का स्वदेशी आन्दोलन में बहिष्कार करने वाले छात्रों के लिए राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था करना। धीरे-धीरे यह क्रान्तिकारियों का गढ़ बन गया।

राष्ट्र की सुषुप्त आत्मा उद्‌बुद्ध करने के लिए अरविन्द घोष ने भी अपने विचारों के प्रसार का माध्यम समाचार पत्रों को ही बनाया। उनके संपादन में तीन पत्र निकले—'कर्मयोगिन्' (अंग्रेजी), 'वंदेमातरम्' (बंगला) और 'धर्म' (बंगला)। हनुमानप्रसाद इन्हें बड़े चाव से पढ़ते थे।[1] किन्तु उनका 'अतिमानस सिद्धांत' इनकी समझ में

१. श्री अरविंद घोष की कृतियों का अपने विचारों पर प्रभाव का विवेचन करते हुए पोद्दारजी ने बताया था कि 'कर्मयोगिन्' पहले 'धर्म' के नाम से प्रकाशित होता था। इसमें सं० १९६५ में 'देशभक्ति क्या है ?' शीर्षक से एक लेख निकला था, जिसमें उन्होंने लिखा था,

नहीं आया। अपने तर्कों से ये उसका निरंतर प्रत्याख्यान करते रहे। जड़देह-सम्पन्न मनुष्य कभी भी ईश्वरकर्मी हो सकता है, इसे इनकी बुद्धि स्वीकार न कर सकी। फिर भी अरविन्द की योग-साधना के उत्कर्ष, उनके पांडिचेरी आश्रम की सदाचार-पद्धति और भारत के आध्यात्मिक पुनर्जागरण में उनके महान् योगदान के प्रति इनके हृदय में बड़ी श्रद्धा थी। इन्होंने अपने कई स्वजनों एवं सहचरों को पांडेचेरी आश्रम जाने की प्रेरणा दी।

अग्निवर्षी समाचार पत्र

राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने में कलकत्ता के बंगला, हिन्दी और अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं ने घृताहुति का काम किया। समकालीन बंगला पत्रों में तीन बड़े ही प्रभावशाली थे—'वंदेमातरम्', 'युगांतर' और 'संध्या'। 'वन्देमातरम्' के संपादक-मंडल में प्रमुख थे अरविन्द घोष, 'संध्या' के ब्रह्मबान्धव उपाध्याय और 'युगान्तर' के भूपेन्द्रनाथ दत्त। इन पत्रों ने शासन द्वारा अपनायी गयी दमन-नीति की खुलकर आलोचना की। बंगाल सरकार ने प्रतिक्रिया में अभियोग चलाकर इनका मुँह बंद करने की योजना बनायी। पहला प्रहार राष्ट्रवादी 'वंदेमातरम्' पर हुआ। सं० १९६७ में राजद्रोह का मुकदमा कायम करके अरविन्द घोष को जेल में डाल दिया गया। किन्तु उक्त पत्र के संपादक रूप में उनका अस्तित्व प्रमाणित न हो सकने के कारण कुछ ही दिनों बाद सरकार को उन्हें छोड़ देना पड़ा। इसके बाद 'युगान्तर' की बारी आयी। इसके संपादक श्रीभूपेन्द्रनाथ दत्त स्वामी विवेकानन्द के भाई थे और बड़े ही उग्र विचारों के व्यक्ति थे। उनकी प्रेरणा से इस पत्र में सर गुरुदास बनर्जी, सर चंद्रमाधव घोष एवं उच्च पदस्थ सरकारी कर्मचारियों के छद्मनाम से उत्तेजक लेख प्रकाशित होते रहते थे। इस पत्र की आग्नेय भाषा से नवयुवकों को विदेशी शासन और उसके कर्णधारों को समाप्त करने के लिए आत्माहुति की प्रेरणा मिलती थी।[1] उसका संदेश था—

ज्वलुक् ज्वलुक् विप्लव वह्नि नगरे नगरे।
भस्म होक् राक्षसेर स्वर्ण लंकापुरी॥

'विप्लवाग्नि नगर-नगर में प्रज्वलित हो। राक्षसराज रावण (अंग्रेजी सरकार) की स्वर्णपुरी (लंका) भस्म हो।'

'देशात्मबोध का नाम देशभक्ति है'। यह व्याख्या इन्हें अत्यन्त उपयुक्त एवं प्रिय लगी। इनकी देशभक्ति का स्वरूप-निर्माण इसी आदर्श पर हुआ। इस दिशा में बंकिम बाबू के 'आनंद मठ' से भी उन्हें पर्याप्त प्रेरणा मिली।

१. पोद्दारजी ने एक बार कहा था, 'मुझे बंगला का 'युगांतर' पत्र पढ़ने की बड़ी रुचि थी। उसकी भाषा अग्निमयी थी। भाषा में भी आग होती है—यह 'युगांतर' को पढ़ने से पता चलता था। पढ़ते-पढ़ते शरीर में, हृदय में, ज्वाला भभक उठती थी। 'युगांतर' ने रक्तरंजित क्रांति का संदेश दिया।'

सरकार इसके विप्लवी स्वर से संत्रस्त हो उठी। राजद्रोह-पूर्ण सामग्री प्रकाशित करने के अभियोग में प्रेस-विधान के अंतर्गत सर्वप्रथम इसके मुद्रक गिरफ्तार हुए। किन्तु एक के कैद होने पर दूसरे नियुक्त होते रहे। इसलिए समाचार पत्र का निकलना बंद नहीं हुआ। इससे सरकार ने क्रुद्ध हो उसके संपादक भूपेन्द्रनाथ दत्त को भी कारागार में डाल दिया, जिससे कुछ दिनों के लिए उसका प्रकाशन स्थगित हो गया। किन्तु उत्साही आतंकवादियों के प्रयास से पुनर्जीवित हो वह गुप्त रूप से निकलने लगा। पत्र का स्वर अधिक उग्र हो गया। वैधानिक तथा प्रकट रूप में इसकी प्रकाशित प्रति पैसे से प्राप्त होती थी, किन्तु अब अवैधानिक घोषित हो जाने पर प्रच्छन्न रूप में प्रकाशित उनकी दुर्लभ प्रति का मूल्य घोषित हुआ—

'फिरंगीर काटा मुंड'

(अंग्रेज का कटा हुआ सिर !)

मुकदमा चलने पर भूपेन्द्रनाथ दत्त को एक वर्ष का सपरिश्रम कारावास मिला, फिर भी उनका बलिदानी 'रक्तबीज' निःशेष नहीं हुआ। वह प्रचंडतर स्वर में क्रांति का बिगुल बजाता रहा, आग उगलता रहा और मातृभूमि की वेदी पर सर्वस्व बलिदान की प्रेरणा देता रहा।

धधकती ज्वाला में

अंततोगत्वा बंगाल के विप्लववादियों का घनिष्ट संपर्क हनुमानप्रसाद को क्रांति की धधकती ज्वाला में खींच ही ले गया। यतीन्द्रनाथ दास की प्रेरणा से ये 'स्वदेश बांधव समिति' के सदस्य बन गये। इस संस्था के बाह्य और आंतरिक रूप में दिन-रात का अंतर था। यह बाहर से सुधारवादी थी और भीतर से घोर संहारवादी। इसके सदस्यों को गीता हाथ में लेकर प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और निःस्वार्थ भाव से देश के लिए प्राणत्याग करने का व्रत लेना पड़ता था। ईश्वर में पूर्ण विश्वास के साथ देश-सेवा के द्वारा ईश्वर-सेवा का पाठ पढ़ाया जाता था। नास्तिकता का संकल्प ही नहीं था। गीतोक्त निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी जाती थी। इसमें कार्य करते हुए पोद्दारजी ढाका की क्रांतिकारी संस्था 'अनुशीलन समिति' के कुलीन बिहारी बोस, अमियनाथ भट्टाचार्य, रासबिहारी बोस, बिपिनचन्द्र गांगुली तथा वैद्यनाथदास जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेताओं के संपर्क में आते रहे।

दमनचक्र का तांडव

अंग्रेजी सरकार बंगाली आतंकवादियों से त्रस्त हो गयी। अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा एवं अस्तित्व-रक्षा के लिए उसे पशुशक्ति के नृशंसतापूर्ण प्रयोग एवं प्रदर्शन का आश्रय लेना पड़ा। उसने सन् १८१८ ई० के रेगुलेशन के अनुसार कलकत्ता के नौ प्रमुख क्रांतिकारियों को दिसम्बर १९०८ में 'देश निकाला' का दंड दिया। इनमें

मुख्य थे—कृष्णकुमार मित्र, अश्विनीकुमार दत्त, सतीशचन्द्र चटर्जी, शचीन्द्र बोस, मनोरंजनचन्द्र गोप, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती तथा सुबोधकुमार मलिक। क्रांतिकारी समिति के सक्रिय सदस्य होने से इन देशभक्तों के विरुद्ध चलाये गये मुकदमों की पैरवी में हनुमानप्रसाद ने भी काफी दौड़धूप की।

मानिकतल्ला बमकेस

यह मुकदमा चल ही रहा था कि मानिकतल्ला का प्रसिद्ध बमकांड हुआ। विप्लववादियों की योजना कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड को बम से उड़ा देने की थी, किन्तु निशाना चूक जाने से दो निरीह व्यक्तियों की हत्या हो गयी। यह घटना ३० अप्रैल, १९०८ ई० को घटी। इसमें श्री अरविंद, खुदीराम बोस, वारीन्द्र घोष, प्रफुल्ल चक्रवर्ती, नरेन्द्र गोस्वामी तथा कनाईलाल दत्त सहित ३६ अभियुक्तों के विरुद्ध २०६ गवाह, ४००० लिखित प्रमाण, और ५००० प्रदर्श वस्तुएँ प्रस्तुत की गयी थीं। क्रान्तिकारी समिति को इसकी भी पैरवी में हनुमानप्रसाद की सेवाएँ प्राप्त हुईं।

दुर्भाग्य से अभियुक्तों में से नरेन्द्र गोस्वामी नामक युवक भेदिया बन गया। वह जमींदार का लड़का था, जेल की यातनाओं से परेशान होकर पुलिस के हाथों बिक गया। समिति का नियम था कि जो भी सदस्य उसके हितों के विरुद्ध कार्य करेगा, उसका वध कर दिया जायगा। अतः नरेन्द्र की हत्या की योजना बन गयी। सरकारको कदाचित् इसका पता लग गया था, इसलिए नरेन्द्र गोस्वामी सुरक्षित वार्ड में स्थानांतरित कर दिया गया। किन्तु क्रांतिकारी अपनी योजना कार्यान्वित करने में लगे रहे। निश्चय हुआ कि नरेन्द्र का सहअभियुक्त कनाईलाल दत्त जेल में ही उसका वध करे। इसका पहले से संकेत पाकर कनाईलाल दत्त जेल के अस्पताल में बीमारी के बहाने भरती हो गया। उसने जेलर को बुलवा कर कहा—'मैं भी मुखबिर होना चाहता हूँ'। जेलर ने पुलिस अधीक्षक की राय ली। वहाँ से स्वीकृति आ गयी। कुछ दिन बाद कनाईलाल ने नरेन्द्र से मिलने की इच्छा व्यक्त की। कनाईलाल के पास उसी समय बाहर से एक कटहल आया। उसके भीतर ६ गोली भरी एक पिस्तौल थी। उसने उसे अपने कपड़े में छिपा लिया। सिपाही उसे नरेन्द्र गोस्वामी से मिलाने ले गये। कनाईलाल ने पहुँचते ही नरेन्द्र पर गोली चला दी। निशाना ठीक बैठ गया। नरेन्द्र वहीं ढेर हो गया। इसके बाद पिस्तौल सिपाहियों को देकर कनाईलाल दत्त ने स्वयं को गिरफ्तार करा लिया। मुकदमा चला। कनाईलाल ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसे फाँसी की सजा मिली, किन्तु इससे उसके चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं आयी, प्रत्युत् उद्देश्य की सफलता से चेहरा खिल उठा। निर्णय सुनाने के समय से लेकर फाँसी के दिन तक कनाईलाल का वजन २० पौंड बढ़ गया!

फाँसी के बाद कनाईलाल दत्त का शव जब अलीपुर जेल से बाहर निकाल कर उनके कुटुम्बियों को सौंपा जाने लगा तो फाटक पर एकत्र अपार जनसमूह ने अजस्र

अश्रु-प्रवाह के साथ जयजयकार करते हुए उसका अभिनन्दन किया। जेल से लेकर श्मशान घाट तक सड़क की दोनों पटरियों पर खड़े लाखों नर-नारियों ने अर्थी पर पुष्प-मालाएँ अर्पित कीं। अंत्येष्टि हो जाने पर शवयात्रा में सम्मिलित लोगों ने एक एक चुटकी भस्मावशेष लेकर तिलक लगाया।[1]

अरविन्द की अंतर्धान लीला

इसके बाद एड़ी चोटी का पसीना एक कर देने पर भी अरविंद के विरुद्ध अभियोग साबित न हो सका। अतः विवश होकर सरकार को उन्हें छोड़ देना पड़ा। किन्तु इनकी गतिविधि पर उसकी कड़ी नजर बनी रही। वह इन्हें किसी मुकदमे में फिर फँसाकर जेल में ठूंसने की फिक्र में थी। अरविंद से यह बात छिपी नहीं थी। उनकी आंतरिक वृत्तियों में भी अलक्षित रूप से परिवर्तन संघटित हो रहा था। निदान अंग्रेजी सरकार के ही मायाजाल से नहीं, भवजाल से भी मुक्ति पाने का उन्होंने संकल्प कर लिया और एक दिन सहसा अंतर्धान हो गये। यह घटना सन् १९१० की है। इस रहस्यपूर्ण योजना का पता श्रीअरविंद के मौसेरे भाई सुकुमार मित्र (श्रीकृष्ण कुमार मित्र के पुत्र) आदि कतिपय अन्तरंग सदस्यों के अतिरिक्त हनुमानप्रसाद को भी था।

देशबन्धु की दानशीलता

श्री चित्तरंजनदास[2] की उदारता के सम्बन्ध में हनुमानप्रसाद लोगों के मुख से

---

१. इसी मुकदमे में खुदीराम बोस को भी फाँसी मिली थी।

२. देशबन्धु चित्तरंजनदास का जन्म कलकत्ते में सं० १९२७ वि०, कार्तिक शुक्ल १२ को हुआ था। इनके पिता का नाम भुवनमोहन दास तथा माता का नाम निस्तारिणी देवी था। श्रीभुवनमोहन दास ब्राह्म (ब्रह्म समाज में दीक्षित) हो गये थे। इससे उनमें विदेशी आचार-विचार आ गये थे। परंतु वे बड़े ही सदाशय, उदार, कर्त्तव्यनिष्ठ, आडम्बरहीन तथा स्वजनवत्सल पुरुष थे। इसी प्रकार निस्तारिणी देवी भी अत्यन्त उदारहृदया थीं। वे पति के ब्राह्म धर्म का अनुसरण नहीं करती थीं। खान-पान, तथा आचार-विचार में पति से मेल न खाने पर भी वे अत्यंत पतिभक्ता थीं।

चित्तरंजन दास बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सिविल सर्विस की परीक्षा देने इंग्लैण्ड गये, परंतु वे उसमें अनुत्तीर्ण हो गये। इसके बाद उन्होंने बैरिस्टरी पास करने के लिए 'ग्रेस इन' में प्रवेश लिया और उसमें उत्तीर्ण होकर भारत लौटे। उन्होंने १८९३ ई० में कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत आरंभ की। प्रसिद्ध अलीपुर बमकेस में, जिसमें श्रीअरविंद अभियुक्त थे, चित्तरंजन दास की प्रतिभा का विशेष प्रकाश हुआ। अरविंद बेदाग छूट गये। चित्तरंजनदास की कीर्ति चारों ओर फैल गयी। प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता विपिनचन्द्र पाल तथा कलकत्ते की प्रख्यात दैनिक पत्रिका 'संध्या' के सम्पादक तेजस्वी वृद्ध ब्रह्मबांधव उपाध्याय आदि के मुकदमे में भी उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त की।

चित्तरंजनदास का साहित्यिक और राजनीतिक जीवन गौरवपूर्ण था। उनकी प्रतिभा, तेजस्विता, मननशीलता, दृढ़ वाग्मिता, त्यागप्रियता आदि का इन दोनों क्षेत्रों

भाँति भाँति के किस्से सुना करते थे। क्रांतिकारियों के मुकदमों की पैरवी के सिलसिले में इन्हें उनके आचार-व्यवहार को अत्यंत निकट से देखने-परखने का सुयोग मिला। उनके व्यक्तित्व में इन्हें दैवी संपत्ति के अक्षयकोष का दर्शन हुआ। अगाध विद्वत्ता के साथ ही करुणा और अपरिग्रह उनके हृदय की सहज वृत्ति थी। उनके द्वार पर अर्थार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। दीन विद्यार्थी, धनाभाव से चिकित्सा कराने में असमर्थ रोगी, पुत्री का विवाह एवं मृतपिता का शवदाह करने में विवश निर्धन पुत्र, कंकालशेष क्षुधार्त किसान, वृत्तिहीन मजदूर आदि विविध रूपों में अभावग्रस्त मानवता को यथाशक्ति तृप्त करना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। हनुमानप्रसाद ने साथ रहकर देखा कि सुबह से शाम तक वे जितना कमाते हैं, वह सभी अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों के साथ ही विलीन हो जाता है। दो हाथों से धनसंग्रह करते हैं और उसे हजार हाथों से हजार हाथों में पहुँचा देते हैं। मनीआर्डर के फार्म मुन्शी के पास पहले से ही भरे हुए रखे रहते हैं; रुपया आते ही वे डाकघर को सौंप दिये जाते हैं। डुमराँव राज्य का मुकदमा जीतने से उन्हें एक दिन में एक लाख रुपये मेहनताना के रूप में मिले थे। घर पहुँचते पहुँचते हाथ खाली हो गया। देशबंधु के दान की विशेषता थी, उसकी रहस्यमयता। उनका सारा दान गुपचुप होता था। जैसे, यदि उन्हें पता लग जाता कि अमुक गृहस्थ अभावग्रस्त है, तो उससे अपरिचित किसी दूसरे आदमी के हाथ रुपये यह कहलाकर भेजते थे कि

में बड़ा ही अद्भुत विकास हुआ था। लाखों रुपये की आयपर लात मारकर इन्होंने असहयोग यज्ञ में सहर्ष आत्महुति दे दी थी। ये बड़े दानवीर भी थे। इनका विशाल हृदय श्रान्त-क्लान्त पथिकों को आश्रय देने वाले परोपकार-परायण वृक्ष की भाँति दूसरों के लिए सदा ही प्रस्तुत रहता था। जिस समय ये स्वयं अर्थकष्ट में थे, उस समय भी दीनों, दुःखियों और अभावग्रस्तों के आश्रय थे। असहयोग आन्दोलन में पड़ जाने के कारण इन्हें अर्थ की सुविधा नहीं रही, वरन आगे चलकर इन्हें अर्थकष्ट भी हो गया था; परन्तु उस समय भी वे जैसे-तैसे सेवा करने से नहीं चूकते थे। मृत्यु के कुछ ही दिनों पूर्व इन्होंने अपनी अंगूठी बेचकर एक कन्या की विधवा माता को कन्या के विवाह के लिए छः सौ रुपये दिये थे। यहाँ तक कि मृत्यु से पूर्व अपने रहने का मकान भी एक वसीयतनामा बनाकर दान कर दिया था। इस प्रकार ये तन-मन, धन, परिजन, प्रतिष्ठा, घर-द्वार सभी कुछ भगवान के अर्पण करके सच्चे फकीर बन गये थे।

देशबंधु चित्तरंजन को पिता से ब्राह्मधर्म की शिक्षा मिली थी। यौवन काल में ये ईश्वर में अविश्वास करने लगे थे। इनके 'मालंच' और 'माला' नामक काव्य से इसका स्पष्ट पता लगता है। परंतु धीरे-धीरे इनकी चित्तधारा का प्रवाह बदलता गया। इनके 'अन्तर्यामी' और 'किशोर किशोरी' में शुद्ध भक्ति-भाव की परिणति और परिपुष्टि हो गयी। अन्तिम जीवन में तो ये परम वैष्णव हो गये थे।

सन् १९२४ की १६ जून, मंगलवार को दार्जिलिंग में इस महामानव ने परमधाम की यात्रा की।

(कल्याण, वर्ष २६, अंक १, पृष्ठ सं० ६८९)

'तुमने अमुक जगह काम किया था, उसका रुपया बाकी रह गया था, यह ले लो।' कभी किसी की नितांत आवश्यकता का समाचार पाकर उसे अपने आदमियों के द्वारा घर बुलाते और कहते—'देखो, हमारा काम है। तुम उस स्थान पर जाकर कर आओ। ये रुपये लो। हिसाब फिर पीछे दे देना।' यदि उस काम में खर्च होता था पाँच रुपये तो १५ रुपये अग्रिम दे देते थे। लौटने पर जब वह शेष रुपये देने लगता तो उसे वापस करते हुए कहते—'हम फालतू बैठे हैं क्या, कि तुमसे हिसाब लें। जाओ, घर जाओ, हिसाब लेना होगा, तब हम तुम्हारे पास कहला देंगे।' इससे वह समझ जाता और प्रसन्नवदन लौट जाता।

एक बार की बात है। गांधीजी देशबन्धु से मिलने उनके घर आये। पोद्दारजी भी वहाँ मौजूद थे। उसी समय कई लोग आ गये। दास बाबू ने उन्हें सन्तुष्ट कर विदा किया। गांधीजी ने इसके पूर्व उनकी दानशीलता के कई किस्से सुन रखे थे। उन्होंने देशबन्धु से कहा—'दास बाबू! आपका धन तो रुपये में बारह आने लोग ठग ले जाते हैं।'

दास बाबू ने उत्तर दिया—'बापू, मेरी जगह आप होते तो जरूर यही बात होती, पर मेरा तो एक-एक पैसा भगवान की सेवा में लगता है। मैं तो उन्हें भगवान समझकर देता हूँ। भगवान की चीज को भगवान के हाथों में अर्पित करता हूँ।' गांधीजी चुप हो गये।

इसी प्रकार राजनीति में भी देशबन्धु अत्यंत सत्यनिष्ठ, स्पष्टवक्ता और सिद्धान्तवादी थे। जो सिद्धान्त मान लेते थे, उसपर पूरा-पूरा अमल करते थे। गांधीजी की भी जो बात उनको ठीक नहीं जँचती, स्पष्ट कह देते थे।

वे कभी अपने दाता रूप को प्रकट नहीं होने देते थे। दान का मान न चाहना ईश्वरीय गुण है। यह इनके स्वभाव में कूट-कूट कर भरा हुआ था। कलकत्ता छोड़ने के बाद इनसे पोद्दारजी की भेंट नागपुर-कांग्रेस-अधिवेशन में हुई थी। पीछे भी उनके जीवनकाल में जब कभी पोद्दारजी कलकत्ता गये, उनसे बराबर मिलते रहे। हनुमानप्रसाद पर उनकी अमानी वृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ा। देशबन्धु के संसर्ग से दानशीलता में भी इनकी आस्था दृढ़ ही नहीं हुई, दान देने की अहंता का परिहार और गृहीता को भगवत्स्वरूप मानने की दृष्टि भी मिल गयी।

पारिवारिक आपत्ति

इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह में पोद्दारजी की जीवन-नौका वेग से बह रही थी कि घरेलू आपत्तियों के जलावर्त में फँसकर उसकी प्रगति अवरुद्ध होने का उपक्रम हो गया। द्वितीय पत्नी सुवटी बाई से माघ कृष्ण १२, सं० १९७३ को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। दो दिन की आयु भोगकर वह परलोक सिधारा। इसके छः दिन बाद माघ शुक्ल ४, सं० १९७३ को प्रसूति ज्वर से सुवटी बाई भी उसकी अनुगामिनी हुई।

आर्त्त-सेवा की शिक्षा

पोद्दारजी के पिता श्रीभीमराज के मित्रों में शरत्‌चन्द्र बनर्जी नाम के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे। ये कालीघाट में रहते थे। भीमराजजी के देहावसान के बाद भी इनके यहाँ बराबर आते-जाते रहते थे। हनुमानप्रसाद पर इनका बहुत स्नेह था। वे होमियोपैथी जानते थे। इसके अतिरिक्त तन्त्र-मन्त्र में भी विश्वास रखते थे। उनके पास अभिमन्त्रित जड़ी-बूटियाँ रहती थीं। रोग-निवारण के लिए वे उनका भी प्रयोग करते थे। वे विदेशों से दवा मँगाकर शीशियों में भरकर रखते थे। इन दवाओं के प्रकृत नाम को बदलकर वे अपनी पद्धति से एक्स, वाई, जेड—ऐसे विचित्र नाम रखते थे। उदाहरणार्थ, टाइफाइड में वे एम० एन० दवा देते थे। प्रत्येक रोगी को वे जड़ी के साथ दवा की पूरी शीशी दे देते थे। किसी से कुछ लेते नहीं थे।

उनके बैठक-खाने में प्रातः रोगियों की अपार भीड़ लग जाती थी। कलकत्ते के बड़े-बड़े सेठ-साहूकार, वकील, बैरिस्टर, मध्यम और निम्नवर्ग के लोग जब चारों ओर से निराश हो जाते तो शरत्‌बाबू की शरण में आकर त्राण पाते थे। ऐसे असाध्य रोगियों को देखने की, जो उनके पास नहीं आ सकते थे, उनकी अनोखी पद्धति थी। प्रातः ही उनके सम्बन्धी शरत्‌बाबू के पास जाकर रोगी का नाम, पता और यथासंभव रोग का विवरण लिखा जाते थे। दवाखाने से छुट्टी पाने पर वे अपना बैग हाथ में लेते। फिर स्वयं ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उनके घर पहुँचते। दवा देकर बिना एक पैसा लिये—यहाँ तक कि सवारी का किराया भी नहीं—अपने घर लौट आते। रोगियों को वे उपदेश देते थे—'भगवान पर विश्वास रखो, भगवान की निष्ठा से सब-कुछ हो सकता है।' हनुमानप्रसाद ने उनकी चिकित्सा के कई चमत्कार देखे—

एक दिन उनके पास एक व्यक्ति आया। उसकी स्त्री विषम प्रसव-पीड़ा से व्याकुल थी—बच्चा न होने से बड़ी तकलीफ में थी। उन्होंने एक यन्त्र निकाला और उसे देते हुए कहा—'इसे स्त्री के हाथ में बाँध देना, बाँधते ही बच्चा हो जायगा। किन्तु इसके बाद यन्त्र को अविलम्ब खोल लेना, नहीं तो आँत तक नीचे आ जायगी।' आगन्तुक व्यक्ति ने वैसा ही किया। पीड़ारहित प्रसव हुआ। स्त्री और बच्चा दोनों स्वस्थ रहे।

इसी प्रकार एक बार शरत् बाबू ने पोद्दारजी की मरणासन्न छोटी बहन पूर्णी बाई की प्राण रक्षा कर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। पूर्णीबाई उस समय चार वर्ष की थी। असामान्य रोग से त्रस्त होकर मृत्यु की गोद में खेलने लगी। हालत नाजुक देखकर रात में नगर के सबसे प्रसिद्ध डाक्टर सर कैलाशचन्द्र बुलाये गये। उन्होंने देखकर कहा—'यह नहीं बचेगी'। वह बेहोश थी, जबान बंद थी। अंतिम समय निकट जानकर कफन मँगा लिया गया। इतने में दादी रामकौर देवी को सहसा शरत् बाबू की याद आ गयी। हनुमानप्रसाद से कहा—'जरा शरत् बाबू के यहाँ हो आओ।

ईश्वर के हाथ बहुत लम्बे होते हैं।' ये ट्राम पर चढ़कर शरत बाबू के घर गये और बहन की गंभीर बीमारी का विवरण बताया। शरत् बाबू बोले, 'ऐसी बात है !' इसके बाद भीतर गये और हाथ में पूजाघर से तुलसी की एक पत्ती लेकर लौटे। उसे इनके हाथों में देते हुए बोले—'इस पत्ती को गंगाजल में पीसकर दो-चार बूंद बच्ची के मुँह में डाल देना। काम कर जाय तो अच्छा; नहीं तो कोई बात नहीं। अगर आज रात भर बच जाय तो कल प्रातः फिर आना।' ये उस पत्ती को लेकर घर आये और निर्देशानुसार पीसकर बहन को पिला दी। रात सकुशल बीत गयी। प्रातः उसने आँखें खोल दीं और बोलने लगी। सबेरे शरत् बाबू के पास जाकर इन्होंने सारी बात बतायी। इसके बाद ये रोज जाते और एक पत्ती ले आते। शरत् बाबू कहते,—'यह ठाकुरजी का प्रसाद है, सब-कुछ कर सकता है।' एक महीने में बालिका पूर्णरूप से स्वस्थ हो गयी। केवल एक कसर रह गयी,—विषम ज्वर के प्रभाव से उसका सुनना कम हो गया। यह दोष अब तक बना है। मात्र तुलसी की एक सूखी पत्ती ने यम देवता के दूत लौटा दिये। हनुमानप्रसाद को शरत् बाबू ने चिकित्सा के इन चमत्कारों—जड़ी-बूटी के विविध प्रयोगों के रहस्य बताने की बात कही थी, किन्तु इसके पूर्व कि वे अपनी यह थाती इन्हें सौंप सकें, 'रोडाकांड' में इनकी गिरफ्तारी का वारंट आ गया और अलीपुर जेल में इनके बंदी-जीवन व्यतीत करते समय ही वे दिवंगत हो गये।

शरत् बाबू बड़े तेजस्वी और हँसमुख स्वभाव के थे। जिस समय हनुमान-प्रसाद उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये, उनकी आयु साठ वर्ष के लगभग थी, फिर भी उनके शरीर में युवकों जैसी चुस्ती थी। इनके संसर्ग से इन्हें कई शिक्षाएँ मिलीं—परोपकार करना, सेवा करना, उसके बदले में कुछ चाहना नहीं, लेना नहीं; अपना काम अपने ही हाथों करना; भगवान् की कृपा पर अखंड विश्वास रखना। पोद्दारजी को अपने जीवनादर्श के निर्माण में इनसे प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त हुई।

विप्लववादियों की कार्य-प्रणाली

क्रांति की मशाल जलाये रखने के लिए पैसे की जरूरत थी। विप्लववादियों को चंदा देने में पुलिस के कोपभाजन बनने का भय था। इससे सामान्यतया लोग उन्हें चंदा नहीं देते थे। जो सहानुभूति रखते थे, वे ही सहायता करते थे, वह भी छिपकर। हथियारों के खरीदने और कार्यकर्ताओं की जीवन-रक्षा के लिए धन-संग्रह अनिवार्य था। इसलिए और कोई चारा न देखकर इन्हें अवांछनीय पद्धति अपनाने के लिए विवश होना पड़ा और यह पद्धति वही थी, जिसे अभावग्रस्त अनादि काल से अपनाकर 'साहसिक' की उपाधि पाते रहे हैं।

ये लोग डाका डालने लगे। आयु कम और शरीर कृश होने के कारण यद्यपि हनुमानप्रसाद समिति की इस योजना में प्रत्यक्ष रूप से सहायक नहीं हुए, किन्तु उसके

मनसा समर्थक बने रहे। डाका डालने में भी ये लोग अपने समक्ष एक महान् आदर्श रखते थे। जिस घर में बहुत पैसा हो, डाका वहीं पड़ता था। युवक पिस्तौल-कटारी आदि अस्त्रों से लैस होकर जाते। घर के भीतर पहुँचकर बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को दादी, माँ आदि कहकर प्रणाम करते और अपना उद्देश्य बताते हुए कहते—'देश के लिए पैसे की जरूरत है। देश की सेवा के लिए हम आप के पास आये हैं। देश के लिए हम आप के धन की भिक्षा माँगते हैं। आप का धन देश के काम में लगेगा।' यही बात पुरुषों से भी कहते। यदि वे लोग बिना कुछ कहे-सुने दे देते तो जितना दे देते, उतने में ही संतोष कर के चले जाते। आनाकानी करने पर पिस्तौल दिखाकर चाभी ले लेते और धन निकालकर चले जाते। पर यह मजाल नहीं कि इस धन में से एक पैसे का पान भी स्वयं खाते हों। जो भी धन आता, उसका पैसा-पैसा देश के काम में खर्च होता।

मातृभूमि की गौरवरक्षा के लिए आत्माहुति करने वाले इन विप्लववादियों को इस देश-सेवा का क्या पुरस्कार मिलता? घरवालों की फटकार, देश-निकाला, समाज में तिरस्कार, पुलिस के कोड़े, बिजली के शॉक, जेल की असंख्य अकल्पनीय यातनाएँ और अंत में फाँसी का तख्ता। किन्तु इन सबको हँसते-हँसते झेलते हुए वे राष्ट्र-सेवा में तल्लीन रहते। मातृभूमि का बंधन काटने में प्राप्त हुई मत्यु की गोद उन्हें हिमानी-सी शीतल और असह्य शारीरिक यंत्रणा पुष्प-शैय्या-सी सुखस्पर्श-पूर्ण लगती। हनुमान-प्रसाद इसके अपवाद न थे। सोचते रहते—

'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो'

कारावास और मृत्युदंड की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा होने लगी!

राजद्रोहियों की सूची में

क्रांतिकारियों से घनिष्ठ संपर्क, उनके मुकदमों की सरेआम पैरवी तथा गुप्त समितियों में सक्रिय भाग लेते रहने से हनुमानप्रसाद का नाम पुलिस की डायरी में आ गया और इनकी गतिविधियों का सतकर्ता से निरीक्षण होने लगा।

बहुत दिनों से आकाश में घुमड़ते हुए बादल एक दिन बरस कर ही रहे। सं० १९७१ में पुलिस का दल आ धमका। पूरे घर की तलाशी हुई, किन्तु कोई आपत्तिजनक सामग्री न मिलने से वह हाथ मलता हुआ लौट गया। इसके बावजूद कोई षड्यंत्र बनाकर पुलिस इनका चालान कर देती यदि इनके ससुर श्रीमुँगतूराम सरावगी बीच में न आ जाते। उनकी पुलिस के उच्च अधिकारियों से जान-पहचान थी। मिलकर मामला शांत कर दिया। किन्तु यह उपचार मात्र तात्कालिक तथा सतही था। रोग ज्यों-का त्यों बना रहा। पुलिस उपयुक्त अवसर की ताक में बैठी रही। इधर भी बिना किसी प्रकार के भय एवं संकोच का अनुभव किये कार्यक्रम योजना-बद्ध रूप से चलते रहे।

तृतीय विवाह

द्वितीय पत्नी के दिवगंत होने के बाद हनुमानप्रसाद को राजनीति और समाज-सेवा में अहर्निश व्यस्त रहते देखकर दादी रामकौर देवी ने उन्हें एकबार फिर गृहस्थी की ओर खींचने के विचार से घर बसाने की सलाह दी। दादी की किसी बात से इनकार करना इनके शील-स्वभाव के विरुद्ध था। अतः इन्होंने उस प्रस्ताव का न तो विरोध किया न समर्थन ही। रामकौर देवी ने सेठ सीताराम सांगानेरिया की पुत्री रामदेई बाई से विवाह की बात पक्की कर ली। सांगानेरियाजी गोहाटी में रहते थे। वहीं बारात गयी और वैशाख शुक्ल ३, सं० १९७३ को विवाह संपन्न हो गया।

रोड़ा कांड

मानिक तल्ला बम-अभियोग के लगभग छः वर्ष बाद सन् १९१४ ई० में क्रांतिवादी आंदोलन की दूसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। यह 'रोड़ाकांड' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका संक्षिप्त वृत्त इस प्रकार है—

कलकत्ता में 'आर० बी० रोड़ा एण्ड कम्पनी' नाम की एक फर्म थी। बंगाल में विदेशों से आग्नेयास्त्र आयातित करने वाली यह सर्वप्रमुख संस्था थी। २६ अगस्त-१९१४ ई० को इसने जर्मनी से ५०,००० कारतूस और ५० पिस्तौलों का पार्सल प्राप्त किया। ये १० पेटियों में बंद थे। आतंकवादियों की गुप्त समिति को इसका पता चल गया। हनुमानप्रसाद इससे सम्बद्ध थे। रोड़ा कंपनी में विदेश से आये माल को छुड़ाकर लाने वाले कर्मचारी श्रीशचन्द्र भी इस समिति के सदस्य थे। उन्होंने बंदरगाह पर जाकर माल छुड़ाया और बैलगाड़ी पर लदवाकर साथ चले। पूर्वयोजनानुसार रास्ते में बैलगाड़ी, गाड़ीवान तथा माल छुड़ाकर साथ आनेवाले रोड़ा कंपनी का कर्मचारी श्रीशचन्द्र भी लुप्त हो गये। कंपनी के दफ्तर में समय से माल न पहुँचने पर तहलका मच गया। इसमें क्रांतिकारियों की साजिश की गंध पाकर पुलिस सरगर्मी से जाँच-पड़ताल करने लगी।

पेटियों में रखें ५० पिस्तौलें तो उसी रात को गुप्त समिति के बंगाली सदस्यों में बाँट दी गयीं, किन्तु कारतूसों की पेटियाँ छिपाने में सदस्यों को बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा। इस कार्य में हनुमानप्रसाद के जमादार सुखलाल[1] ने बड़ी तत्परता एवं सतर्कता दिखायी। समिति के सदस्यों के अतिरिक्त पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर का भी कारतूसों को सुरक्षित स्थानों में रखवाने में हाथ था। कारतूसों की पेटियाँ निम्नांकित स्थानों पर रखी गयीं—१३४, हरिसन रोड, शिवठाकुर की गली, नाई

---

१. यह नारायणदास खेरा, जिला उन्नाव का निवासी था। पहले इसके दो मामा पोद्दारजी के यहाँ काम करते थे। उसी सम्बन्ध से आया था। पोद्दार परिवार का यह अत्यंत विश्वस्त एवं साहसी सेवक था।

टोला, कन्नूलाल लेन, चितपुर रोड पर स्थित बनारसीप्रसाद झुनझुनवाला की गद्दी, सूतापट्टी तथा कुछ अन्य सदस्यों के घरों में। नाईटोला वाले मकान और कन्नूलाल लेन के मकान में कारतूसों को उतरवाने और रखवाने का काम हनुमानप्रसाद के विश्वस्त और साहसी जमादार ने किया था। उसी की सहायता से कुछ माल चन्दन-नगर भी भेजा गया था। कारतूसों के दो ट्रंक बनारसीप्रसाद की गद्दी में चितपुर रोड में आये। वहाँ से उन दोनों पेटियों को टोकरी में बनारसीप्रसाद ने ओंकारमल सराफ के मकान सूतापट्टी में पहुँचा दिया। वहाँ से दूसरे खेवे में पेटियाँ हनुमानप्रसाद की दूकान पर आयीं। यह सारा प्रबंध रात को ७ से ९ बजे के बीच हुआ।

पुलिस बड़ी तत्परता से पता लगाने लगी। धीरे-धीरे रहस्योद्‌घाटन होने लगा। बनारसीप्रसाद जिस झाँके पर माल सूतापट्टी पहुँचा गये थे, वह झांकेवाला पुलिस के हाथ नहीं लगा, किन्तु ओंकारमल के घर से हनुमानप्रसाद की दूकान पर पेटियों को पहुँचाने वाला मजदूर पुलिस से मिल गया। इस सूत्र से पुलिस को ओंकारमल सराफ तथा हनुमानप्रसाद पोद्दार का इस घटना से सम्बद्ध होना ज्ञात हो गया। किन्तु बनारसी प्रसाद और सुखलाल के सम्बन्ध में उसे कुछ भी पता न चल सका।

इसके बाद सं० १९७३ (१९१६ ई०) के मार्च में सी० आई० डी० के एक बंगाली पुलिस इन्स्पेक्टर ने फूलचन्द्र चौधरी से भेंट की और उन्हें बताया कि 'एक बंगाली क्रान्तिकारी युवक ने पुलिस के सामने सारा भेद खोल दिया है, उसमें आप लोगों के नाम हैं।' ये नाम थे—फूलचन्द्र चौधरी, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, ज्वाला-प्रसाद कानोड़िया, घनश्यामदास बिड़ला, ओंकारमल सर्राफ तथा हनुमानप्रसाद पोद्दार। उसने इसी सिलसिले में बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—'यदि हमें दस हजार रुपये मिल जायँ तो सारे कागज-पत्र नष्ट कर दूँगा। आप लोग इस प्रकार एक बहुत बड़ी आफत से छुट्टी पा जायेंगे।' इन्स्पेक्टर के इस प्रस्ताव पर सदस्यों में विचार-विनिमय हुआ, घूस देने की बात ठीक नहीं जँची। इन्स्पेक्टर को इसकी सूचना दे दी गयी।

समिति के सदस्यों में फूलचन्द्र चौधरी सरकार के अधिन्यास कार्यालय के कर्मचारी थे। उनके कार्यालय का सर्वोच्च अधिकारी अंग्रेज था, जो उन्हें बहुत मानता था। वह कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर का बहनोई था। फूलचन्द्र ने अपने साहब से सारा वृत्तान्त बताते हुए पुलिस इन्स्पेक्टर के विरुद्ध जाँच कराने को कहा। इन लोगों ने सोचा था कि इससे मामला दब जायगा, किन्तु परिणाम उल्टा हुआ। पुलिस कमिश्नर टेगर्ट ने जाँच की। उसे सं० १९७१ की फाइल भी उस क्रम में प्राप्त हुई। शिकायत साधार पाकर उसने उक्त पुलिस इन्स्पेक्टर को मुअत्तल कर दिया। परन्तु प्राप्त कागजों से उसकी यह धारणा पुष्ट हो गयी कि इन लोगों का सम्बन्ध इस घटना से अवश्य रहा है। अतः राजद्रोह का अभियोग लगाकर भारतीय दण्ड विधान की धारा १२० के अन्तर्गत सभी के विरुद्ध गिरफ्तारी के वारण्ट जारी करा दिये।

इस काण्ड में लिलुआ की गुप्त समिति के दो सदस्य—प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका और कन्हैयालाल चितलानिया पहले ही पकड़े जा चुके थे।[१] अब फूलचन्द्र चौधरी, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, हनुमानप्रसाद पोद्दार, घनश्यामदास बिड़ला और ओंकारमल सर्राफ की गिरफ्तारी का आदेश निकला। इनमें बिड़लाजी को छोड़कर शेष चारों व्यक्ति कलकत्ता में ही थे।[२] सर कैलाशचन्द्र बोस के प्रयास से उनका वारण्ट रद्द कर दिया गया, अन्यों का बना रहा। हनुमानप्रसाद पोद्दार को इसकी सूचना एक महीने पहले ही फूलचन्द चौधरी से मिल गयी थी, किन्तु पकड़े जाने के भय से न तो ये कहीं अन्यत्र भागकर छिपे और न अपनी क्रांतिचर्या में ही कोई परिवर्तन आने दिया। क्लाइव स्ट्रीट में 'बिड़ला श्राफ ऐण्ड कम्पनी' नाम की एक दूकान थी, उसी में भागीदार के रूप में ये काम करते रहे। एक दिन अकस्मात् वहाँ पुलिस सदलबल आ धमकी। १६ जुलाई, १९१६ ई० (श्रावण कृष्ण ५, सं० १९७३) को अपने दो अन्य साथियों ज्वालाप्रसाद कानोड़िया तथा श्रीशचंद्र चौधरी सहित राजद्रोह के अपराध में बंदी बनाकर ये जेल भेज दिये गये।

कारावास सेवन

डुराण्डा हाउस कारागार

आरंभ में १५ दिन तक इन लोगों को डुराण्डा हाउस में रखा गया। व्यापक रूप से क्रांतिकारियों के पकड़े जाने से उस समय डुराण्डा हाउस पूरी तरह कैदियों से भर गया था। हनुमानप्रसाद, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया और फूलचंद चौधरी, तीन पृथक् कोठरियों में रखे गये। यहाँ की गंदगी तथा दुर्व्यवस्था देखकर इन लोगों ने जेल द्वारा दिया गया भोजन करना अस्वीकार कर दिया। इससे पहले दिन निराहार रहना पड़ा। इनके सद्व्यवहार से प्रसन्न होकर जेलर ने दूसरे ही दिन से एक रुपया प्रति व्यक्ति स्वीकृत करके चौकीदार द्वारा बाहर से भोजन मँगाने की व्यवस्था करा दी। चौकीदार ने इन लोगों से कहा—'आपलोग भोजन घर से मँगा लीजिये, मैं भीतर पहुँचा दूँगा। इससे मुझे एक रुपया मिल जायगा और आपको घर का भोजन। दोनों लाभ में रहेंगे'। इनलोगों ने यह योजना स्वीकार कर ली। हनुमानप्रसाद ने पं० झाबरमल शर्मा को एक पत्र लिखा। वे नियमित रूप से चारों व्यक्तियों का भोजन घर से लाकर पहुँचाने लगे। यह क्रम डुराण्डा हाउस के बंदीकाल तक चलता रहा। गुप्तचर विभाग

---

१. खुदीराम बोस भी इसी कांड के अभियुक्त थे। नरेन्द्र गोस्वामी का जेल में कनाईलाल दत्त द्वारा वध किये जाने पर षड्यंत्ररत समझ कर उन्हें फाँसी दी गयी थी। फाँसी के तख्ते पर चढ़ते समय खुदीराम बोस ने 'जय वंदेमातरम्' का घोष किया था।

२. बिड़लाजी उटकमंड चले गये थे, अतः बैजनाथ केडिया को इन लोगों ने उनके पास भेजकर कहला दिया कि वारण्ट निकल चुका है, वे जैसा उचित समझें, व्यवस्था कर लें।

के अधिकारियों ने इस बीच नाना प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाकर[1] इन्हें अपने सहकर्मी क्रान्तिकारियों के नाम बताने को कहा, किन्तु ये टस-से-मस न हुए। अन्ततोगत्वा भारतीय दण्ड विधान की धारा १२० ए के अन्तर्गत राजद्रोह का अभियोग लगाकर चारों को अलीपुर जेल में स्थानांतरित कर दिया गया।

गिरफ्तारी की प्रक्रिया

प्रतिष्ठित राजनीतिक कार्यकर्ताओं की इस अकस्मात् गिरफ्तारी से महानगरी में सनसनी फैल गयी। स्थानीय पत्रों में अधिकांश सरकार के भय से मौन रहे, किन्तु 'कलकत्ता समाचार' ने यह संवाद विस्तार से छापा। उसने इस बिना कारण गिरफ्तारी पर आश्चर्य प्रकट करते हुए सरकार को विवेक तथा संयम से काम लेने की सलाह दी।[2] बाहर के समाचार-पत्रों में कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' में श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी ने इन लोगों की विचारधारा और कार्यपद्धति का खुलकर समर्थन किया और सरकार को दमन-नीति त्यागने की सलाह दी।

---

१. पुलिस ने इन्हें शारीरिक यातना नहीं दी। केवल यह कह कर धमकाती रही कि फाँसी पर लटका दिये जाओगे, उम्र भर की कैद होगी, घरवाले भूखों मरेंगे। तुम्हारा अभी विवाह हुआ है। पत्नी को पुलिस वाले मारेंगे। बड़ी दुर्दशा होगी, आदि। किन्तु बंगाली तरुणों को बिजली के धक्के दिये गये थे और मारा भी गया था।

२. 'बड़ा बाजार में धर-पकड़ और तलाशी :

कल बृहस्पतिवार को स्थानीय बड़ा बाजार में कई घरों की तलाशी हुई। कितने ही प्रतिष्ठित मारवाड़ी नवयुवकों के गिरफ्तार होने की खबर है। कल सवेरे ही पहले-पहल हेलिडे स्ट्रीट में उस मकान की तलाशी ली गयी, जिसमें घनश्यामदास बिड़ला रहते थे। अब वे उस मकान में नहीं रहते। फिर भी उनके पूर्व निवास स्थान की तलाशी ली गयी। कहते हैं कि पुलिस के पास घनश्यामदास के नाम वारण्ट भी था। इस घर की तलाशी के बाद बाबू फूलचन्दजी को पुलिस अपने साथ ले गयी। इसी समय सूतापट्टी में बाबू ओंकारमल सराफ की तलाशी हुई और उन्हें भी पुलिस अपने साथ ले गयी। यह तलाशी का काम पुलिस ने सवेरे ५ बजे से आरम्भ कर दिया था। खबर मिली है कि पुलिस आठ-नौ सिपाही, एक गोरा सार्जेण्ट, एक इन्स्पेक्टर और कुछ दूसरे कर्मचारी मिलकर मकानों की तलाशियाँ लेते थे।

दोपहर के समय क्लाइव स्ट्रीट में बाबू ज्वालाप्रसाद कानोड़िया और बाबू हनुमानप्रसाद पोद्दार को भी पुलिस ने सदल बल आफिस में जा घेर लिया। उनकी भी तलाशी हुई और उन्हें भी पुलिस अपने साथ ले गयी। इस घटना से बड़ा बाजार में मारवाड़ी समाज में बड़ी हलचल पैदा हो गयी है। कल दिन में सभी जगह इसकी चर्चा होती थी। अभी यह नहीं मालूम हुआ है कि इन चारों नवयुवकों को पुलिस किस अभियोग में ले गयी। जो हो, मारवाड़ी समाज में वह घटना नयी है। हम अनुमान नहीं कर सकते कि ये नवयुवक किस अभियोग में पकड़े जा सकते हैं। सारा समाज भी आश्चर्यचकित हो रहा है। आशा की जाती है कि सरकार जो कुछ करेगी, वह विचारपूर्वक करेगी।'

समाज में आतंक

मारवाड़ी समाज अपने प्रतिष्ठित लोगों की इस व्यापक गिरफ्तारी से संत्रस्त हो गया। लोगों में भय छा गया। समाज के अच्छे-अच्छे लोग, जिनसे इन लोगों का घरेलू सम्बन्ध था, इनके कुटुम्बियों से मिलने में कतराने लगे। जिन लोगों से गहरा सम्बन्ध था, उन लोगों ने चुपके से रामकौर देवी के पास कहला दिया कि हमारे पास आपका कोई आदमी न आवे। मारवाड़ियों की सभाएँ आयोजित हुईं, जिनमें मंच पर खड़े होकर समाज के गणमान्य लोगों ने इन गिरफ्तार होने वाले राजनीतिक कार्यकर्ताओं को 'समाज का कलंक' कहा। हनुमानप्रसाद उनके विशेष कोपभाजन बने। इनके परिवार का बहिष्कार कर दिया गया। आतंक इस सीमा तक फैला कि इनके प्रयास से 'साहित्य संवर्द्धिनी समिति' द्वारा प्रकाशित गीता की शेष सारी प्रतियाँ—जो छिपाकर रखी गयी थीं—उसके मन्त्री ने ही जला दीं।

हनुमानप्रसाद को कारावास में इन सारी बातों की सूचना मिलती रही, किन्तु उन्हें इस पर न कोई आश्चर्य हुआ, न चिन्ता। जीवन का यह कठोर यथार्थ उन्हें अविदित न था कि अन्धकार में छाया भी शरीर का साथ छोड़ देती है।[१]

घर की स्थिति

पिता के दिवंगत होने के अनन्तर सत्संग, समाज-सेवा और राजनीति में अहर्निश व्यस्त रहने के कारण दूकान का काम ढीला पड़ गया था। घाटे पर चलते-चलते उसकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी। कई हजार का ऋण चढ़ गया।[२] इससे विवश हो सं० १९७२ में उसे बन्द कर देना पड़ा। इसके बाद नागरमल अजीतसरिया के साथ इन्होंने जूट का काम करना आरम्भ किया। किन्तु यह काम भी लाभप्रद सिद्ध नहीं हुआ। अन्त में इन्होंने 'बिड़ला श्राफ ऐण्ड कम्पनी' स्थापित की। यह अभी शैशवावस्था में ही थी कि राजनीतिक वात्याचक्र ने इन्हें अत्याचारी शासन से लोहा लेने वाले स्वतन्त्रता-प्रेमियों के प्रकृत आवास का अतिथि बना दिया।

---

१. मारवाड़ियों की गिरफ्तारी (संपादकीय टिप्पणी)

'आज कई दिन हो चुके, हमारे मारवाड़ी समाज के चार नवयुवकों को पुलिस ले गयी है। किस अभियोग में पकड़ा है, क्या करेगी, इसके विषय में हम अभी बिल्कुल अन्धेरे में हैं।'

× × × × ×

स्थानीय मारवाड़ी समाज में अस्थिरता के—नहीं, अस्थिरता की अति होकर कमजोरी के जो लक्षण दिखाई पड़ते हैं, वह सर्वथा असंगत और अनुचित हैं। सुना है कि लोग सार्वजनिक संस्थाओं से अपने नाम कटा रहे हैं। कहते हैं कि लोग इन संस्थाओं की तरफ से अपनी सहानुभूति का हाथ समेट रहे हैं।

—'कलकत्ता समाचार', २७ जुलाई, १९१६

२. यह ऋण पोद्दारजी ने गोरखपुर आने के बाद सं० १९९२ में चुकाया।

अलीपुर जेल का जीवन

हनुमानप्रसाद पोद्दार, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया तथा फूलचन्द्र चौधरी—तीनों राजनीतिक बन्दियों को अलीपुर जेल में पृथक्-पृथक् तीन एकान्त कोठरियों में रखा गया। कोठरी के भीतर सोने के लिए एक लम्बा चबूतरा और एक खुला आँगन था। इसके आगे एक दरवाजा और था। दिन में बाहरवाला दरवाजा बन्द रहता था, अन्दर-वाला खुला रहता था, किन्तु रात को दोनों बन्द हो जाते थे। पहले दिन वहाँ भी डुराण्डा हाउस की भाँति तीनों को भूखा रहना पड़ा। परन्तु दूसरे दिन से जेलर ने घर से भोजन मँगाने की अनुमति दे दी। इन्होंने पं० झाबरमल शर्मा को सूचना देकर पूर्ववत् घर से भोजन मँगाने की व्यवस्था कर ली। तीनों का भोजन साथ आता था।

इन्हीं दिनों पोद्दारजी के ससुर श्रीमुंगतूराम सरावगी इनसे जेल में मिलने आये। उस दिन घर से भोजन नहीं आया था। ये जेल से कोटे में प्राप्त चावल पकाने की तैयारी कर रहे थे। चावल बहुत ही घटिया किस्म का था। उसे देखकर सरावगीजी बोले—'आपने तो ऐसे चावल जीवन में कभी छुये भी न होंगे, इनसे पेट की ज्वाला कैसे शान्ति होगी ? इस निर्जन, गन्दी और मच्छरों से भरी कोठरी में जिन्दगी कैसे कटेगी ?' पोद्दारजी ने अत्यन्त शान्त स्वर में उत्तर दिया—'दुःख और सुख की अनुभूति तो मन की मान्यता पर है। यह तो भगवान् का प्रसाद है, जो मैं प्रेम से खाता हूँ। इसमें दुःख की तो कोई बात ही नहीं है।'

अध्यात्मनिष्ठ विप्लववादी विचारधारा में निष्णात होने से जेल-यात्रा इन्हें रंच-मात्र भी कष्टकर नहीं प्रतीत हुई। मानसिक स्थिति पूर्णतया संतुलित रही। चिन्ता केवल एक बात की थी और वह थी गृहस्थी की दयनीय स्थिति। घर में रह गयी थीं तीन स्त्रियाँ—बूढ़ी दादी, विमाता गौराबाई और पत्नी रामदेई तथा दो छोटी बहनें—कमला बाई और पूर्णी बाई। इनमें माँ गौराबाई उन दिनों अपने पीहर में थीं। इन सबकी देखभाल की व्यवस्था करनेवाला कोई पुरुष न था। भरण-पोषण के लिए भी अपेक्षित साधनों की कमी थी। पोद्दारजी की यह उद्विग्नता कुछ ही दिनों तक रही।

नामाश्रय

इस घबराहट में भगवान् का नाम याद आया। नामजप के लिए माला की आवश्यकता का अनुभव हुआ। वह इनके पास थी नहीं। कोठरी के द्वार पर एक सन्तरी पहरा दे रहा था। वह उत्तर प्रदेश का निवासी ब्राह्मण था। पोद्दारजी ने बुलाकर उससे कहा, 'पण्डितजी ! एक माला ला दीजिये।' पहरेदार ने पूछा, 'माला का क्या करोगे ?' ये बोले, 'भगवान् के नाम का जप करूँगा।' ब्राह्मण ने कहा—'माला मेरे पास है नहीं, बाहर से लाना जुर्म है। यदि कहीं पकड़ लिये जायँ तब क्या होगा ? मैं माला लाकर नहीं दे सकता, पर जप करने का गुर बता सकता हूँ।'

यह कहकर वह चला गया। कुछ देर के बाद जब वह लौटा तो उसके हाथ में एक काँटी थी। उसे पोद्दारजी को देते हुए उसने कहा—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्र को जप कर एक कहो, फिर जप कर दो कहो, फिर तीन। इस प्रकार जप करते-करते जब १०८ हो जायँ तो इस काँटी से दीवार पर एक लकीर खींच दो। ऐसे तुम्हारा जप चल सकता है और गिनती भी हो सकती है।'

पोद्दारजी को यह बात जँच गयी। जप करने का गुर बताने वाले उस ब्राह्मण पहरेदार को उन्होंने गुरु मान लिया और आजीवन इसी भाव से उसका स्मरण करते रहे।

ब्राह्मण के निर्देशानुसार नाम-जप चलने लगा। इसमें इनका बड़ा मन लगा। जप से धीरे-धीरे मन की सारी व्याकुलता दूर हो गयी, वह शान्त हो गया। यहीं से इन्हें नाम के माहात्म्य का परिचय मिला। फिर तो नाम-जप पोद्दारजी के जीवन का साथी हो गया। यह षोडश नामात्मक मन्त्र उनका आजीवन सहचर रहा। दूसरों को भी उसका महत्त्व बताकर ये जप की प्रेरणा देते रहे।

कारावधि की समाप्ति

डुराण्डा हाउस और उसके बाद अलीपुर जेल में बन्द करने के बाद बंगाल सरकार ने इनलोगों के विरुद्ध राजद्रोह का मुकदमा चलाने के लिए अपेक्षित साक्ष्यों को एकत्र करने का भरसक प्रयास किया, किन्तु कोई ठोस आधार हाथ न आया। इन्हें छोड़ने से क्रान्ति के भड़कने की आशंका थी। इससे उसका सिरदर्द बढ़ जाता, तथा उसके द्वारा स्थापित श्मशान-शान्ति और व्यवस्था खतरे में पड़ जाती। अतः बहुत सोचने-विचारने के बाद गवर्नर ने अपने सलाहकारों की राय लेकर इन लोगों को कलकत्ता से दूर कहीं बाहर ले जाकर भारत-रक्षा-विधान के अनुसार नजरबन्द करने का निर्णय किया। बंगाल सरकार के सचिव ने अपने पत्र दिनांक २१, अगस्त १९१६ द्वारा इसकी सूचना हनुमानप्रसाद को दे दी।* यह पत्र इन्हें ,२२ अगस्त को मिला।

---

* Whereas in the opinion of the Government of Bengal there are reasonable grounds for believing that Hanuman Prosad Poddar, son of Bhimraj Poddar of 91 Bartala Street, Calcutta and formerly of police-station & Village Ratangarh, in the district of Bikanir has acted, is acting and is about to act in a manner prejudicial to the public safety, the Governor in Council, in exercise of the powers conferred upon him by the rules made by the Governor-General in Council, in pursuance of section 2 of

सरकार के उक्त आदेशानुसार इन्हें २३ अगस्त को बाँकुड़ा जिले के पुलिस अधीक्षक से पुलिस उप-महानिरीक्षक (डी० आइ० जी०) द्वारा निर्दिष्ट समय और स्थान पर मिलने का निर्देश प्राप्त हुआ। इसके बाद इन्हें उक्त पुलिस अधीक्षक के ही आदेशानुसार कार्य करना था। इसके अन्तर्गत इन्हें बाँकुड़ा जिले के शिमलापाल थाने के क्षेत्र में थानाध्यक्ष के आदेशानुसार किसी स्थान पर रहने की व्यवस्था तथा नजरबन्दी-काल

---

the Defence of India (Criminal Law Amendment) Act. 1915, and published in the Government of India's Notification No. 86 dated Delhi, the 9 th December 1915, is pleased to issue the following order in respect of the said Hanuman Prosad Poddar.

Order by the Government of Bengal under the powers given to them by Rule 3 of the Defence of India (Consolidation) Rules, 1915, issued under section 2 of the Defence of India (Criminal Law Amendment) Act, 1915 (IV of 1915).

To Hanuman Prosad Poddar son of Bhimraj Poddar of 91 Bartala Street, Calcutta and formerly of Ratangarh Village & Police Station in the district of Bikanir.

1. You are hereby directed to report yourself to the Superintendent of Police of Bankura at such time and place as the Deputy Inspector-General, Intelligence Branch, may direct, and shall thereafter obey the directions of the said Superintendent of Police.

2. You are further directed to allow your photograph and fingerprints to be taken under the direction of the said officer.

3. You must also furnish as many specimens of your handwriting and signature as may be required by that officer.

4. You are thereafter directed to proceed direct to Simlapal, police-station Simlapal in the district of Bankura, and to report yourself to the officer in charge of police-station Simlapal at such time and place as the Superintendent of Police may direct.

5. You must reside until further orders at that place in premises to be selected and defined under the orders of the Superintendent of Police.

6. You are prohibited from leaving these premises between 6 P. M. and 6. A.M. and from receiving any visitors between these hours.

में जीवनचर्या विषयक पालनीय कतिपय अनिवार्य प्रतिबन्धों का विस्तार से उल्लेख था। जेल के सन्तरी से जो आदेश-पत्र मिला था, उसमें कलकत्ता से बाँकुड़ा जाते समय इन्हें एक घण्टे के लिए अपने घरवालों को देखने की सुविधा दी गयी।

वे अविस्मरणीय क्षण

सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत २२ अगस्त को एक घण्टे के लिए पोद्दारजी स्वजनों से मिलने पारख कोठी आये। इन्हें सहसा पाकर घर में हाहाकार मच गया।

---

7. You must pay no visits to, nor receive visits from, persons other than those permanently domiciled within the limits of the Village of Simlapal without permission to be previously obtained from the District Officer of the Bankura district, or such officer as he may designate for the purpose.

8. You must not converse or associate with any schoolboy, student or schoolmaster, or any person connected with any school.

9. You must, without any delay, deliver unopened all telegrams, postal articles or communications of any kind including parcels and other articles however transmitted, which arrive to your address, or that of your servant but which are, intended for you to the officer in charge of the Simlapal police-station Simlapal.

10. You must not enter into written correspondence with any person unless such correspondence has been previously submitted to the officer in charge of the Simlapal police-station for examination by the Superintendent of Police.

11. You must report yourself personlly once a day at such hour as may be specified by the Superintendent of Police to the officer in charge of the Simlapal police station. You are prohibited from leaving the limits of the village of Simlapal except for the purpose of reporting yourself to the officer in charge of the Simlapal police-station.

12. You must at all times allow free access to the premises in which you are living to the officer in charge of the Simlapal police-station for the time being and to any Magistrate or Police Officer superior in rank to the officer in charge of the police-station.

हनुमानप्रसाद ने दादी का चरण स्पर्श किया। वृद्धा फूट पड़ी। अपने जीवनदीप को पुनः देख पाने की आशा छोड़ चुकी थी। उसे सामने पाकर उस सर्वहारी वृद्धा के विषाद-विगलित हृदय की स्नेहधारा नेत्रों से बह चली। उसने देखा 'मन्नू' का चमकता ललाट साँवला हो गया है, चेहरे पर कारावास की काली रातें और तपते हुए दिन अपनी अमिट रेखाएँ छोड़ गये हैं, शरीर पीला हो गया है। हृदय ने यह अनुभव कर धैर्य धारण किया कि उसका लाड़ला—बुढ़ापे की एकमात्र लकड़ी, अभी जीवित है, यही

---

13. If you are at any time unable, by reason of severe sickness or other serious infirmity, to report yourself as directed in paragraph 11, you must give immediate intimation of your inability to do so to the officer in charge of the Simlapal police-station, and you must permit such officer or his deputy to enter your premises and by personal examination satisfy himself as to the correctness of your statement.

14. If by reason of your illness or any other cause the Superintendent of Police should consider it necessary to change your domicile temporarily either for medical examination or treatment or on account of any other contingency, you must carry out the orders of the Superintendent of Police. During such temporary domicile you must reside in premises to be selected and defined under the orders of the Superintendent of Police, and you will be bound by the rules otherwise contained in this order so far as they apply.

15. If you knowingly disobey any direction in this order other than that contained in paragraphs 2 and 3, you will be punishable with imprisonment of either description for a term which may extend to three years, and will also be liable to fine. For failure to comply with, or attempts to evade any directions given in paragraphs 2 and 3 you will be punishable with imprisonment of either description for a term which may extend to six months, or with fine which may extend to Rs. 1,000 or with both.

By order of the Governor in Council,

(Sd.)

Secy. to the Govt. of Bengal

Calcutta,
21st August, 1916

क्या कम है ! किन्तु एक क्षण में ही दृश्य बदला, सोचा, आगे वह देखने को मिल सकेगा—इसका विश्वास ही क्या ? वह आये दिन ऐसे युवकों की फाँसी का संवाद सुनती रहती थी । स्मरण आते ही दिल बैठ गया । इस प्रकार के संकल्प-विकल्प रह-रहकर शून्य हृदय में कौंधते रहे और उस स्नेह-विह्वला वृद्धा के निरीह नेत्र मघा नक्षत्र की भाँति जीवन-रस उड़ेलते रहे । आँसुओं से अभिसिक्त करते हुए उसने इनको हृदय से चिपका लिया । बहनें बिलख-बिलख कर रो रही थीं और नव-विवाहिता पत्नी-एक कोने में हिचकियाँ भर-भर कर अपार दुःख-सागर की थाह ले रही थी । एक घंटा का समय होता ही कितना है ! देखते-देखते निर्मम काल के पंखों पर चढ़कर तिरोहित हो गया । सारी कहानी—घर की स्थिति, पड़ोसियों, भाई-बन्धुओं, सगे-सम्बन्धियों एवं परिचितों के व्यवहार तथा भावी जीवन की व्यवस्था—अनकही रह गयी । सबको यथायोग्य परितोष देकर, असहाय परिजनों को करुणासिंधु के सर्वसमर्थ हाथों में सौंपते हुए पोद्दारजी ने विदा ली ।[1]

बाँकुड़ा में उस समय पोद्दारजी के मौसेरे भाई सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका का बहुत बड़ा व्यापार था तथा इनके मामा श्रीमेघराज बाजोरिया की भी दूकान थी । किन्तु इन्हें वहाँ किसी भी सम्बन्धी या अन्य व्यक्ति से मिलने की मनाही थी ।

बाँकुड़ा के लिए प्रस्थान

पोद्दारजी रात में ही कलकत्ता से बाँकुड़ा के लिए रवाना हो गये । प्रातः ४ बजे वहाँ पहुँच गये । दिन में १२ बजे पुलिस-कप्तान के दफ्तर में उपस्थित हुए । साथ में मामा के लड़के शिवबख्श बाजोरिया भी थे । वहाँ पहले इनका फोटो लिया गया । फिर दसों अँगुलियों की छाप और तीन भाषाओं—हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी, में हस्ताक्षर कराये गये । इसके बाद शिमलापाल नामक स्थान पर जाकर अधरचंद राय नामक व्यक्ति के मकान में रहकर नजरबंदी के दिन काटने का आदेश मिला ।

शिमलापाल का अज्ञातवास

शिमलापाल बाँकुड़ा से २४ मील की दूरी पर स्थित एक छोटा-सा गाँव है । उन दिनों वहाँ एक थाना था, दो-तीन पक्के मकान और आठ दस झोपड़ियाँ । शिमलापाल को बाँकुड़ा से एक कच्ची सड़क जाती थी । यात्रा का साधन केवल बैलगाड़ी थी । इन्होंने

---

१. कल मंगलवार को रात को खबर लगी कि जो मारवाड़ी अब से कुछ दिन पूर्व पकड़े गये थे, उनमें हनुमानप्रसाद पोद्दार कल रात को जेल से छोड़ दिये गये और उन्हें घर आने की एक घण्टे की मुहलत मिली । इसके बाद वह रेल द्वारा बाँकुड़ा के पास किसी गाँव में भेजे गये हैं । खबर है कि हनुमानप्रसाद पोद्दार उसी गाँव में नजरबंद रहेंगे ।

—'कलकत्ता समाचार', २३ अगस्त, १९१६ ई०

१० बजे रात को कुछ खाने का सामान साथ लेकर बैलगाड़ी पर बैठकर शिमलापाल के लिए प्रस्थान किया। प्रातः १० बजते-बजते वहाँ पहुँच गये। सीधे थाने पर गये। संयोग से थानेदार अरुणकुमार सिंह उस समय वहाँ उपस्थित थे। वे एक कुर्सी पर बैठे थे। पास ही चार-पाँच कान्स्टेबुल कम्बल पर बैठे थे। वहाँ कुर्सी एक ही थी। नमस्कार करके अपना परिचय देने के बाद ये एक ओर खड़े हो गये। थानेदार समझ गये कि राजनीतिक बंदी होने के कारण जमीन पर बैठने में इन्हें संकोच हो रहा है। वे कुर्सी से उठ पड़े और हाथ पकड़कर मुस्कराते हुए इन्हें भी साग्रह अपने साथ कम्बल पर बैठा लिया। फिर बोले—'यहाँ केवल एक कुर्सी रहती है। तीन और कुर्सियाँ हैं, किन्तु वे कमरे में बंद रहती हैं, विशेष अवसर के लिए। इससे कभी-कभी आप जैसे संभ्रांत लोगों के आ जाने पर बड़ी परेशानी होती है। कुर्सी न होने से आपको कम्बल पर बैठने के लिए कहा था और कोई बात नहीं थी।' इसके बाद उन्होंने अधरचन्द्र मंडल नामक एक स्थानीय व्यक्ति के पूर्व-निश्चित मकान में इनके ठहरने की व्यवस्था करा दी। वह मकान थाने से एक फर्लांग दूरी पर था। नित्य प्रातः ७ बजे थाने पर हाजिरी देनी पड़ती थी। इनके निश्छल तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार से थाने के सभी कर्मचारी कुटुम्बी-जैसा व्यवहार करने लगे। उन दिनों बंगाली और गैर-बंगाली का भेदभाव नहीं था। आज की तरह भाषा-विवाद से सामाजिक वातावरण विषाक्त नहीं हुआ था। शिमलापाल में केवल चार हिन्दी-भाषी थे—दो बिहार के और एक उत्तर-प्रदेश के कांस्टेबुल तथा चौथे हनुमानप्रसाद। किन्तु पास-पड़ोस की सारी बंगाली जनता इनसे बड़ी एकात्मता रखती थी।

स्वावलम्बन

बाँकुड़ा से शिमलापाल जाते समय भोजन बनाने के लिए ये एक रसोइया साथ ले गये थे। उसने—३० रुपया वेतन, एक रुपया रोज गाँजे के लिए तथा भोजन की माँग की। इन्हें कुल ८० रु० सरकार की ओर से मिलता था, ५० रु० घरवालों को तथा ३० रु० इनके खर्च के लिए। इन्होंने दो-तीन दिन तो उस रसोइये को रखा, पीछे स्वयं अपने हाथ से भोजन बनाने लगे। बर्तन भी अपने हाथ से साफ कर लेते थे। प्रातः उठकर घर की सफाई करना, घर के आसपास लगे पेड़-पौधों तथा फूलों को सींचना, कपड़े धोना— सब स्वयं कर लेते थे। यह परिश्रमशीलता भावी जीवन में वरदान सिद्ध हुई।

अधिकारियों से सौहार्द्र

तीन महीने बाद सब-इंस्पेक्टर अरुणकुमार सिंह की बदली हो गयी। उनके स्थान पर राजाराम मंडल नाम के एक दूसरे थानेदार आये। वे भी बड़े सज्जन थे। उनके समय में पुलिसवालों से इनका घर का-सा सम्बन्ध हो गया। नियमानुसार ये पुलिस थाने पर नित्य जाया करते थे। धीरे-धीरे पुलिस अधिकारियों के इतने विश्वास-

पात्र हो गये थे कि जब थाने के इंचार्ज नहीं रहते, तो पुलिस की डाक के थैले ये ही खोलते थे। नियम तो यह था कि इनकी डाक पुलिस के मारफत आये, पर ढंग कुछ ऐसा बैठा कि ये ही पुलिस की डाक भी सँभालते और पत्रों का उत्तर भी लिखवाते। धीरे-धीरे थाने के कागज-पत्रों की इनको इतनी जानकारी हो गयी थी कि ये रजिस्टर में रिपोर्ट लिखवाते और कभी-कभी स्वयं ही लिख देते थे। एक बार किसी मुकदमे के सिलसिले में इन्होंने ६० पृष्ठों की रिपोर्ट लिखी थी। यह रिपोर्ट आज भी थाने के पुराने अभिलेखों में सुरक्षित है। १९६० ई० में पोद्दारजी के साथ जो लोग शिमलापाल गये थे, उन्होंने उसे देखा था। संक्षेप में, उन दिनों एक प्रकार से ये ही पुलिस थाने के इंचार्ज थे।

उस समय बंगाल के गाँवों में भी पढ़े-लिखे लोग बिरले ही मिलते थे। थानों पर नियुक्त कर्मचारियों में थानाध्यक्ष ही प्रायः साक्षर होता था। ऐसी स्थिति में दैवयोग से उपलब्ध सुविधा का मंडलजी ने सादर सदुपयोग किया। वे कानून की सीमा से बाहर जाकर भी इनकी सुख-सुविधा का प्रबन्ध करते रहे।

थाने की जाँच के लिए बाँकुड़ा और कलकत्ता से उच्च पुलिस अधिकारियों का शिमलापाल आना-जाना लगा रहता था। एक चटर्जी महाशय थे—पुलिस के इन्स्पेक्टर, वे अक्सर आया करते थे। सरकारी कामकाज निबटाने के बाद वे घंटों बैठकर इनसे भक्तिचर्चा किया करते थे। मजिस्ट्रेट भी आते थे तो बिना इनसे मिले नहीं जाते थे। वे लोग भीतर-भीतर यह अनुभव करते थे कि राजनीतिक बंदी बनकर मातृभूमि के लिए ही ये इतना कष्ट झेल रहे हैं। अतः सभी सहानुभूति रखते थे। उस समय देशप्रेम की ऐसी लहर दौड़ गयी थी कि समाज के सभी वर्गों के लोग—चाहे वे किसान हों, मजदूर हों, या सरकारी कर्मचारी, अंतस्तल से विदेशी शासन द्वारा पहनायी गयी परतंत्रता की बेड़ी से भारतमाता को मुक्त कराने के समर्थक थे। अपनी व्यक्तिगत परिस्थिति से भले ही वे उसमें सक्रिय सहयोग देने में असमर्थ रहे हों।

शास्त्राध्ययन

शिमलापाल में एक ग्रामीण डाकघर था। उसके पोस्टमास्टर श्रीकृष्णचंद्र स्थानीय प्रारंभिक पाठशाला के प्रधानाध्यापक भी थे। वे अत्यन्त विद्याव्यसनी और शीलसम्पन्न व्यक्ति थे। उनके पास बंगला भाषा की धार्मिक पुस्तकों का विशाल भंडार था। उससे इनको बड़ा सहारा मिला। प्रवासकाल में इस पुस्तकालय की सारी पुस्तकें एक-एक करके उन्होंने पढ़ डालीं। वहाँ अखबार भी आता था। पोद्दारजी उसे भी पढ़ते।

स्वजन संपर्क

इनका पत्र-व्यवहार केवल घरवालों से हो सकता था। आनेवाले पत्र बाँकुड़ा

में ही पुलिस द्वारा खोल लिये जाते थे। फिर वहाँ से सिपाही के हाथ शिमलापाल भेजे जाते थे। इनसे मिलने के लिए कलकत्ते से पुलिस कार्यालय की स्वीकृति लेनी अनिवार्य थी। एक बार इनके मामा चाँदपुर से शिमलापाल इसी प्रकार पुलिस अधीक्षक का आदेश प्राप्त करके आये थे। स्थानीय पुलिस द्वारा इनके सद्व्यवहार तथा सच्चरित्रता विषयक की गयी रिपोर्ट के आधार पर इन्हें दो बार पैरोल पर घर जाने की अनुमति मिली। उस समय इन्हें कलकत्ता के स्थानीय पुलिस स्टेशन पर दिन में एक बार हाजिरी देनी पड़ती थी।

सेवा-कार्य

यहाँ पोद्दारजी के पास एक काम और था; वह था—दवा बाँटने का काम। सरकार की ओर से माह में एक बार कलकत्ता से सिविल सर्जन इनका स्वास्थ्य देखने के लिए आया करते थे। इसी ग्राम में एक अंत्यज के लड़के की जाँघ में फोड़ा हो गया। जब सिविल सर्जन पोद्दारजी को देखने के लिए आये तो लोग उस लड़के को भी दिखाने के लिए ले आये। दयार्द्र होकर सिविल सर्जन ने पोद्दारजी से कहा—"यदि तुम मेरे पीछे इसकी मरहम-पट्टी करना स्वीकार कर लो तो मैं चीरा लगा दूँ।" पोद्दारजी ने स्वीकार कर लिया। सिविल सर्जन ने चीरा लगा दिया। उसके बाद ये उसके घर जाकर नित्य मरहम-पट्टी किया करते थे। कुछ दिनों में उस लड़के को आराम हो गया। सिविल सर्जन जब दूसरी बार आये तो लड़के को स्वस्थ देखकर बहुत प्रसन्न हुए।

वह बूढ़ा अंग्रेज सिविल सर्जन बड़े साधु-स्वभाव का था। एक दिन उसने पोद्दारजी से कहा—'तुम यहाँ बैठे-बैठे क्या करते हो?'

इन्होंने उत्तर दिया—'कुछ नहीं।'

वह बोला—'मैं तुमको दो काम बताता हूँ—एक तो यह कि तुम्हारे पीछे जो जमीन पड़ी है, उसमें फूलों के पौधे लगाओ। मैं तुमको बीज भेज दूँगा। यहाँ एक बड़ी सुन्दर फुलवारी तैयार हो जायेगी। दूसरा काम यह कि यहाँ आस-पास कोई डाक्टर नहीं है। तुम होमियोपैथिक दवाओं का वितरण किया करो।'

पोद्दारजी ने कहा,—'मैं होमियोपैथिक चिकित्सा जानता नहीं।'

उसने बड़े प्यार से कहा—'मैं हूँ तो ऐलोपैथिक सर्जन, पर मेरा विश्वास होमियो-पैथिक चिकित्सा-पद्धति पर भी है। मैं तुम्हारे पास साहित्य और होमियो-पैथिक दवाएँ भिजवा दूँगा। तुम भगवान् का नाम लेकर निःशंक काम आरम्भ करो, सफल हो जाओगे।'

इस उदार-हृदय सिविल सर्जन का नाम मि० वास था। उसने होमियोपैथिक दवाएँ भेज दीं। पोद्दारजी पुस्तक के आधार पर रोग के लक्षण मिलाकर दवा देने लगे।

लोगों को बहुत लाभ हुआ। पोद्दारजी की धर्मपत्नी तब तक शिमलापाल आ गयी थीं। वे भी इस कार्य में पति का हाथ बँटाने लगीं। शीशियाँ साफ करना, उनपर लेबिल लगाना, दवा की पुड़िया बनाने के लिए कागज काटकर रखना आदि कार्य इन्हीं के जिम्मे था।

एक दिन तीस-पैंतीस वर्ष के एक गूँगे मुसलमान युवक को उसकी स्त्री लेकर आयी। पति पेट की असह्य पीड़ा से छटपटा रहा था। पोद्दारजी ने साथ में आयी हुई स्त्री से बीमारी का विवरण पूछकर 'ओपियम ३०' की १०-१२ पुड़ियाँ दीं और बता दिया कि इससे बहुत दस्त होंगे, घबड़ाना नहीं। पाँच-छः दिन बाद उस युवक को लेकर सैकड़ों स्त्री-पुरुष आये—कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए। उन लोगों ने यह बताया कि उस दवा से पेट का दर्द ही नहीं अच्छा हो गया, उसको वाक्‌शक्ति भी प्राप्त हो गयी। पोद्दारजी आश्चर्यचकित होकर सोच रहे थे कि भगवदिच्छा से ही दवा का संयोग लग गया। पीछे पता चला, छः वर्ष पहले उसे चेचक हो गयी थी। उसी के प्रभाव से वह गूँगा हो गया था। दवा खाने से बहुत-सा सड़ा मल निकला, फिर वह बोलने लगा।

एक बार गाँव में हैजा फैला तो इन्होंने उससे प्रभावित ९० में से ८७ व्यक्तियों की प्राण-रक्षा की। इस प्रकार दीन-दुखियों की सेवा से पुरस्कार रूप में इन्हें उनका स्नेहपूर्ण सच्चा आशीर्वाद मिला।

नामनिष्ठा का चमत्कार

एक बार पोद्दारजी को मोतियाज्वर (टायफाइड) हो गया। शिमलापाल का एकाकी जीवन, कोई साथ था नहीं। छोटे-से गाँव में कोई वैद्य-डाक्टर भी नहीं था। एक बंगाली वैद्य थे, जिन्हें पुराना कम्पाउण्डर कहना ही ठीक होगा। दो-चार दवाएँ उनके पास रहा करती थीं। पड़ोस में ही घर था। वे पोद्दारजी के पास आया करते थे। एक दिन घबराहट ज्यादा बढ़ गयी। मन में आया, 'क्या भगवान् के नाम में इतनी भी शक्ति नहीं कि मेरी घबराहट मिटा दे ?' इतना सोचकर पोद्दारजी ने भगवन्नाम का जप आरम्भ कर दिया। उस जपका अनोखा फल हुआ। मन को शान्ति मिली। शान्ति-प्राप्ति के साथ ही ज्वर भी उतरने लगा। नाम-जप ने उस ज्वर को पूर्णतः दूर कर दिया।

एक अनुभव और हुआ। घर से ऐसा समाचार आया कि दादी रामकौर देवी बीमार हैं और मिलना चाहती हैं, पर अत्यधिक कमजोर होने के कारण वे शिमलापाल नहीं आ सकतीं। नजरबंदी के नियमानुसार पोद्दारजी शिमलापाल से बाहर नहीं जा सकते थे। कलक्टर भी बाहर जाने की आज्ञा नहीं दे सकता था। इनके मन में दादीजी से मिलने की तीव्र इच्छा जगी। बंगाल-सरकार को तार दिया, वहाँ से
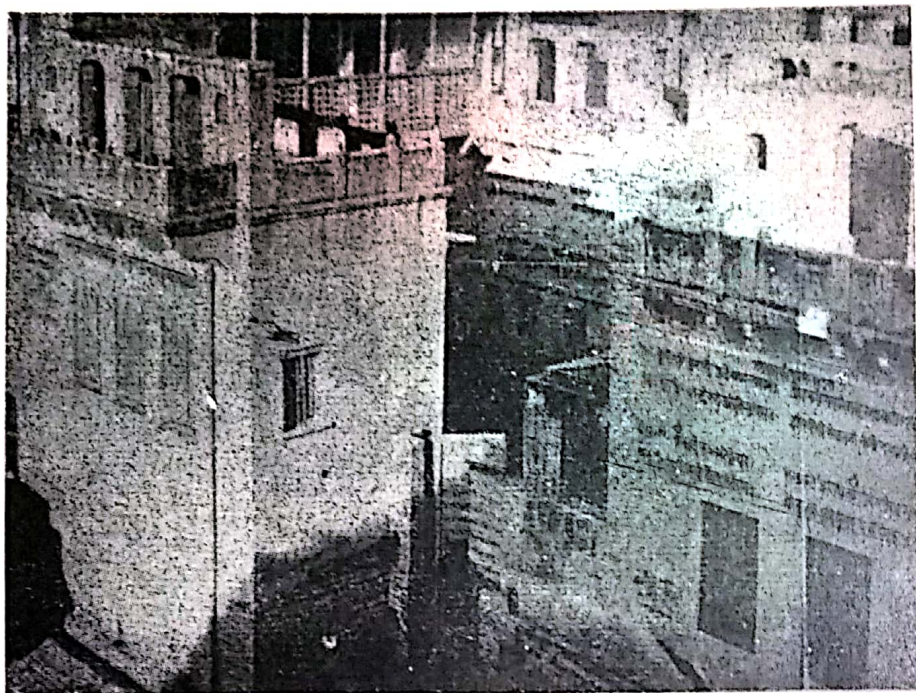
पोद्दारजी का पैतृक निवास (रतनगढ़-राजस्थान)

पोद्दारजी के मकान की ऊपर वाली बैठक
(रतनगढ़ प्रवास-काल में 'कल्याण' का संपादकीय कार्यालय)
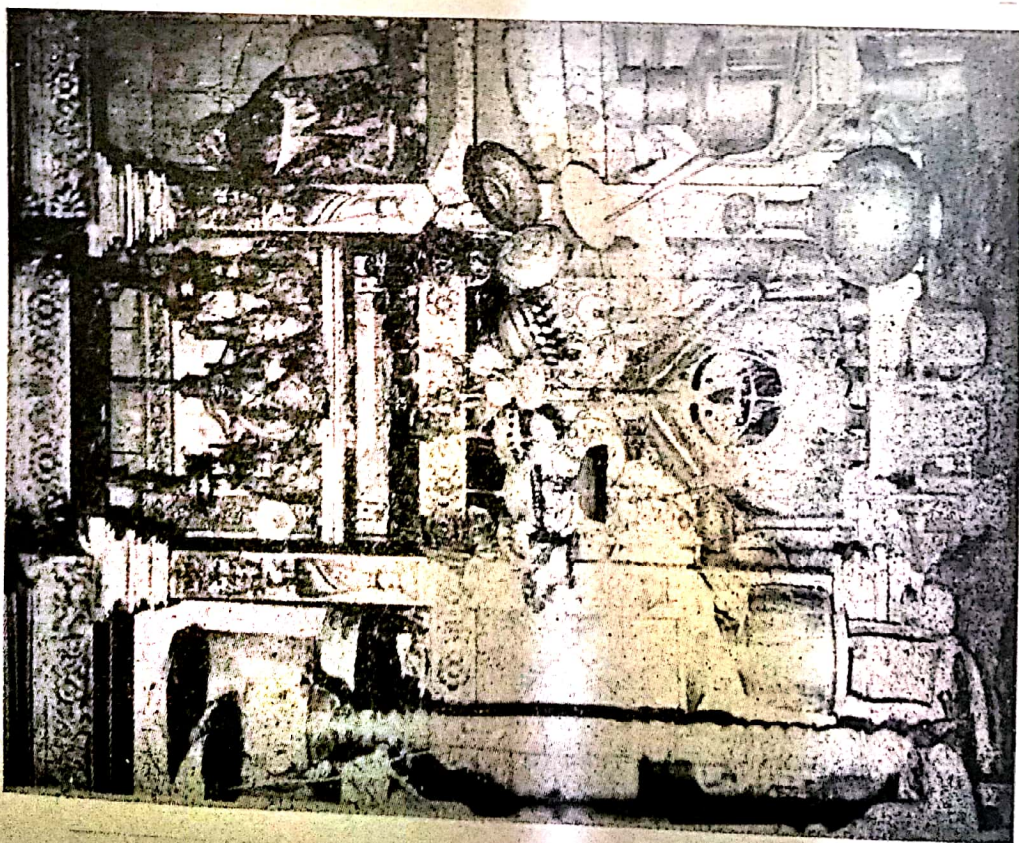
दादी रामकौर देवी के उपास्य
हनुमानजी (सालासर-राजस्थान)
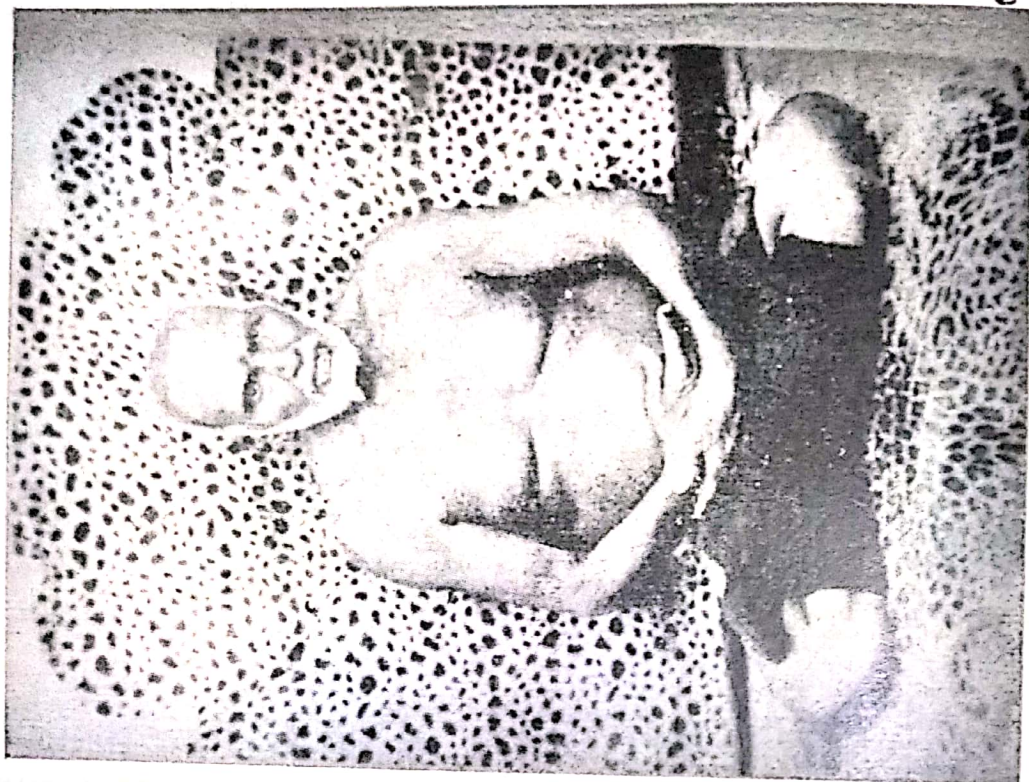
पोद्दारजी के आदिगुरु
परमहंस बखन्नाथ
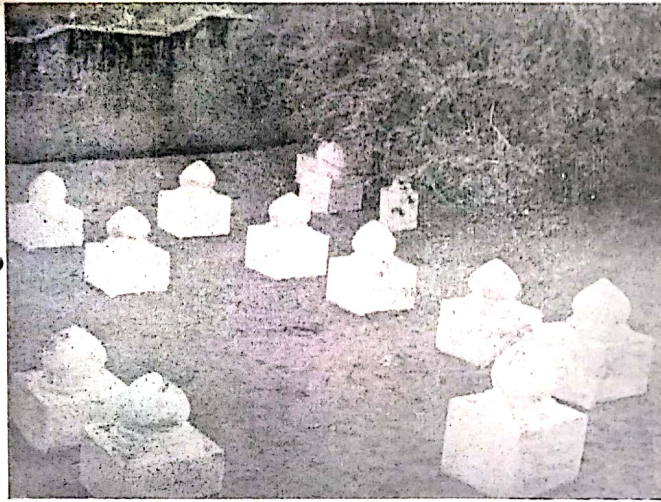
परमहंसों की समाधियाँ (रतनगढ़)
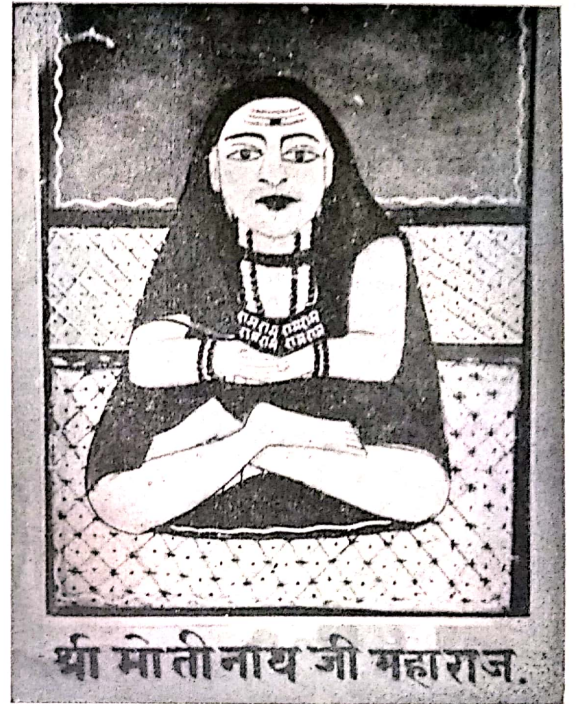
श्री मोतीनाथ महाराज (टूँटिया बाबा)

बाबा मेहरदास के मंदिर (रतनगढ़)
के उपास्य ठाकुर श्रीराधाकृष्ण
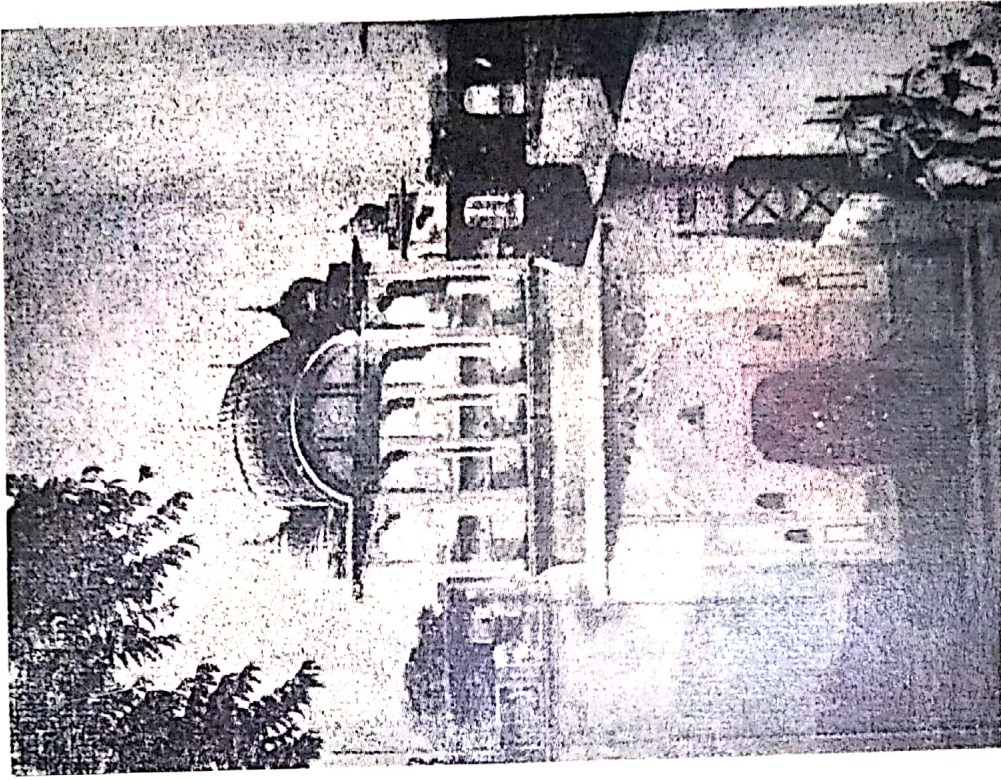
पोद्दारजी के वैष्णवतत्त्वोपदेशक
बाबा मेहरदास के मंदिर (रतनगढ़)
का मुख्य द्वार
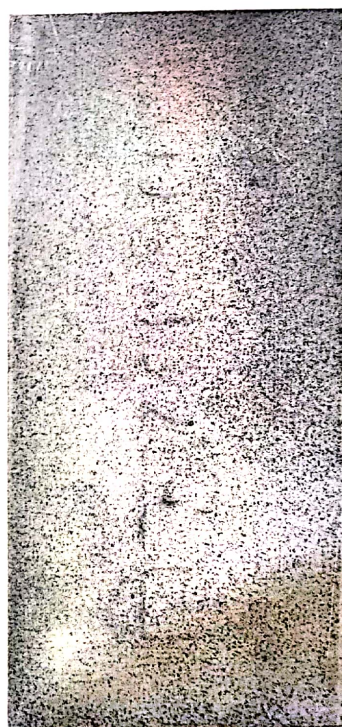
शिमलापाल की कुटी

शिमलापाल की कटी की दीवार पर पोद्दारजी द्वारा गेरू से बंगाक्षरों में लिखा गया 'नित्य-गोपाल'

पोद्दार जी की एकांत साधनास्थली (शिमलापाल)

शिमलापाल का थाना
(पोद्दारजी अपने परिकरों के साथ १९६० ई०)

पोद्दारजी की अर्द्धाङ्गिनी
श्रीमती रामदेई

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार
जातीय वेश-भूषा में

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार (बम्बई १९२६ ई०)
(ध्यान-प्रक्रिया में)

अस्वीकृति आ गयी। बड़ी व्याकुलता हुई। फिर उसी भगवन्नाम का आश्रय लिया और इस निमित्त से जप आरम्भ कर दिया। उसी दिन एक मुसलमान डिप्टी कलक्टर मुआइना करने के लिए थाने में आये थे। वे चटगाँव के निवासी थे। बड़े सहृदय तथा राजनीतिक बन्दियों के प्रति आदरभाव रखनेवाले व्यक्ति थे। सरकारी अधिकारी होने से देशभक्तों की सहायता करने में भय था, परन्तु भारतीय होने के कारण हृदय में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति अपार सम्मान था। वे पोद्दारजी से मिलने के लिए आये। इन्होंने उनसे सारी बातें बता दीं। सब सुनकर वे बोले— 'आपके लिए कल ही आर्डर आता है।'

इनको विश्वास नहीं हुआ। ये जानते थे कि आर्डर कलक्टर नहीं, गवर्नर ही दे सकता है और मिल सकता है एकमात्र कलकत्ता से। इतने समय में तो कलकत्ता आना-जाना भी संभव नहीं। इन्होंने पूछा—'कल कैसे आ सकता है?' डिप्टी कलक्टर ने कहा,—'देखिये, कल आ जाता है।' डिप्टी कलक्टर साहब की बड़ी पहुँच थी। उन्होंने अपने दौरे का सारा कार्यक्रम स्थगित कर दिया। उसी दिन बाँकुड़ा गये और बाँकुड़ा से कलकत्ता जाकर गवर्नर के सेक्रेटरी से मिले। पूरी रिपोर्ट देकर उनसे कहा—'पन्द्रह दिन के लिए पैरोल पर छोड़ना चाहिए।'

इसके फलस्वरूप पन्द्रह दिन तो नहीं, सात दिन के लिए पैरोल पर जाने की आज्ञा मिल गयी और यह दूसरे दिन ही पोद्दारजी को प्राप्त हो गयी।

इसी प्रकार एक दिन इन्हें किसी सम्बन्धी से समाचार मिला कि इनके फूफा ज्वालादत्तजी सख्त बीमार हैं। उन्हें देखने के लिए व्यग्रता हुई, किन्तु स्वीकृति मिलने की कोई आशा दिखाई नहीं पड़ी। निदान प्रार्थना और नाम-जप का आश्रय लिया। संयोगवश उसी दिन इनके स्नेही पुलिस इन्स्पेक्टर चटर्जी महाशय आ गये। इन्होंने अपनी समस्या उनके सामने रखी। इन्स्पेक्टर साहब ने कलकत्ता जाकर इन्हें पैरोल पर जाने की स्वीकृति भेजवा दी।

इन घटनाओं से पोद्दारजी की भगवन्नाम के प्रति निष्ठा को प्रगाढ़ होने में बल मिला।

विपत्ति के साथी

शिमलापाल से 'पैरोल' पर कलकत्ता की अपनी दो यात्राओं में इन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीतिक बंदी होने के कारण समाज के अन्य लोगों की कौन कहे, सगे-सम्बन्धी भी इन्हें देखकर मुँह फेर लेते हैं। लोग कहते सुने गये—'समाज का कलंक चला गया। अच्छा हुआ, छुट्टी मिल गयी'। किन्तु सत् का कभी अत्यन्ताभाव नहीं होता। इस आपतकाल में भी कुछ प्रातःकालीन तारे टिमटिमा कर प्रकाश का अस्तित्व प्रमाणित करते रहे। श्रीजयदयाल गोयन्दका जब भी बाँकुड़ा से कलकत्ता

आते, तब इनके घर अवश्य जाते। दादी रामकौर देवी से मिलकर सार-सँभाल कर जाते। उनके अतिरिक्त उस समय इनके परिवार के दुःख-सुख की खबर लेनेवालों में 'कलकत्ता समाचार' के संपादक पं० झाबरमल शर्मा, श्रीरामकुमार गोयंदका, श्रीबनारसीदास झुनझुनूँवाला और श्रीमोतीलाल जाजोदिया थे। इन लोगों की इस समय की यह सहानुभूति पोद्दारजी को आजीवन कृतज्ञ बनाये रही।

धर्मपत्नी का शिमलापाल आगमन

पन्द्रह महीने तक स्थानीय पुलिस के द्वारा निरन्तर इनके उत्तम चरित्र तथा व्यवहार की रिपोर्ट होती रही। एक दिन थानेदार ने इनसे कहा—'सरकार पर आप के सदाचार का प्रभाव पड़ा है। आप चाहें तो अपनी पत्नी को साथ रखने के लिए आवेदन पत्र दे दें।' पोद्दारजी ने गवर्नर के नाम इस आशय की एक अर्जी दे दी। थोड़े दिनों बाद स्वीकृति मिल गयी। श्रीमती रामदेई कलकत्ता से शिमलापाल आ गयीं। उनके रहने से पोद्दारजी को भोजनादि की व्यवस्था से तो मुक्ति मिली ही, दवा के वितरण में भी सहयोग मिलने लगा। इससे साधन-भजन के लिए अपेक्षाकृत अधिक समय निकल आया। पति के साथ वे भी परमार्थ-पथ प्रशस्त करने में संलग्न रहने लगीं। इस तरह छः महीने और कटे। वैशाख सं० १९७५ के प्रथम सप्ताह में बाँकुड़ा के कलक्टर का पत्र आया, जिसमें इन्हें अविलम्ब बाँकुड़ा आने का आदेश था। ये बाँकुड़ा गये। वहाँ इनसे एक ऐसे कागज पर हस्ताक्षर करने को कहा गया, जिसमें आजीवन राजनीति में भाग न लेने की बात लिखी थी। इन्होंने उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। उस दिन बात यहीं समाप्त हो गयी। ये फिर शिमलापाल लौट आये। इसके एक सप्ताह बाद शिमलापाल थाने में बंगाल-सरकार का आज्ञापत्र आया, जिसमें १८१८ ई० के तीसरे रेगुलेशन के अनुसार इनकी नजरबंदी समाप्त करके २४ घंटे के अंदर बंगाल छोड़ने और दूसरा आदेश न मिलने तक पुनः बंगाल की सीमा में प्रवेश न करने का उल्लेख था।[1] इस प्रकार २१ महीने की नजरबन्दी समाप्त हुई।

---

1. GOVERNMENT OF BENGAL

Political Department

Special Intelligence Branch

Order

Calcutta, the 4 th May, 1918

Whereas in the opinion of the Government of Bengal there are reasonable grounds for believing that Hanuman Prasad Poddar, son of Bhimraj Poddar of 91 Bartalla Street, Calcutta and formerly of Ratangarh, police station Ratangarh, in the

शिमलापाल से बिदाई

पौने दो वर्ष शिमलापाल रहकर पोद्दारजी ने एक नया परिवार-सा बसा लिया था। सरल ग्रामवासियों के ये अपने-से बन गये थे। उनके सुख-दुःख में हाथ बँटाकर, उनकी सेवा करके, इन्होंने उनके हृदय पर स्नेहाधिकार कर लिया था। सरकार द्वारा नजरबन्दी की अवधि की समाप्ति के आदेश की सूचना जब ग्रामवासियों को मिली, तब वे भौचक्के-से हो गये और एक अव्यक्त पीड़ा का अनुभव करने लगे। आह, जो प्रतिदिन उनकी सार-संभाल करता था, अपने हाथों अपने हृदय के प्रेम से सिक्तकर दवा देता था, जिसके पास वे अपना रोना सुनाकर हृदय को हलका करते थे, जो सबको प्यार एवं सम्मान देता था, वह उनके मध्य से चला जायगा! यह जानकर ग्रामवासियों की आँखों से आँसू बह चले और सबने आकर पोद्दारजी को घेर लिया। उधर बाँकुड़ा जाने के लिए बैलगाड़ी तैयार खड़ी थी। ये हाथ फैलाकर, आन्तरिक स्नेह से एक-एक को हृदय से लगाकर सान्त्वना दे रहे थे, उनके आँसू पोंछ रहे थे: पर सबके हृदय का बाँध टूट चुका था। इस प्रकार के निःस्वार्थ प्रेम एवं सेवा का प्रभाव

State of Bikaner, has acted in a manner prejudicial to the public safety, and whereas the said Hanuman Prasad Poddar has been directed under an Order passed on the 21 st of August, 1916, by the Government of Bengal in exercise of the powers given to them by Rule 3 of the Defence of India Rules, to reside in the village of Simlapal, police-station Simlapal, in the district of Bankura, and whereas it now appears desirable that the said Hanuman Prasad should forthwith leave the Province of Bengal.

Now, therefore, the above mentioned Order dated the 21 st August, 1916 is hereby cancelled and it is directed under Rule 3 of the Defence of India (Consolidation) Rules 1915 read with Section 3 of the Defence of India (Criminal Law Amendment) Act 4 of 1915, that the said Hanuman Prasad Poddar shall not enter, reside or remain within the confines of the Province of Bengal.

By order of the Governor in Council,

Sd/– Illegible

Addl. Secy. to the Govt. of Bengal

(Seal)

Sd. Illegible
13. 5. 18

इन्होंने जीवन में पहली बार देखा था, पर कृतित्व तो उनका ही था। इन्होंने सबसे जान-अनजान में हुई अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा माँगी और आशीर्वाद चाहा कि भगवान् की ओर जीवन की गति तीव्रता से बढ़ चले। सबने हृदय भरकर आशीर्वाद दिया। पोद्दारजी भी पत्नी सहित सुबुक-सुबुककर रो रहे थे। रोते-रोते ही दोनों बैल-गाड़ी पर बैठ गये। गाड़ी चली, लगता था—शिमलापाल के निवासियों का हृदय चला जा रहा है—आगे-आगे गाड़ी जा रही थी और पीछे-पीछे चल रहा था—शिमलापाल का अपार जन-समूह—आबाल-वृद्ध नर-नारियाँ। पोद्दारजी हाथ के इशारे से सबसे लौट जाने का संकेत कर रहे थे, पर भाव-प्रवाह का बाँध टूटने पर रुकना नहीं जानता। शिमलापाल गाँव बहुत पीछे छूट गया। पोद्दारजी को ग्रामवासियों के लौटने की चिन्ता हुई। इन्होंने साहस बटोरा और अवरुद्ध कण्ठ से अस्पष्ट वाणी में हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'भाइयो! बहुत दूर चले आये, लौट जाइये, अब आगे मत चलिये। आपलोग कितनी दूर चलेंगे? आपलोगों का प्यार-स्नेह मैं जीवनभर स्मरण रक्खूँगा। वह मेरे जीवन की परम निधि है·······।' अन्तस्तल से निकले शब्दों का प्रभाव हुआ और ग्रामवासी वहीं रुक गये। गाड़ी आगे बढ़ने लगी। ग्रामवासी तबतक वहाँ खड़े रहे, जबतक वह आँखों से ओझल न हो गयी। ये भी ग्रामवासियों की ओर मुँह किये उनको निहारते रहे। कई घंटों की यात्रा के पश्चात् ये बाँकुड़ा पहुँचे। पुरस्कार देकर गाड़ीवान को बिदा किया। बाँकुड़ा में सम्बन्धियों और मित्रों से मिलकर रेलगाड़ी द्वारा ये आसनसोल आये। दादी तथा अन्य कुटुम्बी पहले से ही पहुँच गये थे। सभी को साथ लेकर ये वहाँ से रतनगढ़ के लिए रवाना हुए।

महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय को पोद्दारजी के बंगाल से निष्कासित होकर रतनगढ़ जाने की सूचना मिली। उन्होंने इस आशंका से कि अंग्रेजों के प्रभाव में आकर बीकानेर के महाराजा श्रीगंगासिंह पोद्दारजी को तंग न करें, उनके नाम एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने पोद्दारजी की धर्मनिष्ठा, देशसेवा, सज्जनता और योग्यता को ध्यान में रखकर उनके साथ सद्भावपूर्ण व्यवहार करने का अनुरोध किया था। मालवीयजी ने उस पत्र की एक प्रतिलिपि पोद्दारजी को भी रतनगढ़ भेज दी।

●

जीवन-संघर्ष

(सं० १९७५ वि०—सं० १९८४ वि०)

पितृभूमि की शरण में

शिमलापाल से आसनसोल होते हुए पोद्दारजी तीसरे दिन सपरिवार रतनगढ़ पहुँच गये। वहाँ घर के सिवा और था ही क्या? बाप-दादों के समय से ही वहाँ का व्यापार समाप्त हो गया था। दो पुश्त से बंगाल ही वृत्ति का केन्द्र रहा। शिलांग के भूकम्प में दादा की कमाई मिट्टी में मिल गयी थी। पिता अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास करते चले गये। इनको रिक्थ के रूप में जो-कुछ कलकत्ते की पारस कोठी वाली कपड़े की दूकान में मिला था, वह राजनीति, समाज-सेवा, संत-महात्माओं की पूजा और धर्मानुष्ठानों में समर्पित हो गया था। बंगाल की तीन पुश्त की कमाई में सरकारी निष्कासन-आदेश के समय परिवार के पास बच रहा था—हजारों रुपयों का कर्ज; उसी का बोझ सिर पर लेकर अनिवार्य परिस्थितियों में ये रतनगढ़ लौटे थे। भाग्य की विडंबना से आज रतनगढ़ का यह समृद्ध परिवार अपने ही घर में 'शरणार्थी' बन गया था। किन्तु पोद्दारजी पर इसका कोई प्रभाव नहीं था। स्थिति के सुधार की चिन्ता एवं चेष्टा अवश्य थी, लेकिन तज्जनित उद्विग्नता नहीं थी। कारण, वह स्थिति अपनी ही सृष्टि थी। जिस दिन उन्होंने राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया था, उसी दिन इसके भावी परिणाम की सारी सम्भावनाओं पर गम्भीरता से विचार कर लिया था। फाँसी पर लटक जाने की तैयारी करके ही ये उस पथ पर अग्रसर हुए थे। शिमलापाल में भगवान् की अहैतुकी कृपा एवं अहैतुक के अपार सौहार्द के अनेक बार दर्शन हो चुके थे। उसके प्रसाद रूप में साधन-जीवन एक नये साँचे में ढल गया था, जिसमें बाह्य अवरोधों तथा प्रभावों के होते हुए भी इन्हें अपार आंतरिक शान्ति का अनुभव होने लगा था।

वृत्ति की चिंता

बंगाल छूटने के बाद परिवार के भरण-पोषण की समस्या विकराल रूप में सामने आयी। व्यापार वंशानुगत पेशा था—उसमें इनकी गति भी थी; किन्तु उसके लिए पूँजी अपेक्षित थी। कलकत्ते के हितैषियों-मित्रों के सम्बन्ध ढीले पड़ गये थे—कुछ राजकोप की आशंका से और कुछ आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाने से। सम्बन्धी भी किनारा-कश हो चुके थे। ऐसी स्थिति में केवल भगवान् का सहारा रह गया था। पोद्दारजी का नाम-जप और ध्यान पूर्ववत् चल रहा था। आध्यात्मिकता के दृढ़ रज्जु में बँधी होने के कारण कुटुम्ब की नौका इस झंझावात से बहने नहीं पायी।

सेठ जमनालाल बजाज का आत्मीयतापूर्ण आह्वान्

पोद्दारजी का किंकर्तव्यविमूढ़ मानस प्रकाश-किरणों की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि एक दिन अचानक बम्बई से सेठ जमनालालजी बजाज का पत्र आया। उसमें लिखा था—'तुम पहले अकेले बम्बई चले आओ। कोई काम शुरू करा दिया जायगा। अभी मेरे साथ रहना। फिर धन्धा स्थिर हो जाने पर परिवार को भी बुला लेना।' यह पत्र पाकर पोद्दारजी को आश्चर्य हुआ। सेठ जमनालालजी बजाज से उनकी एक बार की ही मुलाकात थी—उस समय की, जब वे कलकत्ते में इनके मित्र श्रीओंकारमल सराफ के यहाँ एक लड़की की शादी में बाराती के रूप में आये थे। बारात धामण गाँव (महाराष्ट्र) से गयी थी। यह क्षणिक परिचय इतने आड़े समय में उद्धार का साधन बन जायगा, यह सामान्यतया अकल्पनीय था। पत्र पाने के एक ही दो दिन बाद पोद्दारजी बम्बई चले गये—परिवार को यह आश्वासन देकर कि पाँच-छः महीने में पुनः आकर उन्हें ले जायेंगे या पहले बुला लेंगे।

सेठ जमनालाल बजाज की छत्रछाया

पोद्दारजी की बम्बई यात्रा भाद्र सं० १९७५ में हुई। वहाँ शांताक्रूज में इनकी बुआ रहती थीं। उन्हीं के पास ये ठहरे। दूसरे दिन प्रातः सेठ जमनालालजी बजाज के घर गये। सेठजी ने कुशल-क्षेम पूछने के बाद इन्हें अपने यहाँ व्यापार का ढंग बैठाने में आवश्यक परामर्श के लिए रोक लिया। उनके स्नेहपूर्ण व्यवहार को देखकर ये गद्गद हो गये। ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उनके रूप में इन्हें श्रद्धेय, संरक्षक, आत्मीय तथा सहायक—सब कुछ मिल गया। उन्होंने पोद्दारजी को हर तरह से अपनाया, आगे बढ़ाने का प्रयास किया और उन पर पूरा विश्वास किया। वे अपने हृदय की गुप्त-से-गुप्त बातें इन्हें बतलाते, इनकी सुनते और परामर्श लेते-देते थे। बम्बई के प्रवास-काल में उनके वरदहस्त की छाया पोद्दारजी को निरन्तर प्राप्त रही। यहाँ के व्यापारिक जीवन के उतार-चढ़ाव के समय जमनालालजी का स्नेह-पोषण ही इनका मुख्य संबल रहा।

योगक्षेम की व्यवस्था

बम्बई के व्यावसायिक जीवन में पोद्दारजी का प्रवेश रुई की दलाली के माध्यम से भाद्र सं० १९७५ में हुआ। यह काम श्रीगुलाबराय नेमाणी के साझे में था। तीन-चार महीने चलकर यह बन्द हो गया।

इसके बाद शेयरों की दलाली की ओर प्रवृत्ति मुड़ी। यह भी साझे में थी और साझेदार थे श्रीमदनलाल चौधरी। यह एक वर्ष तक चली। लाभ-हानि बराबर रहा। घर का खर्चा चलता नहीं था, इसलिए इससे भी हाथ खींच लेना पड़ा।

शेयरों की दलाली में भाग्य-परीक्षा का तीसरा खेल सं० १९७७ में आरम्भ हुआ। 'ताराचंद घनश्यामदास' फर्म के मालिक श्रीनिवासदास बालकृष्णलाल पोद्दार के साझे

में। इस नयी फर्म का नाम पड़ा—'एस० डी० पोद्दार एण्ड कम्पनी'। इसमें तीन लाख रुपये व्यापारियों के जिम्मे लेने रह गये। इसमें से दो लाख तो किसी प्रकार से निकल आये, पर एक लाख डूब ही गये। श्रीनिवासदासजी के मुनीमों ने अपने मालिक से हनुमानप्रसादजी के विरुद्ध शिकायतें कीं। श्रीनिवासदासजी का इन पर बहुत अगाध स्नेह था और इनकी ईमानदारी पर अखण्ड विश्वास था। दोनों भाइयों ने मुनीमों को डाँट दिया—'सब-कुछ हमारी सम्मति से हुआ है, हनुमानप्रसाद की इसमें कोई गलती नहीं है। घाटा हुआ तो क्या हुआ ?' मित्र तो अपना कर्तव्य-पालन कर संतुष्ट हो गये, किन्तु इनके हृदय पर इस घाटे का भारी धक्का लगा। ये बार-बार यही सोचते कि मेरे द्वारा एक स्वजन—एक सच्चे मित्र की इतनी बड़ी रकम की हानि हुई है। चिन्ता करते-करते ये बीमार हो गये। स्वास्थ्य-सुधार के लिए नासिक जाना पड़ा। वहाँ लगभग एक मास रहे।

हठयोग का अभ्यास

स्वास्थ्यलाभ के निमित्त की गयी इस नासिक-यात्रा में पोद्दारजी की भेंट दक्षिण के एक योगी से हुई। वे हठयोग की क्रिया करते थे और अष्टाङ्गयोग के, प्राणायामादि के भो अच्छे ज्ञाता थे। अद्वैत मत के अनुयायी थे। इन्होंने उनसे हठयोग की कुछ क्रियाएँ—नेती-धोती आदि सीखीं। प्राणायाम का भी अभ्यास किया। इन क्रियाओं से इन्हें शारीरिक लाभ तो हुआ, पर आध्यात्मिक लाभ का कुछ विशेष अनुभव नहीं हुआ।

सेठ जमनालाल बजाजजी को जब व्यापार में हुए घाटे का पता चला तो उन्होंने पोद्दारजो को अपने यहाँ बुलाकर अपने साले तथा प्रधान मुनीम श्रीचिरंजीलाल जाजोदिया के साथ 'चिरंजीलाल हनुमानप्रसाद' के नाम से कालबा देवी रोड पर अलसी आदि के सट्टे की दलाली आरम्भ करा दी। निजी व्यापार एवं आढ़त का काम भी इसके साथ चलने लगा।

आतंरक्षा

इस फर्म का मुख्य धन्धा था रुई का निर्यात। महाराष्ट्र, नागपुर और वर्धा से मँगाकर रुई विदेश भेजी जाती थी। उस काम को विशेष रूप से चिरंजीलालजी देखते थे। चिरंजीलालजी का यह स्वभाव था कि न तो वे किसी का एक पैसा लेते थे, न अपना कहीं एक पैसा डूबने देते थे। बड़े हिसाबी-किताबी व्यक्ति थे। इस फर्म में रुई के लेन-देन का बाहरी लोगों का भी काम कराया जाता था।

जोधपुर की ओर के साँगीदास थाणवी नाम के एक सज्जन रुई के इस व्यापार से सम्बद्ध थे। उनका काम पोद्दारजी की इसी फर्म के मार्फत होता था। हिसाब में कभी कोई गड़बड़ी नहीं होती थी। एक बार उक्त व्यापारी ने इनका काम किया

और उसमें ६०-७० हजार रुपये लग गये। वे महानुभाव रुपये नहीं दे सके। पोद्दारजी को मालूम था कि उनके पास रुपये नहीं हैं, घाटा अधिक हुआ है, इसी से वे विवश हैं। किन्तु चिरंजीलालजी इस प्रकार गम खाने वाले नहीं थे। उन्होंने जब देखा कि साँगीदास रुपये नहीं दे पा रहे हैं, तो उनके विरुद्ध दीवानी में दावा दायर किया। बात सत्य थी ही। कागज-पत्र भी दुरुस्त थे। अतः इनकी उक्त व्यापारी पर डिग्री हो गयी। चिरंजीलालजी ने रुपये वसूल करने के लिए प्रयास करके कुर्की जारी करा दी। पोद्दारजी उस व्यापारी की इस स्थिति से परिचित थे कि उसके पास नकद कुछ भी नहीं है। जो-कुछ है, वह गहना है। यदि वह भी चला गया तो उसके बच्चों को भूखा मरना पड़ेगा। इनके मन में उसके प्रति बड़ी सहानुभूति उत्पन्न हुई; किन्तु चिरंजीलालजी की प्रकृति को समझकर उनसे कुछ कहने का साहस नहीं पड़ा। एक उपाय सूझ गया। इन्होंने तत्काल उसे फोन किया—'हमारे यहाँ से आप के यहाँ कुर्की जा रही है, सावधान हो जाइये और जो-कुछ भी इधर-उधर करना हो, कर दीजिये।' इसके बाद कुर्की वाले उनके घर गये, पर वे पहले से ही सावधान हो गये थे। इसलिए कुछ मिला नहीं, खाली हाथ लौट आये। चिरंजीलालजी को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ। पोद्दारजी ने उनसे स्पष्टतः सब बातें कह देने का निश्चय कर लिया। इन्होंने उनके पास जाकर बता दिया कि इस प्रकार उस व्यापारी को फोन किया था। सेठ चिरंजीलालजी इन्हें बहुत मानते थे; बोले—'जब आपको फोन करना था, तो मुझे पहले ही क्यों नहीं बता दिया? कुर्की भेजते ही नहीं। बेकार इसमें कुछ और रुपये लग गये'।

इसी प्रकार इसके पूर्व बालकृष्णलालजी के साझे में व्यापारियों के यहाँ एक लाख से ऊपर रुपये डूबने पर इन्होंने उन्हें तंग करके वसूल करने की अपेक्षा संतोष करके घर बैठना ही श्रेयस्कर समझा था।

यह कारोबार पोद्दारजी के बम्बई-प्रवास-काल के अंत (सं० १९८४) तक चलता रहा। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इनको परिवार के भरण-पोषण की चिंता से एक सीमा तक मुक्ति मिल गयी और वृत्तिविषयक मानसिक उद्विग्नता का भार हलका हो गया। अब ये अपना कुछ समय इच्छानुसार अन्य कार्यों में सुविधापूर्वक लगा सकते थे।

जाको राखै साइयाँ!

बम्बई आये कुछ ही दिन हुए थे। व्यापार का ढंग अभी पूरी तरह से बैठ नहीं पाया था। दूकान से निवास-स्थान दूर पड़ता था। धंधे का काम निबटाकर घर जाने में रात हो जाती थी। एक दिन इसी आवागमन में एक रोमाञ्चक घटना घट गयी। पोद्दारजी के ही शब्दों में उसका वर्णन निम्नांकित है—

"सन् १९१९ की बात है। मैं बम्बई में रहता था। रात को अपने फूफा श्रीलक्ष्मीचंदजी लोहिया के घर पर, जो बम्बई से कुछ दूर बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे के शांताक्रूज स्टेशन के समीप पं० शिवदत्तरायजी वकील के बंगले में रहते थे, जाकर खाया और सोया करता था। एक दिन की बात है, रात को करीब ८ बजे थे। कृष्णपक्ष की अँधेरी रात थी। मैं लोकल ट्रेन से जाकर शांताक्रूज के प्लेटफार्म पर उतरा। अब तो दोनों ओर प्लेटफॉर्म है, उस समय एक ही ओर था और रोशनी का भी प्रबंध नहीं था, न इंजन में ही सर्चलाइट रहती थी। श्रीशिवदत्तराय के बंगले में जाने के लिए रेलवे लाइन लाँघकर उस ओर जाना पड़ता था। मैंने बेवकूफी की। दौड़कर इंजन के सामने से लाइन पार करने लगा। लोकल ट्रेन दो ही मिनट ठहरती थी। मैं नया था, मैंने समझा, गाड़ी छूटने से पहले ही मैं लाइन पार हो जाऊँगा। परन्तु ज्यों ही मैंने लाइन पर पैर रखा, त्यों ही गाड़ी छूट गयी। ईश्वरीय प्रेरणा और प्रबंध से उसी समय किसी अज्ञात पुरुष ने मेरा हाथ पकड़ कर जोर से खींच लिया। मैं दूसरी लाइन पर जाकर गिर पड़ा। गाड़ी सर्राटे से निकल गयी। तीन काम साथ हुए—मेरा लाइन लाँघने जाना, गाड़ी का छूटना और किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा खींचा जाना। एक-ही-दो सेकेंड के विलंब में मेरा शरीर चकनाचूर हो जाता, परन्तु बचाने-वाले प्रभु ने उस अँधेरी रात में उसी जगह पहले ही मुझे बचाने का प्रबन्ध कर रखा था। मैं थर-थर काँप रहा था। ईश्वर की दयालुता पर मेरा हृदय गद्‌गद हो रहा था। आँखों से आँसू बह रहे थे। मैंने स्टेशन के धुँधले प्रकाश में देखा—एक नौजवान बोहरा मुसलमान खड़ा हँस रहा है और बड़े प्रेम से कह रहा है—'आइंदा ऐसी गलती न करना। आज भगवान् ने तुम्हारे प्राण बचाये।' मैंने उसका मूक अभिनंदन किया, कृतज्ञता प्रकट की। लाइन पर बिछे रोड़ों में जा गिरा था। परन्तु दाहिने पैर में एक रोड़ा जरा-सा गड़ने के सिवा मुझे कहीं चोट नहीं लगी। मैं दौड़कर घर चला गया और ईश्वर को याद करने लगा।"

आजानुबाहु ने इस प्रकार एक अनुगत जीव की रक्षा कर लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

ऊपर से देखने पर तो पोद्दारजी का बम्बई का व्यापारी-जीवन असफल ही कहा जायगा, किन्तु यह असफलता ही उनके जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति का सुदृढ़ साधन बन गयी।[1] सूत्रधार के जिन हाथों शिलांग की कोठी और कलकत्ता की दूकान 'स्वप्न की संपत्ति' बन गयी थी, उसी के संकेत से बंबई का रंगमंच भी संचालित हो रहा

---

१. व्यापार-धनेच्छा का शमन हो गया। लाखों कमाये, लाखों खोये। जो-कुछ भी हाथ आया, उससे मुक्तहस्त होकर साधु संतों, दीन-दुःखियों, पंडितों और विद्वानों की सेवा की। जोड़ा नहीं। इसलिए नहीं कि करोड़पति बनने की इच्छा थी ही नहीं, नियति ने एक प्रसुप्त वासना की भोग के द्वारा तृप्ति करायी। फिर वह सदा के लिए तिरोहित हो गयी।

था। भेद केवल स्थान एवं परिस्थितियों का था। पोद्दारजी को यह तथ्य अविदित न था। वे आश्वस्त थे—इस स्थिति को भगवत्-कृपा का प्रसाद मानकर। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर वे लिखते हैं—

'भगवान् के मंगलमय विधान के अनुसार मुझे व्यापार में सफलता नहीं मिली।........मिलती तो पैसेवालों का-सा ही जीवन होता।''

असफलता के बावजूद बम्बई में इनके स्नेही और साझेदार व्यापारियों ने जो आत्मीयता, उदारता तथा सहिष्णुता बरती और जो सम्मान दिया, उसे ये कभी भुला नहीं सके।[1] विशेष रूप से सेठ जमनालालजी बजाज और पोद्दार बन्धुओं (श्रीनिवासदासजी तथा श्रीबालकृष्णलाल) के ये आजीवन कृतज्ञ बने रहे।[2]

पुत्र की मृत्यु

पोद्दारजी के बम्बई आने के बाद रतनगढ़ से परिवार भी चला आया था। यहीं श्रावण सं० १९७७ में पुत्र उत्पन्न हुआ। धर्मपत्नी रामदेई से यह उनकी पहली संतान थी। सामान्य बीमारी के बाद डेढ़ वर्ष की अल्पायु भोगकर बालक दिवंगत हो गया।

व्यापारिक जीवन में असफलताओं का ताँता जीवन पर एक के बाद दूसरी चोट दे ही रहा था, इस घटना ने कुछ समय के लिए पत्नी को अत्यधिक चिंतामग्न कर दिया। दादी को आगे अंधकार दीखने लगा—तीन-तीन दुधमुँहे परपोतों को 'जल-प्रवाह' देकर वे भविष्य के प्रति आशंकित हो गयीं। पोद्दारजी को इसमें

---

१. कलकत्ता के मारवाड़ी समाज की अपेक्षा बम्बई के जातीय बन्धुओं के व्यवहार में महान् अंतर देखने में आया। वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन में कार्य करते हुए भी इन्होंने समाज की जो सेवाएँ की थीं, उनके बदले घृणा, संदेह और अपमान ही हाथ लगा था—सरकार के भय से वहाँ के धनपति इतने आतंकित हो गये थे कि इन्हें दूध की मक्खी की भाँति निकाल फेंकने में ही उन्हें सुख और शान्ति मिली थी; किन्तु बम्बई के मारवाड़ी समाज ने निर्भय होकर इनका स्वागत किया, सम्मान दिया, श्रद्धा और विश्वास दिया तथा इससे भी अधिक, अपना अभिन्न अंग मानकर प्रत्येक ऊँची-नीची स्थिति में अपनाया।

२. श्रीजमनालालजी, श्री चिरंजीलालजी, श्रीनिवासदासजी तथा श्रीबालकृष्णलालजी ने मुझसे जो आदर्श व्यवहार किया, वह सदा स्मरणीय है। मेरे द्वारा श्रीनिवासदास तथा श्रीबालकृष्णलालजी की आर्थिक हानि हुई, पर उसके लिए उन्होंने कभी एक शब्द उलाहने का तो कहा ही नहीं, मृत्यु के अंतिम क्षण तक दोनों भाई मुझे प्यार ही देते रहे, मेरा हृदय से आदर करते रहे।

—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार के निबंध से।

भी भगवान् की कृपा का आभास मिला। उनके मुँह से नरसी मेहता के ये शब्द निकल गये :[1]

'भल्युँ थयूँ भाँगी जंजाल। सुखे भजीस्यूँ श्रीगोपाल॥'

(अच्छा हुआ जंजाल मिट गया, अब सुख से श्रीगोपाल का भजन करूँगा।)

राजनीतिक प्रवृत्ति का पुनरुत्थान

शिमलापाल के नजरबंदी जीवन में की गयी कठोर साधना से वृत्तियाँ अंतर्मुखी हो गयी थीं, किन्तु उनके संस्कार बीज-रूप में विद्यमान थे। अनुकूल वातावरण पाकर बम्बई में वे अंकुरित होने लगे। राजनीतिक तथा सामाजिक गतिविधियाँ पुनः आरंभ हो गयीं, किन्तु परिवर्तित रूप में। शिमलापाल में २१ महीने तक नाम-जप और ध्यान की जो साधना की गयी थी, उसके फलस्वरूप हिंसात्मक राजनीति में उनका विश्वास समाप्त हो चला था। सात्त्विक भाव के उद्रेक से अंग्रेजों को 'शत्रु' समझकर उनकी हत्या करके मातृभूमि को बंधन-मुक्ति का प्रयास अनुचित प्रतीत होने लगा। इस परिवर्तन में सेठ जमनालालजी बजाज और महात्मा गांधी का घनिष्ठ संपर्क विशेष सहायक हुआ।

बम्बई आने के डेढ़ वर्ष बाद-तक अंग्रेजी सरकार के गुप्तचर इनके पीछे लगे रहे। किन्तु इस अवधि में उन्हें क्रांतिकारी आंदोलन से इनकी संलग्नता का कोई प्रमाण न प्राप्त हो सका। अतः सरकार ने उनके द्वारा दी गयी सूचनाओं के आधार पर इनकी गतिविधियों के सम्बन्ध में की जानेवाली जाँच बंद कर दी। उसी के साथ इनके बंगाल-निष्कासन का आदेश भी वापस ले लिया गया।

सेठ जमनालाल बजाज का संसर्ग

सेठ जमनालाल बजाज बम्बई में राजनीतिक जागृति के प्रकाशस्तम्भ थे। वे राष्ट्रनेताओं के कल्पवृक्ष माने जाते थे। तत्कालीन सम्मान्य नेताओं से उनका परिचय था। बम्बई में जो भी नेता आते, उनके मेहमान होते। लेमिंग्टन रोड पर स्थित

---

१. इसी प्रकार के उद्गार अयोध्या के प्रसिद्ध रामभक्त महात्मा बनादास ने अपने पुत्र की मृत्यु पर प्रकट किये थे—

कृपापात्र को रुज मिलै। निर्धनता अपमान॥
कुलकुटुम्ब को नास भै। अति करुना भगवान॥
अति करुना भगवान। बंस को छेदन कीना॥
ममता रही न कहूँ। सिथिल मन तन सुठि खीना॥
बनादास पीछे दिए, दृढ़ता आतम ज्ञान।
कृपापात्र को रुज मिलै। निर्धनता अपमान॥

समान परिस्थितियों में महापुरुषों की प्रतिक्रियाएँ प्रायः एक-सी होती हैं।

उनकी कोठी 'मणिभवन' राष्ट्रीय अतिथि-गृह बन गया था। जमनालालजी पोद्दारजी की कार्यकुशलता, विनम्रता, सेवा-भावना और राष्ट्रनिष्ठा से पूर्णतया परिचित थे। उनका इनपर पुत्रवत् स्नेह भी था; अतः 'मणिभवन' में आतिथ्य की सारी व्यवस्था इन्हीं को सौंप रखी थी। कोठी में ऊपर एक बड़ा हॉल था, नेतागण उसी में ठहरते थे। कर्मचारियों को आदेश था कि नेताओं के आने पर उनके भोजन, भ्रमण और वापसी के समय आवश्यकतानुसार मार्ग-व्यय आदि की सम्मानपूर्वक व्यवस्था कर दें। इतना ही नहीं, सेठजी नेताओं के घर जाकर स्वयं उनकी आवश्यकताओं का पता लगाते और उनकी पूर्ति की व्यवस्था करते थे।

लोकमान्य से नैकट्य

श्रीबालगंगाधर तिलक की राजनीतिक विचारधारा पोद्दारजी के मनोनुकूल पड़ती थी। कलकत्ता में क्रांतिकारी जीवन आरम्भ करने के समय से ही ये उनके प्रशंसक थे। बम्बई आने पर इस क्षेत्र में कार्य करते हुए उनके अत्यन्त निकट आ गये। उनके साथ घर पर घण्टों बैठकर राजनीतिक चर्चा करते रहते। तिलक महाराज की मृत्यु १ अगस्त १९२० को हुई। उस समय पोद्दारजी उनके पास थे। उनके शरीर छोड़ने के पूर्व का एक संस्मरण सुनाते हुए पोद्दारजी ने कहा था—'आर्यों के आदि निवास के विषय में तिलक महाराज ने पुनः एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने अपनी पुरानी मान्यता का संशोधन किया था। नयी मान्यता के अनुसार आर्य भारतवर्ष के ही थे। यह पुस्तक उन्होंने मुझे दिखायी थी। परन्तु उसे प्रेस में छपने के लिए देने से पहले ही उनका देहांत हो गया। इसके पश्चात् उस पुस्तक की पांडुलिपि क्या हुई, कुछ पता नहीं। पीछे मैंने उस पुस्तक के सम्बन्ध में पता लगाया था, पर कोई संधान न मिल सका'।

लाला लाजपतराय की स्नेह-प्राप्ति

लाला लाजपतराय स्वदेशी आंदोलन के सम्बन्ध में बराबर बम्बई आया करते थे। उनकी राष्ट्रीयता धर्मभावना से अनुप्राणित थी; उनके निकट वह अध्यात्म-साधना का ही प्रतिरूप थी। पोद्दारजी को उनकी इस विचार-पद्धति में अपने हृदय की वाणी की प्रतिध्वनि सुनाई दी। विचार-साम्य संपर्क-स्थापना का कारण बन गया। लालाजी बम्बई आने पर इनके अतिथि होने लगे। एक दिन वे बिना पूर्वसूचना के सहसा आ गये। उस समय पोद्दारजी जुहू में रहने वाले एक ज्योतिषी से मिलने गये थे। लौटने पर लालाजी ने भेंट होते ही पूछा—'कहाँ गये थे?' इन्होंने कहा—'जुहू में एक ज्योतिषी रहते हैं, उनसे मिलने गया था।' लालाजी ने हँसकर कहा—'वह कुछ जानता भी है? कल जाओ तो पूछकर आना—लाजपतराय कब पकड़ा जायगा। मेरे अमुक-अमुक साथी पकड़ लिये गये।'

गांधीजी से संपर्क-वृद्धि

महात्मा गांधी से पोद्दारजी का प्रथम परिचय कलकत्ता में उनके सम्मान में आयोजित एक अभिनन्दन के अवसर पर हुआ था। बम्बई में रहते हुए सेठ जमनालालजी बजाज के माध्यम से वह पुष्ट हो गया। गांधीजी सेठ जमनालालजी को अपना पाँचवाँ पुत्र मानते थे। जमनालालजी ने भी उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। गांधीजी से सम्बन्ध की आरम्भिक स्थिति में जमनालालजी से उनकी इस घनिष्ठता का पोद्दारजी को पूरा लाभ मिला। धीरे-धीरे परिचय आत्मीयता में परिणत हो गया। गांधीजी जब भी साबरमती से बम्बई आते, तो दादी रामकौर देवी से मिलने पोद्दारजी के घर आते थे। ये भी अनिवार्य रूप से उस अवधि में उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे। उनकी सादगी, सेवावृत्ति, स्वदेशी-निष्ठा, स्वावलंबन, आध्यात्मिकता, रामनाम में निष्ठा आदि चारित्रिक विशेषताओं का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। गांधीजी के स्नेह-सम्बन्ध से हिंसा में इनकी रही-सही आस्था तिरोहित हो चली और ये पूर्णरूप से अहिंसा के पुजारी हो गये।

बापू के संस्मरण

गांधीजी के सान्निध्य में बीते बम्बई-जीवन के कई अत्यन्त रोचक तथा शिक्षाप्रद संस्मरण पोद्दारजी को याद थे। एक दिन उन्होंने बताया—

"गांधीजी बम्बई पधारे थे और जुहू में ठहरे थे। वे कुछ बीमार हो गये। मैं और एक शांतिदेवी बहन मोटर से गांधीजी से मिलने गये। उन दिनों गांधीजी का एक पत्र 'नवजीवन' गुजराती में निकलता था। जब हमलोग जुहू जा रहे थे तो रास्ते में 'नवजीवन' की प्रति मिली। उसमें छपा था—'गांधीजी बीमार हैं, उनसे मिलने के लिए कोई न जाय।' हमलोग उस समय तक जुहू के समीप पहुँच गये थे। मन में आया,—समीप आ गये हैं, बँगले तक हो आवें। फिर लौट आयेंगे, मिलेंगे नहीं। भाई देवदास हमें नीचे मिले। हमलोग भाई देवदास से मिले तथा उनसे बापू के स्वास्थ्य के विषय में पूछा और लौटने लगे। भाई देवदास ने कहा—'आप लोग आये हैं। बापू को खबर तो दे दूँ। आप जरा ठहरिये, लौटते क्यों हैं?' भाई देवदास ऊपर गये और लौटकर बोले—'आपलोगों को बापू ने ऊपर बुलाया है।' अब तो हमलोग विवश थे। हमलोग ऊपर गये और बापू को प्रणाम किया। हँसकर डाँटते हुए बापू बोले—'लौट क्यों रहे थे?' मैंने कहा—'बापू, 'नवजीवन' में छपा है, इसलिए लौट रहा था'। बोले—'यह घरवालों के लिए छपा है क्या? देवदास यहाँ नहीं रहेगा क्या?' फिर उन्होंने समझाया—'देखो, यह तो उन लोगों के लिए है, जो यहाँ आवें और शिष्टाचार के नाते उनसे मुझे बोलना ही पड़े, चाहे मुझे बोलने में कष्ट ही हो। मैं यदि उनसे न बोलूँ तो उनको कष्ट हो, दुःख हो। इसलिए उन लोगों को आने से रोक

दिया है। तुम आओ, तुमसे मैं एक शब्द भी न बोलूँ; तुम बैठे हो, तुमसे न बोलूँ तो तुम्हें उसमें तनिक भी विचार नहीं होगा; अतएव तुम्हारे आने में मुझे क्या संकोच है? आये हो, कुछ देर बैठो।' बापू का बड़ा प्यार था, अपनत्व था। हमलोग कुछ देर बैठे, फिर लौट आये। बापू की सब बातें मैं नहीं मानता हूँ और न पहले ही मानता था, पर उनके प्यार में, अपनत्व में कभी अंतर नहीं आया। एक पत्र उन्होंने लिखा था, जिसमें उन्होंने इसका उल्लेख किया है। अस्तु।''

२. ''बापू बम्बई पधारे थे, लेबरनम रोड पर ठहरे थे। उस समय मेरे साथ बालूरामजी[1] नाम के एक सज्जन, जो राजस्थान के थे और 'रामनाम के आढ़तिया' कहलाते थे, ठहरे हुए थे। श्रीजमनालालजी बजाज भी बम्बई में थे। मैं, जमनालालजी बजाज तथा रामनाम के आढ़तिया—तीनों गांधीजी के पास गये। गांधीजी ने बालूराम का पूरा परिचय पूछा। बालूरामजी ने अपनी बही खोलकर सामने रख दी और बोले—'इस पर सही करो और नाम जप करो'। वे ऐसे ही बोलते थे। हमलोगों ने गांधीजी को उनके सम्बन्ध में सब बातें बतायीं। वे बड़े प्रसन्न हुए। बोले—'भगवान में लोगों को लगाना बड़ा अच्छा काम है।' थोड़ी देर रुककर बोले—'देखिये, आप कहें तो मैं सही कर दूँ, पर एक बात है—जब मैं अफ्रीका में था, तब तो संख्या से नाम-जप करता था, पर अब तो मेरा दिनभर नाम-जप चलता है। जब उसकी संख्या नहीं है, तब उसको संख्या में क्यों बाँधते हैं?'' इस पर जमनालालजी ने कहा—''बापू! आपको सही करने की आवश्यकता नहीं है।' बापू ने सही नहीं की।''

३. 'कल्याण' का 'भगवन्नामांक' निकलने वाला था। सेठ जमनालालजी को साथ लेकर मैं बापू के पास गया, रामनाम पर कुछ लिखवाने के लिए। बापू ने हँसकर कहा—'जमनालालजी को साथ क्यों लाये हो? क्या मैं इनकी सिफारिश मानकर लिख दूँगा? तुम अकेले ही क्यों नहीं आये?' सेठजी मुसकराये। मैंने कहा—'बापू!

---

१. आढ़तिया का नाम पं० बालूरामजी था। बचपन में ही इनको रामनाम की लगन लग गयी थी। इनका जन्म शेखावटी, सीकर जिले के अन्तर्गत लक्ष्मणगढ़ में सं० १९३३, फाल्गुन शुक्ल ८ को हुआ था। इनके पिताजी का नाम रतीरामजी था। बालूरामजी का मन अध्ययन में नहीं लगता था। पिताजी पाठशाला भेजते थे, किन्तु ये वहाँ न जाकर मंदिरों में चले जाते थे। पिता के अथक प्रयास के बाद भी साधारण पढ़ने लिखने और मामूली हिसाब-किताब सीख लेने के अतिरिक्त इनकी पढ़ाई आगे नहीं बढ़ सकी। पिता की आज्ञा से कुछ समय तक इन्होंने व्यापार भी किया, किन्तु उसमें भी मन नहीं लगा। सं० १९६८ में नवलगढ़ (राजस्थान) के प्रसिद्ध मानसिंहका घराने की श्रीयुत गणेशदास कन्हैयालाल फर्म में तीस रुपये मासिक वेतन पर मुनीम होकर आसाम के तेतलिया नामक स्थान में गये। वहाँ भी वृत्ति रमी नहीं। तेतलिया से ही इन्होंने रामनाम की आढ़त का कारोबार आरम्भ किया और फिर सम्पूर्ण भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

बात तो सच है। मैं इनको इसीलिए लाया था कि आप लिख ही दें।' बापू हँसकर बोले—'अच्छा, इस बार माफ करता हूँ, आइन्दा ऐसा अविश्वास मत करना।' फिर कलम उठायी और तुरंत लिख दिया—

''नाम की महिमा के बारे में तुलसीदासजी ने कुछ भी कहने को बाकी नहीं रखा है। द्वादश मंत्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोहजाल में फँसे हुए मनुष्य के लिए शान्तिप्रद हैं। इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले, उस मंत्र पर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शांति का अनुभव ही नहीं है, ओर जो शांति की खोज में है, उसको तो अवश्य राम नाम पारसमणि बना सकता है। ईश्वर के सहस्त्र नाम कहे जाते हैं, इसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु देहधारी के लिए नाम का सहारा अत्यावश्यक है और इस युग में मूढ़ और निरक्षर भी रामनाम रूपी एकाक्षर मंत्र का सहारा ले सकता है। वस्तुतः 'राम' उच्चारण की दृष्टि से एकाक्षर ही है और ओंकार में और राम में कोई फरक नहीं है। परंतु नाम-महिमा बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकी है, श्रद्धा में अनुभवसाध्य है।''

संदेश लिखकर बापू मुसकराते हुए बोले—'तुम मुझसे ही संदेश लेने आये हो, जगत् को उपदेश देने के लिए या खुद भी कुछ करते हो? रोज नाम-जप का नियम लो तो तुम्हें संदेश मिलेगा, नहीं तो मैं नहीं दूँगा।' मैंने कहा—'बापू! मैं कुछ जप तो रोज करता ही हूँ, अब कुछ और बढ़ा दूँगा।' बापू ने यह कहकर—'भाई, बिना कीमत ऐसी चीज थोड़े ही दी जाती है!' मुझे संदेश दे दिया। सेठजी को कुछ बातें करनी थीं। वे ठहर गये। मैंने चरणस्पर्श किया और आज्ञा प्राप्त करके लौट आया।''

४. ''गोरखपुर आ जाने के पश्चात् किसी काम से मैं बम्बई गया था और वहाँ से रतनगढ़ जा रहा था। उस समय अहमदाबाद होकर गाड़ी जाती थी। बम्बई से चलकर जब गाड़ी बदलने के लिए मैं अहमदाबाद उतरा, तब गांधीजी के दर्शनार्थ उनके आश्रम पर गया। अहमदाबाद के निकट ही गांधीजी का साबरमती आश्रम था। मैं आश्रमपर पहुँचा। मेरे हाथ में 'कल्याण' का अंक था। संयोग की बात, उस अंक में 'भगवन्नाम-जप' की प्रार्थना छपी थी। गांधीजी ने 'कल्याण' का अंक अपने हाथ में ले लिया और उसे देखने लगे। 'भगवन्नाम-जप के लिए विनीत प्रार्थना'—लेख देखकर पूछने लगे—'यह क्या है?' मैंने बताया कि किस प्रकार **'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'** भगवान् के इस षोडश नाम-मंत्र-जप के लिए प्रतिवर्ष 'कल्याण' में प्रार्थना प्रकाशित की जाती है और किस प्रकार पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साह से नाम-जप करती हैं। इतना सुनते ही पूछने लगे—

'कितना जप हो जाता है ?' मैंने कहा—'कई करोड़ हो जाता है।' इसपर वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'तुम बड़ा अच्छा करते हो। इसमें १०-१५ व्यक्ति भी यदि सच्चे भाव से जप करते होंगे तो उनका उद्धार हो जायगा।' फिर बोले—'देखो, मैं भी नाम-जप करता हूँ।' और उन्होंने गोल तकिये के नीचे से तुलसी की माला निकाली और दिखाते हुए बोले,—"इसी के सहारे रात्रि के समय जप करता हूँ।" संयोग से उनकी वह माला टूटी हुई थी और मेरी जेब में तुलसी की एक नयी माला थी। मेरे मन में आया—इनकी टूटी माला की जगह नयी माला बदल दूँ। मैंने बापू से प्रार्थना की—'बापू ! आपकी यह माला तो टूट गयी है। इसे आप मुझे दे दीजिये और आप नयी माला ले लीजिये।' यह कहकर मैंने अपनी जेब में से नयी माला निकालकर उनकी ओर बढ़ायी। बापू बड़े विनोदी थे, उन्होंने अत्यन्त प्रेमभरा विनोद किया—'तुम मुझे माला देने आये हो ?' मैं तथा पास बैठे लोग हँस पड़े। मैंने कहा—'बापू ! माला टूट गयी है, इससे बदलना चाहता था। आपको माला मैं क्या दूँगा !' मेरे उत्तर से वे बड़े प्रसन्न हुए, फिर बोले—'मुझे नयी माला दोगे तो तुम्हें साथ में कुछ दक्षिणा भी देनी होगी। दान के साथ दक्षिणा भी होती है।' मैंने कहा—'आपकी कृपा है, बोलिये तो, क्या देना पड़ेगा' ? तब उन्होंने गम्भीर होकर कहा—'तुम अभी जितना नाम-जप करते हो, उसके सिवा एक माला जप और अधिक कर लिया करो। तब हम तुम्हारी माला लेंगे।' मैंने कहा—'क्या हर्ज है ?' बापू ने प्रसन्नतापूर्वक नयी माला रख ली। उस दिन से मैं अपने जप के अतिरिक्त एक माला जप और करता हूँ। आजतक वह नियम अक्षुण्ण रूप में निभता चला आया है।"

५. "सन् १९३२ की बात है। भाई देवदास गांधी गोरखपुर जेल में कैद थे। वहाँ वे बीमार हो गये—टाइफायड हो गया था उन्हें। जेल अधिकारी भाई देवदास की सँभाल ठीक से न कर सके। बापू को इसका पता चला। उन्होंने मुझे लिखा—'देवदास गोरखपुर जेल में बीमार है। उसकी देखभाल का, चिकित्सा आदि का सारा भार तुमपर है।'

बापू उस समय यरवदा जेल में थे। उनका आदेश प्राप्त होते ही मैं भाई देवदास की सेवा में लग गया। कानूनन प्रतिदिन जेल में जाकर मिलना सम्भव नहीं था, पर मेरे प्रति यहाँ के अधिकारियों की सदा से ही बड़ी सद्भावना रही है। उन्होंने मुझे प्रतिदिन भाई देवदास से मिलने की अनुमति दे दी। कुछ दिनों में देवदासजी ठीक हो गये और जेल से छोड़ दिये गये। मैं उन्हें पहुँचाने वाराणसी तक साथ गया था।

मैं तार-पत्र द्वारा बापू को बराबर भाई देवदास की स्थिति का परिचय कराता रहता था। बापू मेरी उस तुच्छ सेवा से इतने मुग्ध हो गये कि उन्होंने लिखा था—

यरवदा मंदिर
२१-७-३२

भाई हनुमानप्रसाद,

आपका पत्र मिला, और आज तार भी। देवदास के लिए चिन्ता नहीं करूँगा, क्योंकि आप वहाँ हैं और देवदास ने मुझको भी········(है) कि आपने उससे बड़ा प्रेम किया था। डाक तार तो अच्छा है। आप के पत्र की आजकल हमेशा प्रतीक्षा करता रहूँगा।

बापू के आशीर्वाद

भाई हनुमानप्रसाद,

देवदास की चिन्ता तुम्हारे सिर से उतरी, मुझे सब खत मिले हैं। मैं अनुग्रह क्या मानूँ ? क्यों मानूँ ? ऐसी सेवा मूक रहकर लेना ही मुझे तो सभ्यता प्रतीत होती है। सब सच्ची सेवा का बदला मनुष्य नहीं दे सकता है, ईश्वर ही दे सकता है।

२-८-३२

बापू के आशीर्वाद"

बापू के कुछ अन्य पत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

भाई हनुमानप्रसाद,

तुम्हारे पत्र मुझको हमेशा प्रिय लगते हैं। अब के पत्र अधिक प्रिय लगते हैं, क्यों उनमें से तुम्हारी सत्यपरायणता का और भी अनुभव मिलता है। बुद्धि के प्रयोग करके मैं अब अपनी बात नहीं समझा सकूँगा। इतना मानो कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, ऐसा लगता है वह मैं नहीं कर रहा हूँ। मुझको कोई करा रहा है। वह मेरी दृष्टि में निरंजन-निराकार राम है, लेकिन दशमुख रावण भी हो सकता है। इसका पता तो मृत्यु के बाद ही जहाँतक शक्य है, मिल सकता है, और थोड़े परिणाम से मिल सकता है। पूर्णतया तो मिल ही नहीं सकता है, क्योंकि मनुष्य-हृदय की बात अन्तर्यामी के सिवा कोई जानता ही नहीं है।

तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा हो रहा होगा। मुझको लिखा करो।

१६-१२-३२

बापू के आशीर्वाद

भाई हनुमानप्रसाद,

मैंने अखबार में ही देखा था कि·······कृष्णकान्त के सामने खड़ी होगी। मुझे

किसी ने पूछा भी नहीं था। इलेक्सन[1] के मामले में मैं पड़ता ही हूँ थोड़ा और कांग्रेस छोड़ने के बाद तो खतम हो गया।

× × ×

कुछ मतभेद होते हुए भी तुम्हारे प्रेम में कुछ भी न्यूनता नहीं आ सकती है, यह मैं जानता हूँ। यही हाल कई मित्रों के हैं। यह ज्ञान मुझे नम्र बनाता है।

वर्धा, १४-५-३५ बापू के आशीर्वाद

× × ×

भाई हनुमानप्रसाद,

तुम्हारा खत मिला, तुम्हारे विचारों को पढ़कर मेरे को बड़ी खुशी होती है और संतोष भी। कभी-कभी ऐसा दिल भी करता है कि तुम जैसा आदमी मेरे साथ रहता, भाई जमनालालजी भी ऐसा ही चाहते हैं। पर जहाँ पर भी तुम रहो, मन साथ है तो साथ ही हो। तुम 'कल्याण' और गीताप्रेस से जो काम कर रहे हो, वह ईश्वर की बड़ी सेवा है। तुम्हारी सेवा में मैं भी अपना हिस्सा मानता हूँ, क्योंकि तुम मुझको अपना समझते हो, वैसा ही मैं भी समझता हूँ।

'कल्याण' में जो तस्वीर छपती है, उससे मुझको संतोष नहीं है। इतने दागीने[2] और श्रृंगार ईश्वर को क्यों? मैंने राघवदास को भी इस बाबत लिखा था।

वर्धा, १६-५-३५ बापू के आशीर्वाद

× × ×

भाई हनुमानप्रसाद,

हिन्दी साहित्य सम्मेलन परीक्षा के लिए जो मुझे लिखा है, सो समिति को लिखा जाय तो अच्छा होगा। काका साहब को आज प्रयाग भेज रहा हूँ। तुम्हारे पत्र का वे उपयोग करेंगे। मैंने सोचा कि तुम्हारे जैसे सज्जन समिति में सदस्य होंगे और उसको पत्र द्वारा भी मदद देते रहेंगे तो भी अच्छा होगा। कितना भी काम है, कोई-कोई समय तो हाजरी भरना भी संभव होना चाहिए। हिन्दी भाषा की उन्नति हिन्दी साहित्य की संशुद्धि तुम्हारा विषय भी तो है·······और जो काम के लिए मेरे लिखने का एक अर्थ था उसका उलटा राघवदासजी ने बना लिया। कुछ लिखने की इच्छा नहीं होती है। लेकिन तुमको मैं क्या कहूँ? यह मेरा एक वाक्य-लेख—योगों के सम्राट् निष्काम कर्मयोग है।

हरिजन पानी फंड के पैसे दिल्ली ही भेज दीजिये।

मगनवाड़ी, वर्धा
१२-७-३५ बापू के आशीर्वाद

---

१. आम चुनाव
२. गहने

भाई हनुमानप्रसाद,

तुम्हारा वर्णन हृदयद्रावक है, बाबा राघवदास का वर्णन भी आ गया है। तुम सब पारमार्थिक काम कर रहे हैं। अच्छा है, ईश्वर तुम्हें सराहेगा और हजारों गरीबों की रक्षा होगी।

४-८-३६ बापू के आशीर्वाद

इनसे स्पष्ट है कि पोद्दारजी का गांधीजी से बड़ा आत्मीय सम्बन्ध था। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में सैद्धान्तिक मतभेद थे, पर उनसे आपसी सम्बन्धों में रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आयी। वह उत्तरोत्तर प्रगाढ़ ही होता गया, और अंततक बना रहा।

मालवीय जी से पारिवारिक सम्बन्ध

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के कलकत्ता आगमन पर पोद्दारजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के निमित्त धन-राशि संग्रह में जो सहयोग दिया था, उससे उनके मन में इनके प्रति ममता उत्पन्न हो गयी थी और वे इन्हें परिवार के सदस्य जैसा स्नेह देने लगे थे। बम्बई आने पर धर्म और राजनीति के सम्बन्ध में ही नहीं, अपनी कौटुम्बिक समस्याओं पर भी वे पोद्दारजी से विचार-विमर्श किया करते थे।

पोद्दारजी ने महामना मालवीयजी से सम्बद्ध अपने कई संस्मरणों का उल्लेख किया है, इनमें से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

१. ''मालवीयजी एकबार गोरखपुर पधारे थे और मेरे पास ही दो-तीन दिन ठहरे थे। उनके पधारने के दूसरे दिन प्रातःकाल मैं उनके चरणों में बैठा था। वे अकेले ही थे। बड़े स्नेह से बोले—'भैया! मैं तुम्हें आज एक दुर्लभ तथा बहुमूल्य वस्तु देना चाहता हूँ। मैंने इसको अपनी माता से वरदान के रूप में प्राप्त किया था। बड़ी अद्भुत वस्तु है। किसी को आज तक नहीं दी, तुमको दे रहा हूँ। देखने में चीज छोटी-सी दीखेगी, पर है महान् 'वरदान रूप'।' इस प्रकार प्रायः आध घंटे तक वे उस वस्तु की महत्ता पर बोलते गये। मेरी जिज्ञासा बढ़ती गयी। मैंने आतुरता से कहा—'बाबूजी! जल्दी दीजिये, कोई आ जायेंगे।'

तब वे बोले—''लगभग चालीस वर्ष पहले की बात है। एक दिन मैं अपनी माताजी के पास गया और बड़ी विनय के साथ मैंने उनसे यह वरदान माँगा कि 'मुझे आप ऐसा वरदान दीजिये, जिससे मैं कहीं भी जाऊँ, सफलता प्राप्त करूँ'।

''माताजी ने स्नेह से मेरे सिर पर हाथ रक्खा और कहा—'बच्चा, बड़ी दुर्लभ चीज दे रही हूँ। तुम जब कहीं भी जाओ, तब जाने के समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण कर लिया करो। तुम सदा सफल होओगे'। मैंने श्रद्धापूर्वक सिर झुकाकर माताजी से मंत्र ले लिया। हनुमानप्रसाद! मुझे स्मरण है, तब से आज तक मैं जब-जब

चलते समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण करना भूला हूँ, तब-तब असफल हुआ हूँ। नहीं तो, मेरे जीवन में चलते समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण कर लेने के प्रभाव से कभी असफलता नहीं मिली। आज यह महामंत्र—मेरी माता की दी हुई परम दुर्लभ वस्तु—तुम्हें दे रहा हूँ। तुम इससे लाभ उठाना।' यह कहते हुए महामना गद्‌गद हो गये।

मैंने उनका वरदान सिर चढ़ाकर स्वीकार किया और इससे बड़ा लाभ उठाया। अब तो ऐसा हो गया है कि घर-भर में सभी इसे सीख गये हैं। जब कभी घर से बाहर निकला जाता है, तभी बच्चे भी 'नारायण-नारायण' उच्चारण करने लगते हैं। इस प्रकार रोज ही, किसी दिन तो कई बार 'नारायण' की और साथ ही पूज्य मालवीयजी की पवित्र स्मृति हो जाती है।''

२. ''जब मैं बम्बई में रहता था, अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। मैं अपने एक तरुण मित्र के साथ बम्बई से अमृतसर पहुँचा। दिसम्बर का अन्तिम सप्ताह था। उस साल कुछ ही दिनों पहले अमृतसर में भयानक वर्षा हुई थी। पंजाब की सर्दी प्रसिद्ध है और इस वर्षा के कारण वहाँ सर्दी बहुत ही बढ़ी हुई थी। हमलोगों ने बम्बई में सर्दी देखी नहीं थी, इससे साधारण कपड़े ले गये थे। दोनों के पास ओढ़ने-बिछाने के लिए एक-एक चद्दर और एक एक हलका-सा कम्बल था।

अमृतसर में हमलोग महामना मालवीयजी के डेरे पर जाकर ठहरे। एक बड़ी धर्मशाला में वे ठहराये गये थे। रात को हम दोनों दो चारपाइयों पर सो गये। शरीर ठिठुर रहा था। छाती पर घुटने दिये पड़े थे। कम्बल से मुँह ढक रक्खा था, पर शरीर काँप रहा था। रात को ९ बजे होंगे, महामना मालवीयजी सबको सँभालते हुए हम लोगों की चारपाइयों के पास आये। मुँह ढके सिकुड़े सोये देखकर उन्होंने पूछा—''कौन हो? कहाँ से आये हो? खाया कि नहीं?'' मैंने मुँह पर से कपड़ा हटाया। तुरन्त उठकर खड़ा हो गया और चरण-स्पर्श किया। मेरे साथी ने भी उठकर चरण-स्पर्श किया। हमलोग काँप रहे थे। उन्होंने मुझे पहचानकर पूछा—''कपड़े कहाँ हैं?'' मैंने कहा—''बिछा-ओढ़ रखे हैं न!'' वे बोले—''बस, ये कपड़े हैं? तुम्हें पता नहीं था क्या? यहाँ कितने कड़ाके का जाड़ा पड़ता है? अमृतसर को बम्बई समझ लिया?'' यह कहते हुए उन्होंने अपने साथ आये एक पंजाबी सज्जन से कहा—''जल्दी आठ कम्बल लाइये।'' फिर पूछा—''खाया कि नहीं?'' मैंने कहा—''खा लिया।'' फिर बोले—''देखो, तुमने बड़ी गलती की, जो मुझसे कहा नहीं। यह तो मैं आ गया, नहीं तो तुमलोगों को रात को बड़ा कष्ट होता और पता नहीं इसका क्या नतीजा होता! क्यों इतना संकोच किया?'' मैं क्या उत्तर देता? इतने में दो-तीन आदमी आठ मोटे कम्बल ले आये। दो-दो कम्बल हमारी चारपाइयों पर बिछा दिये गये और दो-दो हमलोगों के ओढ़ने के लिए रख दिये गये। गरम चाय मँगवाकर

दोनों को पिलायी। जबतक हमलोग चाय पीकर सो न गये, तबतक वे वहीं एक कुर्सी पर बैठे रहे। हमलोग उनके जानेपर ही सोना चाहते थे, पर उन्होंने कहा—"तुमलोग जबतक ओढ़कर सो नहीं जाओगे, तबतक मैं नहीं जाऊँगा।" इसलिए हमें सोना पड़ा। उनकी यह ममता देखकर हम लोगों का हृदय भर आया।"

३. मालवीयजी के चार पुत्र थे—रमाकान्त, राधाकान्त, मुकुन्द और गोविन्द। इनमें से मुकुन्द को उन्होंने पोद्दारजी के पास बम्बई भेज दिया था। वे वहाँ बहुत दिनों तक रहे। पीछे दूसरे पुत्र राधाकान्त भी इलाहाबाद छोड़कर बम्बई चले गये—सट्टे का व्यापार करने। राधाकान्तजी के एक ज्योतिषी मित्र थे। उन्होंने अपने ज्योतिष-ज्ञान के आधार पर राधाकान्तजी को बताया—"आप को सट्टे में बहुत पैसा मिलेगा।"

"बम्बई, सट्टे के व्यापार का, आज की तरह, तब भी सर्वप्रमुख केन्द्र था। मित्र की सलाह पर विश्वास करके राधाकान्त जी सट्टे का व्यापार करने बम्बई चले गये। पर सट्टे में लाभ की आशा मृगमरीचिका सिद्ध हुई। राधाकान्तजी बर्बाद हो गये। मालवीयजी की घर की सारी सम्पत्ति दाँव पर लग गयी। डगमगाती नाव को सँभालने के लिए बाबू शिवप्रसाद गुप्त से रुपया लिया, वह भी चला गया। सेठ युगल-किशोर बिड़ला ने बहुत-सा धन दिया था, मालवीयजी के अनजाने वह भी इसमें होम हो गया। फिर भी राधाकान्तजी का कष्ट दूर नहीं हुआ।

इन्हीं दिनों मेरा काशी जाना हुआ। मैं मालवीयजी से मिलने गया। वे राधाकान्त की बरबादी के कारण बहुत दुखी थे। मुझसे कहने लगे, "देखो, भाई शिवप्रसादजी तथा श्रीयुगलकिशोर बिड़ला का जो पैसा देश के काम में, धर्म के काम में लगना चाहिए था, वह हमारे पुत्र के ऋण पाटने में लग गया। यह बहुत बड़ा पाप हुआ। इसका प्रायश्चित राधाकान्त के लिए यही है कि वह पुआल में आग लगाकर उसमें भस्म हो जाय।" ये शब्द राधाकान्तजी के आचरण से उत्पन्न आन्तरिक वेदना तथा परेशानी के कारण उनके मुँह से निकल गये; पर कुछ ही क्षणों बाद सन्तान की ममता जाग उठी। वे सँभल गये, फिर बोले—"देखो! जो बात तुमसे मैंने कही है, उसे राधाकान्त के सामने प्रकट न करना। उसके मन पर इसका बुरा असर होगा। कहीं कुछ कर न बैठे!"

मेरे बम्बई पहुँचने के बाद शीघ्र ही मालवीयजी का एक तार मिला, जिसमें लिखा था—"तुम राधाकान्त को कहो, विश्वासपूर्वक आर्तभाव से 'गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र' का पाठ करे, ऋण उतर जायेगा।" मैंने मालवीयजी का यह आदेश राधाकान्तजी को बतला दिया, किन्तु उन्होंने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। पीछे मालवीयजी का एक पत्र पुनः मिला। उसमें उन्होंने 'गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र' पाठ के महत्त्व विषयक अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए लिखा था—"मैं नाक तक ऋण में डूब गया था। मैंने

'गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र' का विश्वासपूर्वक आर्तभाव से पाठ किया और मेरा ऋण उतर गया।'' उस पत्र में मालवीयजी ने आगे लिखा था—'रामेश्वरदास बिड़ला से कह देना कि वे राधाकान्त को कुछ न दें'। श्रीरामेश्वरदास बिड़ला उस समय बम्बई में रहते थे और मालवीयजी पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। बम्बई में वे प्रायः उन्हीं के यहाँ ठहरते थे।''

४. मालवीयजी से अन्तरंग परिचय के कारण पोद्दारजी उनके स्वभाव की विशेषताओं से भलीभाँति परिचित थे। उनके बम्बई-प्रवास के एक रोचक संस्मरण की चर्चा करते हुए एक दिन पोद्दारजी ने कहा—''एक दिन मैं मालवीयजी महाराज के साथ सेठ रामेश्वरदास बिड़ला के यहाँ बैठा था। इतने में सनातनधर्म के प्रसिद्ध विद्वान् और वक्ता पं० रमापतिजी मिश्र वहाँ आ गये। बातों-ही-बातों में पंडितजी ने मालवीयजी से कहा, ''आप मुझे सौ गाली दे दें तो भी मुझे क्रोध नहीं आयेगा। आप इसकी परीक्षा करके देख लें।'' मालवीयजी महाराज ने हँसकर उत्तर दिया—''पंडितजी, ! आपका कहना ठीक है, पर आप के क्रोध की परीक्षा तो पीछे होगी, मेरा मुँह पहले ही गन्दा हो जायगा ! भला मैं आपको गाली क्यों दूँ ?'' पंडितजी निरुत्तर हो गये। मालवीयजी की विनोदी वृत्ति और मिष्टभाषी प्रकृति का इस प्रकार परिचय पाकर पोद्दारजी मुग्ध हो गये।

मालवीयजी के साहचर्य से इनकी धार्मिक प्रवृत्ति पुष्ट हुई और राजनीति से धीरे-धीरे मन हटने लगा।

कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके अनेक कर्णधारों से पुराने सम्बन्ध के कारण पोद्दारजी बम्बई के व्यापारिक जीवन में व्यस्त रहते हुए भी समय निकालकर कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहे।

दिसम्बर १९१९ में मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें इन्होंने गरमदल के नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी के रूप में भाग लिया।

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ता में लाला लाजपतराय के सभापतित्व में सन् १९२० में हुआ। इसमें सम्मिलित होने वाले सदस्यों की सुविधा के लिए बम्बई से एक स्पेशल ट्रेन कलकत्ता भेजने की व्यवस्था की गयी थी। इस गाड़ी में महात्मा गांधी और मुहम्मद अली जा रहे थे, उन्हीं के साथ पोद्दारजी भी थे।

उस दिन गाड़ी छूटने के कुछ समय पूर्व स्टेशन पर एक घटना घटी। पोद्दारजी ने उसका विवरण देते हुए कहा—

''बम्बई के जीवन में एक दिन एक बंगाली मेरे पास आये। वे गौड़ीय संप्रदाय के साधु के वेश में थे। मुझसे मिले। उनसे चैतन्य महाप्रभु की एवं भक्तिरस की बहुत-

सी बातें हुईं। बड़ा अच्छा सत्संग हुआ। उस दिन वे चले गये। दूसरे दिन फिर आये। प्रसंगवश उन्होंने कहा, 'मेरे पास कमण्डलु नहीं है, मुझे एक कमण्डलु दिलवा दीजिये।' मैंने उन्हें एक पीतल का कमण्डलु दिलवा दिया। फिर बोले, 'हम आज प्रयाग जायेंगे। हमें प्रयाग का टिकट कटवा दीजिये।' मैंने उन्हें प्रयाग का टिकट मँगवा दिया। संयोग की बात, मालवीयजी महाराज बम्बई आये हुए थे और उसी गाड़ी से वापस लौटने वाले थे। मैं मालवीयजो महाराज को विदाई देने स्टेशन गया था। उनको प्रणाम करने के पश्चात् मेरे मन में आया कि बंगाली स्वामी से भी मिल लिया जाय। वे भी तो इसी ट्रेन से जा रहे होंगे। मैंने उन्हें ट्रेन में देखा, पर मिले नहीं। मैंने सोचा, 'नहीं आये होंगे, कुछ बात हो गयी होगी।'

इसके ३-४ दिन बाद कांग्रेस के अधिवेशन के लिए एक स्पेशल ट्रेन कलकत्ते जा रही थी। उसमें गांधीजी थे, मुहम्मद अली थे। पास के एक डिब्बे में मैं भी था। अचानक हो-हल्ला हुआ। मैंने डिब्बे से बाहर निकल कर देखा, मुहम्मद अली साहब एक साधु को पीट रहे हैं। मैं उनके पास गया और कहा—'आप यह क्या कर रहे हैं? एक साधु को पीट रहे हैं।' अली साहब बोले—'आप जाकर डिब्बे में बैठिये। यह साधु है कि क्या है, सो हम जानते हैं। यह सी० आई० डी० का आदमी है और धोखा देकर हमलोगों के साथ कलकत्ता जाना चाहता है।' मैंने कहा, 'ये स्वामीजी ३-४ दिन पहले मुझसे मिले थे। इन्होंने मुझसे एक कमण्डलु माँगा था। मैंने कमण्डलु खरीदवा दिया था। प्रयाग के लिए टिकट भी कटवा दिया था। मुझे क्या पता कि ये महाशय इस प्रकार साधु का स्वाँग बनाये घूम रहे हैं।' फिर मैंने उन साधु बाबा से पूछा, 'महाराजजी! आपको उस दिन टिकट बनवा दिया था, आप उस दिन क्यों नहीं गये?' इसपर वे बोले, 'हमारा कमण्डलु ही खो गया था, इसलिए उस दिन जाना नहीं हुआ।' तब मैंने कहा—'महाराजजी! झूठ न बोलिये। ठीक-ठीक कहिये कि आप कौन हैं?' मेरे इस व्यवहार का उनपर प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्वीकार किया—'मैं सी० आई० डी० का आदमी हूँ। मैं कलकत्ते से बम्बई आया था और अब वापस कलकत्ता जाना चाहता हूँ।' इतने में गांधीजी भी वहाँ आ गये। सब लोग खड़े हो गये। फिर उन संन्यासी को छुड़ा दिया गया।''

इससे यह व्यक्त होता है कि उन दिनों शासनतंत्र की प्रेरणा से किस प्रकार नेताओं के पीछे गुप्तचर छाया की तरह लगे रहते थे। उन्हीं की रिपोर्ट पर सरकार उनके विरुद्ध कार्यवाही की योजना बनाती थी।

दिसम्बर १९२० की नागपुर कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए पोद्दारजी गये। इसके सभापति श्रीविजय राघवाचार्य थे। वहाँ पोद्दारजी देशबंधु चित्तरंजनदास से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं। बड़ी देर तक बातें होती रहीं।

दिसम्बर १९२१ में कांग्रेस अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। इसके सभापति

हकीम अजमल खाँ थे। कांग्रेस की कार्यवाहियों में भाग लेने का यह पोद्दारजी का अंतिम अवसर था। इसके बाद उनका कांग्रेस से क्रियात्मक सम्बन्ध एक प्रकार से समाप्त हो गया। राजनीति से उपरामता शिमलापाल से ही आरम्भ हो गयी थी। बम्बई आने पर सेठ जमनालालजी बजाज, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय के चुम्बकीय व्यक्तित्व के प्रभाव से पुरानी अधसूखी डालें कुछ हरी हो चली थीं, किंतु साधना की प्रवृत्ति के पुनर्जागरण से—इन महापुरुषों के जीवन से भी पोद्दारजी ने तत्त्व-शिक्षा ही अधिक ग्रहण की; राजनीतिक प्रेरणा कम।

कांग्रेस के अधिवेशनों तथा बम्बई के राजनीतिक क्षेत्र के चोटी के नेताओं के घनिष्ट सम्पर्क में रहने से पोद्दारजी को देश के अन्य कई प्रसिद्ध देशभक्तों, विद्वानों, समाज-सेवकों तथा साम्प्रदायिक नेताओं से मिलने और विचार-विमर्श का अवसर प्राप्त हुआ। इनमें विशिष्ट थे—श्रीविट्ठलभाई पटेल, श्रीवल्लभभाई पटेल, विनायक दामोदर सावरकर, काका कालेलकर, खान अब्दुल गफ्फार खां, विनोबाजी, श्रीकिशोरलाल मशरूवाला, श्रीमहादेव भाई देसाई, दादा धर्माधिकारी, कृष्णदास जाजू, मौलाना शौकत अली, मुहम्मद अली जिन्ना[1] और नारीमैन।

महाराजा सिंधिया से भेंट

राजनीतिक क्षेत्र के इन कार्यकताओं से तो सहकर्मी होने के कारण पोद्दारजी का सम्पर्क होता ही रहा, समाज के प्रतिष्ठित अन्य वर्ग के लोगों का भी इन्हें सान्निध्य प्राप्त हुआ। इनमें महाराजा सिंधिया मुख्य थे। पोद्दारजी का एक संस्मरण है—

"ग्वालियर के महाराजा का बम्बई में महल था। वे वहाँ बराबर आते थे। मैं उनके पास जाया करता था। इस समय जो महाराजा हैं, उनके वे पिता थे। ग़्वालियर के महाराजा बड़े सीधे थे। प्राणायाम करते थे। कहा करते थे—'यदि मेरी रियासत चली जाय तो मैं दो रुपये रोज मजदूरी करके कमा सकता हूँ। मुझे कोई शर्म नहीं है।' बीकानेर के महाराजा श्रीगंगासिंह जब बम्बई आते थे तो इनके यहाँ ठहरा करते थे। बड़ी दोस्ती थी दोनों में। हिन्दू विश्वविद्यालय की एक सभा हुई थी, जिसमें गांधीजी, मालवीयजी एवं बीकानेर के महाराजा भी सम्मिलित थे। वह सभा इन्हीं ग्वालियर के महाराजा के महल में हुई थी। ग्वालियर महाराजा जब भी बम्बई आते थे, मुझे सूचित कर देते थे। वे कहा करते थे, 'तुम आया करो।' मुझसे वे बहुत प्रेम करते थे। कहते थे—'देखो! तुमलोग समझते हो कि हमलोग बड़े सुखी हैं, रईस हैं, इतने लोग सेवा करने वाले हैं; किन्तु, हमलोग बड़े दुःखी हैं। प्रजा का डर,

---

१. इनके बारे में पोद्दारजी कहा करते थे, "जिन्ना साहब से सैकड़ों बार मिलना हुआ। उनसे मेरा बड़ा प्रेम का सम्बन्ध था। वे पीछे इतने कट्टर हो गये थे। पहले बड़े भले आदमी थे, कट्टर मुसलमान नहीं थे, नमाज नहीं पढ़ते थे।"

एजेण्ट का डर, वाइसराय का डर लगा रहता है। हमलोग केवल रईस कहलाते हैं, स्वतन्त्रता नहीं है।' वे बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के थे और उन्हें राज्य जाने की कोई चिन्ता नहीं थी। उनके पास रुपया बहुत था, वे यहाँ रुपये ब्याज एवं व्यापार में लगाने आया करते थे।'

इससे यह विदित होता है कि उस समय के राजनीतिक पुनर्जागरण ने समाज के सभी वर्गों को झकझोर दिया था। राजा-महाराजा लोग भी अंग्रेजी शासन की कूटनीति के शिकार होकर घुटन का अनुभव करने लगे थे। उनमें से अनेक स्वावलम्बी और स्वतन्त्र विचार के भी थे।

खादी-प्रचार

पोद्दारजी की खादी-प्रेम की चर्चा पहले हो चुकी है। ये स्वयं तो खादी पहनते ही थे, बम्बई आकर इन्होंने खादी के प्रचार में भी सहयोग दिया। मित्रों के सहयोग से 'मारवाड़ी खादी प्रचारक मण्डल' नामक एक संस्था का गठन हुआ। जयपुर से खादी मँगवायी जाती थी। पोद्दारजी अपने साथियों को साथ लेकर खादी के प्रचार के लिए बम्बई के जन-संकुल बाजारों में फेरी लगाते थे। साथी लोगों में से कोई खादी का बण्डल पीठपर लाद लेता था और ये हाथ में गज और कैंची लेकर चलते थे। सुबह ७ बजे निकलते थे और १० बजे लौट आते थे। यह क्रम कुछ दिन चला। इनके द्वारा प्रदर्शित जनसेवा के इस मार्ग का बहुतों ने अनुसरण किया। इष्ट की सेवा लोक-लज्जा, मान-प्रतिष्ठा आदि सब कुछ त्यागने से ही होती है—यह अध्यात्म क्षेत्र में जितना सत्य है, उतना ही जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी।

जमनालालजी बजाज गांधीजी के अनन्य भक्त थे। अतएव वे खादी के प्रचार में तन-मन-धन से लगे थे। राजस्थान की रियासतों में खादी-प्रचार का कार्यक्रम बना। पहले बीकानेर के महाराजा से मिलकर उनके यहाँ खादी-प्रचार करने का निश्चय किया गया। पोद्दारजी ने उनको इस कार्य में सहयोग दिया। ये उनके साथ बीकानेर गये। दोनों ने महाराजा साहब से भेंट की एवं खादी के प्रचार में सहयोग देने की प्रार्थना की। खादी द्वारा देश के गरीबों को भोजन मिलेगा, इस दलील से प्रभावित होकर महाराजा गंगासिंह ने इसके प्रचार में सहयोग देने का आश्वासन दिया।

खादी के सम्बन्ध में विचार

पोद्दारजी खादी के प्रचार में तत्परता से लगे थे, पर इसके साथ उनकी परमार्थ भावना किस प्रकार जुड़ी हुई थी, यह इनके एक लेख से प्रकट होता है। 'कल्याण' में इन्होंने 'खादी और परमार्थ' शीर्षक से अपने विचार प्रकाशित किये थे, जो इस प्रकार हैं—

'खादी इस समय राजनीतिक्ष आन्दोलन में शामिल है, पर वास्तव में यह

केवल राजनीतिक ही नहीं है, इसका सम्बन्ध तो सदाचार, वैराग्य और ईश्वर-भक्ति से विशेष है। राजनीतिक दृष्टि से नहीं, मैं तो अपने विश्वास के अनुसार शुद्ध धार्मिक दृष्टि से खादी का व्यवहार करने के लिए 'कल्याण' के सभी पाठक-पाठिकाओं से प्रेम-पूर्वक अनुरोध करता हूँ।'

'इस समय देश में ऐसा कोई वस्त्र नहीं है, जो इससे ज्यादा पवित्र हो या जिसमें हिंसा न होती हो। विलायती और मिल के कपड़ों में चर्बी लगती है, जिसमें अपवित्रता और हिंसा, दोनों ही सम्मिलित हैं। रेशमी वस्त्रों को प्राचीनकाल में शुद्ध मानते थे, पर अब तो रेशम के धागे बनाने में असंख्य जीव उबलते हुए जल में डाले जाते हैं। इससे रेशम भी अपवित्र और हिंसामय है। ऊनी कपड़े इस देश में हमेशा लोग नहीं पहन सकते। खादी उपर्युक्त दोनों की अपेक्षा पवित्र और हिंसारहित है। पवित्रता का असर मनपर होता है, जिससे भगवान् में मन लगता है।

'खादी पहनते ही सादगी आ जाती है। शौकीनी छूटते ही अनेक दोष आप ही चले जाते हैं। कपड़े का खर्च कम हो जाता है। खादी में ज्यादा बानगी नहीं होती। अनेक बानगी होने से ही लोग बिना प्रयोजन अधिक कपड़े खरीदकर पेटियाँ भर लेते हैं। परन्तु खादी पहनने से यह दोष दूर हो जाता है। खादी के स्वाभाविक ही मोटी होने से शर्म दूर होती है और सहज ही वैराग्य बढ़ता है। सदाचार तो इसमें आ ही गया। पवित्रता, सादगी और सदाचार के मिल जाने से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो परमार्थ में बड़ी सहायता करती है।

'इसके सिवा खादी में सबसे बड़ी बात है—गरीब-भूखों की सेवा और देश की संस्कृति का सम्मान। आज करोड़ों स्त्री-पुरुष कार्य के अभाव से अन्न-वस्त्र नहीं पाते। देश खादी पहनने लगे तो पींजने, कातने, बुनने आदि में लगकर करोड़ों भाई-बहन सुखी हो सकते हैं। घर से कुछ दिये बिना ही बड़ा दान और विराट्‌रूप भगवान् की पूजा हो जाती है और साथ ही परमुखापेक्षी जनता स्वावलम्बन सीखकर सुखी हो सकती है।

'इस प्रकार खादी में पवित्रता, अहिंसा, सादगी, स्वावलम्बन, सदाचार, वैराग्य, दान और भगवान् की पूजारूप परमार्थ भरा है। अतएव सभी भाई-बहनों को खादी जरूर ही पहननी चाहिए। परन्तु यह करना चाहिए ईश्वर का स्मरण करते हुए, ईश्वर के लिए ही।'

('कल्याण', वर्ष ५, पृ० सं० ८४५-४६)

विलायती वस्त्रों की होली

स्वदेशी आन्दोलन के दो पक्ष थे—अपने देश में बनी वस्तुओं का प्रयोग और विदेशों से आयातित माल का बहिष्कार। ज्यों-ज्यों यह आन्दोलन जोर पकड़ता गया,

सरकार की दमन-नीति की प्रतिक्रिया में उसका दूसरा पक्ष उभरता गया। इसके पुरस्कर्ता अधिकांशतः नरमदली विचारधारा के लोग थे, जो सविनय अवज्ञा आंदोलन के समर्थक थे। किन्तु बहिष्कार आंदोलन ने इन शांतिवादियों के हाथों ही ध्वंसात्मक रूप धारण कर लिया। प्रतिक्रिया सीमा नहीं जानती। मैंचेस्टर और लिवरपूल में बने लाखों रुपयों के मूल्य के वस्त्र सरे-बाजार जलाये जाने लगे।

बहिष्कार की यह मशाल पोद्दारजी के द्वार पर भी आयी। मस्जिद में चिराग जल चुका था, अब घर में जलने की बारी थी। इन्हीं दिनों गांधीजी ने विलायती कपड़ों की होली जलाना आरम्भ किया था। उमर सोमानी नाम के एक मुसलमान उद्योगपति थे। उनकी कपड़े की मिल थी। उस मिल के अहाते में होली जलायी गयी थी, जिसमें लाखों-लाखों बहुमूल्य विदेशी कपड़े अग्निदेव को भेंट चढ़ाये गये। गांधीजी घर-घर जाकर विलायती कपड़े माँगकर लाये थे। इस परमार्थ यात्रा में वे दादी रामकौर से कपड़े माँगने पोद्दारजी के भी घर आये थे। दादी ने उन्हें बहुत से विदेशी कपड़े दिये थे।

गांधीजी की इस चेष्टा का कुछ लोगों ने विरोध किया। उन्होंने तर्क रखा कि इस प्रकार कपड़े जलाने से देश की हानि है। ये कपड़े गरीबों को बाँट दिये जायँ, जिन्हें इनकी आवश्यकता है। पर गांधीजी अपने निश्चय पर दृढ़ थे। उन्होंने उत्तर दिया—'जब हमें यह पता चल जाय कि अपनी जेब की बोतल में शराब है और हमें शराब पीनी नहीं चाहिए, तथा शराब पीना पाप है, तो क्या वह शराब की बोतल दूसरों को दे दें कि लो, शराब पी लो ? हम उस शराब की बोतल को नष्ट ही करना चाहेंगे। यही बात विदेशी कपड़ों के सम्बन्ध में है। विदेशी कपड़ा पहनना महापाप है। पाप का कपड़ा मैं दूसरों को कैसे पहनने के लिए दे दूँ ? उसे तो जला ही देना चाहिए।' उस समय 'स्वदेशी आन्दोलन' ने धर्म का रूप धारण कर लिया था—उसके प्रचार-प्रसार में सामान्य कार्यकर्ता ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् नेता भी भावावेश में आ जाते थे। गांधीजी के इस प्रयास में मिलवाले भी साथ थे। उन्होंने सोचा—बिना कपड़े के काम चलेगा नहीं, विदेश से कपड़ा आयेगा नहीं। खादी के कपड़े इतने परिमाण में उपलब्ध नहीं हो पायेंगे। अतएव हारकर लोगों को अपने देश की मिलों में बने कपड़े ही काम में लेने पड़ेंगे। इससे मिलें चलने लगेंगी। तात्पर्य यह कि मिल वालों ने स्वदेशी आंदोलन का समर्थन राष्ट्रीय भावना से कम, स्वार्थ की भावना से अधिक प्रेरित होकर किया था। फिर भी उस समय पूँजीपतियों द्वारा अंग्रेजी शासन का यह विरोध एक साहसपूर्ण कदम था, जिसकी व्यापारी वर्ग से आशा नहीं की जाती थी। पोद्दारजी इन सारी घटनाओं के द्रष्टा ही नहीं, गांधीजी के साथ इस व्यापक राष्ट्रीय नाटक के एक विनीत सहयोगी भी रहे।

दादी रामकौर देवी से गांधीजी विदेशी कपड़े माँगकर ले गये थे, पर हनु-

मानप्रसादजी की धर्मपत्नी के पास विदेशी कपड़े अब भी थे। पोद्दारजी ने उनको जलाने का निश्चय किया। धर्मपत्नी ने वस्त्रों को अग्नि को भेंट न करके उन्हें गरीबों को बाँट देने की दलील रखी, पर इन्होंने गांधीजी के विचार बताकर उन्हें वस्त्र जला देने के लिए राजी कर लिया। धर्मपत्नी ने अपने पास के सभी विलायती कपड़े इन्हें दे दिये।

पोद्दारजी ने पूछा—'और तो कोई विदेशी कपड़ा घर में बचा नहीं है न ?'

पत्नी ने कहा—'नहीं।'

इन्होंने फिर सावधान किया—'फिर देख लो, शायद कहीं बचा-खुचा पड़ा हो।'

पत्नी ने उत्तर दिया, 'सब देख लिया, कहीं कुछ नहीं है।'

उन्होंने अपने शब्दों को फिर दुहराया—'एक बार और देख लेना चाहिए।'

पत्नी ने भी अपना उत्तर दोहरा दिया—'अब कुछ बचा नहीं है।'

पोद्दारजी को एक कपड़ा दिखलाई दे रहा था, इसीलिए वे बार-बार सावधान करते हुए कह रहे थे—'एकबार और देख लेना चाहिए। मुझे लगता है कि एक कपड़ा और है।' इतना कहकर उन्होंने पत्नी की साड़ी की ओर देखा। पत्नी की भी दृष्टि अपने शरीर पर पहनी हुई साड़ी पर गयी। वह विदेशी थी। पति के बार-बार आग्रह करने का अर्थ पत्नी की समझ में अब आया। 'अभी आती हूँ।'—यह कहकर वे कमरे में गयीं, अपनी साड़ी बदली और उस अन्तिम अवशेष साड़ी को भी जलाने के लिए एकत्र विदेशी वस्त्रों के ढेर पर डाल दिया। देखते-ही-देखते वह सब-का-सब राख में परिणत हो गया।

सक्रिय राजनीति से उपरामता

सं० १९७८ के बाद पोद्दारजी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होना बंद कर दिया। इसका कारण था, तत्कालीन कांग्रेस के कर्णधारों की नीति से उनकी असहमति। कांग्रेस का उद्देश्य था देशवासियों में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न करना, परतंत्रता के प्रति व्याप्त असंतोष को उद्दीप्त करना, आत्मबल का संपादन, आत्मगौरव की भावना का प्रसार और अपने देश, संस्कृति, धर्म, आचार, व्यवहार एवं पूर्वजों के प्रति निष्ठा एवं श्रद्धा की भावना जाग्रत करना। वह यह कार्य समाज में असंतोष पैदा करके करना चाहती थी। इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय जनमानस में देशप्रेम के साथ-साथ रागद्वेष, घृणा, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थवृत्ति आदि दुर्गुणों के बढ़ने की पूरी आशंका थी। इनमें से कुछ वृत्तियाँ तो राष्ट्रीय आन्दोलन के उस शैशव काल में ही लग गयी थीं, जब पाना था केवल दंड और तिरस्कार तथा देना था सर्वस्व।

पोद्दारजी का मत था कि देश-सेवा साध्य नहीं, साधन मात्र है। वे मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवान की प्राप्ति मानते थे। अतएव उनकी दृष्टि में देश-सेवा भगवत्प्राप्ति के साधन रूप में ही स्वीकार्य हो सकती थी। इसके अतिरिक्त वे यह मानते थे कि असंतोष उत्पन्न करने से देश का अंततः कल्याण नहीं होगा। इसमें संदेह नहीं कि उससे स्वतंत्रता-प्राप्ति का आन्दोलन तीव्र हो जायगा, पर स्वतंत्रता प्राप्त होने पर जन-मानस में प्रतिष्ठित यह असंतोष परस्पर कलह, द्वेष, हिंसा आदि की सृष्टि करेगा, यह उनकी दृढ मान्यता थी।

इस प्रकार उद्देश्य की महानता के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उसकी सिद्धि के लिए अपनाये गये साधनों की उपयुक्तता से पोद्दारजी सहमत न हो सके। राष्ट्र की यथार्थ सेवा के लिए वे व्यक्ति का आत्मशोधन, विचारों का संस्कार, तथा धर्म और संस्कृति के प्रति आस्था का निर्माण आवश्यक मानते थे। अतः सच्चे अर्थ में स्वतंत्रता-प्राप्ति का लक्ष्य पूरा करने के लिए उन्होंने आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा सांस्कृतिक जागरण में उत्प्रेरक नैतिक सदाचारमूलक धार्मिक साहित्य के निर्माण, प्रचार एवं प्रसार के साधनों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता का अनुभव किया। भौतिक साधनों का अवलम्बन लेकर चलने वाले तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक संगठनों में व्याप्त अव्यवस्था तथा नैतिक ह्रास को देखकर ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि आत्मजय ही विश्वविजय का प्रथम सोपान है—**'जगज्जितं केन ? जितं मनः येन।'** अतएव इन्होंने आत्मजय की साधना में ही अपनी सारी शक्ति लगाना श्रेयस्कर समझा। शक्ति के मूलकेन्द्र से सम्पर्क स्थापित करने के पश्चात् ही दूसरों में शक्ति-संचार का उपक्रम उपयुक्त होता है। व्यष्टि-निर्माण की इस बलवती प्रेरणा ने पोद्दारजी के कर्मण्यजीवन की मुख्य धारा को राजनीति से समाज-सेवा की ओर मोड़ दिया।

सामाजिक जीवन में रुचि

बंगभूमि में बीते दिनों के सामाजिक संस्कार बंबई के अपेक्षाकृत मुक्त, संत्रासरहित जीवन में विकसित होते रहे। आरम्भ में पारिवारिक आपदाओं तथा व्यापारिक असफलताओं तथा राजनीतिक गतिविधियों के कारण इनके विकास की गति कुछ मंद रही, किन्तु जैसे-जैसे पोद्दारजी की प्रवृत्ति राजनीतिक कार्यों से हटती गयी, उनका अधिकाधिक समय लोक-सेवा में लगने लगा। इसका कार्यक्रम यद्यपि बम्बई-आगमन के एक वर्ष बाद सं० १९७६ से ही चलने लगा था, किन्तु पूर्ण संलग्नता राजनीति से उपरामता के बाद ही आयी।

अग्रवाल महासभा के कार्यों में योगदान

कलकत्ते की 'मारवाड़ी सहायक समिति' की भाँति बम्बई के मारवाड़ी अग्र-

वालों ने सं० १९७६ में एक विशाल समाजसेवी संस्था 'अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' की स्थापना की। यह एक राष्ट्रीय स्तर का जातीय संगठन था, जिसका मुख्य उद्देश्य था मारवाड़ी अग्रवालों का सामाजिक उत्थान। इसके कार्यकर्ता अत्यन्त दूरदर्शी और उदार थे। अतः कहने को ही यह मारवाड़ियों की संस्था थी, अपने कार्यकलाप द्वारा वस्तुतः सभी अग्रवाल वैश्यों एवं समस्त हिन्दू जनता की सेवा करती थी। राष्ट्रीय कांग्रेस की ही भाँति इसके विधान में भी देश के विभिन्न नगरों में वार्षिक आयोजनों की व्यवस्था थी। पोद्दारजी को सामाजिक संस्थाओं में कार्य करने का प्रगाढ़ अनुभव था, इसमें उनकी गहरी रुचि भी थी। अतः इस संस्था की ओर इनका आकर्षण हुआ। सं० १९७६ में ये उसके सक्रिय सदस्य बन गये। महासभा के व्यवस्थापकों ने इनका स्वागत किया। प्रथम अधिवेशन हैदराबाद में हुआ। इसके अध्यक्ष सेठ श्रीरामलाल गनेड़ीवाला थे। पोद्दारजी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण मामलों में उनसे परामर्श करने हैदराबाद जाया करते थे। सं० १९७७ में ये महासभा की बम्बई प्रांतीय शाखा के मंत्री चुन लिये गये। इसी वर्ष महासभा का द्वितीय अधिवेशन बम्बई में आयोजित किया गया। इस अधिवेशन की सफलता का बहुत-कुछ श्रेय इन्हीं को था। इसके बाद तृतीय अधिवेशन कलकत्ता में तथा चौथा इंदौर में बड़े धूमधाम से सम्पन्न हुए। पोद्दारजी इन सभी अधिवेशनों में सभा के एक प्रतिष्ठित कार्यकर्ता की हैसियत से भाग लेते रहे।

अग्रवाल महासभा की समाज-सेवा का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था—बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह-जैसी सामाजिक कुरीतियों का विरोध, धार्मिक पर्वों एवं सामाजिक उत्सवों का सुरुचिपूर्ण ढंग से आयोजन, दीनदुःखियों की सेवा, शिक्षा तथा राष्ट्रीय भावना का प्रसार आदि।

स्वतन्त्र रूप से समाज-सेवा

महासभा के कार्यक्रमों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से समाज सेवा के लिए इन्होंने कुछ मौलिक क्षेत्र चुने।

(क) गुण्डों द्वारा प्रवंचित स्त्रियों का उद्धार

पोद्दारजी को अपने कुछ मित्रों से ज्ञात हुआ कि नगर के कुछ अवांछनीय तत्वों ने एक बड़ा ही घृणित व्यापार चला रखा है। वे देश के सुदूर कोनों से भोली-भाली लड़कियों को भगाकर बम्बई ले आते हैं और उनसे वेश्यावृत्ति कराते हैं। इनका जाल सारे देश में फैला हुआ था—अनेक दलाल थे, पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही। श्री अच्युतमुनिजी के पुत्र उच्च शिक्षा प्राप्त करके उन दिनों बम्बई में ही काम करते थे। उन्होंने ···· ···· ···· ···· ···· से इसकी चर्चा करते हुए किसी प्रकार अभागी स्त्रियों को पाप का शिकार बनने से बचाने की व्यवस्था करने का प्रस्ताव

किया। उन महानुभाव ने इस प्रसंग में पोद्दारजी से कहा—'यह बड़ा अमानुषिक कार्य हो रहा है। यदि हमलोग इस काम में कुछ कर सकें तो बड़ा उपकार हो।' नारी-जाति के प्रति मातृबुद्धि होने से उनके सम्मान एवं धर्म की रक्षा के लिए इस कार्य का पोद्दारजी ने हृदय से समर्थन किया। किन्तु सक्रिय सहयोग देने में असमर्थता प्रकट की। ये बोले, 'भाई, काम तो बहुत बड़ी सेवा का है, पर वेश्यालयों में जाना अपने वश की बात नहीं है'। हाँ, इन्होंने कार्य-कर्ताओं की रक्षा-व्यवस्था में पूरा सहयोग देने का वचन दिया। इससे प्रोत्साहित होकर अच्युत मुनि के पुत्र एवं उनके सहयोगी विशुद्ध सेवा भाव से वेश्यालयों में जाने लगे और वहाँ जो नयी लड़कियाँ दिखाई देतीं, उनसे वे उनका परिचय पूछते और फिर उन्हें अपने घर में ले आते या सिनेमा साथ ले जाते और वहाँ उनको समझा-बुझाकर उनके घर का पूरा पता आदि जान लेते और कभी किसी आदमी के साथ, कभी परिवार वालों को बुलाकर उन्हें घर पर भेज देते थे। पोद्दारजी इस सारी व्यवस्था के संचालक थे। इस प्रकार कई स्त्रियों का उद्धार हुआ।

एक बार अनिवार्य परिस्थितियों में पोद्दारजी ने भी इसी प्रकार की एक पापरत लड़की का उद्धार किया था। ये उसे अपने साथ सिनेमा ले गये थे। सारी व्यवस्था का पता करके वहीं से उसको उसके घर भिजवा दिया था। वह पंजाब की रहनेवाली थी। इस काण्ड को लेकर गुंडों ने इनके विरुद्ध पुलिस में रिपोर्ट कर दी। सी० आई० डी० के एक इन्स्पेक्टर श्रीपटवर्धन ने इन्हें बुलाया। इन्होंने उनको पूरी परिस्थिति बतला दी। श्रीपटवर्धन साहब बड़े ही सज्जन व्यक्ति थे। उनकी भी इस प्रकार की प्रवंचित स्त्रियों के प्रति सहानुभूति थी, पर वे इस सेवा के गम्भीर परिणामों से भी परिचित थे। उन्होंने पोद्दारजी को बड़े प्रेम से समझाते हुए कहा—'बदमाशों का एक बहुत बड़ा गिरोह है, जो यह पापकर्म करता है। उनको किसी की हत्या करने में संकोच नहीं होता। आप भले घर के व्यक्ति हैं, विशुद्ध सेवाभाव से इस कार्य में पड़े हैं, पर यह बड़ी जोखिम का काम है। कहीं आप इसके शिकार न हो जायँ। आपकी सरलता का वे दुरुपयोग करेंगे और झूठा इलजाम लगाकर उलटे आपको ही फँसा देंगे। दूसरे, आप अभी नौजवान हैं। हमारे मन में आप के प्रति यह भावना आती है कि कहीं आप के मन में कुछ गड़बड़ी हो गयी तो? आग के स्पर्श से जलना सहज है। अतएव आप हमारी सलाह मानकर इस कार्य को छोड़ दें। हमलोग यथाशक्ति इस व्यापार को समाप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहेंगे।' पोद्दारजी को श्री पटवर्धन साहब की ये बातें युक्तिपूर्ण और अनुभवसिद्ध लगीं। अतएव इन्होंने उस कार्य से अपना हाथ खींच लिया।

(ख) शिष्ट होली का आयोजन

उन दिनों बम्बई में होली के दिनों में बड़ी हुल्लड़बाजी होती थी। लोगों

को कमरे के फाटक खुलवाकर जबर्दस्ती बाहर निकाला जाता था और कीचड़, राख आदि गन्दी वस्तुओं से सराबोर कर दिया जाता था। तरह-तरह के अपशब्दों के साथ गन्दी तथा वीभत्स चेष्टाएँ की जाती थीं। एक बार पोद्दारजी को भी इसका शिकार होना पड़ा। कुछ परिचित व्यक्तियों ने कमरे का फाटक खोलकर इन्हें बाहर निकाल लिया था और कीचड़ आदि डाली थी। यद्यपि ये स्वयं उसमें सम्मिलित नहीं हुए, किन्तु दुर्दशा तो भोगनी ही पड़ी। इनके मन में इसकी बड़ी प्रतिक्रिया हुई। इन्हें इस हुल्लड़बाजी में सिवाय हानि और प्रमाद के और कुछ लाभ दिखाई नहीं दिया। अतः होली के इस वीभत्स स्वरूप को बदलने का निश्चय किया।

समाज के प्रतिष्ठित लोगों तथा नवयुवकों को इससे होने वाली हानियाँ समझा-कर इन्होंने इसके स्थान पर नगर-कीर्तन निकालने की योजना बनायी। यह निश्चय हुआ कि यदि किसी को कुछ डालना हो तो रंग, गुलाल आदि का प्रयोग कर सकता हैं। पहले तो परम्परावादियों ने इस योजना का बड़ा विरोध किय, किन्तु ये अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। अपने साथियों के साथ घूम-घूमकर इन्होंने लोगों से इसकी उपयोगिता बतायी। लोगों पर उसका अच्छा असर हुआ। फिर एक-एक करके विरोधी भी इस योजना में सम्मिलित होने लगे और कुछ ही वर्षों के प्रयास से पुरानी अभद्रताएँ बहुत सीमा तक बन्द हो गयीं। इस योजना की सफलता से पोद्दारजी तत्कालीन बम्बई के हिन्दू समाज में सुधारकों के नेता माने जाने लगे। होली पर की जानेवाली इस प्रकार की वीभत्सताओं के विरुद्ध पोद्दारजी ने पीछे 'कल्याण' में कई लेख प्रकाशित किये।[1]

---

१. होली हिन्दुओं का बहुत पुराना त्योहार है। आजकल जिस रूप में यह मनाया जाता है, उससे तो धर्म, देश, और मनुष्य-जाति को बड़ा ही नुकसान पहुँच रहा है। यह त्योहार असल में मनुष्य-जाति की भलाई के लिए ही चलाया गया था। परन्तु आजकल इसका रूप ही बिगड़ गया है। इस समय अधिकांश लोग इसको जिस रूप में मनाते हैं, उससे तो सिवा पाप बढ़ने और अधोगति होने के और कोई अच्छा फल नहीं दीखता। अतएव सभी स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि वे गन्दे कामों को बिलकुल ही न करें। इनसे लौकिक और पारमार्थिक दोनों तरह के नुकसान होते हैं।

फागुन सुदी ११ से चैत बदी १ तक नीचे लिखे काम करने चाहिए—

१. फागुन सुदी ११ को या और किसी दिन भगवान् की सवारी निकालनी चाहिए, जिसमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नाम कीर्तन हों।

२. सत्संग का खूब प्रचार किया जाय। स्थान-स्थान में इसका आयोजन हो। सत्संग में ब्रह्मचर्य, अक्रोध, क्षमा, प्रमाद के त्याग, नाम-माहात्म्य और भक्ति की विशेष चर्चा हो।

३. भक्ति और भक्त की महिमा के साथ सदाचार के गीत गाये जायँ।

४. फागुन सुदी १५ को हवन किया जाय।

समाज-सुधार विषयक इन कार्यों के अतिरिक्त पोद्दारजी विभिन्न प्रकार से अभावग्रस्त लोगों की सेवा किया करते थे। गुप्तरूप से विधवाओं और अनाथों की सहायता, निर्धन विद्यार्थियों की शिक्षा-व्यवस्था, रोगियों-दुःखियों की तन-मन-धन से सेवा, विद्वानों-कलाकारों को प्रोत्साहन आदि। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने पर भी ये इन कार्यों के लिए घर के आवश्यक खर्चों को रोककर रुपये की व्यवस्था येन-केन प्रकारेण कर लेते थे।

आपद्ग्रस्तों की सहायता

पोद्दारजी दीन-दुःखियों के सदा सहायक थे। 'मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' के कैशियर श्रीराजाराम मीतान ने अपने खर्च के लिए दो हजार रुपये रोकड़ में से ले लिये। पता लगते ही कोष की कमेटीवालों ने उसे पुलिस में गिरफ्तार करा दिया। किसी को अपना सहायक न देखकर उसने पोद्दारजी के सामने अपनी संकटपूर्ण परिस्थिति का निवेदन किया। इनके हाथ में उस समय रकम की छूट बिल्कुल नहीं थी। परन्तु इसकी परवाह न करके दो-तीन सज्जनों से दो हजार रुपये अपने नाम उधार लिये, और वह रकम देकर उसको छुड़ा लिया। उसका रोम-रोम इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लगा। पोद्दारजी के जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जब उन्होंने अपने कष्टों की परवाह न करके दूसरों को कष्ट से मुक्त किया है।

'भाईजी' उपनाम

सामाजिक जीवन के उत्थान के निमित्त की गयी इन निष्काम सेवाओं तथा अपने स्नेहशील, एवं विनम्र स्वभाव के कारण पोद्दारजी इतने लोकप्रिय हो गये कि गरीब-अमीर, छोटे-बड़े, धार्मिक-अधार्मिक सभी लोग उन्हें अपना मानने लगे। सभी को ऐसा लगने लगा कि ये ऐसे व्यक्ति हैं, जो सभी प्रकार के भेद-भावों से ऊपर हैं, छोटे के लिए छोटे हैं, बड़े के लिए बड़े हैं, सुखी के लिए सुखी हैं, दुःखी के लिए दुःखी हैं। इनका हृदय धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार की संकीर्णताओं से रहित है। स्वयं पूर्ण सदाचारी होते हुए भी पथभ्रष्ट हुए भाई-बहनों के प्रति इनके

---

५. श्रीमद्भागवत एवं श्रीविष्णुपुराण आदि से भक्त प्रहलाद की कथा सुनी और सुनायी जाय।
६. साधकगण एकान्त में भजन ध्यान करें।
७. श्रीश्रीचैतन्यदेव की जन्मतिथि का उत्सव मनाया जाय। महाप्रभु का जन्म होली के दिन ही हुआ था। उसी के उपलक्ष्य में मुहल्ले-मुहल्ले घूम-घूम कर नाम-कीर्तन किया जाय। घर-घर में हरिनाम सुनाया जाय।
८. धुरेड़ी के दिन ताल, मृदंग और झाँझ आदि के साथ बड़े जोर से नगर-कीर्तन निकाला जाय, जिसमें सब जाति और सभी वर्णों के लोग बड़े प्रेम से शामिल हों।

—कल्याण, वर्ष २, पृ० ३८१

मन में वैसा ही आदर और स्नेह हैं, जैसा किसी सदाचारी के लिए हो सकता है। ये अपने लिए नियमों के पालन में कट्टर हैं, पर दूसरों को नियमानुवर्तन के लिए बाध्य नहीं करते। किसी को भी संकोच में डालने या विवश करने के पक्ष में ये नहीं हैं। ये सभी के अपने हैं, स्वजन हैं। अतएव किसी को भी अपने हृदय की गुप्त-से-गुप्त बात पूर्ण विश्वास के साथ इनके सामने रखने में तनिक भी संकोच नहीं होता था। इस प्रकार सबके विश्वासपात्र, स्नेहभाजन तथा आत्मीय होने के कारण लोग इन्हें अपने सगे भाई जैसा अभिन्न अनुभव करने लगे।

श्रीश्रीलाल याज्ञिक नामक एक सज्जन पोद्दारजी के मित्रों में से थे। पोद्दारजी के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से उनका बराबर मिलना-जुलना होता था। उन्हें सभी समागत व्यक्तियों में पोद्दारजी के प्रति एक-सा ही प्यार एवं स्नेहभरी अभेद भावना के दर्शन हुए। 'पोद्दारजी हमारे भाई हैं।' ऐसी अनुभूति श्रीलालजी को स्वयं थी ही। अस्तु, वे पोद्दारजी को 'भाईजी' के नाम से पुकारने लगे। पीछे समाज में सभी छोटे-बड़े इन्हें 'भाईजी' कहकर सम्बोधित करने लगे। इनका यह उपनाम 'पोद्दारजी' अथवा 'हनुमानप्रसादजी' नाम से भी अधिक प्रचलित हो गया— कारण, लोक-हृदय की स्वाभाविक अनुभूति का यह स्नेहभरा प्रसाद पोद्दारजी का जीवन-साथी बन गया।

मनोरंजन

व्यापारिक कार्यों से ऊबने पर मन बहलाने के लिए पोद्दारजी कभी-कभी थियेटर और सिनेमा जाया करते थे, किन्तु जाने के पूर्व यह पता लगा लेते थे कि वहाँ कौन-सा नाटक या चित्र दिखाया जा रहा है। जब कोई धार्मिक खेल होता था, तभी जाते थे। उस दिनों बोलता सिनेमा प्रचलित नहीं था—मूक सिनेमा ही दिखाया जाता था। पोद्दारजी मनोरंजन के साधनों के चुनाव में भी यह निरंतर ध्यान रखते थे कि उनके द्वारा किसी प्रकार से सदाचार-रक्षा में बाधा न पड़े, प्रत्युत् आत्मोत्थान के साधन के रूप में ही उनका उपयोग किया जाय।

तीर्थयात्रा

बम्बई रहते हुए पोद्दारजी ने गुजरात के प्रसिद्ध तीर्थों—द्वारका तथा सोमनाथ की यात्रा की। इसी काल में इनकी प्रयाग, काशी, चित्रकूट, अयोध्या आदि उत्तरप्रदेश के प्रसिद्ध तीर्थों की प्रथम यात्रा आयोजित हुई थी।

स्वाध्याय

कलकत्ता की भाँति सत्साहित्य के अनुशीलन का क्रम बम्बई में भी चलता रहा। वहाँ बँगला-साहित्य का अध्ययन हुआ था, यहाँ मराठी और गुजराती का। इनमें भी पूर्व की भाँति, भक्ति-साहित्य में ही पोद्दारजी की विशेष रुचि रही और इस क्षेत्र में जो भी प्राप्त हो सका, पढ़ डाला। मराठी और गुजराती के विशाल वैष्णव

भक्ति-साहित्य का आलोड़न हुआ। गुजराती भाषा में कृष्णभक्त कवियों तथा वेदान्त के कई ग्रन्थों के भाष्य पढ़े। श्रीनरसी मेहता का साहित्य इन्हें विशेष आकर्षक लगा।

अरबी भाषा में मुसलमान सन्तों की एक पुस्तक थी, उसका गुजराती में अनुवाद उपलब्ध था। पोद्दारजी ने उसे कई बार पढ़ा और अपने मित्रों को भी सुनाया। पीछे इसका हिन्दी रूपान्तर श्रीश्रीगोपाल नेवटिया ने किया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से इनके मन में मुस्लिम सन्तों के प्रति आदरभाव की वृद्धि हुई। मराठी में इन्होंने सन्त नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, पुरन्दरदास तथा समर्थ रामदास के चरित्र और रचनाओं का अध्ययन किया। इससे इन्हें इन दोनों भाषाओं के साहित्य का अन्तरंग परिचय प्राप्त हुआ, जो कालान्तर में सम्पादकीय जीवन में सफलता का कारण बना। 'कल्याण' के सामान्य तथा विशेष अंकों में ये इसी ज्ञान के आधार पर गुजराती तथा महाराष्ट्रीय सन्तों के जीवन-दर्शन के मर्मस्पर्शी वर्णमय चित्र प्रस्तुत कर सके। ये लेख यद्यपि भक्ति के दृष्टिकोण से लिखे गये थे, तथापि प्रातिभ ज्ञान से रंजित होने से साहित्यिकता इनमें अपने आप आ गयी थी।

लेखन

बम्बई में ग्रन्थानुशीलन के साथ आध्यात्मिक विषयों पर निबन्ध लिखने का भी क्रम चला। 'वेंकटेश्वर समाचार' तथा कई अन्य स्थानीय पत्रों में इनके लेख प्रकाशित होने लगे। उद्देश्य तो मात्र सद्विचारों का प्रचार था, किन्तु इस प्रकार लिखते रहने से शैली में निखार स्वाभाविक रूप से उत्तरोत्तर आता गया।

पारिवारिक दायित्व का निर्वाह

व्यापार स्थापना की झंझटों में अहर्निश व्यस्त रहते हुए भी पोद्दारजी पारिवारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह में निरंतर सतर्क रहे। छोटी बहन अन्नपूर्णा बाई विवाह के योग्य हो गयी। उसका सम्बन्ध करने के लिए ये व्यग्र रहते थे। सम्बन्धियों के सहयोग से एक लड़का मिल गया। इन्होंने सपरिवार बाँकुड़ा जाकर आषाढ़ शुक्ल ४, सं० १९७६ को विवाह कर दिया।

इसी प्रकार दूसरी छोटी बहन चन्दाबाई का विवाह ज्येष्ठ शुक्ल ६, सं० १९७९ को रामगढ़ (राजस्थान) में सम्पन्न हुआ। इस विवाह में लक्ष्मणगढ़ निवासी सेठ बालूराम, जो 'श्री रामनाम के अढ़तिया' के नाम से विख्यात थे, भी सम्मिलित हुए थे।

स्वदेशी आंदोलन और महातमा गांधी के सुधारवादी विचारों से प्रभावित होकर पोद्दारजीने राजस्थानी भाषा में कई विवाह-गीत लिखे। बहिन चंदा के विवाह में उनका उपयोग हुआ था। ये गीत लोगों को बहुत पसंद आये। इससे परंपरा से प्रचलित अश्लील विवाह-गीतों को बंद करके उनके स्थान पर सदाचार एवं ईश्वर-भक्ति से पूर्ण गीतों के प्रचलन में बहुत प्रेरणा मिली। इन गीतों का संग्रह 'मारवाड़ी

धार्मिक गीत' नाम से निकला। धार्मिकता एवं नैतिकता की पुट इनकी विशेषता थी।

विवाह में स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग

पोद्दारजी की खादी-निष्ठा का व्यावहारिक धरातल पर दर्शन चंदा बाई के विवाह में हुआ। इसमें सब कपड़े खादी के ही काम में लाये गये। मारवाड़ी अग्रवालों में चुनरी का बड़ा महत्त्व है। वह महीन कपड़े की होती है और रंगरेज लोग उसे बड़ी चतुरता से रंगते हैं। इन्होंने सुझाव दिया कि उसके स्थान पर खादी का कपड़ा पीले रंग में रँगकर प्रयोग में लाया जाय। वैसा ही हुआ।

बहन की आत्महत्या

भगवान् की लीला बड़ी विचित्र है। अपनी छोटी बहन चंदा का विवाह इन्होंने बड़ी धूमधाम से किया था, वह बंबई में रहती थी। कुछ अज्ञात कारणों से उसके प्रति ससुरालवालों का व्यवहार ठीक नहीं था। इससे वह बड़ी दुःखी रहती थी। एक दिन अचानक उसके कुएँ में गिरकर डूब मरने की सूचना पोद्दारजी को मिली। उस समय ये बंबई के बाहरी हिस्से—मलाड़ में रहते थे। चंदाबाई भी अपनी ससुरालवालों के साथ बंबई में ही रह रही थी। रक्षाबंधन के दिन वह पीहर आयी। दिनभर वहीं रही, संध्या को अपने घर लौट गयी। ससुरालवालों ने बहुत कहा-सुना, पर वह चुप रही। ससुरालवाले उसके पीछे ही पड़ गये। उन्होंने क्रोध में भरकर यहाँ तक कह दिया—'जाओ, मर जाओ, कुएँ में गिर जाओ।' चंदाबाई को बड़ा दुःख हुआ। वह उसी दुःख के आवेश में उठी और जाकर घर के समीपवाले कुएँ में कूद पड़ी। उसका तत्काल देहांत हो गया।

क्षणभर में ही सारे मुहल्ले में शोर मच गया। ससुरालवाले अत्यधिक भयभीत हो गये। उन्हें लगा कि पुलिस आयेगी और उन्हें पकड़कर ले जायेगी। साथ ही समाज में बदनामी होने का भी डर था। मुकदमा भी चलने की आशंका थी। पोद्दारजी को इसका पता चला। ये तत्काल घटनास्थल पर गये। जाते ही पूरी परिस्थिति समझ गये। चंदाबाई पर इनका बड़ा स्नेह था। पिता की मृत्यु के बाद एक प्रकार से ये ही उसके सर्वतोभावेन संरक्षक रहे। विवाह भी इन्होंने ही किया था। भरी आयु में बहिन को अकाल काल-कवलित देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़-से हो गये, पर धीरज नहीं खोया। मन में विचार किया कि 'बहन तो चली गयी। अब कुछ भी किया जाय, वह लौट नहीं सकती। अतएव ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसके ससुरालवालों को कोई परेशानी नहीं हो'। ऐसा विचार करके इन्होंने कुएँ पर पर अपनी बहन के कपड़े, तौलिया, बाल्टी और लोटा रखवा दिये। तबतक पुलिस आ गयी। जाँच होने लगी। पुलिस ने इनके बयान लिये। मृतक के भाई और घर के कर्ता होने से इनके शब्दों का महत्त्व था। इन्होंने पुलिस अधिकारी से साफ-साफ कह दिया—'हमें किसी पर तनिक भी संदेह नहीं है। लगता है—यह नहाने

आयी थी। पैर फिसल गया। कुएँ में गिर गयी। इसके पास कोई नहीं था।' पोद्दारजी के परिवारवालों ने सच्ची बात कहने की प्रेरणा दी, पर इन्होंने उस समय बहन के प्यार को प्रधानता नहीं दी, बहनोई तथा उनके परिवारवालों को बचाने के कर्तव्य को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया। बहनोई पर इनकी इस लोकोत्तर उदारता का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने ऐसे व्यवहार की कल्पना भी नहीं की थी। पीछे उनमें बड़ा परिवर्तन आया। पोद्दारजी ने इस हृदयद्रावक दुर्घटना में निमित्त बननेवाले बहन के ससुरालवालों को क्षमा ही नहीं कर दिया, आजीवन उनसे पूर्ववत् स्नेह-सम्बन्ध बनाये रहे। परन्तु बहन की दर्दनाक मृत्यु का इनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। जीवन कितना क्षणभंगुर है तथा जगत् के व्यवहार का रूप कितना बीभत्स होता है—इसे प्रस्तुत घटना में इन्होंने अत्यन्त निकट से देख लिया।

अध्यात्म भावना का पुनरुद्रेक

व्यापार, राजनीति और समाजसेवा के स्तरों को पार करता हुआ मन बिहग गुरुत्वाकर्षणरहित-साधना के अनन्ताकाश में विचरण के लिए उद्विग्न हो उठा। अर्थोपार्जन, देशभक्ति और समाजसेवा के प्रति उत्साह जैसे-जैसे कम हुआ, उसी अनुपात से भगवच्चरणों के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। अब व्यापार, राजनीति और लोकाराधन का स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में अस्तित्व असम्भव हो गया। ये भक्ति के अंग होकर और उससे अनुरंजित रहकर ही हृदय में स्थान पा सकते थे। इस उत्कृष्ट मनोभूमि के निर्माण का उपक्रम जीवन-सूत्र का संचालक पोद्दारजी के आविर्भाव के पूर्व से ही कर रहा था, वह बम्बई आने के कुछ ही समय बाद पुनः आरम्भ हो गया।

गोयन्दकाजी का संसर्ग

बम्बई आगमन के दस महीने बाद अपनी छोटी बहन अन्नपूर्णा बाई के विवाह (आषाढ़ शुक्ल ४, सं० १९७६) के सम्बन्ध में पोद्दारजी का बाँकुड़ा जाना हुआ। इस कार्य के लिए इन्हें काफी दिन वहाँ रुकना पड़ा। सेठ श्रीजयदयाल गोयंदका के दीर्घकाल तक सत्संग-लाभ का इस बहाने अच्छा अवसर मिल गया। इसके पूर्व कलकत्ता में इनके साथ जो भेंट हुई थी, वह बहुत अल्पकालीन थी। उसमें प्रवचनों के सुनने का तो आनन्द-लाभ हो जाता था, किन्तु विचार-विमर्श के लिए भीड़ में समय नहीं मिल पाता था। बाँकुड़ा में कई दिनों तक निरन्तर अध्यात्म-चर्चा का अवसर मिला। सेठजी, विचारों के आदान-प्रदान के क्रम में पोद्दारजी की अगाध भगवत्प्रीति एवं उत्कृष्ट जिज्ञासा-वृत्ति से बहुत प्रभावित हुए और पोद्दारजी के हृदय में उनके गीता-ज्ञान तथा वेदान्त-निष्ठा के प्रति बड़ा आकर्षण हुआ। इस भेंट ने दोनों महापुरुषों के भावी सौहार्द एवं सहयोग का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

विवाह कार्य समाप्त करके ये बम्बई लौट आये, किन्तु सेठजी के व्यक्तित्व का

जो आकर्षण इस बार की भेंट में इन्होंने अनुभव किया था, उससे उनके पुनर्दर्शन की लालसा बनी ही रही। संयोगवश इन्हीं दिनों सेठ जमनालाल बजाज का चक्रधरपुर में गोयंदकाजी से मिलने का पुरोगम बना। इसका पता पोद्दारजी को चला। वे भी साथ चलने को तैयार हो गये।

चक्रधरपुर पहुँचने पर कुशल-क्षेम चर्चा के पश्चात् गोयंदकाजी ने इन्हें अपने दो ग्रन्थों—'त्याग से भगवत्प्राप्ति' और 'प्रेमभक्ति प्रकाश' के भाषा-संस्कार का काम सौंपा। पोद्दारजी ने उनकी भाषा ही नहीं सुधारी, एक प्रकार से उनका कायाकल्प कर दिया। सेठजी अपने मूल भावों को अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रभावशाली शैली में अभिव्यक्त देखकर बहुत प्रसन्न हुए। श्रावण सं० १९७७ को ये पुनः बम्बई लौट आये।

कीर्तनासक्ति का सूत्रपात

सं० १९७८ में महात्मा लक्ष्मीनारायण का बम्बई आगमन हुआ। ये भिवानी के निवासी थे, अतः समाज में 'भिवानी के भक्त' नाम से प्रसिद्ध थे। ये नवद्वीप के गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीरामकरण के अनुगत और बड़े ही उच्चकोटि के भावावेशी संत थे। आद्याचार्य चैतन्य महाप्रभु के आदर्श पर जीवन-यापन करते हुए ये सर्वतोभावेन हरिनाम-कीर्तन में मस्त होकर जगह-जगह घूमकर हरिनाम का प्रचार करते थे। सेठ रामकृष्ण डालमिया के प्रयत्न से हरिनाम-प्रचार के निमित्त ही इनका बम्बई आना हुआ था।

भक्त लक्ष्मीनारायण के कीर्तन का मंत्र था—

'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे,
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।'

भक्त-मंडली झाल, करताल, ढोल, मृदंग के साथ कीर्तन करती थी। कीर्तन करते-करते लक्ष्मीनारायणजी को आवेश आता था। वे उसी के प्रवाह में आत्म-विभोर हो नृत्य करते-करते मूर्च्छित हो जाते थे। पोद्दारजी इनकी कीर्तन-निष्ठा से बहुत प्रभावित हुए। **'हरे राम……हरे कृष्ण……'** इसी समय से इनका इष्ट मंत्र-सा हो गया। इसके प्रचार-प्रसार में इन्होंने मानवता का त्राण अनुभव किया और तदर्थ समय-समय पर कीर्तन यज्ञों का आयोजन करते रहे। इसके बाद नामजप का क्रम कुछ और तीव्र हो गया। इसी बीच १८ मास की अवस्था में पुत्र का देहावसान हो गया। इस घटना से इनकी लोकासक्ति को गहरा झटका लगा। मन भगवान की ओर तेजी से बढ़ने लगा।

सेठ रामकृष्ण डालमिया से घनिष्ठता

सेठ रामकृष्ण डालमिया से इनकी आत्मीयता इस भावना के विकास में सहायक हुई। भक्त लक्ष्मीनारायण के सम्पर्क का सौभाग्य इनको डालमियाजी के ही माध्यम से प्राप्त हुआ था। उस बीच डालमियाजी की वृत्ति अध्यात्मोन्मुख थी। उनका समय

व्यापार की अपेक्षा कीर्तन, भजन और सत्संग में ही अधिक बीतता था। इस ओर उनका इतना झुकाव हो चला था कि एक दिन उन्होंने पोद्दारजी से 'संन्यास' ग्रहण की इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु आधार पुष्ट न देखकर इन्होंने उन्हें वैसा करने से रोक दिया था। बाद में वासना के झोंके उनकी जीवन तरणी को विपरीत दिशा में बहा ले गये।

प्रार्थना के चमत्कार

भजन और प्रार्थना के कई चमत्कार हनुमानप्रसादजी को अपने बम्बई-जीवन में देखने में आये। एक घटना है—

एक गुजराती सज्जन को फाटके (सट्टे) में बड़ा घाटा लगा। उस समय उसे कोई सहायक नहीं मिला। पोद्दारजी उससे परिचित थे। इनके पास आकर उसने करुण हृदय से अपनी सारी परिस्थिति बता दी तथा २७ हजार रुपये उधार माँगे। इनका हृदय आरंभ से ही दया से पूर्ण था। भजन के प्रभाव से और भी कोमल होता जा रहा था। इन्होंने बिना अपने साझीदार से परामर्श किये एकमुश्त सत्ताइस हजार रुपये रोकड़ में लिखे बिना ही अपने रोकड़िए से दिला दिये। रुपये लेकर वह चला गया, पर जिस दिन रुपये वापस करने का वचन दे गया था, परिस्थितिवश उस दिन रुपये न लौटा सका। उधर दूसरे दिन ही साझीदार द्वारा रोकड़ संभालने की बात थी। न तो इन्होंने कोई बेईमानी की थी, न उस गुजराती सज्जन के मन में ही कोई बेईमानी थी, पर परिस्थिति ऐसी हो गयी थी कि दूसरे दिन रोकड़ संभालते समय इन रुपयों के सम्बन्ध में पूछे जाने पर इनके पास कोई उत्तर न था। सच-सच बतला देने पर भी इनका विश्वास साझीदार को उस समय न होता और ये बेईमान सिद्ध हो जाते। इन सब बातों को सोचकर इनका चित्त अत्यंत व्याकुल हो गया। सत्ताइस हजार रुपये कहीं से उधार मिलने की भी आशा नहीं थी।

अतः ये सर्वथा उद्विग्न-चित्त रूपमें दूकान से बाहर निकल पड़े। निरुद्देश्य चले जा रहे थे और मुख से भगवन्नाम की रट लग रही थी। दो-तीन मील पैदल चले गये। यह भी पता नहीं था कि किस पथ से किधर जा रहे हैं। हठात् एक मित्र से भेंट हो गयी। उसने पूछा—'उदास क्यों हो ?' कहाँ जा रहे हो ?' इन्होंने कहा, 'यों ही'। मित्र ने आग्रह-पूर्वक पूछा, 'बताओ, बात क्या है ?' इन्होंने बतला दिया कि 'सत्ताईस हजार रुपयों की जरूरत है।' मित्र ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, 'मेरे आज रुपये आने वाले थे। चलो, बैंक में पता लगा लें। यदि आये होंगे तो मैं तुम्हें दे दूँगा।' इधर विधि ऐसी बैठी थी कि सामने ही इण्डिया बैंक था। दैवक्रम से दोनों मित्र ठीक बैंक के सामने फुटपाथ पर मिले थे, अतः एक मिनट के अंदर ही बैंक में जा पहुँचे। मित्र ने जो सहानुभूति प्रकट की थी, उसमें सर्वथा शिष्टाचार ही था। उसे यह निश्चय पता था कि आज तो बैंक में रुपये नहीं ही आयेंगे। इस प्रकार रुपये भी न देने पड़ेंगे और मित्रोचित व्यवहार भी निभ जायगा। पर दैव का विधान था।

बैंक के बाबू से पूछते ही उत्तर मिला कि अभी-अभी रुपये आये हैं तथा उतनी ही रकम थी, जितनी उन्हें आवश्यक थी। बैंक के क्लर्क का स्पष्ट उत्तर इन्होंने बगल में खड़े होकर सुन लिया था। अतः अब कोई बहाना भी नहीं चल सकता था। मित्र ने असमंजस में पड़कर उतने ही रुपये का चेक काट दिया। रुपये मिल गये। उसे लेकर इन्होंने अपनी दूकान की रोकड़ में जमा कर दिया। इनकी प्रतिष्ठा बच गयी। कुछ दिन बाद उस गुजराती सज्जन ने भी रुपये लौटा दिये और इन्होंने मित्र को रुपये लौटा दिये। भगवान की अप्रत्याशित कृपा पाकर इनका रोम-रोम कृतज्ञता से भर गया। अशरणशरण कैसे सुंदर ढंग से सारी व्यवस्था बैठा देते हैं, यह देखकर ये आश्चर्य में डूब गये।

इसी प्रकार प्रार्थना के विस्मयकारी प्रभाव विषयक एक अन्य घटना का विवरण देते हुए पोद्दारजी ने कहा था—

'मेरे एक साथी थे हरिराम शर्मा। वे रुई की दलाली करते थे। वे मेरे पास ही रहते थे, मेरे घर पर ही भोजन करते थे। भाई श्रीरामकृष्ण डालमिया उन दिनों सट्टा करते थे। इस काम में उन्हें कुछ घाटा लग गया था। मैंने भाई हरिरामजी को सावधान कर दिया था—'तुम गरीब आदमी हो। अतएव भाई रामकृष्ण के सट्टे का काम मत करना। भाई रामकृष्ण को कुछ लगा हुआ है, और लग जायेगा तो वह तो दे सकेगा नहीं और तुम्हारा फर्म फेल हो जायगा।' पर भाई रामकृष्ण सट्टे का बड़ा काम करता था और इससे श्रीहरिरामजी को दलाली से अच्छे पैसे मिल जाते थे। बस, दलाली के लोभ में वह मेरी बात न मान सका और वह भाई रामकृष्ण का काम करवाता रहा। जब नफा होता रहा, तबतक श्रीहरिराम को दलाली मिलती रही, परन्तु विधाता का विधान कुछ और था। एक सप्ताह में करीब ५०-६० हजार का घाटा हो गया। भाई रामकृष्ण के पास देने को था नहीं। श्रीहरिराम को उनका भुगतान करना था। वह मेरे पास आया और बोला—'श्रीरामकृष्णजी का इस प्रकार काम करवा दिया था, उसमें इतने रुपये घाटे के लग गये हैं। अब क्या करें?' मैंने कहा 'भाई, तुमने क्यों करवाया? मैंने तो तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया था, परन्तु तुमने माना ही नहीं।' अब तो वह बहुत कातर हो गया और पूछने लगा 'अब क्या करें?' मेरे मुँह से निकला—'भगवान् के सामने रोओ, और क्या करोगे?' बस, उसने बात पकड़ ली। वह गद्दी के समीप वाले कमरे में जाकर बैठ गया और उसने क्या प्रार्थना की, क्या रोया, क्या कहा, मुझे कुछ पता नहीं। उसके थोड़ी देर बाद श्रीताराचन्द घनश्यामदास फर्म के बालकिशनलाल पोद्दार का फोन आया कि यदि आप अपोलो बन्दर की ओर घूमने चलें तो मैं मोटर लेकर आ जाऊँ। मैंने कहा 'आ जाइये।' (अब जिस भाग का नाम मेरीन ड्राइव है, वह पहले अपोलो बन्दर कहलाता था)। वे मोटर लेकर आ गये और मैं उनके साथ घूमने चला गया। हरिराम की बात मैं

भूल गया। घूमकर हमलोग रात्रि में करीब ८ बजे लौटे। मुझे छोड़ने के लिए वे घर तक आये। जब हमारी मोटर घर के सामने रुकी तो अचानक बालकिशनलाल को हरिराम को याद आयी। वे बोले—'भाईजी! आप का हरिराम आजकल कहाँ है?' मैंने कहा—'वह तो रो रहा है।' उन्होंने पूछा 'रो क्यों रहा है?' मैंने कहा 'भाई रामकृष्ण का उन्होंने सौदा करवा दिया था। उसमें घाटा लग गया। भाई रामकृष्ण के पास पैसा देने को है नहीं। हरिराम का काम फेल होगा, इसलिए वह रो रहा है।' वे पैसेवाले व्यक्ति थे, पर पैसे के सम्बन्ध में कुछ अनुदार थे। किन्तु भगवान् की माया। वे तुरन्त बोले—'कल सुबह आदमी भेज दीजियेगा, चेक मँगवा लीजियेगा।' ये शब्द सुनते ही मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा 'आप किसको दे रहे हैं? यह पैसा फिर आनेवाला नहीं है।' बोले—'हम आने के लिए थोड़े ही दे रहे हैं। हमारे मन में आ गया, इसलिए दे रहे हैं।' मैंने कहा 'अच्छी बात है'। बालकिशनलाल अपने घर लौट गये।

अब मेरे मन में विचार हुआ कि रुपया मँगवाना चाहिए या नहीं। मैंने अपने मित्र श्रीविरधीचन्द पोद्दार को बुलाया और उनसे सलाह ली कि क्या करना चाहिए? वे बड़ी सात्त्विक प्रकृति के व्यक्ति हैं। आजकल वे नागपुर में हैं। उन्होंने कहा 'भाईजी, द्रौपदी की चीर आपने बढ़ायी थी क्या? भगवान् की प्रेरणा से बालकिशनलाल आये हैं और रुपया भी उन्हीं की प्रेरणा से मिल रहा है, आप रोकनेवाले कौन होते हैं?' एक-दो मित्रों से और भी सलाह ली। सबकी यही राय रही। मैंने भाई रामकृष्ण को बुलाया। उसे पूरी बात बता दी। भाई रामकृष्ण ने हैण्डनोट लिख दिया तथा राजस्थान में उनके जो मकान हैं, उनके पट्टे दे दिये और कहा कि ये सब चीजें उन्हें दे दी जायँ और रुपये मँगवा लिये जायँ। मैंने हैण्डनोट एवं मकानों के पट्टे रखवा लिये। सुबह हैण्डनोट एवं मकानों के पट्टे देकर एक आदमी को बालकिशनलाल के पास भेजा। बालकिशनलालजी ने ब्लैंक चेक हस्ताक्षर करके दे दिया और कहलाया—'जितने रुपये चाहिए, उतने चेक में नोट कर दिये जायँ। इस समय बैंक में हमारे खाते में दो लाख रुपये हैं'। उन्होंने हैण्डनोट एवं मकानों के पट्टे लौटा दिये और कहलाया—'हम पट्टे तथा हैंडनोट रखकर रुपया नहीं दे रहे हैं'। मैं तो भगवान् की लीला देखकर मुग्ध हो रहा था। बैंक से रुपये आ गये और हरिराम का भुगतान हो गया। इसके बाद भगवान् की कृपा से दो-तीन महीने में भाई रामकृष्ण ने रुपये कमा लिये और बालकिशनलालजी के रुपये व्याजसहित लौटा दिये गये। यह भगवत्कृपा का चमत्कार हुआ। यह हरिराम की प्रार्थना का फल था।'

दैन्य का आविर्भाव

इन घटनाओं को देखकर पोद्दारजी को ईश्वर की कृपाशीलता पर अखण्ड विश्वास हो गया। वे प्रभु के आर्तहरण स्वभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर कृतज्ञता से

गद्गद हो गये। उसकी महत्ता के प्रकाश में अपनी हीनता का बोध आते ही हृदय दैन्य से भर गया और उन्होंने पूर्णरूप से भगवत् चरणों में अपने को अर्पित कर दिया। निम्नांकित पद की रचना इसी स्थिति में हुई थी—

'अब हरि ! एक भरोसो तेरो।
नहिं कछु साधन ग्यान-भगति को, नहिं बिराग उर हेरो।
अघ ढोवत अघात नहिं कबहूँ, मन बिषयन को चेरो॥
इंद्रिय सकल भोगरत संतत बस न चलत कछु मेरो।
काम-क्रोध-मद-लोभ-सरिस अति प्रबल रिपुन तें घेरो॥
परबस पर्‍यो, न गति निकसन की जदपि कलेस घनेरो।
परखे सकल बंधु, नहिं कोऊ बिपद-काल को नेरो।
दीनदयाल दया करि राखहु भव-जल बूड़त बेरो॥'

पद रचना का आरम्भ यहीं से हुआ। आगे चलकर इन्हीं पदों में कुछ और नयी रचनाएँ मिलाकर 'पत्रपुष्प' शीर्षक से एक छोटी-सी पुस्तिका (भजनसंग्रह, भाग पाँच) निकाली गयी।

श्री गोयन्दकाजी का बम्बई आगमन

श्रीज्वालाप्रसाद कानोडिया पोद्दारजी के कलकत्ता-जीवन के घनिष्ट मित्र थे। इनका वहाँ रहते हुए ही पोद्दारजी ने सेठ जयदयालजी गोयन्दका से परिचय करा दिया था। कालांतर में वे सेठजी के अनन्य भक्त हो गये। कलकत्ते में रहते हुए भी वे पोद्दारजी के आध्यात्मिक विकास के प्रति सचेष्ट रहते थे। उनकी इच्छा रहती थी कि इन्हें गोयन्दकाजी का सान्निध्य प्राप्त हो। इस विचार से उन्होंने पोद्दारजी को एक पत्र लिखकर सेठजी को बम्बई बुलाने का सुझाव दिया। इसके फलस्वरूप पोद्दारजी ने स्वयं तो सेठजी के पास तार और पत्र दिये ही, अपने मित्रों को भी विनयपूर्ण पत्रों के द्वारा उन्हें बंबई भेजने की प्रेरणा दी। भक्तों का आग्रह देखकर सेठजी ने स्वीकृति भेज दी।

पौष कृष्ण १३, सं० १९७९ को गोयन्दकाजी बम्बई पहुँचे। उनके साथ २०-२५ व्यक्ति कलकत्ता से गये थे। वे स्वागत में आये लोगों के साथ पैदल ही स्टेशन से सुखानन्दजी की धर्मशाला गये। यहीं उनके निवास तथा प्रवचन की व्यवस्था की गयी थी।

प्रथम प्रवचन

सेठजी का प्रथम प्रवचन सुखानन्दजी की धर्मशाला में निष्काम-कर्मयोग पर हुआ। कीर्तन की व्यवस्था नर-नारायणजी के मन्दिर में हुई। इसके बाद दूसरा व्याख्यान सुखानन्दजी के मकान पर हुआ। इसका विषय था 'नवधा भक्ति'। फिर

गीता और स्त्री-धर्म पर श्रीशिवनारायणजी नेमाणी की बाड़ी में कई दिन उपदेश एवं तत्त्व-विवेचन का क्रम चलता रहा।

श्रोताओं की सत्संग-निष्ठा देखकर सेठजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका बम्बई में दस दिन तक निवास करने का पुरोगम था। उसमें कई दिन बीत चुके थे। लोगों का सत्संग के प्रति उत्साह अनुभव कर सेठजी ने प्रस्ताव किया—'मेरे जाने के बाद आपलोग प्रतिदिन नियम से सत्संग करें।' इसके उत्तर में श्रीशिवनारायणजी नेमाणी ने विनीत भाव से कहा—'अवश्य, सत्संग होना चाहिए। नित्यप्रति होना चाहिए। सत्संग के लिए स्थान तो मैं अपनी बाड़ी में कम-से-कम पाँच वर्ष के लिए देता हूँ, पर वक्ता की व्यवस्था आप करें।' सेठजी बोले—'ज्वालाप्रसादजी कुछ दिनों के लिए सत्संग करा सकते हैं। हाँ, एक बार तो उन्हें कलकत्ता जाना पड़ेगा। अपनी माँजी की आज्ञा लेकर फिर यहाँ आ सकते हैं।' इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने फिर कहा—'बाहर के व्यक्ति का बराबर रहना सम्भव नहीं। आपलोग इतने हैं, स्वयं सत्संग व्यवस्था की चेष्टा करें। वक्ता यहाँ आपलोगों में से ही निकल आयेगा।' यह कहकर उन्होंने पोद्दारजी को आदेश दिया कि वे प्रतिदिन कुछ देर तक सत्संग कराया करें। सेठजी के आदेश के सामने पोद्दारजी नतमस्तक हो गये। अब सेठजी को विश्वास हो गया कि उनकी अनुपस्थिति में भी सत्संग का क्रम चलता रहेगा। दस दिन तक श्रद्धालुओं को कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी में अवगाहन का सुयोग प्रदान कर गोयन्दकाजी परिकरों के साथ बाँकुड़ा लौट गये।

सत्संग भवन की स्थापना और पोद्दारजी का नियमित प्रवचन

सेठजी के आदेशानुसार नेमाणीजी की बाड़ी में पोद्दारजी ने सत्संग कराना आरम्भ किया। इनके सामने एक कठिनाई आयी। धार्मिक विषयों पर प्रवचन करने का इन्हें अभ्यास नहीं था। कलकत्ता के राजनीतिक जीवन में व्याख्यान देने का अभ्यास हुआ था अवश्य, किन्तु उसका विषय इससे भिन्न था। दोनों में पूर्व-पश्चिम का अन्तर था। फिर भी लज्जा तो निभानी ही थी। पोद्दारजी ने स्वाध्याय करके सत्संग का क्रम चलाया। उसमें मुख्य वक्ता ये ही थे। बाड़ी धर्मशाला का ही एक रूप था। उस में एक बड़ा हाल तथा कुछ कोठरियाँ थीं। कोठरियों में एक छोटा-सा पुस्तकालय खोल दिया गया और हाल में प्रतिदिन सबेरे एवं रात्रि में सत्संग चलने लगा। उसमें प्रातःकाल गीता-शिक्षा का भी पुरोगम चलता था। वहाँ देखभाल के लिए स्थायी रूप से एक नेपाली पण्डित रखे गये। बाद में वे संन्यासी हो गये। तब उनका नाम 'नेपाली बाबा' पड़ गया। वे दिन रात वहाँ रहकर सम्हाल करते थे।

कुछ ही दिनों के अभ्यास के अनन्तर पोद्दारजी का गीता पर धाराप्रवाह प्रवचन चलने लगा। यह क्रम कई वर्षों तक चला। गीता की दो आवृत्तियाँ पूरे विस्तार के साथ समाप्त हुईं। सोलहवें अध्याय के पहले तीन श्लोकों की व्याख्या लगातार कई

महीनों तक चलती रही। अठारहवें अध्याय के छासठवें श्लोक पर भी एक महीने प्रवचन हुआ। गीता पर आचार्यों के जो भाष्य एवं टीकाएँ हैं, उन सबकी व्याख्या करके ये सुनाते। साथ ही श्लोकों पर के नये-नये भावों का जो स्फुरण होता, उसका भी वर्णन करते जाते। सत्संग में उपस्थिति साठ-सत्तर के लगभग रहती।

रात में रामचरितमानस पर प्रवचन होता। वह भी पोद्दारजी ही करते। प्रवचन आरम्भ करने के पहले प्रतिदिन "वर्णानामर्थसंघानां" से लेकर "बंदउँ गुरुपद कंज" तक स्तुति करते। फिर प्रवचन आरम्भ होता। बड़ा ही गम्भीर ओजस्वी और प्रभावपूर्ण विवेचन करते। श्रोता आनन्दमुग्ध हो जाते।

पोद्दारजी के इस सत्संग में अच्छे-अच्छे लोग आते थे। उसमें मारवाड़ी, मराठी और गुजराती,—सभी वर्गों के श्रोता रहते थे। सेठ जमनालालजी बजाज जब तक बम्बई में रहते बराबर उपस्थित होते थे। गांधीजी के अनुयायी श्रीकृष्णदास जाजू नियमित रूप से आते थे। बीच में साधु महात्मा भी पधारते रहते थे। इनके सत्संग के साथ उन सन्तों का भी सत्संग हो जाता था। उन दिनों बम्बई में पधारने वाले महात्माओं में प्रमुख थे।—श्रीअच्युतमुनि, भोले बाबा, उड़िया बाबा, हरिबाबा, स्वामी योगानन्द, स्वामी एकरसानन्द, स्वामी कृष्णानन्द, वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी गोकुलनाथजी, रामानुज सम्प्रदायाचार्य स्वामी अनन्ताचार्य, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के गुरु स्वामी विशुद्धानन्द, स्वामी भास्करानन्द, स्वामी उत्तमनाथ, अहमदाबाद के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी अखण्डानन्द आदि। 'सत्संगभवन' की प्रवचन-माला के संयोजक रूप में पोद्दारजी की इन महात्माओं से केवल जान-पहचान ही नहीं, एक ही पथ के पथिक होने से गाढ़ी मित्रता स्थापित हो गयी। इससे आगे चलकर 'कल्याण' के सम्पादन में इनका अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ।

पं० हरिवक्ष जोशी तथा श्रीविष्णु दिगम्बरजी का सहयोग

पोद्दारजी को दो सहृदय विद्वानों पं० हरिवक्ष जोशी[१] और श्रीविष्णु दिगम्बरजी पलुस्कर से 'सत्संग भवन' के कार्यक्रम को सुव्यवस्थित रूप से चलाने एवं आकर्षण प्रदान करने में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। परवर्ती जीवन में ये दोनों पोद्दारजी के घनिष्ठ मित्र हो गये। जोशीजी रात्रि के सत्संग में आते थे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् होने के साथ ही बड़े ही साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनके मुख से श्रीकृष्ण-भक्ति-संबंधी मधुर श्लोकों का पाठ सुनकर पोद्दारजी तन्मय हो जाते थे।

---

१. जोशीजी गाँगियासर (राजस्थान) के रहने वाले हैं। ये उस समय वेंकटेश्वर प्रेस के औषधालय में प्रधान वैद्य के रूप में काम करते थे, पोद्दारजी के पास बराबर आते थे और उनको भागवत सुनाया करते थे। भागवत में पोद्दारजी की विशेष रुचि होने का एक मुख्य कारण इनका सम्पर्क था।

गायनाचार्य पं० विष्णुदिगम्बरजी से भी पोद्दारजी का अच्छा परिचय हो गया था। पोद्दारजी ने सं० १९८० के पुरुषोत्तम (ज्येष्ठ) मास में प्रातः ७ बजे से ९ बजे तक सत्संग-भवन में इनकी कथा का नियमित रूप से आयोजन किया। रामचरित-मानस की यह कथा साजबाज भजन-कीर्तन के साथ होती थी। इसके बाद भी विशेष अवसरों पर इनकी कथा सत्संग-भवन में होती रहती थी। सत्संग-भवन की ओर से ही रामनवमी, जन्माष्टमी, होली आदि राष्ट्रीय त्योहारों पर नगर-कीर्तन बड़ी धूमधाम से निकलता था। इसमें कीर्तन करते-करते पोद्दारजी कई बार मूर्च्छित होते देखे गये।

गीता-शिक्षक की भूमिका

पोद्दारजी के प्रवचनों का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इससे आकृष्ट होकर स्थानीय मारवाड़ी विद्यालय के प्रिंसिपल श्री एन० एम० लालानी ने एक दिन इनसे कहा,—'आप हमारे बालकों को एक घंटे गीता की शिक्षा दे दिया करें, तो बड़ी कृपा हो। इससे उनका बड़ा कल्याण होगा।' पोद्दारजी इस विद्यालय की कार्य-कारिणी के सदस्य थे। बालकों के चारित्रिक उत्थान में रुचि भी रखते थे, अतः सहर्ष स्वीकृति दे दी। अब वे नियमित रूप से विद्यालय में एक घंटा गीता की शिक्षा देने लगे। प्रसिद्ध समाजवादी नेता डॉ० राममनोहर लोहिया उन दिनों इस विद्यालय के विद्यार्थी थे। पोद्दारजी की गीता-शिक्षा की बात उन्हें जीवन भर स्मरण रही। अपने व्याख्यानों में वे इसकी कई बार चर्चा करते और पोद्दारजी से जब भी मिलते, उस समय के स्नेह-सौहार्द का स्मरण करके पुलकित हो उठते थे।

दादी का परलोकवास

सत्संग-भवन के कार्यक्रम को सफलतापूर्वक चलाने का प्रयास चल रहा था, इसी बीच एक महान् पारिवारिक आपत्ति आ गयी। दादी रामकौर देवी बीमार पड़ीं और बिना किसी विशेष कष्ट के वैशाख शुक्ल १३, नृसिंह-जयन्ती सं० १९८० को परमतत्त्व में लीन हो गयीं। गर्भधारिणी माँ शैशव में ही छोड़कर परलोक सिधारी थी। तब से लेकर अंतिम साँस तक इनकी माता, पिता और गुरु, जो भी समझा जाय, दादी ही रहीं। उनके भरोसे ये घर की झंझटों से निश्चिंत रहते थे। आपत्तियों के सारे पहाड़ वे अपने शरीर और मन पर झेल लेती थीं, हनुमानप्रसाद पर रंच-मात्र भी उसकी आँच नहीं लगने देती थीं। इनकी सारी आध्यात्मिक संपत्ति का बीज उन्हीं का बोया हुआ था। ऐसी उत्सर्गमयी संरक्षिका का वियोग पोद्दारजी के लिए हृदय-विदारक था। इन्होंने उनकी अन्त्येष्टि तथा श्राद्ध-कर्म विधिविधान पूर्वक बड़ी उदारता तथा उत्साह से किया।

शिरोवेदना और उपचार

समाज-सेवा एवं परमार्थ-साधना में अहर्निश संलग्न रहने के कारण पोद्दारजी

को पर्याप्त शारीरिक एवं मानसिक श्रम करना पड़ता था। किन्तु इसके कारण साधना में रंचमात्र का भी व्यवधान नहीं होने पाता था। रात में ये दो-ढाई घंटे ही नींद ले पाते थे। अनवरत श्रम करने एवं पर्याप्त निद्रा न होने के कारण इनके सिर में भयानक पीड़ा प्रारम्भ हुई। बड़े-बड़े वैद्य डाक्टरों के द्वारा औषधोपचार हुआ, पर कोई लाभ नहीं हुआ। श्रीयादवजी भीकमजी उस समय बम्बई के प्रसिद्ध वैद्य थे। वे पोद्दारजी पर बहुत स्नेह रखते थे और इनके घर बराबर आया करते थे। एकदिन इन्होंने उनसे अपने सिरदर्द की चर्चा की। वे बोले—'औषधियों के चक्कर में न पड़कर तुम नंगे सिर रहने का अभ्यास करो।' उन दिनों मारवाड़ी समाज में नंगे सिर रहना अच्छा नहीं माना जाता था। किन्तु यादवजी का सुझाव मानकर इन्होंने उसी दिन से नंगे सिर रहना आरम्भ कर दिया। ५-७ दिन इन्हें कुछ अटपटा-सा लगा, किन्तु सिर का दर्द ठीक हो गया। इसके बाद वैसाख-जेठ की तपती धूप और लू में भी ये बिना छाता लगाये घूमते थे। केवल वर्षा से बचने के लिए छाता का प्रयोग करते थे। सिरदर्द का रोग इस भाँति एकबार समाप्त होकर फिर जीवन में कभी नहीं हुआ।

पं० विष्णु दिगम्बर की राग सेवा

सत्संग-भवन में गायनाचार्य पं० विष्णु दिगम्बरजी पलुस्कर की रात में कथा होती थी। कथा के पूर्व जिस समय वे **'रघुपति राघव राजाराम पतितपावन सीताराम'** का संकीर्तन साजबाज के साथ आरम्भ करते थे, उनकी रस-परिप्लुत स्वर-लहरी सारे वातावरण को राममय कर देती थी—श्रोता भावविभोर हो झूम उठते थे। गांधीजी प्रत्येक कांग्रेस अधिवेशन में विष्णुदिगम्बरजी को बुलाकर आरम्भ में **'रघुपति राघव राजाराम ...'** का सामूहिक कीर्तन कराते और इसको 'राष्ट्रीय गीत' के नाम से पुकारते थे।

गायनाचार्यजी राम के अनन्य भक्त थे। पोद्दारजी से परिचय होने के बाद उनकी यह भक्तिनिष्ठा और दृढ़ हो गयी थी। पोद्दारजी का **'मेरे एक राम नाम आधार'** ('पद-रत्नाकर', पद संख्या—९८५) प्रतीक वाला पद उन्हें अत्यन्त प्रेरणाप्रद लगा। वे इससे इतने प्रभावित हुए कि इसी के आदर्श पर उन्होंने 'राम-नाम-आधार-मण्डल' नामक एक संस्था स्थापित की। इसमें उनके अनुरोध से पोद्दारजी के कई प्रवचन हुए। पोद्दारजी का उक्त पद मण्डल में नित्य गाया जाता था।

पं० विष्णु दिगम्बरजी ने गांधर्व विद्यालय खोल रखा था। यह बम्बई में संगीत-शिक्षा की प्रमुख संस्था थी। आय का कोई सबल स्रोत न होने के कारण इस पर ७५ हजार रुपये के लगभग ऋण चढ़ गया। पण्डितजी उसके लिए चिंतित रहने लगे। पोद्दारजी को इसका पता चला। पण्डितजी की एतद्विषयक उद्विग्नता देखकर ये बहुत

दुःखी हुए, किन्तु अपने पास इतना रुपया था नहीं, अतः इन्होंने इसके लिए ऋण लेने का निश्चय किया। सं० १९८० में कतिपय मित्रों और परिचितों से अपने नाम ऋण के रूप में ७५ हजार रुपये एकत्र कर इन्होंने विष्णु दिगम्बरजी को ऋण-मुक्त करा दिया। इस ऋण का भुगतान बारह वर्ष बाद सं० १९९२ में गोरखपुर आने के पश्चात् हो पाया। उपर्युक्त ऋणदाताओं में जिन लोगों ने दानरूप में गंधर्व महाविद्यालय को ऋण का धन प्रदान कर दिया, उन्हें छोड़कर शेष सभी को पाई-पाई चुका दिया, कुछ लोगों को सूद भी दिया। सम्मानित मित्र की इस सहायता से इन्हें आंतरिक प्रसन्नता हुई।

गोयन्दकाजी की द्वितीय सत्संग-यात्रा

सत्संग-प्रेमियों के आग्रह से सेठ जयदयालजी गोयन्दका का पुनः बम्बई आना हुआ। सेठजी का स्वागत करने पोद्दारजी बम्बई से वर्धा गये, वहाँ सेठ जमनालाल बजाज के दो-तीन दिन अतिथि रहकर वे इन्दौर और अमरावती होते हुए अकोला आये। यहाँ तक पोद्दारजी उनके साथ रहे। फिर ये सीधे बम्बई चले आये और सेठजी दूसरे दिन माघ शुक्ल १३, सं० १९८० को खामगाँव होकर बम्बई पहुँचे। यहाँ दस दिन तक नगर के विभिन्न भागों तथा कुछ निकटवर्ती कस्बों में सेठजी के प्रवचनों की धूम रही। इसके बाद वे ऋषिकेश चले गये।

सामूहिक जपयज्ञ का श्रीगणेश

गोयन्दकाजी की बम्बई की प्रथम सत्संग-यात्रा के समय से ही पोद्दारजी ने सामूहिक जपयज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया था। इस की पूर्णाहुति होली के अवसर पर हुई। बड़े उत्साह से समारोह मनाया गया। ब्राह्मण-भोज, कीर्तन आदि की व्यवस्था सुचारुरूप से की गयी। आगे चलकर यह जपयज्ञ नियमित रूप से चलने लगा और इसे वार्षिक परमार्थ योजना का रूप दे दिया गया। 'कल्याण' के प्रवर्तन के पश्चात् इसका प्रचार देश के कोने-कोने में ही नहीं, विदेशों में भी हुआ और आज तक अक्षुण्ण रूप से चल रहा है।

कब्बू भाई का सत्संग

यादवजी के माध्यम से पोद्दारजी का कब्बूभाई नाम के महात्मा से परिचय हुआ। ये एक गुजराती सन्त थे। ये सत्संग में भी नित्य कीर्तन कराते थे। पोद्दारजी से बड़ी आत्मीयता रखते थे। इनकी भी उनपर असीम श्रद्धा थी। जब भी नैमित्तिक कार्यों से अवकाश पाते, उनकी सेवा में उपस्थित होते थे।

पं० नरहरि शास्त्री का स्नेह सम्बन्ध

शास्त्रीजी महाराष्ट्रीय विद्वान् थे। इनका गीता पर गुजराती भाषा में बड़ा सार-गर्भित प्रवचन होता था। उसमें हजारों की भीड़ एकत्रित होती थी। श्रोताओं में सभी

तरह के लोग होते थे—बड़े-बड़े अधिकारी, वकील, जज, अध्यापक, व्यापारी आदि। प्रत्येक रविवार को इसकी व्यवस्था होती थी, जिससे सभी लोगों को लाभ उठाने का अवसर मिले। इन सन्त विद्वानों के सान्निध्य में पोद्दारजी की आध्यात्मिक प्रवृत्ति में वृद्धि हुई।

स्वामी योगानन्दजी से परिचय और मंत्रानुष्ठान

स्वामी योगानन्दजी अनुष्ठान-साधना के मर्मज्ञ थे। बम्बई में भेंट होने पर उन्होंने पोद्दारजी को इस विद्या के सहारे कुछ सहायता करने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु पोद्दारजी सकाम साधना के विरोधी थे। अतः सहमत न हुए। आगे चलकर उन्होंने अपने एक मित्र को आपद्ग्रस्त देखकर उनके कष्टनिवारण के निमित्त स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट मन्त्रानुष्ठान का आयोजन किया था। उसका विवरण पोद्ददारजी के ही शब्दों में इस प्रकार है—

'उत्तर प्रदेश में अनूपशहर के आस-पास गंगातट पर निवास करने वाले बंगाली महात्मा श्रीयोगानन्दजी सरस्वती से भी बम्बई के जीवन में परिचय हुआ। यह परिचय पंडित श्रीलाल याज्ञिक के द्वारा हुआ। वे संन्यासी थे। एकबार बम्बई पधारे थे। बड़े सिद्धि-प्राप्त महात्मा थे और मन्त्रानुष्ठान के मर्मज्ञ थे। मेरे साथ बहुत निकट का सम्बन्ध होने से वे जान गये थे कि इस समय मुझे कुछ अर्थ की आवश्यकता है। उन्होंने मुझे भगवान् शंकर का एक मंत्रानुष्ठान लिखकर भेजा और कहलाया कि इस मंत्रानुष्ठान के प्रयोग से भगवान् शंकर का प्रत्यक्ष होगा और तुम्हारे अभाव पूर्ण हो जायंगे। मैंने उनसे कहलाया— 'मैं अपने लिए सकाम अनुष्ठान नहीं करता। हाँ ! मेरा इन अनुष्ठानों पर पूरा विश्वास है।' पर वे बराबर लिखते रहे और समझाते रहे। उनका बड़ा वात्सल्य भाव था। उन्होंने लिखा—'जैसे वैद्य की दवा ली जाती है, वैसे ही इस अनुष्ठान को कर लो। क्या आपत्ति है?' पर मैं उनकी बात स्वीकार नहीं कर सका। भगवान् की माया बड़ी विचित्र है। मेरे एक मित्र की आर्थिक स्थिति उस समय बहुत कमजोर हो गयी थी। मित्र का वह आर्थिक संकट बड़ा भयानक था। उनके प्रति मेरे मन में बड़ा प्यार था। वे बराबर अपनी परेशानियाँ मुझे बताते थे। मेरे मन में आया कि स्वामी श्रीयोगानन्दजी का बताया हुआ शिवजी का अनुष्ठान अपने लिए तो नहीं करना है, पर मित्र के लिए कर दिया जाय। उस समय मैं गोरखपुर में था। गीतावाटिका में ऊपर के पूर्व वाले कमरे में रहता था। मैंने उसी कमरे में अनुष्ठान आरम्भ किया। बड़ी विधि एवं श्रद्धा के साथ २१ दिनों तक वह अनुष्ठान चलता रहा। २१वें दिन बड़े भयानक रूप में भगवान् शंकर का प्राकट्य हुआ। उनका वह भयावह रूप देखकर मैं काँपने लगा। उन्होंने कहा—'तुम्हारा मंत्रानुष्ठान सफल हो गया, परन्तु तुमने उसका प्रयोग कर बहुत अनुचित किया। भविष्य में इस मंत्र का अनुष्ठान करोगे तो तुम्हारा सर्वनाश

हो जायगा। तुम फिर कभी इसका अनुष्ठान नहीं करना। और सम्भव है, तुम इस मंत्र को भूल जाओगे। जिसके लिए यह अनुष्ठान किया है, उसे कह देना कि फिर किसी बहुत बड़े व्यापार को न करे, उसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।' इतना आदेश देकर भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये। उस समय मित्र सट्टा किया करते थे। चीन में बड़े पैमाने पर चाँदी का सट्टा होता था। मुझे ठीक स्मरण नहीं है कि मित्र ने चाँदी बेचने को लिखा या लेने को; पर जो लिखना चाहते थे, भाग्य से उससे उल्टा लिखा गया। अर्थात् लेने की जगह बेचना और बेचने की जगह लेना लिखा गया और उसी के अनुसार वहाँ सौदा हो गया। सौदा होने के पश्चात् जब वहाँ से तार आया तो उनके मन में बड़ी घबराहट हुई। उन्होंने समझ लिया कि हम जो चाहते थे, उससे उल्टा हो गया है। अतएव उन्होंने जैसे सौदा हुआ था, उससे उल्टा सौदा करने के लिए तार दिया, पर भगवान् की माया विचित्र है, वह तार भी उल्टे सौदे का लिखा गया और वह भी जितना वे सौदा करना चाहते थे, उससे दूना हो गया। भगवान् को उन्हें रुपये देने थे। उनकी इच्छा के विपरीत दुगुना उल्टा काम होने पर भी उस में उन्हें ३० लाख रुपये एक महीने में मिले। वह मंत्र कुछ दिनों के बाद मुझे विस्मृत हो गया। अनुष्ठान की क्रिया तो मुझे स्मरण रही, पर मंत्र मैं सर्वथा भूल गया। इस मंत्रानुष्ठान के प्रयोग से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस युग में भी देवता सिद्ध होते हैं, उनके दर्शन होते हैं तथा उनकी आराधना से नवीन प्रारब्ध का निर्माण होकर कार्य सिद्ध हो जाता है।'

'कल्याण' का प्रवर्तन

पोद्दारजी की जीवन-व्यापी साधना के व्यक्त प्रतीक 'कल्याण' मासिक पत्र का बीजारोपण बड़े ही सहज रूप में हुआ—अनियोजित, अपूर्वचर्चित और अघोषित। कहानी इस प्रकार है—

सं० १९८३ में 'मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में हुआ। इसके सभापति थे सेठ जमनालालजी बजाज और स्वागताध्यक्ष श्रीआत्माराम खेमका। आरम्भ में खेमकाजी ने कुछ कारणों से स्वागताध्यक्ष होना अस्वीकार कर दिया था, पीछे सेठ जयदयालजी गोयन्दका के आग्रह से वे राजी हो गये। अधिवेशन जल्दी प्रारम्भ होने वाला था। प्रश्न उठा स्वागत-भाषण लिखने का। खेमकाजी शास्त्रज्ञ तथा विद्वान् थे, पर उन्हें हिन्दी लिखने का अभ्यास नहीं था। उन्होंने श्री गोयन्दकाजी से भाषण तैयार करवा देने की प्रार्थना की। श्रीगोयन्दकाजी ने श्री पोद्दारजी को दिल्ली जाकर भाषण तैयार कर देने का आदेश दिया। श्री पोद्दारजी दिल्ली गये और उन्होंने २४ घण्टे के अन्दर एक अत्यन्त सारगर्भित भाषण लिखकर मुद्रित करा दिया। लोग उसमें व्यक्त विचारों से बहुत प्रभावित हुए।

अधिवेशन में भाग लेने के लिए सेठ घनश्यामदास बिरला भी आये थे।

उनका यद्यपि पोद्दारजी के विचारों से पूर्ण मतैक्य नहीं था, तथापि यह भाषण उन्हें भी पसन्द आया। दूसरे दिन अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने पोद्दारजी से कहा—'भाईजी, तुम लोगों के विचार क्या हैं ? कैसे हैं ? कहाँ तक ठीक हैं ? इसकी आलोचना हमें नहीं करनी है। पर इनका प्रचार तुम लोगों के द्वारा समाज में हो रहा है। जनता इसे दूर तक मानती भी है। यदि तुम लोगों के पास अपने ही विचारों और सिद्धान्तों का एक 'पत्र' होता तो तुम लोगों को और भी सफलता मिलती। तुम लोग अपने विचारों का एक पत्र निकालो।'

पोद्दारजी बोले—'बात तो ठीक है, पर मेरा इस विषय में कोई अनुभव नहीं है'। बिरलाजी ने आग्रह करते हुए कहा, 'प्रयास करो।' उस समय बात यहीं समाप्त हो गयी।

घनश्यामदासजी ने तो परामर्श के रूप में एक चलती हुई बात कह दी थी, परन्तु सचमुच ही यह चर्चा 'कल्याण' मासिक के जन्म का हेतु बन गयी। अधिवेशन समाप्त होने पर सभी ने अपने-अपने गन्तव्य स्थान को प्रस्थान किया। पोद्दारजी बम्बई की ओर चले। उन दिनों दिल्ली से बम्बई जाने के लिए रेवाड़ी होकर अहमदाबाद जाना पड़ता था और वहाँ से गाड़ी बदलकर बम्बई। पोद्दारजी दिल्ली से रेवाड़ी गये। रेवाड़ी से भिवानी के लिए आधा घण्टे का रास्ता था। उस समय श्रीजयदयालजी चूरू से भिवानी आये हुए थे। ये उनके दर्शनार्थ रेवाड़ी से भिवानी गये। एक दिन वहाँ रहे। सेठजी को बाँकुड़ा जाना था। भिवानी से रेवाड़ी लौटते समय वे भी इनके साथ ही थे। इस आधे घंटे के सत्संग में पोद्दारजी ने सेठजी से दिल्ली अधिवेशन में दिये गये बिरलाजी के सुझाव की चर्चा की। सेठजी को यह विचार बहुत सुन्दर लगा। इन लोगों के साथ गोयंदकाजी के अनुगत सेठ लच्छीरामजी मुरोदिया[1] नामक एक सात्त्विक प्रकृति के सज्जन भी थे। वे बोल उठे, "मंजूर, मंजूर, बहुत अच्छी बात है।" लच्छीरामजी को पोद्दारजी 'ताऊजी' कहते थे। इनके हृदय में उनके प्रति बहुत सम्मान था। वे डिब्बे के एक कोने में पोद्दारजी को ले गये, बहुत समझाया और इन से वचन ले लिया कि मैं प्रतिदिन दो घंटा सम्पादन का कार्य कर दिया करूँगा। इनसे वचन लेकर वे गोयंदकाजी के पास आये और बोले—'सेठजी, हनुमान को मंजूर है।' पोद्दारजी ने कहा, 'कैसे मंजूर है ? मुझे इस काम का तनिक भी ज्ञान नहीं है।' पर मुरोदियाजी

---

१. मारवाड़ी समाज के नररत्न सेठ लक्ष्मीनारायण मुरोदिया पिलानी (राजस्थान) के निवासी थे। इनका जन्म वि० सं० १९२७ में हुआ था। ये बड़े ही कोमल हृदय, परदु:खकातर, परोपकाररत, दीनवत्सल, नि:स्पृह, सहनशील और सेवाव्रती पुरुष थे। ये नवयुवकों में नौजवान, वृद्धों में वृद्ध, भजन करने वालों में भजनानन्दी, विनोदप्रिय मनुष्यों में विनोदी और व्यापारी समाज में व्यापारी बन जाते थे। शुद्धान्त:करण, भगवान् के भजन में प्रीति, सेवा में प्रसन्नता—ये बातें स्वभावत: विद्यमान थीं। इनका देहावसान सं० १९८४ वि० में कलकत्ते में हुआ।

ने 'चुप रहो' कहकर इन्हें आगे कुछ कहने से रोक दिया और सेठजी से फिर कहा, 'इसे मंजूर है।' पोद्दारजी को चुप हो जाना पड़ा। अब नाम का प्रश्न आया। पोद्दारजी के मुँह से निकल गया 'कल्याण'। सेठजी एवं लच्छीरामजी—दोनों को यह नाम पसंद आ गया। यह बात चैत्र शुक्ल ९, सं० १९८३ श्रीरामनवमी के दिन की है। इसी के साथ यह भी तय हो गया कि अक्षयतृतीया से 'कल्याण' का प्रकाशन आरंभ कर दिया जाय और उस तिथि को पहला अंक निकाल दिया जाय। इसके बाद रेवाड़ी पहुँचकर दोनों दो ओर चले गये—सेठजी बाँकुड़ा को और पोद्दारजी बम्बई को। पोद्दारजी बम्बई आकर अपने काम में लग गये। अक्षयतृतीया आयी और चली गयी, अंक नहीं निकल पाया।

एक दिन 'श्री खेमराज श्रीकृष्णदास प्रेस' के मालिक सेठ श्रीकृष्णदास हनुमानप्रसादजी से मिलने आये। बातचीत के दौरान 'कल्याण' निकालने की चर्चा आयी। श्रीकृष्णदासजी बोले—'भाईजी, पत्र अवश्य निकलना चाहिए।' पोद्दारजी ने उत्तर दिया, 'मुझे पत्र का अनुभव नहीं और न मुझमें सम्पादन की योग्यता है।' श्रीकृष्णदासजी बोले—'हम तो बैठे हैं, भाईजी ! हमारे पास प्रेस है, हम सब कर देंगे। आप केवल लेख दे दें।' पोद्दारजी ने बहुत आनाकानी की, पर वे माने नहीं। अंत में उन्होंने आवेश में आकर कहा—'देखें भाईजी ! आपको भगवान ने आसाम में भूकम्प से बचाया और यहाँ रेलवे इंजन से बचाया। इन घटनाओं में आप अपने से बचे हों, यह बात नहीं है। भगवान् ने ही आप को बचाया। आप से भगवान का कोई बड़ा काम होना है। इसलिए उन्होंने आप को बचाया है।'' उनके इस तर्क के सामने पोद्दारजी मौन हो गये। बस 'कल्याण' का रजिस्ट्रेशन हो गया और लेख इकट्ठे करके सम्पादित करने के बाद उन्हें पुनः लिखकर प्रेस में छपने के लिए दे दिया गया। श्रावण कृष्ण ११, सं० १९८३ को 'कल्याण' का पहला अंक निकला। प्रकाशक था 'सत्संग भवन'। लोगों ने अंक को बहुत पसंद किया। चारों ओर से प्रशंसा होने लगी। पीछे अपने आप लेखक आकृष्ट हुए और लेख जुटने लगे। पोद्दारजी के इस प्रयास में विद्वानों और महात्माओं के आशीर्वाद प्राप्त हुए, लेखकों का अयाचित सहयोग मिलने लगा, इससे सारी व्यवस्था अपने आप बैठने लग गयी। प्रारंभ में इसके १६०० ग्राहक थे। सभी बनाये हुए थे, बने हुए नहीं।

पुनः जीवन-रक्षा

सं० १९८३ में हनुमानप्रसादजी लक्ष्मणगढ़ निवासी श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवाला द्वारा स्थापित ऋषिकुल के उत्सव में सम्मिलित होने के उद्देश्य से बम्बई से अहमदाबाद गये, फिर वहाँ से दिल्ली एक्सप्रेस द्वारा प्रस्थान किया। रास्ते में किस प्रकार एक भयंकर दुर्घटना से भगवान ने उन्हें बचाया, इसका विवरण देते हुए पोद्दारजी ने बताया—

'मैं लक्ष्मणगढ़ जा रहा था। बम्बई से एक ब्राह्मण-बालक ऋषिकुल में भरती

होने जा रहा था। हम सेकण्ड क्लास में थे। मारवाड़ जंक्शन से आगे की घटना है। प्रातःकाल का समय था। डिब्बे में तीन खिड़कियाँ थीं, मैं एक खिड़की की तरफ सीट पर सोया था। वह लड़का सामने की सीट पर सोया था। ब्यावर स्टेशन पर एक टिकट-चेकर आये। वे मेरे पैरों की तरफ बैठ गये। उन्होंने मुझे उठाया नहीं। सब खिड़कियाँ बंद थीं। मैं जग रहा था। मेरे मन में आया कि यह बड़ी असभ्यता-सी हो रही है। दूसरा आदमी बैठा हुआ है और मैं उसकी ओर पैर करके लेटा हूँ। अतः मैं उठकर बैठ गया। जब मैं लेटा था तो अंतिम खिड़की के पास मेरा सिर था और बीच की खिड़की के पास शरीर का मध्य भाग था और तीसरी खिड़की के पास वे बैठे थे। जब मैं उठकर बैठा तो बीच की खिड़की के पास आ गया; पहली और अन्तिम खिड़की खाली हो गयीं। मैं टिकट-चेकर से बातें करने लगा। इसके बाद ही अकस्मात् बड़े जोर का पत्थर आया और वह पत्थर उस खिड़की के पास आकर गिरा जहाँ लेटते समय मेरा सिर था। डेढ़ दो सेर का पत्थर था। मोटा काँच फोड़ता हुआ अन्दर आया। काँच के टुकड़े-टुकड़े हो गये और चारों तरफ बिखर गये। काँच का एक टुकड़ा उछला और लड़के के सिर पर लग गया। हलका-सा लगा, इससे खून आ गया। यह घटना अजमेर के समीप मकरेरा और सरधना स्टेशन के पास घटी। टी० टी० महोदय ने कहा—'आपको तो भगवान् ने बचा लिया। आप उठकर बैठ गये, नहीं तो आप का सिर फट जाता।' फिर उन्होंने बताया 'यह कोई गाँव है, बदमाश लोग रहते हैं। इधर ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती ही रहती हैं'।'

गोयन्दकाजी के स्वास्थ्य-लाभ के लिए अनुष्ठान

'कल्याण' के प्रथम अंक के प्रकाशन से मन का कुछ भार हलका हुआ ही था कि गोयन्दकाजी के अकस्मात् अस्वस्थ हो जाने का समाचार मिला। घर पर कुछ दिनों तक दवा हुई, किन्तु जब उससे कोई लाभ देखने में नहीं आया तो स्वजनों एवं शुभचिन्तकों को चिंता हुई। बीकानेर निवासी पं० गणेशदत्तजी व्यास सेठजी के यज्ञोपवीत गुरु थे। उनका ज्योतिष तथा तन्त्रशास्त्र पर अच्छा अधिकार था। उनका विचार हुआ कि रोगशमन तथा ग्रहशान्ति के लिए अनुष्ठान की व्यवस्था करनी आवश्यक है। उन्होंने यह बात गोयन्दकाजी के कुटुम्बियों से कही, किन्तु सैद्धांतिक आधार पर किसी ने उन्हें इस कार्य के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। व्यासजी का सेठजी पर बड़ा स्नेह था, वे यह भी जानते थे कि पोद्दारजी की सेठजी पर अगाध श्रद्धा है। अतः उन्होंने यह संवाद एक पत्र द्वारा इनके पास पहुँचाया। पंडितजी ने इसमें लिखा था—'अनुष्ठान तो हम कर देंगे; किन्तु व्यय तुम वहन करो।' पोद्दारजी ने व्यासजी के प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन करते हुए सारा प्रबन्ध कर दिया। अनुष्ठान समाप्ति के बाद सेठजी कार्तिक पूर्णिमा १९८३ तक पूर्व की भाँति स्वस्थ हो गये।

'कल्याण' के लिए गांधीजी का आशीर्वाद तथा सुझाव

'कल्याण' के लोकोपकारी रूप की प्रतिष्ठा के लिए हनुमानप्रसादजी उसके आविर्भाव काल से ही प्रयत्नशील रहे। नवोदित पत्र के लिए देश के जाने-माने नेता और विद्वानों की सद्भावना प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने समकालीन अध्यात्मनिष्ठ राष्ट्रसेवकों में अग्रगण्य महात्मा गांधीजी से भी सम्पर्क स्थापित किया था। इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए पोद्दारजी ने कहा—

''कल्याण' के लिए गांधीजी का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए मैं एवं श्री जमनालालजी बजाज, दोनों गये थे। गांधीजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'कल्याण' में दो नियमों का पालन करना—''बाहरी कोई विज्ञापन नहीं देना है तथा पुस्तकों की समालोचना नहीं करनी है।'' विज्ञापन न छापने के सम्बन्ध में उन्होंने कारण बताया कि ''तुम अपनी जान में पहले-पहले देखकर विज्ञापन लोगे कि वह किसी ऐसी चीज का न हो, जो भद्दी हो और जिसमें जनता को धोखा देकर ठगने की बात हो। पर तुम्हारे पास विज्ञापन आने लगेंगे और लोग उनके लिए अधिक पैसे देने लगेंगे तो तुम चाहे विरोध करोगे, पर तुम्हारे साथी व्यवस्थापक लोग कहेंगे कि—'देखिये, इतना पैसा आता है, क्यों न यह विज्ञापन स्वीकार कर लिया जाय ?' बस, पैसे का प्रलोभन आया कि फिर जनता के लाभ-हानि की बात एक ओर रह जायगी। अतएव आरम्भ से ही यह नियम बना लो कि किसी भी दर में बाहरी विज्ञापन नहीं लेना है। समालोचना के सम्बन्ध में यह बात है कि जो लोग समालोचना के लिए अपनी पुस्तकें तुम्हारे पास भेजेंगे, उनमें से अधिकांश इसलिए भेजेंगे कि तुम्हारे पत्र में उनके ग्रन्थ की प्रशंसा निकले। यथार्थ समालोचना कराने के लिए अपनी पुस्तक भेजे, ऐसे बहुत कम लोग होते हैं। ऐसी स्थिति में पुस्तकें चाहे जैसी हों, या तो उनकी झूठी प्रशंसा करनी होगी या उन साहित्यकारों, लेखकों से झगड़ा मोल लेना पड़ेगा।'' मैंने कहा, ''बापू ! आपका आशीर्वाद चाहिए, भगवान् शक्ति देंगे। इन दोनों नियमों का दृढ़ता के साथ पालन होगा।'' आज तक 'कल्याण' की यह नीति चली आ रही है। गांधीजी ने जो आशंका व्यक्त की थी, आगे चलकर वह सामने आ गयी। ज्यों-ज्यों 'कल्याण' का प्रचार बढ़ने लगा, त्यों-त्यों विज्ञापन वालों के आग्रह आने लगे। जब इसके एक लाख ग्राहक हो गये, तो लोग खूब अधिक पैसा देकर विज्ञापन छपाने को तैयार हो गये। समालोचना के लिए भी बहुत-सी पुस्तकें आयीं, बहुत तरह से दबाव डाले गये। पर भगवान् रक्षा करते चले आ रहे हैं'।

'कल्याण' के दूसरे वर्ष का प्रथम विशेषांक निकालने का निश्चय हुआ, उसके लिए विषय तय हुआ 'भगवन्नाम-अंक'। गांधीजी के पास उस विशेषांक के लिए आशीर्वाद लेने गया। उन्होंने अपने हाथ से आशीर्वाद के रूप में भगवान् के नाम की महिमा लिखकर दी, जिसका ब्लॉक बनाकर विशेषांक में छापा गया। उन्होंने उसमें

लिखा—'नाम-महिमा बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकी है, श्रद्धा से अनुभवगम्य है।'

अग्रवाल महासभा का कलकत्ता अधिवेशन : एक दु:खद अनुभव

सं० १९८४ में आयोजित मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का कलकत्ता अधिवेशन बड़े गरम वातावरण में हुआ। इस बार महासभा के परस्पर विरोधी वर्ग आमने-सामने आ गये—एक सुधारवादी था, दूसरा परम्परावादी—जिसे पंचायत पार्टी के नाम से भी अभिहित किया जाता था। सुधारवादी लोग विधवा-विवाह, विलायत यात्रा आदि प्रगतिशील सामाजिक प्रथाओं के समर्थक थे; किंतु पंचायत पार्टी इनको आर्य संस्कृति का विरोध मानती थी। पंचायत-पार्टी के सदस्यों ने ग यन्दकाजी के पास तार भेजकर अपने विरोधियों द्वारा आहूत कलकत्ता सम्मेलन को सहयोग न देने का अनुरोध किया। श्रीगोयन्दकाजी ने पोद्दारजी को बाँकुड़ा बुलाया। वहाँ इनसे तथा मित्रों से परामर्श किया। अन्ततोगत्वा कलकत्ता सम्मेलन में भाग लेने के पक्ष में निर्णय हुआ। उसी रात को पोद्दारजी और सेठजी कलकत्ता के लिए रवाना हुए। कलकत्ते के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए बाहर से आने वाले प्रतिनिधियों के समक्ष विरोधीदल के लोग उग्र प्रदर्शन कर रहे थे। इसलिए सेठजी स्वयं तो उसमें सम्मिलित होने नहीं गये, किन्तु पोद्दारजी को दोनों दलों को समझा कर समझौता करने का निर्देश दे दिया। पोद्दारजी ने पारस्परिक द्वेष मिटाने के लिए मर्मस्पर्शी भाषण किया। वे अन्तिम समय तक प्रयत्नशील रहे, किन्तु समझौता न हो सका। इनकी मध्यस्थता से लाभ केवल इतना हुआ कि झगड़ा बच गया।

इस सम्मेलन में समाज के धनीमानी तथा कथित कर्णधारों के रागद्वेष, चुगली-निन्दा, दुर्वाद, प्रलापादि का नग्न-तांडव देखकर पोद्दारजी को आन्तरिक कष्ट हुआ। उनके मन में आया कि इस प्रकार के जातीय अधिवेशन आत्मविज्ञापन, अधिकार के भोग तथा दुर्वृत्तियों की रंगभूमि बन गये हैं। अतः इसके क्रियाकलापों में अब उनकी रुचि कम होने लगी।

व्यापार संवरण

कलकत्ता से अपनी सास से मिलने के लिए हनुमानप्रसादजी गौहाटी चले गये। यहाँ आने पर साधनात्मक विकास के साथ ही सामाजिक जीवन के प्रति बढ़ती उपरामता ने लौकिक व्यस्तता के मुख्य केन्द्र व्यापार से विरत होने की अकस्मात् तीव्र प्रेरणा जागृत हुई। इन्होंने उसी समय बम्बई का व्यापार समेटने का निर्णय ले लिया। गौहाटी से अपनी दूकान के साझीदार को तार द्वारा दूकान के घरू सौदे (माथे और नावे) को बराबर करने की सूचना दे दी।

बम्बई आने पर साझीदार ने आनाकानी की, किन्तु पोद्दारजी अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। अन्त में उसने मनमाना जमाखर्च दिखला करके कार्य से अलगाव कर

लिया। इनको धनसंग्रह की परवाह थी नहीं। अतः उसने जैसा कहा, लिखा पढ़ी कर दी। व्यापार-क्षेत्र से अलग होकर इन्होंने राहत की साँस ली।

अब ये अपना सारा समय साधन भजन में लगाने लगे। साथ ही 'कल्याण' संपादन का भी कार्य चलता रहा। इसलिए कि इनकी दृष्टि से 'कल्याण' की सेवा भगवत्सेवा ही थी।

संसार की नश्वरता की अनुभूति

हनुमानप्रसादजी का मन परमार्थ साधना की ओर बढ़ रहा था। अतः बम्बई के प्रपञ्चमयी जीवन से स्वभावतः उपरामता होने लगी थी। इन्हीं दिनों दैवी प्रेरणा से जगत् की नश्वरता के विविध चित्र सामने आये। इनके मन की विराग भावना को उद्दीप्त करने में एक घटना विशेष रूप से सहायक हुई। यह थी इनके एक घनिष्ठ मित्र की भरी जवानी में मृत्यु। मित्र बड़े ही शौकीन थे। खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, चाल-ढाल—सभी राजसी थी। वे अचानक बीमार पड़े और कुछ ही दिनों में शरीर छूट गया। भरी जवानी में स्वजन की मृत्यु से कुटुम्बी तथा सगे सम्बन्धी व्याकुल हो उठे। सबने रोते-रोते अर्थी तैयार की और शव को श्मशान-घाट की ओर ले चले। उस शवयात्रा में पोद्दारजी सम्मिलित हुए। श्मशान घाट पर चिता बनायी गयी। शव उस पर रख दिया गया। अग्नि का संयोग होते ही चिता धू-धू करके जल उठी। पोद्दारजी के मन में मित्र के बीते जीवन की स्मृतियाँ जाग उठीं। उस का सुन्दर शरीर और सारे प्रसाधन कुछ ही क्षणों में आग की लपटों में स्वाहा हो गये। यह दृश्य देखकर पोद्दारजी का अपार शोक श्लोक में परिणत हो गया। वहीं एक कविता रच डाली, जो इस प्रकार है—

पलभर पहले जो कहता था, यह धन मेरा यह घर मेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥
जिस चटक-मटक औ फैशन पर तू है इतना भूला फिरता।
जिस पद-गौरव के रौरव में दिन-रात शौक से है गिरता॥

जिस तड़क-भड़क औ मौज-मजों में फुरसत नहीं तुझे मिलती।
जिस गान-तान औ गप्प-शप्प में सदा जीभ तेरी हिलती॥

इन सभी साज-सामानों से छुट जायेगा रिश्ता तेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥ १॥

जिस धन-दौलत के पाने को तू आठों पहर भटकता है।
जिन भोगों का अभाव तेरे अन्तर में सदा खटकता है॥
जिस सबल देह, सुन्दर आकृति पर तू इतना अकड़ा जाता।
जिन विषयों में सुख देख रहा, पर कभी नहीं पकड़े पाता॥

इन धन जोबन, बल-रूप—सभी से टूटेगा नाता तेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥ २ ॥

जिस तन को सुख पहुँचाने को तू ऊँचे महल बनाता है।
जिसके विलास के लिए निरन्तर चुन-चुन साज सजाता है ॥
जिसको सुन्दर दिखलाने को है साबुन-तेल लगाता तू।
जिसकी रक्षा के लिए सदा है देवी-देव मनाता तू ॥
वह धूलि-धूसरित हो जायेगा सोने-सा शरीर तेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥ ३ ॥

जिस नश्वर तन के लिए किसी से लड़ने में नहिं सकुचाता।
जिस तन के लिए हाथ फैलाते, जरा नहीं तू शरमाता ॥
जो चोर-डाकुओं के डर से नित पहरों के अंदर सोता।
जो छाया को भी भूत समझकर डरता है, व्याकुल होता ॥
वह देह खाक हो पड़ा अकेला सूने मरघट में तेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥ ४ ॥

जिन माता-पिता, पुत्र-स्वामी को अपना मान रहा है तू।
जिन मित्र बन्धुओं को वैभव को, अपना जान रहा है तू ॥
है जिनसे यह सम्बन्ध टूटना कभी नहीं तैंने जाना।
है जिनके कारण अहंकार से नहीं बड़ा किसको माना ॥
यह छूटेगा सम्बन्ध सभी से, होगा जंगल में डेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥ ५ ॥

है जिनके लिए भूल बैठा उस जगदीश्वर का पावन नाम।
तू जिनके लिए छोड़ सब सुकृत पापों का है बना गुलाम ॥
रे भूले हुए जीव ! ये सब कुछ पड़े यहीं रह जायेंगे।
जिनको तैंने अपना समझा, वे सभी दूर हट जायेंगे ॥
हो जा सचेत अब व्यर्थ गवाँ मत जीवन यह अमूल्य तेरा।
प्राणों के तन से जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥ ६ ॥

गंगातट सेवन की आकांक्षा

नियति द्वारा आयोजित इन परिस्थितियों के प्रभाव से पोद्दारजी के मन में बम्बई के जनसंकुल वातावरण तथा जगत के प्रापञ्चिक व्यवहार से मुक्त हो, सुदूर गंगातटवर्ती किसी निभृत स्थान में जीवन-यापन की इच्छा उत्तरोत्तर बलवती होती गयी। इन्हीं दिनों उनकी साधना में निराकार के ध्यान और वेदांत के स्वाध्याय का क्रम चल रहा था। इससे वैराग्य की भावना और उद्दीप्त हुई। पोद्दारजी की

निम्नांकित रचना[1] में उनकी तत्कालीन मनःस्थिति सम्यक् रूपेण प्रतिबिम्बित मिलती है—

होगा कब वह सुदिन समय शुभ, मायावी मन बनकर दीन।
मोहमुक्त हो, हो जायेगा पावन प्रभु-चरणों में लीन॥
कब जग की झूठी बातों से, हो जायेगी घृणा इसे।
कब समझेगा उसे भयानक, मान रहा रमणीय जिसे॥
कब गुरु-चरणों की रज को यह निज मस्तक पर धारेगा।
काम-क्रोध-लोभादि वैरियों को कब हठ से मारेगा॥
पुण्य भूमि ऋषि-सेवित में कब होगा इसका निर्जनवास।
गंगा की पुनीत धारा से कब सब अघ का होगा नास॥
कब छोड़ेंगी सकल इन्द्रियाँ अपने विषयों में रमना।
कब सीखेंगी उलटी आकर अन्तर में उसके जमना॥
कब साधन के प्रखर तेज से, सारा तम मिट जायेगा।
कब मन विषय-विमुख हो हरि की विमल भक्ति को पायेगा॥
धन-जन-पद की प्रबल लालसा कष्टमयी कब छूटेगी।
मान बड़ाई 'मैं-मेरे' की फाँसी कब यह टूटेगी॥
कब यह मोह-स्वप्न छूटेगा, कब प्रपञ्च का होगा बाध।
पर-वैराग्य प्रकट कब होगा, कब सुख होगा इसे अगाध॥
कब भव-भय के कारण मिथ्या अहंकार का होगा नास।
कब सच्चा स्वरूप दीखेगा, छुट जायेगा देहाध्यास॥
कब सबके आधार एक भूमा-सुख का मुख दीखेगा।
कब यह सब भेदों में नित्य अभेद देखना सीखेगा॥
कब प्रतिबिम्ब बिम्ब होगा, कब नहीं रहेगा चित्-आभास।
निजानन्द, निर्मल अज अव्यय में कब होगा नित्य निवास?

इस उत्कट वैराग्य के उदय होने पर एकबार तो पोद्दारजी ने समस्त शारीरिक संबंधों को तिलांजलि देकर संन्यास धारण करने का भी निश्चय कर लिया था और उसके लिए 'कमण्डलु' की भी व्यवस्था कर ली थी।[2]

---

१. कल्याण, वर्ष १, पृ० ३६२।

२. यह कमण्डलु पोद्दारजी गोरखपुर आते समय अपने साथ ले आये थे। पीछे बाबा चक्रधरजी महाराज से अभिन्नता स्थापित हो जाने पर उसे इन्हीं को सौंप दिया। रहा वह सदा आरम्भ से 'सत-न्यास' के ही पास, पहले श्वेत वस्त्रधारी, पीछे उसी के प्रतिबिम्ब गैरिक-वस्त्र-वेष्ठित प्रतिरूप के पास।

एक महात्मा की सेवा

कलकत्ता से लौटने पर हनुमानप्रसादजी को एक महात्मा की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। राजस्थान के प्रसिद्ध संत उत्तमनाथजी बम्बई पधारे। उन्होंने 'अनुभव प्रकाश' नाम से एक ग्रंथ तैयार किया था। उसे छपवाने के लिए ही वे बम्बई आये थे। उनकी इच्छा थी कि पुस्तक शुद्ध छपे। उन्हें हिन्दी भाषा का विशेष ज्ञान नहीं था। इसलिए प्रूफ-संशोधन की सेवा पोद्दारजी को सौंप दी। समय का संकोच होते हुए भी पोद्दारजी ने उत्तमनाथजी की बात नहीं टाली। समय निकालकर ये वेंकटेश्वर प्रेस में जाते तथा महाराजजी के सामने ही प्रूफ-संशोधन करते। आवश्यकता होने पर उन की सम्मति से भाषा का भी सुधार करते थे। नाथजी इनके साधु-स्वभाव से अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे सत्संग-भवन में नित्य प्रातः पधारते तथा वेदान्त पर प्रवचन करते थे। लगभग डेढ़ महीने में 'अनुभव प्रकाश' छपकर तैयार हो गया। इस कार्य में पोद्दारजी का अपूर्व सहयोग प्राप्त कर महाराजजी को आन्तरिक प्रसन्नता हुई।

'कल्याण' का प्रथम विशेषांक 'भगवन्नामांक'

'कल्याण' की लोकप्रियता बढ़ रही थी। पोद्दारजी यंत्रवत् उसके कार्य में संलग्न थे। शास्त्रों एवं संत-चरितों का अध्ययन मनोयोगपूर्वक हो रहा था। संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी भाषा के अच्छे-अच्छे ग्रंथ एकत्र कर लिये गये थे। पोद्दारजी दिनरात उनके स्वाध्याय में डूबे रहते थे। उन्हें यह बराबर चिंता रहती थी कि कोई ऐसी बात 'कल्याण' में प्रकाशित न हो जाय, जो शास्त्रों के अनुकूल न हो। उसमें प्रकाशित सामग्री में यथासम्भव दैनिक व्यवहार को शुद्ध करनेवाली, दैवी सम्पदा को बढ़ाने वाली, परस्पर प्रेम-सौहार्द की वृद्धि करनेवाली, पर साथ ही जगत् की ओर बहनेवाली वृत्ति को भगवान की ओर मोड़ने की प्रेरणा देने वाली, जगत् के प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थितियों की ओर से निराशा उत्पन्न कर भगवदा-श्रय को उद्बुद्ध करने वाली बातों को ही प्रधानता दी जा रही थी। पाठकों को साधन-जीवन के संबल के रूप में नाम-जप, भगवान का पूजन तथा स्वरूप-ध्यान एवं भगवान् की कृपा पर विश्वास करने की प्रेरणा दी जाती थी। 'जप-यज्ञ' का आरम्भ हो चुका था। पाठक पाठिकाएँ नियमित रूप से उसमें आहुति डाल रही थीं। पोद्दारजी की यह दृढ़ आस्था थी कि नाम-परायण होने से परमार्थ की ऊँची-से-ऊँची स्थिति सहज ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव आगामी वर्ष के प्रथम अंक में भगव-न्नाम महिमा पर विशेष प्रकाश डालने का निश्चय किया गया। समाज में शास्त्रों के प्रति आदर था, पर पढ़े-लिखे लोग उनको वर्तमान समय के लिए अनुपयुक्त समझते थे। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि जिन व्यक्तियों के प्रति समाज में सद्भाव, सम्मान तथा श्रद्धा है, उनसे भगवन्नाम के महत्त्व एवं प्रभाव पर प्रकाश डलवाया जाय। 'भगवन्नामांक' के लेखकों का चयन करते हुए इस बात पर विशेष ध्यान रखा

गया। पोद्दारजी के अनन्य सेवक एवं सहचर श्रीगंभीरचन्द दुजारी इस कार्य में उनके सहयोगी थे। भगवन्नाम के स्वरूप तथा महिमा को प्रकट करने वाले प्रसंगों के सुन्दर चित्रों से सुसज्जित तथा नाम-महिमा विषयक अपूर्व लेखों से मण्डित 'भगवन्नामांक' प्रकाशित हुआ। तत्कालीन पत्रकारिता के क्षेत्र में यह एक विलक्षण प्रयोग था।

'भगवन्नामांक' में पोद्दारजी की लेखन तथा सम्पादन-क्षमता का दर्शन कर विद्वान्, महात्मा एवं भक्त—सभी मुग्ध हो गये। उनके पास चारों ओर से बधाई के पत्र और संदेश आने लगे। किन्तु वे भीतर-ही भीतर यह अनुभव कर संकुचित हो रहे थे कि भगवान् ने किस प्रकार उन्हें यंत्र बनाकर अपना कार्य करवाया और अब किस प्रकार उसका सुयश दिलवा रहे हैं। इस स्थिति में भी इनके मन में यह बात घुमड़ रही थी कि लोकमान्यता से गंगातट पर वास करने की उनकी कामना कहीं दब न जाय। अतएव इस प्रशंसा के प्रति इनकी सहज वितृष्णा थी। इधर सेठ जयदयाल गोयन्दका तथा सभी सत्संगी भाई-बहन 'कल्याण' को उत्तरोत्तर उन्नत देखना चाहते थे। इसी समय पोद्दार जी ने सेठजी के पास पत्र लिखकर 'कल्याण' के कार्य से मुक्त करने की प्रार्थना की और अपना शेष जीवन गंगातट पर रहकर भजन-साधन में बिताने की इच्छा प्रकट की। सेठजी पोद्दारजी की साधन-जीवन विषयक लगन पर मुग्ध थे। उन्होंने पत्र का उत्तर देते हुए अनुरोध किया—''कल्याण' के सम्पादन का काम तो तुमको ही करना है—फिर तुम चाहे गंगातट पर रहो, या और कहीं। हाँ, उसके मुद्रण एवं वितरण की व्यवस्था गीताप्रेस, गोरखपुर से हो सकती है। अतएव तुम बम्बई से एक बार गोरखपुर आ जाओ। दो-तीन महीने वहाँ रहकर 'कल्याण' का काम वहाँ के लोगों को समझा कर बाद में तुम जहाँ जाना चाहो, चले जाना और वहीं से प्रतिमास छापने की सामग्री भेज दिया करना।'' पोद्दारजी को यह प्रस्ताव अपने मन के अनुकूल प्रतीत हुआ। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया और तदनुरूप व्यवस्था करने में जुट गये।

विदाकाल का भागवत अनुष्ठान

बम्बई से गोरखपुर के लिए शीघ्र प्रस्थान करना था। 'कल्याण' संपादन का कार्य नियमित रूप से चलता रहे, इसके लिए एक बृहत् धार्मिक अनुष्ठान हनुमान-प्रसादजी के हितैषी बिड़ला-बन्धुओं की ओर से आयोजित हुआ। १०८ विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा माधवबाग में श्रीमद्भागवत के १०८ सप्ताह-पाठ की व्यवस्था करायी गयी। अनुष्ठान की निर्विघ्न समाप्ति पर आयोजकों के साथ ही पोद्दारजी को भी परम संतोष प्राप्त हुआ। भावी कार्यक्रम को सम्पन्न करने के लिए इससे उन्हें अपूर्व आत्मबल की उपलब्धि हुई।

मित्र की स्नेहभरी सीख

पोद्दारजी के बम्बई छोड़ने के निश्चय का समाचार पाकर उनके मित्र पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी उनसे मिलने आये। उन्होंने पोद्दारजी से कहा—'भाईजी ! आप हमें छोड़कर जा रहे हैं, मन बड़ा भारी है। आपके जीवन की सरलता, पवित्रता एवं सत्यता की मेरे हृदयपर गहरी छाप पड़ी है। मैं चाहता हूँ कि आपका भावी जीवन भी ऐसा ही बना रहे और आप अपनी साधना में उत्तरोत्तर उन्नति करते रहें। मेरी समझ से इसमें आपको एक बात से बड़ा लाभ होगा—आप किसी भी 'सत्संगी' से—जिसके साथ पारमार्थिक साधना का सम्बन्ध हो—पैसे का सम्बन्ध कभी मत रखियेगा।' उनकी यह बात पोद्दारजी ने गाँठ बाँध ली और जीवनभर इन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि परमार्थ सम्बन्धी सलाह लेनेवालों तथा सत्संग के निमित्त आने-जाने वालों से पैसे का सम्बन्ध न रखा जाय। जोशीजी की इस सीख का स्मरण कृतज्ञता भरे शब्दों में पोद्दारजी जीवन भर करते रहे। 'इस नियम का पालन करने से मेरा बड़ा उपकार हुआ। कई बार इस तरह के मौके आये। लोगों ने आग्रह किया, प्रलोभन दिया, 'यह ले लो, वह ले लो,' पर जोशीजी की सीख का ध्यान सदा रहा। लोगों के आग्रह के कुछ दिन बाद यह स्पष्ट भी हो गया कि यदि उस समय उनका आग्रह मान लिया जाता तो कितनी फजीहत होती। पैसे का सम्बन्ध रखता तो लोग यही समझते कि यह सत्संग इसीलिए कराता है कि यह हमसे पैसा ऐंठना चाहता है। पैसा आता या नहीं—यह तो भगवान् जाने, पर आता भी तो वह गिरानेवाला होता। इस नियम ने मेरी सब प्रकार से रक्षा-ही-रक्षा की।'

बम्बई से बिदाई

हनुमानप्रसादजी कहीं एकान्त स्थान में रहते हुए भजन करने की कामना से बम्बई से बिदा ले रहे हैं—यह संवाद आग की भाँति चारों ओर फैल गया। जो-जो इस संवाद को सुनते, वे ही अधीर हो जाते कि क्या सचमुच पोद्दारजी बम्बई से हम-लोगों को छोड़कर जा रहे हैं। जहाँ दो-चार प्रेमी मिलते, वहीं चर्चा प्रारम्भ हो जाती, "भाईजी चले जायेंगे, पीछे हमलोगों की सँभाल कौन करेगा ? कौन प्यार करेगा ? कौन इतना मानेगा ? कौन हमारे दुःख में आँसू बहायेगा ? कौन हमारे आँसू पोंछेगा ? कौन हमें सत्पथपर चलने की प्रेरणा देगा ? कौन हमसे भगवन्नाम का जप करवायेगा ? कौन हमें गीता का उपदेश सुनायेगा ? कौन हमारी छोटी-छोटी अच्छाइयों की प्रशंसा कर हमें प्रोत्साहन देगा ? कौन उत्सवों का आयोजन कर संत-महात्माओं के दर्शनों का सुयोग प्रदान करेगा ? कौन अनाथों, विधवाओं, गरीबों एवं असहायों के लिए अन्न-वस्त्र-औषध की व्यवस्था करेगा ? कौन हमें सच्चा मानव बनने की एवं मानव-जीवन के चरम लक्ष्य, भगवत्प्राप्ति को इसी जन्म में प्राप्त कर लेने की बार बार प्रेम एवं आग्रह के साथ प्रेरणा देगा ?" इस प्रकार के भावों से भावित व्यक्ति पोद्दारजी

के पास आकर अनुनय-विनय करते, उन्हें समझाते, अश्रुपूरित नेत्रों एवं अवरुद्ध कण्ठ से उनसे भीख माँगते—'आप हमें छोड़कर अन्यत्र न जायँ'।

पोद्दारजी सबके सम्मान, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, आत्मीयता, सौहार्द का आदर करते और स्वयं द्रवितहृदय तथा आर्द्रकण्ठ से सबको समझाते एवं प्रार्थना करते—"मैं आपलोगों के प्यार का ऋणी हूँ और सदा रहूँगा। यह आपलोगों के सात्विक प्रेम भरे सम्पर्क का ही प्रभाव है कि मेरा मन अब इस प्रपंच से उचट रहा है और मैं कहीं एकान्त में रहकर—माँ गंगा की गोद में बैठकर भगवान् का स्मरण करना चाहता हूँ। आप मेरे हैं, मैं आपका हूँ। मुझे आप अपना मानते रहें—बस, यही प्रार्थना है, यही याचना है, यही भीख है। मेरे द्वारा यहाँ रहते हुए जाने-अनजाने अनेकानेक अपराध हुए हैं, उन सबके लिए मैं आप सब लोगों से क्षमा की भीख माँगता हूँ। आपलोग अन्तर्हृदय से आशीर्वाद दें कि मेरा शेष जीवन भगवच्चरणों की स्मृति में ही बीते, वही मेरी साधना और वही मेरा साध्य हो जाय।" आने वालों का हृदय भर आता, आँखें बरस पड़तीं और अन्तर्हृदय से सद्भावना एवं आशीर्वाद निकलता—'आपकी कामना, आपका मनोरथ भगवान् पूर्ण करेंगे।'

मान-प्रतिष्ठा तथा सुख-समृद्धि त्यागकर सीमित साधनों से अपना तथा परिवार का निर्वाह करते हुए भजन करने की उत्कट अभिलाषा से बम्बई छोड़ने के लिए पोद्दारजी अपने निश्चय पर अटल थे। अतएव चारों ओर का प्यारभरा आग्रह उनको अपने निर्णय से विचलित न कर सका। गोरखपुर चलने की तैयारी होने लगी और भाद्र कृष्ण १२, सं० १९८४ के दिन ३५ वर्ष की अल्प आयु में अपना सब कारोबार निपटाकर पोद्दारजी ने बम्बई से बिदा ली।

रात्रि को दिल्ली एक्सप्रेस से रवाना होना था। स्टेशन पर सहस्रों नर-नारी उपस्थित थे। उनमें समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ सामान्य लोग भी थे। पोद्दारजी ने सबसे अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा माँगी और आजीवन अपने पर कृपा बनाये रखने की प्रार्थना की। गाड़ी रवाना हो गयी। उपस्थित महानुभावों ने भगवान् के नाम का जयघोष किया तथा पोद्दारजी ने डिब्बे के फाटक के पास खड़े होकर बरसते हुए नेत्रों से दोनों हाथ जोड़कर सबसे बिदा ली। गाड़ी बढ़ती गयी, लोग एकटक इनकी ओर देखते रहे और ये भी उसी प्रकार हाथ जोड़े सबकी ओर निहारते रहे। जब सब ओझल हो गये, तब ये अपनी सीट पर आकर बैठ गये और बहुत देरतक वैसे ही बैठे रहे। उधर लोगों ने अपनी आँखें पोंछी और परस्पर यह कहने लगे—"भगवान ने सच्चे प्यार की एक जीती जागती प्रतिमा—हमारा जैसा ही एक भाई हमारे बीच भेजा था और आज उन्होंने उसे हमसे छीन लिया। किंतु क्रूर नियति हमारे मन प्राणों से, भाईजी को, उनके प्यार को, उनके स्नेह को, उनके वात्सल्य को, उनके सौहार्द को, उनकी दया को, उनके अपनेपन को छीन

नहीं पायेगी। हम भाईजी के हैं, भाईजी हमारे हैं और सदा रहेंगे।' बम्बई शहर को पार करती हुई गाड़ी बढ़ती गयी। रात बीती, प्रातःकाल आया। गाड़ी खंडवा स्टेशन पर पहुँची। पोद्दारजी ने वहाँ स्नान-संध्या की और अपने साथ जो भोजन-सामग्री लाये थे, उसमें से कुछ लेकर प्लेटफार्म पर बैठकर ग्रहण करने लगे। श्रीगम्भीरचन्द दुजारी सनावद से, जहाँ उनका व्यापार था, खंडवा आ गये थे। पोद्दारजी उनसे बम्बई के स्वजनों के छलछलाते प्रेम की चर्चा करने लगे। उस चर्चा में वे इतने डूब गये कि गाड़ी की सीटी बजने के पश्चात् दौड़कर उसे पकड़ा। टिकटों का बटुआ दुजारीजी के हाथ में था, वह उन्हीं के हाथ में रह गया। दुजारीजी भी भाव-विभोर थे। जब गाड़ी दूर चली गयी, तब उन्हें टिकट अपने पास रह जाने की बात स्मरण हुई। उन्होंने स्टेशन-मास्टर से मिलकर सब स्टेशनों पर तार दिलवा दिया, जिससे पोद्दारजी को टिकट के लिए परेशानी न हो। दूसरे दिन श्रावण की पूर्णिमा थी। श्रावणीकर्म करना आवश्यक समझकर उस दिन पोद्दारजी कानपुर में ही ठहर गये और उन्होंने माँ गंगा के पावन तटपर बड़ी श्रद्धा के साथ विधिपूर्वक पूजा की। रात्रि में गाड़ी पर सवार हुए। दूसरे दिन प्रातः गोरखपुर पहुँच गये।

●

कर्मयोग-साधना

(सं० १९८४—२०२७ वि०)

गोरखपुर पहुँचने पर पोद्दारजी के लिए तत्काल किसी स्वतन्त्र आवास की व्यवस्था न हो सकी। इनके साथ 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग के सहयोगी कर्मचारी भी थे। अतः आरम्भ में कुछ दिनों तक घनश्यामदासजी जालान की कपड़े वाली दूकान के ऊपर के कमरे में ही आसन रहा।

प्रलोभनों का इन्द्रजाल

गोरखपुर आगमन के कुछ ही दिनों बाद इन्हें अपने एक स्वजन के काम से बम्बई जाना पड़ा। भाद्र कृष्ण १२, सं० १९८४ को गोरखपुर से रवाना होकर बम्बई पहुँचे। वहाँ के मित्रों और परिचितों ने इन्हें बम्बई में निवास करने का बहुत आग्रह किया, अनुनय-विनय की और बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, किन्तु ये अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। इस प्रसंग की चर्चा करते हुए पोद्दारजी ने कहा था—

'एक बार एक स्वजन के काम से मैं बम्बई गया। श्रीजमनालाल जी बजाज स्वयं मिलने आये और बोले—'बापू (महात्मा गांधी) कहते हैं कि तुम गोरखपुर या और कहीं मत जाओ, यहीं रहो। बम्बई में न रहना चाहो तो और कहीं रहो, पर हमारे (बापू के) साथ काम करो। तुम्हारे जैसे व्यक्तियों की इस समय आवश्यकता है।' कतिपय अन्य लोगों ने भी आग्रह किया और प्रलोभन भी दिया—'आप साहित्य का काम करना चाहते हैं तो साहित्य का काम करें। 'सस्ता साहित्य मंडल' का जो काम हरि-भाऊ उपाध्याय देखते हैं, आप उस काम को अपने हाथ में ले लें।' मैंने कहा—'कहीं भी काम करने का मन नहीं है।' श्रीजमनालालजी ने वचन लिया—'अच्छा, पर यदि कहीं भी काम करो, तो हमसे पूछकर करना। हमारी बिना राय के मत करना'। मैंने उनके प्रेमपूर्ण आग्रह को स्वीकार किया कि 'कहीं भी काम करने का मन हुआ तो आपको सूचित कर दूँगा।'

'मेरे बम्बई पहुँचने का समाचार पाकर श्रीरामनारायणजी रुइया बम्बई आये। वे उस समय के बड़े व्यापारी थे। उनकी ३-४ बड़ी मिलें थीं। वे पूना के पास लोनावाला में रहते थे। बम्बई में उनका कारोबार था। बहुत वृद्ध हो गये थे। मेरे पास आकर कहने लगे—'भाईजी, देखो मैं तो बूढ़ा हो गया हूँ। मेरे ३-४ लड़के हैं, वे अभी काम में होशियार नहीं हुए हैं। आप उनके संरक्षक (गार्जियन) बन जाइये। आपको साल में एक लाख रुपया मिल जायगा। रहने के लिए अच्छा बँगला है, मोटरगाड़ी है।

आपको कुछ करना नहीं है, केवल इनको सम्हालना है।' मैंने निवेदन किया—'रुपये का तो प्रश्न मेरे सामने नहीं है, आपके प्रेमपूर्ण आग्रह के सामने मैं क्या कहूँ, मैं आपके सामने बच्चा हूँ, पर मेरा विचार न तो बम्बई रहने का है और न कोई काम करने का। गोरखपुर कुछ दिनों के लिए 'कल्याण' का काम सँभालने के लिए जाना हुआ है। वहाँ से गंगातट पर एकान्त में भजन करने का मन है।' रुइयाजी को मेरी बात जँच गयी और वे वापस लौट गये।

'इसी बीच एक और प्रलोभन आया। तत्कालीन सरकार में शायद रेवेन्यू विभाग के एक उच्च अधिकारी बी० एन० मेहता थे। उनसे मेरा अच्छा परिचय था। वे मुझे बड़ा सम्मान देते थे। उस समय मालवीयजी के पुत्र श्रीराधाकांत के पास कोई काम नहीं था। मेहता जी मालवीयजी के प्रति श्रद्धा रखते थे। राधाकांत ने मेहताजी से कोई काम देने के लिए कहा। मेहताजी ने कहा, 'एक बहुत बड़ा सरकारी काम है। वह काम हम आपको दे सकते हैं, पर वह काम हम हनुमानप्रसाद पोद्दार के नाम से देंगे, आपके नाम से नहीं। भाईजी अपना नाम देने को तैयार हों, तो काम मिल जायगा।' बहुत बड़ा काम था; लाखों रुपये साल की आमदनी थी। बी० एन० मेहता का पत्र लेकर मालवीयजी का आदमी मेरे पास गोरखपुर आया। मालवीयजी ने मौखिक रूप से कहलवाया—'तुम इस काम में अपना नाम दे दो, तो तुम्हारे पास पैसा आ जायगा और राधाकांत का भी काम चल जायगा।' पर मैंने तो यह निश्चय कर लिया था कि कोई भी काम नहीं करना है। मैंने मालवीयजी महाराज को बड़े विनम्र शब्दों में कहला दिया—'मैं कोई भी काम लेने से लाचार हूँ।'

इन प्रलोभनों के पाश से अपने को मुक्त कर पोद्दारजी भाद्र शुक्ल ३, सं० १९८४ को गोरखपुर लौट आये और 'कल्याण' के सम्पादन में लग गये। इस प्रकार 'कल्याण' के कार्य में अहर्निश संलग्न रहते हुए भी इनका मन एकांतवास और भगवद्दर्शन के लिए छटपटाता रहता था। यह इच्छा उत्तरोत्तर तीव्र होती गयी। मारवाड़ी भाषा में लिखी गयी उनकी निम्नांकित कविता में तत्कालीन मनःस्थिति की झलक मिलती है—

अब तो कुछ भी नहीं सुहावै, एक तूँ ही मन भावै है।
तनै मिलणनै आज मेरो हिवड़ो उझल्यौ आवै है॥
तड़फ रह्यो ज्यूँ मछली जल बिन, अब तूँ क्यूँ तरसावै है।
दरस दिखाणैमैं देरी कर क्यूँ अब और सतावै है?
पण, जो इसी बातमैं तेरौ चित राजी होतो होवै।
तौ कोई भी आँट नहीं, मनै चाहे जितणो दुख होवै॥
तेरे सुखसैं सुखिया हूँ मैं, तेरे लिए प्राण रोवै।
मेरी खातर प्रियतम! अपणै सुखमैं मत काँटा बोवै॥

पण या निश्चै समझ, तने मिलणैकी खातर मेरा प्राण ।
छिण-छिण में व्याकुल होवै है, दरसण की है भारी टाण ॥
बाँध तुड़ाकर भाग्या चावै, मानै नहीं किसी की काण ।
आठों पहर उड्या-सा टोलै, पलक-पलक की समझै हाण ॥
पण प्यारा ! तेरी राजीमैं है नित राजी मेरौ मन ।
प्राणाधिक, दोनूँ लोकाँकौ, तूँ ही मेरो जीवन-धन ॥
नहीं मिलै तौ तेरी मरजी, पण तन-मन तेरै अरपन ।
लोक-बेद है तूँ ही मेरौ, तूँ ही मेरौ परम रतन ॥
चातक की ज्यूँ सदा उडूँकूँ कदे नहीं मुहनै मोडूँ ।
दुख देवै, मारै, तड़पावै, तो भी नेह नहीं तोड़ूँ ॥
तरसा-तरसा कर जो लेवै तो भी तनैं नहीं छोड़ूँ ।
झाँकूँ नहीं दूसरी कानी तेरैमैं ही जी जोड़ूँ ॥[1]

भगवद्दर्शन की उत्कंठा

श्रीजयदयालजी गोयन्दका स्वास्थ्यलाभ के विचार से जसीडीह (बिहार) में कालयापन कर रहे थे । इन्ह दिनों उनको भगवान् विष्णु का साक्षात्कार प्राप्त होने का संवाद प्रसृत हुआ । पोद्दारजी के मन में पहले से ही साक्षात्कार-प्राप्ति की तीव्र उत्कंठा जाग्रत थी । इन्होंने उस भाव की तत्काल एक कविता बंगला में लिखी, जिसका हिन्दी रूपांतर बाद में इन्हीं के शब्दों में इस रूप में प्रकाश में आया—

मिलने को प्रियतम से जिसके प्राण कर रहे हाहाकार ।
गिनता नहीं मार्ग की कुछ भी दूरी को वह किसी प्रकार ॥
नहीं ताकता किंचित् भी शत-शत बाधा-विघ्नों की ओर ।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर बाँसुरी नंद-किशोर ॥
मिली हुई जो कभी भाग्यवश उसको हैं आँखें होती ।
वही जानता कीमत, जो उस रूप-माधुरी की होती ॥
कुछ भी कीमत हो, परन्तु है रूप-रसिक जन जो होता ।
दौड़ पहुँचता लेने को तत्काल नहीं पलभर खोता ॥[2]

प्रियदर्शन की इस उद्दाम लालसा ने अनुकूल परिस्थितियों की सृष्टि कर दी । आश्विन कृष्ण १, सं० १९८४ को इन्हें सेठजी का एक तार मिला, जिसमें इन्हें शीघ्र जसीडीह आने का निर्देश था । ये उसी दिन रवाना होकर तीसरे दिन सेठजी के पास पहुँच गये । यहाँ सेठजी ने इन्हें विष्णु भगवान् के साक्षात्कार की आत्मानु-

१. 'कल्याण', २-३-१६४ ।
२. भजनसंग्रह भाग—५, पृ० ६५ ।

भूत झाँको का विवरण सुनाया। पोद्दारजी ने उसी पद्धति से विधि-विधानपूर्वक आराधना करके स्वरूप दर्शन-प्राप्ति का उपक्रम किया। इसमें इन्हें आशातीत सफलता मिली।

इस घटना के बाद पोद्दारजी आश्विन कृष्ण १५, सं० १९८४ को गोरखपुर आ गये। जसीडीह में साक्षात्कार-प्राप्ति के बाद इनकी मानसिक स्थिति में महान् परिवर्तन संघटित हो चुका था। अब एकांत जीवन बिताने की इच्छा से घनी आबादी में स्थित गीताप्रेस से सम्पादकीय विभाग हटाकर ये उसे नगर से दूर कान्तिबाबू के बगीचे में ले गये और वहाँ सहयोगियों के साथ साधन-भजनपूर्वक 'कल्याण'-सम्पादन में लग गये।

'कल्याण' का कार्य बहुत बढ़ चुका था, अतः उससे विरत रहने की इच्छा होते हुए भी ये अपने को अलग न कर सके। जसीडीह की विष्णुदर्शन सम्बन्धी घटना का प्रचार कलकत्ता और बम्बई में इनसे सम्बद्ध धार्मिक रुचि के लोगों के बीच हो गया था, इससे गोरखपुर में दर्शनार्थियों की बाढ़-सी आ गयी। जिज्ञासुओं के पत्रों का ताँता लग गया। अतः पहले की अपेक्षा व्यस्तता बहुत बढ़ गयी। गोरखपुर लौटने के बाद 'कल्याण' में इन्होंने जसीडीह के स्वरूपदर्शन विषयक घटना को दृष्टि में रखते हुए 'महापुरुष चरण वन्दन' शीर्षक एक स्वरचित कविता प्रकाशित की—

सर्व शिरोमणि विश्व सभा के आत्मोपम विश्वम्भर के।
विषयी नायक जग-नायक के सच्चे सुहृद चराचर के॥
सुखद सुधा-निधि साधु कुमुद के भास्कर भक्त-कमल-वन के।
आश्रय दीनों के प्रकाश पथिकों के अवलम्बन जन के॥
लोभी जग-हित के, त्यागी सब जग के भोगी भूमा के।
मोही निर्मोही के, प्यारे जीवन बोधमयी माँ के॥
तत्पर परम हरण पर-दुख के तत्परता विहीन तन के।
चतुर खिलाड़ी जग-नाटक के, चिंतामणि साधक-जन के॥
सफल मार्गदर्शक पथ-भ्रष्टों के, आधार अभागों के।
विमल विधायक प्रेम-भक्ति के, उच्चभाव के त्यागों के॥
परम प्रचारक प्रभु वाणी के, ज्ञाता गहरे भावों के।
वक्ता व्याख्याता, विशुद्ध, उच्छेदक सर्व कुभावों के॥
पथ दर्शक निष्काम कर्म के, चालक, अचल सांख्य पथ के।
पालक सत्य अहिंसा व्रत के, घालक नित अपूत पथ के॥
नाशक त्रिविध ताप के, पोषक तप के, तारक भक्तों के।
हारक पापों के, संजीवन-भेषज, विषयासक्तों के॥

पावनकर्ता पतितों के, पृथ्वी, के प्रेत-पितृ-गण के।
भूषण भूमण्डल के, दूषण राग-द्वेष रणाङ्गण के॥
रक्षक अतिदृढ़ सत्य-धर्म के, भक्षक भव-जंजालों के।
तक्षक भोग-रोग, धन-मद के, व्यापारी सत लालों के॥
दक्ष-दुभाषी, 'जन-जन-धन' के, मुखिया राम दलालों के।
छिपे हुए अज्ञात लोक निधि, मालिक असली मालों के॥
चूड़ामणि दैवी गुण-गण के, परमादर्श महानों के।
महिमा-वर्णन में अशक्त तप विद्या-बल विद्वानों के॥

गम्भीरचन्द दुजारी पर इस घटना और उसके प्रभावस्वरूप हनुमानप्रसादजी की परिवर्तित मनःस्थिति का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर इन्हीं के चरणों में शेष जीवनयापन करने का व्रत ले लिया। आश्विन शुक्ल १३, सं० १९८४ को पोद्दारजी की माता एवं पत्नी भी गोरखपुर आ गयीं।

भगवन्नाम प्रचार

जसीडीह में स्वरूपदर्शन के पश्चात् आश्विन शुक्ल १२, सं० १९८४ को गोरखपुर में फिर दर्शन हुए। उस समय जो दिव्यवाणी पोद्दारजी के सुनने में आयी, उसमें भगवन्नाम-प्रचार का स्पष्ट आदेश था।[1] इस सम्बन्ध में सेठजी से परामर्श करने के लिए कार्तिक कृष्ण ८ को पोद्दारजी जसीडीह गये। विचार-विमर्श के अनन्तर निश्चय हुआ कि भगवन्नाम-महिमा सम्बन्धी 'दिव्य-संदेश' शीर्षक एक लेख प्रकाशित कराया जाय। जसीडीह से लौटने के बाद गोरखपुर में पोद्दारजी को कार्तिक कृष्ण १२, सं० १९८४ को शनिवार के प्रातः साढ़े पाँच बजे के समय पुनः दर्शन-लाभ हुआ, साथ ही दिव्यवाणी भी सुनाई पड़ी, जिसका सारांश इस प्रकार है[2]—

१. जिन सात विषयों के प्रचार की बात तुमलोगों ने तय की है, उनका प्रचार

---

१. भगवत् वाणी के कुछ वाक्य इस प्रकार थे—(क) जगत् का कुछ भला करना हो तो भेद छोड़कर नाम का प्रचार कर। लोगों से कह दे कि इस काल में नाम से ही सब-कुछ हो जायगा। मेरे अवतार में भी नाम ही हेतु होगा। (ख) जो लोग नाम का सहारा लेकर पाप को आश्रय देते हैं, उनको सावधान कर कि उनकी शुद्धि यमराज भी नहीं कर सकता। (ग) पापों के नाश तथा भोगों की प्राप्ति के लिए भी नाम का प्रयोग करना मूर्खता है। पाप का नाश तो फल भोग और प्रायश्चित से भी हो जाता है। (घ) नाम प्रिय से भी प्रियतम वस्तु है। इसका प्रयोग तो प्रियतम की प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए।

२. पोद्दारजी का सेठ जयदयाल गोयन्दका के नाम पत्र, गोरखपुर, कार्तिक कृष्ण, १४, सं० १९८४।

जितने अधिक देशों और अधिक लोगों में हो, वैसी चेष्टा करो। लोगों को समझा दो कि इसके मानने से ही कल्याण हो सकता है।

२. अन्य धर्मावलम्बियों के किसी भी धर्मग्रन्थ का नाम न लेकर गीतोक्त भक्तियुक्त निष्काम कर्म का भाव ग्रहण करने के लिए कहो।

३. एक बार जिसने मेरा नाम ले लिया, उसका भला होने में कोई शंका नहीं करनी चाहिए।

४. मेरी प्रेरणा के अनुसार कितना प्रचार हुआ है और हो रहा है, उसका पता पीछे लगेगा।

५. मेरे मिलने की इन बातों को प्रकाश में लाने से हानि है।

दूसरे दिन 'भगवान' के किस नाम का प्रचार किया जाय, इस विषय में जिज्ञासा करने पर उत्तर मिला— 'कोई खास नाम नहीं है। मेरे भाव से कोई-सा भी नाम मनुष्य ले सकता है।' इसी प्रसंग में पोद्दारजी को सादा जीवन बिताने और कीर्तनों के आयोजन का ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था, जिसका वे मनसा-वाचा-कर्मणा अंतिम साँस तक पालन करते रहे।

नाम-प्रचार-यात्रा

इस दैवी प्रेरणा को कार्यान्वित करने के निमित्त पोद्दारजी ने पूरे देश में 'भगवन्नाम-प्रचार-यात्रा' की व्यापक योजना बनायी। इसका उद्देश्य था—देश-भर में घूम-घूमकर भगवन्नाम-महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए नाम-जप करने का नियम दिलाना तथा संकीर्तन-मण्डल स्थापित करना। इसके अनुसार प्रथम यात्रा बंगाल और आसाम की हुई। साथ में १६ सज्जन थे। इन सबके लिए गीता-पाठ, नामजप, ध्यान तथा समष्टि-कीर्तन अनिवार्य थे। सदाचार एवं साधना सम्बन्धी १५ नियमों और ५ उपनियमों का पालन करना पड़ता था।[1] यात्रा का आरम्भ मार्ग-

---

१. नियम और उपनियम :

१. गीता के एक अध्याय का नित्य पाठ करना।
२. नित्य नियमपूर्वक ध्यान करना।
३. "हरे राम" वाले षोडशाक्षर मंत्र की नित्य १४ माला जपना।
४. दोनों काल की संध्या के साथ एक माला गायत्री मन्त्र जपना।
५. हाथ से बने कपड़े पहनना।
६. मिठाई न खाना।
७. तम्बाकू न पीना।
८. असत्य न बोलना।
९. वेषभूषा में शौकीनी न करना।
१०. ब्रह्मचर्य पालन करना।

शीर्ष कृष्ण १०, सं० १९८४ को हुआ। मण्डली पटना होते हुए मार्गशीर्ष कृष्ण ११, को कलकत्ता पहुँची। गोविन्द-भवन में सबके ठहरने का प्रबन्ध था। कलकत्ते में ये लोग दो दिन ठहरे।

'नाम-जप-विभाग' की स्थापना

कलकत्ता-प्रवास में ही पोद्दारजी के मन में विचार आया कि नाम-प्रचार के लिए 'कल्याण' के प्रथम वर्ष के सातवें अंक में षोडश मन्त्र के सार्वजनिक जप की जो योजना प्रकाशित की गयी थी, उसे व्यवस्थित किया जाय। अतएव उन्होंने 'कल्याण' सम्पादकीय विभाग के अन्तर्गत 'नाप-जप-विभाग' की स्थापना की, जिसके द्वारा प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा से चैत्र पूर्णिमा तक-पाँच महीनों में **'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'** इस षोडशाक्षर महा-मंत्र के २० करोड़ जप के लिए सूचना निकालने की योजना बनी। जपकर्ताओं को जप आरम्भ करने की तिथि एवं जपसंख्या सम्बन्धी सूचना 'नाम-जप-विभाग', गीता-प्रेस को भेजने की अपील 'कल्याण' में निकाली गयी।

कलकत्ता में ही आसाम यात्रा का पुरोगम बना। मार्गशीर्ष कृष्ण १२, सं० १९८४ को प्रातः १० बजे गाड़ी नलवाड़ी स्टेशन पहुँची। वहाँ से फिर गौहाटी के लिए रवाना हुए। कीर्तन-प्रवचन से गौहाटी निवासियों को आप्यायित करते हुए वहाँ से सत्संगियों के साथ पोद्दारजी ने अपनी जन्मभूमि शिलांग के लिए प्रस्थान किया। मार्गशीर्ष कृष्ण ३०, सं० १९८४ को शिलांग पहुँच गये। पोद्दारजी के आगमन का समाचार पाकर मित्रों और परिचितों के आनंद की सीमा न रही। स्वागत का भव्य आयोजन हुआ। पोद्दारजी का भगवन्नाम-माहात्म्य पर प्रवचन हुआ।

मार्गशीर्ष शुक्ल २, सं० १९८४ को शिलांग से मोटर द्वारा तिनसुकिया गये। वहाँ से डिब्रूगढ़ के लिए रवाना हुए। डिब्रूगढ़ से गणेशवाड़ी, शिवसागर, नौगाँव होते हुए गौहाटी लौट आये। मार्गशीर्ष शुक्ल १०, सं० १९८४ को आसाम-यात्रा पूरी करके

---

११. नौकर साथ न रखना।
१२. अपना काम जहाँ तक बने, अपने हाथ से करना।
१३. खर्च अपना करना।
१४. यथासम्भव क्रोध न करना।
१५. नियत समय पर सोना-उठना।
१६. मान-बड़ाई न चाहना और न स्वीकार ही करना।
१७. किसी से शारीरिक और आर्थिक सेवा न कराना।
१८. विरोध शांतिपूर्वक सहना।
१९. अपने मन में अभिमान न करना।
२०. स्त्रियों से बचना।

कलकत्ता वापस लौट आये। कलकत्ते के इस प्रवासकाल में ही हनुमानप्रसादजी की भेंट 'स्वतंत्र' के सम्पादक पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी एवं 'भारतमित्र' के सम्पादक श्रीलक्ष्मण-नारायण गर्दे से हुई। इसी समय मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को आयोजित गोविन्द भवन की बैठक में 'गीता-जयंती' का पुरोगम निश्चित किया गया। पोद्दारजी की अध्यक्षता में गीता-जयंती के इस अधिवेशन में गीतापाठ, गीता-प्रदर्शनी, प्रवचन, संकीर्तन, पालकी पर भगवान् की शोभायात्रा आदि कार्यक्रम बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुए। जयंती के दिन आयोजित शोभायात्रा में पोद्दारजी का नृत्य के साथ आत्मविभोर भाव से मधुर कीर्तन हुआ। उन्होंने उपस्थित भक्तों को संबोधित करते हुए कहा, 'राम-नाम को कोई व्यक्ति प्रत्येक कार्य में साथ रखे तो उसके कार्य सफल होते हैं तथा अंतःकरण भी पवित्र हो जाता है।' इस अवसर पर सत्संगियों के अनुरोध पर पोद्दारजी द्वारा रचित 'प्रेमशतक' के दोहे भी पढ़े गये। इस यात्रा में 'कल्याण'-सम्पादन का कार्य भी अबाध रूप से चलता रहा।

कलकत्ते में सात दिन निवास हुआ। पौष कृष्ण ४, सं० १९८४ को वहाँ से प्रस्थान किया और गोरखपुर आ गये। 'कल्याण'-सम्पादन का कार्य पूर्ववत चलने लगा।

इसके बाद नाम-प्रचार की दूसरी यात्रा बम्बई एवं राजस्थान की हुई। पोद्दार-जी ने पौष शुक्ल ८, सं० १९८४ को ग्यारह व्यक्तियों के साथ बम्बई के लिए प्रस्थान किया। 'कल्याण' का सम्पादकीय विभाग भी साथ था। अतः नाम-प्रचार-अभियान के कारण सम्पादन-कार्य में कोई बाधा नहीं पड़ी। पौष शुक्ल १०, सं० १९८४ को पौने चार बजे अपराह्न में बम्बई पहुँचे। सेठ शिवनारायणजी नेमाणी की बाड़ी में आसन लगा। सत्संग का कार्यक्रम 'सत्संग-भवन' में आयोजित हुआ। सत्संगियों के साथ पोद्दारजी ने घूम-घूम कर लोगों से जप हेतु प्रार्थना की। दादी सेठ अग्यारी लेन में ४०० माला के नित्य जप का वचन मिला। बम्बई के इस प्रवासकाल में पोद्दारजी अपने परम स्नेही श्रीयादवजी महाराज एवं रामानुज-पीठाचार्य श्री अनन्ताचार्यजी से भी मिले। बम्बई का यह प्रवास पौष शुक्ल १२ से माघ कृष्ण १, सं० १९८४ तक रहा। बम्बई से चलते समय पोद्दारजी ने सत्संग में रुचि रखने वाले व्यक्तियों से दो भीख माँगी—१. भगवन्नाम-जप, २. सत्संग-भवन में नित्य सत्संग।

पूर्वनिश्चित पुरोगम के अनुसार बम्बई से अहमदाबाद के लिए प्रस्थान किया। माघ कृष्ण २, सं० १९८४ को अहमदाबाद पहुँचे। उसी दिन १० बजे दिन में साबरमती आश्रम गये। जब ये वहाँ पहुँचे तो पता चला कि गांधीजी विश्राम कर रहे हैं। अतएव बरामदे में बैठ कर प्रतीक्षा करने लगे। संयोगवश वह गांधीजी के मौन का दिवस था। इसलिए जागने पर उन्हें केवल प्रणाम कर लौट आये। उन दिनों वहाँ मीरा नाम से

प्रसिद्ध एक अमेरिकन महिला मिस स्लेड, आश्रम की परिचर्या हेतु रहती थीं। पोद्दारजी ने उनसे भेंट की, तत्पश्चात् श्रीजमनालाल बजाज के कुटुम्बियों से मिले। वहीं पर काका कालेलकर एवं महादेव भाई देसाई से भी भेंट हो गयी। पोद्दारजी ने इनसे आगामी विशेषांक 'भक्तांक' हेतु गांधीजी का लेख दिलाने के लिए प्रार्थना की। सायं-काल छः बजे पुनः साबरमती आश्रम गये और वहाँ सायंकालीन प्रार्थना-सभा में सम्मिलित हुए। गांधीजी का उस दिन 'क्रोधत्याग' पर प्रभावपूर्ण प्रवचन हुआ। प्रवचन के बाद पोद्दारजी को गांधीजी से मिलने का अवसर मिला। दोनों का एकान्त कमरे में वार्तालाप हुआ। गांधीजी ने पूछा—'मैंने सुना है, तुमने आजकल अपने भ्रमण का प्रधान उद्देश्य भक्ति एवं भगवन्नाम-प्रचार बना रखा है और साथ में रहने वालों के लिए कुछ नियम बना रखे हैं, वे नियम कौन से हैं?' इसपर पोद्दारजी ने गांधीजी को उन नियमों से अवगत कराया। गांधीजी ने नियम-पालन तथा भगवन्नाम-प्रचार की महत्ता पर बल देते हुए उनके भ्रमण-कार्य की सराहना की। विदा होते समय पोद्दारजी ने गांधीजी से 'कल्याण' के लिए लेख लिखने की प्रार्थना की। गांधीजी ने इसे स्वीकार करते हुए समय पर याद दिलाने की बात कही। गांधीजी से पोद्दारजी की यह बात रात्रि के नौ बजे तक चलती रही। इस बीच वहाँ उपस्थित गांधीजी के कुछ पार्श्ववर्ती व्यक्तियों ने पोद्दारजी से गांधीजी द्वारा किये गये गीता के अनुवाद 'अनासक्ति योग' को गीताप्रेस से प्रकाशित करने का प्रस्ताव रखा। पोद्दारजी इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़ चुके थे। इसमें प्रतिपादित कतिपय मान्यताएँ गीताप्रेस की नीति के प्रतिकूल पड़ती थीं,[1] अतः उसके प्रकाशन सम्बन्धी प्रस्ताव को पोद्दारजी ने स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की।

रात काफी बीत चुकी थी। मार्ग में अंधकार था। इसलिए चलते समय गांधीजी के भतीजे एवं आश्रम के प्रधान कार्यकर्ता श्रीमगनलाल भाई ने एक लालटेन दी। पोद्दारजी साबरमती आश्रम से पैदल चलकर कुछ साथियों के साथ निवास पर लौट आये।

माघ कृष्ण ३, सं० १९८४ को अहमदाबाद से राजस्थान के लिए यात्रा आरम्भ हुई। चैतन्य-सम्प्रदाय के महंत श्रीमुकुंददास के निमंत्रण पर माघ कृष्ण ४, को जोधपुर राज्य के वोरखढ़ ग्राम में पहुँचे। राजस्थान में भगवन्नाम-प्रचार का श्रीगणेश इसी

---

१. इस पुस्तक में गांधीजी ने गीता को ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं स्वीकार किया है। पोद्दारजी का मत था कि यदि महाभारत और गीता को हम ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मानें, कृष्ण एवं उसमें वर्णित अन्य व्यक्तियों को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार न करें, एवं 'महाभारत' में वर्णित युद्ध को मात्र कपोलकल्पित मानें तो फिर हिन्दू-धर्म के इतिहास में बचा ही क्या रह जाता है? गीताप्रेस इन ग्रन्थों को ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक और उसके उपदेष्टा भगवान् कृष्ण को परब्रह्म परमात्मा का पूर्ण अवतार मानता है।

स्थान पर हुआ। महंतजी ने इनके ठहरने का प्रबंध श्रीरघुनाथ-मंदिर में किया। वहाँ संकीर्तन एवं प्रवचन का कार्यक्रम हुआ। सत्रह अठारह घंटे रुकने के बाद रात्रि में वहाँ से रवाना होकर मूंडवा पहुँचे। एक दिन रुककर माघ कृष्ण ६, सं० १९८४ को प्रातः ९ बजे बीकानेर पहुँचे। स्टेशन पर हजारों की भीड़ ने पोद्दारजी का स्वागत किया। दूसरे दिन नगर-संकीर्तन की योजना बनी। चार दिन बीकानेर ठहरे। पूरे शहर में भगवन्नाम की धूम मच गयी। यहीं पर पहली बार पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी ने पोद्दारजी के दर्शन किये। उस समय वे बीकानेर राज्य के प्रधानमंत्री श्रीमन्नूभाई के निजी सचिव थे।

माघ कृष्ण ९, सं० १९८४ को पोद्दारजी बीकानेर से रतनगढ़, छापर, साँडवा, बीदासर, सुजानगढ़, डीडवाना, चूरू, भिवानी, रोहतक, तथा दिल्ली होते हुए माघ शुक्ल ८ को खुर्जा पहुँचे। यहाँ श्रीहरिबाबा बहुत दूर तक पैदल चलकर पोद्दारजी से मिलने के लिए आये थे। खुर्जा से फीरोजाबाद, कानपुर, लखनऊ आदि स्थानों पर नाम-संकीर्तन की सुधा-धारा प्रवाहित करते हुए फाल्गुन कृष्ण १, सं० १९८४ को गोरखपुर वापस आ गये।

दोषदर्शियों का समादर

इसी प्रवास के आसपास 'रंगीला भक्त' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें पोद्दारजी के आचार-व्यवहार पर कटाक्ष किया गया था। बम्बई-जीवन के मित्र पं० श्रीहरिवंश जोशी ने इनका ध्यान आकृष्ट करते हुए एक पत्र दिया। पोद्दारजी ने उसके उत्तर में लिखा—

"आपके कथनानुसार पुस्तक में यदि मुझ पर कटाक्ष किये गये हैं, तो इसमें आपत्ति की कौन सी बात है? यदि कोई सच्चा दोष लेखक ने दिखलाया होगा तो मुझे उसका उपकार मानना चाहिए।

"दोष बताकर सावधान करनेवाले सज्जनों को प्रशंसा के पात्र ही समझना चाहिए। यदि लेखक ने कहीं अनुचित और मिथ्या आक्षेप किया हो तो वह भ्रम में है। परमात्मा उसकी भ्रम से भरी हुई बुद्धि को शुद्ध करें। इस पुस्तक को देखकर तो मुझे रत्तीभर भी क्षोभ नहीं हुआ। यदि हमारे हृदय में घृणा-द्वेष-क्रोधादि उत्पन्न हो जायँ तो इससे यह होगा कि उनके मन में तो एक ही दोष था, हमारे मन में कई पाप आ गये।...... इसका प्रतिकार यही है कि भक्ति के मार्ग में चलने-वाले लोग कहीं भी अपने चरित्र में दोष न आने दें।......प्रथम तो लेखक की प्रस्तावना पर विश्वास करके हमें यही जानना चाहिए कि उन्होंने मुझ पर कोई कटाक्ष नहीं किया है।...... हम लोगों को और कोई प्रयत्न नहीं करके परमात्मा से केवल प्रार्थना करनी चाहिए कि उनका मंगल हो।"

सात्त्विक अंतःकरण में ही ऐसे उदात्त भावों का स्फुरण संभव है। निराधार होने के कारण कुछ दिनों में यह धुएँ का धौरहर स्वतः ध्वस्त हो गया। पोद्दारजी की निर्मल कीर्ति पूर्ववत् अपना अमंद प्रकाश बिखेरती रही।

उपराम वृत्ति

'कल्याण' के प्रचार-प्रसार के साथ ही पोद्दारजी की व्यस्तता बढ़ती गयी। गोरखपुर आये थे इस आश्वासन पर कि दो-चार महीने में प्रकाशन व्यवस्था ठीककर यथेच्छा गंगातट-सेवन के लिए चले जायेंगे, किन्तु काम का ढंग दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति के कारण ऐसा बैठ गया कि इन्हें एक क्षण के लिए भी अवकाश पाना मुश्किल हो गया। परिस्थितियों के दबाव से विवश अंतःकरण की वासना का पुनः उद्रेक हुआ। साधकजीवन अब इतना उन्नत हो चला था कि इस प्रकार की अध्यात्मपरक साहित्यिक सेवा भी उसे भार प्रतीत होने लगी। उसी समय गीता प्रेस के व्यवस्थापक ने त्याग-पत्र दे दिया। फलस्वरूप संपादन के साथ मुद्रण-व्यवस्था का भार भी इन्हीं के सिर आ पड़ा। 'भक्तांक' का कार्य चल रहा था। उसे समाप्त करके इन्होंने गंगातट-सेवन का निश्चय कर लिया। इस सम्बन्ध में अपने विचारों से श्रीजयदयालजी गोयन्दका को अवगत कराने के लिए ये श्रावण कृष्ण ५, १९८५ को बाँकुड़ा गये। इन्होंने अपनी मनःस्थिति बताते हुए स्पष्ट रूप से निवेदन किया—'मेरी एकान्त-सेवन की लालसा बनी हुई है। इसलिए मैं गीताप्रेस के कार्य को अधिक समय तक सँभाल न सकूँगा।'

गोयन्दकाजी ने समझाते हुए कहा,—'गीताप्रेस एवं 'कल्याण' का कार्य भी भगवान की सेवा का ही कार्य है। इससे जगत् का बड़ा लाभ है। तुम्हें इससे उपराम नहीं होना चाहिए, क्योंकि अभी तक तुम्हारे-जैसा कोई व्यक्ति यह सब कार्य करने के लिए तैयार नहीं हुआ है।'

पोद्दारजी ने अपनी इच्छा दबाकर इस बार भी लोकहित के लिए सेठजी की सीख मान ली।

अग्रवाल महासभा : अन्तिम नमस्कार

अखिल भारतीय अग्रवाल महासभा से पोद्दारजी का सम्बन्ध बम्बई-जीवन से आरम्भ हुआ था, उसका जन्म भी इनके बम्बई आगमन के बाद ही हुआ था। उसके द्वारा समाज-सुधार की अनेक उपयोगी योजनाएँ कार्यान्वित हुई थीं, किन्तु ज्यों-ज्यों उसके कार्यक्षेत्र का विस्तार होता गया, सम्बन्धित समाज के उच्च वर्ग में उसके पदों के लिए अधिकारलिप्सा की स्पर्द्धा संक्रामक रोग-सी बढ़ती गयी। कलकत्ता अधिवेशन में वह बेनक़ाब हो गयी। उसके दो परस्पर विरोधी गुटों—सनातनी अथवा पंचायत पार्टी तथा सुधारवादी—एक दूसरे को नेस्तनाबूद करने पर तुल गये थे। इसी स्थिति

में उसका अगला अधिवेशन बम्बई में आयोजित होने वाला था। पहले तो दोनों में अध्यक्ष कौन बनाया जाय, इस प्रश्न को लेकर ही ताकत आजमाने की होड़ लग गयी। यह आशंका होने लगी कि कहीं यह विवाद महासभा का अस्तित्व ही न समाप्त कर दे। समाज के विचारशील लोगों ने आगे बढ़कर यह गुत्थी सुलझायी। दोनों वर्ग एक व्यक्ति के नाम पर सहमत हो गये और वह नाम था—हनुमानप्रसाद पोद्दार।

पोद्दारजी अपने पुराने अनुभव के प्रकाश में इस झमेले में पड़ना नहीं चाहते थे, किन्तु सेठ जयदयालजी गोयन्दका के विशेष आग्रह से समाज-कल्याण को दृष्टि में रखकर इन्होंने सम्मति दे दी। इन्हें मध्यस्थों ने यह भी आश्वासन दिया था कि आपके अध्यक्ष हो जाने से दोनों गुट एक हो जायेंगे।

बम्बई अधिवेशन की तिथि थी चैत्र शुक्ल १, सं० १९८५। चैत्र कृष्ण १४, सं० १९८५ को गोरखपुर से रवाना होकर पोद्दारजी समय से बम्बई पहुँच गये। आयोजकों की व्यवस्था के अनुसार उन्हें बंबई के विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर उतरना था। स्टेशन पर दोनों दल डटे थे—स्वागत-समारोह में एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए कटिबद्ध। दोनों का आग्रह था कि पोद्दारजी हमारी गाड़ी में बैठकर सभा-भवन में चलें। पोद्दारजी यह दृश्य देखकर दंग रह गये। होहल्ला छीना-झपटी का बाजार गरम था। इन्होंने अपना रास्ता निकाल लिया—चुपके से निकले, तथाकथित स्वागत-संयोजकों की अहंकार तथा द्वेष से रंगी आँखें बचाकर और स्टेशन के बाहर खड़ी एक किराये की विक्टोरिया पर बैठकर अपने चिरपरिचित शरण्य-स्थल 'सत्संग-भवन' पहुँच गये। पीछे जब लोगों ने ढूँढ़ना शुरू किया, तो इनकी धूल भी न पा सके। पोद्दारजी ने महासभा के अधिवेशन में आयोजकों के लाख प्रयत्न करने पर भी भाग नहीं लिया। दूसरे दिन समाचार-पत्रों में अपना वक्तव्य छपाकर स्थिति स्पष्ट कर दी।[1]

---

१. अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा दशम अधिवेशन (चैत्र शुक्ल ३, सं० १९८५) बम्बई के सभापति श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार का वक्तव्य :—

यहाँ तक चले आने पर भी मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के सभापति पद से मैंने त्याग-पत्र क्यों दे दिया, इसके सम्बन्ध में कोई गलतफहमी अथवा नासमझी न हो जाय, इसके लिए मैं उन बातों का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ, जिनके कारण मुझे ऐसा करना पड़ा।

मैं कुछ समय पूर्व से सामाजिक तथा अन्य प्रगतियों से अलग रहा हूँ, और उनमें कोई भाग लेने की मेरी इच्छा भी नहीं थी। इसीलिए मैंने सभापति पद को उस समय स्वीकार नहीं किया था, जब कि स्वागत-समिति की ओर से मुझे उसके लिए लिखा गया था। बाद में जब मुझे यह सुझाया गया कि सुधारक और सनातनी दोनों ने समझौता कर लिया है और दोनों ही दल शांति और प्रेम के साथ कार्य करने को तैयार हैं, तो मुझे मित्रों के दबाव के कारण, बहुत कुछ संकोच के साथ, स्वागत-समिति का आमंत्रण स्वीकार करना पड़ा।

महासभा में फैली रागद्वेष की लपटों से शरीर झुलसा कर किनाराकशी कर लेना ही इन्हें श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। इनके लिए वह 'परधर्म' था। उसके त्याग से ही 'स्वधर्म' की रक्षा हो सकती है—ऐसा इन्हें अनुभव हुआ और

परसों जब मैं बम्बई के मार्ग में पेशावर एक्सप्रेस में था, तो मेरे कुछ सनातनी मित्र कल्याण स्टेशनपर आये और मुझसे ट्रेन से उतरने का आग्रह किया, क्योंकि उन्हें कुछ आवश्यक बातें करनी थीं। मैं उनके कहने पर अपने दो मित्रों के साथ उतर आया। मुझे कहा गया कि पहले के समझौते को तोड़ने के प्रयत्न किये जा रहे हैं और कार्यकारिणी की बैठक आज ही दोपहर को होनेवाली है। उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं कार्यकारिणी के निर्णय की वहाँ प्रतीक्षा करूँ। मुझे वहाँ ठहरना उचित नहीं मालूम हुआ। मैं कल्याण से बम्बई के लिए नागपुर मेल के द्वारा रवाना हो गया। जब मैं विक्टोरिया टर्मिनस पर पहुँचा, तो मैंने प्लेटफार्म पर बहुत भीड़ पायी, मारवाड़ी अग्रवाल जाति के दोनों दलों के प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे। उन सबने मेरा सप्रेम सत्कार किया। स्वागत-समिति के सभापति भाई बालकृष्णलालजी पोद्दार, भाई हरिकृष्णदासजी गोयन्दका बाँकुड़ेवाले तथा अन्य मित्रों के साथ मैं बाहर आया और उनके साथ एक मोटर में बैठा, जो इस काम के लिए गयी थी।

उपस्थित लोगों में से कुछ अपने को सनातनी कहने वालों ने मार्ग अवरोध कर लिया; कुछ ने मेरे उस मोटर में बैठने पर आपत्ति की, कुछ ने भाई बालकृष्णलालजी को उतरने पर जोर दिया और कुछ ने यह सलाह दी कि सनातनी भाइयों के कुछ प्रतिनिधि भी गाड़ी में बैठ जायँ। अन्तिम सलाह को मैंने स्वीकार कर लिया और उनके एक प्रतिनिधि को मोटर में बैठने के लिए बुलाया। भीड़ तो अशांत ही रही। भाई बालकृष्णलालजी असंतोष को दबाने के लिए नीचे उतर आये। श्रीबालकृष्णजी के प्रति यह असभ्य व्यवहार देखकर मुझे दुःख हुआ और मैंने अनुभव किया कि स्थिति खराब होती जा रही है। मैं भी इसलिए मोटर से उतर आया। दोनों ही दल मुझे अपनी-अपनी ओर खींचना चाहते थे, इसलिए मैंने भाड़े की एक गाड़ी करना ही उचित समझा और आगे विवाद शांत करने के लिए उसमें बैठकर निवास स्थान की ओर चल पड़ा। मैं जबरन एक गाड़ी में बैठाया गया, यह कथन सत्य नहीं। मेरी राय में सनातनी भाइयों ने श्रीबालकृष्णलालजी के साथ दुर्व्यवहार किया, परन्तु जहाँ तक मुझसे मतलब था, दोनों ही दल मेरे प्रति कृपा-भाव बनाये हुए थे।

दोपहर को अपने निवासस्थान पर दोनों दलों के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मैं मिला। मैंने उन्हें समझौते पर डटे रहने को कहा। सुधारकों के, जिनके हाथ में आजकल महासभा का संचालन है, ढंग से मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वे सनातनियों के बहुमत को नियमानुकूल प्रतिनिधि मानने को तैयार नहीं हैं। वे सनातनियों को, जिनकी संख्या अधिक है, महासभा का द्वार नहीं छीनने देंगे। उन्होंने उन नियमों का आश्रय लिया, जो संस्थाओं द्वारा चुने गये बिना प्रतिनिधियों को महासभा में सम्मिलित होने में बाधक स्वरूप हैं। यह सत्य है कि नियमों की आवश्यकता पड़ने पर उपयोग किया जाता है, परन्तु जब बहुत वर्षों से यह होता आया है तथा इस संबंध में समझौता भी हो चुका है कि सनातनियों के प्रतिनिधि महासभा में आ सकेंगे, तो उनका प्रवेश निषेध करना अच्छा न था।

यह अनुभव कलह-प्रपंच से ग्रस्त संस्थाओं से सदैव दूर रहने में उनका चिर-सहचर बन गया।

सुधारकों का एक ऐसा मत हो रहा है कि सनातनी महासभा को तोड़ने पर तुले हुए हैं। मैंने एक प्रतिष्ठित सनातनी से इस विषय की चर्चा की और मुझे बताया गया कि उनका ऐसा इरादा नहीं हैं, परन्तु वे तो केवल यह चाहते हैं कि बहुमत ही महासभा का संचालन करे। मैं नहीं कह सकता कि इस संबंध में कहाँ तक सचाई थी, परन्तु मैं तो उनके शब्दों पर विश्वास ही करता हूँ। सुधारकों की सचाई के संबंध में भी संदेह करने का मेरे लिए कोई कारण नहीं हैं। सुधारकों ने इसका वादा कर लिया था कि वे अधिवेशन के अवसर पर शांति रखेंगे। सनातनी भाइयों ने शांति के लिए पूर्ण प्रयत्न करने तथा सभापति की आज्ञा का पालन करने को कहा। परन्तु उन्होंने कोई वादा करना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनके प्रतिनिधि पूर्ण संयमित नहीं थे। अतः यदि वे वक्ताओं के बीच हो-हल्ला कर बैठे तो वे उसका कोई उपाय नहीं कर सकेंगे। इसपर मैंने उनसे निवेदन किया कि ऐसे प्रतिनिधियों को आप अलग रखिये, जो हुल्लड़बाज हैं, जिससे दुर्घटनाएँ न होने पावें। मेरे इस कथन का उन्होंने कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया।

इस प्रकार समझौते की कोई आशा न देखकर तथा हुल्लड़बाजी की संभावना समझकर मैंने कार्यकारिणी को संदेश भिजवा दिया कि दूसरा सभापति चुन लें, मैं अब सभापति रहना नहीं चाहता। इस संबंध में एक वक्तव्य प्रकाशित करने का मैंने वादा किया।

ऊपर कही हुई बातों की सत्यता के संबंध में मेरे मन में कोई संदेह नहीं है। दूसरे लोग अपने-अपने मत के अनुसार इसका विवेचन कर सकते हैं। मुझे मालूम हुआ कि दोनों दल, जो अपने-अपने सिद्धांतों पर तुले हैं, एक साथ काम करने को तैयार नहीं हैं। जैसा पहले कह चुका हूँ, मैंने सभापति पद उसी हालत में मंजूर किया था कि दोनों दल अधिवेशन की सफलता के लिए हिलमिल कर काम करेंगे। परंतु अब वैसी आशा न देखकर और परिस्थिति को बुरी होते देखकर, तथा अपनी कमजोरी की ओर भी दृष्टिपात करके, मैंने अपना यह कर्तव्य समझा कि इस वाद-विवाद से अलग रहूँ।

यह हर्ष की बात है कि मेरे घनिष्ठ मित्र भाई रंगलालजी जाजोदिया महासभा के कार्य का संचालन कर रहे हैं। मैं अपने मित्र भाई हरकिसनदासजी गोयंदका के साथ वातावरण को शांति बनाये रखने के लिए अपनी मति के अनुसार प्रयत्नशील हूँ और हमने प्रार्थना की है कि अलग-अलग काम करते हुए भी दोनों दल शांति बनाये रखें, हुल्लड़बाजी और मुकद्दमेबाजी से परे रहें। दोनों दलों के साथ मेरा सम्बन्ध तो सदा की भाँति प्रेमपूर्ण रहा है।

इन शब्दों के साथ मैं अपने उन भाइयों से क्षमा चाहता हूँ, जिन्होंने मेरे साथ प्रेम और आदर का भाव दिया । मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ कि आपस में सिद्धांतों और मत का भेद होने पर भी पूरा प्रयत्न किया है। आगे मैं इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के वाद-विवाद में नहीं आऊँगा।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

साधन-समिति की स्थापना

गोरखपुर में रहकर अपने संपर्क में आनेवाले व्यक्तियों को साधनामय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से पोद्दारजी ने एक साधन-समिति की स्थापना की। ये यह चाहते थे कि 'कल्याण' जैसे आध्यात्मिक पत्र के सम्पादन से सम्बद्ध लोग पूर्णरूप से आध्यात्मिक जीवन बितावें और उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पालन पहले अपने ही घर में हो। इस समिति की स्थापना का प्रस्ताव वैशाख शुक्ल ४, सं० १९८६ को रखा गया। इसके कुछ विशिष्ट नियम एवं उपनियम थे।[1] साधन समिति के सदस्य उनका दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए संयम

'अग्रवाल समाचार' में प्रकाशित उक्त वक्तव्य की टिप्पणी—
बम्बई २४ मार्च, १९२८, नेमानी बाड़ी ठाकुरद्वारा रोड

नोट :—हमारे सुयोग्य मनोनीत सभापति महोदय का यह वक्तव्य उनकी स्वाभाविक शांत प्रकृति के अनुकूल ही है। आपने सत्य-सत्य बातों का विवेचन करने का प्रयत्न किया है, और जब कि इस सम्बन्ध में झूठी-से-झूठी बातें उठायी जा रही हैं, तो ऐसे वक्तव्य की नितान्त आवश्यकता थी।

—संपादक 'अग्रवाल समाचार'

१. (१) आहार—नमक के सिवा अन्य सब मसालों का त्याग, भोजन अधिक-से-अधिक पाँच वस्तुओं के द्वारा ही बना होना चाहिए।
(२) वस्त्र—अपने पहनने के लिए देशी सूत के तथा हाथ से बुने हुए (लंगोटी और अंगोछा के अतिरिक्त) अधिक-से-अधिक चार वस्त्र रखें।
(३) जप—प्रतिदिन बिना खाये तीन माला 'हरे राम' षोडशाक्षरमंत्र की, दिन भर में १४ माला, अवश्य पूरी कर लें।
(४) सदाचार—क्रोध का सर्वथा परित्याग।
(५) ब्रह्मचर्य—महीने में एक बार से अधिक स्त्रीसंग न करे। परस्त्री पर बुरी दृष्टि न डालें।
(६) उपासना—नित्यप्रति नियत समय एवं नियत स्थान पर एक घण्टे के लिए प्रार्थना में अवश्य उपस्थित हों।
(७) संध्या, गायत्री तथा स्वाध्याय नियमपूर्वक करें।
(८) नित्यप्रति आधा घंटा एकांत में प्रार्थना करें।
(९) सत्य भाषण व्रत का पालन करें।
(१०) कम-से-कम पाँच मिनट नित्य व्यायाम करें।
(११) सर्वत्र भगवान को देखने का प्रयत्न करना। जिनसे व्यवहार करना हो, उनमें विशेष रूप से भगवान् को देखना।
(१२) प्रति पन्द्रह मिनट पर भगवान् का स्मरण करना। स्मरण होने पर न भूलने का प्रयत्न करना।
(१३) प्रति दिन सोने से पूर्व डायरी लिखना।

एवं सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। यह समिति चार वर्षों तक चली। कुछ दिनों बाद जब पोद्दारजी ने देखा कि लोग नियम-पालन में शिथिलता बरत रहे हैं, तो उन्होंने कार्तिक कृष्ण ७, १९९० को एक वक्तव्य पर लोगों के हस्ताक्षर करवाकर उसे भंग कर दिया।

सदस्यों के अनुरोध पर माघ शुक्ल ८, सं० १९९० को साधन-समिति की पुनर्स्थापना के लिए एक सभा हुई, जिसमें साधन-समिति के नियमों में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के पश्चात् निम्नांकित नियम निर्धारित हुए—

१—सर्वत्र भगवद्दर्शन की चेष्टा करना।

२—प्रति आधे घण्टे पर भगवत्स्मरण और स्मरण होने पर न भूलने का प्रयत्न करना।

३—प्रति आधे घण्टे पर ध्यान करना। ध्यान का अभ्यास न हो तो प्रार्थना या मानसिक पूजा करना।

४—'हरे राम हरे कृष्ण' षोडशाक्षर महामन्त्र की प्रतिदिन १४ माला का जप करना।

५—नित्यप्रति एक घण्टा सत्संग करना, समिति के सत्संग में नियत समय पर उपस्थित होना।

६—सत्य बोलना।

७—क्रोध न करना।

८—प्रातः सूर्योदय से पूर्व और सायंकाल सूर्यास्त के पूर्व संध्या करना। दोनों समय गायत्री मन्त्र की एक-एक माला अवश्य फेरना।

९—गीता के एक अध्याय का नित्य पाठ करना।

१०—स्त्रीसंग महीने में तीन बार से अधिक नहीं करना।

११—परस्त्री को नहीं देखना, यदि दीख जाय तो उसी समय सूर्य की ओर देख लेना।

उपनियम

१. दंभ न करना, २. मन, वाणी तथा कर्म से किसी का अनिष्ट न करना। ३. दिल्लगी का त्याग, ४. अधिक न बोलना, ५. मादक वस्तुओं का त्याग, ६. सबसे प्रेम करना, ७. जाति-धर्म-वर्ण-देश के विचार से तथा बीमारी के कारण किसी से घृणा न करना, ८. दूसरों में दोष न देखना। ९. शारीरिक श्रम करना, १०. जहाँ तक बने अपना काम स्वयं करना, ११. किसी से सेवा न कराना, १२. नीचे लिखे अवसरों पर भगवत्स्मरण-करना—प्रातःकाल उठते समय, निद्रा लेते समय, स्नान करते समय, कुल्ला करते समय, भोजन करते समय, जल पीते समय।

१२—भोजन में तीन चीजों से अधिक नहीं खाना।

१३—हाथ के बने वस्त्र पहनना।

१४—समिति की प्रत्येक बात गुप्त रखना।

१५—समिति की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना।

१६—नियमों की भूल लिखकर गोयन्दकाजी या हनुमानप्रसादजी को दिखाना।

उपनियम

१–दम्भ न करना, २–सबसे प्रेम करना, ३–किसी से घृणा नहीं करना, ४–दूसरों के दोष नहीं देखना, ५–दिल्लगी नहीं करना, ६–अधिक नहीं बोलना, ७–किसी का अनिष्ट नहीं करना, ८–विलायती औषधि का सेवन नहीं करना, ९–निरन्तर भगवत्स्मरण करना।

रुद्रयाग

वैशाख शुक्ल ८/९, सं० १९८६ को गोरखपुर के प्रसिद्ध समाजसेवी बाबा राघवदास के प्रयत्न से सोहनाग (गोरखपुर) में रुद्रयाग का आयोजन हुआ। पोद्दारजी अपने ८-१० परिकरों के साथ उसमें सम्मिलित हुए। वहीं पर 'सस्तुं साहित्यवर्द्धक मण्डल', अहमदाबाद के संस्थापक स्वामी श्री अखण्डानन्दजी से भेंट हुई। इस रुद्रयाग को देखकर स्वामी जी ने इसी वर्ष होने वाले प्रयाग के कुम्भ पर्व पर बृहद् रूप में 'गीताज्ञान-यज्ञ' उत्सव करने का प्रस्ताव रखा। पोद्दारजी ने इसके लिए पाँच हजार रुपयों की धनराशि देने का आश्वासन दिया।

अंतिम संतान

पोद्दारजी की तृतीय पत्नी श्रीमती रामदेई से अंतिम संतान कन्यारूप में मार्गशीर्ष कृष्ण ६, सं० १९८६ को प्रातः सात बजे भूमिष्ठ हुई।

पोद्दारजी के तीन पुत्रों को अपनी अक्षय कोख में विलीन करने के बाद इस बार महा प्रकृति दयार्द्र हुई और सावित्री देवी को उसने इनकी विन्दु-परंपरा का प्रतिनिधित्व करने के लिए धराधाम पर छोड़ दिया। कालांतर में वय प्राप्त करने पर उसका विवाह मार्गशीर्ष शुक्ल ८, सं० १९९८ को श्रीशिवभगवान फोगला के पुत्र श्रीपरमेश्वरप्रसाद फोगला के साथ हुआ।

श्री वियोगी हरि का गोरखपुर आगमन

प्रसिद्ध गांधीवादी साहित्यकार श्रीवियोगीहरि का पौष कृष्ण ९, सं० १९८६ को गोरखपुर आगमन हुआ। पोद्दारजी उन्हें साथ लेकर भगवान बुद्धदेव के दर्शनार्थ कुशीनगर गये और उसी दिन गोरखपुर लौट आये। इसके तीन वर्ष पश्चात् भाद्र कृष्ण २, सं० १९८९ को श्रीवियोगीहरि पुनः गोरखपुर आये। इसबार उनका आगमन

एक विशेष कार्य से हुआ था और वह था 'हरिजन-सेवक' शीर्षक गांधीजी के पत्र को दिल्ली से निकालने के लिए आर्थिक व्यवस्था करना। उनकी इच्छा को ही उनका आदेश मानकर पोद्दारजी पूरी निष्ठा के साथ इस कार्य को सम्पन्न कराने में लग गये। वियोगीहरि को साथ लेकर वे कलकत्ता गये और वहाँ बिड़ला बन्धुओं से उनका सम्पर्क कराकर अपेक्षित सहायता की व्यवस्था करा दी।

कुंभ में गीता-ज्ञान-यज्ञ

सं० १९८६ के महाकुम्भ में त्रिवेणीतट पर पोद्दारजी ने गीताप्रेस को ओर से 'गीता-ज्ञान-यज्ञ' का विशाल आयोजन किया। उसके प्रबन्ध में सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका ने बड़े मनोयोग से सहायता की। इसका लक्ष्य था गीता में उपदिष्ट ज्ञान का कथा-कीर्तन-प्रवचनादि साधनों द्वारा प्रचार। पौष कृष्ण १३ को इस यज्ञ का शुभारंभ महामना मालवीयजी द्वारा हुआ। कथा-कीर्तन के निमित्त देश के प्रसिद्ध संगीतज्ञ पं० विष्णुदिगम्बरजी पलुस्कर बम्बई से पधारे थे। पं० जवाहर लालजी नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी उसमें नियमित रूप से सम्मिलित होती थीं। इसके माध्यम से पूरे एक मास तक कुम्भ में एकत्र धर्मप्राण जनता का अध्यात्मशिक्षा-पूर्ण मनोरंजन होता रहा।

गोरखपुर : प्लेग की चपेट में

इसी वर्ष (सं० १९८६) गोरखपुर में प्लेग का भयानक आक्रमण हुआ। महामारी का सर्वाधिक प्रकोप गीताप्रेस के निकटवर्ती क्षेत्र साहबगंज में था। इसके अधिकांश निवासी शहर छोड़कर दूसरी जगह चले गये। सेठ जयदयालजी गोयन्दका एवं घनश्यामदासजी जालान के परिवार के लोग कान्तिबाबू के बगीचे में चले गये थे। किन्तु वहाँ रहनेवाले एक ब्राह्मण परिवार की बस्ती से बाहर कहीं भी व्यवस्था न हो सकी। इसी बीच वह अकाल कालकवलित हो गया। उसके कुटुम्बियों ने पोद्दारजी से प्रार्थना की। पोद्दारजी ने उन्हें अपने साथ ही रखने का विचार किया; किन्तु उनके इस निर्णय पर वहाँ रहने वाले जालान-परिवार ने आपत्ति की। पोद्दारजी को इस व्यव-हार से अत्यन्त कष्ट हुआ, पर उन्होंने उनसे कुछ न कहकर स्वयं उस स्थान को छोड़ देने का संकल्प कर लिया। प्रयाग के कुम्भ से लौटकर गोरखनाथ मन्दिर के समीप एक बगीचे को किराये पर ले लिया और सपरिवार उसी में रहने लगे। यह बगीचा बहुत ही साधारण था। उसमें खपड़ैल की छोटी छोटी कोठरियाँ बनी थीं, किन्तु उस समय अर्थ-संकोच के कारण उन्होंने इस सस्ते किराये के आवास में रहना ही श्रेयस्कर समझा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का गोरखपुर अधिवेशन

फाल्गुन शुक्ल १, सं० १९८६ को अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन, गोरखपुर में हुआ। पोद्दारजी के मित्र और परिचित श्रीबनारसी

दास चतुर्वेदी, नरोत्तमजी, ठाकुर शिवमूर्ति सिंह आदि कई लोग उनके पास उस टूटे-फूटे खपड़ैल मकान में ही ठहरे। पोद्दारजी ने उनकी सेवा का भार अपने विश्वस्त सत्संगी रामजीदास बाजोरिया को सौंपा। बाजोरियाजी की निष्ठापूर्ण सेवा ने सबको मन्त्रमुग्ध कर दिया। बाद में श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी ने पोद्दारजी को लिखा, 'यदि कोई सेवा का कॉलेज खुले तो श्रीरामजीदास बाजोरिया को उसका प्रिंसिपल नियुक्त करना चाहिए।'

गीताभवन (ऋषिकेश) प्रवास

हरिद्वार से संलग्न गंगातटवर्ती तीर्थस्थल ऋषिकेश को सेठ जयदयालजी गोयंदका ने साधन-भजन तथा सत्संग का प्रधान केन्द्र बना रखा था। वे प्रति वर्ष प्रेमीजनों के साथ दो-तीन महीने केवल भजन-ध्यान-सत्संग आदि के लिए वहाँ नियमित रूप से निवास करते थे। पोद्दारजी को इसका लाभ उठाने की इच्छा हुई। इस हेतु चैत्र कृष्ण ७, सं० १९८६ को वे ऋषिकेश गये। यहाँ रहते हुए ही एक दिन सहसा इनकी भेंट विरक्त संन्यासी श्रीनारायण स्वामीजी से हो गयी। उनकी वृत्ति तथा साधनात्मक स्थिति देखकर ये अत्यन्त प्रभावित हुए। बाद में इन्होंने 'कल्याण' में इस प्रसंग की चर्चा करते हुए लिखा, ''कुछ दिनों पूर्व साधुसंग-लाभ के लिए मैं ऋषिकेश गया था। यहाँ स्वर्गाश्रम में श्रीनारायण स्वामीजी के दर्शन हुए। आप अमीर घराने में उत्पन्न एक उच्च शिक्षित पुरुष हैं। इस समय निरन्तर श्री नारायण नाम का जप करते हैं, चौबीसों घंटे मौन रहते हैं। केवल सवा दो घंटे सोते हैं। अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं रखते। कमर में एक डोरी बाँध रखी है। उसी के सहारे टाट के टुकड़े का कौपीन लगाये रहते हैं। भगवत्प्रेम की बातें होते ही आप के नेत्रों से अश्रुपात होने लगता है। इस समय आप के चेहरे पर प्रेम के जो भाव प्रकट होते हैं, वे देखने योग्य होते हैं।''

इसी प्रवास में पोद्दारजी ने 'मुनि की रेती' के समीप रहने वाले उच्चकोटि के महात्मा स्वामी श्रीशिवानन्दजी से भेंट कर सत्संग-लाभ किया।

पड़रौना का नमक-सत्याग्रह

इन्हीं दिनों गांधीजी के आह्वान् पर 'नमक सत्याग्रह' आरम्भ हुआ। पूर्वी उत्तरप्रदेश के विख्यात जनसेवी बाबा राघवदास जी ने पड़रौना (जिला देवरिया) में सत्याग्रह करने की घोषणा की। उसमें सम्मिलित होने के लिए प्रदेश के अनेक देशभक्तों के साथ पोद्दारजी को भी निमन्त्रित किया गया। इसी सम्बन्ध में वैशाख कृष्ण १, सं० १९८७ (१४ अप्रैल, १९३०) को कानपुर के दैनिक 'प्रताप' के संपादक श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी गोरखपुर आये। पोद्दारजी इस सत्याग्रह में सम्मिलित होने के उद्देश्य से उनके साथ पड़रौना गये। नेताओं के जोशीले भाषण हुए। नमक नीलाम किया गया। कार्यक्रम के सहसा आयोजित होने से पोद्दारजी गोयंदकाजी

से सत्याग्रह में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं ले सके थे। इसलिए रात में गोरखपुर लौट आये। सेठजी उस समय गोरखपुर से बाहर थे। अतः दूसरे दिन उनके पास पत्र लिखकर 'कल्याण' का कार्य किसी दूसरे को सौंपकर सत्याग्रह में जाने की स्वीकृति चाही। इस पत्र के उत्तर में वैशाख कृष्ण ७, सं० १९८७ को गोयंदका जी का भिवानी से लिखा पत्र आया। उसका विशिष्ट अंश इस प्रकार है—

"तुमने लिखा हमारे बहुत से मित्र गिरफ्तार हुए हैं, मैं सत्याग्रह में सम्मिलित होना चाहता हूँ और आपकी राय चाहता हूँ। दया करके मेरे को आज्ञा दीजिये।' उसका जवाब कल तार से इस प्रकार दिया है कि "देखो चिट्ठी, सत्याग्रह में सम्मिलित मत होओ।" वह तार तुम्हें मिला होगा।....

नमक के आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए तुमसे रूबरू ऋषिकेश में बात हो गयी थी कि तुम्हारे सम्मिलित होने से इस आन्दोलन में हमें कोई लाभ प्रतीत नहीं होता। राजनीतिक कार्यों में पड़ने से भक्ति के प्रचार में रुकावट होने की संभावना है। 'कल्याण' का कार्य भी चलना मुश्किल है।....इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से उन मनुष्यों को सहायता दे सको तो उत्तम बात है।"

सेठजी के इस स्नेहपूर्ण आग्रह के सामने पोद्दारजी को अपना विचार स्थगित करने के लिए विवश होना पड़ा।

आर्थिक स्थिति

बम्बई छूटने के साथ ही पोद्दारजी की सुख-सुविधापूर्ण जीवन-पद्धति तिरोहित हो गयी थी। गोरखपुर आने पर इनके जीवन में महान् परिवर्तन लक्षित होने लगा। रेलवे के तीसरे दर्जे में सफर करना, किसी व्यक्ति से किसी भी रूप में पैसे के लेन-देन का कोई सम्बन्ध न रखना और अत्यन्त मितव्ययिता से जीवन-यापन करना उनका स्वभाव बन गया। बम्बई में व्यापार से परिवार का खर्चा चल जाता था, यही बहुत था। अपनी कमाई का एक पैसा भी कहीं जमा होने का प्रश्न ही नहीं था। यह स्थिति देखकर एक स्नेही स्वजन ने इनकी माता और पत्नी के नाम २० हजार रुपये जमा कर दिये थे। उससे सौ रुपये मासिक ब्याज आता था। वही परिवार का संबल था। 'कल्याण'-सेवा परमार्थ के लिए थी, अर्थोपार्जन से उसका कोई प्रयोजन ही न था।

आगे चलकर इनका अपना व्रत यथापूर्व निभता रहा, किन्तु परिवार की आर्थिक समृद्धि बढ़ने से आश्रितों की जीवन-पद्धति में वैभव की झलक स्पष्ट दिखाई देने लगी। पोद्दारजी को वह पसन्द नहीं थी। उनका दृष्टिकोण था—

"शुरू-शुरू में मेरे निवासस्थान का वातावरण बहुत ही शुद्ध तथा सात्विक था।....सादगी, गौरवमयी गरीबी, शरीर को आराम तथा भोगसुख देने वाली

वस्तुओं की कभी याद भी न होने वाला सात्त्विक अभाव, सर्वथा सीमित आवश्यकता, तन-मन-वचन का अधिक समय प्रायः भगवत्सेवार्थ में ही प्रयोग होता था।

धीरे-धीरे आदमी बढ़े; उसके साथ उसकी स्वभावगत भोग-कामना आयी। बाहर से भी ऐसे लोगों का आना-जाना बढ़ा।....मन में संगदोष से आराम-वासना जाग उठी।....ज्यों-ज्यों आराम-भोग की सुलभता हुई, त्यों-त्यों आसक्ति बढ़ी, संग्रह बढ़ा और होते-होते आज तो सर्वथा घटाटोप हो गया है।....कहाँ वह साधु-जीवन और कहाँ आज का भोग-बहुल तथा भोगों की आवश्यकता से जर्जरित असाधु जीवन!"

पोद्दारजी की इन पंक्तियों में पिछले ५० वर्षों के भीतर देश के सामाजिक जीवन में विदेशी साम्राज्य एवं पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से संघटित महान् परिवर्तन का चित्र आ गया है। संत-हृदय मानव प्रकृति के सारे दोष अपने में ही देखकर अंतः-प्रक्षालन करता है। अध्यात्म-साधना में आत्म-परिष्कार की यही परंपरा-प्रसिद्ध पद्धति रही है।

'कल्याण-कल्पतरु' का आरोपण

विदेशों में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय साधना-दर्शन तथा सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रचार के लिए एक अंग्रेजी मासिक की आवश्यकता का अनुभव पोद्दारजी बहुत दिनों से कर रहे थे; किन्तु उसका कार्यभार सँभालने के लिए कोई उपयुक्त विद्वान् मिल नहीं रहा था, इसलिए वह योजना स्थगित पड़ी थी। दैवयोग से पौष शुक्ल १, सं० १९८७ को पोद्दारजी के पूर्वपरिचित बीकानेरवासी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी उनके दर्शनार्थ गोरखपुर आये। गोस्वामीजी अंग्रेजी, हिन्दी तथा संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे; उस समय वे बीकानेर राज्य में एक उच्च कर्मचारी थे, किन्तु प्रवृत्ति अध्यात्मपरक होने के कारण वहाँ उनका मन नहीं लगता था। पोद्दारजी के सौजन्य से वे बहुत प्रभावित थे। उनकी सान्निध्य-प्राप्ति गोस्वामीजी के जीवन की एक साध बन गयी थी। ईश्वर की कृपा से उसका मार्ग सहज ही निकल आया।

उन दिनों 'श्रीमद्भगवद्गीताङ्क' निकल रहा था। पोद्दारजी ने गोस्वामीजी को उसके लिए प्राप्त अंग्रेजी लेखों के हिन्दी अनुवाद का काम दिया। इस कार्य को उन्होंने अत्यन्त तत्परता और विद्वत्तापूर्ण ढंग से संपन्न किया। पोद्दारजी इससे बहुत प्रसन्न हुए; किन्तु उन्हें गोस्वामीजी को अपने पास स्थायी रूप से रखने में एक संकोच था। इसे स्पष्ट करते हुए एक दिन उन्होंने गोस्वामीजी से कहा—

'यदि आपके पिताजी यह स्वीकार करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।' गोस्वामीजी पिता की अनुमति प्राप्त करने के लिए बीकानेर लौट गये। वहाँ उन्हें किसी प्रकार से राजी किया। फिर भक्तिमती लालीमाई से पूछा। डेढ़-दो महीने तक विचार-विमर्श चलता रहा। अंत में बीकानेर राज्य की सेवावृत्ति त्याग और कुटुम्बियों की सम्मति प्राप्त कर वे सपत्नीक पोद्दारजी के पास रतनगढ़ चले आये। उस समय

पोद्दारजी वहीं थे। 'कल्याण-कल्पतरु' के लिए उपयुक्त व्यक्ति मिल गया, ऐसा अनुभव कर उन्होंने सं० १९९१ से गोस्वामीजी की देखरेख में उसका प्रकाशन प्रारंभ करा दिया। इसी समय से गोस्वामीजी 'कल्याण' के संपादकीय विभाग में स्थायी रूप से काम करने लगे।

अयोध्या एवं ब्रजयात्रा

'कल्याण' के विशेषांकों का संपादन करते हुए पोद्दारजी ने सामग्री-संकलन की एक विशेष पद्धति अपनायी और वह थी––विषय से सम्बद्ध स्थानों एवं व्यक्तियों से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करना। इसके अनुसार इन्होंने 'रामायणांक' की सामग्री जुटाने के लिए परिकरों सहित भाद्र कृष्ण १२, सं० १९८७ को अयोध्या की यात्रा की और वहाँ के तत्कालीन प्रसिद्ध संतों—पं० रामवल्लभाशरणजी, बाबा रामबालकदासजी, श्रीअंजनीनंदनशरणजी आदि से भेंट की। रामचरितमानस की 'श्रावण-कुँज' प्रति का इसी प्रसंग में अवलोकन किया। चित्रकूट भी जाने की इच्छा थी, किन्तु व्यस्तता के कारण जाना न हो सका।

इसी प्रकार 'श्रीकृष्णांक' की तैयारी के लिए चैत्र शुक्ल ९, सं० १९८८ को ब्रजभूमि का पर्यटन हुआ। साथ में परिवार के अतिरिक्त बारह-तेरह व्यक्ति और थे। अलीगढ़ में वैशाख कृष्ण १, सं० १९८८ को विशाल संकीर्तन आयोजित था। जाते समय उसमें सम्मिलित हुए। फिर वहाँ से श्रीधाम वृंदावन गये। कई दिनों तक ब्रज के महत्त्वपूर्ण तीर्थों—राधाकुण्ड, गोवर्द्धन, बरसाना, नंदग्राम, कुसुम-सरोवर, मानसी-गंगा आदि का दर्शन हुआ। लौटते समय काजिमाबाद में हरिबाबा, भोले-बाबा, अच्युतमुनि तथा उड़ियाबाबा से भेंट और कई सत्संग-सभाओं में प्रवचन का आयोजन हुआ।

स्वामी विशुद्धानंद का दर्शन

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के गुरु योगिराज परमहंस विशुद्धानंद की उन दिनों आध्यात्मिक जगत् में बड़ी ख्याति थी। इससे आकृष्ट होकर पोद्दारजी उनके दर्शनार्थ चैत्र कृष्ण १, सं० १९८८ को काशी गये। उसी दिन स्वामीजी के दर्शन हुए। सत्संग के समय इन्हें परमहंसजी के नेत्रों में श्रीभगवान् के दर्शन हुए। साथ में और लोग भी थे, किन्तु उनको यह दृश्यलाभ न हो सका। स्वामीजी 'गंधीबाबा' के नाम से जाने जाते थे। वे समागत श्रद्धालुओं के इच्छानुसार उनका हाथ स्पर्श कर उसमें मन-चाही सुगंध पैदा कर देते थे। पोद्दारजी को उस विलक्षण गंध का भी प्रसाद प्राप्त हुआ।

देवदास गांधी की सँभाल

सं० १९८८ के आरंभ में महात्मा गांधीजी के पुत्र श्रीदेवदास गांधी गोरखपुर-सेण्ट्रल जेल में नमक सत्याग्रह में प्राप्त सजा के दिन काट रहे थे। उस समय गांधीजी स्वयं

यरवदा जेल में बंद थे। संयोगवश देवदासजी जेल में ही सख्त बीमार हो गये। इसका पता गांधीजी को चला। उन्होंने पोद्दारजी को एक पत्र लिखा, जिसमें देवदास को नित्य जेल में देखकर सँभालते रहने का निर्देश था। पोद्दारजी ने इसका विवरण देते हुए बताया—

"देवदास यहाँ जेल में थे और गांधीजी यरवदा जेल में। गांधीजी ने मुझको तार दिया था कि तुम संभालते रहना। एक बार उन्होंने तार दिया था कि तुम रोज मिलो। उन दिनों जेलर ही जेल के सुपरिंटेंडेंट भी होते थे। श्रीराव थे उस समय। उन्होंने कहा, 'देखिये, गांधीजी इतने बड़े आदमी हैं, पर पुत्र-स्नेह कितना है! वे जानते हैं कि रोज मिलने की अनुमति हम नहीं दे सकते। डी० आई० जी० से अनुमति लेनी पड़ेगी। पर आप तो रोज मिलते ही हैं।' मैं देवदास को देखने नित्य जाता था। गांधीजी ने लिखा 'तुम वहाँ हो तो मैं निश्चिंत हूँ।"

पोद्दारजी को नित्य देवदास गांधी से जेल में मिलते देखकर गीताप्रेस-न्यास के सदस्य भयभीत हो गये। एक दिन उनमें से एक सज्जन ने कहा—'तुम बार-बार जाते हो, यह उचित है क्या?' इससे पोद्दारजी रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए, मिलने का क्रम चलता रहा और ये देवदासजी की चिकित्सा, पथ्य आदि का यथोचित प्रबन्ध करते रहे।

आषाढ़ शुक्ल ७ को देवदासजी को गोरखपुर जेल से रिहाई का आदेश मिल गया। पोद्दारजी उन्हें साथ लेकर उसी दिन काशी पहुँचाने चले गये।

सतीशचन्द्र बनर्जी का साक्षात्कार

'कल्याण-कल्पतरु' के संयुक्त संपादक श्रीकृष्णदास बंगाली काशी के लब्धप्रतिष्ठ साधक श्रीसतीशचन्द्र बनर्जी के शिष्य थे। उनके मुख से पोद्दारजी ने इनके जीवन की अनेक अलौकिक गाथाएँ सुनीं थीं। सतीश बाबू के गुरु बंगाल के सिद्ध पुरुष श्री विजय-कृष्ण गोस्वामी थे। एक दिन श्रीकृष्णदास की प्रेरणा से ये सतीशबाबू से मिलने काशी गये। इन्होंने अध्यात्म-चर्चा के प्रसंग में पोद्दारजी को 'शक्ति-संचार' की एक स्वानुभूत घटना सुनायी—"अपने गुरुदेव श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी के पास जाने की पाँच वर्ष से इच्छा करता था। मैं उस समय कलकत्ते में रहकर वकालत करता था, पर उनके पास गया नहीं। इधर वे मुझे खींच रहे थे, किन्तु मुझे इसका भान नहीं हुआ। एक दिन रात को उन्होंने स्वप्न में आकर मुझसे कहा—'कल १० बजे तुमको आना पड़ेगा।' ठीक उसी समय मुझको वहाँ जाना पड़ा और उनके सामने आधे घंटे मात्र रहा। इस बीच उन्होंने मुझमें ऐसा शक्तिसंचार किया कि उसी समय से मेरे जीवन में अद्भुत परिवर्तन हो गया। अब वे संसार में नहीं हैं। किन्तु मुझे समय-समय पर सशरीर दर्शन देकर अनेक बातों का आदेश देते हैं। मैं ईश्वर को नहीं मानता हूँ, किन्तु मेरे गुरुदेव कहते हैं—'ईश्वर है' बस, इसीलिए मैं ईश्वर को मानता हूँ।"

रतनगढ़ प्रवास

शिमलापाल के अज्ञातवास के समय से पोद्दारजी एकांतप्रिय हो गये थे। आत्मोन्नति के लिए ये इसकी उपादेयता स्वीकार करते थे। इनका दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य की लौकिक हो या पारमार्थिक, सभी प्रकार की उन्नति का मूल है— संकल्पशक्ति। उसका उपार्जन एकांत-साधना से ही संभव है। एक बार इन्होंने कहा था—"दस वर्ष तक एक हजार आदमियों के सामने लगातार व्याख्यान देने से जितना काम नहीं हो सकता है, उतना काम भगवत्कृपा के बल से एक दिन में शुभ-संकल्प से हो सकता है। परन्तु ऐसी शक्ति प्राप्त करने के लिए साधन करने की अत्यंत आवश्यकता है। एकांत में रहकर साधन करने से ऐसी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। मैं यहाँ आया था, तभी से एकांत में रहने की इच्छा बनी हुई है।"

भगवत्कृपा से इन्होंने इसके लिए अवसर निकाल ही लिया। आश्विन कृष्ण ३, सं० १९८९ को अपने मित्र सेठ लच्छीरामजी चूड़ीवाला के निमंत्रण पर लक्ष्मणगढ़ गये। वहाँ ऋषिकुल संचालनार्थ एक धर्मार्थ-न्यास की स्थापना होने वाली थी। उसी की व्यवस्था-विषयक परामर्श के लिए ये बुलाये गये थे। इस निमित्त इन्होंने कुछ दिनों तक चूरू ऋषिकुल में निवास किया। फिर वहाँ से रतनगढ़ चले आये।

रतनगढ़ में कुछ दिन बाहर रहने का संकल्प हो गया था, अतः 'कल्याण' के संपादकीय विभाग को भी रतनगढ़ बुला लिया। साथ ही परिवार भी आ गया।

रतनगढ़ में पोद्दारजी जिस प्रकार के एकांत स्थान की खोज में थे, स्टेशन के समीपस्थ मोतीराम भरतिया की ढाणी उसके अनुरूप दिखाई दी। यह स्थान नगर से करीब डेढ़ मील दूर था। सभी दृष्टियों से उपयुक्त समझ कर यहीं आसन लगा। 'कल्याण' का संपादन-कार्य और व्यक्तिगत-साधना, साथ-साथ चलने लगी।

इन्हीं दिनों (सं० १९८९) गांधीजी ने अस्पृश्यता के प्रश्न को लेकर यरवदा जेल में आमरण अनशन किया। पोद्दारजी ने प्राचीन सम्बन्ध-भावना से उनकी प्राण-रक्षा की भगवान् से सकाम प्रार्थना की। गांधीजी की प्राणरक्षा हो, यह चाहते हुए भी जिस सिद्धांत को लेकर वे प्राण-विसर्जन को उद्यत हुए थे, ये उससे सहमत नहीं थे। इसका पता इनके तत्कालीन पत्रों से चलता है, जिनमें इन्होंने स्पष्ट रूप में गांधीजी द्वारा अस्पृश्यता-निवारण के लिए अपनाये गये साधनों की खुलकर आलोचना की है और उसे राष्ट्रीय जीवन में सद्भावना के विकास में बाधक माना है।

पोद्दारजी रतनगढ़ में ही थे कि गीताप्रेस के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। 'कल्याण' का सारा काम-काज एकबारगी ठप हो गया। व्यवस्था से सम्बद्ध लोग समझौते का कोई मार्ग निकाल नहीं सके। ऐसी स्थिति में समाधान निकालने के लिए उन्होंने पोद्दारजी से सम्पर्क स्थापित किया और उनसे गोरखपुर आकर

समस्या सुलझाने की प्रार्थना की। पोद्दारजी की उपरामता यथावत थी और वे अध्यात्म-साधना में लगे हुए थे। इस परिस्थिति में उन्होंने गोरखपुर आना स्वीकार नहीं किया, किन्तु अपने एक पत्र में कर्मचारियों तथा प्रबन्धकों के पथ-निर्देश के लिए सात बातें लिख भेजीं। पीछे उनके आधार पर समझौता हो गया, किन्तु आपसी मनमुटाव चलता रहा। इससे माघ कृष्ण २, सं० १९९० को श्रीगौरीशंकर द्विवेदी के नेतृत्व में कर्मचारियों ने पुनः हड़ताल कर दी।

कलकत्ता में शल्य-चिकित्सा

रतनगढ़ के इस प्रवासकाल में ही पोद्दारजी बीमार हो गये। अंडकोष के भीषण दर्द से व्याकुलता इतनी बढ़ गयी कि दैनिक पूजा-कार्य में भी बाधा पड़ने लगी। रतनगढ़ में चिकित्सा हुई, किन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। डाक्टरों ने कलकत्ता जाने की सलाह दी। तुरंत तैयारी हुई और ये माघ शुक्ल १०, को कलकत्ता पहुँच गये। वहाँ अपने पुराने मित्र श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया के यहाँ शिवपुर में ठहरे। ऑपरेशन की व्यवस्था हुई। वह सकुशल सम्पन्न हुआ। पोद्दारजी का यह नियम था कि किसी भी बीमारी से शैय्याग्रस्त होने पर ये अपनी भावनानुकूल 'रासपंचाध्यायी' का पाठ सुनते थे। इसबार भी उसका प्रबन्ध किया गया। श्रीमोहन-लाल गोयन्दका पूरे चिकित्साकाल में नियमित रूप से इन्हें उसका पाठ सुनाते रहे। कलकत्ता में इस ब्याज से डेढ़ महीना वास करके गोहाटी होते हुए चैत्र कृष्ण १३, सं० १९८९ को पोद्दारजी गोरखपुर लौट आये।

बिहार के भूकम्प में सहायता

माघ सं० १९९० में बिहार का प्रलयंकारी भूकम्प आया। उससे प्रभावित क्षेत्र के निवासियों की आर्त स्थिति से सारा देश चिंतामग्न हो गया। पोद्दारजी ने भूकम्प-पीड़ितों की सक्रिय सहायता का संकल्प कर माघ शुक्ल ९, सं० १९९० को एक सेवा-दल बिहार भेजा। उसके साथ वे स्वयं भी सेवाकार्य के संचालनार्थ जाना चाहते थे, किन्तु अस्वस्थता के कारण उन्हें यह विचार त्याग देना पड़ा।

हरिबाबा के बाँध-महोत्सव में

फाल्गुन कृष्ण ७, सं १९९० (६/२/३४) को हरिबाबा[१] (स्वामी स्वतः-

---

१. हरिबाबा :

हरिबाबा का जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले में हुआ था। बाल्यकाल से ही आप प्रेमदेव के उपासक थे। जब आप कॉलेज में अध्ययन करते थे, तभी आप के सहपाठियों को आप के परम हृदयवान् होने का परिचय मिल गया था।

आपका जन्म कलाल कुल में हुआ था। पंजाब में कलाल नाम की एक जाति है। वे लोग शराब का काम नहीं करते, व्यापार करके अपना निर्वाह करते हैं और अपने को वैश्य कहते हैं। आपके पिता एक मध्यवित्त गृहस्थ थे। आप के ज्येष्ठ भ्राता पंजाब में अच्छे पद

प्रकाश) गोरखपुर आये। पोद्दारजी ने उनका अपूर्व आदर-सत्कार किया। हरिबाबा ने उनसे बाँधके उत्सव में पधारने का अनुरोध किया। उत्सव का आयोजन फाल्गुन

पर कार्य करते थे। कॉलेज छोड़ने के बाद आप के घरवालों की सम्मति हुई कि आप डाक्टरी पढ़ें। इसलिए आप मेडिकल कॉलेज में भरती हुए, किन्तु विधि का विधान और ही था। आप डाक्टरी की पुस्तकों को फेंकफाँक कर काशी की ओर चल दिये और वहाँ अपने कपड़े रंगकर संन्यासी हो गये। इनके पूर्वाश्रम के गुरुजी ने सुना तो कहा—'तुम स्वतः ही प्रकाशित हुए हो, अतः तुम्हारा नाम स्वतः-प्रकाश हुआ।' तब से आप का नाम 'स्वतःप्रकाश' हुआ।

इनमें दरिद्रों का दुःख दूर करने की प्रवृत्ति पहले से ही थी तथा भगवन्नाम में अखण्ड विश्वास आरम्भ से ही था। किन्तु उस समय कीर्तन नहीं करते थे। गंगाजी के किनारे-किनारे विचरते रहते थे और साधु-महात्माओं का सत्संग करते थे। उन दिनों मेरिया में बंगाली बाबा नाम के एक प्रसिद्ध महात्मा निवास करते थे। उनके ही यहाँ लाला कुन्दनलालजी और उनके भतीजे से इनका परिचय हुआ। लाला कुन्दनलालजी के भतीजे बहुत बड़े साधुभक्त, सज्जन पुरुष थे। वे अंगरेजी पढ़े-लिखे महात्माओं पर विशेष श्रद्धा रखते थे। अतः वे इन्हें अपने गाँव लिवा ले गये और अपने बगीचे में इन्हें बड़ सत्कार के साथ ठहराया। वहाँ रहकर सत्संगियों के साथ कथावार्ता और सत्संग करने लगे।

महाराज दौलतरामजी (श्रीअच्युतमुनिजी) के पास ये चिरकाल तक रहे। उन्हीं के साथ एक बार आप दक्षिण की ओर गये। वहाँ माधवराव सप्रे और अन्य भगवत्भक्तों को आप ने कीर्तन करते देखा। आप उनके कीर्तन सुनकर मूर्च्छित हो गये और उसी दिन से आप ने कीर्तन करना आरम्भ कर दिया।

गाँवों में आप अधिक रहते थे। अतः पास के गाँवों में जाकर कीर्तन का प्रचार करने लगे। कीर्तन के द्वारा आप ने बड़े बड़े संकट दूर किये हैं। गवें के प्रसिद्ध रईस लाला कुन्दन-लालजी के पौत्र श्रीरामेश्वरजी की असाध्य बीमारी इन्होंने अखण्ड कीर्तन से दूर की।

गंवे गाँव खादर में है। खादर में उधर बहुत से गाँव बसे हुए हैं। जब गंगाजी बढ़ती थीं तो उधर के सैकड़ों गाँव नष्ट हो जाते थे। जब लोगों का यह दुःख इनसे देखा नहीं गया तो इन्होंने सोचा कि गंगाजी का बाँध बँधना चाहिए। काम बहुत बड़ा था, पर महाराजजी ने भगवान के भरोसे काम आरम्भ कर दिया। एक दिन गाँव वालों को खबर कर दी कि अमुक दिन सब आदमी इकट्ठे हो गंगाजी का बाँध बाँधेंगे। नियत तिथि पर बहुत से गाँव के लोग इकट्ठे हुए। महाराज उन सबके साथ स्वयं फावड़ा और छबड़िया लेकर मिट्टी डालने लगे और लोगों से कहा—"भाई, जिसे इस धर्म-कार्य में सहायता देनी हो, दे।" सभी ग्रामीण लोग इस पुण्य कार्य में साथ देने लगे। पहले तो लोगों ने इसे पागलपन समझा, पर स्वामीजी ने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया। नित्य प्रति गाँवों में सैकड़ों आदमियों की टोलियाँ आतीं और कीर्तन करती हुई मिट्टी डालतीं। महाराज दिन-रात मिट्टी डालते। देखते-देखते बहुत-सा बांध बँध गया। तब लोगों की आँख खुली। फिर सभी लोग मदद करने लगे। किसी ने रुपये से मदद की, किसी ने सवारी प्रदान की, किसी ने कंकड़ों से सहायता की। लोग स्वामीजी के पास अपनी मनःकामना की पूर्ति के लिए आते और महाराजजी सबको बाँध के लिए सहायता करने

शुक्ल १, से पूर्णिमा तक था। फाल्गुन शुक्ल १२, सं० १९९० को पोद्दारजी परिकरों के साथ बाँध के उत्सव में गये। वहाँ अनेक महात्माओं से भेंट हुई। उड़ियाबाबा, नागाबाबा, श्री जयरामदास 'दीन', कृष्णानन्दजी बंगाली, स्वामी श्रीशिवानन्द, भोलेबाबा, प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, आनन्दजी ब्रह्मचारी आदि अनेक प्रसिद्ध संत-महात्मा इस उत्सव में पधारे थे।

इस अवसर पर फाल्गुन शुक्ल १३, १९९० को ब्राह्ममुहूर्त में साढ़े चार बजे आयोजित कीर्तन में पोद्दारजी सम्मिलित हुए। उस समारोह में चैत्र कृष्ण १, सं० १९९० तक उपस्थित होकर चैत्र कृष्ण ३, १९९० को लखनऊ होते हुए गोरखपुर वापस आ गये।

के लिए कहते। इस प्रकार बड़े-बड़े लोग, रईस घरों की स्त्रियाँ अपने सिर पर छबरा रखकर मिट्टी ढोने लगीं। उस सम्य का दृश्य बड़ा हृदयग्राही था, जब बड़े बड़े घरों की स्त्रियाँ मिट्टी का कतना लेकर बाँध पर मिट्टी डालने जातीं। बड़े बड़े रईस तहसीलदार, डिप्टी कलक्टर महाराज के दर्शन के लिए आते और सबको वे मिट्टी डालने के लिए कहते।

उस समय उनका पराक्रम, उत्साह, तेज, कार्य-पटुता, लगन, परिश्रम देखते ही बनता था। दिन रात में केवल दो तीन घण्टे ही सोते थे। अच्छे-अच्छे पहलवान थक जाते थे, किन्तु स्वामीजी को किसी ने थकते नहीं देखा। आप का अटूट परिश्रम देखकर सभी दंग रह गये। अब तो बड़े-बड़े रईस बाँध की मदद करने लगे। जब बांध आधे के लगभग बँध गया तो आप लाला कुन्दनलालजी, लाला जानकीप्रसादजी तथा और भी दस बीस रईसों को लेकर बाहर चन्दा करने निकले। आपके प्रभाव के कारण चन्दा होने में देर नहीं हुई और थोड़े ही दिनों में कई लाख रुपया चन्दा हो गया। लाला कुन्दनलाल, लाला जानकीप्रसाद, ठा० गिरवर सिंह तथा अन्य सभी रईसों ने महाराज को चंदा कराने में बड़ी सहायता पहुँचायी। लगभग एक साल में आठ नौ मील का बाँध बँधकर तैयार हुआ। फिर तो सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया और आगे का छः सात मील बाँध सरकार ने बँधवा दिया।

तब से स्वामीजी का स्थान बाँध ही बन गया। वहाँ कुटिया, कीर्तन भवन, भोजनालय, तथा दस पाँच और कुटिया बन गयीं। महाराज होली, दीवाली, दशहरा, रामनवमी आदि त्योहारों पर उत्सव करते थे। बाँध पर स्थायी रूप से निवास करते देख कुछ लोग कहते थे कि महाराज को बाँध से मोह हो गया है। पर ऐसी बात नहीं थी। लगतार बीस वर्षों तक अथक परिश्रम करके महाराज ने उस भूमि को भगवन्नाम का पानी दे देकर जोतने बोने योग्य बनाया। उनकी इच्छा थी कि इसमें भगवन्नाम का अंकुर उत्पन्न हो। उनकी एकमात्र यही इच्छा थी कि सभी हरि के रंग में रंग जायँ।

महाराज कीर्तन के अंत में 'हरिबोल-हरिबोल' कहा करते थे। इसी कारण उनका नाम हरिबाबा पड़ गया। सभी लोग आप को हरिबाबा कहते।

हरिबाबा के निरन्तर साथ रहने वालों का कथन है कि उन्होंने आजतक किसी मनुष्य की बुराई नहीं की। जहाँ कोई किसी की बुराई करता भी तो या तो वे उसे बन्द कर देते या आप वहाँ से कहीं अन्यत्र चले जाते। आपका स्वभाव बड़ा सरल था। शांति की आप साक्षात मूर्ति थे।

एकांतवास का ज्वार

इस प्रकार साधना तथा धार्मिक आयोजनों में अपने को निरंतर व्यस्त रखते हुए भी पोद्दारजी का मन किसी शांत स्थान में स्थायी रूप से रहने को ललकता रहता था। परिस्थितियों के शिकंजे तड़फड़ाने पर कुछ ढीले हो जाते, उस अवकाश में दस-पाँच दिन या दो-तीन महीना बाहर जाकर गमगलत करते, किन्तु 'कल्याण'-संपादन की प्रतिबद्धता इन्हें फिर गोरखपुर खींच लाती। यह क्रम निरंतर चलता रहा। बार-बार ये गोयंदकाजी से इस दायित्व से मुक्त करने की प्रार्थना करते, किन्तु हर बार एक ही उत्तर आता—'भय्या ! 'कल्याण' कैसे चलेगा ? 'कल्याण' और गीताप्रेस की सेवा ही ईश्वर-सेवा है।' कुछ प्रेमियों को लगा कि गोरखपुर में पोद्दार जी का मन न रमने का कारण कदाचित् आवास-व्यवस्था की परेशानी हो। इसलिए उन्होंने सेठजी से कहकर इनके लिए शाहपुर में एक विशाल बगीचा खरीदवा दिया। उसी में निवास तथा संपादकीय-विभाग रखने की योजना बनी। यह घटना सं० १९९१ की है। पोद्दारजी को जब इसका पता लगा तो उन्होंने इस का विरोध करते हुए एक पत्र गोयंदकाजी के पास बांकुड़ा भेजा।[1] इस समय 'शक्तिअंक' की तैयारी हो रही थी। पोद्दारजी ने उसे प्रकाशित कर स्थायी रूप से गोरखपुर छोड़ने का निश्चय कर लिया।

गोयंदकाजी ने उस पत्र के उत्तर में लिखा—"यदि 'कल्याण' का काम कमजोर करने की तुम्हारी इच्छा हो तो वैसे ही कर सकते हो। तुम्हारी राय में ही हमारी राय है। सुना है कि तुम्हारा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता, सो शायद उस बगीचे में जाने से ठीक रह सकता है। स्वास्थ्य सुधारने की तो जब इच्छा हो, तभी जा सकते हो।"

---

१. श्री हरि:

परमपूज्य, गोरखपुर, द्वितीय वैशाख शु० १४

श्रीचरणों में सादर प्रणाम। सं० १९९१

मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर उसका भी निर्णय जल्दी हो जाय तो अच्छा है। आपकी आज्ञा मिल जाय तो मैं श्रावण के बाद कहीं चला जाना चाहता हूँ। अभी कोई भी निश्चय नहीं कर सकता हूँ। आपके सामने तो मैं अत्यंत ढीठ और हठी होने पर भी संकोचवश कुछ कह नहीं सकता। परन्तु वस्तुतः मैंने जो प्रार्थनाएँ की हैं, उन सबकी स्वीकृति देने के लिए करबद्ध प्रार्थना करता हूँ। पत्र न पहुँचा हो या याद न हो, इसलिए पुनः लिख देता हूँ—

१. गोरखपुर से बाहर कहीं रहना। २. 'कल्याण' के संपादन में अपना नाम न रखना, ३. व्याख्यान न देना, ४. कमेटी का संचालन न करना, ५. प्रबंध-संबंधी किसी काम में राय न देना।

आपका ही,
हनुमान

इन दिनों उद्विग्नता के कारण पोद्दारजी का स्वास्थ्य ढीला हो गया था। शिर में पीड़ा, पैरों में दर्द तथा मन में निरंतर बेचैनी रहने से 'कल्याण'-संपादन और साधन-भजन सभी कार्यों में बाधा होने लगी। इसी के आसपास गोरखपुर में सं० १९९१ की भीषण बाढ़ आयी। लोकपीड़ा के आगे अपनी वेदना काफूर हो गयी—बाढ़-सहायता-कार्य में सर्वात्मना संलग्न हो गये।

इसके कुछ ही दिनों बाद सेठजी ने पोद्दारजी के निवास के लिए नये बगीचे में मकान बनवा दिया। उसमें संपादकीय कार्यालय और कर्मचारियों के रहने के लिए भी स्थान की व्यवस्था हो गयी। अतः बाबू बालमुकुन्ददास के बगीचे को छोड़कर पोद्दारजी वैशाख शुक्ल १५, सं० १९९२ को वाटिका के नये भवन में आ गये।

इसी समय श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी (सम्प्रति स्वामी अखण्डानन्द) 'कल्याण' के लेख पढ़कर पोद्दारजी से मिलने आये। यह प्रसंग ज्येष्ठ सं० १९९१ का है। उन्होंने पहला प्रश्न पोद्दारजी से किया "भगवान से प्रेम कैसे हो ?" पोद्दारजी ने उन्हें गले लगा लिया और बोले—**"उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥"** द्विवेदीजी पोद्दारजी के स्नेहपूर्ण-व्यवहार से आप्यायित हो गये। पहली बार वे अधिक दिनों तक नहीं ठहरे। इसके दो वर्ष बाद सं० १९९३ में वे पुनः गोरखपुर आये। इस यात्रा का निमित्त बना संकीर्तन-समारोह। इस बार पोद्दारजी से उनका दीर्घकाल तक सम्पर्क रहा। उससे प्रभावित होकर उन्होंने जीवन का शेषांश भगवदर्पित करने का संकल्प ले लिया और संन्यास ग्रहण कर परमार्थचर्या में लग गये। स्वामी अखण्डानन्द, उनके इस विरक्त वेश की संज्ञा हुई।

भगवन्नाम-प्रचार की दूसरी योजना

इन्हीं दिनों पोद्दारजी ने भगवन्नाम के प्रचारार्थ एक और योजना बनायी। इनकी यह मान्यता थी कि भगवन्नाम ही कलिग्रस्त जीवों के उद्धार का सर्वसुलभ तथा सर्वोत्कृष्ट साधन है। अतएव संकीर्तन-प्रेमी श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी से पत्र-व्यवहार करके इन्होंने झूसी में भगवन्नाम-संकीर्तन का आयोजन किया। भाद्र कृष्ण १४, सं० १९९२ को पोद्दारजी अपने परिकरों के साथ उस कीर्तन में सम्मिलित हुए। यह आयोजन भाद्र शुक्ल ४, तक बड़ी धूमधाम से चला। पोद्दारजी को इसकी सफलतापूर्वक समाप्ति से अपार आत्मतुष्टि हुई।

एक वर्ष का अखण्ड संकीर्तन

कीर्तन और आर्तसेवा पोद्दारजी के आध्यात्मिक विकास के प्रमुख सोपान रहे हैं। हरिबाबा तथा राघवदासजी द्वारा आयोजित संकीर्तनों में भाग लेने के पश्चात् उनकी इस विषय में रुचि और बढ़ गयी। इसके फलस्वरूप सं० १९९३ में इन्होंने गोरखपुर में एकवर्ष-व्यापी संकीर्तन-समारोह का आयोजन किया। इसके मुख्य संचालक हुए झूँसी के श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी।

संकीर्तन महायज्ञ आषाढ़ शुक्ल ११, सं० १९९३ को प्रारंभ हुआ। बाहर से भी कीर्तन मंडलियाँ बुलवायी गयीं। साधकों के लिए अलग कुटियाँ निर्मित हुईं। साधना के नियम बनाये गये। स्वामी एकरसानन्द, स्वामी नारदानन्द, स्वामी शुकदेवानन्द, स्वामी भजनानन्द, नागाबाबा, स्वामी अखण्डानन्द, श्रीदीनजी रामायणी आदि महात्माओं की उपस्थिति से यह यज्ञ बहुत ही सफल रहा।

पं० जवाहरलाल नेहरू का आगमन

कीर्तन समारोह चल ही रहा था कि गोरखपुर और उसके आसपास भीषण बाढ़ आयी। पोद्दारजी ने इस समारोह को निर्विघ्न चलाते हुए भी बाढ़-पीड़ितों की सहायता में प्रचुर धन व्यय कर विपद्ग्रस्त जनता की सेवा की। इसी बाढ़ के निरीक्षणार्थ पं० जवाहरलाल नेहरू का गोरखपुर आगमन हुआ। वे गीतावाटिका के उस पंडाल में भी गये, जहाँ संकीर्तन का पुरोगम चल रहा था।

गोरखपुर से जवाहरलालजी को एक सभा में सम्मिलित होने के लिए बरहज जाना था, सवारी के प्रबन्ध की समस्या पोद्दारजी ने किस प्रकार सुलझायी, इसका एक संस्मरण, उन्हीं के शब्दों में नीचे दिया जाता है—

'नेहरूजी कीर्तन के समय आये थे। उस समय ऐसा हुआ कि उनको जाना था बरहज मीटिंग में। ट्रेन छूट गयी। तब यहाँ मोटरें अधिक नहीं थीं। अंग्रेजी शासन था। यहाँ के अंग्रेज कलक्टर बड़े कड़े थे। इसलिए मोटर मिली नहीं उनको। बाबा राघवदासजी मेरे पास आये कि 'भाईजी, मोटर नहीं मिल रही है और इज्जत जा रही है।' मेरे पास मोटर थी। मैंने कहा—'ले जाइये'। पंडितजी बरहज उससे गये और वहाँ से लौटकर यहाँ आये थे। कई वर्षों बाद उन्होंने पत्र लिखा था, 'मुझे याद है कि आपके यहाँ गया था, चाय पी थी।' फिर उसी रात को रामप्रसादजी यहाँ पर आये थे। वे सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर थे और यहाँ आते रहते थे। उन्होंने कहा कि 'भाईजी, आज हमने आपका नाम नोट कर लिया।' मैंने कहा, 'कैसे ?' तो उन्होंने कहा कि 'आज आपने पंडितजी को मोटर दे दी।' मैंने कहा, 'वह तो खुली चीज थी, चोरी की कोई चीज तो थी नहीं। नाम लिख लिया तो क्या और नहीं लिख लिया तो क्या ?' उस समय सब नेता हमारे पास ठहरते थे, लेकिन हमको कभी किसी कलक्टर ने टोका तक नहीं कि आपके यहाँ ये लोग क्यों आते हैं ?, क्यों ठहरते हैं ?, क्या बात है ? उनके पीछे सी० आई० डी० आती थी, लेकिन हमसे किसी ने कुछ कहा नहीं। उन्हें विश्वास था कि ये राजनीतिक आदमी नहीं हैं, प्रेम से सबको ठहराते हैं।

बाढ़ में सहायता

श्रावण सं० १९९३ में गोरखपुर के आसपास पुनः भयंकर बाढ़ आयी। सारा क्षेत्र तबाह हो गया, गाँव-के-गाँव जलमग्न हो गये। पोद्दारजी का मन पहले से ही

अभावग्रस्त जनता के कष्ट से चीत्कार कर उठा। उस समय 'वेदान्तांक' का सम्पादन-कार्य चल रहा था। उसके साथ ही गीतावाटिका में अखण्ड-संकीर्तन का कार्यक्रम भी गतिशील था। इन व्यस्तताओं के बावजूद पोद्दारजो ने गीताप्रेस से एक सेवादल प्रचुर खाद्य तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री के साथ प्रभावित क्षेत्र में भेजा। उसके माध्यम से प्रतिदिन छः हजार व्यक्तियों को अन्न-वस्त्रादि की सहायता दी जाती थी। इस कार्य में करीब साठ हजार रुपये व्यय हुए। पोद्दारजी की इस निःस्वार्थ सेवा से प्रसन्न होकर गोरखपुर के तत्कालीन कलक्टर ने उन्हें 'रायबहादुर' की उपाधि से सम्मानित करवाना चाहा, पर इन्होंने उसे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया।

गीताप्रेस का कर्मचारी-आन्दोलन

गीताप्रेस की स्थापना धार्मिक ग्रंथों के शुद्ध तथा सस्ते संस्करण निकालकर लोकमानस में आध्यात्मिक अभिरुचि जाग्रत करने के लिए हुई थी। सेठ जयदयालजी गोयन्दका की व्यावसायिक बुद्धि और पोद्दारजी की सारस्वत साधना के मणिकांचन संयोग से इस योजना में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। कुछ ही वर्षों में 'कल्याण' तथा गीताप्रेस की सर्वोपयोगी धार्मिक पुस्तकों की चारों ओर धूम मच गयी। लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता था कि जिस मूल्य पर गीताप्रेस के प्रकाशन बिकते हैं, बाजार भाव से उतने में अलग से न तो उनका कागज खरीदा जा सकता है, न छपाई हो सकती है और न जिल्दबन्दी ही। पुस्तकों के इस सस्तेपन के पीछे गीताप्रेस के कर्मचारियों की अपूर्व त्याग भावना, अखण्ड श्रम तथा असामान्य दक्षता का योगदान प्रमुख था। आरम्भ में कई वर्षों तक उनका यह उत्साह अनवरत रूप से कार्य को आगे बढ़ाता रहा, किन्तु शनैः-शनैः कठोर यथार्थ भावना पर हावी होने लगा। कर्म-चारियों को अथक परिश्रम करने के बाद भी उदरपूर्ति में कठिनाई का सामना करना पड़ता था। वे यह अनुभव करने लगे कि गीताप्रेस के प्रकाशनों का सस्तापन एक ओर उसके व्यवस्थापकों के त्याग और धर्मशीलता का दिगदिगन्त में कीर्ति-विस्तार करता है, किन्तु दूसरी ओर उनके उत्पादक मजदूरों तथा कर्मचारियों को निरन्तर भुखमरी के कगार पर रहने के लिए विवश करता है। नगर के साम्यवादी तथा समाजवादी तत्त्वों ने इस असंतोष को अपनी विचारधारा के विकास का माध्यम बनाया। मजदूर-संघ बना और माँगों की एक लम्बी सूची मालिकों के सामने पेश कर दी गयी। आन्दोलन का नेतृत्व गौरीशंकर द्विवेदी ने किया। यह वह समय था जब पोद्दारजी रतनगढ़ में एकान्तवास कर रहे थे। उनकी अनुपस्थिति में कर्म-चारियों ने नेताओं के प्रोत्साहन एवं मदद से जुलूस निकालकर सभाएँ कीं, जिनमें प्रेस की शोषण नीति के विरुद्ध जोरदार भाषण किये गये। प्रेस के व्यवस्थापकों ने प्रतिक्रियास्वरूप आन्दोलनकारियों के विरुद्ध अनुशासन-भंग का अभियोग लगाकर कड़ी कार्यवाही की। फलतः जिन कर्मचारियों ने आन्दोलन में सक्रिय सहयोग दिया, उनकी

सेवाएँ समाप्त कर दी गयीं; किन्तु आन्दोलन दबाया न जा सका। प्रेस की इस दशा की सूचना पोद्दारजी को दी गयी। पोद्दारजी कर्मचारियों को अधिक सुविधा देकर समझौते के पक्षपाती थे। उन्होंने प्रेस की प्रबन्ध-व्यवस्था के एक वरिष्ठ सदस्य श्रीगंगाप्रसाद को पत्र लिखा, जिसमें स्थिति की गम्भीरता का उल्लेख करते हुए समयोचित निर्णय लेने की सलाह दी गयी थी—

रतनगढ़ (बीकानेर)
आश्विन शु० ११/९४

प्रिय श्रीगंगाप्रसादजी,

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। श्रीसत्यनारायणजी की बात लिखी सो ठीक है। श्रीगौरी-शंकरजी के बाबत लिखा, सो सब पढ़ा। इस समय देश में कांग्रेसी सरकार का जोर है, जो देश के लिए आर्थिक दृष्टि से बहुत अच्छा है। ऐसी हालत में मजदूर और किसानों की शक्ति बढ़ना स्वाभाविक ही है। हमलोग भी तो गरीबों और दबे हुए लोगों को सुख-शान्ति में देखना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में कर्मचारियों की ओर से कोई कुछ कहे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है और यह ख्याल रखना चाहिए कि जमाने की रफ्तार देखते अभी मजदूर और किसान-युग ही आने वाला है, जो गरीबों के दुखों को किसी अंश में दूर करने वाला होगा। यद्यपि द्वेष और हिंसा के भावों से प्राप्त हुई मजदूरों और किसानों की उन्नति ठहरेगी नहीं। उसको नये, सुन्दर, सबके लिए लाभदायक रूप में परिणत होना पड़ेगा, तभी जगत् में सुख-शान्ति होगी। तथापि प्रतिक्रिया के रूप में एकबार मजदूर और किसानों का युग आना अनिवार्य-सा हो गया है। हमलोग तो अपनी जान में किसी गरीब के प्रति बुरा बर्ताव करना भी नहीं चाहते, जहाँतक बनता है, उनकी सेवा ही करना चाहते हैं। परन्तु और भी ख्याल रखना चाहिए, जिसमें दूसरों को कुछ कहने का अवसर-ही नहीं मिले। यह सत्य है कि कहनेवाले तो फिर भी कहेंगे, दोष देखनेवाले सदा ही दोष देखेंगे, परन्तु उनकी परवाह न करके भगवान के सामने हमें सच्चा बने रहना चाहिए और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें अपनी संस्था गरीब कार्यकर्ताओं को सुविधा देने में अच्छी-अच्छी राष्ट्रीय संस्थाओं से भी बढ़कर समझी जाय और सबको इसका अनुकरण करना पड़े। मैं तो बहुत पहले से चाहता था कि मजदूर-किसानों के नेताओं को बुलाकर उनसे बातचीत करके उन लोगों के परामर्शानुसार कर्मचारियों की सुविधा की सब व्यवस्था कर दी जाय। आवश्यक हो तो महात्मा गांधीजी और महामना श्रीमालवीयजी की भी सलाह ले ली जाय, जिसमें अपनी संस्था सर्वप्रथम गरीबों की संस्था मानी जाय; परन्तु मुझे अपने उद्देश्य की सिद्धि होती दिखाई नहीं दी, इसी से मैं चुप था और चुप हूँ। परन्तु मेरा हृदय तो गरीबों के साथ है। मेरी स्कीम प्रायः असफल ही हो गयी,

इसीसे मैंने करीब ३ वर्ष हो गये होंगे, अपनी लिखित स्कीम को फाड़ डाला था। आप, श्री बजरंगलाल, पंडित लादूराम जी, श्रीशुकदेवजी मिलकर परस्पर बातचीत कर लें। किसी के धमकाने-डराने से डरने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है, परन्तु गरीबों की अधिक-से-अधिक सुविधा का ख्याल करके ऐसी आदर्श-व्यवस्था करने का प्रयत्न सर्वप्रथम गीताप्रेस को करना चाहिए, जिसका अनुकरण सबलोगों को करना पड़े और गरीबों की सहानुभूति प्रेस से बढ़ जाय। इसमें प्रेस के पारमार्थिक उद्देश्य की भी सिद्धि होगी और लौकिक बाधाएँ भी बहुत कुछ हटेंगी। किसी के बाध्य कर देने पर, कहने-सुनने पर या रुख देखकर करने की अपेक्षा अपनी ओर से चेष्टा करके पहले ही एक कदम आगे बढ़ जाना बहुत अच्छी नीति है। पुस्तकों के दाम सस्ते रखकर गरीबों को कम देने की जरूरत नहीं है। प्रेस में काम करनेवाले गरीबों का पेट पहले भरना चाहिए। उनको यह मालूम हो जाना चाहिए कि हमें यहाँ जो-कुछ मिलता है, जितनी सुविधाएँ प्राप्त हैं, उतना कहीं भी नहीं मिलता और उतनी सुविधा और कहीं भी नहीं है। स्वयं अपनी ओर से प्रस्ताव करके मजदूर और किसान नेताओं की सलाह के अनुसार व्यवस्था करने में जो बात है, वह और तरह से करने में नहीं है। गौरीशंकरजी की बात दूसरी है, उनसे कुछ डरना नहीं है; वे तो द्वेषवश कर रहे हैं, उनको मैं मजदूर नेता नहीं मानता। श्रीसंपूर्णानन्दजी, श्रीनरेन्द्रदेवजी, राजारामजी शास्त्री, टंडनजी आदि की सलाह और सम्मति इन विषयों में बहुत काम की हो सकती है। ये सब बातें मैंने प्रसंगवश लिख दी हैं। आपलोग हमलोगों की राय बिना कुछ कर भी नहीं सकते, यह भी मैं जानता हूँ। खैर।

आपका—

हनुमान

पोद्दारजी द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर नीति-परिवर्तन के लिए राजी न होने से प्रेस के न्यासीगण विवाद को समाप्त करने में सफल नहीं हो सके। उन्होंने इसके लिए फिर पोद्दारजी की शरण ली। अतः इच्छा न रहते हुए भी उन्हें मध्यस्थता के लिए आना पड़ा, क्योंकि वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन पर कर्मचारियों का अटूट विश्वास था। वैशाख कृष्ण १३, सं० १९९५ को वे गोरखपुर आये तथा नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया। उनके व्यक्तित्व के प्रभाव एवं चेष्टा से आन्दोलन वापस ले लिया गया। जिन लोगों ने प्रेस छोड़ दिया था, वे बड़ी लज्जा के साथ पोद्दारजी से क्षमा माँगने आये। पोद्दारजी ने अपने मृदुल व्यवहार से सबको आप्यायित किया—कर्मचारियों की जहाँतक बनी, सहायता की। किसी को प्रेस वालों से कहकर और किसी को अपने विशेषाधिकार से पुनः काम पर रखवा दिया। जिन्हें नहीं रखा जा सका, उनको यथासंभव व्यक्तिगत रूप से आर्थिक सहायता दी। पोद्दारजी ने कहा—"मेरा वश चलता तो मैं सभी कर्मचारियों को रख लेता, किन्तु प्रेसवाले मेरी बात नहीं मानते हैं।" व्यवस्था से सम्बद्ध कुछ व्यक्तियों की धारणा थी कि पोद्दारजी के

साधुस्वभाव का लोग अनुचित लाभ उठाते हैं, पर इन का कहना था, "यह समझना सरासर भूल है। जिसको जो-कुछ मिलता है, वह अपने प्रारब्ध से मिलता है।" उनलोगों के लिए चुप होने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था।

आन्दोलन-समाप्ति के बाद गीताप्रेस के ट्रस्टियों ने स्वामी चक्रधर (राधा-बाबा) को 'कल्याण' का व्यवस्थापक बनाने का प्रस्ताव रखा। उनलोगों का विचार था कि बाबा कर्मचारियों तथा व्यवस्थापकों के बीच संतुलन बनाये रखने में सफल हो सकेंगे। बाबा 'कल्याण' के सम्पादन में पहले से ही यथोचित सहयोग दे रहे थे। नया दायित्व स्वीकार करने पर उनकी आध्यात्मिक-प्रगति में अवरोध उत्पन्न हो जायगा— इस विचार से पोद्दारजी ने उक्त प्रस्ताव पर अपनी सहमति नहीं दी। बाबाजी तो इस प्रकार के कार्यों से पहले से ही प्रकृत्या उदासीन थे। अतः वह स्वतः निरस्त हो गया।

पोद्दारजी के हृदय में कर्मचारियों के प्रति अपार करुणा थी। उनकी स्थिति से वे भलीभाँति परिचित थे। वे चाहते थे कि गीताप्रेस के कर्मचारियों को कम-से-कम इतना वेतन तो अवश्य मिले, जिससे वे जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। गीताप्रेस से प्रकाशित पुस्तकों एवं 'कल्याण' का मूल्य वे कर्मचारियों को भूखा रखकर कम नहीं रखना चाहते थे। उनका मत था, 'कल्याण' आध्यात्मिकता का सन्देशवाहक है, सबको सुखी एवं संतुष्ट रखने का उसका सिद्धान्त है। अपने ही घर में सिद्धान्त एवं व्यवहार में वैषम्य नहीं होना चाहिए। उनका कहना था कि पुस्तकों एवं 'कल्याण' के मूल्य में थोड़ी वृद्धि करने पर यदि कर्मचारियों को जीवन-निर्वाह भर वेतन मिल जाता है तो इसमें कोई हर्ज नहीं है। धार्मिकता के नामपर जबरन त्याग के वे विरोधी थे। अपने इस मंतव्य से ट्रस्टियों को बराबर अवगत कराते रहते थे। इस आशय का उनका एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"प्रिय भाईजी श्रीहरिकृष्णदासजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

आपका तार तथा पत्र मिला। इसी हेतु से बहुत दिनों बाद आपका पत्र मिला। इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। आपने बड़े शुद्ध तथा आत्मीयतापूर्ण भाव से सावधान किया और सत्परामर्श दिया, इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। आप सदा से ही मुझे अपनी अच्छी सम्मति से लाभ पहुँचाते रहे हैं। आपके शुद्ध भाव, विचार, स्पष्टवादिता एवं सहज हितकामना के प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है और मैं सदा ही आपका कृतज्ञ हूँ।

आपके इस पत्र से मुझे जहाँ आपकी विशुद्ध सद्भावना के लिए, प्रीति के लिए प्रसन्नता हुई, वहाँ दुःख तो नहीं हुआ, पर इस बात पर आश्चर्य अवश्य हुआ कि आप-सरीखे सूक्ष्मबुद्धि पुरुष ने शायद गम्भीर-विचार किये बिना ही इसे धर्म-विरुद्ध कैसे बता दिया ? धनसंग्रह की चेष्टा होती तो आपका कहना ठीक था, पर इसमें

संग्रह या लोभ की कोई कल्पना ही नहीं है। यह तो प्रेस के सिद्धान्तानुकूल उसका प्रचार-कार्य चलता रहे, इसकी व्यवस्था का प्रश्न है और मेरी समझ से धर्म है।

मैं यह नहीं कहता कि मेरा प्रभु के महत्त्व पर विश्वास है, और अभिमान से मुक्त हूँ, मुझमें तो निश्चित ही बहुत से दोष भरे हैं, बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ हैं। यह मैं बार-बार मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर चुका हूँ और अब भी कर रहा हूँ। और इस सम्बन्ध में तो यदि कोई भी दोष है तो वह सर्वथा मेरा है—उसे चाहे धन का लोभ समझा जाय, अभिमान माना जाय या प्रभुपर अविश्वास।

'कल्याण' की मूल्यवृद्धि: समाधान

'कल्याण' के तथा पुस्तकों के मूल्य बढ़ाने का प्रस्ताव मेरा ही है और वह आजका नहीं, बहुत पुराना है। लिखित रूप में भी कई बार मीटिंग में पेश हो चुका है और पूज्य श्रीसेठजी के चरणों में भी कारणों सहित निवेदन किया जा चुका है। गीता-प्रेस तथा 'कल्याण' का लक्ष्य निश्चय ही धन कमाना या संग्रह करना नहीं है और न होना ही चाहिए। इसीलिए केवल धन कमाने के कार्यों का मैं विरोध भी करता रहा हूँ। सत्साहित्य का प्रचार अवश्य उद्देश्य है और वह यथासाध्य सस्ते मूल्यपर ही होना चाहिए। गीताप्रेस तथा 'कल्याण' के कर्मचारियों को मेरी दृष्टि से सदा से ही कम वेतन मिलता रहा है, भले ही वह छोटे प्रेसों से या साधारण दूकानदारों से कुछ ज्यादा रहा हो। मैं चाहता था और चाहता हूँ कि प्रेस का प्रत्येक कर्मचारी सपरिवार पेट भरने योग्य वेतन प्राप्त करे। सस्ता सत्साहित्य-प्रचार निश्चय ही उद्देश्य है, पर उस सत्साहित्य के प्रचार में सहायक गरीब कार्यकर्ताओं का पेट भरना भी तो उद्देश्य होना चाहिए। उनके बलात् त्याग के मूल्य पर प्रचार करना कितना धर्मसंगत है, यह भी विचारणीय है।

इसके लिए मैं बारबार कहता रहा किंतु मुझे उत्तर मिलता रहा—'प्रेस में जितनी गुंजाइश है, उतना दिया जाता है।' यद्यपि इससे मुझे सन्तोष न होता, क्योंकि मैं समझता था कि गुंजाइश ज्यादा की जा सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझमें दया विशेष है, पर मेरा ऐसा मन बना है। मैंने गत बार बहुत जोर दिया, तब यह कहा गया कि प्रेस में सब मिलाकर घाटा नहीं है। कागज एजेंसियों में लाभ है। जब घाटा हो तब बात उठानी चाहिए। मैंने कहा—मैं मूल्य बढ़ाना नहीं चाहता, हमलोग किसी भी प्रकार न्याय-व्यवस्था करके मूल्य कम रख सकें तो वही वांछनीय है। पर मूल्य कम रखने के नामपर उनके अभाव की पूर्ति न हो, यह उचित नहीं है। हम चाहे चन्दा ही करें। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि उनको कुछ अधिक मिले। हम यदि बाढ़-पीड़ित, अकाल-पीड़ित, महंगी-पीड़ित लोगों के लिए चन्दा स्वीकार करते हैं तो प्रेस के गरीब कार्य-कर्ताओं के लिए, जिनपर भी बाढ़, अकाल, मंहगी का असर होता ही है, चन्दा लें तो क्या बुरी बात है? चन्दा न लें, और प्रेस में रिजर्व फण्ड हो तो उसमें से दें, और कोई

व्यवस्था सोचें, पर उनका पेट काटकर सस्ते बेचने का पुण्य न कमायें। मेरे इस कथन पर उपस्थित सज्जन हँस पड़े थे। मानो वे मेरा समर्थन कर रहे थे। अस्तु।

मेरा अनुमान था कि पहले जैसा कागज-एजेंसियों में नफा नहीं है, आगे तो शायद और भी न हो। सरकारी टैक्स-ड्यूटियाँ बढ़ ही रही हैं, बढ़ेंगी। महंगी बढ़ती जा रही है। अतएव प्रेस कर्मचारियों को भी देखना होगा। इससे मैंने कुछ समय पूर्व फिर मूल्य बढ़ाने की चर्चा उठायी। उस समय हिसाब देखा नहीं था। मैंने 'कल्याण' का मूल्य बढ़ाने की बात कही, तब एक सज्जन ने कहा, आठ आने बढ़ाये जायँ। 'पर बात वहीं रह गयी। अनुमान इतने घाटे का था नहीं। अतः 'कल्याण' के दो अंकों में ७॥) की ही सूचना निकाल दी गयी। मैंने पुनः बात उठायी और तार का एक मजमून लिखकर श्रीमोहनलालजी पटवारी और श्रीरामदास से पूछकर तार देने का अनुरोध किया। श्रीमोहनलालजी ने तो स्वीकृति दे दी, पर श्रीरामदास ने इन्कार कर दिया। तब मैंने एकबार उसे स्थगित कर दिया। फिर जब श्री बिहारीबाबू और मोतीबाबू आये, तब मैंने फिर बात चलायी और उपस्थित लोगों की सम्मति लेकर तार दिये गये। यह हिसाब का कुछ पता लगने पर किया गया। 'कल्याण' में घाटा, प्रेस में घाटा, 'गोविन्द भवन' में घाटा, ऋषिकुल में घाटा—सब मिलाकर इतना घाटा कि कागज-एजेंसियों की आमदनी से उसकी आंशिक पूर्ति ही होगी। आप यह जानते हैं कि प्रेस के पास नकद पूँजी नहीं है। प्रायः सारी पूँजी मकान-मशीन-सामान आदि में लगी है। काम चलाने के लिए रनिंग पूँजी अधिकांशतः लोगों की रकम है। कई लाख रुपये लोगों के जमा हैं, कई लाख बैंक से लिये हुए हैं। अब यदि प्रतिवर्ष एक-दो या तीन लाख रुपयों का घाटा रहेगा, कागज-एजेंसियाँ नफा देंगी नहीं या बहुत कम देंगी, तो घाटे के रुपये कहाँ से आयेंगे ? या तो उधार मिले तो और लें एवं घाटा देकर ऋण बढ़ाते रहें या मकान-मशीन आदि बेचें अथवा काम बंद कर दें। रुपये बिल्कुल मत बढ़ाइये, नफा मत कीजिये, एक पैसा भी संग्रह मत कीजिये; परन्तु कागज खरीदेंगे, उसका मूल्य देना ही पड़ेगा। अन्य सामान के भी दाम देने पड़ेंगे। सरकारी ड्यूटियाँ भी देनी पड़ेंगी।

महंगी के कारण सरकारी आदेश होंगे तो मजदूरी भी बढ़ानी पड़ेगी। किसी चीज का लागत दाम पड़ेगा एक रुपया और आप उसे बेचेंगे दस आने में तो छः आने कहाँ से आयेंगे ? प्रेसवाले काम चलायेंगे कैसे ? कहाँ से रुपये लायेंगे ? क्योंकि उनके पास पूँजी है नहीं। लगेंगे ज्यादा, आयेंगे कम; रोज का यह घाटा कैसे भरेगा ?

ईश्वर पर विश्वास की बात एकदम सत्य है, पर व्यावहारिक जगत् में शुद्ध व्यवहार के अनुकूल चेष्टा करना भी तो धर्म है। स्वयं भगवान् अर्जुन से बराबर 'युध्यस्व', 'युध्यस्व' कहते हैं। 'कर्म समाचर'—कर्म का भलीभाँति आचरण करने की आज्ञा देते हैं, कर्म बिगाड़ने की नहीं। अतः यदि राज्य के लोभ से नहीं, ममता-कामना से नहीं, भगवान् की आज्ञा से उस समय का धर्म मानकर युद्ध करना धर्म-

विरुद्ध नहीं है, तो एक रुपया खर्च करके एक रुपया वसूल करना अधर्म क्यों है ? पूँजी ही बाँटिये, चन्दा लेकर बाँटिये । घाटा तो भरना ही पड़ेगा ।

पहले भी दाम बढ़ाये गये थे । शायद सन् १९४२ में कागज के दाम बढ़े थे, उस समय मैं अजमेर गया हुआ था । पूज्य श्रीसेठजी ने ५० प्रतिशत दाम छोटी-से-बड़ी तक सभी पुस्तकों में बढ़ा दिये थे । मुझे ऐसा ही याद है । फिर जब कागज की कीमत घटी, तब घटा दिये गये । 'महाभारतांक' का मूल्य ५) था, नहीं पोसाया तो १०) कर दिया गया । बड़ी रामायण के पाँच थे, साढ़े सात किये गये । लागत कीमत कम हो, तब चाहे जब मूल्य घटाया जा सकता है । जिस समय कागज के दाम १० पैसे थे, उस समय गीता के दाम १० पैसे थे । दूसरे खर्च भी बहुत कम थे । अब कागज के दाम शायद ग्यारह-बारह आने हैं, और सब चीजों की कीमत भी बढ़ी है । पर गीता के वही १० पैसे हैं । एक गीता को रखिये, पर अन्य पुस्तकों की लागत के दाम क्यों न लिये ज यँ और गीता आदि का घाटा अन्य पुस्तकों से क्यों न निकाला जाय ?

दो अंकों में 'कल्याण' के मूल्य ७-५० रु० की सूचना निकल गयी है । यह ठीक है । और यह विचार की बात भी है । मेरे मन में यह बात आयी थी । पर उस समय हिसाब देखा नहीं था । बहुत कम घाटे का अनुमान था । हिसाब देखने पर अधिक घाटे का पता लगा । जिस समय सूचना छपी थी, उस समय की विचार की स्थिति के अनुसार यही बात ठीक थी । हिसाब देखने पर विचार की स्थिति बदली । यह बात स्पष्ट समझाकर लिख दी जाती तो मेरी समझ से न तो वह असत्य थी, न धर्म-विरुद्ध ही । खैर, श्रीबद्रीदासजी और श्रीहरिरामजी के तार दाम बढ़ाने की स्वीकृति में आ गये, पर मैंने तो आपकी सम्मति के अनुसार 'कल्याण' के इस बार दाम बढ़ाने का संकल्प छोड़ दिया है और इस सम्बन्ध में जो-कुछ लिखा था, उसे भी फाड़ डाला है । यह पत्र तो स्पष्टीकरण के लिए लिख रहा हूँ ।

मेरी समझ से कर्मचारियों के पेट भरने की व्यवस्था होनी चाहिए । अत्यधिक महँगी है । वे भी हम जैसे ही आदमी हैं । खाने को पूरा अन्न नहीं, ओढ़ने-पहनने को पूरे कपड़े नहीं, बच्चों को दूध नहीं, रोगियों को दवा नहीं, इस ओर ध्यान न देना मेरी समझ से अधर्म है । इसकी पूर्ति कैसे हो ? अभी तो हम इन्हें जो कुछ दे रहे हैं अथवा बाध्य होकर देना पड़ता है या पड़ेगा, उसी की पूरी व्यवस्था नहीं है । यदि पुस्तकों से कुछ पैसे लेकर इन्हें दिये जायँ, तो वह अधर्म तो नहीं होगा । इनकी ओर न देखना और कष्ट पानेवालों से त्याग की आशा रखना कहाँ तक उचित है ? यह विचारणीय है ।

ऑफिस के कर्मचारी—जो अपने ही जैसे हैं—अवश्य गरीब हैं । ऐसे मकानों में रहते हैं, जो कभी भी गिर सकते हैं, गन्दे और असुविधापूर्ण तो हैं ही । मैं उनके मकान में गतवर्ष गया था, तभी से मुझे चिन्ता है । मैंने उनके लिए क्वार्टर बनाने

का आश्वासन दे दिया था। नक्शा बन गया है। ये क्वार्टर बनने ही चाहिए। प्रेस के पास गुंजाइश नहीं होगी, तो रुपयों की व्यवस्था हो जायगी। क्वार्टर प्रेस के रहेंगे और नियमानुसार शर्तनामा लिखवा कर ही किराये पर कर्मचारियों को दिये जायेंगे।

प्रेस में जो रुपये जमा हैं, उनमें बहुत से विधवा बहनों के और संस्थाओं के हैं, जो कम ब्याज पर हैं। हमलोग बैंक को जो ब्याज देते हैं, उससे भी कहीं कम है। वे बेचारे गरीब और कहीं रख नहीं सकते। पर उनको कम ब्याज देना मेरी समझ से अधर्म है—शायद स्तेय भी। उन्हें ज्यादा ब्याज देना चाहिए। इस समय बड़े आदमियों का ब्याज १रु० सैकड़ा है। अधिक ब्याज के लिए अथवा जरूरत पड़ने पर वे लोग यदि सब रुपये उठाना चाहेंगे तो प्रेसवाले उनको तुरन्त रुपये लौटा सकें, इसकी व्यवस्था भी होनी चाहिए। साथ ही हर साल के घाटे की पूर्ति की व्यवस्था भी होनी चाहिए। नहीं तो प्रेसवाले कैसे क्या करें, यह उन्हें बताना चाहिए। पैसे न हों, काम रुके तो क्या करना है, यह भी सोचने की बात है ही। केवल सिद्धान्त से काम नहीं चलेगा। न सबलोग विश्वासी मिलेंगे। साथ ही यह भी सोचना है कि पुस्तकों और 'कल्याण' की लागत का मूल्य न लेने के कारण कर्मचारियों को कष्ट हो, जो कुछ प्रचार-कार्य हो रहा है, वह भी रुक जाय तो उस समय क्या करना धर्म-संगत होगा। कोई व्यवस्था तो सोचनी ही पड़ेगी।

मैंने बहुत लम्बा पत्र लिख दिया, क्षमा चाहता हूँ। मेरा तो स्वयं यहाँ मन नहीं लगता। शरीर रुग्ण रहता है। मन अत्यधिक एकान्त चाहता है। यह भी पता नहीं, शरीर कब चला जाय। यहाँ आपस में कलह बढ़ रहा है। अविद्या के बेटे अहंकार का प्राबल्य है। उसके अगले परिणाम राग-द्वेष-अभिनिवेश भी होंगे ही।

मेरे लिखने का आप कोई भी दूसरा भाव न समझें.........। आपके शब्दों का हृदय से आदर करते हुए ही मैंने स्थिति को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। अनुचित के लिए पुनः क्षमाप्रार्थी हूँ। आप स्वस्थ होंगे। विवाह का कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो गया होगा।

भाई मोहन, परमेश्वर तथा सबसे सस्नेह यथा-योग्य।

आपका भाई—
हनुमान

रतनगढ़ का पुनः प्रवास

'कल्याण'-सम्पादन तथा जनसेवा के अन्य कार्यों का संचालन करते हुए भी पोद्दारजी का मन सांसारिक कार्यों से अलग होकर एकान्त-सेवन के लिए निरंतर व्यग्र रहता था। इधर गीताप्रेस की स्थिति तथा ट्रस्टियों के आपसी मत-वैभिन्य से विरक्ति और भी बढ़ गयी। अतएव एकांत-सेवन के निमित्त इन्होंने रतनगढ़ जाने का पुरोगम

बनाया। अपने एक स्वजन को इस बीच लिखे गये एक पत्र में उनकी मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब मिलता है—

गोरखपुर,
श्रावण शु० ३, १९९४

प्रिय भाई....,

सप्रेम हरिस्मरण।

तुम्हारे सब पत्र मिल गये। रात को तार मिला, उसका जवाब सवेरे दिया है।....अभी तो रतनगढ़ जाने की ही बात है। सम्भवतः अगले शनिवार तक जाना हो। यद्यपि रतनगढ़ जाने में गोरखपुर से जाने का मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। मैं तो बिलकुल एकांत में चार-छः महीना सर्वथा-अकेला रहना चाहता था, परन्तु पूज्य माँजी वगैरह भी मुझको अकेला नहीं छोड़ना चाहतीं और मेरे कामकाज के साथी लोगों को भी रखना आवश्यक-सा हो गया। पहली बात तो यह है कि पास रहने से सारा काम मेरी देख-रेख में होता है, दूसरे उन सबकी यहाँ छोड़ जाऊँ तो कुछ का तो मन लगना कठिन मालूम होता है और कुछ लोगों के पास मेरी अनुपस्थिति में कोई काम ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में उनको साथ रखना ही जरूरीं हो गया। मुझे काम-काज से और यहाँ रहने से कोई अड़चन नहीं है, न प्रतिकूल मालूम होता है और न कोई विषाद या द्वेष ही होता है। जबतक जो काम करता हूँ, लगन से जिम्मेवार आदमी की तरह ही करता हूँ और लीलामय का संकेत समझकर ऐसा करने में प्रसन्नता ही होती है। इतना होने पर भी जो काम से भागने का मन करता है, इसमें प्रधान कारण 'निवृत्तिपरक प्रकृति' ही मालूम पड़ती है। यह बात नयी नहीं है। जबसे होस सम्भाला, तभी से नाना प्रकार के व्यावहारिक सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में रहते हुए भी इस 'निवृत्तिपरक प्रकृति' की धारा निरन्तर समान रूप से चित्त में बहती देखी गयी है। किन्तु आश्चर्य यह है कि शिमलापाल के पौने दो वर्ष को छोड़कर शेष सारा जीवन रहा है प्रवृत्तिमय ही। उस पौने दो साल में भी प्रवृत्ति का अभाव नहीं रहा है, तथापि चित्त तो निवृत्ति की ओर ही ताकता रहा। संभव है, पूर्वजन्म में कोई त्यागी संन्यासी रहा होऊँ। मैं बहुत दिनों से लक्ष्य करता हूँ। गेरुआ वस्त्र, कमण्डलु, कौपीन आदि अपने कपड़े और पात्र-से लगते हैं। नदी, तीर्थ और संन्यासियों की छोटी-छोटी वन की कुटियाएँ घर-सा मालूम होती हैं। संग्रह की अपेक्षा त्याग में सुख मिलता है, बल्कि संग्रह का तो ध्यान ही नहीं रहता। घर की चीज जो कोई ले जाता है या किसी को दे दी जाती है, तो अच्छा लगता है। अकेले में बिना किसी से बोले-चाले पड़े रहने में अनुकूलता मालूम होती है। भीड़-भाड़ से चित्त भागता है। कोई पास न आये, कोई न मिले, किसी से बोलना न पड़े, कोई नयी बात जानने में न आवे, ऐसी इच्छा-सी रहती है। इसी प्रकृति के कारण साल में दो-चार बार बड़े जोरों से काम-काज छोड़ कर चुपचाप

अलग रहने की प्रबल भावना होती है, फिर दब जाती है। दुःख किसी हालत में नहीं मालूम होता। इस बार इसी भावना से अलग जाने का मन हुआ था। स्वास्थ्यादि की बात तो गौण है। परन्तु यह भावना सफल नहीं होती दिखाई देती। अवश्य संन्यास ग्रहण करने की इच्छा बिल्कुल नहीं है, परन्तु संन्यासी की तरह रहने का मन जरूर होता है, घरवालों को साथ रखकर ही। पता नहीं उनमें मोह है या इसमें भी कोई पूर्वजन्म का रहस्य है। हाँ, इनको साथ रखकर भी इनसे अलग की तरह रहने की इच्छा रहती है। यह चित्त की स्थिति है। परन्तु इसी निश्चय पर बुद्धि स्थित रहती है कि भगवान् को जो-कुछ कराना होगा, वे करायेंगे। कराना है, सो कराते हैं। यह जो बार-बार ऐसी भावना होती है, यह भी उनके कराये होती है और भावना के अनुसार कार्य नहीं होता, यह भी उन्हीं के कराये नहीं होता। अशुभ वासना हो तो दूसरी वात थी, ऐसा मानना तब तो कठिन होता। परन्तु उनकी दया से—उन्हीं के कराये अशुभ वासना नहीं रही है, इससे अशुभ वासना नहीं होती। अब इस देह में जितने दिन उन्हें जैसे अच्छा लगे, नचाएँ। मैं क्यों एतराज करू ? इस 'मैं' को भी वे हर लें तो अच्छा है। बस, वे ही इसके प्रेरक और अधिष्ठाता तथा स्वामी हो जायँ। वे ही इसके 'स्व'-रूप हो जायँ। जड़ कठपुतली की भाँति अहंकार-शून्य ('मैं' से रहित) मैं उनके नचाये नाचा करूँ! वे चाहेंगे तो यह भी होगा और वे तो चाहते ही हैं यह 'मैं' ही करना नहीं चाहता, इसी से विलम्ब हो रहा है। पता नहीं इस शरीर का कितना जल्दी नाश हो जाय और नाश तो होगा ही, दो दिन आगे या पीछे, इससे जल्दी ही यह 'मैं' मर जाय, तो अच्छा है।

तुम्हारा
हनुमान

निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार श्रावण शुक्ल ९, सं० १९९४ को सम्पादकीय विभाग के सदस्यों सहित पोद्दारजी रतनगढ़ के लिए रवाना हो गये। सहयोगियों में से सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी, शान्तनुबिहारी द्विवेदी (स्वामी अखण्डानन्द), भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', कृष्णदासजी बंगाली, पं० देवधर शर्मा, दौलतराम ताम्बी, दुलीचन्द दुजारी, धीरेन बाबू, पं० गोवर्धन शर्मा आदि उनके साथ गये।

पोद्दारजी के इस रतनगढ़-प्रवासकाल के बीच गोरखपुर में गीताजयंती के उपलक्ष्य में आयोजित जुलूस पर मुसलमानों द्वारा पथराव किया गया। इस घटना ने साम्प्रदायिक तनाव का रूप ले लिया। समस्या सुलझाने के लिए श्रद्धालुओं ने पोद्दारजी को गोरखपुर बुलाने का सुझाव दिया, किन्तु साधना में लीन रहने के कारण उन्होंने इस झमेले में पड़ने से इनकार कर दिया।

इन्हीं दिनों 'कल्याण' के भावी विशेषांक के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका रतनगढ़ गये। इसके पूर्व 'भागवतांक' निकालने का पोद्दारजी का प्रस्ताव सेठजी ने किसी कारणवश स्वीकार नहीं किया था। उसके स्थान पर पोद्दारजी ने सेठजी के इच्छानुसार 'साधनांक' निकालने की योजना बनायी और पूरी निष्ठा से कार्य कर बड़ी सफलता के साथ प्रकाशित किया। सेठजीने अबकी बार पोद्दारजी द्वारा पूर्व प्रस्तावित 'भागवतांक' निकालने का प्रस्ताव स्वयं किया और पोद्दारजी से बड़े ही करुण स्वर में 'कल्याण' को अपनी सेवाओं से वंचित न कर रतनगढ़ से गोरखपुर चलने का अनुरोध किया। पोद्दारजी ने अग्रज का मन रखने के लिए इसे स्वीकार कर लिया और वैशाख शुक्ल ५, सं० १९९८ को सहयोगियों सहित रतनगढ़ से गोरखपुर के लिए रवाना हो गये।

शरीर-साधना

पोद्दारजी भावलोक के प्राणी रहे हैं, यह सर्वविदित है। वे कायायोगी भी थे, इस पर कितने लोग विश्वास करेंगे ? किन्तु यह एक तथ्य था। भाव-साधना के साथ ही उन्होंने कठोर शरीर-साधना भी की थी। इसके परिचय के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

सं० १९९५ में राजस्थान में भयंकर अकाल पड़ा। पोद्दारजी श्री राधेबाबा के साथ, सेठ जयदयाल गोयन्दका जी से सहायता-कार्य-विषयक आवश्यक सलाह के लिए गोरखपुर से बाँकुड़ा गये। वहाँ से सीधे राजस्थान के लिए गाड़ी से चले। पूस का महीना था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। पोद्दारजी ने देखा, बाबा को जाड़ा लग रहा है। अतः अपने सारे ओढ़ने उनके ऊपर एक-एक करके डालते गये। भार का अनुभव कर बाबा की आखें खुल गयीं। पोद्दारजी को ओढ़ना-रहित देखकर वे आश्चर्य में पड़ गये। बोले—'आप !' पोद्दारजी ने उत्तर दिया—'आप मुझको क्या समझते हैं ? मुझे जाड़ा लगेगा ? मेरा साधन किया हुआ है। इसी क्षण मैं जाड़े का द्रष्टा बन जाऊँ और फिर मुझे जाड़े का बिल्कुल भान भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार गोरख-पुर में गरमी के दिनों में काम करते हुए मेरे शरीर में तड़-तड़ पसीना आता रहता है, लेकिन इससे मेरे काम में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती, न पंखे की जरूरत पड़ती है, न ठंडी हवा की।' यह सुनकर बाबा बोले—'भाईजी ! जाड़े का भान नहीं है, यह ठीक है, किन्तु तज्जनित असर के कारण बीमारी तो हो ही सकती है।' पोद्दारजी का उत्तर था, 'वह भी नहीं हो सकती।' बाबाजी मुसकराये। इसके बाद कहते ही क्या ?

दादरी में एकांतवास

सं० १९९६ में 'गीतातत्त्वांक' निकालने के बाद पोद्दारजी की उपरामता पुनः सक्रिय हुई। 'कल्याण' के सम्पादन से मन उचट गया और वे धीरे-धीरे उससे अलग होने की तैयारी में लग गये। लेखन-सम्पादन से मन बिलकुल विरक्त हो गया

था। दिनभर कार्यालय में बैठे रहते। काम में मन नहीं लगता। अतएव गोरखपुर से अलग जाकर किसी एकांत-स्थान में रहने का संकल्प कर लिया। इसी बीच भाद्र कृष्ण ३, सं० १९९६ (१ सितम्बर १९३७) को द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। इसलिए सेठजी ने पोद्दारजी को २०-२५ दिन और रोक लिया। राधाष्टमी निकट थी, उसका उत्सव धूमधाम से मनाया गया। इसके बाद सेठजी से लगभग ३ महीने के लिए दादरीवास की अनुमति लेकर भाद्र शुक्ल १२, सं० १९९६ को दादरी के लिए प्रस्थान किया।

दादरी हरियाणा प्रान्त में एक छोटा रेलवे स्टेशन है। यहाँ डालमिया परिवार की सीमेन्ट फैक्ट्री है। डालमियाजी की बाल्यावस्था से ही पोद्दारजी पर अनन्य श्रद्धा रही है। इनकी उपरामता देखकर उन्होंने अनुरोध करके ही दादरी-वास की व्यवस्था की थी। इस विचार से कि यहाँ के एकांत-जीवन से उन्हें शान्ति मिलेगी। पोद्दारजी के लिए एक पृथक् बँगला दिया गया। यहाँ एकान्तसेवन की पर्याप्त सुविधा प्राप्त हुई। अहर्निश भगवच्चिन्तन, प्रायः मौनव्रतावलम्बन, छः घण्टे एकान्त-सेवन—यहाँ की दिनचर्या थी। पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी को लिखे गये निम्नांकित पत्र से दादरी में पोद्दारजी की दिनचर्या तथा मनःस्थिति का पता लगता है—

डालमिया दादरी,
आश्विन कृष्ण ९, सं० १९९६

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। यहाँ की सब व्यवस्था दुलीचन्द के एक पत्र में लिख चुका हूँ। स्वास्थ्य कुछ अच्छा मालूम होता है। उस दर्द के अतिरिक्त और कोई शिकायत यहाँ नहीं मालूम होती। भोजनादि की व्यवस्था बहुत ठीक है। वे लोग, जहाँ तक उनसे बनता है, मेरी पूरी सँभाल रखते हैं। दूध गोरखपुर की अपेक्षा यहाँ कुछ घटा दिया है। प्रातःकाल भोजन के समय मट्ठा भी लेता हूँ। दिल्ली से फल मँगवाये जाते हैं, जिनमें मैं अँगूर और मौसमी का रस लेता हूँ। अभी जयदेव के बगल वाले बंगले में ही हूँ। दुजारीजी अभी यहाँ हैं। मेरी बहुत सेवा-सँभाल करना चाहते हैं, करते हैं। उनके रहने से मुझे शारीरिक आराम भी है। परन्तु उनका यहाँ रहना मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं पहले जानता भी नहीं था कि वे यहाँ रहने के लिए चल रहे हैं। मैंने तो सोचा था और मुझसे यही कहा गया था कि ये 'देश' जा रहे हैं। एक दिन तो मैंने रुखाई के साथ भी उन्हें कहा, परन्तु फिर उन्हें बहुत दुःखी होता देखकर निर्णय उन्हीं पर छोड़ दिया। यहाँ अधिक दिन तो रहना नहीं है। जैसा वे उचित समझें, वैसा ही ठीक है। मैं प्रायः एकान्त में रहता हूँ, मेरे पास प्रायः कोई आते भी नहीं, परन्तु यहाँ का वातावरण मिल का है, और भी कई बातें हैं।

अतः यहाँ स्थायी रूप से रहने का विचार न पहले था, न अब है। परन्तु यह भी निश्चय नहीं हो पाया कि यहाँ से कहाँ जाना चाहिए। रतनगढ़ मेरे मन के अनुकूल नहीं और दूसरी जगह स्थायी रूप से रहने में पू० माँजी तथा सावित्री की माँ को प्रतिकूलता मालूम होगी। यद्यपि मैं जहाँ रहूँ, वे वहीं रहने को कहती हैं और रहेंगी भी, परन्तु उन्हें अनुकूल नहीं है, ऐसा मेरा अनुमान है। ऐसी स्थिति में देखा जाय, कहाँ रहना हो। जैसी मन में आती है, वैसी चेष्टा तो करता हूँ, फिर जो-कुछ हो जाता है, उसी को भगवान् का विधान मानकर सन्तोष करने का प्रयत्न करता हूँ। असल में बात भी यही है—भगवान् ने जो रच रक्खा है, उसी में हमारा कल्याण है। यहाँ दो दिन सत्संग-कीर्तन हुआ था, पीछे मैंने नाहीं कर दी। एक-दो दिन शायद और भी हो। न मधुरजी की मधुर मोरबीन ही बजती है और न स्वामीजी महाराज का ''राधे बोलो राधे'' कीर्तन ही होता है। निस्तब्ध-नीरव-सा जीवन है, और अभी यही प्रिय मालूम होता है।

आपका,
हनुमान

श्रीकृष्णभक्त विदुषी पारसी महिला रैहाना तैय्यबजी से श्रीकृष्ण-तत्त्व-साधना पर गम्भीर पत्राचार यहीं रहते हुआ। साधना निर्बाध चलती रही। उसके साथ ही राजस्थान की अकालसेवा का संचालन भी ये यहीं से करते रहे। अकाल में की गयी अमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में पोद्दारजी को बीकानेर-नरेश महाराज गंगासिंहजी की ओर से एक सिरोपाव और रुक्का (प्रशंसापत्र) प्रदान किया गया।

हिन्दू कोडबिल का विरोध

दादरी का एकांत-सेवन कुछ ही दिनों का था। वहाँ से पोद्दारजी रतनगढ़ चले गये। रतनगढ़ का वातावरण उनकी मनःस्थिति के अनुकूल था। अभी वे रतनगढ़ में ही थे कि भारतीय संसद में 'हिन्दू कोडबिल' विचारार्थ प्रस्तुत हो गया। वह हिन्दुओं की परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताओं के विरुद्ध है, ऐसा पोद्दारजी का दृढ़ विश्वास था। उन्हें यह आशंका हुई कि इसके पारित हो जाने से हिन्दुओं के सामाजिक-जीवन में अनाचार की वृद्धि होगी, जो अन्ततः संपूर्ण राष्ट्र के नैतिक पतन का कारण बनेगी। अतः उन्होंने उसके विरोध में एक व्यापक हस्ताक्षर-अभियान चलाया। भारतीय संसद से सम्बद्ध मन्त्रियों, राष्ट्रपति तथा अन्य राजनीतिक नेताओं के पास इस सम्बन्ध में तार भिजवाये और जनमानस को तद्विषयक आन्दोलन के लिए तैयार करने हेतु 'कल्याण' में लेख अभियान चलाया।

इसी प्रवासकाल में बीकानेर के महाराज गंगासिंहजी ने इन्हें अपनी विधान परिषद का सदस्य नामांकित किया। उन दिनों देशी रियासतों के किसी नागरिक के लिए यह एक स्पृहणीय उपलब्धि मानी जाती थी। किन्तु पोद्दारजी के लिए यह मात्र

बन्धन में डालने वाला एक लौकिक व्यापार था, जिसके लिए उनके पास न समय था और न इच्छा। अतः महाराजा को तदर्थ धन्यवाद देते हुए इन्होंने एक विनयपूर्ण पत्र के साथ त्यागपत्र भेज दिया।

रोगों का प्रकोप : अजमेर में उपचार

कई वर्षों से निरन्तर क्षीण होते-होते श्रावण सं० २००० के लगभग पोद्दारजी भयंकर बीमारियों के प्रकोप से शय्याग्रस्त हो गये। इस समय उनके शरीर में बवासीर की एक नयी बीमारी पैदा हो गयी। इससे बहुत तंग होकर दिल्ली गये—वहाँ रोग का शमन तो दूर रहा, स्थिति और बिगड़ गयी। मलेरिया और सिरदर्द की असह्य पीड़ा से शरीर जर्जर हो गया। हालत इतनी खराब हो गयी कि बचने की आशा भी जाती रही। स्थिति गम्भीर देखकर पोद्दारजी के सभी स्वजनों को दिल्ली बुला लिया गया।

दिल्ली में किये जा रहे उपचार से विशेष लाभ न होते देखकर राधा बाबा को साथ लेकर पोद्दारजी अजमेर गये। वहाँ से पुष्कर की यात्रा की। इन्हीं दिनों सख्त बुखार चढ़ा, किन्तु चिकित्सा का प्रबन्ध शीघ्र हो जाने से वह ठीक हो गया। डा० अम्बालालजी ने इन्जेक्शन देकर पोद्दारजी के पुराने रोग का शमन कर दिया।

अजमेर से काँकरौली तथा नाथद्वारा का दर्शन करते हुए पोद्दारजी उदयपुर गये। वहाँ से रतनगढ़ वापस आ गये और तीन महीने तक स्वास्थ्य-लाभ करते रहे। अधिक कमजोरी के कारण इन दिनों यात्रा स्थगित रही। मार्गशीर्ष शुक्ल १०, सं० २००० को रतनगढ़ से बीकानेर होते हुए पुनः अजमेर गये। यहाँ डा० अंबालालजी के चिकित्सालय में गुदा के फोड़े का आपरेशन हुआ। इस दशा में श्रीप्यारेलाल डागा, राधाबाबा, रामसनेहीजी एवं डाक्टर अम्बालालजा ने बड़ी तत्परता से पोद्दारजी की सेवा की।

इस अवसर पर मित्रों के पास लिखे गये पत्रों में पोद्दारजी के तदीय भावापन्न जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। उनके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"मेरी ओर देखिये। सांसारिक दृष्टि से मेरे तो घर में दूसरा कोई पुरुष या बालक भी नहीं है। महीनों से बीमार रहता हूँ। पता नहीं किस समय शरीर छूट जाय। परन्तु उसके लिए मैं चिंता क्यों करूँ? जिन विश्वंभर ने जगत् को सँभाल रखा है, जो सबका भरण-पोषण करते हैं; वे ही सबको सँभालेंगे। मुझे तो इतनी ही चिंता करनी चाहिए कि मुझसे उनका चिंतन कभी न छूटे। फिर वे जो-कुछ करें उसी को सिर चढ़ाकर स्वीकार करना चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि अपने को भगवान के हाथों में वैसे ही समर्पण कर दे,

जैसे मिट्टी अपने को कुम्हार के हाथों में सौंप देती है। कुम्हार अपने हाथों से उसे चाहे जैसे कूटे, पीटे, रौंदे, लोंदा बनावे, कोई भी आकार दे, आग में तपावे; उसे सब स्वीकार है। इसी प्रकार हमें भी भगवान का विधान स्वभाव से ही स्वीकार करना चाहिए। मेरे घाव में अभी आराम नहीं है, मवाद आ रहा है.........।''

''.........तुमने लिखा कि आप सरीखे महापुरुषों को भी इतनी तकलीफ उठानी पड़ती है, कुछ समझ में आता नहीं है।'.........सो अपने को इतना विश्वास तो अवश्य करना चाहिए कि भगवान की लीला है सारी कल्याणमयी। उसमें अपने वास्ते मंगल-ही-मंगल है। हाँ, जीवन में एक अनुभव है, वह यह है कि भगवान की मेरे ऊपर अनंत कृपा है। भगवान जीवों के कर्म की तरफ नहीं देखकर, अपने स्वरूप की तरफ ही देखते हैं। यही उनका स्वभाव है। इसीसे मुझ-सरीखा अधम प्राणी भी उनकी कृपा का पूर्ण अधिकारी है। परन्तु महापुरुष हो तो भी पूर्व कर्मानुसार प्रारब्धवश रोग-शोक तो हो ही सकता है। महापुरुष में भोक्तापन न होने से अथवा प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रेरित मंगलमयी देखने से उन्हें शोक नहीं होता। परन्तु विधान की लीला तो होती है। इसलिए महापुरुषों में भी यदि रोग अथवा शोक-विषाद दीखे तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए।''

श्रीहरिः

प्रिय भैया.........,   मार्गशीर्ष शु० १४, सं० २०००

सप्रेम राम राम।

शरीर का हाल पूछा सो शरीर का हाल वैसे ही है। घाव की हालत डाक्टर अच्छी बताते हैं। ऑपरेशन के बाद कल कैस्टर आयल से टट्टी लगायी गयी थी, इससे तकलीफ रही। दर्द कुछ ज्यादा रहा। बेचैनी भी रही। आज कल से ठीक हैं। तुम्हारा पत्र पढ़कर गद्‌गद हो गया भैया। सच है तुम सब मेरे ही हो। मेरे चित्त में कोई भी अशान्ति नहीं है। पद-पद पर भगवान् की कृपा का अनुभव होता है। यद्यपि इस बार की बीमारी बहुत ही पीड़ाजनक रही.........परन्तु इसमें भी समय-समय पर भगवान् की मंगलमयी कृपा की झाँकी तो होती ही रही है। यह जगत् भगवान् का नाट्य-मंच है। सभी रसों के अभिनय की आवश्यकता है। परन्तु प्रत्येक अभिनय के अन्तराल में वही है। असल में तो खेल और खिलाड़ी, दोनों ही उसी के मंगलमय स्वरूप हैं।

तुम्हारा
हनुमान

गीताप्रेस में पुनः हड़ताल

पिछले विवाद के तय होने के बाद भी गीताप्रेस के कर्मचारियों में भीतर-ही-भीतर असंतोष चल रहा था। पोद्दारजी ने श्रावण सं० २००२ में उसको निबटाने के

लिए ट्रस्टियों पर दबाव डालकर उन्हें कुछ आर्थिक सुविधाएँ दिलायीं, किन्तु कर्मचारियों की दृष्टि में वे अत्यन्त अपर्याप्त थीं। इससे एक वर्ष के भीतर ही हड़ताल के बादल पुनः मँडराने लगे। श्रावण सं० २००३ में कर्मचारियों ने प्रबन्धकों को हड़ताल की नोटिस दे दी। पोद्दारजी स्थिति सुलझाने के लिए दिनभर प्रेस में रहे, किन्तु कोई पक्ष अपने हठ से रंचमात्र भी हटने के लिए राजी नहीं हुआ। इसलिए प्रबंधकों ने ६-७-१९४६ को अनिश्चित काल के लिए प्रेस बन्द कर दिया। हड़ताल डेढ़ मास तक चलती रही। गीताप्रेस के इतिहास में तालाबन्दी का यह सर्वाधिक दीर्घव्यापी काल था। पोद्दारजी के अनुरोध से बाबा राघवदासजी मध्यस्थता के लिए राजी हो गये और उनके अथक प्रयास से हड़ताल वापस ले ली गयी।

नोआखाली काण्ड

राष्ट्रनेताओं की राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण सं० २००३ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही भारतमाता को अपनी प्राणों से प्रिय हजारों संतानों के रक्तपात का हृदय-विदारक दृश्य देखना पड़ा। कितनी बहू-बेटियों को अकल्पनीय अनाचार का शिकार होना पड़ा, कितनों को अपना सर्वस्व खोकर विधर्मियों के साम्प्रदायिक ताण्डव की अग्नि में भस्मसात् होना पड़ा, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। पोद्दारजी जैसे धर्मप्राण तथा संवेदनशील व्यक्ति के लिए यह संवाद अत्यन्त हृदय-विदारक था। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान से भाग-भाग कर आये हुए लोगों से उनकी करुण गाथाएँ सुनकर उनके नेत्र झर-झर आँसू बहाने लगते थे। बंगाल से उनका जन्मना सम्बन्ध था, उसकी मिट्टी में खेलकर ही वे बड़े हुए थे। बंगला भाषा ही उनकी मातृभाषा थी, उनके सम्बन्धियों और परिचितों का एक विशाल समुदाय उसी प्रदेश में रहता था। उनलोगों ने पत्राचार तथा संदेश के माध्यम से पोद्दारजी को इस अप्रत्याशित आपत्ति काल में यथासम्भव सहायता की व्यवस्था करने की प्रेरणा दी। पोद्दारजी ने गीताप्रेस से सहायता-कार्य के लिए एक स्वयंसेवक-मण्डल भेजने का निश्चय किया। उसके सदस्यों में गिरधारी बाबा, कृष्णदासजी बंगाली, कृष्णचन्द्र अग्रवाल प्रमुख थे। नोआखाली के इस आपत्काल में ही महामना पं० मदनमोहन मालवीय का देहावसान हो गया। पोद्दारजी ने उनका श्रद्धांक-नोआखाली कांड अंक के रूप में निकाला, जिसमें मानवता एवं हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए अनेक सुझाव और योजनाएँ प्रस्तुत की गयी थीं।

काल-प्रवाह के साथ साम्प्रदायिक विभीषिका का प्रकोप कम हुआ और देश में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना हो गयी। शरणार्थियों की सहायता और पुनर्वास से सम्बद्ध अनेक योजनाएँ कार्यान्वित हुईं, जिनसे राष्ट्र का घाव बहुत अंश में भर गया। पोद्दारजी ने इन सारी परेशानियों और झंझावातों के बीच 'कल्याण' का दीप जलाये ही नहीं रखा, उसके उत्तरोत्तर विकास की योजनाओं के प्रवर्तन में भी दत्तचित्त रहे।

गीता-द्वार का निर्माण

सेठ जयदयालजी गोयन्दका तथा पोद्दारजी दोनों की बहुत दिनों से यह साध थी कि गीताप्रेस और 'कल्याण' के आदर्श तथा गौरव के अनुरूप ही उसके मुख्य द्वार का निर्माण कराया जाय। सं० २०१२ में वे इस योजना को मूर्त रूप देने में सफल हो गये। उसके उद्घाटन के लिए की गयी प्रार्थना तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र-प्रसादजी ने सहर्ष स्वीकार कर ली। गीताद्वार के निर्माण में देश की गौरवमयी स्थापत्य कला के मूल प्रतीक प्राचीन मंदिरों से प्रेरणा ली गयी। उसके प्रत्येक अंश के निर्माण में यह ध्यान रखा गया कि वह किसी-न-किसी प्राचीन कलापूर्ण मंदिर के आदर्श पर हो।

फलतः प्रवेश-द्वार भारतीय मन्दिर कला की विभिन्न शैलियों का दिग्दर्शक बन गया।

प्रवेशद्वार में सात प्रकार के प्रतीकों का समावेश किया गया।

१. उपनिषदों तथा गीता के वाक्य के रूप में शब्द-प्रतीक।

२. वृषभ, सिंह तथा नाग के रूप में जन्तु-प्रतीक।

३. कमल के रूप में पुष्प-प्रतीक।

४. स्वस्तिक के रूप में चिह्न-प्रतीक।

५. कलश और शंख के रूप में वस्तु-प्रतीक।

६. शंख, चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल, डमरू, शृंग, धनुष, वाण, मयूर-मुकुट एवं वंशी के रूप में आयुध-प्रतीक।

७. जपमाला, पुष्पाधार सहित पुस्तक, दीपयुक्त दीपाधार, धूपपात्र, आरती, घंटाद्वय, मृदंग, करताल आदि के रूप में उपकरण-प्रतीक यथास्थान दर्शाये गये हैं।

प्रवेश-द्वार के निर्माण में एलोरा, अजन्ता, दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर, काशी के विश्वनाथ-मन्दिर, मथुरा के द्वारकाधीश-मन्दिर, पुरी के जगन्नाथ-मन्दिर, भुवनेश्वर के लिंगराज-मन्दिर, कोणार्क के सूर्य-मन्दिर, मदुरा के मीनाक्षी-मन्दिर, अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर, खजुराहो के महादेव-मन्दिर, साँची-स्तूप, आबू के जैन-मन्दिर, उज्जैन के महाकाल-मन्दिर, केदारनाथ के शिव-मन्दिर, बोधगया के बुद्ध मन्दिर तथा ब्रह्मदेश के पैगोडा संज्ञक बौद्ध-मन्दिर के निर्माण में प्रयुक्त कला का आश्रय लिया गया है। इसके मुख्य भाग के द्वितीय खंड में संगमरमर का बना चार घोड़ों का रथ है, जिसपर भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिमा इस मुद्रा में बनी है, मानों वे अपने प्रिय सखा अर्जुन को कौरव-सेना दिखा रहे हों। यह रथ अपनी पूरी लम्बाई में ६ फुट १ इञ्च है। इसकी चौड़ाई २ फुट ३ इञ्च और ऊँचाई ४ फुट ९ इञ्च है। रथ में रथी के रूप में खड़े अर्जुन की मूर्ति २ फुट ९ इञ्च तथा रथ के अश्वों की रश्मि पकड़े भगवान्

श्रीकृष्ण की प्रतिमा लगभग २ फुट ६ इञ्च ऊँची है। यह पूरा रथ लगभग ३६ मन (साढ़े ग्यारह क्विण्टल) का है। यह मूर्ति जयपुर से बनवाकर मँगवायी गयी है। सुरक्षा की दृष्टि से उसे पारदर्शी आवरण में रखा गया है।

गीताद्वार का राष्ट्रपति द्वारा उद्‌घाटन

गीताप्रेस के इस भव्य प्रवेश-द्वार का उद्‌घाटन करने के लिए डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार सं० २०१२ को गोरखपुर पधारे। गीताप्रेस की ओर से पोद्दारजी ने राजेन्द्रबाबू का हार्दिक स्वागत किया। इस अवसर पर एकत्र विशाल जनसमुदाय के समक्ष राष्ट्रपति के उद्‌घाटन-भाषण में व्यक्त विचार अत्यन्त तथ्यपरक तथा भाव-संवलित थे—

"गीताद्वार के उद्‌घाटन के अवसर पर आमन्त्रित कर आपने मुझे कृतज्ञ किया है। आपने भारतवर्ष के विभिन्न मन्दिरों, स्तूपों और देवालयों के अंशों को लेकर एक भव्य द्वार का निर्माण किया है। जिन मन्दिरों, स्तूपों आदि के अंश आपने लिये हैं, वे भारत के दूरस्थ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्थित हैं और न मालूम कितने सौ वर्ष हुए जब उनका निर्माण हुआ था। इस तरह हजारों वर्षों और हजारों वर्गमील में निर्मित स्थापत्य के नमूनों से चुन-चुनकर आपने एक द्वार बनाया, जिसका दर्शन करके कोई भी यात्री उन सभी इमारतों के अंश देख सकता है।

भारतवर्ष की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि यह विचारों पर किसी प्रकार की रोक कभी नहीं लगाता। प्राचीन काल से आज तक सनातन धर्म ने सबको अपने विचार रखने की स्वतन्त्रता दे रखी है। इसलिए इतने मत-मतान्तरों के होते हुए भी भारत ने कभी वह धार्मिक कट्टरपन नहीं दिखलाया, जो अन्य देशों में या अन्य धर्मों में देखा जाता है। **'एकः सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**—'सत्य एक ही है, पर ज्ञानी लोग उसे बहुत प्रकार से कहते हैं। हमने हमेशा यह मान रखा है कि उच्चतम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बहुतेरे रास्ते हैं और जो जिसे भावे, उसपर चलकर उस लक्ष्य तक पहुँच जाता है। इसीलिए किसी को किसी से झगड़ने की जरूरत नहीं, क्योंकि सभी एक ही लक्ष्य की ओर जानेवाले हैं, यद्यपि उनके रास्ते अलग-अलग हैं।

इस द्वार के निर्माण में इसी समन्वय को ध्यान में रक्खा गया है और मैं आशा करता हूँ कि गीताप्रेस की सबसे बड़ी कीर्ति यही होगी कि वह इस समन्वय को जन-साधारण के लिए भी सुलभ कर दे।

मैं जब कहीं कोई ऐसी संस्था देखता हूँ जो इस प्रकार के विचारों के प्रचार में व्यावहारिक रूप में प्रयत्नशील हो, तो स्वभावतः मेरा हृदय भर आता है। इसलिए गीताप्रेस का जो काम आजतक हुआ है और हो रहा है, उसका मैं आदर करता हूँ और चाहता हूँ कि वह दिन-प्रतिदिन अधिक विस्तार पावे।

जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति आप कर रहे हैं। जिसने आपको यह प्रेरणा दी, वही आपके प्रयत्नों को सफल करेगा, यही मेरी आशा और शुभकामना है।''

तीर्थयात्रा

सं० २०१३ में 'कल्याण' के ३१ वें वर्ष का विशेषांक 'तीर्थांक' निकलने वाला था। पोद्दारजी ने अपने नियमानुसार उसके सम्बन्ध में सामग्री-संकलन के लिए तीर्थाटन करने का निश्चय किया। गीताप्रेस की ओर से एक स्पेशल ट्रेन पौष शुक्ल ६, सं० २०१२ को बनारस से रवाना हुई। उसमें पोद्दारजी के साथ लगभग ६०० व्यक्ति थे। इस यात्रा में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के सभी प्रमुख तीर्थों का दर्शन और उनके तत्कालीन आचार्यों, संत-महात्माओं का सत्संग-लाभ हुआ। लगभग ४ महीने तक भ्रमण करने के बाद यह दल वैशाख कृष्ण १, सं० २०१३ को गोरखपुर लौट आया। यात्राजनित क्लांति एवं अस्वस्थता के कारण पोद्दार जी का शरीर बहुत कमजोर हो गया। ढाई महीने के बाद आषाढ़ कृष्ण १३, सं० २०१३ को स्वास्थ्य-लाभ के उद्देश्य से पोद्दारजी स्वर्गाश्रम चले गये।

गोविन्द-भवन का शिलान्यास

कलकत्ता के कुछ उदारचेता मारवाड़ी सज्जनों ने 'गोविन्द-भवन' नाम से एक न्यास की स्थापना समाज-सेवा के उद्देश्य से की थी। गोरखपुर का गीताप्रेस तथा ऋषिकेश का गीताभवन इसी के द्वारा संचालित होते हैं। कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से उसका पुराना भवन छोटा पड़ रहा था, इसलिए व्यवस्थापकों ने मुख्य कार्यालय के साथ औषधालय तथा हस्तनिर्मित वस्तुओं के विक्रय-केन्द्र की स्थापना के उद्देश्य से एक विशाल भवन निर्मित कराने की योजना बनायी। शिलान्यास का कार्य पोद्दारजी के हाथों सम्पन्न कराने का निश्चय हुआ। इस निमित्त ये कलकत्ता गये और माघ कृष्ण ९, सं० २०१६ को वैदिक विधि से शिलान्यास का कार्य पूरा किया।

शिमलापाल की पुनर्यात्रा

माघ शुक्ल ९, सं० २०१६ (१९६० ई०) में एक स्वजन के विवाह के सम्बन्ध में पोद्दारजी कलकत्ता गये। वहाँ पता चला कि सेठ जयदयालजी गोयन्दका की आँख का आपरेशन होने वाला है। इस निमित्त से परिकरों सहित ये उन्हें देखने बाँकुड़ा गये। साथ में बाबा चक्रधर, श्रीजयदयाल डालमिया और उनकी पत्नी थीं। ऑपरेशन के पश्चात् अनुगतों के अनुरोध से शिमलापाल की यात्रा का पुरोगम बन गया। यह स्थान बाँकुड़ा से कुल २४ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ १९१६ ई० में पोद्दारजी ने २१ महीने की नजरबंदी का जीवन व्यतीत किया था। पोद्दारजी के साधनात्मक जीवन की उत्कर्षभूमि होने के कारण उनके पार्षदों की दृष्टि में वह एक राजनीतिक तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित था।

बाँकुड़ा से यह मंडली मोटर द्वारा शिमलापाल पहुँची। पहले सबने पोद्दारजी की निवास-स्थली—फूस की झोपड़ी का दर्शन किया। वह ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी। उसके भीतर दो छोटे कमरे थे—गोबर से लिपे-पोते स्वच्छ और सात्विक किरणों से प्रभापूर्ण। एक कमरे की दीवाल पर पोद्दारजी के हाथ से ४४ वर्ष पूर्व बंगाक्षरों में गेरू से लिखा गया 'नृत्य गोपाल' अपनी लाली बिखेर रहा था। घरवालों की आस्था ने उसे निरंतर अनुरंजित करते रहने का व्रत ले रखा था। इसके अनंतर सभी पास बहने वाली उस नदी को देखने गये—जहाँ पोद्दारजी स्नान करते थे। बाबा ने यमुनामाता के भाव से उसके पुण्यजल में स्नान किया—अन्य लोगों ने आचमन।

पोद्दारजी को आया जानकर उनका पूर्व परिचित नाई मिलने आया। वह बूढ़ा हो चला था। उसका यथोचित सत्कार किया गया। गाँव के कुछ पुराने लोग भी मिलने आये—इस भावाविष्ट अतिथि मंडली से मिलकर उन्हें अपार सुख हुआ। घर के मालिक और मालकिन ने अपनी स्थिति के अनुसार मूड़ी खिलाकर आगतों का सत्कार किया। बाबा ने उन्हे पर्याप्त द्रव्य अर्पित कराकर संतृप्त किया।

अंत में सभी लोग शिमलापाल के थाने पर गये और वहाँ पोद्दारजी के हाथ के लिखे कागद-पत्र देखे। चलते समय एकत्र ग्रामवासियों में वस्त्र-वितरण किया गया। भीड़ के कारण वह कम पड़ गया था, इसलिए लौटकर बाँकुड़ा से शेष लोगों को देने के लिए कपड़ा भेजा गया। उस पुण्यभूमि के ऋणशोधन का यह केवल एक विनीत प्रयास था।

उपाधियों से विरति

पोद्दारजी की अंतरंग-साधना तथा निष्काम-सेवा से उनकी लोकमान्यता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। ज्यों-ज्यों इन्होंने उससे दूर भागने का प्रयत्न किया, वह दूने, चौगुने और फिर अनंत गुने आकर्षक रूप में पीछा करती रही। आरंभ हुआ 'राय साहबी' से। इसके प्रस्तावक थे गोरखपुर के तत्कालीन अंग्रेज कलक्टर तथा नगर-पालिका के अध्यक्ष बाबू आद्याप्रसाद। पोद्दारजी ने उनसे हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज, मैं इसके लायक नहीं हूँ।'

इसके बाद कमिश्नर साहब ने इन्हें 'राय बहादुर' बनाने की इच्छा प्रकट की। उसे भी अस्वीकार कर दिया। फिर संयुक्तप्रान्त (उत्तर-प्रदेश) के गवर्नर सर हेरी हेग ने 'सर' (नाइटहुड) का इन्द्रजाल फेंका, वह भी खाली गया। गवर्नर साहब ने इससे पोद्दारजी की कल्पना के विपरीत प्रसन्नता व्यक्त की। उनसे पोद्दारजी की मैत्री हो गयी थी। ये बेतकल्लुफी से बोले—'आप यह उपाधि देकर क्या समझते है ?' गवर्नर साहब ने हँसते हुए जबाब दिया—'कुत्ते के गले में पट्टा डालते हैं।' इस

वाक्य का अंतिम शब्द पूरा नहीं हुआ था कि ये बोल उठे, 'तो आप मेरे गले में पट्टा डाल रहे थे ?' गवर्नर साहब का उत्तर था—'आपने अस्वीकार कर दिया, तब हम ऐसा कहते हैं, नहीं तो आपका सम्मान करते, आप को धन्यवाद देते कि आप ने स्वीकार कर लिया। बड़ा अच्छा किया।' फिर कहा—'जैसे कुत्ते पीछे चलते हैं, वैसे ये खिताबवाले चलते हैं।'

अंत में ब्रह्मास्त्ररूप में 'भारत-रत्न' के संधान का डौल बना और उसके संधाता की भूमिका निभाने का दायित्व पं० गोविन्दवल्लभ पंत को सौंपा गया। पंतजी उन दिनों भारत सरकार में गृहमंत्री थे। यह घटना उनके शरीर छोड़ने के कुछ पहले की है। वे सरकारी काम से गोरखपुर आये थे और स्टेशन के पास नहर-विभाग के अतिथि गृह में ठहरे थे। पोद्दारजी उनसे मिलने गये। कुछ देर तक बातें हुईं, फिर वे इनकी कलम लेकर पैड पर कुछ लिखने लगे। लिखने के बाद बोले, 'यह कलम हम ले जायें' ? पोद्दारजी ने कहा, 'इसमें भी पूछना है क्या ?' कलम इनकी चली गयी। फिर पंतजी ने पैड के उस कागज को निकाल कर पोद्दारजी को दिया और कहा, 'हम इसे भारत सरकार के पास भेज रहे हैं, आपकी स्वीकृति लेने आये थे।' कागज में 'भारत-रत्न' की उपाधि प्रदान करने का प्रस्ताव था और उसके निमित्त पोद्दारजी की स्वीकृति माँगी गयी थी। इन्होंने असहमति व्यक्त करते हुए पंतजी को इसके कारण विस्तार से समझाये। पंतजी मान गये और कहा, 'ठीक है, नहीं भेजेंगे।' इसके बाद दिल्ली जाने पर उन्होंने पोद्दारजी को एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था 'इससे मुझे यह भान हो गया कि आप उस उपाधि से बहुत ऊँचे हैं।' इस प्रकार 'उपाधि' को व्याधि का सहोदर मानकर पोद्दारजी उससे सदैव दूर भागते रहे। अब तक 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' पुस्तकी-सूक्तिमात्र थी, इस कर्मयोगी ने उसे व्यवहार-भूमि पर ला प्रतिष्ठित किया।

उपरामता

साधनात्मक उत्कर्ष के साथ ही पोद्दारजी का मन जागतिक जीवन के व्यावहारिक बंधनों से मुक्ति पाने के लिए उद्विग्न हो उठा। समाज में चतुर्दिक् व्याप्त अनाचार तथा संघर्षजनित विषाक्त वातावरण ने उन्हें उससे हटकर एकान्त साधना में रत रहने की प्रेरणा दी। मन किसी प्रकार भी काम के लिए तैयार नहीं हो पाता था। वृत्ति बार-बार जगत् को छोड़ देती थी। ऐसी अवस्था में वे बिलकुल एकांत में रहना चाहते थे, जहाँ न तो किसी प्रकार की कोई जिम्मेवारी रहे, न मिलने वाले लोग आ सकें। 'कल्याण'-सम्पादन के कार्य से भी अलग हो जाना चाहते थे। कारण कि मूलतः वह भी विद्या-माया का ही एक अंग था। श्रीजयदयालजी गोयन्दका को लिखे गये निम्नांकित पत्र से इसकी पुष्टि होती है—

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुर
१६-५-६२

परमपूज्यचरण,

सादर प्रणाम ।

आपके कई पत्र मिले । मैं उत्तर नहीं लिख पाया, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ । महीनों से मैं बहुत ही कम पत्र लिख पाता हूँ । आपकी सेवा में पत्र लिखकर कुछ बातें निवेदन करने का विचार बहुत दिनों से था, पर पत्र नहीं लिखा जा सका । कुछ निरुपाय-सी स्थिति है ।

कलकत्ते जाने से पूर्व तक मस्तिष्क की स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एक धारा में चल रही थी । अधिक समय बाहरी ज्ञान नहीं रहता था और शरीर बेसुध बैठा रहता था । इस धारा में यहाँ कोई बाधा नहीं थी । कलकत्ते जाने पर बाधा आयी । दिन भर लोगों से मिलना, बातचीत करना, जाना-आना आदि करना पड़ता । मस्तिष्क चाहता कि किसी भी ऐसी परिस्थिति का स्पर्श न हो, संसार सर्वथा विस्मृत हो जाय और परिस्थिति संसार में बँधे रहने को बाध्य करना चाहती । बड़ा द्वन्द्व-युद्ध चलता । दिन में बात करते-करते गड़बड़ी होती । वृत्ति को जबर्दस्ती संसार में लगाने की चेष्टा करनी पड़ती, भूलें होतीं, उन्हें सँभालने की चेष्टा होती । लोगों के सामने कोई ऐसी चीज आकर एक तमाशा न बन जाय—इस भावना से वृत्तियों को संसार में रहने के लिए जबर्दस्ती करनी पड़ती । इसका परिणाम यह हुआ कि उस सहज धारा में बाधा आ गयी, साथ ही चित्त में एक विचित्र अशान्ति पैदा हुई । रात को १२-१ बजे जब सोने जाता, तब दिन भर का आघात पायी हुई-वृत्ति जबर्दस्ती संसार को त्याग देती । संसार नहीं रहता, तब संसार की नींद भी नहीं रहती । लोग समझते, सो रहा है । इस प्रकार रातें बीततीं । कलकत्ते में शायद ही दो-तीन रातें बीती होंगी, जिनमें मैं २-३ घंटे सोया हूँ । वहाँ से लौटने पर काम बढ़ा मिला । फिर दुलीचंद के चोट लग गयी । वही परिस्थिति का पचड़ा यहाँ भी आ गया । अतएव यहाँ भी अब तक बड़ी ही गड़बड़ी चल रही है । अब फिर कलकत्ते जाना है । काम होता ही नहीं । पत्र-व्यवहार प्रायः बन्द है । लोगों की शिकायतें आती हैं, पर जैसे मुर्दे पर कोई कितना ही मारे, वैसी ही दशा है । यहाँ रहना भी बाधक ही प्रतीत होता है । लोग मिलने आते हैं, पत्र लिखते हैं । अपने-अपने काम में सभी लोग सहायता-सहयोग चाहते हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से सभी के कार्य महत्त्व के होते हैं । वे अपना मानते हैं—इससे सहायता-सहयोग चाहना भी दोष की बात नहीं, स्वाभाविक है । 'कल्याण' वाले लेख चाहते हैं, प्रेस वाले कभी-कभी कुछ सलाह चाहते हैं, यह सभी उचित है, पर मैं क्या करूँ ! विवशता बढ़ी जा रही है । कहीं भी जाने-आने, मिलने-जुलने,

लिखने-पढ़ने की वृत्ति एकदम नहीं होती। विशेषांक का काम है। मैं जानता हूँ मुझे करना चाहिए। आप प्रेरणा भी उचित करते हैं। पर मैं न तो निर्णय कर पाता हूँ, न काम ही। आप के इच्छानुसार करना चाहता हूँ, आपके कार्य को बढ़ा देना, आपके सामने एक नयी परिस्थिति या उलझन पैदा कर देना मैं नहीं चाहता। पर मैं कैसे क्या करूँ—यह नहीं सोच सकता, न कर ही सकता हूँ।

मैं जानता हूँ कि विशेषांक का निर्णय तथा कार्य-आरंभ शीघ्र हो जाना चाहिए, पर मैं कर नहीं पाता। कई प्रस्ताव हैं—

१. अग्निपुराणांक २. वेदांक, ३. विविध देवों की शास्त्रीय उपासना की विधि का अंक ४. सर्वधर्म-संग्रहांक ५. कर्त्तव्यांक, ६. ब्रह्मवैवर्त पुराणांक आदि। इनमें मुझे 'ब्रह्मवैवर्तपुराणांक' जँचा। पुस्तकें मँगवायीं। छाँटकर जल्दी देने की बात सोची। पंडित श्रीरामनारायणदत्तजी से भी कह दिया। यह सब हुआ, पर किया कुछ भी नहीं, न करने की जरा भी वृत्ति ही है और सचमुच अब मुझसे होगा भी नहीं। अतः श्रीगोस्वामीजी के साथ श्रीरामनारायणदत्तजी को यहाँ दे देना चाहिए। वे 'कल्याण' का सम्पादन ठीक कर सकेंगे। अतएव मेरी हाथ जोड़कर आपसे निम्नलिखित प्रार्थना है—

१—'कल्याण', 'गीताप्रेस' सब-के-सब क्षेत्रों से मुझे शीघ्र ही निश्चय ही अलग कर दिया जाय। कहीं भी न नाम रहे, न जिम्मेदारी रहे, न हस्ताक्षर रहे, न सलाह आदि ली जाय। मरा समझकर भुला दिया जाय।

२—कहीं भी जाने-आने की परिस्थिति न रहे। कहीं एकान्त-स्थान में रहा जाय। गोरखपुर में भी रहा जाय, तो सर्वथा सब प्रकार की इस क्रियाशीलता से बिल्कुल पृथक् होकर।

३—पत्र-व्यवहार सर्वथा बन्द कर दिया जाय।

मेरी आपसे, मित्र-बान्धवों से, घरवालों से—सभी से यह प्रार्थना है। होगा तो वही है, जो भगवान् ने रच रक्खा है।

ऋषिकेश आने का मेरा मन उपर्युक्त कारणों से बिल्कुल नहीं है। प्रारब्धवश या भगवत्-विधान से आना पड़े, तो ठीक ही है। मस्तिष्क की गड़बड़ी का असर शरीर पर हुआ। शरीर शिथिल है। काम से सर्वथा इन्कार करता है।

आपका—

हनुमान

१९६४ ई० से यह प्रवृत्ति अबाध रूप से विकसित होती गयी। शारीरिक स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा था। इससे 'कल्याण' के कार्य में भी बाधा पड़ने लगी।

पोद्दारजी अब यह अनुभव करने लगे कि 'कल्याण' के सम्पादन का दायित्व किसी योग्य उत्तराधिकारी को सौंपकर जीवन का शेष समय साधन-भजन में व्यतीत करें। इस दिशा में कुछ प्रयत्न भी किये, किन्तु कोई उपयुक्त व्यक्ति दृष्टि में नहीं आया। 'कल्याण'-संपादक के व्यक्तित्व का रक्षक तथा उसकी चिरप्रतिष्ठित संपादननीति का उनके उच्च आदर्श के अनुरूप निर्वाहक उपलब्ध न हो सका। उनके निम्नांकित पत्र से इसपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

श्री हरिः

प्रिय भैया मोहन,

सादा और साधु-जीवन साधनामय ही होता है। यहाँ तो यह हाल है कि नींद और दिमाग की खराबी में जितना समय बीतता है, उसको छोड़कर बाकी समय साधना के विरुद्ध ही जाता है। भगवच्चिन्तन के बदले पराये दोष-गुण-चिन्तन और भगवद्गुणानुवाद के बदले परापवाद होता है। घर के लोग, आसपास के लोग और साथ रहनेवाले लोग, जो मुझे आदर्श मानते हैं, यदि रात-दिन लोकैषणा, विषयैषणा आदि में लगे रहते हैं, परस्पर एक-दूसरे के लिए त्याग न करके द्वेष और स्वार्थ का ही आश्रय लेते हैं, यह सब मेरे संग और मेरे आदर्श का परिणाम है, तो मैं कैसा हूँ—यह स्वाभाविक ही सिद्ध हो जाता है। मैं यहाँ से अलग रहना चाहता हूँ और सावित्री की माँ बहुत परेशान हैं, परन्तु कुछ ऐसे अपने ही बनाये हुए बन्धन हो गये हैं, जिनके कारण यहाँ से हटना नहीं होता। इच्छा थी—शेष जीवन के बचे हुए श्वास केवल एकान्त में अनन्य भगवत्स्मरण में ही बीतें, परन्तु यह हो नहीं पाता। 'कल्याण' का काम भी नहीं होता। शरीर काम करने से इन्कार करता है। आजकल घंटेभर बैठता हूँ तो दो घंटे लेटने की आवश्यकता होती है। सोचता हूँ—अचानक काम बंद हो जाय, इससे पहले ही किसी को संभला दिया जाय। यहाँ वाले तो कोई तैयार दीखते नहीं। श्री रामनारायणदत्तजी के विषय में सोच रहा हूँ। वासुदेव अगर यहाँ रहता तो सेठजी के भावों को जानता था, पर उसका रहना कठिन है। अभी रामनाथजी 'सुमन' यहाँ आये थे। उनसे भी बातचीत मैंने की है। देखा जाय क्या होता है। जो भगवान् को स्वीकार होगा, वही होगा।

तुम्हारा—
हनुमान

१९६७ के आते-आते यह विरक्ति भावना उन्हें जनसंपर्क से सर्वथा दूर रहने की प्रेरणा देने लगी। एक स्वजन को भेजे गये पत्र में उनकी तात्कालिक विचार-सरणि का यथार्थ प्रतिबिम्ब मिलता है—

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुर
२४-९-६७

प्रिय भैया,

इस समय भौतिक जगत् बहुत नीचे स्तर पर है और क्रमशः नीचे की ओर ही जा रहा है। इसका परिणाम और भी दुःखप्रद होगा। मेरा मन तो आजकल बहुत ही उपरत-सा रहता है। बेचारे लोग आते हैं, अपनी-अपनी समस्या लेकर पत्रादि भी लिखते हैं। सभी में भगवान हैं, सबका आदर करना चाहिए; पर मैं कर ही नहीं पाता। बहुतों की तो बात ही आजकल मेरी समझ में नहीं आती। मन उनको ग्रहण ही नहीं करना चाहता, मानो संसार की बातों के ग्रहण करने में मन को लकवा मार गया हो। दृष्टिकोण ही बदल गया है। जो लोग आते हैं—वे अपने दृष्टिकोण से अपनी बात ठीक ही कहते हैं, पर उस दृष्टिकोण के अभाव में मुझे उनकी बात का न कोई महत्त्व दीखता है, न निराकरण ही। बड़ी विचि स्थिति है। इसी से अधिक समय सर्वथा अकेला किवाड़ बन्द कर रहता हूँ। न किसी से मिलने का मन करता है, न देखने का ही। कोई आते हैं, तब बहुत सँभल-सँभल कर बात करता हूँ, जिससे वे अन्य कुछ न समझें, पर उसमें कठिनाई होती है। जीवन-मृत्यु में कोई भेद नहीं दिखाई देता। पर न मैं अपनी बात किसी को समझा सकता हूँ, न कोई समझ ही पाता है। आवश्यकता भी नहीं है। सबसे यथायोग्य।

तुम्हारा भाई
हनुमान

सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्ध-त्याग

१९६९ के ग्रीष्मकाल में नियमानुसार गीता-भवन ऋषिकेश प्रवास हुआ। इस बीच अप्रत्याशित रूप से शरीर व्याधिग्रस्त हो गया। यह झटका लौकिक-सम्बन्ध-सूत्रों को तिलांजलि देने में प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ। पोद्दारजी का सारा जीवन लोकसेवा में व्यतीत हुआ था—नगर, प्रदेश तथा राष्ट्र की अनेक समाजसेवी संस्थाएँ उनसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त कर विकास-पथ पर अग्रसर हुई थीं। कुछ के तो वे जन्मदाता तथा प्राण ही थे। बदली हुई मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में वे उनका यथोचित पथनिर्देश नहीं कर सकते थे। अपनी इस विवशता का अनुभव कर उन्होंने सबसे अलग होने का निश्चय कर लिया। पोद्दारजी ने उन संस्थाओं के व्यवस्थापकों को बड़े ही विनीत स्वर में अपने इस संकल्प की सूचना दे दी। इस संदर्भ में मूक-बधिर विद्यालय गोरखपुर के व्यवस्थापक को लिखा गया पत्र अविकल रूप में नीचे उद्धृत किया जाता है—

श्रीहरिः

प्रवासस्थान—गीताभवन,
स्वर्गाश्रम, पौड़ी–गढ़वाल, उ० प्र०
तिथि—सं० २०२६ वि०, ज्येष्ठ शु० २
(१८ मई, १९६९)

सम्मान्य महोदय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। इधर मेरा स्वास्थ्य बहुत ढीला रहता है। मस्तिष्क भी ठीक नहीं रहता। कार्य करने की न तो शक्ति दीखती है और न वृत्ति ही।

इस अवस्था में इच्छा न रहने पर भी मैं चाहता हूँ कि मुझे विद्यालय की समिति की सदस्यता से तथा उसके पद से अलग कर दिया जाय। किसी का देहावसान हो जाने पर दूसरे लोग कार्य संभालते ही हैं। यहाँ भी ऐसी ही बात समझनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि कुछ कठिनाई होगी ही, परन्तु आवश्यकता विशेष पर व्यवस्था करनी ही पड़ती है।

शेष भगवत्कृपा।

प्रति—मूकवधिर विद्यालय,
गोरखपुर

आपका,
हनुमानप्रसाद पोद्दार

इन्हीं दिनों भारत-साधु-समाज के संस्थापक श्रीगुलजारीलाल नन्दा परमार्थ-निकेतन के व्यवस्थापक स्वामी श्री सदानन्द के साथ, गीताभवन में पोद्दारजी से मिलने आये और संस्था की प्रगति में योगदान करने का आग्रह किया। पोद्दारजी ने शीलवश उस समय कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, किन्तु बाद में अपने विचार स्वामी श्री सदानन्द तक पत्र द्वारा पहुँचा दिये। उससे उनके अन्तर्मन में प्रवाहित प्रत्याहारधारा के वेग का अनुमान लगाया जा सकता है—

श्री राधा

गीताभवन,
दिनांक २९-५-६९

पूज्य स्वामी श्रीसदानन्दजी महाराज,

सादर नारायण।

रात को माननीय नन्दाजी के साथ आप पधारे थे। मैं श्रीनन्दाजी के प्रति श्रद्धा तथा उनकी हिन्दू-प्रीति के लिए बहुत सम्मान रखता हूँ। उनके संकोच से मैं कह नहीं सका। इसी से आज आपके द्वारा कहलवा दूँगा।

कल ज्वर कम था। आज फिर कुछ बढ़ गया है। शरीर अशक्त है। दूसरी बात—असली यह है कि मैं अपना शेष बचा हुआ थोड़ा-सा जीवन केवल एकान्त

भगवत्स्मरण में लगाना चाहता हूँ, एकान्त में रहकर चिन्तन करना चाहता हूँ। भगवान् से तथा आप सब हितैषियों से भी यही भीख माँगता हूँ कि मुझे इसमें सहायता करें। मेरी किसी भी पब्लिक काम में रुचि नहीं रह गयी है। सभी संस्थाओं—यहाँ तक कि 'गीताप्रेस' और 'कल्याण' से भी मैं सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। मैंने सभी जगह लिखित त्यागपत्र भेज दिये हैं। यह मेरी कमजोरी हो, प्रमाद हो, कार्य-क्षेत्र से भागने की कायरता हो—कुछ भी हो, पर मैं कुछ भी कर नहीं पाता। मेरी इस दुर्बलता और कायरता की बात आप श्रीनन्दाजी को नम्रता के साथ समझाने की कृपा करें और मुझसे किसी काम की कोई आशा न रखें। मेरी हृदय से सहानुभूति है, पर मैं विवश हूँ। आज तो मेरा दिमाग ही खराब हुआ जा रहा है। शाम तक कैसा रहेगा, पता नहीं।

मैं आपके सौहार्द, तथा स्नेह के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, पर अपनी विवशतायुक्त असमर्थता के लिए क्षमा चाहता हूँ। श्रीनन्दाजी के चरणों में प्रणाम करके उनसे क्षमा चाहता हूँ।

आपका अपना ही
हनुमानप्रसाद

स्वामी श्रीसदानन्दजी महाराज
परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)

यह उपरति इस सीमा तक पहुँच गयी कि अंततोगत्वा अपने जीवनरस से सींची गयी संस्था गीताप्रेस और उसके शतदल 'कल्याण' से भी उनका मनमधुकर विरत हो गया। २९ मई १९६९ को गीताभवन (ऋषिकेश) से ही गोविंद-भवन ट्रस्ट की बैठक में पढ़ने के लिए जो पत्र उन्होंने भेजा, उसमें अपने त्यागपत्र के साथ ही एक संस्थापक-संपादक के उत्तरदायित्व-बोध की असामान्य झलक मिलती है। इस महान् त्याग में उनके रागद्वेष-रहित भक्त-हृदय का वह दुर्लभ प्रतिबिम्ब भी सुरक्षित है, जो जीवन की प्रत्येक स्थिति को भगवत्प्रसाद मानकर प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करता है। इस अनासक्ति में रंचमात्र भी खीझ नहीं, प्रत्युत् स्रष्टा के उस अविरल-प्रेम के दर्शन होते हैं, जो अपनी सृष्टि को चिरंतन रूप देने, सदैव फली-फूली देखने में ही श्रम की सार्थकता और अभीष्ट-सिद्धि मानता है। वह महत्त्वपूर्ण पत्र नीचे दिया जाता है—

श्रीहरिः
गोविन्द भवन के ट्रस्टकी मीटिंग में पढ़ने के
लिए
दिनांक—२९-५-६९

सबसे सादर प्रणाम।

आज सबेरे से ही ज्वर कुछ बढ़ गया है और शरीर में थकावट मालूम हो रही है। साथ ही दिमाग भी खराब हुआ जा रहा है। मैं भरसक पूरा प्रयत्न कर रहा

हूँ कि मीटिंग में उपस्थित रहकर बातचीत करूँ, पर मेरे वश की बात नहीं है। यदि कदाचित् मेरी बाह्यचेतना नष्ट हो गयी तो मैं नहीं हाजिर हो सकूँगा। आपलोग मीटिंग अवश्य कर लीजियेगा, मेरे लिए टालियेगा नहीं।

मेरी प्रार्थना है—

१. कपड़े का काम श्रीमोहनलालजी के इच्छानुसार जारी रहे, उसमें दखल न दिया जाय।

२. आपस में जहाँ तक हो, प्रेम बढ़े। हमलोग संस्था चलाने में कारण बनें, टूटने में नहीं।

३. अपनी-अपनी भूलों के लिए पश्चाताप करें, दूसरों की भूल सिद्ध करने का प्रयास न किया जाय।

४. जीवन का उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है—यही समझकर प्रेस की सेवा, संस्थाओं की सेवा प्रेम, त्याग और विनम्रता के साथ की जाय। अभिमान न आने पावे।

५. मेरा त्याग-पत्र कृपया स्वीकार कर लिया जाय, क्योंकि मैं काम करने में असमर्थ हूँ। श्रीईश्वरीप्रसादजी या अन्य किन्हीं को अध्यक्ष और किन्हीं दूसरे सज्जन को ट्रस्टी चुन लिया जाय।

६. 'कल्याण' के सम्पादन की दूसरी व्यवस्था सोची जाय। श्रीरामनारायण-दत्तजी को मैंने पत्र लिख दिया है।

७. मेरे सारे अपराध क्षमा कर दिये जायँ। आप सभी मुझपर अपार स्नेह तथा कृपा रखते हैं। मैं उसका आदर ठीक-ठीक नहीं करता। अनादर तथा अपराध भी कर बैठता हूँ। आप सभी क्षमा करें।

८. श्रीस्वामी रामसुखदासजी महाराज की सम्मति लेकर उस के अनुसार सब कार्य-संचालन की चेष्टा करें। इससे बड़ा लाभ रहेगा। सत्संग-संचालन का सारा भार उन्हें दे दें। उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार किया है।

९. गीताभवन का मनमुटाव अब भगवान् के नाम पर श्रीसेठजी की पवित्र पुण्य स्मृति में उनके आदरार्थ, अपने कल्याणार्थ और मुझ दीन पर कृपा करके सदा के लिए समाप्त करके सच्चे हृदय से गले लगाकर मिलें। मेरी यह विनीत प्रार्थना है सबसे, फिर सादर सविनय प्रणाम।

विनीत,

हनुमानप्रसाद पोद्दार

इसके कुछ ही दिनों बाद पोद्दारजी शय्याग्रस्त हो गये। उस स्थिति में भी उनके मानसनेत्रों के सामने 'कल्याण' और गीताप्रेस के भविष्य की चिन्ता मँडराती रही। त्यागपत्र देने के बावजूद एक क्षण के लिए भी न तो उसकी सेवा से उनकी

लेखनी विरत हुई, न उसके भविष्य के प्रति ही उनकी किसी रूप में उदासीनता परिलक्षित हुई। शरीर छोड़ने के एक महीने पहले गोविन्द-भवन ट्रस्ट के वर्तमान अध्यक्ष श्रीईश्वरीप्रसाद गोयनका के नाम लिखा गया उनका एक पत्र मिला है, जिसमें प्रेस में नयी मशीन बैठाने के पक्ष में उन्होंने अपना अभिमत स्पष्ट शब्दों में दिया है। इस प्रकार का व्यवहार उन जैसा योगस्थ-कर्म-तत्वज्ञ ही कर सकता था। 'कल्याण' और गीता-प्रेस युगानुरूप साधनों का उपयोग करते हुए भगवद्निर्दिष्ट परमार्थ-साधना में निरंतर अग्रसर होते रहें, यही उनकी अन्तिम कामना थी और जीवनव्यापी अक्षर-साधना का लक्ष्य भी।

श्रीहरि:

गीतावाटिका, गोरखपुर
दिनांक ५-२-७१

प्रिय श्रीईश्वरीप्रसादजी,

सप्रेम हरिस्मरण!

आपका पत्र कई दिनों पहले मिला था। मैं समय पर उत्तर नहीं लिख सका। स्वास्थ्य ढीला रहने के कारण पत्र लिखना-लिखाना कठिन हो गया है, कोई विचार मत कीजियेगा।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, मैं किसी काम को स्वयं नहीं देख सकता, इसलिए मेरा कुछ लिखना अनुचित-सा है, पर प्रेस में आसक्ति है और वर्तमान युग की धर्म-विरोधी वृत्तियों से भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ काम होना आवश्यक है। इसलिए कई बार कई बातें मन में आती हैं, उनमें से कभी कुछ लिख देता हूँ। गीता-प्रेस की 'गुडविल' (साख) भगवान् की दया से और पूज्य श्रीसेठजी के पुण्य-प्रताप से बहुत अच्छी है। सभी लोगों की गीताप्रेस के प्रति प्रीति और सद्भावना है। अतएव गीताप्रेस के द्वारा बहुत-कुछ धर्म-प्रचार का कार्य हो सकता है। दूसरी संस्थाएँ उतना नहीं कर सकतीं। पर गीताप्रेस की स्थिति ऐसी है कि अन्यान्य ग्रन्थों की बात तो दूर रही, गीता और रामायण भी लोगों की माँग के अनुसार दे नहीं सकते। बाहर के लोग गीताप्रेस से बहुत बड़ी-बड़ी आशा करते हैं। वर्तमान युग में मजदूरों की मानसिक धारणा दूसरी हो गयी है और काम भी ज्यादा हो गया है। इसलिए बड़ी मशीन की आवश्यकता है। पूज्य श्रीसेठजी ने तो मेरे सामने कभी भी बड़ी मशीन लेने की 'नाहीं' नहीं की थी। एक बड़ी मशीन लेने को सोचा गया था, पर कलकत्ते का मकान लेने की बात हो जाने से वह बात रुक गयी थी। यदि कहीं कभी कोई बात उन्होंने कही थी तो वह किस प्रसंगवश है, यह सोचना चाहिए। परिस्थिति बदलती है, तो उसी के अनुसार कार्य-पद्धति में भी परिवर्तन करना पड़ता है। मशीनों के दाम पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं। नयी मशीन के आने में भी समय बहुत लगता

है। दिल्ली में एक ऑफसेट मशीन भाई जयदयाल के एक कर्मचारी श्रीहितशरणजी के पास है। वह मशीन करीब डेढ़ लाख में मिल सकती है। 'कल्याण' के दो फर्में एक साथ छप सकते हैं। मेरी समझ में यह मशीन अवश्य ले लेनी चाहिए और उसे गोरखपुर में न बैठाकर अन्य जगह बैठाना चाहिए, जिससे छपाई के काम में बाधा न आये और मजदूरों में भी असंतोष की बात नहीं रहे। पहले दिल्ली में बैठाने की बात सोची गयी थी, पर नगर बहुत बड़ा होने से खर्च अधिक होगा और स्थान की भी तंगी आयेगी।

श्रीबिहारीलालजी से मैंने इस विषय में बात कर ली है कि मशीन वृन्दावन मे बैठायी जाय और कुछ काम सम्भालने का जिम्मा भी वे ले लें। वहाँ हमारे सूर्य-कान्त के दादा श्रीशिवभगवान्जी फोगला ने एक आश्रम बनवाया था, उस जगह मशीन बैठायी जा सकती है। श्रीबिहारीलालजी मुझे बहुत मानते हैं। अतः वे मेरी बात मानकर काम संभाल लेंगे।

यहाँ की कुछ मशीनें बिकी थीं, अतः रुपयों की कोई दिक्कत नहीं होगी। रुपयों की और भी व्यवस्था हो सकती है। अतएव मेरा तो यह निश्चित मत है कि मशीन अवश्य ले लेनी चाहिए। ऐसी मशीन का मिलना बहुत कठिन है। सब दृष्टियों से विचार करने पर यही मालूम देता है कि गीताप्रेस का काम जब तक भगवान् चलायें, तबतक अपनी ओर से विशेष प्रयत्न करके चलाना चाहिए। पूज्य श्रीसेठजी के होने तक कोई कठिनाई की बात नहीं थी। वे मेरे निवेदन के अनुसार प्रायः काम करने को तैयार रहते थे और उनसे बिना पूछे कोई काम कर लेता तो उसमें प्रसन्न होते थे। पर अब मैं आपलोगों से बिना पूछे स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम करना नहीं चाहता, संकोच होता है। मेरे इस निवेदन पर आप विचार करके सम्मति लिखियेगा। साथ ही श्रीहरिरामजी वहाँ हों तो उनसे भी बात करनी है। पूज्य श्रीस्वामीजी से भी बात कर लीजियेगा।

पत्र का उत्तर शीघ्र दीजियेगा। मेरा स्वास्थ्य बहुत ढीला चल रहा है। यह पत्र पड़े-पड़े लिखवा रहा हूँ।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। शेष भगवत्कृपा !

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

चिर विश्राम की भूमिका

गोरखपुर आने के बाद पोद्दारजी के जीवन में कदाचित् ही कोई वर्ष ऐसा बीता हो, जिसमें वे पूर्णतया स्वस्थ रहे हों। 'कल्याण'-संपादन में अनवरत श्रम तथा गोरखपुर की जलवायु ने उनकी पाचन-क्रिया अव्यवस्थित कर दी। अपने संकल्प तथा

निष्ठा से वे उसकी अवहेलना करते हुए निर्धारित पथ पर चलते रहे, किन्तु सबकी एक सीमा होती है। १९६९ ई० के प्रथम चरण के समाप्त होते ही खतरे की घण्टी बज गयी। उन दिनों वे अनुगतों सहित ऋषिकेश के सत्संग प्रवासपर थे। २२ अप्रैल को सहसा उस व्याधि के लक्षण प्रकट हो गये जो कालांतर में उनके लीलासंवरण का निमित्त बन गयी।

इस घटना के बाद उसके दौरे बराबर आते रहे। उस समय उनके पेट में दाहिनी ओर पित्ताशय एवं वृक्क के बीच एक गोला-सा बन जाता था तथा उसमें और पेट के ऊपरी भाग में भीषण पीड़ा होती थी। दर्द का शमन होने के साथ-साथ वह गोला भी अदृश्य हो जाता था। कई प्रकार से एक्सरे लिये गये और पाखाना, पेशाब, खून आदि की भी जाँच की गयी। पर डाक्टर-वैद्य किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये कि इस पीड़ा का वास्तविक कारण क्या है। पित्ताशय एवं मूत्राशय में पथरी है, यह तो सभी डाक्टरों की निश्चित राय थी, पर पेट में जिस स्थान पर गोला बनता था, वह इन दोनों के कारण है—ऐसा निश्चितरूप से निदान नहीं हो सका। पेट की जितनी भीषण व्याधियाँ हो सकती हैं, सभी की आशंका किसी-न-किसी रूप में बतलायी जाती थी[1] जैसे—आँत का मुड़ जाना, पेट में फोड़ा बनना, आँत के किसी भाग का सड़ना, वात गुल्म, वृक्क का अपने स्थान से हट जाना आदि। कैंसर होने का भी संदेह हो रहा था। ४ नवम्बर १९७० को एक भीषण दौरा हुआ। उसके बाद गोले का पूर्णतया शमन हुआ ही नहीं। यद्यपि उसकी आकृति दौरा शांत हो जाने पर कुछ कम हो जाती थी, फिर भी उसके अस्तित्व का स्पष्ट अनुभव होता था तथा उसे दबाने से पीड़ा होती थी। इससे डाक्टरों का यह अनुमान और भी पुष्ट हो गया कि पेट में कैंसर पनप रहा है। १६ फरवरी, सन् १९७१ के पश्चात् पीलिया का अनुभव होने लगा—पेशाब पीला हो गया, आँखें पीली हो गयीं तथा शरीर भी पीला हो गया। जो गोला बना हुआ था, वह बहुत कड़ा हो गया और समूचा पेट अस्वाभाविक स्थिति में रहने लगा। अन्तिम दिनों में बीच-बीच में श्वास कष्ट का अनुभव होने लगा, जिससे भी यह स्पष्ट अनुमान होता था कि पेट में कैंसर

---

१. स्वर्गाश्रम ट्रस्ट के महामंत्री श्रीदेवधर शर्मा के पास भेजे गये ८ जून '७० के पत्र में पोद्दारजी के पत्र की निम्नांकित पंक्तियों से उसकी स्थिति का किंचित् आभास मिलता है—"इधर कई महीनों से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। पेट में कई शिकायतें हैं। बीच-बीच में दर्द हो जाता है तो पीड़ा बढ़ती है। कमजोरी बहुत अधिक है। शरीर परिश्रम जरा-सा भी नहीं कर पाता, इसलिए प्रायः लेटा ही रहता हूँ। मस्तिष्क भी ठीक नहीं है। इसलिए अधिकांश समय एकांत बंद कमरे में ही रहता हूँ। पत्र-व्यवहार भी प्रायः बंद-सा है, मिलना-जुलना भी बहुत कम हो गया है। भगवान का स्मरण होता रहे, संसार के रूप में स्मृति नहीं हो, यही करना है और इसी की चेष्टा में रहता हूँ।"

ही है। पर पेट को खोले बिना यह किसी के लिए निश्चितरूप से कहना सम्भव नहीं था कि रोग क्या है।

जनवरी मास के अन्तिम सप्ताह की बात है :

रोग बढ़ता जा रहा था। स्थानीय डाक्टर जिन्हें पोद्दारजी के परिवार का अंग ही समझना चाहिए, बहुत चिन्तित हो रहे थे। बीच-बीच में उनकी आँखें सजल हो जाती थीं। उनकी इस विवशता की स्थिति को देखकर पोद्दारजी ने कहा— 'आपलोग मुझे प्रेम से देखने के लिए आते हैं, तो मैं भी प्रेम से दिखा देता हूँ, दवा आदि ले लेता हूँ। जब आपलोगों को जाँच से कोई गम्भीर बात ज्ञात होती है, तब आपलोग बड़े गम्भीर हो जाते हैं, आपस में धीरे-धीरे परामर्श करने लग जाते हैं, पर मुझपर रोग की गंभीरता के ज्ञान का कुछ भी प्रभाव नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो होना है, वह होगा ही, पहले से ही उसके लिए रोने क्यों बैठें? मृत्यु जब आनी होती है, तभी आती है, उसकी चिन्ता और भय से बार-बार क्यों मृत्यु को प्राप्त हों? शरीर की अस्वस्थता को दूर करते के लिए आपलोग पूरे प्रयत्नशील हैं ही, मैं भी दवा ले रहा हूँ। बीमारी जब ठीक होने को होगी तभी होगी, जब बढ़नी होगी, तब बढ़ेगी ही। आपलोग अपनी समझ से अच्छे-से-अच्छा उपचार कर रहे हैं। इसपर भी बीमारी बढ़ती जा रही है। भीषण कष्ट है, पर अंदर-ही-अंदर मुझे बड़ा आनन्द है। पीड़ा के रूप में भगवान के सम्पर्क की अनुभूति हो रही है। कष्ट-पीड़ा के रूप में भगवान ही याद आते हैं, कष्ट-पीड़ा भी तो भगवान के ही रूप हैं।'

इसके बाद बहुत धीरे से कहा, ''कभी-कभी रोग को रोकना भी पड़ता है। भीषण पीड़ा हो रही है, खूब जोर का ज्वर चढ़ा है, हठात् कोई गुरुजन आ गये। अब उनका स्वागत करना अपना कर्तव्य है। उस समय रोग को कुछ देर के लिए रोक दिया जाता है। स्वागत-सत्कार होने के पश्चात् वह फिर ले लिया जाता है।''[१]

---

१. इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण बीमारी के प्रथम दौरे के समय उस समय देखने में आया, जब वे ऋषिकेश के गीताभवन में सत्संग-प्रवचन के क्रम में नियमित प्रवास पर थे। घटना इस प्रकार है—

एकबार प्रातःकाल से ही बड़े जोर का उदर-शूल हो रहा था, इसी बीच वयोवृद्ध बंगाली महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी अपने परिकर के साथ कीर्तन करते हुए उनसे मिलने आये। उनका स्वागत करना अपना धर्म समझकर पोद्दारजी ने उदर-शूल को थोड़ी देर के लिए छोड़ दिया। कमरे के बाहर आकर महाराजजी का स्वागत किया, प्रणाम किया। महाराजजी ने अपने साथियों को आदेश दिया··· उन्होंने कुछ देर मधुर नाम-संकीर्तन किया। पीछे महाराजजी ने बंगला में अपना कुछ लिखा हुआ संदेश हिन्दी अनुवाद करके सुनाने का आदेश दिया। उस आज्ञा का पालन हुआ तथा कुछ शब्द अपनी ओर से भी कहे। महाराजजी बाबा (स्वामी चक्रधर) के दर्शनार्थ भीतर उनकी कुटिया पर गये। पोद्दारजी भी उनके साथ गये। इसके बाद वे महाराजजी को विदा करने के लिए ४० सीढ़ी उतरकर

पोद्दारजी अपने उपचार के लिए पधारे हुए डाक्टरों का 'उपचार' करना चाहते थे। उन्हें उनके 'भवरोग'-नाश की चिन्ता थी। वे जानते थे कि डाक्टरों के पास समय का अत्यन्त अभाव रहता है, अतएव एकान्त में बैठकर भजन-पूजन करना उनके वश की बात नहीं। अतः जिस दिन अस्पताल में अवकाश होता था, वे सेवा में उपस्थित डाक्टरों को प्रेरित करते हुए कहते—'आपलोगों के पास जो रोगी आते हैं, उनकी सेवा भगवान की सेवा है। भगवान ने गीता में आदेश दिया है—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (१८/४६)

'अर्थात् जिसके जिम्मे जो काम हो, वह अपने उसी काम के द्वारा भगवान की सेवा करे।' आपलोगों के जिम्मे रोगियों की सेवा का काम है। वास्तव में रोगी के रूप में भगवान ही आपसे सेवा चाहते हैं। रोगी को देखते, उससे बात करते, उसको दवा देते समय यह भाव आपलोगों को मन में रखना चाहिए कि भगवान ही हमसे इस रूप में सेवा ले रहे हैं। जहाँ रोगी के रूप में भगवान की अनुभूति हुई, वहाँ उसका उपचार सुन्दर-से-सुन्दर रूप में होगा और वह क्रिया भजन बन जायगी तथा भगवान् की प्राप्ति करानेवाली हो जायगी।' डाक्टर इस प्रकार व्यावहारिक भजन का उपदेश प्राप्तकर कृत्कृत्य हो जाते थे।

दूसरे दिन पोद्दारजी उसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए फिर कहने लगे—'भगवान ने गीता में कहा है—

'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।' (३/९)

'अपने कर्तव्य का पालन करो—नहीं, नहीं, 'समाचर' अर्थात् भली प्रकार, ठीक-ठिकाने से उसका आचरण करो।' 'कैसे करो ?' 'मुक्तसंग—आसक्ति-ममतारहित होकर, लगाव न रखते हुए करो।' 'क्यों करो ?' 'तदर्थम्' अर्थात् भगवान की प्रसन्नता के लिए करो। आप समझें कि रोगी के रूप में स्वयं भगवान हैं, इनकी सेवा आसक्ति-ममता से रहित होकर अपनी पूरी समझ-बूझ के साथ करनी चाहिए।'

गंग तट पर नौका तक गये। महाराजजी को प्रणाम कर बिदा किया और जबतक नौका उसपार नहीं लगी, हाथ जोड़े एकटक उनकी ओर देखते हुए खड़े रहे। जब महाराजजी उस पार उतर गये और अपनी गाड़ी में बैठने के लिए चले गये, तब पोद्दारजी ने घर लौटना स्वीकार किया। ४० सीढ़ियाँ चढ़नी थीं। अभी २-३ सीढ़ी ही चढ़े थे कि अपने नाती सूर्यकान्त से बोले—'सूर्यकान्त ! आज सुबह से ही भीषण उदरशूल हो रहा था। बीच में महाराजजी आ गये। मुझपर बड़ी कृपा रखते हैं। इनका स्वागत करना था, इससे उदरशूल को रोक दिया था। अब उसे कह देते हैं कि 'आ जाय।' बस, इतना कहना था कि पुनः असह्य उदर-शूल आरंभ हो गया। हिम्मत करके ४-५ सीढ़ियाँ और चढ़े होंगे कि हृदय में पीड़ा अनुभव होने लगी। समूचा शरीर पसीने से लथपथ हो गया और बाध्य होकर वहीं सीढ़ियों पर बैठ जाना पड़ा। साथ वाले सब घबड़ाने लगे। हवा की गयी। थोड़ी देर में पसीना कुछ कम हुआ, तब किसी प्रकार ऊपर गये।

इस प्रकार अपने रोग को विस्मृतकर सर्वथा लाचारी एवं भीषण चिन्ता की स्थिति में भी वे सम्पर्क में आने वाले लोगों के सन्मार्ग-दर्शन में दत्तचित्त रहते थे।

फरवरी के प्रथम सप्ताह में सेवारत डाक्टरों को अपने विषय में चिन्तित देख-कर पोद्दारजी ने कहा—'आपलोग जब देखने आते हैं, उस समय मुझे रोग याद आता है, अन्यथा जब मैं दिन में कमरा बंद किये अकेला रहता हूँ, तब रोग की स्मृति मुझे प्रायः नहीं रहती। मैं अपने काम में—भगवत्-स्मरण में लगा रहता हूँ।' शरीर ही बीमार होता है, आत्मा बीमार थोड़े ही होती है। हमने शरीर के साथ अपना तादात्म्य कर रखा है, इससे शरीर की अस्वस्थता के साथ हम अस्वस्थ हो जाते हैं। दूसरे, हमारे विचारों का शरीर एवं स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मैंने फ्रांस के एक प्रसिद्ध डाक्टर की लिखी पुस्तक अंग्रेजी में पढ़ी है। उन्होंने यह समझाने के लिए कि 'विचारों का शरीर की स्वस्थता-अस्वस्थता पर कितना प्रभाव पड़ता है' लिखा है—"मेरा एक रोगी ठीक हो गया था। मैं उसे देखने उसके कमरे में गया तो मैंने पाया कि वह प्रायः स्वस्थ हो गया है। मैंने उसे देखकर कह दिया कि 'आप प्रायः ठीक हो गये हैं। आप की रिपोर्ट तैयार है, मँगवा लीजियेगा।' उधर मेरा एक दूसरा रोगी उसी दिन बहुत अधिक अस्वस्थ हो रहा था। मैं पहले रोगी को देखने के बाद उस रोगी को देखने उसके कक्ष में पहुँचा। रक्त, पेशाब आदि लेकर जब मैं अस्पताल गया और मैंने उन चीजों की जाँच करवायी तो मुझे लगा—यह रोगी अब जल्दी ही बिदा होने वाला है। मैंने तुरन्त उसकी रिपोर्ट तैयार की और उसमें लिखा कि अब 'आप जल्दी ही बिदा होने वाले हैं। जो काम आपको करना हो, कर लीजिये, वसीयतनामा लिखना हो तो वह लिख लीजिये।' मैंने रिपोर्ट अपने सहायक को दे दी। उससे रिपोर्ट भेजने में भूल हो गयी, मरणासन्न रोगी की रिपोर्ट ठीक होने वाले रोगी के पास भिजवा दी। ठीक हुए रोगी ने रिपोर्ट पढ़ी तो वह घबरा गया। रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा था, 'अब तुम्हारे बचने की कुछ भी आशा नहीं है।' बेचारा रोगी यह रिपोर्ट पढ़ते ही हक्का-बक्का-सा रह गया और वह सचमुच बिदा होने की स्थिति में आने लगा। घरवाले अचानक उसकी ऐसी स्थिति देखकर घबरा गये। दौड़कर वे अस्पताल से मुझे लिवा ले गये और उन्होंने बताया कि 'जब से रोगी ने आप की भेजी रिपोर्ट देखी है, तभी से उसकी हालत इस प्रकार गम्भीर हो गयी है।' मैंने अपनी भेजी रिपोर्ट माँगी और उसे देखते ही मैं समझ गया कि किस प्रकार कम्पाउंडर की भूल से दूसरे मरणासन्न रोगी की रिपोर्ट इसके पास पहुँच गयी है। मैंने रोगी को तथा उसके घरवालों को समझाया, 'यह रिपोर्ट भूल से यहाँ आ गयी है। आपकी रिपोर्ट अस्पताल में रखी हुई है। आप बिल्कुल ठीक हैं, आप घर लौट सकते हैं। इतना ही नहीं मैंने झटपट आदमी को भेजकर उनकी रिपोर्ट मँगवायी और उन्हें दिखायी। अपनी सही रिपोर्ट देखकर वह व्यक्ति प्रफुल्लित हो उठा और मृत्यु के

भय के कारण उसके शरीर में जो-जो विकृतियाँ उत्पन्न हुई थीं, वे सब ठीक हो गयीं। विचारों का इतना प्रभाव पड़ा।''

इसी प्रसंग में पोद्दारजी ने रतनगढ़ की एक घटना सुनायी—''एक सामान्य ब्राह्मण-परिवार में स्त्री ने श्रावणी पूर्णिमा के दिन श्रवणकुमार की आकृति द्वार पर अंकित करने के लिए एक लोटे में गेरू घोलकर रक्खा। पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात जल्दी ही भद्रा[1] लगनेवाली थी। अतएव उसने रात्रि में ही गेरू को पीसकर पानी में घोलकर लोटे में रख दिया था, जिससे सबेरे उठते ही वह भद्रा से पहले श्रवण की प्रतिकृति अंकित कर ले। चारपाई के नीचे लोटा रखकर वह सो गयी। पास की चारपाई पर उसके पति सोये थे। प्रातः सूर्योदय से पूर्व उन्हें शौच जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। वे उठे, चारपाई के नीचे रखा हुआ लोटा उठाया और शौच के लिए पास के जंगल में चले गये। मलत्याग करने पर जब उन्होंने अपवित्र अंग को धोया, तब देखा—सारी जमीन लाल हो गयी है। उनको लगा पाखाने के रास्ते इतना खून गिरा है। 'इतना खून गिरा है!'—यह बात मन में आते ही वे उठे, किंतु बेहोश होकर वहीं गिर पड़े। कुछ देर बाद किसी पड़ोसी ने उन्हें जंगल में अचेत अवस्था में पड़े देखा। वह जैसे-तैसे उन्हें घर लाया। उनकी हालत गम्भीर होने लगी। इधर स्त्री ने देखा कि आज 'त्योहार का दिन है, ये बीमार हो रहे हैं। त्योहार की पूजा नहीं हो पायेगी तो और अपशकुन होगा। भद्रा लगने-वाली है। उचित यही है कि जल्दी से श्रवण की आकृति अंकित कर दी जाय।' इसके लिए वह गेरू का लोटा ढूँढ़ने लगी, पर उसे वहाँ नहीं मिला। वह बहुत दुःखी हो गयी और घबरायी हुई कहने लगी, 'अरे, चारपाई के नीचे से लोटा किसने लिया?' ब्राह्मण को कुछ होश हो चला था, उसने पत्नी की बात सुनी। उसने हिम्मत करके जैसे-तैसे उत्तर दिया, 'चारपाई के नीचे रखा लोटा तो मैं शौच के लिए ले गया था।' स्त्री ने कहा, 'रात्रि में उसमें गेरू घोलकर रखी गयी थी, जिससे भद्रा लगने के पूर्व श्रवण की आकृति बना दी जाय।' गेरू की बात सुनते ही ब्राह्मण में चेतना आ गयी। वह हठात् उठ बैठा और पूछने लगा, ''क्या सचमुच उसमें घोली हुई वस्तु गेरू थी?' ब्राह्मणी ने उत्तर दिय, ''हाँ, उसमें गेरू ही थी''—इतना निश्चय होते ही ब्राह्मण की कायरता दूर हो गयी। वह उठ बैठा और कहने लगा, 'अरे, वह सब गेरू का रंग था, मुझे कुछ भी नहीं हुआ है। मेरे शरीर से खून नहीं गिरा है' और वह ठीक हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारों का, मन के भावों का शरीर पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।''

पोद्दारजी ने आगे कहा, ''क्रोध के आवेश से रक्तचाप बढ़ जाता है, हृदय

१—ज्योतिषशास्त्र का एक योग, जिसमें शुभकार्य नहीं किये जाते।

की धड़कन बढ़ जाती है। जो व्यक्ति हृदय की तकलीफ से बचना चाहता हो, वह क्रोध करना छोड़ दे।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए डाक्टर को चाहिए कि जब वह रोगी को देखे, तब मुख की मुद्रा को कभी गम्भीर न बनाये। हँसमुख रहे। इससे रोगी का बहुत कुछ रोग बिना दवा ही ठीक हो जाता है।''

पोद्दारजी के इस गम्भीर-विवेचन से डाक्टर बहुत प्रभावित हुए। रोगमुक्ति के प्रयास में उन्हें भवमुक्ति के सूत्र मिल गये।

१७ फरवरी की बात है—

डाक्टरों की श्रद्धापूर्ण सेवा से गद्गद हो पोद्दारजी ने कहा—'आपलोगों का प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है, इसका आपलोग कुछ विचार न करें। आप सद्भाव एवं प्यार दे रहे हैं। हमें उससे बड़ा बल मिलता है। सद्भाव एवं प्यार भरे हृदय का बड़ा प्रभाव होता है। यह बात केवल कहने की नहीं है, सत्य है।'

मुँह से पथ्य प्रायः भीतर नहीं जा पा रहा था। अतएव पोषण के लिए नस-द्वारा ग्लूकोज सैलाइन चढ़ाया जाता था। २५ फरवरी को उस प्रक्रिया की व्यवस्था के समय पोद्दारजी ने कहा, ''प्रार्थना का बड़ा चामत्कारिक प्रभाव होता है। इसके द्वारा भीषण-से-भीषण रोग ठीक हो सकते हैं। इसकी एक घटना स्मरण हो आयी है। कलकत्ता में श्रीरूड़मलजी गोयन्दका एक प्रसिद्ध व्यवसायी हुए हैं। एकबार उनको प्लेग हुआ। १०४-१०५ डिग्री बुखार और दोनो जाँघों में बड़ी-बड़ी गिल्टियाँ निकल आयी थीं। उस समय कलकत्ता में सर कैलासचन्द्र बोस बड़े प्रसिद्ध डाक्टर थे। उन्हें बुलाया गया। उन्होंने देखकर कहा 'बचने की आशा बिलकुल नहीं है। रात निकलना कठिन है। सावधान रहना चाहिए।' वे यह कहकर चले गये। रूड़मलजी संस्कृत के पंडित थे। भागवत पढ़ा करते थे। भागवत-माहात्म्य में एक जगह नारदजी ने श्रीसनकादि से उनकी प्रशंसा में कहा, ''आप सदा बालकरूप में इसलिए बने रहते हैं कि आप 'हरिःशरणम्' मन्त्र का जप नित्य करते हैं।'' रूड़मलजी को वह प्रसंग स्मरण हो आया। उन्होंने अपने सेवक गोविन्द को बुलाया और कहा, 'गंगाजल लाओ, शरीर पोछेंगे।' गंगाजल आ गया। उन्होंने अँगोछे को गंगाजल में भिगोकर सारा शरीर पोंछवाया। कमरा बन्द करके भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति सामने रख ली और श्रीकृष्ण में मन लगाकर 'हरिःशरणम्' मन्त्र का जप करने लगे। एक दो घण्टे तक तो वे जप करते रहे, पीछे उन्हें स्मरण नहीं रहा कि क्या हुआ। लगभग ४ बजे जब चेतना हुई, तब उन्हें लगा—शरीर हलका है, बुखार नहीं है। उन्होंने टटोलकर देखा—दोनों गिल्टियाँ भी गायब हैं। तब उन्होंने उठकर एवं चलकर देखा—बिल्कुल स्वाभाविकता अनुभव हुई। इसके बाद कमरे का दरवाजा खोला और

नौकर को आवाज दी। नौकर आया और सेठजी अपने दैनिक कृत्य में लग गये। अब वे बिल्कुल स्वस्थ थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल सर कैलास रूड़मलजी के पड़ोस में एक अन्य रोगी को देखने आये। रोगी को देखने के बाद डाक्टर साहब ने सेठजी के परिवार के एक सज्जन से पूछा, 'आपलोग रात्रि में कितने बजे श्मशान से लौटे ?' उन्होंने पूछा, 'किसकी अन्त्येष्टि की बात कह रहे हैं ?' डाक्टर साहब बोले, 'रूड़मल सेठ की हालत रात में बहुत अधिक खराब थी। रात्रि में उनका शरीर शान्त हो गया होगा और अन्त्येष्टि भी हो गयी होगी। आप को पता नहीं चला क्या ?' सेठजी ने कहा, 'हमें तो कुछ भी पता नहीं।' तब डॉक्टर साहब पता लगाने रूड़मलजी के घर पर स्वयं गये। जाते ही उन्होने देखा कि पीताम्बर पहने रूड़मलजी चाँदी की चौकी पर बैठे हैं और चाँदी के थाल में प्रसाद पा रहे हैं। उन्हें इस प्रकार खाते देख डाक्टर साहब को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्हें लगा, इन्होंने रात जैसे-तैसे निकाल दी है और अब ये सन्निपात की अवस्था में खाने बैठ गये हैं। डॉक्टर साहब ने पूछा, 'सेठजी ! किसके कहने से खा रहे हैं ?' सेठजी बोले, 'जिसकी दवा से ठीक हुए हैं।' इतना सुनने पर भी डॉक्टर साहब को लगा कि वे सन्निपात में ही बोल रहे हैं। डॉक्टर साहब घरवालों को सावधान करके चले गये कि 'आपलोग ख्याल रक्खें, ये सन्निपात में खा रहे हैं।' पर सेठ रूड़मलजी तो व्याधिमुक्त हो गये थे। उन्होंने छककर प्रसाद पाया और पूर्ण स्वस्थ रहे।

पीछे श्रीरूड़मलजी ने स्वयं पूरी बात सुनायी, "जब डॉक्टर साहब ने कह दिया कि रात्रि निकलनी कठिन है, तब हमें मरने का सोच तो रहा नहीं। भागवत-माहात्म्य के अन्तर्गत श्रीनारद-सनकादि का प्रसंग स्मरण हो आया और हमने श्रीसन-कादि के प्रिय मन्त्र 'हरिःशरणम्' का जाप शुरू कर दिया।"

पोद्दार जी ने कहा, "ऐसे अनेक प्रसंग हमने देखे, सुने तथा अनुभव किये हैं कि भगवान् पर विश्वास हो और सच्चे हृदय से भगवान् से प्रार्थना की जाय, तो भगवान् के यहाँ सब कुछ सम्भव है। पर मेरे यह सब सुनाने का अर्थ यह नहीं कि आपलोग मेरे लिए प्रार्थना करें। मेरे मन में न जीने की इच्छा होती है, न मरने की। जैसा भगवान् ने रच रखा है, वही होना चाहिए। हम 'शरीर' तो हैं नहीं, हम हैं 'आत्मा'। शरीर के जाने से आत्मा का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पीड़ा शरीर में होती है। कभी अनुभव होती है, कभी नहीं भी होती। आपलोग निश्चिन्त हो जायँ और निश्चय कर लें तो कल से दवा बन्द कर दें। फिर जैसा होना होगा, हो जायगा। उसके लिए भगवान् के विचार को बदलने की हमलोग चेष्टा ही क्यों करें ? भगवान् से प्रार्थना हो तो उनके विधान के अनुकूल हो। यदि कहीं भगवान् के विधान के विरुद्ध हमारी इच्छा हो, तो उसे वे पूरी न करें—यह प्रार्थना करनी चाहिए।"

अवसान के पथ पर

पोद्दार जी के भौतिक कलेवर का भगवान् के विधानानुसार अब अवसान होना था। अतएव शरीर उस ओर अग्रसर हो रहा था। कोई भी उपचार सफल नहीं हो पा रहा था।

चिकित्सारत स्थानीय डाक्टरों के अनवरत प्रयास के बावजूद उनकी शारीरिक स्थिति में जब कोई सुधार लक्षित नहीं हुआ, तो गोरखपुर से बाहर के कैंसर-विशेषज्ञों को बुलाने का निश्चय हुआ। २६ फरवरी को कानपुर मेडिकल कॉलेज के सर्जरी के प्रोफेसर डॉ० ताराचन्द पोद्दारजी को देखने के लिए आये। निरीक्षण करने के बाद रोग की भीषणता देखकर वे चिंतित हो उठे। उन्होंने बड़े गम्भीर स्वर में राय दी, 'तत्काल आपरेशन किया जाना चाहिए, अन्यथा जीवन को खतरा है। इतना गम्भीर ऑपरेशन यहाँ होना सम्भव नहीं, बाहर जाना चाहिए।' डाक्टर साहब की राय सुनकर स्वजन एवं स्थानीय डाक्टर घबरा गये। सबकी यही राय हुई कि बाहर ले जाकर ऑपरेशन तत्काल कराया जाय। स्वजनों की भय एवं चिन्ता से अभिभूत मनःस्थिति देखकर पोद्दारजी ने डा० चक्रवर्ती को अपने पास बुलाकर धीरे-से कहा, 'शरीर में मेरी आस्था नहीं है। शरीर जब जाना होगा, जायगा। कर्तव्य है कि जबतक शरीर है, तबतक इसकी सँभाल करनी चाहिए।' पीछे पोद्दारजी बंगला में बोलने लगे—

'आमार शरीरेर संगे सम्बन्ध रयेछे बलिया वेदनार बोध हय। जखन शरीरेर संगे आमार सम्बन्ध थाके ना, तखन व्यथा अनुभव करिबार प्रश्न उठे ना।' अर्थात्—हमारा जब शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है, तब वेदनाका बोध होता है, पर जब शरीर से अपने को पृथक् अनुभव करता हूँ, तब कष्ट के अनुभव का प्रश्न ही नहीं रहता। पर यह बात आप से कहने में संकोच नहीं है, कारण, आप श्रीरामकृष्ण परमहंस के भक्त हैं। बाहर जाने पर वहाँ के स्वजनों एवं डाक्टर के सामने यह बात कहने में हमें संकोच होगा। अपने में तनिक भी अभिमान व्यक्त न हो तथा डाक्टर महानुभावों का अपमान भी न हो—इसका ख्याल रखना है। मेरे उपर्युक्त कथन में लोगों को अभिमान दीखेगा और डॉक्टर महानुभाव अपना अपमान मानेंगे कि हमारे चिकित्सा-विज्ञान-सम्मत परामर्श को ये लोग भावुकतावश अस्वीकार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त रोगी के शरीर को लाचारी की स्थिति में आवश्यक उपचार करना डाक्टरों का कर्तव्य है। हम अपने सिद्धान्त की दृढ़ता से आवश्यक उपचार करने के मार्ग में बाधा उपस्थित करके उन्हें कर्तव्यच्युत करें—हमें इस बात का भी संकोच है।' अपने सिद्धान्त की रक्षा के साथ दूसरे के कर्तव्यपालन का इतना ध्यान इस लाचारी की स्थित में भी पोद्दारजी रख रहे हैं—यह देखकर डाक्टर चक्रवर्ती भाव-विभोर हो गये।

अंतिम श्वास तक सिद्धांत-रक्षा

कुटुम्बियों, श्रद्धालुओं तथा चिकित्सकों—सबके ऑपरेशन विषयक आग्रह को अस्वीकार करने के पीछे एक गूढ़ सैद्धान्तिक कारण था। उसे बड़े ही विनम्र शब्दों में व्यक्त करते हुए पोद्दारजी ने कहा,—

'भगवान पर विश्वास करके अपनी जो मान्यता है, सिद्धांत है; उसके अनुसार इलाज किया जाय। किसी का तिरस्कार न हो जाय, मुझे यह संकोच बना है। बाहर जाने पर हमारा संकोच और बढ़ेगा। वहाँ डाक्टरों ने परिस्थिति की गम्भीरता को समझकर कोई बात कही और हम उसे न मान पाये, तो उनका तिरस्कार होगा। वे लोग इन्सुलिन-जैसी अशुद्ध, अपवित्र, हिंसायुक्त ओषध देंगे, सब लोग कहेंगे—'शरीर बचाना धर्म है, पीछे प्रायश्चित्त कर लिया जायगा।' इस प्रकार अशुद्ध ओषध सेवनकर पीछे प्रायश्चित्त करने की बात छोड़िये। वह हमें किसी भी रूप में मान्य नहीं है। इन सभी कारणों से बाहर जाने में हम हिचकते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम ऑपरेशन से डरते हैं। ऑपरेशन कराने में हमें कोई डर नहीं है। ऑपरेशन कराने वाले बहुत से लोग अच्छे हो जाते हैं, हमारा रोग अच्छा नहीं होगा, कौन कह सकता है? अच्छा होना होता है तो हो जाता है, नहीं होना होता है तो नहीं होता है। चिकित्सा कर्तव्य है, करनी चाहिए; पर दवा रोगी को बचा नहीं सकती। इसके अतिरिक्त हम जानते हैं, कि शरीर से हमारा सम्बन्ध नहीं है, शरीर की बीमारी से आत्मा बीमार नहीं होती, वह मरेगी नहीं और जबतक शरीर बीमार है, यह रहेगा—

> देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
> तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
>
> —गीता २/१३

'जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है।' ये सब बातें जीवनभर कहीं हैं, पढ़ी हैं। ये सब अपने लिए नहीं है क्या? वास्तव में हमलोगों को मोह हो गया है। नाम-रूप को लेकर हमने मान लिया है कि 'मैं देह हूँ' और अपने को बीमार अनुभव करने लगे हैं। न 'यह' देह है, न 'यह' बीमार है।'

उसी दिन संध्या के समय स्वजनों के सामने प्रातःकाल के प्रसंग को दोहराते हुए पोद्दारजी ने बोलने की शक्ति क्षीण होने के कारण बीच-बीच में विराम लेते हुए कहा, "हम बाहरवालों के समक्ष भी अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रह सकते हैं, पर उसमें उनका तिरस्कार होने का मन में संकोच है। पीड़ा शरीर में है। जब हम उसे स्मरण नहीं करते, तब पीड़ा अनुभव नहीं होती। अभी हमारे पेट में बहुत दर्द था और है, पर जबतक आपलोगों से बात की, तबतक उसका कुछ भी अनुभव नहीं रहा,

दर्द को भूले रहे। बाहर जाने पर बाहर के डॉक्टरों-मित्रों का तिरस्कार न हो जाय, हमें इसी की विशेष चिन्ता है। इसके अतिरिक्त हमारे मन में आता है कि बाहर जाने की बात तभी होती है, जब आपलोगों के उपचार से लाभ न हो; पर आपलोगों के विशुद्ध प्यार से भरे हृदय में तो भगवान् प्रकाश नहीं देंगे, बम्बई कलकत्ता के बड़े-बड़े डॉक्टर, जो पैसे को प्रधानता देकर आयेंगे तथा सब काम करेंगे उनको भगवान प्रकाश देंगे—यह तो केवल आस्तिकता का जनाजा है, उपहास है। जगत् की दृष्टि से जो अच्छे-से-अच्छे साधन उपलब्ध हों उनको किया जाय, पर विश्वास भगवान् के मंगल-विधानपर रहे। हमारा विचार तो निश्चित है—किसी भी हालत में 'इन्सुलिन' नहीं लेनी है, चाहे प्राण रहे या जाय।

ओषध-सेवन में अहिंसाव्रत की रक्षा पोद्दारजी का जीवन-सिद्धान्त था। शरीर की अस्वस्थता में उपचार करवाते थे, पर इस बात का वे बराबर ध्यान रखते थे कि जो ओषध वे ले रहे हैं, उसमें किसी भी रूप में कोई जान्तव पदार्थ या अन्य कोई अशुद्ध वस्तु न हो। आजकल पशु-पक्षियों की हत्या कर उनके रक्त, मांस एवं विभिन्न अंगों के रसों से विविध प्रकार की दवाओं का निर्माण हो रहा है, जो अनेक भीषण रोगों में लाभप्रद सिद्ध हुई हैं। परन्तु पोद्दारजी इस प्रकार की दवाओं से सदा सावधान रहे। वे प्रयोग की जानेवाली प्रत्येक ओषध में सम्मिलित किये गये पदार्थों के विषय में पूरी जानकारी करने के पश्चात् ही उसका सेवन करते थे। किसी ओषध में यदि तनिक भी कोई जान्तव पदार्थ सम्मिलित पाया जाता, तो वे उसे नहीं लेते थे, फिर चाहे वह कितनी ही लाभकर क्यों न हो।

लगभग बीस वर्षों से उन्हें मधुमेह (डायबिटीज) की बीमारी थी। इसके लिए वे अपने भोजनपर बराबर नियन्त्रण रखते थे तथा आवश्यक होने पर कुछ दवा भी ले लिया करते थे। मित्रों तथा डाक्टरोंने 'इन्सुलिन' का इन्जेक्शन लेने के लिए अनेक बार कहा, पर वे जानते थे कि 'इन्सुलिन' पशुओं के किसी अंगविशेष के रस से बनती है। अतएव उन्होंने कभी उसका सेवन नहीं किया।

रोग बढ़ता जा रहा था। उसके विकराल रूप को देखकर सभी चिन्तित हो गये। २७ फरवरी को दिल्ली के प्रसिद्ध सर्जन डा० मेहरा पोद्दारजी को देखने के लिए आये। परिस्थिति की गम्भीरता को समझकर उन्होंने राय दी, 'घरवाले इनका जीवन महीनों-वर्षों तक देखना चाहते हैं, पर वर्तमान परिस्थिति में ये कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। ऑपरेशन करने से आशा है कि कुछ लाभ हो, पर रक्त में शर्करा रहने के कारण वह खतरे से खाली नहीं होगा। हम पूरा प्रयत्न करेंगे कि इनके सिद्धान्त की रक्षा के लिए इन्हें 'इन्सुलिन' के इन्जेक्शन न दिये जायँ। स्थानीय डाक्टरों तथा कतिपय स्वजनों ने पोद्दारजी पर दबाव डाला कि वे ऑपरेशन के लिए तैयार हो जायँ। पोद्दारजी ने डा० मेहरा से पूछा, 'ऑपरेशन के बाद यदि मधुमेह

के कारण घाव नहीं भरा तो आप क्या करेंगे ?' सर्जन पोद्दारजी से सच्ची बात न छिपा सके। वे बोले, 'उस स्थिति में हम आपकी जीवन-रक्षा के लिए आपसे छिपाकर 'इन्सुलिन' दे देंगे। उस समय हमारा कर्तव्य किसी भी उपाय से आपके जीवन को बचाना होगा। पेट के ऑपरेशन में इन्सुलिन के इन्जेक्शन के सिवा मधुमेह के नियन्त्रण के लिए दूसरा कोई साधन हमारे पास नहीं है।' इसपर पोद्दारजी ने कहा, 'इन्सुलिन का प्रयोग करके अपना जीवन बचाना मैं नहीं चाहता। जीवन तो एक दिन जाना है ही, फिर किसी प्राणी की हिंसा से बने 'इन्सुलिन' को लेकर इसे बचाने का पाप क्यों स्वीकार किया जाय ?' और उन्होंने ऑपरेशन न कराने का अपना निश्चय सब डाक्टरों और स्वजनों को सुना दिया। डॉ० मेहरा पोद्दारजी की इस दृढ़ता को देखकर चकित रह गये। उन्होंने कहा, 'भाईजी ! आपकी महानता का यही हेतु है कि आप सिद्धान्त को जीवन से भी श्रेष्ठ मानते हैं। अन्यथा हम जानते हैं कि बड़े-बड़े धार्मिक लोग 'इन्सुलिन' का प्रयोग बिना किसी हिचक के बराबर कर रहे हैं।'

उपचार चल रहा था, पर स्थिति में सुधार होने के स्थानपर वह निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। सेवारत लोगों की उद्विग्नता को देखकर पोद्दारजी ने कहा, 'देखिये, विपरीत स्थिति में भगवान् पर विश्वास बढ़ता रहे, यही आस्तिकता है।.... मैं अभी सोच रहा था कि व्यष्टि एवं समष्टि में भी ऐसे अवसर आते हैं, जब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छा जाता है। जहाँ भी हाथ डालिये, निराशा और असफलता ही मिलती है। जिससे सुरक्षा की आशा करते हैं, उससे पराभव प्राप्त होता है। इसी प्रकार शरीर की ऐसी स्थिति हो रही है कि जो-कुछ भी दिया जाता है, वह विपरीत फल दिखाता है। आप लोग अपनी समझ से पूर्ण सद्भावना से उपचार कर रहे हैं। इस स्नेह-प्यार के लिए मैं आपलोगों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। प्यार-स्नेह का बदला नहीं दिया जा सकता, भगवान उसका बदला देते हैं। आपलोग विश्वास रखें, यह भगवान् का विपरीत रूप है। भगवान का भयानक रूप भी होता है। मैं भीतर से बहुत प्रसन्न हूँ। जब कष्ट अधिक होता है, तब उसका अनुभव होता है, पर मेरे मन में चिन्ता नहीं है। अपने कर्तव्य में कमी नहीं करनी चाहिए, अभी रोग और बढ़ सकता है—मस्सा (बवासीर) हो सकता है, बीकोलाई हो सकती है। जब राजा कमजोर होता है, तब छोटे-छोटे शत्रु भी सिर उठाने लग जाते हैं। ऐसी ही इस शरीर की दशा हो रही है। वह अत्यधिक कमजोर हो गया है। अतएव नये-नये रोग प्रकट हो रहे हैं। आपलोग चिन्ता न करें। जैसा होना है, होगा और उसमें मंगल ही होगा।'

रोग की निरन्तर बिगड़ती स्थिति को देखकर पार्श्ववर्ती हताश होने लगे। जो भी पोद्दारजी के दर्शनार्थ आता, उसकी आँखें छलक पड़तीं। ३ मार्च को अपने पुराने सहयोगी, डॉ० भुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' की आँखों में आँसू देखकर उन्हें सान्त्वना देते हुए पोद्दारजी ने कहा, 'प्रतिकूलता में भगवान् के मंगल-विधान

पर विश्वास हो तभी तो विश्वास है। शरीर रहे चाहे न रहे, उनसे यह न कहा जाय कि आप इस प्रतिकूलता को बदलिये'।

पोद्दारजी के २६ फरवरी के उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद गोरखपुर से बाहर जाकर ऑपरेशन कराने की बात तो समाप्त हो गयी थी, पर बाहर से डॉक्टर बुलाकर परामर्श करने का आग्रह सब ओर से हो ही रहा था। ४ मार्च को बम्बई से कैंसर का विशेषज्ञ बुलाने की चर्चा चली। पोद्दारजी को इस बात की जानकारी हो गयी। वे घरवालों से बोले, 'डाक्टरों को बाहर से क्यों बुला रहे हो? जो बाहर से आयेंगे, वही बात बतायेंगे, जो यहाँ के डाक्टर बतला रहे हैं। बाहर से डाक्टरों को बुलाने में जो रुपया खर्च कर रहे हो, वह गरीबों की सेवा में खर्च करना चाहिए।'

६ मार्च को दर्द का भीषण दौरा आया। कई तरह के इंजेक्शन देने के बाद लगभग एक घण्टे में कुछ शान्त हुआ। डॉ० केदारनाथ लाहिड़ी आज के दर्द की भीषणता को देखकर घबरा गये। पोद्दारजी ने बड़े धीमे स्वर में उनसे कहा, भगवान् का वचन है—

आमि तोमार कथा शुनिबो ना।
आमि तोमार कथा मानिबो ना।
आमि यथेच्छाचारी,
जा इच्छा होबे करिबो,
तातेइ तोमार कल्याण।

'मैं तुम्हारी बात सुनूँगा नहीं, मैं तुम्हारी बात मानूँगा नहीं, मैं यथेच्छाचारी हूँ। जो मन में आयेगा करूँगा और उसी में तुम्हारा मंगल है।'

७ मार्च को अपने परिवार के व्यक्तियों के समक्ष पोद्दारजी ने कहा,

'जब से मैंने होश सँभाला है, किसी का बुरा नहीं किया है, न चाहा है; सबमें भगवान् को देखने का प्रयत्न किया है।[1] इसमें कहीं सफल हुआ हूँ, कहीं असफल

---

१. पोद्दारजी की अनुभूति थी कि भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। उनकी यह अनुभूति 'कल्याण' के प्रकाशन के पूर्व से ही थी। अपनी इस मान्यता को उन्होंने विक्रम सं० १९८० से पूर्व एक पद में अभिव्यक्त किया था, जो इस प्रकार है—

देख दुःख का वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरों के साथ॥
नाथ छिपा लो तुम मुँह अपना, चाहे अति अँधियारे में।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोने में, जग सारे में॥
रोग-शोक, धनहानि, दुख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम, सब ही तुममें है, अथवा सब तुम्हारे ही वेष॥

भी । शत्रु तो मेरा कोई है ही नहीं।....शरीर में कष्ट होने से मुझे उसकी अनुभूति होती है, पर मैं भीतर से बहुत प्रसन्न हूँ।'

१० मार्च की रात्रि में साढ़े ग्यारह बजे पोद्दारजी का जी घबराने लगा। पास में बैठी दौहित्री राधा ने कहा, 'नानाजी! आपका जी घबरा रहा है?' पोद्दारजी ने कहा, "हाँ, जी घबराता है पर, मेरा क्या लेता है?' दौहित्री ने उत्तर दिया 'नानाजी! आपकी व्याकुलता देखकर हमलोगों का जी घबराता है।' पोद्दारजी पुनः बोले, 'न जीने का अर्थ है, न मरने का अर्थ है, सब व्यर्थ है। जो जी को अपना मानता है, उसका जी घबराता है। मैं जी को अपना नहीं मानता, तो मेरा जी क्यों घबरायेगा?'

रोग बढ़ता जा रहा था एवं पोषण-तत्त्व किसी भी रूप में शरीर में नहीं पहुँच पा रहा था; इससे उन्हें बोलने में कष्ट हो रहा था। ८ मार्च को अचानक उनके मन में आया कि अपनी इस अनुभूति को लिखित रूप में जगत् को दे जाऊँ। उन्होंने सर्वथा अशक्ति की अवस्था में भी काँपते हुए हाथों से कलम पकड़ी और लेटे-लेटे दो पद लिखे, जो उनकी उस समय की मनःस्थिति के सजीव चित्र हैं। जगत् के लिए उनके वे अन्तिम लिखित उपदेश हैं। उन्होंने ये दोनों बंगला लिपि में लिखे। शारीरिक अशक्ति से हाथ काँपने के कारण उक्त पदों की लिखावट अस्पष्ट है। बहुत प्रयत्न करने पर भी अभी तक वे दोनों पद पूरे पढ़ने में नहीं आये। उनका जितना अंश स्पष्ट हो पाया है, वह नीचे दिया जा रहा है—

अबकी बार व्याधि........पीड़ा सज प्रिय तुम आये।
बीच-बीच में स्वांग बदलते रहते तुम मन भाये॥

देख तुम्हारी इस आकृति को घरवाले थर्राये।
....
....
....

छोड़ शरीर तुम्हें पा नित मैं सानंद मौन समाऊँ।
.... मैं सुख-संग सिधाऊँ॥

तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब फिर मैं किसलिए डरूँ।
मृत्यु साज सज यदि आओ तो चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख-वेष धारणकर, नाथ!
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरों के साथ॥

इसके पश्चात् 'कल्याण' के माध्यम से तथा प्रवचनों द्वारा अपनी इस अनुभूति को उन्होंने सहस्रों बार दोहराया।

पर कैसे बच्चों, मित्रों, घरवालों को समझाऊँ ।
कैसे आश्वासन दूँ, कैसे उन्हें रहस्य बताऊँ ।।

× × ×

मेरी करुण प्रार्थना सुनकर इन्हें तुम्हीं समझा दो ।
.... सबको कुछ अपना मर्म जता दो ।।
हो जायें ये निहाल जानकर गूढ़ रहस्य तुम्हारा ।
मिट जाये तुरन्त इनका भ्रम, शोक, मोह, दुःख सारा ।।
पा जायें ये तुमसे, प्यारे ! ज्ञान-प्रेम सुख-आलय ।
सदा-सर्वदा को मिट जाये मायामय दुःखालय ।।
तुमसे होता नहीं अमंगल कभी किसी का, प्यारे ।
करते नित मंगल .... ।।
भोक्ता-भोग्य-भोग-सब-कुछ ही यहाँ बने हो तुम ही ।
खेल-खिलौना बने .... खेलते तुम ही ।।
कभी .... सब बन स्वयं नाचते-गाते ।
कभी व्याधि........दुख-शोक-मोह सज पड़े सिसकते ।।
.... ।।
लीलामय ! तुम नित मनमानी लीला करते रहते ।
क्यों ऐसी रचना करते हो, मजा तुम्हें क्या आता ।
होता कोई .... तो इसे समझ कुछ पाता ।।

× × ×

१३ मार्च की रात्रि में पोद्दारजी डा० चक्रवर्ती से बोले—'आप जो कर रहे हैं, वह भगवान् की सेवा कर रहे हैं और भगवान् की सेवा करने वाले को भगवान् ही मिलते हैं ।'' इसके पश्चात् परिवारवालों, एवं मित्रों के प्यार की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, ''गोस्वामीजी (श्रीचिम्मनलाल) जब से आये हैं, तब से सर्वथा मेरे अनुकूल रहकर सब काम कर रहे हैं । बाबा (स्वामी चक्रधरजी) के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ ? वे मेरे भक्त हैं, मैं उनका भक्त हूँ ।' अपने जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने उन्हीं बातों को दोहराया, जो ७ मार्च को कही थीं । अन्त में बोले, 'जिन-जिनको मैंने भगवद्धाम-प्राप्ति का आश्वासन दिया है, उन्हें निश्चित रूप से उसकी प्राप्ति हो जायगी, उन्हें विश्वास रखना चाहिए ।' उस दिन उनके कहने में सबको ऐसा लगा, जैसे वे सबसे विदाई ले रहे हों । उनकी बातें सुनने पर सभी के नेत्र बरस पड़े । वातावरण अत्यन्त गम्भीर हो गया ।

१४ मार्च को सायंकाल से शरीर की स्थिति गम्भीर होने लगी । रक्तचाप बहुत कम हो गया, नाड़ी रुक-रुककर चलने लगी, हृदय की ध्वनि में परिवर्तन और श्वास की गति में विकार आ गया । डॉक्टर-वैद्यों की राय में पोद्दारजी के

लिए प्रभात का दर्शन कठिन था, पर इस गम्भीर स्थिति में भी वे निश्चिन्त, शान्त और सुस्थिर थे।

रात्रि में साढ़े बारह बजे जब डॉक्टर चक्रवर्ती उनकी नाड़ी की स्थिति जानने की असफल चेष्टा कर रहे थे, तो पोद्दारजी ने बहुत ही मन्द स्वर में कहा, 'विचार-शक्ति बिल्कुल ठीक है, स्मरण-शक्ति कभी ठीक रहती है, कभी नहीं। मुँह से बोला नहीं जाता।' इतना कहकर उन्होंने अपने काँपते हुए दाहिने हाथ को धीरे-से ऊपर किया और डॉक्टर साहब से इशारे से पूछा, 'आपने भोजन किया कि नहीं ?' जहाँ घड़ी-पल गिने जा रहे थे, वहाँ पोद्दारजी को डॉक्टर साहब के भोजन की चिन्ता बनी थी। इससे उनकी वास्तविक स्थिति का पता चलता है।

भगवान के विधान से शरीर को अभी कुछ दिन और रहना था। अतः दूसरे दिन प्रातःकाल स्थिति में सुधार हो गया। नाड़ी पुनः अपने स्थान पर आ गयी, श्वास की गति स्वाभाविक हो गयी, पर यह स्थिति २४ घंटे बाद फिर परिवर्तित होने लगी। २-३ दिन बाद तो कई भीषण उपद्रव बढ़ गये, किंतु उस सर्वथा असमर्थ शारीरिक अवस्था तथा असह्य कष्ट में भी पोद्दारजी के मुख पर, और आँखों में वही प्रसन्नता, वही गम्भीरता, वही स्थिरता, और वही निश्चिन्तता, वही प्यार झलक रहा था। उनकी विचारशक्ति पूर्णरूप से ठीक थी और मन इष्ट में स्थिर था। जब पीड़ा अधिक होती, तब मुख से 'राम-राम' या 'नारायण-नारायण' निकलता था।

श्रीभगवन्नाम की इस निष्ठा का वे अन्तिम श्वास तक निर्वाह करते रहे। २० मार्च की रात्रि की बात है—पोद्दारजी के नीचे के होंठ हिल रहे थे, मानों उनमें कम्पन हो रहा हो। डा० चक्रवर्ती के मन में आया कि मुँह में दाँत न होने के कारण होंठ काँप रहा है। यदि इस प्रकार बराबर होंठ में कम्पन होता रहा तो दुर्बलता बढ़ती जायगी। वे पोद्दारजी के समीप बैठकर बोले, 'भाईजी ! आपका होंठ काँप रहा है, दाँत लगा दिये जायँ, जिससे काँपना बन्द हो जाय। कम्पन दुर्बलता बढ़ायेगा।' डॉ० साहब की श्रद्धापूर्ण सलाह से पोद्दारजी का हृदय भर आया और उन्होंने अपनी वास्तविक बात उन्हें बतला दी। बोले, 'जप करछि (जप कर रहा हूँ)।' यह उस समय की बात है जब उनके शरीर का प्रत्येक कोष पानी की एक-एक बूँद के लिए तरस रहा था, मुँह में 'थ्रश' (एक रोग विशेष, जिसमें जीभ, मसूढ़ों एवं गले में घाव हो जाते हैं, उनपर सफेद पपड़ी आ जाती है) के कारण ड्रॉपर से बूँद-बूँद करके पानी जीभपर डाला जा रहा था। ६ दिन पूर्व से ही नसद्वारा ग्लूकोज चढ़ाने की क्रिया भी बन्द थी।

लीला-प्रवेश

महाकाल के रूप में प्रियतम के सान्निध्य-प्राप्ति की बेला धीरे-धीरे निकट आने लगी। २१ मार्च के दोपहर में कलाई के समीप से नाड़ी लुप्त हो गयी, रक्तचाप

बहुत कम हो गया, श्वास-कष्ट बढ़ गया तथा पेट में भीषण दर्द आरंभ हो गया। इंजेक्शन दिये गये; किन्तु दर्द का प्रकोप कम नहीं हुआ। धीरे-धीरे नाड़ी ने कोहनी का स्थान भी छोड़ दिया, तब भी पोद्दारजी की विचार-शक्ति अप्रभावित रही। सभी डाक्टर-वैद्य आश्चर्यचकित थे।

जैसे-तैसे २२ मार्च १९७१ का प्रातःकाल आया। पोद्दारजी की चिन्तनीय स्थिति की सूचना सारे नगर में बिजली की तरह फैल गयी। करुणामूर्ति के अंतिम दर्शनों के लिए विशाल जन-समूह उमड़ पड़ा। गीतावाटिका का प्रांगण भर गया। कोठरी और उसके पास के बरामदे में चिकित्सक तथा कुटुम्बी पहले ही उपस्थित थे—सभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो मूकभाव से अन्तिम आशीर्वाद के लिए प्रार्थनालीन थे। पोद्दारजी ने सहसा आँखें खोलीं, एक बार सबकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा, दोनों हाथ काँपते हुए विदाई के प्रणाम की मुद्रा में ऊपर उठे। इसके ठीक दस मिनट बाद एक हिचकी आयी, मुँह से खून का एक कुल्ला निकला और चिरजाग्रत महामानव महानिद्रा में सो गये। दाहिना हाथ अब भी ऊपर उठा हुआ था और खुली हुई आँखों से आभार एवं करुणा की ज्योति विकीर्ण हो रही थी—लगता था जैसे जाते-जाते वे सब पर अजस्र आशीर्वाद की वर्षा कर रहे है।

चैत्र कृष्ण १०, सं० २०२७ को प्रातः ७.५५ के पुण्य क्षणों को पोद्दार जी की इस दिव्यधाम-यात्रा के साक्षी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

समाधि

कर्मयोगी के रूप में पोद्दारजी की मुख्य साधना-भूमि गीतावाटिका थी। बैसाख-जेठ की कड़कती हुई धूप में, सावन-भादों की झड़ो में तथा पछुआ और पाले से ठिठुरती हुई पूस-माघ की रातों में यही उनकी अक्षर-साधना का केन्द्र रहा। 'कल्याण' के लेखों के चयन और संपादन से लेकर गैलीप्रूफ तक का संशोधन, भजन, संकीर्तन, राधाष्टमी-महोत्सव का आयोजन, सन्त-महात्माओं एवं सद्-गृहस्थों का स्वागत-सत्कार, राधाबाबा के निवास एवं परिक्रमा भूमि गिरिराज की यही पवित्र स्थली थी।

अतः हजार ऊहापोह के बाद दैवीप्रेरणा से अन्ततोगत्वा इसे ही उस समाधिस्थ कर्मयोगी के पार्थिव शरीर की भी विश्राम-भूमि बनने का सुयोग प्राप्त हुआ। अनन्य स्नेही सेठ जयदयालजी गोयन्दका ने यह वाटिका पोद्दारजी की आवास सुविधा के लिए खरीदी थी। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए गोरखपुर छोड़कर गंगातट अथवा किसी अन्य एकांत-स्थान पर जीवनयापन का बार-बार संकल्प कर भी कर्तव्यनिष्ठा पोद्दारजी को गीतावाटिका की सीमा में बाँधे रही। उसके कण-कण में इनकी आत्मा रम गयी थी। संयोग कहिये या विधि-विधान, महाप्रयाण के अनन्तर पोद्दारजी के साधनापूत शरीर के अणु-परिमाणु भी इसी पावन भूमि को समर्पित हो गये।

जीवनधारा के सहायक स्रोत

पोद्दारजी की जागतिक लीला का प्रकाश असंख्य उपादानों और व्यक्तियों के माध्यम से हुआ। उनकी जीवनयात्रा में समय-समय पर पूर्वसंस्कारों की प्रेरणा से अनेक ही भाग्यवान् उनके सम्पर्क में आये, उनके द्वारा आयोजित महानाटक में अपना अंशदान किया और मञ्च से तिरोहित हो गये; कितने ही पटाक्षेपतक अपनी भूमिका निभाते रहे। एक पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार अदृष्ट सूत्रधार इन सबको यथाशक्ति, यथासमय और यथास्थान पोद्दारजी की सेवा का अवसर प्रदान कर कृतार्थ करता रहा, अपने-अपने सेवाधिकार के क्रम से। इनमें बड़े-छोटे, ऊँच-नीच, स्वजन-परिजन, दूर-निकटका कोई अंतर नहीं था। भेदातीत व्यक्तित्व के संस्पर्श से लोक की कल्पित और यथार्थ—सारी सीमाएँ स्वतः अपना अस्तित्व खो देती थीं।

पोद्दारजी यों तो सर्वभाव-सम्पन्न रूप में विख्यात थे, किंतु उनके जीवन में विशेषतया दास्य, सख्य और माधुर्य की तरंगें निरन्तर उच्छलित होती रहती थीं। उनके स्वरूपावेश के ये तीन मूल तत्व थे। कर्मयोग तथा भक्तियोग के क्षेत्र में उनके सम्पर्क एवं सेवा का सुयोग पानेवाले कुछ महानुभावों में इन तत्वों का विशेष विकास दिखाई पड़ा—जो एक प्रकार से इनके मूर्त प्रतीक-से हो गये। उनके कार्यव्यापार से ही नहीं, इङ्गित और चेष्टाओं तक से इन भावों की सतत अभिव्यक्ति होती रही है और अनेक सम-विषम परिस्थितियों की कसौटी में खरे उतरते रहे हैं। परीक्षा, ताप और संघर्ष ने उन्हें अद्भुत कान्ति प्रदान की। उनके जीवन का आदर्श ही बन गया—

'देवो भूत्वा यजेद्देवम्' ॥

मेरी दृष्टि में पोद्दारजी के स्वरूप में उक्त तीन प्रकार की निष्ठाओं के प्रतिनिधि हैं—समर्पणमूर्ति माँजी, जनम-जनम के साथी राधाबाबा, अनन्य भक्त एवं सहचर श्रीगंभीरचन्द दुजारी, सर्वात्मना अनुगत गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी और एकांत सेवक श्रीरामसनेहीजी। भाईजीकी लोकयात्रा में इनका विशिष्ट योगदान रहा है; इनके सम्बन्ध में स्वयं भाईजी को कदाचित् यह घोषणा करने में संकोच न होता—

'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे ॥'

अतः इनके सम्पर्क-सूत्र तथा भावासक्तिका किंचित् दिग्दर्शन अप्रासङ्गिक न होगा।

(१) जीवन-संगिनी 'माँजी'

पोद्दारजी की जीवन-जाह्नवी में उनकी अर्द्धांगिनी का व्यक्तित्व सरस्वती की भाँति विलीन है, उनका पृथक् अस्तित्व रहा ही नहीं, इसलिए उनपर अलग से कुछ कहने या लिखने का प्रश्न ही नहीं उठता। पति की जीवन-तरंगों के साथ ही उनका आरोह-अवरोह होता रहा। कलकत्ता में पति के क्रान्ति-पूर्ण जीवन के झंझा-

वातों के थपेड़े वे मूकभाव से झेलती रहीं, शिमलापाल की नजरबंदी में पति की साधना तथा जनसेवा में सर्वात्मना सहयोग देती रहीं, बम्बई के व्यापारिक जीवन की दैव-नियोजित असफलताओं के बीच सदा प्रसन्न रहकर आत्मदेव को अनवरत अविचल रहने का अवसर देती रहीं और गोरखपुर में जीवन के उत्तरकाल की यश, समृद्धि तथा सम्मान की अजस्र वर्षा से परिवार को सँभाल जिस स्थितप्रज्ञता से वे करती रहीं—वही भारतीय नारी का चिरंतन आदर्श है।

पोद्दारजी के विश्व-बन्धुत्व, करुणाशीलता तथा शरणागत-वत्सलता के सिद्धांत को व्यवहार में परिणत करने में माँजी का अपार योगदान रहा है। गीतावाटिका में उनका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए हजारों लोग आये; उनके साथ अपने व्यक्ति-गत दुःख-सुख तथा गुण-अवगुणों को लिये हुए कुटुम्बी एवं इतर जन भी आये। माँजी ने उनकी निजी अयोग्यताओं की ओर न देखकर उनको सदैव वात्सल्यभाव से अपनाया, उनके भौतिक अभाव को दूर किया और सान्त्वना तथा स्नेह की अविरल धारा से उनकी मानसिक चिन्ताओं को दूर किया एवं अन्तर्मल को धोया। उनकी ममतामयी मूर्ति तथा करुणापूर्ण व्यवहार का स्मरण कर अल्प सम्पर्क में आये लोग भी भाव-विभोर हो जाते हैं।

माँजी के बाह्यरूप का यह आंशिक परिचय मात्र है; उनका आन्तरिक स्वरूप भाईजी के साथ एकाकार है—दुग्ध में धवलता तथा जल में शीतलता की भाँति।

(२) स्वामी श्रीचक्रधरजी 'राधाबाबा'

श्रीराधाबाबा का भाईजी से बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का सम्बन्ध रहा है—इनमें कौन बिम्ब है, कौन प्रतिबिम्ब—कहा नहीं जा सकता। स्थिति-भेद से दोनों ही दोनों भावों का यथेच्छ आजीवन आस्वादन करते रहे—भावलोक में ही नहीं, व्यवहार-भूमि में भी। इस सम्बन्ध में भाईजी के मुख से समय-समय पर निकले अनेक उद्गार स्वतः प्रमाण हैं—

—'बाबा के लिए मैं क्या कहूँ ? बाबा मेरे भक्त हैं—मैं बाबा का भक्त हूँ।'

—'मेरी तो सम्पत्ति बाबा ही हैं।'

—'बाबा ही तो हमारी पूँजी हैं, और पूँजी ही क्या है ?'

—'बाबा से मेरा जो कुछ सम्बन्ध है, उसे किन्हीं शब्दों में नहीं बतलाया जा सकता।·······उनकी स्थिति क्या है, मैं नहीं बता सकता। इतना जानता हूँ कि वे महान् हैं और सर्वथा मेरे अपने हैं।'

इस महान् व्यक्तित्व का भाईजी से सम्पर्क किस प्रकार हुआ, इसकी एक अपनी कहानी है।

बाबा का शरीर ग्राम–फखरपुर (गया-बिहार) का है। परम्परागत वैदुष्य-सम्पन्न 'मिश्र'-उपाधिधारी ब्राह्मण कुल में इनका आविर्भाव पौष कृष्ण ९, संवत्

वातों के थपेड़े वे मूकभाव से झेलती रहीं, शिमलापाल की नजरबंदी में पति की साधना तथा जनसेवा में सर्वात्मना सहयोग देती रहीं, बम्बई के व्यापारिक जीवन की दैव-नियोजित असफलताओं के बीच सदा प्रसन्न रहकर आत्मदेव को अनवरत अविचल रहने का अवसर देती रहीं और गोरखपुर में जीवन के उत्तरकाल की यश, समृद्धि तथा सम्मान की अजस्र वर्षा से परिवार की सँभाल जिस स्थितप्रज्ञता से वे करती रहीं—वही भारतीय नारी का चिरंतन आदर्श है।

पोद्दारजी के विश्व-बन्धुत्व, करुणाशीलता तथा शरणागत-वत्सलता के सिद्धांत को व्यवहार में परिणत करने में माँजी का अपार योगदान रहा है। गीतावाटिका में उनका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए हजारों लोग आये; उनके साथ अपने व्यक्ति-गत दुःख-सुख तथा गुण-अवगुणों को लिये हुए कुटुम्बी एवं इतर जन भी आये। माँजी ने उनकी निजी अयोग्यताओं की ओर न देखकर उनको सदैव वात्सल्यभाव से अपनाया, उनके भौतिक अभाव को दूर किया और सान्त्वना तथा स्नेह की अविरल धारा से उनकी मानसिक चिन्ताओं को दूर किया एवं अन्तर्मल को धोया। उनकी ममतामयी मूर्ति तथा करुणापूर्ण व्यवहार का स्मरण कर अल्प सम्पर्क में आये लोग भी भाव-विभोर हो जाते हैं।

माँजी के बाह्यरूप का यह आंशिक परिचय मात्र है; उनका आन्तरिक स्वरूप भाईजी के साथ एकाकार है—दुग्ध में धवलता तथा जल में शीतलता की भाँति।

(२) स्वामी श्रीचक्रधरजी 'राधाबाबा'

श्रीराधाबाबा का भाईजी से बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का सम्बन्ध रहा है—इनमें कौन बिम्ब है, कौन प्रतिबिम्ब—कहा नहीं जा सकता। स्थिति-भेद से दोनों ही दोनों भावों का यथेच्छ आजीवन आस्वादन करते रहे—भावलोक में ही नहीं, व्यवहार-भूमि में भी। इस सम्बन्ध में भाईजी के मुख से समय-समय पर निकले अनेक उद्‌गार स्वतः प्रमाण हैं—

—'बाबा के लिए मैं क्या कहूँ ? बाबा मेरे भक्त हैं—मैं बाबा का भक्त हूँ।'

—'मेरी तो सम्पत्ति बाबा ही हैं।'

—'बाबा ही तो हमारी पूँजी हैं, और पूँजी ही क्या है ?'

—'बाबा से मेरा जो कुछ सम्बन्ध है, उसे किन्हीं शब्दों में नहीं बतलाया जा सकता।.........उनकी स्थिति क्या है, मैं नहीं बता सकता। इतना जानता हूँ कि वे महान् हैं और सर्वथा मेरे अपने हैं।'

इस महान् व्यक्तित्व का भाईजी से सम्पर्क किस प्रकार हुआ, इसकी एक अपनी कहानी है।

बाबा का शरीर ग्राम—फखरपुर (गया-बिहार) का है। परम्परागत वैदुष्य-सम्पन्न 'मिश्र'-उपाधिधारी ब्राह्मण कुल में इनका आविर्भाव पौष कृष्ण ९, संवत्

१९६९ को हुआ था। भाईजीकी भाँति आरम्भिक जीवन में इनका भी उग्र राजनीति से सम्बन्ध रहा है। उसमें इन्हें सहसा उन्नतिशील अध्ययन-व्यवस्था का परित्याग कर संवत् १९८७-८८ में बंदी-जीवन की असह्य यातनाएँ सहनी पड़ीं। कारागार से मुक्त होने के पश्चात् भगवान् की वि ेष इच्छा से संन्यासी हो गये और बड़े ही विरक्तभाव से रहने लगे। कलकत्ता के फुटपाथों पर भिखमंगों एवं कोढ़ियों के बीच पड़े रहते थे। पीछे श्रीजयदयालजी गोयन्दका के साथ ये बाँकुड़ा में रहने लगे। सेठजी ने वर्षों तक बड़े ही स्नेह-प्यार से इन्हें रखा। उन दिनों ये निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म के उपासक थे। सेठजी तत्व के ज्ञाता होते हुए भी सगुण-साकार तत्व का भी विवेचन किया करते थे। इन्हें वह रुचिकर नहीं लगता था। अतः उनसे ये शास्त्रार्थ करने लग जाते। सेठजी ने इन्हें शास्त्र-प्रमाणों से बहुत समझाया, पर ये उनके तर्कों को स्वीकार नहीं कर पाये। अन्त में श्रीसेठजी ने कहा—'आप एक बार भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार से मिल लें।' पर इन्होंने पोद्दारजी से मिलने की अनिच्छा प्रकट की। किंतु विधिका विधान! सेठजी गोरखपुर आनेवाले थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा, 'आप अमुक तिथितक गोरखपुर पहुँच जाइये, मैं भी वहाँ आता हूँ।' ये गोरखपुर आ गये; पर किसी विशेष अड़चन के कारण सेठजी गोरखपुर नहीं पहुँच पाये। आश्विन पूर्णिमा सं० १९९३ को गीताप्रेस जानेपर इन्हें पता चला कि सेठ जी अभी नहीं आये हैं। इन्होंने पोद्दारजी का निवास-स्थान पूछा और प्रेस के कर्मचारियों के निर्देशानुसार गीतावाटिका आये।

पोद्दारजाने स्वामीजी को देखते ही गद्‌गद भाव से आसन से उठकर चरण-स्पर्श करके प्रणाम किया। भाईजी के चरण-स्पर्श करते ही स्वामीजी को ऐसी विचित्र अनुभूति हुई, जैसे 'विश्व का सम्पूर्ण व्रजरस उनके मानस में उड़ेल दिया हो!' उस दिन रास-पूर्णिमा का महापर्व था। अपने पूर्व जीवन में कट्टर वेदान्ती होते हुए भी स्वामीजी रासेश्वरी के दिव्य आकर्षण से उपार्जित संस्कारों का परिवर्तन रोक न पाये। आये थे योगी संन्यासी बनकर, बन गये चिरवियोगिनी राधा के अनुगत अविरल भक्त।

> अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
> शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

भक्ति-साहित्य के इतिहास में आचार्य मधुसूदन सरस्वती की इस उक्ति की महिमामयी पुष्टि एवं पुनरावृत्ति हो गयी।

इसके बाद स्वामीजी ने गीतावाटिका में ही पीछे की ओर इमली के पेड़ के नीचे कुछ दिनों तक वास किया। उन दिनों गीतावाटिका में वर्षभर का अखण्ड संकीर्तन चल रहा था। आगन्तुकों की भीड़ से साधना में बाधा होते देखकर ये वहाँ से हटकर नगर के दूसरे छोर पर हनुमानगढ़ी के पास जाकर रहने लगे। यहाँ चार-

पाँच महीने बिताकर सेठजी के अनुरोध से उनके साथ चूरू (राजस्थान) गये और फिर गीता की टीका के कार्य से उनके सांनिध्य में कुछ दिन बाँकुड़ा में बिताये।

इस बीच भगवत्कृपा से स्वामीजी को भाईजी के स्वरूप और उनसे अपने सम्बन्ध का यथार्थ बोध हो गया। सन् १९३९ में 'गोविन्द-भवन' (कलकत्ता) में ये पोद्दारजी से मिले। श्रीभाईजी ने स्वामीजी से प्रस्ताव किया—'महाराज! हम दोनों साथ-साथ इस भाँति रहें कि किसी प्रकार का भेद लक्षित न हो।' स्वामीजी ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और ११ मई १९३९ से बाबा का 'क्षेत्र-संन्यास' लेकर पोद्दारजी के साथ अखण्ड रूप से वास करने का महाव्रत आरम्भ हुआ।

भाईजी से बाबा का जन्म-जन्मान्तर का रहस्यपूर्ण भाव-सम्बन्ध शनैः-शनैः व्यक्त होने लगा और कालान्तर में वह इतना प्रगाढ़ हो गया कि बाबा और भाईजी—दो शरीर एक प्राण हो गये। वे एक दिन के लिए भी कभी अलग नहीं हुए, सदा साथ रहे। दोनों ने इस व्रत का आजीवन निर्वाह किया और उसे इस खूबी और खूबसूरती के साथ निभाया कि लोकदृष्टि किंचित् अंश में भी उनकी पृथक्ता का संधान नहीं कर पायी। भाईजी के लीलालीन हो जाने पर बाबा ने दोनों के उत्तरदायित्व का भार अपने कंधों पर धारण कर रखा है—भाईजी की समाधि के समीप क्षेत्र-संन्यास लेकर।

बाबा संस्कृत, हिन्दी, बँगला, तथा अंग्रेजी के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उनका शास्त्र-ज्ञान अगाध है। संगीत-शास्त्र का भी उनको अच्छा अभ्यास है। उनकी वाणी में अद्भुत प्रवाह एवं आकर्षण है। भाईजी की रुचि का अनुसरण करते हुए उन्होंने वर्षों तक वाणी का पूर्ण संयम रखा और उन्हीं की प्रेरणा से 'श्रीकृष्णलीला-चिन्तन' नाम से श्रीकृष्ण की बाल एवं पौगण्ड लीलाओं का बड़ा ही मनोहर शब्द-चित्र प्रस्तुत किया, जो वर्षों तक धारावाहिक रूप से 'कल्याण' के साधारण अंकों में छपता रहा और बाद में गीताप्रेस से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उनके तीन और छोटे ग्रन्थ 'सत्संग-सुधा', 'प्रेम-सत्संग-सुधा-माला' तथा 'महाभागा व्रजदेवियाँ' नाम से गीताप्रेस से छप चुके हैं, जो प्रेमी साधकों के लिए बड़े उपयोगी हैं।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज बाबा की साधनधारा के महान् प्रशंसक थे। मैं जब कभी उनसे मिला, या गीतावाटिका से सम्बद्ध गोरखपुर का कोई व्यक्ति उनके दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ, तब भाईजी के कुशलक्षेम के साथ ही वे बाबा के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी बड़े ही उल्लास के साथ जिज्ञासा व्यक्त करते रहे हैं। भाईजी के तिरोधान के बाद वे बाबा के बारे में लोगों से बराबर पूछते रहते थे और यदा-कदा अपने कृपापात्रों को उनके दर्शन की प्रेरणा भी देते थे।

भाईजी की अन्तिम साध थी, "मेरा देहत्याग पहले हो जाय और मेरे बाद उनका (बाबा का) शरीर रहे, तब तो मैं चाहता ही हूँ, पहले भी चाहता हूँ कि उनका भीतरी-बाहरी स्वरूप एक-सा 'मूर्तिमान अध्यात्म' हो। उनके रोम-रोम से, उनके शरीर से स्पर्श करके जानेवाले वायु से लोगों को अमोघ आध्यात्मिक प्रकाश मिले.......एकमात्र भगवत्प्रेम ही छा जाय।" बाबा का वर्तमान जीवन सर्वप्रकारेण तद्भावभावित होकर भाईजी के इसी स्वप्न को साकार करने की दिशा में गतिशील है।

(३) श्री गम्भीरचन्द दुजारी

श्रीगम्भीरचन्द दुजारी पोद्दारजी के अनन्य सेवक थे। उन्होंने अपना सर्वस्व पोद्दारजी को ही माना था। कभी उच्च और कभी मन्द स्वरों में वे इन पंक्तियों को बराबर दुहराते सुने जाते थे—

और कोऊ समुझे सो समझे हमकूँ इतनी समझ भली।
ठाकुर भीमकुमार हमरे ठकुराइन सियारामलली॥

उनके रोम-रोम में भीमकुमार (भीमराज पोद्दार के पुत्र हनुमानप्रसाद पोद्दार) रमे हुए थे। भाईजी की सेवा में अहर्निश लगे रहकर लोगों को उनसे जोड़ना और उनके सत्संग में लगाना, दुजारीजी की जीवनव्यापी साधना का मुख्य लक्ष्य था। श्रद्धास्पद के दैनिक क्रियाकलाप के छोटे-से-छोटे विवरणों को लिपिबद्ध करना उन्होंने अपनी नित्यचर्या बनायी थी। पोद्दारजी राधाकृष्ण-प्रेम-साधना में प्रायः निमग्न हो जाते थे। ऐसे क्षणों के अक्षरचित्र अंकित करने, उनके लीला वर्णनों के भावपूर्ण विवरण तैयार करने और दूसरों को सुनाने में गंभीरचंदजी अपार तृप्ति का अनुभव करते थे।

दुजारीजी का जन्म भाद्रपद शु० ८, शुक्रवार वि० सं० १९५८ को बीकानेर (राजस्थान) के एक धर्मपरायण माहेश्वरी कुल में हुआ था। पारिवारिक संस्कारों के कारण बाल्यावस्था से ही इनकी रुचि सत्संग में थी। चार वर्ष की उम्र में मातृ-वियोग और सातवर्ष की अवस्था में पिता के दिवंगत हो जाने से परिवार की आर्थिक स्थिति अस्तव्यस्त हो गयी। इसलिए ये विधिवत् विद्यालयीय शिक्षा प्राप्त न कर सके। घर पर ही एक अध्यापक की सहायता से इन्होंने हिन्दी-अंग्रेजी का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया।

परिवार के भरण-पोषण के लिए बारह वर्ष की छोटी आयु में इन्हें व्यापार का आश्रय लेना पड़ा। कुछ दिनों तक यह कार्य घर पर ही चला। बाद में इसी सम्बन्ध में ये सनावद (मध्यप्रदेश) चले गये। भजन-साधन में इनकी रुचि बाल्यावस्था से ही थी—अतः व्यापार में मन नहीं लगा और कुछ ही दिनों बाद ये उससे अलग हो गये। गीता और रामायण का ये नियमित रूप से पाठ करते थे। दैवयोग से इनकी

इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति के पोषण का सुयोग समय-समय पर घटित होता रहा। श्री इच्छालाल जोशी, नाथ सम्प्रदाय के स्वामी उत्तमनाथजी, लालीमाई आदि महात्माओं के सम्पर्क से वह उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। सं० १९७६ में महात्मा उत्तमनाथजी का बीकानेर के निकटवर्ती भीनासर नामक स्थान में चातुर्मास हुआ। उस समय ये उनके सत्संग के लिए प्रतिदिन जाते। बीकानेर की महिला संत श्रीलाली माई की भी इनपर विशेष कृपा रही। उनके संपर्क में बराबर आते रहे।

सं० १९८० वि० में ऋषिकेश में इनकी भेंट सेठ जयदयालजी गोयन्दका से हुई। उनके व्यक्तित्व ने इन्हें आकर्षित किया। अतः अगले वर्ष जब वे बीकानेर पधारे तो इन्होंने उनके सत्संग का पूरा लाभ उठाया। इस घटना के बाद इनके समय का अधिकांश साधन और सत्संग में लगने लगा। सेठजी से इनकी घनिष्ठता निरन्तर बढ़ती ही गयी।

सं० १९८० वि० में पोद्दारजी के बीकानेर प्रवासकाल में दुजारी जी का उनसे सम्पर्क हुआ। अल्पकाल के संसर्ग में ही इन्होंने उनके चरणों में अपने को सर्वतोभावेन अर्पित कर दिया। इस घटना के बाद जब कभी भाईजी बीकानेर पधारते तो इन्हीं के घर ठहरते थे। कालांतर में बम्बई में 'कल्याण' का प्रकाशन आरम्भ होने पर ये उनके मुख्य सहयोगी बन गये। 'श्रीभगवन्नामांक' विशेषांक की सम्पादन-व्यवस्था में इनका विशेष योगदान रहा। उस समय इन्होंने 'कल्याण' के हजारों सदस्य बनाये।

सं० १९८४ के आश्विन कृष्णपक्ष में भाईजी को जसीडीह (बिहार) में भगवान विष्णु के दर्शन हुए। उस समय ये बीकानेर में थे। पोद्दारजी ने इन्हें तार देकर बुलाया। ये रतनगढ़ से भाईजी की माता एवं धर्मपत्नी को लेकर गोरखपुर पहुँचे। रात्रि में पोद्दारजी के मुख से इन्होंने जसीडीह की घटना सुनी। उसी समय इन्होंने अपना शेष जीवन पोद्दारजी की सेवा में व्यतीत करने का संकल्प लिया और तभी से भाईजी के जीवनवृत्त-संग्रह का काम आरम्भ कर दिया। सदैव पोद्दारजी के साथ रहने की चेष्टा करना, उनके जीवन की छोटी से छोटी बात एवं घटना को लिखते रहना, उनके पत्रों को पढ़ना और प्रतिलिपि रखना, भाईजी के आध्यात्मिक उत्कर्ष के सम्बन्ध में लोगों से चर्चा करना, उनके द्वारा विरचित साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा देना, अत्यन्त दीनतापूर्ण भाव से उनके जीवन की बातें पूछना और लिपिबद्ध करना—यही उनके जीवन का मुख्य कार्य बन गया।

भाईजी के जीवन-सम्बन्धी तथ्यसंग्रह का काम ये बड़ी तत्परता से करते थे। एक-एक दिन की डायरी लिखते, भाईजी कब कहाँ गये, उनसे कौन और कब मिलने आया, सत्संग में उन्होंने क्या कहा आदि का विवरण ये नियमित रूप से तैयार करते रहते थे। इनका यह कार्य भाईजी को प्रकृत्या अरुचिकर था। अतः अपनी इस चरित-लेखन-निष्ठा के लिए इन्हें कड़ी फटकार, तथा भर्त्सना सहनी पड़ती

थी। श्रद्धास्पद द्वारा किया गया तिरस्कार और रोष ये भगवत्प्रसाद समझकर आनन्द-पूर्वक ग्रहण करते रहे और अपने लक्ष्य-सिद्धि की दिशा में सतत अग्रसर रहे। इनकी लेखनी ने एकक्षण के लिए भी विश्राम नहीं लिया। जीवनी-लेखन के कार्य में अनवरत परिश्रम करते हुए भी ये कभी थकावट का अनुभव नहीं करते थे। एकबार इन्होंने कहा था, "जैसे कोई आध्यात्मिक क्षेत्र में चलने वाला व्यक्ति अपना उद्देश्य भगवत्प्राप्ति या प्रेम-प्राप्ति बना लेता है, वैसे ही श्रीभाईजी की प्रामाणिक जीवनी संग्रह करना ही मैंने अपने जीवन का उद्देश्य बना रखा है।" इनके इस कथन से इस बात का किंचित् अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त कार्य से इनका कितना तादात्म्य था। दुजारीजी की अनन्य निष्ठा से अंततोगत्वा यह कार्य पूरा हो गया। यह स्वीकारने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि पोद्दारजी की जीवनी का जो स्वरूप आज हमारे सामने है, उसके निर्माण की आधार-भूमि दुजारीजी का विशाल वृत्त-संग्रह ही है। यह निर्विवाद है कि यदि दुजारीजी द्वारा लिखित पोद्दारजी की दैनन्दिन-जीवनगाथा प्राप्त न होती तो उनके पुण्यचरित के अधिकांश तथ्य विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो जाते।

पोद्दारजी के व्यक्तिगत जीवन के साथ ही 'कल्याण' तथा गीताप्रेस के विकास में भी इनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है। 'कल्याण' को गीताप्रेस से प्रकाशित कराने तथा गीताप्रेस से प्रकाशित पुस्तकों के प्रचार-प्रसार में भी इनका महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है। 'कल्याण' की शैशवावस्था में स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर उसके ग्राहक बनाना एवं गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित धार्मिक पुस्तकों का प्रचार करना इनका प्रमुख कार्य था। 'कल्याण' के प्रारम्भिक अंकों में दुजारीजी के बीकानेर स्थित मकान का पता भी छापा जाता था, जहाँ 'कल्याण' के ग्राहक बनाये जाते थे। पोद्दारजी तथा सेठजी की आध्यात्मिक शक्ति में इनकी अगाध निष्ठा थी। इसलिए सैकड़ों लोगों को इन्होंने इन महापुरुषों का सम्पर्क-लाभ करने की प्रेरणा दी। गीताप्रेस के संचालन और 'कल्याण' के प्रचार-प्रसार में इससे अपूर्व सहयोग मिला। दुजारीजी द्वारा प्रेरित सत्संगियों में से कितने ही लोगों ने गीताप्रेस की प्रबन्ध-व्यवस्था में योग दिया और अब भी दे रहे हैं। श्रीजयदयालजी गोयन्दका प्रायः कहा करते थे, "दुजारीजी ने जितने व्यक्तियों को सत्संग में लगाया, उतने शायद ही किसी व्यक्ति ने लगाये हों।" गीतातत्वज्ञ स्वामी रामसुखदासजी का गोयन्दकाजी से सम्पर्क कराने तथा पं० चिम्मनलाल गोस्वामी को पोद्दारजी के संपर्क में लाने का श्रेय इन्हीं को है। पोद्दारजी अपने 'वसीयत-नामा' की निम्नांकित पंक्तियों में इनकी सेवाओं की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"श्रीदुजारीजी बड़े ही सत्संग-प्रेमी थे। बीकानेर से सम्मान्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी सरीखे सदाचारी विद्वान् को राज्य की उच्चसेवा से छुड़ाकर 'कल्याण' में लाने वालों में प्रधान दुजारीजी ही हैं।"

"दुजारीजी ने साधु च्यवनराम जी, ईश्वरदासजी डागा, श्री बद्रीदासजी आचार्य आदि को भी इधर प्रेरित किया था।"

"मेरे पत्रादि के संग्रह में मेरी इच्छा न होने पर भी दुजारीजी लगे रहते थे। उनका प्रधान काम एक ही था—येन-केन प्रकारेण लोगों को सत्संग में लगाना। अपमान झिड़कियाँ सहते, पर अपने स्वाभाविक कार्य से कभी विचलित नहीं होते।"

'कल्याण' के अंकुर को अपार श्रद्धा तथा श्रम से सींचकर वृक्ष का रूप प्रदान करने में इन्होंने कितना सहयोग दिया, इसका अनुमान 'वसीयतनामा' में पोद्दारजी द्वारा प्रसंगवश उल्लिखित निम्नांकित पंक्तियों से लगाया जा सकता है—

" 'कल्याण' के १३ महीने के अंक बम्बई से निकले। १३वाँ यानी दूसरे वर्ष का पहला अंक 'भगवन्नामांक' ('कल्याण' का पहला विशेषांक) श्रीगंभीरचंदजी दुजारी की प्रेरणा से ही निकला; जिसके प्रचार में श्री गंभीरचंदजी दुजारी तथा श्रीरामकृष्ण मोहता से बड़ी सहायता मिली।"

दुजारीजी ने अन्यलोगों को ही अपना सर्वस्व त्यागकर पोद्दारजी एवं 'कल्याण' की सेवा में लगने के लिए प्रेरित नहीं किया, अपने पूरे परिवार को भी पोद्दारजी के चरणों में समर्पित कर दिया।

पोद्दारजी और 'कल्याण' के इस अनन्य सेवाव्रती परिकर का लोकान्तरण फाल्गुन शुक्ला दशमी, सं० २०१८ वि० को हुआ। पिता के दिवंगत होने पर सन् १९६६ में श्रीहरिकृष्ण दुजारी ने सपत्नीक भाईजी की सेवा का व्रत लिया। उसका निर्वाह वे अखण्ड निष्ठा के साथ 'माँजी' की परिचर्या करते हुए अबतक कर रहे हैं। व्यावहारिक जगत में सेवाव्रत की परम्परा-निर्वाह के ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं।

(४) श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

पोद्दारजी के अनुयायियों एवं सहयोगियों में चिम्मनलालजी का स्थान अन्यतम है। पोद्दारजी की इच्छा को ही आज्ञा के रूप में स्वीकार करना तथा निरभिमान होकर 'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरु' के संपादन में लगे रहना गोस्वामीजी के त्यागपूर्ण जीवन का एकमात्र लक्ष्य था।

क्वींस कालेज (अब सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय) से संस्कृत में दर्शन विषय से एम० ए० करने के बाद ये कुछ काल तक महामना मदनमोहन मालवीय के निजी सचिव रहे। तत्पश्चात् राजस्थान के अनेक विद्यालयों में अध्यापन किया। अंततोगत्वा बीकानेर राज्य में उच्चपद पर नियुक्त हो गये।

विक्रम सं० १९८४ में एकबार पोद्दारजी बीकानेर पधारे। उसी समय गोस्वामीजी ने उन से भेंट की तथा सत्संग-लाभ किया। उस प्रथम दर्शन में ही ये पोद्दारजी के स्नेहपाश में आबद्ध हो गये। यह आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता

ही गया। सं० १९९० (सन् १९३३) में बीकानेर राज्य की सेवा को त्यागकर ये 'कल्याण' के संपादन विभाग में कार्य करने के लिए सपत्नीक गोरखपुर आ गये। तब से इन्होंने ममता के सारे बन्धनों को समेट कर स्थायीरूप से पोद्दारजी के साथ दृढ़ भाव-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। 'कल्याण' के साथ ही गीताप्रेस द्वारा आयोजित महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के संपादन-कार्य में भी पोद्दारजी को इनका अनवरत सहयोग प्राप्त होता रहा।

गोस्वामीजी के गोरखपुर आगमन के पश्चात् 'कल्याण' का संदेश अंग्रेजी भाषाभाषी जनता तक पहुँचाने की दृष्टि से अंग्रेजी में 'कल्याण-कल्पतरु' के प्रकाशन का निश्चय किया गया। पोद्दारजी ने उसके संपादन का दायित्व गोस्वामीजी को सौंपा। हिन्दी-संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा में इन की प्रकाण्ड विद्वत्ता का प्रसाद गीताप्रेस को अनेक रूपों में प्राप्त हुआ। भारतीय वाङ्मय के बहुमूल्य रत्नों का प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद, सरल, परिमार्जित एवं सुस्पष्ट भाषा में प्रस्तुत कर गोस्वामीजी ने एक महान् कार्य सम्पन्न किया। रामचरितमानस का संशोधित पाठ तैयार करने में भी इन्होंने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पोद्दारजी के तिरोधान के बाद 'कल्याण' के सम्पादन का गुरुतर दायित्व गोस्वामीजी के कंधों पर आया। इन्होंने इसे पोद्दारजी की ही सेवा मान कर ढलती हुई आयु में भी अथक श्रम करके उसका स्तर बनाये रखा। गोस्वामीजी के निर्देशन में 'कल्याण' के तीन विशेषांक प्रकाशित हुए—श्रीरामांक, श्रीविष्णु-अंक तथा श्रीगणेश अंक। ये तीनों ही इनकी अद्भुत संपादन-क्षमता के परिचायक हैं।

गोस्वामीजी का व्यक्तित्व अत्यंत सरल एवं निष्कपट था। धोती-कुर्ते की सादी पोशाक, हाथ में गोमुखी लिये नाम जप करती हुई उनकी आकृति लोगों को बरबस अपनी ओर खींच लेती थी। मितभाषी तथा गम्भीर होते हुए भी मृदुता एवं प्रेम-पूर्ण व्यवहार इनके स्वभाव का अभिन्न अंग था। कार्य का गुरुतर भार इनके दैनिक साधन-भजन में कभी बाधक होते नहीं देखा गया। शास्त्रों की भाँति संगीत में भी इनकी गहरी रुचि और गति थी। इनके मधुर कंठ से निकले हुए 'विनयपत्रिका' के पद श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे।

महत्त्वाकांक्षा तथा आत्मप्रशंसा जैसी दुर्निवार्य मानवीय कमजोरियाँ इनके चट्टानी व्यक्तित्व से टकराकर चूर-चूर हो जाती थीं। गोवर्धन पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी ने गोस्वामीजी की साधुता तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर इन्हें अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने की इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु 'कल्याण-कल्पतरु' का संपादकत्व छोड़कर उस आध्यात्मिक-वैभवपूर्ण पद को स्वीकार करने से इन्होंने अत्यंत विनम्रता पूर्वक इनकार कर दिया।

गोस्वामीजी की यह अनासक्ति, निरभिमानता, मृदुता तथा विद्वत्ता वंशानुगत थी। इनका जन्म वल्लभ-सम्प्रदाय के एक सुसंस्कृत राजस्थानी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता गोस्वामी ब्रजलालजी तथा माता श्रीमती चन्द्रकला देवी परम वैष्णव थे। ऐसे संस्कार-सम्पन्न कुल में इनका आविर्भाव आषाढ़ कृष्ण ९, सं० १९५७ को हुआ था। इनके पूर्वज मूलतः आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे, किन्तु शताब्दियों पूर्व वे राजस्थान में आकर बस गये थे। अतः कृष्ण-भक्ति इन्हें कुल-परम्परा से ही प्राप्त हुई थी, जो महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज और श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार के सान्निध्य से उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी।

गोस्वामीजी का स्वास्थ्य कठिन श्रम के बावजूद ७० वर्ष की आयु तक सामान्यतया ठीक रहा। किन्तु पोद्दारजी के दिवंगत होने के बाद उसमें उत्तरोत्तर गिरावट आती गयी। सम्पादन का काम ये तब भी उसी प्रकार करते रहे, पर शनैः-शनैः एक भीषण व्याधि ने इन्हें शय्याग्रस्त कर दिया। लगभग सात माह तक शरीर अपार पीड़ा से दग्ध होता रहा। स्वजनों तथा आगन्तुकों को यह देखकर आश्चर्य होता था कि असह्य वेदना की स्थिति में भी इनके होठों पर स्मित की एक क्षीण रेखा रह रहकर कौंध जाती थी। शरीर प्रारब्ध भोग कर रहा था, किन्तु आत्मा आराध्य के दिव्यलीला-रस-भोग में लीन रहती थी। अंततोगत्वा इस व्याधि-नाट्य का पटाक्षेपण हुआ और ५ मई १९७४ को आध्यात्मिक पत्रकारिता जगत की यह विभूति अपने यशः-शरीर को छोड़कर धराधाम से तिरोहित हो गयी।

(५) 'दादा' राम-सनेही

अपने अनन्य सेवक श्रीरामसनेही को 'दादा' की उपाधि स्वयं पोद्दारजी ने दी थी और उसके अनन्य सम्बोधनकर्ता भी वे ही थे।

श्रीसनेही ने अपने आविर्भाव से कानपुर जिले के एक कायस्थ परिवार को पवित्र किया था। संवत् १९९८ में ये पोद्दारजी की सेवा में आये और अन्तिम श्वास तक उनकी परिचर्या में संलग्न रहे।

श्रीरामसनेही का सेवादर्श लोकातीत है। भक्तिशास्त्र में दास्यभावना के जिन पौराणिक भक्तों की चर्चा है और मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में उसके व्रती जिन संत-महापुरुषों का उल्लेख मिलता है, उसके स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन सेव्य के चरणों में अर्पित इनके आत्मलयी व्यक्तित्व के साक्षात्कार से हो जाता है। रात-दिन पोद्दारजी एवं पूज्य राधा बाबा की सब प्रकार की टहल में व्यस्त रहना, उनके संकेतों और कभी-कभी अंतः-प्रेरणा से ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना, अत्यन्त स्वल्पाहार और शीत-ताप-लज्जा-निवारणमात्र के लिए सादे वस्त्र धारण करना, पोद्दारजी के पास

आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उनकी ही भाँति समादर देना और उन्हीं का प्रतीक मानना—श्रीरामसनेही का जीवन रहा है। सर्वदा प्रसन्नवदन, स्वल्प-भाषी, एकोन्मुखी, चेतन जगत् के साथ अचेतनवत् असम्पृक्त रामसनेहीजी ही ऐसे कर्मयोगी की सेवा के यथार्थ अधिकारी थे और हैं। उनका जीवनादर्श त्याग, श्रद्धा एवं सेवा की दिव्य किरणों से इस तर्कगुम्फित और ज्ञानमुग्ध युग के सहस्रों नर-नारियों का आन्तरतम दूर कर सकता है।

'कल्याण' तथा गीताप्रेस योजना

'कल्याण' का प्रवर्तन तथा विकास हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है। भारतवर्ष के इस सर्वाधिक लोकप्रिय धार्मिक मासिकपत्र के बीजारोपण की न तो कोई पूर्व विचारित योजना बनायी गयी, न उसके आर्थिक आधार की पुष्टि हेतु कोई कोष ही एकत्र किया गया। सामान्य विचार-विनिमय के क्रम में ही उसके प्रकाशन का प्रस्ताव आया और बिना कुछ आगा-पीछा सोचे हुए पोद्दारजी ने उसे शिरोधार्य कर संपादन का कार्य आरंभ कर दिया। फिर भगवत्प्रेरणा से सबकुछ अलक्षित एवं अनायास रूप में स्वतः होता रहा। विकास की अनन्त सीढ़ियाँ विद्युत गति से पार करता हुआ देशकाल, भाषा और संप्रदाय की सीमाएँ लाँघकर वह हिन्दू-संस्कृति के परमोज्ज्वल प्रकाश का प्रतीक बन गया।

'कल्याण' का प्रवर्तन किस प्रकार हुआ तथा 'श्रीवेंकटेश्वर प्रेस' के स्वत्वाधिकारी श्री कृष्णदास जी के सहयोग से पोद्दारजी ने किस तरह आरंभ में तेरह महीनों तक उसके अंकों का प्रकाशन बम्बई से किया—इसका विस्तृत विवरण लोकयात्रा प्रकरण में दिया जा चुका है। इसके पश्चात् परिस्थिति में एक अप्रत्याशित परिवर्तन हुआ। आंतरिक उपरामता के उद्रेक से पोद्दारजी ने 'कल्याण' के संपादन-कार्य से विरत होने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु जयदयालजी गोयन्दका के अनुरोध से उन्हें अपना निर्णय बदलना पड़ा। अब तक सेठजी के द्वारा गोरखपुर में गीताप्रेस की स्थापना हो चुकी थी। अतः उन्होंने वहीं से 'कल्याण' के प्रकाशन की व्यवस्था करने की इच्छा व्यक्त की। पोद्दारजी ने सेठजी का यह प्रस्ताव मान लिया। 'कल्याण' के आगामी अंकों का प्रकाशन गीताप्रेस के द्वारा गोरखपुर से होना तय हो गया, किन्तु गीताप्रेस के तत्कालीन व्यवस्थापकों को यह बात अच्छी नहीं लगी। वे यह समझते थे कि 'कल्याण' अन्य पत्रों की भाँति थोड़े दिन चलकर बन्द हो सकता है, अतः उसका भार नहीं लेना चाहिए। दूसरे उस समय गीताप्रेस में 'कल्याण' छापने योग्य टाइप भी उपलब्ध नहीं थे। अतएव दूसरे वर्ष का विशेषांक 'भगवन्नामांक' बम्बई के 'सत्संग-भवन' से ही प्रकाशित हुआ और उसे श्रीवेंकटेश्वर प्रेस से मुद्रित कराना पड़ा। दूसरे वर्ष के विशेषांक के प्रकाशन से 'कल्याण' का आशातीत प्रचार हुआ। ग्राहक संख्या सोलह सौ से बढ़कर पाँच हजार हो गयी। इधर कार्याभाव के कारण गीताप्रेस बंद होने की स्थिति में आ गया। अतएव गीताप्रेस के व्यवस्थापकों ने 'कल्याण' का प्रकाशन श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से गोरखपुर स्थानान्तरित करने का प्रस्ताव किया। उन लोगों ने अनुरोध करके सेठजी द्वारा पोद्दारजी को तार दिलवा दिया कि वे 'कल्याण' का सब स्टाफ लेकर शीघ्र गोरखपुर जाए और दूसरा अंक वहीं से प्रकाशित करें।

पोद्दारजी ने अपनी गृहस्थी की वस्तुएँ तथा 'कल्याण' की सामग्री पार्सल द्वारा गोरखपुर भेजने के बाद श्रावण शुक्ल १३, सं० १९८४ को गोरखपुर के लिए प्रस्थान किया। गोरखपुर आने के बाद ईश्वरीय विधान से पोद्दारजी का पूर्वयोजनानुसार कहीं और जाना नहीं हो पाया। 'कल्याण' की व्यवस्था एवं सम्पादन में तन-मन से लग गये। इसी बीच भगवान् विष्णु का कृपापूर्ण आदेश प्राप्त हुआ : "संन्यास नहीं लेना चाहिए, गोरखपुर रहकर ही मेरी भक्ति तथा नाम का प्रचार करना चाहिए।" पोद्दार जी ने सोचा कि 'कल्याण' का संपादन भगवान का ही कार्य है, उससे भगवन्नाम का प्रचार होगा और मानवता की सेवा होगी। अतएव भगवदिच्छा में अपनी इच्छा विलीन करके उन्होंने अन्यत्र जाने का विचार छोड़ दिया और गोरखपुर में रहकर ही वे 'कल्याण' के साथ-साथ धार्मिक साहित्य के प्रचार तथा अन्य साधनों द्वारा आजीवन आर्त जीवों की सेवा करते रहे।

विकास के सोपान

'कल्याण' के आविर्भाव के समय ही पोद्दारजी के मानस में उसके प्रकाशन की एक विशिष्ट रूपरेखा निर्मित हो गयी थी और वह थी—प्रतिवर्ष एक विशेषांक तथा ग्यारह साधारण अंकों का प्रकाशन; किन्तु कतिपय कारणों से प्रथम वर्ष कोई विशेषांक प्रकाशित नहीं हो सका। पहला अंक एक साधारण अंक के रूप में निकला। उसके प्रथम पृष्ठ के सामने श्रीकृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा का चित्र था। उसके नीचे निम्नलिखित श्लोक दिया गया था—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं।
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥

इसके बाद पहले पृष्ठपर सूरदासजी का 'बन्दौं चरन सरोज तुम्हारे' प्रतीक वाला पद था और दूसरे पृष्ठ पर निम्नांकित सम्पादकीय निवेदन—

"कल्याण की आवश्यकता सबको है। जगत् में कौन ऐसा मनुष्य है, जो अपना कल्याण नहीं चाहता ? इसी आवश्यकता का अनुभव कर आज यह 'कल्याण' प्रकट हो रहा है। वास्तविक कल्याण किस वस्तु में है, इसका एकमत से निर्णय आज तक नहीं हो सका है। परन्तु त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियों ने, महात्माओं ने और जगत् के बड़े-

बड़े धीमान् पुरुषों ने अपनी दिव्यदृष्टि से परमात्मा की प्राप्ति कर लेने को ही परम कल्याण माना है। इसी को ब्रह्मवेत्ता महापुरुष मोक्ष कहते हैं, इसी को भक्तों ने अपनी वाणी में श्यामसुन्दर का 'अनन्य-प्रेम' कहा है, और यही सबका एकमात्र सम्पादनीय परम पुरुषार्थ है। यही एक ऐसा विषय है, जिसमें सबका समान अधिकार है। इसमें स्त्री-पुरुष और ब्राह्मण-शूद्र का कोई भेद नहीं। धन, ऐश्वर्य, रूप, गुण, विद्या, कला, वर्ण, जाति आदि से यहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यहाँ तो बस—

जिसने उत्कट उत्कंठा से उस प्रियतम को बुलवाया।
उसने ही तत्काल उसे अपने समीप है पाया॥

"जिसको इस 'कल्याण' के सम्पादन का भार दिया गया है, वह यह भलीभाँति जानता है कि उसमें 'कल्याण'-सम्पादन की योग्यता और सामर्थ्य नहीं, वह अभी कल्याण से दूर है, परन्तु वह कल्याणकामी अवश्य है। इस 'कल्याण' की किंचित् सेवा से उसकी कल्याण-कामना में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है, इसी विश्वास से वह सब प्रकार से अपनी अयोग्यता का अनुभव करता हुआ भी परमात्मा की पल-पल पर प्रकट होने वाली अपार अनुकम्पा और पूजनीय महापुरुषों की विशाल कृपा के भरोसे इस कार्य का भार उठा रहा है।

"सम्पादक का विचार है कि इस 'कल्याण' के द्वारा यथासम्भव उन प्रातः-स्मरणीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषों की दिव्य वाणी का ही प्रचार किया जाय, जो अपने अलौकिक तेज से पथभ्रष्ट पथिकों को कल्याण के सुन्दर मार्ग पर लाने में समर्थ हैं। स्वलिखित लेखों में भी यथासाध्य महापुरुषों के वचनों को ही आधार बनाने का विचार है।"

सम्पादक के इस वक्तव्य से 'कल्याण' के उद्देश्य एवं लक्ष्य विषयक निम्न-लिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं—

१. 'कल्याण' के प्रकाशन का आरम्भ जगत और मानव कल्याण के लिए हुआ। २. परमात्मा की प्राप्ति अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार ही मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य है, 'कल्याण' मानव मात्र को इस ओर प्रेरित करेगा। ३. 'कल्याण' ऋषि-मुनियों तथा महापुरुषों की दिव्यवाणी का प्रचार करते हुए लोगों को उनके अनुसार जीवनयापन की प्रेरणा देगा। ४. अर्थलाभ की उपेक्षा कर वह जनसामान्य के धार्मिक-आध्यात्मिक उत्कर्षलाभ का प्रयास करेगा। ५. देशगत तथा जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठकर समस्त विश्व को कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करना ही इसका ध्येय होगा।

प्रथम सम्पादकीय निवेदन के ये शब्द पोद्दारजी की निःस्पृहता, निश्छल वृत्ति, दैन्य, अहंकारशून्यता, परोपकारभावना तथा परमात्मा की अहैतुकी कृपा पर अखंड विश्वास के परिचायक हैं।

विशेषांकों का परिचय

प्रथम वर्ष में कोई विशेषांक नहीं निकला, केवल ग्यारह साधारण अंक ही प्रकाशित हुए। विशेषांकों के प्रकाशन का सूत्रपात् दूसरे वर्ष से हुआ। पहला विशेषांक था 'भगवन्नामांक'।

१. भगवन्नामांक

वर्ष २, अंक १, श्रावण कृष्ण ११, सं० १९८४, पृष्ठ-सं० ११०।

भगवन्नाम में पोद्दारजी की आरम्भ से ही अगाध निष्ठा थी। अपनी साधना के क्रम में विशेषतः शिमलापाल के बन्दी जीवन में उन्हें नामजप के प्रभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी। अतएव यह अंक नाम की अपार शक्ति की स्वीकृति के रूप में प्रकट हुआ। पोद्दारजी का विश्वास था कि सच्चे हृदय तथा सात्विक भाव से नामस्मरण करने पर तथा भगवान् के शरणापन्न होकर उन्हें कातर भाव से पुकारने पर भगवत्कृपा सहज ही प्राप्त हो जाती है। इस अंक में भगवन्नाम-महिमा की पुष्टि के लिए, पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसंगों के साथ-साथ समकालीन संत-महात्माओं के अनुभव भी दिये गये थे।

२. भक्तांक

वर्ष ३, श्रावण, सं० १९८५, पृष्ठ-सं० २४६।

भक्ति भारतीय अध्यात्म-साधना का मुख्य अंग है। ऋषियों, आचार्यों तथा भक्तों ने अपने ढंग से इसकी महत्ता तथा उपादेयता का प्रतिपादन किया है। 'भक्तांक' में भक्ति-साधना तथा भक्तों के विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्य संकलित किये गये।

इस अंक में विवेचनात्मक लेखों के अतिरिक्त भक्तों के चरित भी दिये गये हैं। इसके अंतर्गत 'कल्याण' की उदार तथा समन्वयवादी विचारधारा के अनुरूप विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, देश तथा काल के भक्तों के सिद्धान्त एवं वृत्त समाहित करने का प्रशंसनीय प्रयास हुआ है।

३. श्रीमद्भगवद्गीतांक

वर्ष ४, श्रावण, सं० १९८६, पृष्ठ–सं० ५०५।

गीताप्रेस की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य था—गीता का प्रचार। उसके संस्थापक सेठ जयदयालजी गोयन्दका तथा पोद्दारजी की अध्यात्म-साधना में गीता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। हिन्दुओं के तत्त्वज्ञान, धार्मिक सिद्धान्त, नैतिक उपदेश, कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोग के साधन आदि तत्त्वों का यह अक्षय कोष है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण हजारों वर्षों से वह धर्मग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। भिन्न-भिन्न मतों तथा सम्प्रदायों के मनीषियों ने उसका मनन किया है और टीकाएँ लिखी हैं।

गीता की इसी महत्ता को दृष्टि में रखकर 'गीतांक' का प्रकाशन हुआ। इसमें गीतोक्त—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति-सिद्धान्त विषयक अधिकारी विद्वानों तथा संत-महात्माओं के विचारोत्तेजक लेख संकलित हैं। अपने ढंग का एक अपूर्व एवं अनूठा आकर ग्रन्थ है।

श्रीरामायणांक

वर्ष ५, श्रावण, सं० १९८७, पृष्ठ–सं० ५९२।

इस विशेषांक में रामायण से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर विवेचनात्मक एवं शोधपूर्ण निबन्ध दिये गये हैं। 'कल्याण' के प्रकाशन का एकमात्र लक्ष्य यही था कि लोग उससे प्रेरित होकर भगवान् की ओर मुड़ें और लौकिक जीवन के साथ-साथ परलोक को भी सँवारें। इस अंक का भी यही उद्देश्य है—'भगवान् श्रीराम का चरित्र लोक-परलोक में नित्य परम कल्याणकारी है। इससे इहलौकिक मनवांछित सुख और परम आनन्दस्वरूप श्रेय की प्राप्ति सहज ही हो सकती है।' पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से भ्रमित कुछ लोग श्रीराम और श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म नहीं मानते। पोद्दारजी ने विनम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ इस धारणा का खण्डन करते हुए लिखा, "हम श्रीराम और श्रीकृष्ण को साक्षात् पूर्ण ब्रह्म मानते हैं और श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनके अलौकिक गुण-कर्मों को गाने और सुनने में ही अपना परम सौभाग्य समझते हैं।"

श्रीकृष्णांक

वर्ष ६, श्रावण, सं० १९८८, पृष्ठ–सं० ५१२।

भगवान् श्रीकृष्ण के चरित को केन्द्र में रखकर यह अंक प्रकाशित किया गया है। इसके अंतर्गत श्रीकृष्ण के स्वरूप, लीला तथा भक्ति-भावना को तात्त्विक ढंग से समझाने की चेष्टा की गयी है। 'कृष्णांक' की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—श्रीकृष्ण के पूर्ण-ब्रह्मत्व का प्रतिपादन। इसकी दूसरी विशेषता है—महाभारत, गीता, भागवतादि आर्ष ग्रंथों में निर्दिष्ट कृष्ण में एकत्व स्थापित करना।

ईश्वरांक

वर्ष ७, श्रावण, सं० १९८९, पृष्ठ–सं० ६१८।

इस अंक का मुख्य लक्ष्य है—ईश्वरवाद का दृढ़ता से प्रतिपादन कर के भौतिकता-प्रधान वर्तमान युग के लोगों के हृदय में भगवान के प्रति आस्था उत्पन्न करना। साम्यवादी विचारधारा के प्रसार एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिणामस्वरूप जन-सामान्य में ईश्वर के प्रति उठ रहे विश्वास की पुनस्थपिना में यह अंक बहुत सहायक हुआ है। इसके अंतर्गत ईश्वर जैसे गूढ़ विषय का विवेचन अधिकारी विद्वानों द्वारा जिस सरल, सरस तथा प्रभावपूर्ण शैली में किया गया है, वह दर्शनीय है। इस अंक की एक प्रमख विशेषता यह है कि अंक के आरम्भ में विश्व के विशिष्ट धर्मों में प्रति-

पादित ईश्वर के स्वरूप के विवेचन के साथ ही उनके द्वारा स्वीकृत ईशस्तवन दिये गये हैं तथा सभी धर्मों में स्वीकृत ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। 'ईश्वरांक' के परिशिष्ट में समकालीन सिद्ध, योगी, सन्त, विद्वान् एवं भगवद्भक्तों से प्राप्त चार प्रश्नों के उत्तर संग्रहीत हैं। वे प्रश्न हैं—

१. ईश्वर को क्यों मानना चाहिए ?

२. ईश्वर को न मानने में कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

३. ईश्वर के होने में कौन-कौन से प्रबल प्रमाण हैं ?

४. अपने जीवन की ऐसी सच्ची घटनाएँ लिखिये, जिनसे ईश्वर की सत्ता और दया में आपका विश्वास बढ़ा हो।

सन्त महात्माओं के स्वानुभवाधारित-समाधान द्वारा जन-साधारण में आस्तिकता प्रतिष्ठित करने में इस परिशिष्टांक का महत्त्व निर्विवाद है।

शिवांक

वर्ष ८, श्रावण, सं० १९९०, पृष्ठ-सं० ६६६।

भगवान् शिव का प्रशस्तिगान, विष्णु से उनकी अभिन्नता का प्रतिपादन, शिवपूजा की प्राचीनता का विवेचन, शिव-तत्त्व के व्याज से एक ही परमात्मा परम शिव का गुणगान, भगवान् के प्रति लोगों की शिथिल होती हुई श्रद्धा की पुनर्प्रतिष्ठा और भवदुःख से पीड़ित निराश जीवों को शिवाराधन द्वारा कल्याण-पथ पर अग्रसर करना,—'शिवांक' के प्रकाशन का प्रधान उद्देश्य रहा है।

शिव की महिमा तथा उपासना तथा विधि, विभिन्न उपनिषदों-पुराणों में वर्णित शिव-कथाओं के आध्यात्मिक रहस्य की व्याख्या, शिव-विष्णु की परस्पर उपासना, शिवोपासना का ऐतिहासिक विकास आदि विषयों पर ठोस विवेचनात्मक सामग्री प्रस्तुत करने के साथ ही इसमें भारत के विभिन्न प्रदेशों में शिवोपासना तथा तद्विषयक उपलब्ध साहित्य का निर्देश भी किया गया है। श्रद्धालुओं में शिवभक्ति के प्रचार के लिए शिवपूजा से प्राप्त फल से सम्बन्धित प्राचीन कथाओं के संग्रह और अर्वाचीन लोगों के तत्सम्बन्धी अनुभव दिये गये हैं। परिशिष्टांक में द्वादशज्योतिर्लिंग, प्रसिद्ध शिव-तीर्थ तथा मन्दिर, विदेशों में शिवपूजा आदि विषयों पर उपादेय सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

शक्ति-अंक

वर्ष ९, श्रावण, सं० १९९१, पृष्ठ-सं० ७०४।

शक्ति की महिमा का प्रतिपादन, भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण और उनकी शक्ति—उमा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदि के भेद दूर करने की चेष्टा, वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायों में व्याप्त पारस्परिक द्वेषभावना का शमन, शक्तितत्व के नाम पर

एक ही परमात्म–सत्ता का विविध भावों से गुणगान, शक्तिपूजा के निमित्त होने वाली पशु-हिंसा को बन्द कराना, शाक्ततंत्रों के शुद्ध सात्त्विक रूप को प्रतिष्ठित करना, पंच-मकार की तात्त्विक व्याख्या द्वारा उसके नाम पर होने वाले पापों का विरोध करना—'शक्ति अंक' के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य है। शक्ति सिद्धान्त तथा शाक्तमत की मीमांसा के साथ इसके अंतर्गत हिन्दू धर्मान्तिर्गत शैव वैष्णवादि मतावलम्बियों के लिए भी महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। साधना-जगत में रहस्य बने हुए शाक्त सिद्धान्त और शाक्ताचार के तात्त्विकस्वरूप को हिन्दीभाषी जनता के समक्ष अत्यन्त परिष्कृत रूप में प्रस्तुत कर इसमें शाक्तमत विषयक अनेक भ्रान्तियों का सफलतापूर्वक प्रत्याख्यान किया गया है। वाम- मार्ग के भैरवी-चक्र आदि कृत्यों के प्रति भी जो नाना प्रकार के भ्रम फैले हुए थे, उन्हें दूर करने में इस विशेषांक ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

पोद्दारजी ने शक्तितत्त्व को यथोचित महत्त्व देते हुए भी शाक्तमत के लोक-विरोधी क्रिया-कलापों की आलोचना की है। शक्ति की उपासना के माध्यम से उन्होंने देशवासियों को पराधीनता की बेड़ी से मुक्ति प्राप्त करने का संदेश दिया है—इस दृष्टि से 'आत्म शक्ति की उपासना' (पृष्ठ-संख्या ४९१) तथा 'राष्ट्रशक्ति' (पृष्ठ-संख्या ४९७) शीर्षक दो लेख अत्यन्त उपादेय हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग के विशिष्ट शक्ति-उपासकों का परिचय देकर इस अंक को युगानुरूप प्रेरणाप्रद बनाने का सफल प्रयास किया गया है। अन्त में भारत के प्रधान शक्तिपीठों का विवरण दिया गया है। 'कल्याण' के विशेषांकों में इसका विशिष्ट स्थान है। एक प्रकार से शक्ति-तत्त्व का इसे विश्वकोश कहा जा सकता है। इसकी स्वरूप-योजना में म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज का विशेष सहयोग रहा है।

योगांक

वर्ष १०, श्रावण, सं० १९९२, पृष्ठ-सं० ८८४।

योग भारतीय मनीषियों की विश्वदर्शन को अप्रतिम देन है। प्रस्तुत विशेषांक में योग के स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। परिशिष्टांक सहित योगांक तीन भागों में बँटा हुआ है—प्रथम भाग में योग के स्वरूप, परिभाषा, परिचय पर प्रकाश डाला गया है, दूसरे भाग में योग की भिन्न-भिन्न क्रियाओं और उनके उपयोग का चित्रण है, तीसरा भाग भारतवर्ष तथा इतर देशों के भिन्न-भिन्न योगियों के जीवन-चरित से सम्बद्ध है। योग का अर्थ, योगतत्त्व मीमांसा, योगसिद्धि का रहस्य, योगविज्ञान तथा योग की शक्ति-विवेचन के साथ ही प्राणायाम, मुद्रा, योगा-सन, स्वरविज्ञान, हठयोग आदि पर भी उत्कृष्ट सामग्री दी गयी है। पं० गोपीनाथजी कविराज का 'सूर्य विज्ञान' (पृष्ठ-सं० ७४७) शीर्षक लेख योग की अपूर्व महत्ता का साक्षात्कार कराता है।

इसमें वेद, उपनिषद्, तंत्र, श्रीमद्भागवत, योगवाशिष्ठ, गीता के साथ ही

बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई आदि धर्मों में प्राप्त योग के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। अंत में समीपवर्ती देशों-प्रदेशों—नेपाल, तिब्बत तथा बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, राजपूताना, पंजाब, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाड आदि में प्रचलित योगसाधना एवं साधकों का विशद परिचय दिया गया है।

वेदान्तांक

वर्ष ११, श्रावण, सं० १९९३, पृष्ठ-सं० ७४४।

वेद अनन्त ज्ञानराशि एवं सभी धर्मों का मूल है। इसका जिसमें पर्यवसान होता है, उसे 'वेदान्त' कहते हैं। वेदान्त का प्रतिपाद्य ब्रह्म है। वेदान्तांक में उसका सम्यक् विवेचन किया गया है। 'कल्याण' का प्रत्येक विशेषांक अपने विषय का अपूर्व संदर्भग्रंथ माना जाता रहा है। 'वेदान्तांक' उसी स्तर का है। वेदान्त के सम्बन्ध में संभाव्य जिज्ञासाओं तथा शंकाओं का सुबोध शैली में समाधान इसकी विशेषता है। वेदान्त पर विभिन्न मतों के आचार्यों द्वारा किये भाष्यों का संकलन होने से इसकी गरिमा और बढ़ गयी है। ज्ञान, भक्ति, योग-तंत्र आदि विभिन्न साधनपथों के अनुयायियों का वेदान्त विषयक क्या दृष्टिकोण है, दर्शन ग्रंथों में इसकी किस प्रकार व्याख्या की गयी है, इन सबकी समग्र प्रस्तुति इस विशेषांक की उपलब्धि है। वेदान्त-दर्शन के आचार्यों की परम्परा एवं उनके जीवनवृत्त देकर इसे यथासम्भव आकर्षक तथा लोकोपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। वेदान्त पर इतनी सामग्री किसी भी अन्य ग्रंथ में प्राप्य नहीं है।

संतांक

वर्ष १२, श्रावण, सं० १९९४, पृष्ठ-सं० ८७४।

नित्यसिद्ध परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने के कारण सन्त स्वयं सत्यस्वरूप होते हैं। सत्य में प्रतिष्ठित होने के कारण उनकी ब्रह्म से अभिन्नता स्थापित हो जाती है। भगवान् पाप-ताप से पीड़ित जागतिक जीवों के उद्धारार्थ स्वयं सन्त रूप में अवतरित होते हैं। ऐसे लोकोपकारी महापुरुषों के गुण तथा लीला का निरूपण ही 'संतांक' के प्रकाशन का मुख्य लक्ष्य रहा है। इसके अंतर्गत संतों की महिमा तथा लक्षण, संतभाव की प्राप्ति के उपाय, संतजीवन की विशिष्टताओं एवं लक्षणों के निरूपण के साथ ही जीवन्मुक्त संतों के संक्षिप्त जीवन-वृत्त भी दिये गये हैं। संत-चरितों का संकलन करते समय यह ध्यान रखा गया है कि उसका फलक विस्तृत हो तथा प्राचीन-अर्वाचीन, सुर-असुर, संन्यासी-गृहस्थ, राजा-प्रजा, उच्च तथा निम्नवर्गीय विविध सामाजिक, आर्थिक तथा सांप्रदायिक वर्गों तथा क्षेत्रों का यथोचित प्रतिनिधित्व हो। अंक को समसामयिकता से सम्बद्ध करने की दृष्टि से आधुनिक युग के संतों के भी चरित दिये गये हैं। जीवित सन्तों की जीवनियाँ नहीं दी गयी हैं। इसका कारण यह बताया गया

हैं कि इससे व्यक्तिपूजा का प्रसार हो सकता है। संतों के मूल्यांकन में सम्पादक की भावना अत्यन्त उदार तथा व्यापक रही है। जिसमें दैवी सम्पत्ति का एक भी गुण है, उसकी दृष्टि में वह संत ही है। 'संतांक' की योजना में पोद्दारजी का आद्योपांत यही दृष्टिकोण रहा है।

मानसांक

वर्ष १३, श्रावण, सं० १९९५, पृष्ठ-सं० ९२८।

रामचरितमानस के प्रचार में गीताप्रेस का सर्वाधिक योगदान है। मानस के विभिन्न संस्करण प्रकाशित कर करोड़ों की संख्या में उसकी प्रतियाँ देश-विदेश में पहुँचाने का श्लाघनीय प्रयास उसके द्वारा हुआ है। रामचरितमानस का प्रथम संस्करण 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में ही प्रकाशित हुआ। इसमें प्रामाणिक एवं शुद्धपाठ देने की भर-सक चेष्टा की गयी है। मानस के प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक हस्तलेखों के आधार पर पाठ तैयार करने का काम पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी एवं पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी ने किया। संपादकों ने पाठ-निर्धारण के समय अवधी की प्रकृति एवं व्याकरण का पूरा ध्यान रखा। इससे इसका सर्वत्र स्वागत हुआ।

'मानसांक' की एक विशिष्ट उपलब्धि इसके चित्र भी हैं। इसमें जितने रेखा-चित्र एवं रंगीन चित्र दिये गये हैं, उतने शायद ही मानस के किसी अन्य संस्करण में प्राप्त हों।

आलोचकों ने समय समय पर इसके पाठ की अनेक त्रुटियों की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है और वे सर्वथा निराधार नहीं हैं, तथापि अब तक इस लोक-विश्रुत ग्रन्थ के जितने भी संस्करण निकले हैं, गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण उनमें सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वाधिक समादृत हैं। पोद्दारजी ने उसके पाठ-सम्पादन में वैज्ञानिक प्रक्रिया के साथ ही साहित्यिक दृष्टि को भी यथोचित महत्त्व दिया है, उसकी विशद भूमिका इसका प्रमाण है।

गीता-तत्त्वांक

वर्ष १४, श्रावण, सं० १९९६, पृष्ठ-सं० १०७२।

गीताप्रेस की स्थापना के मूल में ही गीता के शुद्ध संस्करण का प्रकाशन तथा प्रचार रहा है। 'गीता-तत्त्वांक' का प्रकाशन उस उद्देश्य की सिद्धि की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके अंतर्गत गीता के तत्त्वदर्शन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण लेखों के अतिरिक्त सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका द्वारा प्रस्तुत उसकी विस्तृत टीका भी दी गयी है। आचार्य शंकर से लेकर बालगंगाधर तिलक तक भाष्यकारों की एक प्रशस्त परम्परा द्वारा उसके मर्मोद्घाटन के अपूर्व प्रयास हुए हैं, जिनमें विभिन्न दृष्टिकोणों तथा चिंतनधाराओं का प्रतिफलन हुआ है, फिर भी 'गीता-तत्त्वांक' का अपना

महत्त्व है। इसमें गहन विषय को बड़ी सावधानी तथा सुन्दर ढंग से सरल और बोधगम्य बनाया गया है। प्रत्येक अध्याय का सारांश, श्लोकों की विस्तृत टीका, एक-एक शब्द का अर्थ तथा श्लोकों से सम्बद्ध प्रश्नों का समाधान, संस्कृतभाषा से अनभिज्ञ, हिन्दी का सामान्य ज्ञान रखने वाले पाठकों को भी भारतीय दर्शन की त्रिपथगा में अवगाहन का अवसर प्रदान करता है।

साधनांक

वर्ष १५, श्रावण, सं० १९९७, पृष्ठ-सं० ७९२।

जीवन की विषम धारा में बहते हुए मानव को भगवान् की ओर उन्मुख करना ही 'कल्याण' का मुख्य उद्देश्य रहा है। यह उन्मुखता आती है भगवत्कृपा से, किन्तु उसका पोषण होता है त्याग, तप तथा साधना से। साधना की विविध पद्धतियों और साधकों की विभिन्न कोटियों का परिचय एवं विमर्श ही 'साधनांक' का प्रतिपाद्य है। साम्प्रदायिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न धर्मों-सम्प्रदायों की साधना-पद्धतियों पर गंभीरतापूर्वक विचार एवं विवेचन इसकी विशिष्टता है। समकालीन परिवेश को ध्यान में रखकर युगानुकूल साधना पद्धतियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस संदर्भ में 'इस युग का महान साधन', 'विचार साधन,' 'सर्वोत्तम साधन—जनसेवा,' 'आज की साधना' आदि लेख द्रष्टव्य हैं।

श्रीमद्भागवतांक

वर्ष १६, श्रावण, सं० १९९८, पृष्ठ-सं० १०७२।

श्रीमद्भागवत भारतीय भक्ति साहित्य विशेषरूप से कृष्णभक्ति साहित्य का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। इसके अंतर्गत चौबीस अवतारों की कथा के साथ-साथ कृष्णलीला का विशद वर्णन है। इनके अतिरिक्त वर्णाश्रम-धर्म, मानव-धर्म, कर्मयोग, अष्टांगयोग, ज्ञान-योग, भक्तियोग आदि का भी गंभीर विवेचन है। प्रस्तुत विशेषांक इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का मूलसहित सरल भाषानुवाद है। यह दो खंडों में विभाजित है। आरम्भ में भागवत से सम्बद्ध लेख हैं तथा शेष भाग में सम्पूर्ण भागवत का भावानुवाद दिया गया है। अनुवाद में पर्याप्त सावधानी बरती गयी है।

लेखों में श्रीमद्भागवत् के महत्त्व प्रतिपादन के साथ ही उसपर किये जाने वाले आक्षेपों का अधिकारी विद्वानों द्वारा समाधान कराया गया है। माखनचोरी, चीरहरण तथा रासलीला को कुछ लोग भगवान कृष्ण की विलासी-प्रवृत्ति का द्योतक मानते हैं। पोद्दारजी की धारणा थी कि उक्त लीलाओं की योजना का उद्देश्य कुछ विशिष्ट आध्यात्मिक उद्देश्यों की सिद्धि था। उदाहरणार्थ, चीरहरण लीला में निहित उद्देश्य मर्यादा और आत्मैक्य की स्थापना था। इसी प्रकार माखनचोरी एवं रासलीला की योजना एकांतभक्तों की परमात्मा द्वारा इच्छापूर्ति के निर्देशन हेतु की गयी थी।

इस व्याज से धर्मप्राण जनता को भारतीय साहित्य का एक दुर्लभ ग्रन्थ, व्याख्या तथा विवेचनात्मक सामग्री सहित, सहज ही उपलब्ध हो गया। आगे चलकर भक्ति-साहित्य के अनुसंधायकों के लिए यह एक दिशानिर्देशक संदर्भग्रन्थ बन गया।

संक्षिप्त महाभारतांक

वर्ष १७, श्रावण, सं० १९९९, पृष्ठ-सं० ९३७।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में महाभारत का अन्यतम स्थान है। उसे 'पंचम वेद' की संज्ञा दी गयी है। जनमानस में धर्मग्रंथ के अतिरिक्त यह पुरातन इतिहास के रूप में भी प्रतिष्ठित है। इसमें मुख्यरूप से कौरवों और पाण्डवों की कथा दी गयी है। किन्तु इसके साथ बहुत सी प्रासंगिक कथाएँ भी अनुस्यूत हैं, जिनका आधार लेकर संस्कृत और हिन्दी में अनेक प्रबन्ध, नाटक तथा खंडकाव्य लिखे गये हैं। 'कल्याण' के इस विशेषांक में महाभारत के आरम्भिक सात पर्वों का संक्षिप्त अनुवाद है, शेष पर्वों का संक्षिप्त अनुवाद उस वर्ष के साधारण अंकों में दिया गया है। अनुवाद में संक्षिप्तता के बावजूद कोई महत्त्वपूर्ण अंश छूटने नहीं पाया है। कथाभाग के अतिरिक्त महाभारत के रचनाकाल, प्रतिपाद्य, महत्त्व आदि पर भी अधिकारी विद्वानों के विचार लेखबद्ध हैं।

संक्षिप्त वाल्मीकि रामायणांक

वर्ष १८, आश्विन, सं० २०००, पृष्ठ-सं० ५३६।

महर्षि वाल्मीकि विरचित 'रामायण' विश्व का प्रथम महाकाव्य है। उसी के आदर्श पर परवर्ती युग में प्रबंध काव्यों की प्रशस्त परंपरा का प्रवर्तन हुआ। आदि-कवि ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र को अपने काव्य का विषय बनाया है। महाभारत की भाँति उसकी भी मुख्य तथा प्रासंगिक कथाओं का आधार लेकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशभाषाओं में प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। भारतीय जनजीवन पर गहरा प्रभाव देखकर पोद्दारजी ने इसका एक संक्षिप्त संस्करण विशेषांक के रूप में निकालने की योजना बनायी। ग्रन्थ सुबोध तथा मननीय हो, इस विचार से सरल भाषा में हिन्दी अनुवाद देने के साथ ही उसके विविध पक्षों पर विचारोत्तेजक सामग्री भी दी गयी है। इसके तीन भाग हैं—प्रथम भाग में वाल्मीकि-रामायण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण लेख दिये गये हैं, द्वितीय भाग में उसके सातों काण्डों का संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है और अंत में राम-कथा के महत्त्वपूर्ण पात्रों के चरित की विवेचना की गयी है।

पद्मपुराणांक

वर्ष १९, श्रावण, सं० २००१।

भारतीय वाङ्मय में पुराणों का विशेष महत्त्व है। आर्यावर्त्त की प्राचीन

चरण-वन्दन

बन्दौं चरण सरोज तुम्हारे।
सुन्दर श्याम कमलदल-लोचन ललित त्रिभंगी प्राननि प्यारे॥
जे पदपद्म सदा शिव के धन सिन्धुसुता उरते नहिं टारे।
जे पदपद्म परसि जलपावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे॥
जे पदपद्म परसि ऋषिपत्नी, बलि, नृग, व्याध पतित बहु तारे।
जे पदपद्म तात रिस आछत मन बच क्रम प्रह्लाद संभारे॥
जे पदपद्म रमत वृन्दावन, अहि सिर धरि अगणित रिपु मारे।
जे पदपद्म परसि व्रजभामिनि सर्बसु दै सुत सदन बिसारे॥
जे पदपद्म रमत पाण्डव दल दूत भये सब काज संवारे।
सूरदास तेई पदपंकज त्रिविध ताप दुख हरन हमारे॥

भारत के प्रथम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसाद द्वारा गीताप्रेस के मुख्यद्वार का उद्घाटन
(स्वागत-भाषण करते हुए पोद्दारजी)

पोद्दारजी के अन्यतम सहयोगी

संपादक 'कल्याण कल्पतरु' (श्री चिम्मनलाल गोस्वामी)

पोद्दारजी के जीवन वृत्त से सम्बन्धित तथ्यों के संग्रहकर्ता
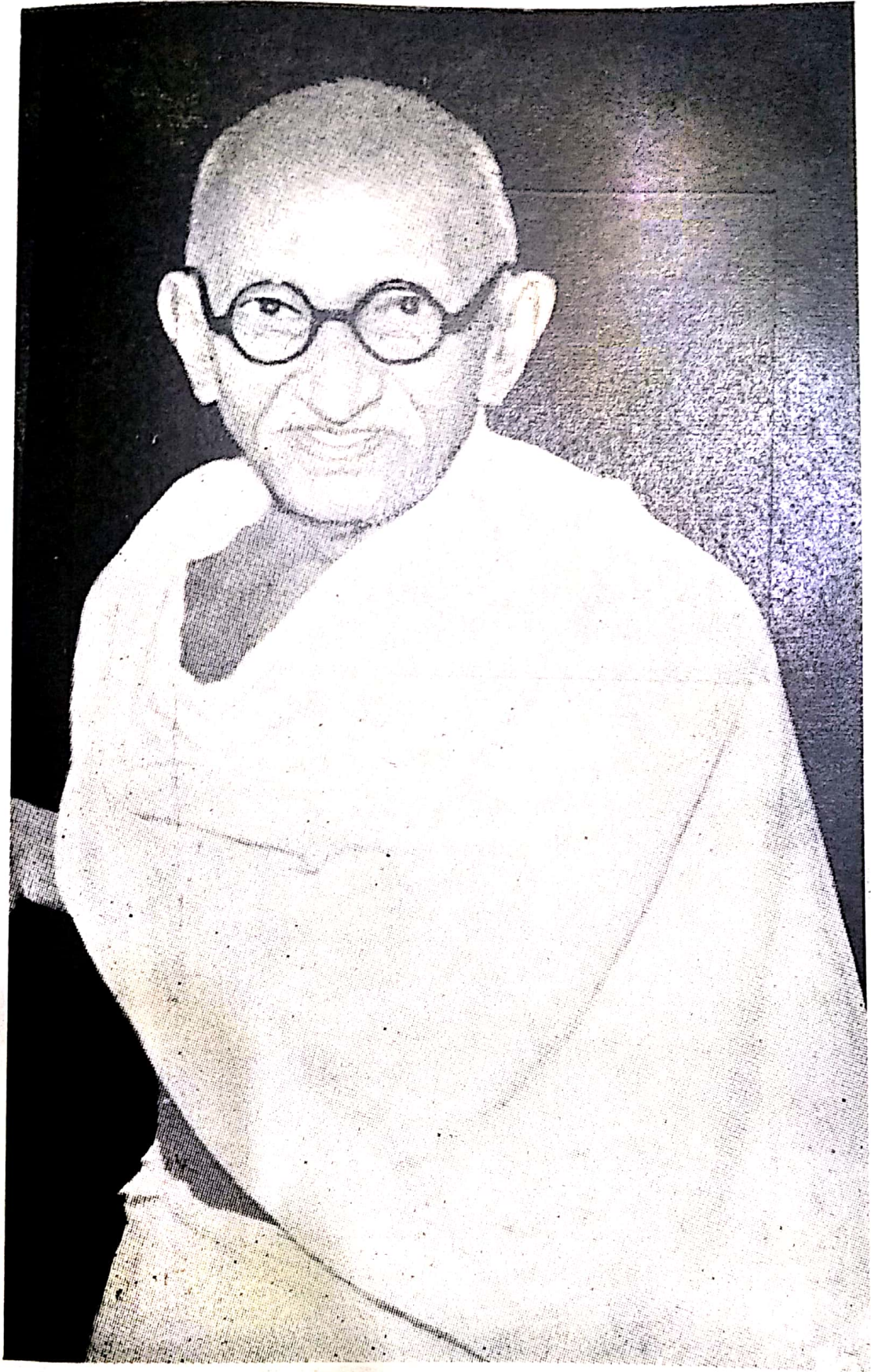
श्री [illegible]

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी
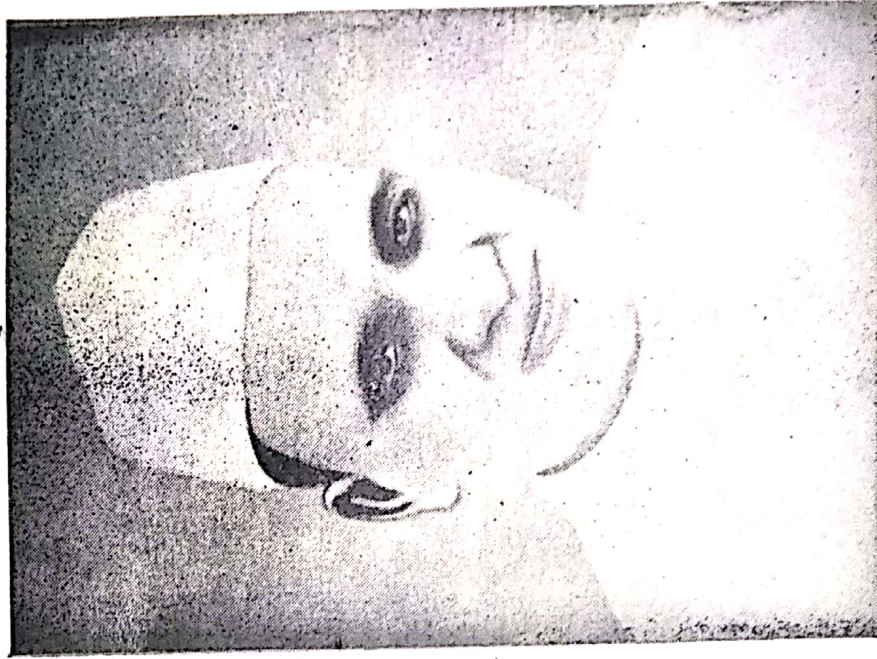
महामना पं० मदनमोहन मालवीय

श्री जमनालाल बजाज

गीताप्रेस के संस्थापक
श्री जयदयाल गोयन्दका

'कल्याण' के प्रवर्तक
श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार
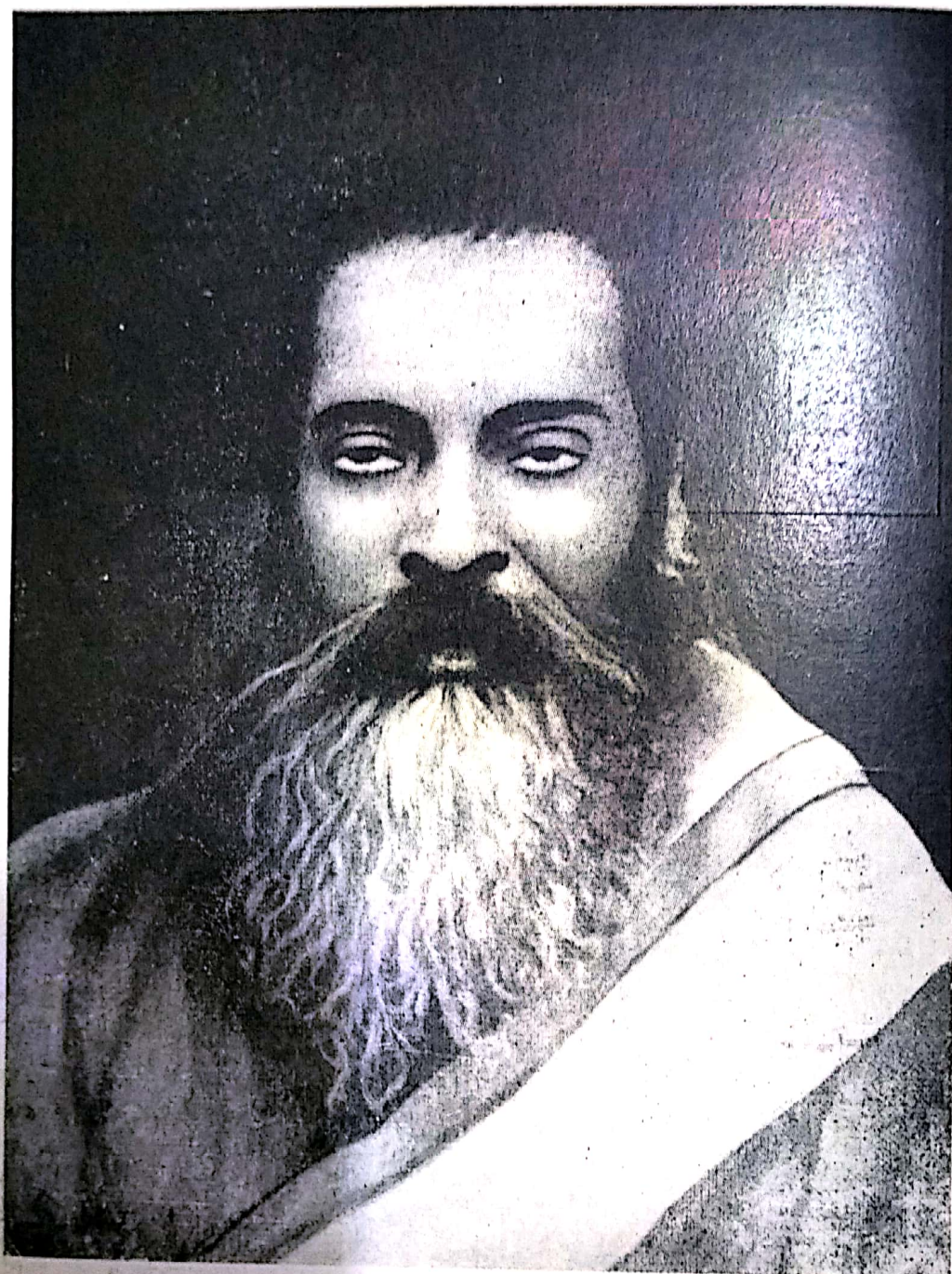
पोद्दारजी के परम-स्नेही
संगीताचार्य भक्तप्रवर श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर

संस्कृति तथा सभ्यता के यथार्थस्वरूप के संरक्षण तथा प्रचार का श्रेय इन्हीं को है। उनमें 'पद्मपुराण' का विशिष्ट स्थान है। शताब्दियों से यह भक्तों का मुख्य प्रेरणास्रोत रहा है। इसमें सृष्टि-रहस्य के साथ दहरविद्या का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड तथा गृहस्थ-धर्म से सम्बद्ध अनेक प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया हैं। यह पाँच खंडों में विभक्त है—सृष्टि खंड, भूमि खंड, स्वर्ग खंड, पाताल खंड और उत्तर खंड। प्रस्तुत विशेषांक में प्रथम दो खंडों तथा तीसरे खंड के कुछ भाग का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद दिया गया है। विशेषांक के आरम्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण लेख दिये गये हैं, जिनसे पुराणों को पूर्वग्रह-रहित नये ढंग से समझने की दृष्टि मिलती है।

गौ-अंक

वर्ष २०, आश्विन, सं० २००२, पृष्ठ-सं० ७४४।

गीता, गायत्री, गंगा और गाय की हिन्दू-संस्कृति में बड़ी महिमा है। गौ को माता की उपाधि से विभूषित करने का श्रेय भारतीय मनीषियों को ही है। इतना ही नहीं उसका शरीर तैंतीस कोटि देवताओं का निवास-स्थान माना गया है। प्रस्तुत विशेषांक का प्रतिपाद्य है—इसी गो-माता के तात्विक तथा लोकोपयोगी स्वरूप का विवेचन। इसके अंतर्गत विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों में गो का स्थान, गोपालन की महिमा और विधि, गो-दुग्ध-वृद्धि के उपाय; गोदुग्ध, गोमूत्र तथा गोमय की आयुर्वेदिक उपयोगिता, गोवंश-सुधार, गोशाला-व्यवस्था, विभिन्न देशों की गो-संख्या आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस के प्रकाशन-काल में देश में गो-रक्षा आन्दोलन चल रहा था। पोद्दारजी ने इस विशेषांक में धार्मिक तथा सांप्रदायिक आग्रह से ऊपर उठकर गोरक्षा के समर्थन में जो वैज्ञानिक तथ्य संकलित किये, वे अत्यंत संतुलित, उपादेय तथा ज्ञानवर्द्धक हैं।

मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणांक

वर्ष २१, माघ, सुं० २००३, पृष्ठ-सं० ७२५।

आधुनिक दृष्टि-सम्पन्न समीक्षक पुराणों की ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं तथापि अगाध ज्ञानकोश के रूप में उनकी उपादेयता असंदिग्ध है। 'मार्कण्डेय ब्रह्मपुराण' पौराणिक वाङ्मय का एक उज्ज्वल रत्न है। इसमें महाराज हरिश्चन्द्र, विपश्चित्, पार्वती, दुर्गा आदि की लोकहितकारी कथाओं के साथ ही भगवान कृष्ण की लीलाओं का विशद विवरण दिया गया है। आलोच्य विशेषांक में इसका संक्षिप्त अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। अंक के अंतमें दोनों पुराणों के वर्ण्यविषय तथा आलोचना से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण लेख दिये गये हैं।

इसके प्रकाशन के समय देश-विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिकता की अग्नि

की लपटों से दग्ध हो रहा था। उसके ताप से द्रवित लोकमानस का प्रतिबिम्ब संवेदनशील संपादक द्वारा अंक के अंत में दी गयी 'क्षमा प्रार्थना'[1] में देखा जा सकता है।

नारी-अंक

वर्ष २२, माघ, सं० २००४, पृष्ठ-सं० ८०० ।

भारतीय संस्कृति में नारी को अत्यन्त गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त है। पराशक्ति दुर्गा, पार्वती, सीता तथा राधा के रूप में अनादिकाल से उसके महत्त्व का गुणगान होता रहा है। मानव धर्मशास्त्र के प्रणेता द्वारा **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'** का उद्‌घोष उसकी अपार महिमा का द्योतक है। 'नारी अंक' इस रिक्थ के गौरवपूर्ण निर्वाह का एक विनम्र प्रयास है। इसमें भारतीय दृष्टिकोण से नारी की महत्ता, धर्म, कर्तव्य तथा स्वरूप, प्राचीन तथा वर्तमान समाज में उसकी स्थिति और उसमें अपेक्षित सुधार आदि विषयों पर गंभीरता से विचार किया गया है। इसके साथ ही ब्रह्मवादिनी, भक्तिमती, वीरांगना, पतिव्रता तथा सतीसाध्वी स्त्रियों के लगभग सवा तीन सौ चरित भी दिये गये हैं। इस अंक में नारीजीवन से सम्बद्ध विविध तथ्यों, समस्याओं तथा पक्षों का मार्मिक विवेचन किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रांत वर्तमान नारी-समाज की मानसिकता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संस्कृति के परम्परागत आदर्शों की रक्षा में उसकी सांप्रतिक भूमिका विषयक रचनात्मक सुझाव संपादक की अंतर्निवेशिनी कल्याण-विधायिनी तथा सजग दृष्टि का परिचायक है।

उपनिषदांक

वर्ष २३, माघ सं० २००५, पृष्ठ-सं० ७७६ ।

उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। ब्रह्मविद्या के मूलस्रोत के रूप में उसकी मान्यता सर्वविदित है। इनकी संख्या १०८ मानी गयी है, किन्तु उनमें से ५४ के ही प्रामाणिक पाठ उपलब्ध हैं, जिनमें बारह प्रधान हैं। प्रस्तुत अंक में उन बारह उपनिषदों में से केवल नौ—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, और श्वेताश्वतर—को मूल, पदच्छेद, अन्वय तथा व्याख्या सहित प्रकाशित किया गया है, अन्य पैंतालीस उपनिषदों का भाषान्तर दे दिया गया है। अंक के आरम्भ में विशिष्ट विद्वानों के उपनिषद् सम्बन्धी विचार लेखबद्ध हैं, जिनमें उपनिषद् साहित्य की श्रेष्ठता, प्रतिपाद्य, अध्यात्म-विद्या के विकास में योगदान आदि विषयों की गंभीर मीमांसा की गयी है।

हिन्दू-संस्कृति-अंक

वर्ष २४, माघ, सं० २००६, पृष्ठ-सं० ९०४ ।

हिन्दू-संस्कृति अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के कारण मानव जाति के

१. पृष्ठ सं० ७२२

इतिहास में अप्रतिम है। अनादिकाल से प्रवहमान इसकी जीवन-धारा में वे अमरत्व-विधायक तत्व विद्यमान हैं, जिनके प्रभाव से सारे झंझावातों का सामना करते हुए यह आजतक अनवरत रूप से गतिशील है। प्रस्तुत अंक में हिन्दू-संस्कृति की शाश्वतता के विविध कारणों तथा विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। इसके अंतर्गत संस्कृति क्या है? हिन्दू संस्कृति के मूल तत्व, उसकी ऐतिहासिकता, हिन्दू-संस्कृति विश्व संस्कृति, धर्मग्रन्थों में हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू संस्कृति और स्वाधीनता, वर्णाश्रम की ऐतिहासिकता, हिन्दू संस्कृति का अन्य धर्मों पर प्रभाव, हिन्दू संस्कृति और नवमतवाद, हमारी प्राचीन वैज्ञानिकता आदि विषयों का गवेषणापूर्ण विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त हिन्दू स्थापत्य, चित्रकला, ज्योतिर्विज्ञान आदि अनेकानेक विषयों पर अत्यंत उपादेय सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति के आधार पर निर्मित आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसे वर्तमान राजनीतिक तथा आर्थिक मतवादों—लोकतंत्र, साम्यवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद तथा समाजवाद की तुलना में अधिक श्रेयस्कर ठहराया गया है। पोद्दारजी हिन्दू संस्कृति को मानव-संस्कृति का पर्याय मानते थे। इस अंक की योजना में उनका यह उदार दृष्टिकोण आद्योपांत व्याप्त लक्षित होता है।

स्कन्दपुराणांक

वर्ष २५, माघ, सं० २००७, पृष्ठ-सं० ८२२।

आकार की दृष्टि से सम्पूर्ण पुराण-साहित्य में 'स्कन्द पुराण' सर्वाधिक विस्तृत है। इसकी श्लोक संख्या अस्सी हजार बतायी जाती है। इसके पाँच खंड हैं—माहेश्वर, विष्णु, ब्राह्म, काशी तथा अवंती। भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्थित तीर्थों का विशद परिचय इसकी विशेषता है। प्रस्तुत विशेषांक में इस पुराण का सुबोध हिन्दी में भावानुवाद प्रस्तुत किया गया है, जिसमें मूलग्रंथ का कोई भी महत्त्वपूर्ण अंश छूटने नहीं पाया है। धर्मनिष्ठ जनसमुदाय तथा भारतीय भूगोल के अनुसंधित्सुओं—दोनों के लिए इसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

पुराण-साहित्य को हिन्दी में उपलब्ध कराने की दिशा में यह अंक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम है।

भक्त-चरितांक

वर्ष २६, माघ, सं० २००८, पृष्ठ-सं० ८०८।

विश्वनियंता की योजनानुसार भक्तों का अवतरण त्रिताप से दग्ध प्राणियों के हृदय में अनुराग की स्रोतस्विनी बहाकर सुख-शांति की स्थापना के लिए होता है। उनके लोकपावन-चरित में आदर्श व्यवहार, इन्द्रिय-मन पर विजय, पवित्र सेवाभाव,

त्याग-तपस्या, विषय-विरक्ति, भगवद्भक्ति और प्रेम का सच्चा स्वरूप लक्षित होता है। 'कल्याण' का 'भक्त-चरितांक' इन्हीं मूल्यों की स्थापना हेतु प्रकाशित किया गया है। संकलित भक्त चरितों में विभिन्न देशों, कालों, वर्गों, धर्मों, श्रेणियों तथा स्थितियों के सन्तों के जीवन, सिद्धान्त एवं साधना पर न्यूनाधिक प्रकाश डाला गया है। अंक के प्रारंभ में शाण्डिल्य और नारद भक्ति सूत्र दिये गये हैं, तदनन्तर नाभादास तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भक्तमाल मूल रूप में रखे गये हैं। इस अंक में अर्वाचीन भक्तों के प्रसंग में कुछ ऐसे महापुरुषों के वृत्त समाविष्ट हैं, जिन्हें प्रचलित परिपाटी के अनुसार भक्त न कहकर राष्ट्र-प्रेमी तथा समाजसेवी कहना अधिक संगत होगा; जैसे—देशबन्धु चितरंजन-दास, एनीबेसेन्ट, महात्मा गांधी, महामना मदनमोहन मालवीय आदि। इससे सम्पादक की प्रगतिशील तथा तत्वग्राहिणी दृष्टि का पता चलता है।

बालक-अंक

वर्ष २७, माघ, सं० २००९।

बालक राष्ट्र की अमूल्य निधि तथा उसके भविष्य-निर्माता हैं। उनके समुचित लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा से ही देश का सर्वांगीण विकास सम्भव है। इस तथ्य को हृदयंगम करके पोद्दारजी ने 'बालक-अंक' निकालने की योजना बनायी और उसे सभी प्रकार से उपयोगी बनाने का प्रयास किया। इसमें बालक के स्वभाव, आहार, स्वास्थ्य, खेल-कूद, पालन-पोषण आदि से सम्बद्ध अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख दिये गये हैं। बालक के विकास में माता-पिता, गुरु, समाज और राष्ट्र का क्या दायित्व है, इसका विवेचन किया गया है। इस अंक में बालिकाओं, किशोर-किशोरियों के जीवन को निर्दोष एवं सात्विक बनाने और उसे उच्चस्तर पर ले जानेवाले विभिन्न साधनों का उल्लेख विस्तार से किया गया है। इसके आन्तरिक रूप को आकर्षक बनाने के उद्देश्य से 'कल्याण' की परम्परानुसार विचारप्रधान निबन्धों के साथ ही भगवान राम-कृष्ण की सुन्दर बाललीलाओं के विशद वर्णन से लेकर ज्ञानी, भक्त, कर्मयोगी, ईश्वर-विश्वासी, दयालु, मातृ-पितृ-भक्त, वीर, धर्म पर बलिदान होने वाले, मेधावी तथा गुणवान् बालकों के चरित दिये गये हैं। विज्ञान और औद्योगिक विकास के साथ आधुनिक युग में बालकों में आस्थाहीनता, उच्छृंखलता तथा नैतिकता का उत्तरोत्तर ह्रास देखकर उनके जीवन में भारतीय आदर्शों के अनुकूल सात्विकता, आस्तिकता, कर्तव्यनिष्ठा, सेवा-परायणता आदि गुणों को शिक्षाप्रद कहानियों के माध्यम से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।

संक्षिप्त नारद-विष्णु-पुराणांक

वर्ष २८, माघ, सं० २०१०, पृष्ठ-सं० ८००।

भारत की प्राचीन संस्कृति की गौरवपूर्ण गाथा के रूप में पुराणों की महिमा सर्वविदित है। जातीय जीवन को उनके अमरत्व विधायक आदर्शों से अनुप्राणित करने

के लिए पोद्दारजी पौराणिक साहित्य के लोकप्रचार में आजीवन संलग्न रहे। प्रस्तुत विशेषांक का प्रकाशन इसी योजना के अन्तर्गत हुआ। आरम्भ में नारद पुराण तथा विष्णु पुराण पर परिचयात्मक लेख दिये गये हैं। इसके पश्चात् ऐतिहासिक घटनाओं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष का परिचय तथा रोचक कथाओं का संकलन है। अनुवाद संक्षिप्त होने पर भी सुबोध, उपयोगी तथा आकर्षक है।

संतवाणी अंक

वर्ष २९, माघ, सं० २०११, पृष्ठ-सं० ८००।

आत्मनिष्ठ महापुरुषों के अनुभवसिद्ध शब्द मोहांधकार-ग्रस्त जीवों को दिव्य ज्योति प्रदान करते हैं और हीन स्थिति से ऊपर उठाकार उन्हें परमानंदमय समुन्नत धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। संतवाणी की इस अमोघशक्ति का प्रतिपादन तथा प्रकाशन ही प्रस्तुत अंक का लक्ष्य रहा है। पोद्दारजी संतवाणी को रचयिता का ही स्वरूप मानते थे। उनकी दृष्टि में संतवाणी वही है, जो संतभाव की प्राप्ति में साधन-रूप हो सकती है। उनकी यह धारणा थी कि संतों की वृत्तियों का अनुशीलन अथवा पारायण करते हुए यह विचार नहीं आना चाहिए कि वह पहुँचे हुए संत की वाणी है या साधक की। साधक की भी वाणी साक्षात् संतस्वरूप होने के कारण निश्चय ही मंगल-कारिणी है। व्यक्तिगत गुण-दोषों को दृष्टि में रखकर इन पर विचार करना अनपेक्षित है।

इस अंक में ५८५ संतों और साधकों के वचनों का संग्रह है। संसार का कदाचित् कोई ही धर्म अथवा संप्रदाय बचा हो, जिसके अनुयायी संतों और उनके आप्तवचनों का न्यूनाधिक परिचय इसमें प्राप्त न हो।

सत्कथांक

वर्ष ३०, माघ, सं० २०१२।

समाज में नैतिक आदर्शों की स्थापना एवं प्रसार के लिए सभी देशों और युगों में कथाओं का उपयोग एक सशक्त माध्यम के रूप में किया जाता रहा है। 'सत्कथांक' का प्रकाशन इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त हुआ। इसमें ८६० शिक्षा-प्रद कथाओं का संकलन किया गया है। ये कथाएँ भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य एवं लोक-जीवन से ली गयी हैं। संकलनकर्ता का लक्ष्य जीवन में सदाचार, विनम्रता, सहनशीलता, आस्तिकता, सेवापरायणता आदि गुणों का समुचित विकास रहा है। हिन्दू जीवन की परंपरागत धर्मनिष्ठता तथा नैतिकता को रूपायित करने में इसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

तीर्थांक

वर्ष ३२, माघ, सं० २०१३, पृष्ठ-सं० ७०४।

तीर्थ जातीय संस्कृति के पावन स्रोत तथा सजग प्रहरी हैं। धार्मिक एकता

एवं समन्वय-साधना में वे शताब्दियों से महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं। पुराणों तथा अन्य धर्मग्रन्थों में उनकी महिमागान के साथ ही भौगोलिक स्थिति का भी विशद विवरण उपलब्ध होता है। इसमें उत्तर, पूर्व, मध्य, दक्षिण और पश्चिम भारत के लगभग अठारह सौ तीर्थों की स्थिति तथा महत्त्व का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। विवरण संकलन में यह ध्यान रखा गया है कि सभी प्रमुख संप्रदायों तथा धर्मों के तीर्थों का वृत्त आ जाय। अंक के आरंभ में तीर्थों की महिमा, तीर्थयात्रा की विधि, तीर्थदर्शन का फल आदि पर लेख दिये गये हैं। तीर्थ सम्बन्धी मानचित्र भी उपलब्ध कराये गये हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तीर्थों के वर्णन के साथ वहाँ जाने के मार्ग और ठहरने के स्थान भी बताये गये हैं। इन विशेषताओं के कारण भारतीय इतिहास, धर्म तथा संस्कृति के प्रेमियों और अनुसंधित्सुओं के लिए यह अंक एक उत्कृष्ट संदर्भ-ग्रन्थ बन गया है।

भक्ति-अंक

वर्ष ३२, माघ, सं० २०१४, पृष्ठ-सं० ७०८।

इस अंक का प्रकाशन 'भक्त-चरितांक' तथा 'संतवाणी अंक' की परम्परा में भक्ति के सैद्धांतिक पक्ष के वैशिष्ट्य-प्रतिपादन के उद्देश्य से किया गया है। इसके अंतर्गत भक्ति की महिमा, स्वरूप, शक्ति तथा फल; ज्ञान एवं योग से उसका सम्बन्ध, भक्ति की सुलभता एवं दुर्लभता, भक्ति के लक्षण, प्रकार एवं विशेषताएँ, भक्ति की विभिन्न पद्धतियाँ, वेद-उपनिषद्-पुराणादि प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध भक्ति के तत्त्व, भक्ति के विकास के सोपान, भक्ति के महान् आचार्य, भक्ति के भाव, विविध भक्ति-सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में भक्ति का स्थान आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। भक्ति के लोकसुलभ साधन, नाम-जप, प्रार्थना आदि की विधि एवं उपादेयता पर भी ज्ञानवर्द्धक सामग्री संग्रहीत है। भक्ति के तात्त्विक एवं ऐतिहासिक विवेचन में रुचि रखने वाले अनुसंधाताओं तथा साधना-मार्ग के पथिकों, दोनों के लिए यह अंक समान रूप से उपादेय है।

मानवता-अंक

वर्ष ३३, माघ, सं० २०१५, पृष्ठ-सं० ७०४।

मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा समादर ही मानव-जाति के उत्थान का एक-मात्र साधन है। सिद्धान्तरूप में तो मानव-जीवन का चरमलक्ष्य प्रवचनों, उपदेशों तथा काव्यांगों में निरंतर उद्घोषित होता रहा है, किन्तु व्यवहार-क्षेत्र में इनका दर्शन अत्यंत दुर्लभ है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा वैयक्तिक स्वार्थ मनुष्य को कहीं-से-कहीं पहुँचा देते हैं। प्रतिहिंसा, द्वेष, लोभ और काम उसे किस प्रकार नारकीय स्थिति में डाल देते हैं—आज का मानवसमाज उसका ज्वलन्त

उदाहरण है। भ्रांत मानवता के उद्धार हेतु ही पोद्दारजी ने प्रस्तुत अंक की योजना बनायी थी।[1]

मानवता की परिभाषा, मानवता के मूल तत्त्व, मानवता का स्वरूप एवं कर्तव्य-कर्म, मानवता की उन्नति के साधन, मानवता का विकास, मानवता का आदर्श आदि तत्त्वों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। मानवता की व्यापक परिधि के दिग्दर्शन के लिए विभिन्न धर्मों में उसके स्वरूप पर प्राप्त सामग्री का निदर्शन एवं विवेचन इसकी उल्लेखनीय विशेषता है। मानवीय गुणों को स्वभाव का अनिवार्य अंग बनाने के लिए ऐसे महापुरुषों की जीवन-यात्रा की समीक्षा की गयी है, जिन्होंने अपनी चारित्रिक-प्रतिभा के प्रकाश से मानव-मात्र के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस्‌सिद्धि की भूमिका तैयार की है।

संक्षिप्त देवी-भागवतांक

वर्ष ३४, माघ, सं० २०१६, पृष्ठ-सं० ७०४।

देवी भागवत की गणना अष्टादश मुख्य पुराणों के अन्तर्गत होती है। इसमें शक्ति-तत्त्व के निरूपण के साथ ज्ञान, योग, भक्ति, सदाचार आदि विषयों पर विशद विचार किया गया है। इसके अंतर्गत महाशक्ति के विभिन्न रूपों तथा लीला-कथाओं का रोचक इतिहास वर्णित है। शक्ति-उपासना की विविध पद्धतियों के साथ श्रीविद्या, शक्ति और शक्तिमान्, देवी-भागवत की पाठ-विधि आदि विषयों पर महत्त्व-पूर्ण लेख दिये गये हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण की भी अद्‌भुत रहस्यमयी कथाएँ समाविष्ट हैं। प्रस्तुत अंक में देवी भागवत का भावानुवाद दिया गया है। इसका प्रकाशन 'शक्ति-अंक' की परम्परा में शक्ति-साधकों को विशेषरूपेण दृष्टि में रख कर हुआ है।

---

१. इसके उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए पोद्दारजी लिखते हैं—

'हम मानव हैं। मानवता हमारी सम्पत्ति है, हमारी स्थिति है और वस्तुतः हमारा स्वरूप है। पर आज वही मानवता हमसे चली जा रही है और हम असहाय होकर मरणतुल्य लूट को देख रहे हैं। मानवता के स्वरूप के संरक्षक हैं एकमात्र भगवान्। वे ही मानवता के चरम और परम लक्ष्य हैं। उसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जीव को मानव बनने का सौभाग्य दिया गया है। इन्द्रियों के भोग तो सभी शरीरों में थे, परन्तु हमने उस भगवान् को भुलाकर अपनी रक्षा का भार भोग को दे दिया और उसी को अपने जीवन का साध्य और साधन बना लिया। इसी से आज 'त्याग' और 'कर्तव्य' का स्थान 'अर्थ' और 'अधिकार' ने ले लिया और इसी से आज असुर को अवसर मिल गया हमारी मान्वता को छीनने, लूटने और मारने का। इस बुरी स्थिति से निकलने का एकमात्र उपाय है—भगवान् को फिर से मानवता का संरक्षक और लक्ष्य बनाना, फिर से समस्त भूतों में भगवान् के दर्शन करके अपने प्रत्येक कर्म के द्वारा उनकी पूजा करना। इसी उद्देश्य से 'कल्याण' का यह 'मानवता-अंक' प्रकाशित किया जा रहा है।'

—'कल्याण' मानवता-अंक, पृ० ७०३ (क्षमा-प्रार्थना)

संक्षिप्त योगवाशिष्ठांक

वर्ष ३५, माघ, सं० २०१७, पृष्ठ-सं० ७०० ।

अद्‌वैतब्रह्म-प्रतिपादक शास्त्रों में योगवाशिष्ठ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सुन्दर-सुबोध उक्तियों, आख्यानों तथा इतिहास-कथाओं के द्वारा जगत् की असारता एवं एकमात्र सच्चिदानन्द-घन परमात्मसत्ता का प्रतिपादन किया गया है। योग-वाशिष्ठ एक पूर्ण शास्त्र है, जिसमें ज्ञान, योग, भक्ति, वैराग्य, कर्म—सभी की विस्तृत व्याख्या तथा सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। इसमें तत्त्व-निरूपण के साथ-ही-साथ शास्त्रोक्त सदाचार, सत्पुरुष संग, त्याग-वैराग्य युक्त सत्कर्म, वस्तु विवेक, सद्‌गुण, आदर्श व्यवहार आदि पर बल दिया गया है।

प्रस्तुत अंक में योगवाशिष्ठ का संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है। इसमें वैराग्य, मुमुक्षु-व्यवहार, उत्पत्ति, जगत-स्थिति, उपराम और निर्वाण—कुल छः प्रकरण हैं। अंक के अंत में ग्रंथ के माहात्म्य का वर्णन है।

शिव-पुराणांक

वर्ष ३६, माघ, सं० २०१८, पृष्ठ-सं० ७०४।

भारतीय धर्म-संस्कृति में शिव 'महा'देव के रूप में मान्य हैं। भारत ही नहीं, विश्व के अन्य देशों में भी शिवोपासना के प्रमाण मिलते हैं। शैवदर्शन के अनुसार संसार का प्राणिमात्र किसी-न-किसी रूप में शिवतत्त्व की ओर अग्रसर हो रहा है और प्राणियों का विराम उसी तत्त्व में आकर होता है। शिवतत्त्व के इस व्यापक स्वरूप का ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विवेचन ही शिवपुराणांक का लक्ष्य रहा है। तत्त्वविवेचन के साथ ही भगवान् शिव की अलौकिक कथाओं एवं दिव्य लीलाओं का सविस्तार वर्णन इसकी विशेषता है। इस प्रकार प्रस्तुत अंक में 'शिवपुराण' का संक्षिप्त अनुवाद तो दिया ही गया है, इसके अतिरिक्त शिवतत्व, शिवस्वरूप एवं शिवोपासना की भी मीमांसा हुई है। आज जब विश्व शिव से मुँह मोड़कर अशिव का पुजारी बन रहा है, परमकल्याण की ओर अग्रसर होने के लिए 'कल्याण' का यह अंक शिवतत्व की उपासना की प्रेरणा देता है।

संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणांक

वर्ष ३७, माघ, सं० २०१९, पृष्ठ-सं० ६८२।

पुराणों में 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का दसवाँ स्थान है। इसकी श्लोक-संख्या अठारह हजार है तथा यह चार खण्डों में विभक्त है—ब्रह्म, प्रकृति, गणेश, और कृष्णजन्म। 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' मुख्यतः वैष्णव पुराण है। इसमें परब्रह्म या परमात्मा के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म-खण्ड में सब के बीजस्वरूप परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णतत्त्व का निरूपण है। प्रकृति-खण्ड में देवियों के शुभ चरित्रों

की चर्चा है, गणेश-खण्ड में गणेश के जन्म आदि का वृत्तान्त है तथा श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड में श्रीकृष्ण के अवतार तथा लीलाओं का वर्णन है। इसी 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का अनुवाद प्रस्तुत अंक में दिया गया है। इसके आरम्भ में दिये गये निबंधों में पुराणतत्त्व तथा 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' की महत्ता की मीमांसा की गयी है।

श्रीकृष्णवचनामृतांक

वर्ष ३८, माघ, सं० २०२०, पृष्ठ-सं० ६९२।

मानवमात्र के श्रेय के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के वचनामृत उपलब्ध कराने हेतु इस अंक में महाभारत, गीता तथा भागवतोक्त उद्धव-गीता, श्रीमद्भागवत, हरिवंश-पुराण, विष्णु-पुराण, जैमिनीयाश्वमेध, पद्मपुराण, गरुड़-पुराण, आदि-पुराण, भविष्य-पुराण, गर्ग-संहिता, योगवाशिष्ठ, ब्रह्मवैवर्त-पुराण आदि से उद्बोधक प्रसंग संकलित किये गये हैं। वचनामृत के साथ ही प्रेरणाप्रद कथा-प्रसंग भी दिये गये हैं। अंक का आदि-अंत भगवान् की स्वरूप-वंदना, चरित्र, अमृत-वचनों की रहस्य-विवेचना आदि विषयों पर अधिकारी विद्वानों के निबंधों से मंडित है।

भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना अंक

वर्ष ३९, माघ, सं० २०२१, पृष्ठ-सं० ७००।

भगवन्नाम विषयक 'कल्याण' का यह दूसरा विशेषांक है। भगवान् का नाम-स्मरण तथा प्रार्थना सभी धर्मों में अध्यात्म-साधना के मुख्य अंग के रूप में समादृत है। भारतीय संस्कृति के मूलस्रोत वेद, शास्त्र और पुराणों में भगवन्नाम की महिमा का गान मुक्तकंठ से किया गया है। पोद्दारजी की इनपर गहरी आस्था थी। अपने साधक-जीवन में उन्होंने स्वयं इनके चमत्कारी प्रभाव का साक्षात् अनुभव किया था। नाम-निष्ठा के माध्यम से जिज्ञासुओं को भगवान् की ओर उन्मुख करने के लिए ही इस अंक का प्रकाशन हुआ है। इसमें नाम-जप, प्रार्थना, मंत्र एवं स्तोत्र-पाठ के प्रयोग से लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के साधन बतलाये गये हैं। संग्रहीत लेखों में नाम की महिमा, नाम-साधना, नामोपासना, प्रार्थना का महत्त्व, नाम-जप तथा प्रार्थना के प्रभाव विषयक अनुभवों का मर्मस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

धर्मांक

वर्ष ४०, माघ, सं० २०२२, पृष्ठ-सं० ७००।

धर्म के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा और प्रसार ही 'कल्याण' का प्रधान उद्देश्य रहा है। पोद्दारजी की धारणा थी कि धर्म ही मानव-संस्कृति का प्राण एवं मूलाधार है। विभिन्न क्षेत्रों तथा विविध रूपों में प्रकट होकर वह सबको जीवनदान देता है। वह सूर्य में प्रकाश और ताप, अग्नि में दाहिकाशक्ति, चन्द्रमा में शीतलता,

अमृत में अमरता, पृथ्वी में क्षमा, सिंह में शौर्य, मानव में मानवता, पत्नी में पति-परायणता, ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व, ब्रह्मचारी में ब्रह्मचर्य और संन्यासी में सर्वत्याग के रूप में प्रकट होकर श्रेय-संपादन करता है। इस अंक में धर्म की महत्ता का निष्ठा तथा विद्वता पूर्ण शैली में प्रतिपादन किया गया है। संग्रहीत लेखों में धर्म की परिभाषा और महत्त्व, विभिन्न धर्मग्रथों में निरूपित धर्म का स्वरूप, राजनीति में धर्म का स्थान, धर्म और वर्तमान समाज-व्यवस्था, धर्म-निरपेक्ष शासन में धर्म का स्वरूप, तथा उसकी उपयोगिता आदि विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है।

इस अंक का मुख्य प्रतिपाद्य सनातन धर्म है, अन्य धर्मों पर लेख नहीं दिये गये हैं। इसका कारण स्पष्ट करते हुए सम्पादक ने बताया है कि धर्म वही है, जो सर्वभूत-हित-साधन में लगा रहता है और सनातन धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जो सर्वव्यापक होने के साथ ही सब के हित की बात ध्यान में रखता है।

रामवचनामृतांक

वर्ष ४१, माघ, सं० २०२३, पृष्ठ-सं० ७०४।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम की लोकोत्तर प्रतिष्ठा का मुख्य कारण उनका आदर्श चरित्र है। अपने आचरण द्वारा शिक्षा देना ही उनकी विशिष्टता है। सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, सरलता, विप्र एवं गुरु सेवा आदि गुणों का उनमें अविचल निवास है। इसीलिए वे धर्म के मूर्तिमान स्वरूप माने गये हैं। ऐसे राम के वचनामृत का संकलन आसुरी भावों के प्रचार को रोकने के लिए इस विशेषांक में किया गया है। इसमें वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण, आनन्द रामायण, स्कन्द-पुराण, पद्मपुराण, उपनिषद्, श्रीरामचरितमानस, अद्‌भुत रामायण, राम गीता, रघुवंश, उत्तररामचरित, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, चम्पूरामायण, अनर्घ राघव, भट्टिकाव्य, सूरसागर, रामचन्द्रिका, रामरसायन, साकेत आदि ग्रंथों से राम के अमृतोपम उपदेश संकलित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, बंगला, असमिया, मराठी, नेपाली, पंजाबी, सिंधी आदि भारतीय भाषाओं के साहित्य से भी राम के प्रेरक वचनों के हिन्दी अनुवाद उद्‌धृत किये गये हैं।

उपासनांक

वर्ष ४२, माघ, सं० २०२४, पृष्ठ-सं० ७००।

भगवान् के अनन्त रूप हैं, अनन्त लीलाएँ हैं। इसीसे अनन्त नाम-रूपों में उनकी उपासना की जाती है। रुचिवैभिन्य से विभिन्न नाम-रूपों में वे उपासित होते हैं और उपासकों के भाव, साधना तथा मनोरथ के अनुसार वे विविध प्रकार के फल प्रदान करते हैं। उपासना-पद्धतियों की विविधता तथा विभिन्नता का यही रहस्य है। उपासना-अंक का लक्ष्य उपासना के अंतः एवं बाह्य स्वरूप की मीमांसा है।

इसमें उपासना का अर्थ, लक्ष्य, स्वरूप, महत्त्व, आधार तथा रहस्य तत्व; और विभिन्न युगों, धर्मों तथा सम्प्रदायों में प्रचलित उपासना-पद्धतियों का समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। इसके अतिरिक्त सगुणोपासना, निर्गुणोपासना, शक्ति-उपासना, तांत्रिक उपासना, नाद-बिन्दु-उपासना, हठयोग, खेचरी-मुद्रा, नवग्रहोपासना, पंचदेवोपासना आदि का भी विस्तार से विवेचन किया गया है।

परलोक और पुनर्जन्मांक

वर्ष ४३, माघ सं० २०२५, पृष्ठ-सं० ६९६।

पाश्चात्य सभ्यता तथा शिक्षा-पद्धति के प्रभाव से धर्मप्राण भारतीय समाज में भी ईश्वर, धर्म, परलोक एवं पुनर्जन्म में उत्तरोत्तर आस्था कम होते जाने से अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गयी हैं। इसके निवारण हेतु तथा धर्म की ओर लोगों को प्रवृत्त करने के उद्देश्य से प्रस्तुत अंक के अन्तर्गत परलोक विवेचन के प्रसंग में दैवी तथा आसुरी सम्पदाओं के मुख्य अंगों का निरूपण किया गया है। पुनर्जन्म से सम्बद्ध बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनपर आज का तर्कशील मानव सहसा विश्वास नहीं कर सकता। कुछ लोग उसे अंधविश्वासी जनता के मन की उपज की संज्ञा देते देखे-सुने जाते हैं। ऐसे तथ्यों के सम्बन्ध में सम्पादक का कथन है कि 'जो चीज बुद्धिगम्य नहीं, वहाँ तर्क कभी सफल नहीं होता, क्योंकि बुद्धि की भी एक सीमा है। अतएव सबको न तो ढकोसला माना जा सकता है और न काल्पनिक ही। इसपर श्रद्धा करनी चाहिए। यह बुद्धिवाद से परे आस्था का विषय है।' (६९२)

इस अंक में पुनर्जन्म, मृत्यु, कर्मयोनि, भोग-योनि, कर्म-विपाक, काल-विवेचन, मोक्ष, जन्मान्तर, आदि पुनर्जन्म से सम्बद्ध अनेक विषयों पर गम्भीरता से विचार किया गया है। विभिन्न धर्मों, दर्शनों तथा सम्प्रदायों में प्रचलित पुनर्जन्म-संबन्धी सिद्धान्त का परिचय देते हुए पुनर्जन्म से सम्बन्धित भारत तथा विश्व के अन्य देशों की अनेक चमत्कारी तथा रोमांचक घटनाओं ने इसकी उपयोगिता तथा आकर्षण बढ़ा दिया है।

अग्निपुराण और गर्ग संहितांक

वर्ष ४४, माघ, सं० २०२६, पृष्ठ सं० ७००।

'अग्निपुराण' धर्म के साथ ही साहित्यांग तथा स्थापत्यकला के विवेचन की दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। इसमें सृष्टि के रहस्य सम्बन्धी वर्णन के अतिरिक्त देवालय के निर्माणादि की विधि, देवालय में प्रतिमास्थापन की बिधि, पंचदेवोपासना, व्रत एवं तप का महत्त्व; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का महत्त्व, नियम एवं विधि, वास्तु-विद्या, राजनीति, स्वप्न, शकुन आदि का विवेचन है। इस अंक में 'अग्निपुराण' के दो सौ अध्यायों का सरल हिन्दी अनुवाद दिया गया है।

'गर्ग-संहिता' में श्रीकृष्ण की माधुर्य लीलाओं का विस्तार से वर्णन है, इसके दस खण्ड हैं। इस अंक में उनमें से नौ खण्डों का अनुवाद दिया गया है।

अग्निपुराण, गर्ग-संहिता एवं नरसिंह पुराण अंक

वर्ष ४५, माघ, सं० २०२७, पृष्ठ-सं० ७६८।

प्रस्तुत विशेषांक में 'अग्निपुराण' के परवर्ती १८३ अध्याय, गर्ग-संहिता का अन्तिम अश्वमेध खण्ड तथा 'नरसिंह-पुराण' के कुछ अंश का अनुवाद दिया गया है। 'अग्निपुराण' के उन अध्यायों में राजधर्म, राजनीति, धनुर्वेद, युद्ध-विद्या अर्थ-शास्त्र, मन्त्रशास्त्र, देवपूजा, योग, विभिन्न प्रकार के धर्म, पालनीय नियम, आचार, रस, छंद, अलंकार, काव्य के गुण-दोष, व्याकरण आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'गर्गसंहिता' के अन्तिम खण्ड में मथुरा पर जरासंध के आक्रमण से लेकर श्रीकृष्ण के गोलोकधाम-गमन तक की लीला का वर्णन ५२ अध्यायों में हुआ है। 'नरसिंह पुराण' में सृष्टि, प्रलय, युग तथा मन्वन्तर-निरूपण के साथ ही कतिपय प्रख्यात राजवंशों का वृत्तान्त भी दिया गया है।

इस विशेषांक का मुद्रण कार्य चल ही रहा था कि पोद्दारजी अत्यन्त अस्वस्थ हो गये और उसके पूरा होने के पहले ही उनका पार्थिव शरीर शान्त हो गया।

'कल्याण' का प्रथम विशेषांक भगवन्नामांक था। नाम से ही 'कल्याण' के विशेषांकों की सम्पादन-साधना का सूत्रपात् हुआ था। कालक्रम से रूप, ध्यान और लीला-वर्णन की सीढ़ियाँ पार करती हुई वह धाम के सर्वोच्च शिखर तक पहुँची। 'परलोक और पुनर्जन्मांक' उस यात्रा की आखिरी मंजिल थी। उसके आगे राधा-माधव की नित्य लीला भूमि है—जहाँ पहुँचकर फिर लौटना नहीं होता!

'कल्याण' और सामयिक समस्याएँ

आध्यात्मिकता को प्रमुख स्थान देते हुए भी पोद्दारजी ने सामयिक जीवन के लौकिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की। उनका संवेदनशील मानस लोकजीवन को प्रभावित करने वाली राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचारधाराओं की संतुलित तथा निर्भीक समीक्षा द्वारा पाठकों के समुचित पथनिर्देश में सतत सचेष्ट रहा मानवता के एक सजग प्रहरी के रूप में वे अपने कर्तव्य-पालन में आजीवन दत्तचित्त रहे। उनकी विनम्रता एवं सरलता इस कठोर दायित्व के निर्वाह में कभी बाधक नहीं हुई। समय-समय पर विभिन्न विषयों पर लिखे गये उनके संपादकीय लेख और टिप्पणियाँ इसके प्रमाण हैं।

समाज-सुधार

पोद्दारजी की अध्यात्म-दृष्टि लोक-जीवन को भगवान की प्रत्यक्ष लीला-भूमि मानती थी। इसलिए उसके स्वरूप की रक्षा, पोषण तथा विकास में अपेक्षित योगदान करना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। समाजसेवा भगवत्सेवा का ही प्रतिरूप है, यह उनकी धारणा थी। इस आदर्श को व्यवहारभूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए वे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, जो पूर्णतया मानवीय हो, कल्याणकारी हो, नैतिक हो। अतः समाज के भीतर उन्हें जब भी किसी प्रकार की विघटन अथवा पतनकारिणी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी तो उन्होंने उसका डटकर प्रतिरोध किया—व्यक्तिगत स्तर पर भी और संगठित रूप में भी।

शिष्ट होली

'कल्याण' का प्रकाशन बम्बई में आरम्भ हुआ था। उन दिनों बम्बई में होली मनाने की प्रथा अत्यन्त अशोभनीय थी। पोद्दारजी ने उसके परिष्कार का संकल्प किया। 'कल्याण' में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा, "होली के अवसर पर बहुत से भाई भूल से अपशब्द बोलते हैं, स्त्रियों को देखकर उनकी ओर बुरे इशारे करते हैं, बुरे कबीर, रसिया, धमाल और फाग गाते हैं, भाँग, गाँजा पीते हैं, नाच-तमाशे राग-रंग आदि होते हैं। भाभी, चाची, साली, साले की पत्नी, मित्र-पत्नी और पड़ोसिन आदि के साथ होली खेलते हैं, ये सब कृत्य पाप के समान हैं।"[१] इन्होंने इस कुप्रथा को बन्द कर उसके स्थान पर कीर्तन, भजन, भगवन्नामजप आदि सात्विक साधनों के अपनाने पर जोर दिया। 'कल्याण' में अनेक लेख लिखकर सामाजिक क्षेत्र में इससे होने वाली हानि की

१. कल्याण १।८।२४६

ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। समाज पर इसका अपेक्षित प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे लोग शिष्ट होली मनाने में रुचि लेने लगे।

दहेज का विरोध

इसी प्रकार समाज में व्याप्त दहेज-प्रथा के घातक प्रभाव का भी पोद्दारजी ने तीव्र विरोध किया। इन्हीं दिनों पटना के हिन्दी दैनिक 'आर्यावर्त' में विवाह के लिए दहेज का प्रबन्ध न हो सकने के कारण एक ब्राह्मण कन्या की आत्महत्या का समाचार प्रकाशित हुआ। इस हृदयद्रावक घटना पर टिप्पणी करते हुए पोद्दारजी ने लिखा—"इस प्रकार की दुःखद घटनाएँ समाज में कितनी हो रही हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता ! मैं बहुत-से माता-पिताओं को जानता हूँ, जिनकी कन्याएँ युवती हो गयी हैं और जिनका दहेज के अभाव में विवाह नहीं हो पाता....। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है, जब कालेजों के सुशिक्षित, प्रगतिशील युवक गरीब कन्या के पिता से दहेज के लिए अड़ जाते हैं। रुपया इतनी बड़ी चीज बन गया कि उसके सामने ईश्वर, धर्म और मनुष्यत्व कुछ भी नहीं रह गया ! क्या देश में, दया धर्म और मानवता इतनी उठ गयी है कि जिससे आज पैसों के अभाव से हजारों लाखों कन्याओं को क्वाँरी रहना पड़ रहा है ? माता-पिता के दुःख को देखकर, सयानी कन्याएँ आत्मघात कर लेती हैं और कहीं-कहीं तो माता-पिता भी मर जाते हैं। बेचारे जीवन भर ऋण-भार भोगते और अत्यंत अभाव का जीवन बिताते हैं, सो तो प्रत्यक्ष ही है। मैं ईश्वर और मानवता के नाम पर देश के लोगों से, लड़कों से और उनके अभिभावकों से अपील करता हूँ कि वे दहेज न लेने की प्रतिज्ञा करें और अपने को तथा समाज को इस बढ़ते हुए पाप और दुःख से बचावें।"[१]

राजनीतिक समस्याएँ

कलकत्ता छोड़ने के कुछ वर्षों बाद पोद्दारजी ने राजनीति से पूर्णतया संन्यास ग्रहण कर लिया। सं० १९७८ के बाद से उनका न किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध रहा और न उन्होंने उनके क्रियाकलाप में भाग ही लिया। उनका सारा समय अध्यात्मचर्या, समाज के हितचिंतन तथा 'कल्याण'-सम्पादन में बीतता था। उनकी यह समाधि भंग तभी होती थी, जब वे राजनीतिज्ञों द्वारा समाज अथवा धर्म के मूलाधार पर कुठाराघात होते हुए देखते थे। आजादी के पूर्व अंग्रेजों की भेद-नीति के कारण मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच वैमनस्य की एक दुर्लंघ्य खाई बन गयी थी। सरकार अनुचित रूप से मुसलमानों का पक्ष लेती थी। पोद्दारजी का प्रशांत मानस इससे क्षुब्ध हो उठा और उन्होंने अत्यंत निर्भीकता से राष्ट्रीयजीवन में दरार डालनेवाली इस घातक दुरभिसंधि का पर्दाफाश किया।

---

१. कल्याण २९।६।११०९।

'प्रताप' के यशस्वी संपादक श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी के कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में शहीद होने पर 'कल्याण' में अभिव्यक्त उनके विचार बड़े ही संतुलित, सहानुभूति-सिंचित तथा मर्मस्पर्शी थे—

"देश में अधर्म की बाढ़-सी आ रही है। इसीसे धर्म के नाम पर कायरता को स्थान मिल रहा है। धर्म का रूप ऐसा विकृत और वीभत्स हो गया है कि परस्पर एक-दूसरे का विनाश करने में, अपने ही हाथों अपना गला काटने में, धर्म की उन्नति मानी जा रही है। इधर कुछ समय से जैसे घोर काण्ड हो रहे हैं, उन्हें देखकर तो यही सिद्ध होता है कि एक ही ईश्वर की सन्तान, एक ही देश में जन्मे हुए और अड़ोस-पड़ोस में रहनेवाले हिन्दू-मुसलमानों ने काशी, आगरा और खास करके कानपुर में जो कुकृत्य किया है, उसे देखकर धर्मप्रेमीमात्र का सिर नीचा हो जाता है। असहायों को मार डालना, घरों में आग लगा देना, जीते जी मनुष्य को जला देना, बच्चों की टाँगें पकड़कर चीर डालना, स्त्रियों पर बलात्कार करना, उनके अंगों को काट डालना और घरों को लूट लेना आदि बातें सुनकर यह कहना पड़ता है कि भारत की मनुष्यता पैशाचिकता को प्राप्त हुई जा रही है।.........जो हजारों भाई-बहन वर्तमान जीवन के निर्दोष-निरीह मनुष्य—इस घोर हत्याकांड के शिकार बने हैं, उनका हृदय, उनके घरवालों का हृदय कितना दुःखित, कितना पीड़ित और कितना प्रतिहिंसापरायण हो गया है, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। जो भूले हुए भाई ऐसे कांडों में कारण बनते हैं, मद, अहंकार, आसक्ति, क्रोध, ईर्ष्या और अज्ञानवश ऐसी आग लगाने और उसमें आहुति देने का कार्य करते हैं, उन्हें इसके भयानक परिणाम पर ध्यान देकर अपने को सहनशील बनाना चाहिए।

कानपुर के वर्तमान पापकांड से न मालूम आज कितने लोग पीड़ित हो रहे हैं। बड़े ही खेद की बात है कि इस पैशाचिक उन्माद का शिकार एक ऐसा मनुष्य भी हो गया है, जो इस कलहाग्नि को शान्त करने के लिए, पागल हत्याकारियों से लोगों को बचाने के लिए आरंभ से ही प्रयत्न करता था, उसी शुभ प्रयत्न में उसके शरीर का बलिदान हो गया। उसका नाम था गणेशशंकर विद्यार्थी।"[१]

पोद्दारजी हिंदू-मुसलमानों के आपसी संबन्धों का मानवीय धरातल पर विकास करने के पक्षपाती थे। उनका सुविचारित निष्कर्ष था कि इन दोनों जातियों को एक ही देश और समाज में रहना है तो घृणा तथा द्वेष का मार्ग त्यागकर स्नेह तथा भाई-चारे का रास्ता अपनाना ही श्रेयस्कर है।

इस भेदपूर्ण जातीय नीति के अतिरिक्त अंग्रेज सरकार की कतिपय अन्य नीतियों में भी वे हिन्दू संस्कृति के उन्मूलन का उपक्रम देखकर व्यथित थे। 'हिन्दू-जाति पर विपत्ति'[१] शीर्षक लेख में वे कहते हैं—

---

१. कल्याण—५।१० टाइटिल पृष्ठ—३।

"हिंदू-संस्कृति और हिंदू-धर्म पर इस समय चारों ओर से भाँति-भाँति के आक्रमण हो रहे हैं। हिंदू संस्कृति की धर्ममूलक प्राचीन विचारधाराओं, प्रथाओं, सामाजिक आचारों तथा क्रियाओं को मिटाने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न हो रहे हैं। कॉलेज-स्कूल, नयी पद्धति के आश्रम, समाचार-पत्र, पुस्तक, साहित्य और प्रगति के नाम पर चलने-वाली विविध संस्थाओं के द्वारा जनता के, विशेषकर नवयुवक और नवयुवतियों के मन में धर्म और संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह के भाव उत्पन्न करने का बहुत प्रयत्न हो रहा है। इधर देश के अधिकांश भाग में जब से कांग्रेस का शासन आरंभ हुआ है, तबसे मानो नये-नये धर्म-विरोधी कानूनों का तूफान आ गया है। वे एक-दो वर्षों में ही सनातन संस्कृति का पूर्ण-संस्कार कर देना चाहते हैं। इस प्रकार आज हिन्दू ही हिन्दू-संस्कृति के संहार में संलग्न हैं।"

उन दिनों बिहार, सिंध तथा उत्तरप्रदेश में व्याप्त साम्प्रदायिक तनाव के कारणों की मीमांसा के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अंग्रेजों की मुसलमान-पोषक नीति का मुख्य कारण शासन-तंत्र में घुसे हुए मुस्लिम-लीग के सदस्यों का संभावित विरोध तथा असहयोग का भय है।[1]

एक धार्मिक पत्र के सम्पादक होने के नाते उन्होंने सरकार तथा मुसलमानों के इस संगठित किन्तु प्रच्छन्न षड्यन्त्र से देश की हिन्दू-जनता को सावधान करना अपना परम कर्त्तव्य माना और इसका निर्वाह वे 'कल्याण' में समय-समय पर चेतावनियों के प्रकाशन द्वारा करते रहे।[2]

पोद्दारजी की यह पत्रकार-दृष्टि आजादी के बाद भी सजग रही। कांग्रेसी शासन में इतिहास की पुनरावृत्ति होते देखकर वे क्षुब्ध हो उठे। हिन्दू-कोड बिल पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा—

"कांग्रेस सरकार को भी सावधान कर देना हिंदुओं का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार यदि सनातन धर्म के विरुद्ध विवाहादि सम्बन्धी तथा अन्यान्य नये-नये कानून बनाये जायँगे, तो इसका परिणाम अच्छा न होगा और ऐसे कानूनों को न मानने के लिए दृढ़तापूर्वक जनता को तैयार भी रहना चाहिए।"[3]

भारत विभाजन के निर्णय से पोद्दारजी बहुत दु:खी थे। मातृभूमि के टुकड़े होते देख उनका हृदय विदीर्ण हो गया। मुसलमानों के प्रतिनिधि श्रीमुहम्मदअली जिन्ना की हठवादी नीति के समक्ष झुकने-वाले राष्ट्रीय नेताओं की तुष्टीकरणपरक दब्बू नीति की भर्त्सना करते हुए उन्होंने पाकिस्तान के निर्माण की माँग को अदूरदर्शिता-

---

१. कल्याण २१।२।७८६।
२. ३. कल्याण २१।२।७८६।

पूर्ण और घोर अन्याय बताया। 'भारत-विभाजन के बाद क्या होगा ?'[1] शीर्षक लेख इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। पोद्दारजी की यह दृढ़ धारणा थी कि पाकिस्तान कांग्रेसी नेताओं की कमजोरी का परिणाम है और इस कारण भारत में होनेवाले महाविनाश की जिम्मेदारी उन्हीं पर है। इसमें यह भी कहा गया है कि 'जो नेता प्रारम्भ में विभाजन की बात को भारत-माता के टुकड़े-टुकड़े करने की बात कह कर जोरदार शब्दों में घोषणा करते थे कि 'यदि पूरा भारत जलकर राख हो जाय तो भी पाकिस्तान नहीं बनेगा', वही आज मुस्लिम लीग की कट्टरपंथी विचारधाराओं और मान्यताओं के समक्ष घुटने टेक चुके हैं। यह भारत के भविष्य के लिए बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण है।'[2]

इस प्रकार देश के राजनीतिक वातावरण में समय-समय पर उठनेवाले झंझावातों से वे आत्मरक्षा के लिए जनता को 'कल्याण' में प्रकाशित संपादकीय वक्तव्यों द्वारा निरन्तर सावधान करते रहे। कांग्रेस सरकारों की कृपा,[3] भयानक खतरा और तुरन्त कर्त्तव्य पालन की आवश्यकता,[4] हिन्दू मुस्लिम समस्या में मनोवैज्ञानिक भूल[5], अत्याचार का प्रतिकार[6], पंजाब में अत्याचार और हमारी सरकार[7], वोट किसको दें ?[8], वर्तमान गणतन्त्र तथा मतदाताओं का कर्त्तव्य[9], वर्तमान राजनीति का स्वरूप[10], भगवत्प्रीत्यर्थ द्वेषरहित कर्त्तव्य पालन[11], जहाँ हिन्दू मृत्यु का मुकाबला कर रहे हैं[12], हमारी संस्कृति की अखण्ड धारा[13], हिन्दुओं का दुर्भाग्य[14], शीर्षक लेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अंग्रेजों की भेदनीति से उत्पन्न तथा अदूरदर्शी राष्ट्रनेताओं द्वारा पोषित इस साम्प्रदायिक विद्वेष का प्रलयंकर विस्फोट, भारत-विभाजन की प्रक्रिया में १९४७ ई० में पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में हुआ। नोआखाली का भीषण कांड इसी का परिणाम था। हिन्दुओं पर किये गये अकल्पनीय अत्याचारों की कहानियाँ सुन-सुन कर महामना पं० मदन मोहन मालवीय का संवेदनशील मानस क्षत-विक्षत हो गया। प्रतिकार का कोई उपाय न देखकर इस चिन्ता ने प्राणान्तक व्याधि का रूप धारण कर लिया। महामना-जैसा दिशानिर्देशक महापुरुष काल कवलित हो गया। उनकी पुण्यस्मृति में पोद्दारजी ने 'मालवीय अंक' का प्रकाशन अक्तूबर १९४६ में किया, जो देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का जीता-

---

१. २. कल्याण २१।७।१०९९।
३. कल्याण २१।३।८५१।
४. कल्याण २१।५।९७०।
५. कल्याण २१।३।८४९।
६. कल्याण २१।८।११६२।
७. वही २१।९।१२३२।
८. वही २५।१२।१५१९
९. वही २५।१२।१५१६।
१०. वही २१।३।८२४।
११. वही
१२. वही २१।६।१०४३।
१३. वही २१।६।१०३५।
१४. वही २१।११।१३६१।

जागता दस्तावेज है। कुछ लेखों में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों का बड़ा ही हृदयद्रावक वर्णन है। उठो जागो !, बंगाल को अपहरण की हुई महिलाएँ, हिन्दू देवियों के पत्र, वर्तमान पूर्व-बंगाल-प्रत्यक्ष पाकिस्तान आदि निबंध इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

यह उल्लेखनीय है कि ऐसी उत्तेजनात्मक स्थिति में भी पोद्दारजी की लेखनी पूर्णतया संयत एवं संतुलित बनी रही। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रतिक्रिया में लिखे गये अन्य लेखकों के निबन्धों में भी प्रतिहिंसात्मक विद्वेष के भावों का समावेश न हो—यह ध्यान रखा। ऐसी परीक्षा की घड़ी में 'कल्याण' की सहिष्णु तथा समन्वयपरक नीति की रक्षा करना उन्हीं का काम था।

'कल्याण' आध्यात्मिक पत्र है, उसमें अन्य विषयों की आलोचना बहुत ही कम होती है और यदि कभी होती भी है तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही। पोद्दारजी का यह आशय था कि हिन्दुओं की राजनीति एवं समाजनीति धर्म से सम्बद्ध है और धर्म अध्यात्म का एक अभिन्न अंग है। अतः इन विषयों से सम्बद्ध समालोचना भी वे आध्यात्मिक भावना से ही करते थे। उस स्थिति में भी उनकी दृष्टि प्रधान रूप से केवल 'सर्वजनहित' और सत्य की ओर ही रहती थी। न तो किसी को नाराज करने की नीति बरती जाती थी और न किसी से डरकर या खुशामद करने के लिए सत्य को छिपाया ही जाता था।[१]

धार्मिक समस्याएँ

धर्म भावना तथा आध्यात्मिकता का प्रचार-प्रसार 'कल्याण' का मुख्य लक्ष्य रहा है। पोद्दारजी उसके रक्षार्थ सतत प्रयत्नशील रहे। जब भी इनके अस्तित्व का खतरा दिखाई पड़ा, उन्होंने उसका खुलकर विरोध किया।

ईश्वर-विरोधी सम्मेलन की भर्त्सना

आस्तिकता एवं सात्त्विकता पोद्दारजी के कण-कण में समायी हुई थी। इस कारण रूस में हुई ईश्वर-विरोधी कार्यवाहियों की उन्होंने खुलकर आलोचना की। उनकी दृष्टि में रूसवासियों का ईश्वर-विरोध पश्चिमी सभ्यता की देन था। पोद्दारजी ने इसे एक भयंकर पाप की संज्ञा दी। जिस साम्यवाद के नाम पर रूस ईश्वर-विरोधी प्रचार कर रहा था उसकी नींव हिंसा, द्वेष और घृणा पर है अतः उसकी परिणति भीषण दुःख और अशांति में होनी अनिवार्य है। उनका सुविचारित मत था, "संभव है, जीवों के दुर्भाग्यवश वर्तमान संसार की पतित सभ्यता और मरणोन्मुखी शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव से इस प्रकार के आन्दोलन का जगत में और भी विस्तार हो, परन्तु यह निश्चित बात है कि इससे बढ़कर बुरा आन्दोलन और महापातक दूसरा नहीं हो

---

१. कल्याण २१।३। ८५३।

सकता। धर्म का बाह्यरूप कुछ भी क्यों न रहे, उसमें यथावश्यक कितने ही सुधारों की गुञ्जाइश क्यों न समझी जाय, परन्तु ईश्वर की सत्ता का विरोध कर धर्म के मूल तत्त्व पर कुठाराघात करना पिशाचावेशित प्रमत्त पुरुषों की पातकमयी क्रिया के सिवा और कुछ भी नहीं है।''

''जिस साम्य और विश्व-सुख के परिणाम पर पहुँचने के लिए ईश्वर का विरोध किया जा रहा है, वह साम्य और विश्व-सुख माया-मरीचिका की भाँति एक भ्रमपूर्ण अध्यासमात्र होगा और परिणाम में भीषण अशांति, दुःख और उपद्रव के दारुणार्णव में डूब जाना पड़ेगा।''[1] पोद्दारजी का कहना था कि ईश्वर की सत्ता न मानने वाला समाज कभी भी सदाचारी नहीं हो सकता। 'कामोपभोग' ही उसके जीवन का उद्देश्य होता है।

पश्चिमी देशों की भोगपरक सभ्यता से धर्मप्राण भारतीयों को प्रभावित होते देखकर उनका खिन्न होना स्वाभाविक था। 'कल्याण' में इसकी अभिव्यक्ति निरन्तर होती रही—''अनेक कारणों से छिन्न-भिन्न और कलुषित हुए भारत के आकाश में भी इस दूषित वायु का प्रवेश हो गया है। एक दिन जिसमें आबाल-वृद्ध-वनिता परमात्मा की सत्ता के अटल विश्वासी थे, ईश्वर की सत्ता का प्रत्यक्ष दर्शन जिस देश में सबसे पहले हुआ था, उसी पवित्र देश में आज जगह-जगह ईश्वर की दिल्लगियाँ उड़ायी जा रही हैं।''[2]

इस सर्वग्रासिनी प्रवृत्ति से देशवासियों की रक्षा का एकमात्र साधन उन्होंने आस्तिकता का प्रचार और जनसामान्य में ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास की भावना का प्रसार माना। वे लिखते हैं—''ईश्वर है, अवश्य है, कण-कण में व्याप्त है. चराचर में भरा हुआ है, वही सृष्टि को उत्पन्न करता है, उसी में सबका निवास है और उसी में सृष्टि लय हो जाती है। वह करुणामय है, न्यायकारी है, दयालु है, प्रेम का समुद्र है, सर्वशक्तिमान् है, विश्वात्मा है। उसकी सत्ता में विश्वास कीजिये, उसकी शक्ति का भरोसा रखिये और उसी की अहैतुकी दयालुता का आश्रय ग्रहण कीजिये।''[3]

हिन्दू-कोड बिल का विरोध

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ही गठित कांग्रेस की अंतरिम-सरकार ने सुधारवादी तथा प्रगतिशील नीति अपनाने की घोषणा करते हुए हिन्दुओं के धार्मिक एवं सांस्कृतिक-विधानों में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था।

हिन्दू-कोड-बिल उस व्यापक योजना का प्रथम प्रसाद था। उसके प्रचारित

---

१. कल्याण ३।१२।१०४८।
२.३. वही ३।१२।१०५१।

स्वरूप का निरीक्षण करने के पश्चात् पोद्दारजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उससे स्वेच्छाचार एवं अनाचार को प्रोत्साहन मिलेगा, हिन्दुओं के सामाजिक जीवन की पवित्रता नष्ट हो जायगी और उनका जीवन दुःखपूर्ण, कलहमय तथा कटु हो जायगा। अतः 'कल्याण' के माध्यम से उन्होंने स्वयं तो विरोध किया ही, जन-साधारण को भी इसे स्वीकार न करने की प्रेरणा दी और सरकार को विरोध-पत्र भेजने का सुझाव देते हुए अपने नागरिक अधिकारों के रक्षार्थ अहिंसापूर्ण धर्मयुद्ध का आह्वान् किया।[1]

सन् १९५१ में इसे विधिवत् संसद द्वारा स्वीकृत कराने की प्रक्रिया का सूत्रपात् हुआ। इस समय भी पोद्दारजी ने राजनीतिज्ञों को हठवादिता त्यागकर विवेक से काम लेने की सलाह दी—

'देश पर तरह-तरह के संकट छा रहे हैं, कहीं अवर्षा है, कहीं बाढ़ है। अन्न के लिए हाहाकार मचा है। उधर पाकिस्तान में जेहाद की घोषणा हो रही है और मियाँ लियाकत मुक्का ताने खड़े हैं। इस स्थिति में इस प्रकार की व्यवस्था और ऐसी नीति होनी चाहिए थी, जिससे देशभर में एकता और प्रेम हो, सब एक स्वर से सरकार का साथ दें और सरकार का हाथ मजबूत हो। समस्त देशवासियों की ऐसी इच्छा भी है और किसी भी परिस्थिति में इस विषय में सभी एकमत ही रहेंगे, ऐसी आशा है। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हमारी सरकार इसी समय संसद में हिंदू-कोड बिल ला रही है और राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी के द्वारा यह घोषणा करायी गयी है कि सरकार इसे इसी अधिवेशन में पास भी करा देना चाहती है। जिस हिंदू-कोड बिल का देश के सर्वमान्य बड़े-बड़े विद्वानों ने विरोध किया और हजारों लाखों तार-पत्र भेजे गये, जो हिंदू-कोड बिल सब प्रकार से पवित्र हिन्दू-जाति और संस्कृति पर और करोड़ों धर्म माननेवालों के हृदय पर आघात करने वाला है, इस महान संकट के समय धर्म पर प्रहार करनेवाले उसी बिल को एक धर्मनिरपेक्ष सरकार पास करने की घोषणा कर रही है।''[2]

धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रवर्तक तथा पोषक सिद्धान्त-विहीन राजनीतिज्ञों की कथनी और करनी में आकाश-पाताल का अन्तर देखकर पोद्दारजी को बड़ी निराशा हुई। अतः उन्होंने जनता को अगले चुनाव में ऐसे लोगों को वोट देने की सलाह दी जो न्यायप्रिय और धर्मपरायण हों; चाहे वे किसी संस्था के हों और जो भारतवर्ष में गोवध का पाप दूर करने तथा किसी के भी धर्म पर आघात करने वाले कानून न बनने का वचन दें।[3]

---

१. कल्याण २१।३ टाइटिल पृ० ३।
२. कल्याण २५।९ टाइटिल पृ० ४, सितम्बर १९५१।
३. कल्याण २५।९ टाइटिल पृ० ४, सितम्बर १९५१।

इसी प्रकार जब सरकार ने गोहत्या-विरोधी आन्दोलन में स्वामी श्री करपात्रीजी को गिरफ्तार करके एक मास के लिए कैद में डाल दिया, तो पोद्दारजी ने शासन के इस निर्णय को हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर कुठाराघात बताते हुए 'हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर प्रहार' शीर्षक[1] अपने लेख में जन-जन से उसका विरोध करने की अपील की।

इन्हीं दिनों कलकत्ते से निकलने वाले पत्र 'हिन्दू-पंच' के 'कृष्णांक' में 'कंस की जय हो' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। उसमें भगवान कृष्ण के लिए अमर्यादित शब्दों का प्रयोग किया गया था। पोद्दारजी ने इस दुर्भावना-प्रेरित लेख की कड़े शब्दों में भर्त्सना करते हुए पत्र के सम्पादक श्रीरामलाल वर्मा को प्रायश्चित्त करने की सलाह दी। "जिन भगवान श्रीकृष्ण के पावन चरण कमलों में हिन्दू-जाति का प्रत्येक बालक '**कृष्णस्तु भगवान स्वयं**' कहकर श्रद्धा-भक्ति के साथ प्रतिदिन प्रेम पुष्पांजलि अर्पित करता है, उन्हीं साक्षात् सच्चिदानन्द भगवान के लिए एक हिन्दूनामधारी की लेखनी से ऐसे नीच शब्दों का प्रयोग होना बड़ी ही मर्मघातिनी घटना है। हिन्दू-जाति का दुर्भाग्य है कि उसमें इस तरह के लेखक उत्पन्न होने लगे।"[2]

इसी प्रकार उन्होंने लोकसभा में प्रस्तुत किये गये उस विधेयक का भी तीव्र शब्दों में विरोध किया, जिसके कानून बन जाने से प्रत्येक साधु या संन्यासी को लाइसेन्स लेना अनिवार्य होता। यह बात नहीं कि पोद्दारजी तथाकथित साधुओं के धर्म तथा समाज-विरोधी आचरण से अपरिचित थे, किन्तु वंचक साधुओं और संन्यासियों के कुकृत्यों के लिए सच्चे सन्तों को दंडित करना, उनके प्रति अश्रद्धा तथा अविश्वास प्रकट करना धर्म ही नहीं, न्याय की दृष्टि से भी वे अनुचित मानते थे।

इस विधेयक पर अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा, "यह सत्य है कि आज बहुत से दुराचारी ठग साधु-संन्यासी का बाना पहन कर समाज के निरीह नर-नारियों को ठग रहे हैं और धर्म तथा परमार्थ के नाम पर समाज में दुराचार फैला रहे हैं। 'साधु' नाम को कलंकित करने वाले ऐसे धूर्तों का नियंत्रण आवश्यक भी है, परन्तु इस विधेयक के कानून बन जाने पर उनका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, वे तो तिकड़म भिड़ाकर अपने नाम की रजिस्ट्री करवा कर साधुओं की सूची में आ ही जायँगे। बचेंगे सच्चे साधु-संन्यासी, जिनका न तो किसी ऐसे कानून के बन्धन में रहना शास्त्र की दृष्टि से संगत है और न वे रहना ही चाहेंगे····ऐसे महात्माओं को घसीटकर कानून के नियन्त्रण में लाना तथा व्यापारियों की भाँति रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस लेने के लिए कहना सनातन धर्म की एक महान् संस्था का घोर अपमान करना है।[3]

१. कल्याण २१।५।६६, मई १९४७
२. वही ८।३।१९०, 'हिंदूपंच की असावधानी'
३. कल्याण ३०।१०।१२८० 'हिंदू-साधु-संन्यासियों का नियंत्रण'

वास्तव में यह विधेयक हिन्दू-धर्म के एक प्रधानतम अंग पर आक्रमण करने वाला है और इसलिए इसका घोर विरोध होना चाहिए।''[1]

गौ, गंगा और गायत्री पर पोद्दारजी की अपार श्रद्धा थी। वे इन्हें हिन्दू धर्म के आधार-स्तम्भ मानते थे। गौ के साथ हिन्दूमात्र का आत्मा और प्राण का सम्बन्ध है, ऐसी उनकी धारणा थी। ऋषि-मुनियों और अवतारों की पुण्य-भूमि भारत में गो-हत्या की खुली छूट रहे—यह उन्हें असह्य था। इसलिए उसके वैधानिक निषेध के लिए वे आजीवन प्रयत्नशील रहे।[2] गोवध का पाप, अशोक होटल में गोमांस, आदि सम्पादकीय लेख इसी संदर्भ में लिखे गये थे।

'कल्याण' जैसे आध्यात्मिक पत्र में इस प्रकार के लौकिक विषयों से संबद्ध सम्पादकीय वक्तव्यों का प्रकाशन कुछ लोगों की दृष्टि में असंगत प्रतीत हो सकता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रत्यक्ष रूप से साधन-जीवन से सम्बद्ध न रहते हुए भी उसके मूलाधार अहिंसा, सत्य, त्याग, संयम, पवित्रता जैसे उदात्त जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए अपरिहार्य हैं। जागतिक प्रपंचों से विरत पोद्दारजी ने इन्हें अपनी लेखनी का विषय धर्म-संस्थापना के महान् उद्देश्य की प्रेरणा से ही बनाया था।

विशिष्ट स्तंभ

आध्यात्मिक विकास के लिए मानव स्वभाव में सदाचार, नैतिकता, करुणा, दया, सहिष्णुता प्रभृति तत्त्वों की प्रतिष्ठा आवश्यक है। इन मूल्यों की स्थापना के लिए 'कल्याण' में विविध प्रकार की सामग्री दी जाती थी। इसके साथ ही पाठकों के विभिन्न वर्गों की रुचि एवं आवश्यकता का भी ध्यान रखा जाता था। 'कल्याण' में निम्नांकित स्थायी स्तंभों की योजना इसी उद्देश्य से की गयी थी—(१) 'शिव' उपनाम से लिखे गये लेख, (२) पढ़ो, समझो और करो, (३) परमहंस विवेक माला, (४) विवेक वाटिका, (५) भक्त गाथा, (६) परमार्थ पत्रावली, (७) परमार्थ की पगडंडियाँ, (८) साधकों के प्रति, (९) सत्संग वाटिका के बिखरे सुमन तथा (१०)काम के पत्र।

'शिव' उपनाम से लिखे गये लेख

'शिव' उपनाम से प्रतिमास 'कल्याण' में प्रकाशित होने वाले लेखों के लेखक पोद्दारजी स्वयं थे। इनमें अभिव्यक्त विचार उनकी दीर्घकालीन साधना, तपस्या,

---

१. कल्याण ३०।११।१३४० 'हिंदू-साधु-संन्यासियों के लिए कानून'
२. वही २१।१०।१३०१

चिंतन, अध्ययन एवं अनुभूतियों पर आधृत थे। पाठकों में भगवद्विश्वास की प्रतिष्ठा करने, उन्हें सत्पथ पर अग्रसर करने, उनमें आशा तथा उत्साह का संचार करने और साधन-जीवन की सही दिशा निर्दिष्ट करने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

आरंभ में ये लेख 'मनन करने योग्य,'[1] शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुए, किन्तु आगे चलकर[2] ये 'कल्याण' स्तंभ में निकलने लगे। यह क्रम पोद्दारजी के संपादन काल में तो चलता ही रहा, उनके दिवंगत होने के बाद भी इसका निर्वाह उनके प्रवचनों से सामग्री उद्धृत कर किया जा रहा है।

'कल्याण' शीर्षक से प्रकाशित ये लेख कालान्तर में **'कल्याण कुंज'** नाम से कई भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। उसके प्रथम भाग की भूमिका में व्यक्त 'शिव' के उद्गार बड़े ही मर्मस्पर्शी थे—"मन तरंगों का समुद्र है। 'शिव' के मन में भी अनेक तरंगें उठती हैं, उन्हीं में से कुछ तरंगें लिपिबद्ध भी हो जाती हैं और उन्हीं अक्षराकार में परिणत तरंगों का यह एक छोटा-सा संग्रह प्रकाशित हो रहा है। इस संग्रह में पुनरुक्ति और क्रमभंग दोष दिखाई देंगे, तरंगें ही जो ठहरीं। यह सत्य है कि तरंगों के पीछे भी एक नियम काम करता है और वहाँ भी एक नियमित क्रमधारा ही चलती है, परन्तु उसे हम अपनी इन आँखों से देख नहीं पाते। हमें तो हवा के झोकों के साथ-साथ तरंगों के भी अनेकों क्रमहीन और अनियमित रूप दीख पड़ते हैं। संभव है, सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाले पुरुषों को इस तरंग-संग्रह में भी किसी नियम का रूप दिखलाई दे।

'शिव' को इससे कोई मतलब नहीं। 'शिव' ने तो प्रकाशकों के कहने से इतना ही किया है कि इधर-उधर बिखरे वाक्यों को एकत्र कर उन पर कुछ शीर्षक बैठा दिये हैं। पाठकों का उससे कोई लाभ या मनोरंजन होगा या नहीं, इस बात को 'शिव' नहीं जानता।"

इस स्तंभ में व्यक्त विचार तथा भाव-तरंगों की कुछ झलकियाँ नीचे दी जाती हैं—

"तुम्हारे द्वारा किसी प्राणी का कभी कुछ भी अनिष्ट हो जाय या उसे दुःख पहुँच जाय तो इसके लिए बहुत ही पश्चाताप करो। यह ख्याल मत करो कि 'उसके भाग्य में दुःख ही बदा था, मैं तो निमित्तमात्र हूँ, मैं निमित्त न बनता तो उसको कर्म का फल ही कैसे मिलता, उसके भाग्य से ही ऐसा हुआ है, मेरा इसमें क्या दोष है ?' उसके भाग्य में जो कुछ भी हो, इससे तुम्हें मतलब नहीं—तुम्हारे लिए ईश्वर और शास्त्र की यही आज्ञा है कि तुम किसी का अनिष्ट न करो। यदि तुम किसी का बुरा करते हो तो अवश्य ही अपराध करते हो और इसका दण्ड तुम्हें अवश्य भोगना पड़ेगा।

---

१. कल्याण ६।३।६७८   २. वही ६।११

उसे कर्म-फल भुगताने के लिए फलदाता ईश्वर आप ही कोई दूसरा निमित्त बनाते, तुमने निमित्त बनकर पाप का बोझ क्यों उठाया ?''

* * * *

''दूसरे के द्वारा तुम्हारा कभी कोई अनिष्ट हो जाय तो उसके लिए दुःख न करो। उसे अपने पहले किये हुए बुरे कर्म का फल समझो। यह कभी मन में मत आने दो कि अमुक ने मेरा अनिष्ट कर दिया है। यह निश्चय समझो कि ईश्वर के दरबार में अन्याय नहीं होता। तुम्हारा जो अनिष्ट हुआ है या तुम पर जो विपत्ति आयी है, यह अवश्य ही तुम्हारे पूर्वकृत कर्म का फल है। वास्तव में बिना कारण तुम्हें कोई कदापि कष्ट नहीं पहुँचा सकता।''

* * * *

''विषयों से मन हटाकर भगवान में लगाते रहो, विषयों को विष समझो और भगवान् को दिव्य अमृत। भगवान् के लिए भगवत् पूजा के भाव से विषयों का ग्रहण करना दूषित नहीं है, परन्तु कभी भी भोग-बुद्धि से विषयों को न चाहो, न भोगो, न उसमें प्रीति करो। श्री भगवान् को प्राप्त करने की जितनी साधनाएँ हैं, सबमें वैराग्य और भजन प्रधान हैं। जिसके हृदय में वैराग्य है, वह बड़े-से-बड़ा त्याग सहज ही कर सकता है। त्याग से सारे सद्गुण आप-ही-आप आ जाते हैं। परन्तु वैराग्य के साथ भजन की आवश्यकता है। संसार के भोगों से हटाये हुए मन को साथ-ही-साथ भगवान् में लगाने का भी प्रयत्न करना चाहिए।''

* * * *

''नाम और रूप दोनों ही कल्पित हैं—आरोपित हैं। जीव इन्हीं को अपना स्वरूप, इनकी लाभ-हानि में अपनी लाभ-हानि समझता है और दिन-रात इन्हीं की सेवा में लगा रहता है। शरीर को आराम मिले, नाम का नाम (कीर्ति) हो, बस इसी के पीछे छोटे-बड़े सब पागल हैं। यह मोह, है, अज्ञान है, उन्माद है, माया है। इससे अपने को छुड़ाओ। अपने स्वरूप को सँभालो। याद रक्खो, जब-तक इस नाम-रूप को अपना स्वरूप समझे हुए हो, तभी तक जगत् के सुख-दुःख तुम्हें सताते हैं। जिस दिन, जिस क्षण, नाम-रूप को मिथ्या प्रकृति की चीज मान लोगे और अपने को उनसे परे समझ लोगे, उसी क्षण प्रकृतिजन्य सुख-दुःख से छूट जाओगे। सारा कार्य प्रकृति में हो रहा है, आत्मा निर्लेप है, आत्मा तुम्हारा स्वरूप है।''

* * * *

''दूसरे के साथ ऐसा कोई बुरा वर्ताव कभी न करो, जैसा अपने साथ दूसरों से तुम नहीं चाहते। यदि तुम दूसरों से सम्मान, सत्कार, उपकार, दया, सेवा, सहायता,

मैत्री और प्रेम आदि की आशा रखते हो तो पहले दूसरों के प्रति तुम यही सब बर्ताव करो।''

* * * *

''बुरे संग से सदा दूर रहो। बुरा संग बुरे मनुष्य का ही नहीं होता, बुरी जगह, बुरा अन्न, बुरा ग्रंथ, बुरा दृश्य, बुरी बात, बुरा वातावरण आदि सभी बुरे संग हैं। लगातार के बुरे संग से बुरे परमाणुओं के द्वारा अन्दर के अच्छे परमाणु जब दब जाते हैं, तब बुरी बातें स्वाभाविक ही अच्छी मालूम होने लगती हैं। जैसा मन होता है, वैसी ही दृष्टि होती है और जैसी दृष्टि होती है वैसा ही दृश्य दीखता है। सच्चे साधु को प्रायः सभी साधु दिखाई पड़ते हैं, चोर को चोर दीखते हैं, कामी को सब कामी और लोभी को लोभी दीखते हैं।''

* * * *

''बुरे वातावरण में रहते-रहते चित्त बुरा हो जाता है, फिर उसमें बुरे संकल्प उठते हैं। जिसके चित्त में बुरे संकल्प उठते हैं, उसके समान दुःखी तथा अपराधी और कौन होगा ? क्योंकि, वह अपने चित्त के बुरे संकल्पों को जगत में फैलाकर दूसरों को भी बुरा बनाता है।''

* * * *

''चित्त में सदा सत्-संकल्प रहने चाहिए। सत्-संकल्प के लिए सत्-संग, सत्-आलोचन, सद्ग्रन्थ-पाठ, सद्गुरु-सेवन आदि की आवश्यकता है। जिसका चित्त सत्-संकल्प से भरा है, वही सुखी और परोपकारी है, क्योंकि वह अपने संकल्पों को जगत् में फैलाकर दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाता है।''

* * * *

''मानव-जीवन की सफलता भगवत्-प्राप्ति में है, विषय-भोगों की प्राप्ति में नहीं। जो मनुष्य जीवन के असली लक्ष्य भगवान को भूलकर विषय-भोगों की प्राप्ति और उनके भोग में ही रचा-पचा रहता है, वह अपने दुर्लभ अमूल्य जीवन को केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहा है, वरन् अमृत देकर बदले में भयानक विष ले रहा है।''

* * * *

''भगवान ही तुम्हारा अपना स्थान है, तुम्हारा परम आश्रयस्थल है। उस नित्य स्थान में रहते हुए ही सारे कर्मों का आचरण करो। फिर चाहे तुम किसी देश, किसी ग्राम, किसी घर में रहो, कोई आपत्ति की बात नहीं।''

* * * *

''प्राकृत जगत के जितने भी भोग हैं, वे वास्तव में आपात् मधुर या पयोमुख विषकुम्भ (जहर से भरे दुधमुँहे घड़े) के सदृश्य हैं अथवा भीतर के निरन्तर बढ़ते हुए भयानक घाव को छिपाने वाले बाहरी चमकदार पर्दे के समान हैं। अतएव

इनका मोह छोड़ो और नित्य-सत्य भगवान् को प्राप्त करने का प्रयास करो। भगवान् परमशान्ति और अनन्त, असीम-आत्यन्तिक सुख के परिमाण-रहित समुद्र हैं। उनको प्राप्त करने की इच्छा के साथ ही शान्ति-सुख आने लगते हैं।''

पढ़ो, समझो और करो

'कल्याण' का उद्‌देश्य मानवहृदय में उच्चतर जीवनमूल्यों की स्थापना करना था। पोद्दारजी इस तथ्य से भलीभाँति अवगत थे कि मात्र सिद्धान्तकथन तथा नैतिकता के कोरे उपदेशों से लोगों के मन में निष्ठा उत्पन्न नहीं की जा सकती और न उन मूल्यों को जीवन में उतारने की प्रेरणा ही दी जा सकती है। आचरण-रहित लम्बे-चौड़े उपदेशों की अपेक्षा छोटे-छोटे प्रेरक प्रसंग एवं जीवन-संघर्ष से उद्‌भूत अनुभव के स्फुल्लिग कहीं अधिक प्रेरणा तथा प्रकाश दे सकते हैं—ऐसा उनका विश्वास था। इसी उद्‌देश्य से उन्होंने 'कल्याण' में 'पढ़ो, समझो और करो' नामक स्तंभ की शुरुआत की। ऐसा नाम इसलिए दिया गया कि घटनाओं को पढ़कर भलीभाँति समझने और समझ कर वैसा ही करने अर्थात् उसे जीवन में उतारने की प्रेरणा मिले। इस स्तम्भ के अन्तर्गत ऐसी सच्ची अनुभूत घटनाओं का उल्लेख रहता है, जो सात्त्विक तथा प्रेरणादायक होने के साथ ही पाठकों का पथ-प्रदर्शन करने वाली हों, जिन्हें पढ़कर जीवन को पवित्र बनाते की सदिच्छा जाग उठे, आचरण तथा चरित्र उज्ज्वल बन सकें।

'पढ़ो, समझो और करो' के अन्तर्गत चमत्कार-पूर्ण घटनाएँ भी प्रकाशित होती थीं, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम होती थी। प्रमुखता ऐसी घटनाओं को दी जाती थी, जिनसे चरित्र का निर्माण हो, जो लोकानुभवप्रसूत और सर्वजनसंवेद्य हों। ये घटनाएँ कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं से ली जाती थीं और कुछ 'कल्याण' के पाठकों से प्राप्त होती थीं।

यह स्तम्भ बत्तीसवें वर्ष के तीसरे अंक से आरम्भ हुआ। इसमें कुल चार सच्ची घटनाएँ दी गयीं—जिनमें तीन अहमदाबाद के 'सस्तुं-साहित्य-वर्द्धक-कार्यालय' की ओर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'अखण्ड-आनन्द' से ली गयी थीं। भविष्य के लिए 'कल्याण' के सम्मान्य लेखकों तथा पाठक-पाठिकाओं से छोटी-छोटी शिक्षाप्रद घटनाओं को लिख भेजने की अपील की गयी थी।

पोद्दारजी यह बराबर ध्यान रखते थे कि चमत्कारपूर्ण घटनाएँ अधिक न आने पायें। वे यह जानते थे कि ऐसी घटनाएँ कौतूहल भले पैदा करें, पाठकों के संस्कार-मार्जन में सहायक नहीं हो सकतीं। इसके विपरीत सहज मानवीय सद्‌गुणों पर प्रकाश डालने वाली घटनाओं का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है।

इसीलिए जब चमत्कारिक घटनाएँ अधिक संख्या में आने लगीं तो उन्हें लिखना पड़ा,—'' 'कल्याण' के सहृदय पाठक-पाठिकाओं से प्रार्थना की गयी थी तद-

नुसार कुछ घटनाएँ आयी हैं। पुनः निवेदन है कि चमत्कार वाली घटनाएँ कम लिखकर काम-क्रोध-लोभादि के दमन की तथा प्रेम, अहिंसा, सद्व्यवहार, सत्योपासना, दया, उदारता, निर्वैरता, सेवा आदि मानवता को उच्चस्तर पर उठाने वाले विषयों की सच्ची घटनाएँ लिखने की कृपा करें।''[१]

पोद्दारजी इस दिशा में भी सतर्क रहते थे कि घटनाएँ जो भी निकलें सच्ची हों, क्योंकि काल्पनिक घटनाएँ मर्मस्पर्श की क्षमता नहीं रखतीं। इसीलिए लेखकों से प्राप्त घटनाओं की वे यदा-कदा छानबीन भी करते थे। कहीं कोई घटना सत्य न हो और भूल से 'कल्याण' में छप जाय तो इसके लिए वे पहले से ही क्षमा-याचना कर लेते थे। उनकी विज्ञप्ति थी, ''इस स्तम्भ में जो घटनाएँ प्रकाशित की जाती हैं, वे सब अपनी जान में सच्ची समझकर ही छापी जाती हैं। कुछ की तो पहले जाँच भी की जाती है। इतने पर भी सम्भव है, किसी में पूर्ण सत्य न हो, पर इसे जानने का हमारे पास साधन भी नहीं है। अतः कहीं ऐसी घटना छप जाय तो पाठकगण क्षमा करें।''[२]

इस स्तम्भ[3] के अन्तर्गत जो घटनाएँ प्रकाशित होती रही हैं, उनका वर्गीकरण कर पाना कठिन है और उन सब को उद्धृत करना इससे भी अधिक दुःसाध्य। फिर भी घटनाओं का स्वरूप तथा प्रकृति स्पष्ट करने के उद्देश्य से कुछ प्रसंगों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

'कई वर्षों पूर्व की कलकत्ते की घटना है। शेयर बाजार के एक प्रमुख व्यापारी फर्म के तीस हजार शेयर चोरी हो गये। पता लगने पर पुलिस में रिपोर्ट दे दी गयी और कम्पनी को लिख दिया गया—'हमारे अमुक संख्या के शेयर खो गये हैं। अतः नाम-परिवर्तन के लिए कम्पनी में आयें तो नाम परिवर्तन न करके हमें सूचना दें'।

कुछ दिनों बाद नाम-परिवर्तन के लिए वे शेयर कम्पनी में आये। कम्पनी ने सूचना दी। पता लगाया कि किस-किस के हाथों से होते हुए शेयर कम्पनी में आये हैं और सबसे पहले कहाँ से चले हैं। खोज करने पर पता लगा कि सबसे पहले उस व्यापारी फर्म के रोकड़िये के द्वारा ही शेयर लुप्त किये गये हैं। फर्म के स्वामी को सूचना दी गयी। उन्होंने पुलिस को खबर देने या रोकड़िये को बुलाकर डाँटने के बदले तुरन्त कम्पनी को लिखवा दिया कि 'हमारे शेयरों का पता लग गया है; आप नाम परिवर्तन कर दें।' इसी क्रम में पुलिस को शेयर मिल जाने की खबर भी भेज दी गयी।

---

१. कल्याण ३२।५।९६४। २. वही ३८।३ ८१६।
३. ये घटनाएँ गीता प्रेस से पुस्तकाकार बारह भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

व्यापारी के प्रधान मैनेजर ने कहा, "बाबूजी ! उसे पकड़वाइयेगा नहीं ?" वे बोले, 'तीस हजार रुपयों के लिए एक गृहस्थ का जीवन बर्बाद कर दें ? उसके घर में दस आदमी हैं, वे क्या खायेंगे ? उसने किसी विपत्ति में पड़कर ही ऐसा काम कर लिया है।' पर व्यापारी जहाँ इतने दुःखकातर और दयाशील थे, वहीं बड़े व्यापारकुशल भी थे। उन्हें उस रोकड़िये की दीन दशा पर दया आ गयी, साथ ही उसे रोकड़ के काम पर रखना उचित भी नहीं समझा, इसलिए कि कहीं फिर ऐसा न कर ले। उन्होंने एक-दो दिन बाद रोकड़िये को बुला कर कहा, "तुम्हारा कितना वेतन है, भैया ?,"—'सौ रुपये।' उसने कहा। "सौ रुपये से कैसे काम चलता होगा ?" व्यापारी ने कहा। 'तकलीफ ही रहती है, बाबूजी !' रोकड़िये ने रोते हुए कहा। व्यापारी बोले "अच्छा ! देखो, रोकड़ के काम में तो वेतन बढ़ाया नहीं जा सकता। तुम अमुक दूसरे काम को सँभालो। आज से तुम्हारा वेतन डेढ़ सौ रुपये कर दिया गया।" व्यापारी ने शेयरों के बाबत उससे एक शब्द भी नहीं कहा।[1]

एक दूसरी घटना इस प्रकार है—

'बाबू जगनरामजी एक साधारण व्यापारी थे, पर अपनी ईमानदारी में पक्के थे। बहुत बड़ा कारोबार नहीं था, साधारण गल्ले और किराने की दूकान थी। आढ़त में भी माल आता था। एक बार किराने का बाजार बहुत चला, आढ़तियों का माल भी बहुत ज्यादा आने लगा। एक मित्र से कारोबार में लगाने को रुपये मिल गये, जिससे आढ़त के काम में सहूलियत हो गयी।

एक आढ़तिये के यहाँ से बहुत-सा जीरा बिकने को आया। उस समय जीरे का बाजार मन्दा था, बिक नहीं सका। आढ़तिये ने जल्दी बेचने को लिखा। जगनरामजी ने चेष्टा की, पर नहीं बिक सका। आढ़तिये की आतुरता देखकर इन्होंने लिख दिया कि 'तुम्हारा जीरा अमुक भाव में बिक गया।' इस भाव में उसे घाटा था। उन्होंने सोचा कि 'आढ़तिये को रुपये की आवश्यकता है—इसी से वह मंदे भाव से बेचना चाहता है। उसको रुपये भेज देंगे। बाजार बहुत ही मंदा है, इससे मंदा और क्या होगा ? आगे चलकर बाजार तेज हुआ तो ठीक है, नहीं तो अपने को थोड़ा-बहुत घाटा लग जायगा।'

कुछ ही समय बाद नयी फसल के माल आने का समय आया। पर इस बार जीरे की फसल बहुत खराब रही। बाजार तेज हो गया। भाव एकाएक बहुत अधिक बढ़ गये। जगनरामजी ने माल बेच दिया। आढ़तिये को जिस भाव में बेचा लिखा था, उससे पाँच हजार का अंतर पड़ गया। जगनरामजी ने सोचा—आढ़तिये का माल था; बिक गया होता तब तो दूसरी बात थी, पर माल तो अपने गोदाम में

---

१. कल्याण ३२।३।८३२।

ही था। वह बेचारा घाटे में क्यों रहे ? उन्होंने आढ़तिये को लिख दिया कि 'जीरा आपका बिका नहीं था। आप को रुपये की जल्दी थी, इसीलिए आप घाटा खाकर बाजार भाव से वेचने को लिख रहे थ। मैंने आपको उस दिन के बाजार भाव से बेचा लिख दिया था। पर वास्तव में उस समय कोई खरीदार था ही नहीं। आपका माल पड़ा रह गया, अब बिका है और उसमें आपको खर्च-ब्याज निकाल कर लगभग चार हजार रुपये का नफा हुआ है। हिसाब और रुपये साथ भेज रहा हूँ।'

आढ़तिये के पास पहले और भी माल था। उसे भी उसने मजबूरी से घाटा खाकर बेचा था। उस घाटे की रकम लोगों को देनी थी। वह बहुत चिन्तित था। अचानक बिना किसी संभावना के चार हजार रुपये आ गये। वह प्रसन्नता के मारे उछल पड़ा। उसका रोम-रोम जगनराम को आशीष देने लगा।[1]

इस प्रकार की अनगिनत प्रेरणादायक सच्ची घटनाएँ 'कल्याण' के माध्यम से सरल, सुबोध तथा प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत कर पोद्दारजी ने कितने लोगों के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन संघटित किये, कितने दिग्भ्रान्तों को सत्पथपर चलने की प्रेरणा प्रदान की और कितने कुण्ठा तथा संशयग्रस्त जीवों को आस्तिक और दृढ़ निष्ठा-संपन्न बनाकर प्रकाश पथ पर अग्रसर किया, इसका विवरण देना संभव नहीं।

विवेक-वाटिका

इस स्तम्भ के अन्तर्गत सन्तों-महात्माओं तथा धर्मग्रन्थों की सूक्तियाँ प्रकाशित की जाती थीं। यह ध्यान रखा जाता था कि विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के महापुरुषों की सूक्तियाँ आ जाएँ। उन्हें समायोजित करने का ध्येय यही रहता था कि सदाचार के आधारभूत तत्त्वों के प्रति जनसाधारण में निष्ठा उत्पन्न हो और नैतिक जीवन व्यतीत करने की सदिच्छा जाग्रत हो। अतः ये आप्तवाक्य आध्यात्मिक दृष्टि से ही महत्त्व पूर्ण नहीं हैं, व्यावहारिक जीवन के लिए भी उपयोगी हैं। कुछ सूक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

"यह कभी मत सोचो कि परमात्मा से रहित तुम अकेले हो। वह तुम्हारे साथ सर्वदा विचरण करता है, तथा तुम्हारी भली-बुरी सभी क्रियाओं का द्रष्टा है।"

(राजर्षि मनु)

"जो-कुछ मिले, उसमें संतोष करना, और दूसरों से ईर्ष्या न करना, यही शान्ति के कोष की कुँजी है।"

—धम्मपद।

"जिसका जीवन-आधार मैं (परमात्मा) नहीं हूँ, वह मृत्यु को प्राप्त होता है; किन्तु जिसका जीवन आधार मैं हूँ, वह अमर है।"

—ईसा

१. कल्याण ३२।७।१०६०।

"जो मूर्ख अपनी मूर्खता को जानता है, वह धीरे-धीरे सीख सकता है, परंतु जो अपने को बुद्धिमान समझता है, उसका रोग असाध्य है ।"

—सुकरात

"रात को आकाश में कितने तारे दिखलाई देते हैं, किन्तु सूर्योदय होने पर एक का भी पता नहीं मिलता । इससे क्या यह कहोगे कि दिन के समय आकाश में तारे नहीं हैं ? उसी तरह अपनी अज्ञान अवस्था में ईश्वर को नहीं देखकर क्या कहोगे कि ईश्वर नहीं है ?"

—रामकृष्ण परमहंस

"जो मनुष्य विपत्ति में भी ईश्वर-कृपा का अनुभव करता है, वह कभी मृत्यु के अधीन नहीं होता ।"

—अब्बू हाफिज खुरासानी

"जो मनुष्य सज्जनता के व्यवहार में कुशल है, उसके लिए कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है ।"

—कांशी चौ

"सच्चा मित्र वह है, जो दर्पण के समान तुम्हारे दोषों को यथार्थ रूप से तुम्हें दिखा देता है । जो तुम्हारे अवगुणों को गुण बतलाता है, वह तो खुशामदी है, मित्र नहीं ।"

—गजाली

"स्वार्थ ही सारे अपराधों और पापों की जड़ है, और स्वार्थ की जड़ अज्ञान है ।"

—राल्फ वाल्डो ट्राइन

"जो भूमा है, वह सुख है, अल्प में सुख नहीं है । भूमा ही सुख है, भूमा को ही जानना चाहिए ।"

—उपनिषद्

परमार्थ पत्रावली

'कल्याण' के व्यापक प्रचार के साथ-साथ उसके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि पोद्दारजी एवं श्रीजयदयालजी गोयन्दका के पास जिज्ञासुओं के अगणित पत्र आने लगे । उनकी संख्या तथा विषय-वैविध्य को देखते हुए व्यक्तिगत रूप से हर एक का उत्तर देना सम्भव नहीं था । अतः कल्याण के मासिक अंकों में 'काम के पत्र' एवं 'परमार्थ पत्रावली' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत उनका समाधान प्रकाशित किया जाने लगा । सेठ जयदयालजी गोयन्दका इस माध्यम से साधनापथ में आनेवाली व्यावहारिक कठिनाइयों तथा आध्यात्मिक जटिलताओं से सम्बद्ध पाठकों की शंकाओं का समाधान अत्यन्त गम्भीर तथा सहानुभूतिपूर्ण शैली में करते थे । एक पत्र उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है—

"तुमने लिखा—मेरा चित्त बहुत व्याकुल रहता है, दशा बहुत खराब है। ऐसी दशा कभी नहीं हुई। आगे क्या दशा होगी, कुछ समझ में नहीं आता, सो भैया! जो हुआ सो तो हो चुका। अब तो चेतना चाहिए। अब तो तुम इस बात को भली-भाँति जान ही गये कि सत्संग के बिना भजन-ध्यान होना कठिन है, और भजन ध्यान हुए बिना दशा बिगड़ जाती है। अतएव अब तुम्हें भजन-ध्यान-सत्संग के लिए ही चेष्टा करनी चाहिए। सत्शास्त्रों का स्वाध्याय भी एक तरह से सत्संग ही है। अतएव जब तक सत्संग की व्यवस्था न हो, तबतक सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।"

इस प्रकार विभिन्न स्तम्भों के माध्यम से 'कल्याण' में विविध प्रकार की सामग्री दी जाती थी और इन सबकी योजना के पीछे पोद्दारजी का एक ही लक्ष्य रहता था—भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों की रक्षा और उनके प्रसार के द्वारा मानवता का कल्याणसाधन।

सम्पादन-व्यवस्था

'कल्याण' का प्रथम अंक बम्बई से प्रकाशित हुआ। प्रकाशन-स्थान था—सत्संग-भवन, शिवनारायण नेमाणी बाड़ी और मुद्रण-स्थल था—श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस। सम्पादक के रूप में 'हनुमानप्रसाद पोद्दार' का नाम दिया गया था। बम्बई में 'कल्याण' के सम्पादन का सारा कार्य पोद्दारजी स्वयं करते थे। सम्पादन के अतिरिक्त व्यवस्था भी ये ही देखते थे। छपवाना, उसे ग्राहकों तक पहुँचाने का प्रबन्ध करना आदि सभी कार्यों का उत्तरदायित्व स्वयं वहन करते थे। इस कार्य में उनके सहायक थे एकनिष्ठ-सेवक—श्रीगम्भीरचन्द दुजारी। प्रारम्भ में ग्राहक संख्या कम होने से पत्र की आर्थिक स्थिति तो शोचनीय थो ही, अन्य अनेक कठिनाइयाँ भी थीं। इसका पता श्रीगम्भीर-चन्द दुजारी को लिखे गये पोद्दारजी के निम्नलिखित पत्र से लगता है—

श्रीयुत् भाई गम्भीरचन्द जी,

यह आवश्यक है कि छपाने और ग्राहकों के यहाँ पहुँचाने वगैरह के झंझट से मुझे जितना शीघ्र मुक्त कर दिया जाय, उतना ही सम्पादन का कार्य सुचारु रूप से होना सम्भव है। यहाँ छपाने में मूल्य अधिक पड़ता है, छपने में अशुद्धियाँ रहती हैं। सब कार्य सम्भालने में लेखादि लिखने के लिए समय भी पूरा नहीं मिलता। अतएव अच्छा सम्पादन तो इसका कार्यालय गोरखपुर जाने के बाद ही हो सकता है। परन्तु इससे पूर्व भी यथासाध्य यही प्रयत्न हो सकता है कि प्रतिमास ठीक समय पर पत्र प्रकाशित हो जाय। जबतक दो हजार ग्राहक नहीं हो जाते, तबतक कम-से-कम बम्बई से पत्र निकालने में घाटा ही रहेगा। इस समय ग्राहक अनुमानतः ३०० ही हुए हैं। चेष्टा करके स्थान-स्थान से ग्राहक बढ़ाना चाहिए।

पत्र में सर्व साधारणोपयोगी विषयसामग्री रखे बिना प्रचार कम होगा, इसीलिए केवल दुरूह विषय न रखकर सभी विषय थोड़े-थोड़े रखे गये हैं।

आपका
हनुमानप्रसाद

इससे यह स्पष्ट होता है कि पोद्दारजी आरम्भ से ही 'कल्याण' के अंतः एवं बाह्य स्वरूप के परिष्कार के लिए सचेष्ट थे। बम्बई में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। एक ही व्यक्ति सम्पादक, प्रूफ रीडर, लिपिक सब कुछ था। इन दायित्वों के साथ अपेक्षित सहायकों के अभाव में पत्र निकालना एक दुष्कर व्यापार था, किन्तु एकान्त निष्ठा के सहारे इसका भार वे सहर्ष ढोते रहे। कार्तिक सं० १९८३ को लिखे गये एक पत्र से इस स्थिति का किंचित् आभास मिलता है—

प्रिय भाई गम्भीरचन्दजी,

'कल्याण' का कार्य दिनों-दिन बढ़ रहा है। सम्पादन के सिवा प्रबन्ध का काम भी प्रायः मुझे ही सम्भालना पड़ता है, जिसमें बहुत समय देना पड़ता है। एक वैतनिक कर्मचारी रहते हैं, परन्तु सारी जिम्मेदारी मेरे ही ऊपर है। इसलिए मुझे खास तौर पर समय लगाना पड़ता है।

आपका
हनुमानप्रसाद

'कल्याण' के दूसरे वर्ष के विशेषांक 'श्रीभगवन्नामांक' का भी प्रकाशन बम्बई से ही हुआ। इसके बाद पोद्दारजी के साथ ही उसका सम्पादकीय विभाग भी गोरखपुर आ गया और गीताप्रेस से 'कल्याण' के नियमित प्रकाशन की व्यवस्था हो गयी। बम्बई से गोरखपुर आते समय 'कल्याण' का काम करने के लिए श्रीशंकरलाल नाम के एक व्यक्ति पोद्दारजी के साथ आये थे। बाद में एक अन्य सहायक दाण्डेकरजी भी आ गये।

सम्पादकीय कार्यालय

गोरखपुर स्थानांतरित होने के बाद कुछ दिनों तक 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग का कार्यालय गीताप्रेस में ही रहा, बाद में हरिकृष्णदासजी के बगीचे में चला गया। यह बगीचा जटेपुर मुहल्ले के पास स्थित है। कार्य बढ़ जाने से पोद्दारजी के सहायतार्थ श्रीगौरीशंकर द्विवेदी की नियुक्ति हुई। सम्पादन का सारा काम पोद्दारजी ही करते थे। गौरीशंकरजी पर बंगला तथा गुजराती लेखों के अनुवाद करने और पत्रों के उत्तर देने का दायित्व था।

कुछ दिनों बाद पं० श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी का आगमन हुआ। गोस्वामीजी पोद्दारजी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बीकानेर से गोरखपुर आये थे। इनके आने से 'कल्याण' के सम्पादन तथा प्रूफ-संशोधन में सहयोग मिलने लगा—बाद

में 'कल्याण-कल्पतरु' का सम्पादन इनके जिम्मे कर दिया गया। कार्य बढ़ जाने से रमेश नाम के एक अन्य सज्जन की सम्पादन-सहयोगी के रूप में नियुक्ति कर दी गयी।

'कल्याण' के अप्रत्याशित विकास से स्थान की कमी का अनुभव कर सम्पादकीय विभाग का स्थानान्तरण गोरखनाथ के पास एक बगीचे में हो गया। 'शक्ति अंक' का सम्पादन यहीं आरम्भ हुआ। इस निमित्त से 'कल्याण' को अनेक धर्मनिष्ठ तथा त्यागी विद्वानों की सेवा अनायास उपलब्ध हो गयी। इनमें प्रमुख थे—श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी (सम्प्रति स्वामी अखण्डानन्द), श्रीभुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', श्री दुलीचंद दुजारी, श्री राजबली पाण्डेय, श्री चन्द्रदीप त्रिपाठी, श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे और श्री नन्ददुलारे बाजपेयी। इनके अतिरिक्त वर्तमान 'आरोग्य मंदिर' के संचालक श्री विट्ठलदास मोदी ने भी कुछ दिनों तक यहाँ कार्य किया था। श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे स्थायी रूप से नहीं रहते थे। बीच-बीच में आया करते थे। इनका स्थायी निवास वाराणसी था। इन्हें श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर द्वारा लिखित गुजराती भक्तों के जीवन चरित, अन्य लेखकों के गुजराती निबन्धों का अनुवाद तथा सम्पादन कार्य सौंपा गया था।

गर्देजी के व्यक्तित्व तथा कार्यपद्धति पर टिप्पणी करते हुए उनके सहकर्मी श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' लिखते हैं—"पूज्य श्रीगर्देजी महाराज हमलोगों में सबसे श्रेष्ठ, अनुभवी और चूड़ान्त विद्वान् थे। परन्तु, उनकी चुहल और जिन्दादिली ऐसी थी कि मुर्दे को भी हँसा दे। वे शरीर से वृद्ध, परन्तु हृदय से चिरतरुण थे। घोर कष्टों और कठिनाइयों से गुजरते हुए भी उन्होंने कभी जीवन में निराशा को स्वीकार नहीं किया। बड़े सुन्दर अक्षर उनके होते थे। बड़ा जमकर लिखते थे, और जहाँ कहीं शब्द काटना हुआ, तो उसको इस ढंग से काटते थे कि उसमें कोई चित्र निकल आये। उनका लिखना भी उपासना की तरह था। अपनी कलम और दावात को बड़े ढंग से, पवित्रता पूर्वक रखते थे, जैसे संध्या के पात्रों को रखा जाता है। फाउन्टेनपेन से लिखने की आदत उनकी नहीं थी, इसलिए अपनी कलम और दावात को बाकायदा रखते थे और किसी को छूने नहीं देते थे। गर्देजी 'श्रीकृष्ण-संदेश' और 'भारत-मित्र' के सम्पादन का अनुभव, प्रतिभा और क्षमता लेकर 'कल्याण' में आये थे। उन्हीं की प्रेरणा से 'कल्याण' के 'योगांक' और 'शक्ति अंक' प्रकाशित हुए।"[१]

माधवजी, 'कल्याण' के लिए प्रायः प्रतिमास एक लेख लिखते थे। इस लेख में किसी मध्यकालीन संत का जीवन-चरित होता अथवा उसकी साधना का विवेचन। वे अंग्रेजी-हिन्दी पत्रों का उत्तर भी लिखते थे, जिनका विषय होता—धर्म अथवा अध्यात्म-साधना-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान। पोद्दारजी का सिद्धांत था कि चाहे

१. डॉ० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' : जीवन के चार अध्याय, पृ० सं० १०४-५।

जिसका भी पत्र हो, और कैसी भी शंका हो, उसका पूरा-पूरा समाधान और निवारण समुचित ढंग से होना चाहिए तथा उसका उत्तर देने में किसी भी अवस्था में अविनय का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।

श्रीचन्द्रदीप त्रिपाठी सन् १९३४ के मई-जून मास में आये थे। उन्हें सर्वप्रथम पत्रों के उत्तर देने का कार्य सौंपा गया। आगे चलकर बंगला लेखों का अनुवाद भी इनसे कराया जाने लगा।

श्रीराजबली पाण्डेय स्वतंत्र लेख लिखते थे तथा सम्पादन में सहयोग देते थे। श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी भी अध्यात्म विषय पर स्वतंत्र लेख लिखते थे और पत्रों का उत्तर देते थे। श्रीनंददुलारे बाजपेयी सम्पादन में सहयोग देते थे तथा पत्रों के उत्तर भी लिखते थे।

कार्य-पद्धति

पोद्दारजी की देख-रेख में संचालित 'कल्याण' के संपादकीय त्रिभाग की कार्य-प्रणाली अनोखी थी। संपादकीय मण्डल परिवार की भाँति था। उसकी कार्य-पद्धति नितांत सहृदयता-प्लावित थी। कार्य संकेत-मात्र से होता था, आदेश या निर्देश से नहीं। काम करने का स्थान निश्चित था, समय नहीं। कर्मचारी अपनी सुविधा और रुचि के अनुसार काम करते थे। साधारणतया कार्य खा-पी लेने के बाद दस-साढ़े दस बजे से आरम्भ होता था। मेज-कुर्सी की व्यवस्था नहीं थी। चटाइयों पर बैठकर, अधिक से अधिक साधारण काठ की बनी छोटी-सी डेस्क की सहायता लेकर काम किया जाता था। सब लोग अपनी-अपनी चटाई बिछाकर कार्य करने बैठ जाते। गर्मी और बरसात के दिनों में कार्यकर्ताओं की आँखें झपने लगतीं, तब प्रायः सभी लोग थोड़ी देर के लिए अपनी-अपनी चटाई पर चित्त हो जाते। पोद्दारजी छत के ऊपर एक कमरे में काम किया करते थे। कभी-कभी जरूरत पड़ने पर ही नीचे आते थे। जब वे नीचे आते और संयोगवश लोगों को सोते देखते तो चुपचाप वापस चले जाते थे। कभी अत्यन्त आवश्यक होता तो चुपके-से अपना काम करके चले जाते। यदि कोई जग जाता और उठ बैठता तो बड़े ही प्रेम से उसे पूरा विश्राम लेने के लिए कहते और शीघ्र ही वहाँ से चले जाते।

'कल्याण' का यह संपादकीय विभाग गोरखनाथ मंदिर-से पश्चिम एक छोटे से उद्यान में था। मकान नाम-मात्र का था। चारों ओर दूर-दूर तक आम, अमरूद, नासपाती और नारंगी के बगीचे थे। एक विशालकाय आमवृक्ष के नीचे चटाई डाल-कर सभी लोग कार्य करते थे। सारा वातावरण बड़ा ही प्राकृतिक, उन्मुक्त, सहज और सौहार्द से ओतप्रोत था। कार्यालय में समय का बंधन न होते हुए भी सभी लोग औसतन सात-आठ घंटे कार्य करते थे। यहाँ का वातावरण सर्वथा निराला था, अन्य संपादकीय कार्यालयों जैसा बाहरी ठाटबाट न था और न दफ्तर जैसी किसी प्रकार

की औपचारिकता। उद्यान के प्राकृतिक वातावरण में बड़े ही आत्मीय भाव से काम होता था। आवश्यकता पड़ने पर परस्पर विचार-विमर्श कर लिया करते थे। यदि कभी किसी को कोई आदेश देना हुआ तो वह ऐसी भाषा में दिया जाता था, जिसमें आदेश की गंध न हो।

संपादकीय विभाग की दिनचर्या

छः बजे प्रातःकाल लोग स्नान-संध्या से निवृत्त होकर सामूहिक कीर्तन के लिए एकत्र हो जाते थे। झांझ, ढोलक, करताल, आदि के साथ करीब एक घण्टे तक धुँआधार कीर्तन होता था। कीर्तन के बाद पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी 'विनय पत्रिका', 'सूरसागर' अथवा 'मीरा पदावली' से कोई पद तन्मय होकर मधुर स्वर में सुनाते थे। उनके सुनाने का ढंग श्रोताओं को भावविभोर कर देता था। उसके पश्चात् पोद्दारजी का पीयूषवर्षी प्रवचन होता था।

''बगीचे में ही एक किनारे चौका था, जिसमें सभी लोग भोजन करते थे। यहाँ संपादकीय कार्यालय के सदस्यों की रुचि तथा आवश्यकता के अनुसार यथा-संभव सेवा होती थी। विभिन्न प्रदेशों के लोग थे—उनके खानपान की प्रणाली अलग-अलग थी, किसी को छाछ अधिक चाहिए तो किसी को लाल मिर्च। किसी को केवल भात, तो किसी को केवल रोटी। इस प्रकार सब लोग मिल-जुलकर एक सार्वदेशिक भोजनालय में साथ-साथ भोजन करते थे और रात को बगीचे में अपनी-अपनी चटाई बिछाकर सो जाते थे।''[1]

सम्पादक-मण्डल के सदस्यों की जीवनचर्या के कुछ अपने नियम थे। उनके अनुसार दोनों समय संध्या, गीता का स्वाध्याय और पाठ, रामचरितमानस का पाठ, हरिनाम स्मरण, सर्वत्र भगवद्भाव, अक्रोध और सत्यभाषण, अल्प भाषण, मौन रहना तथा कुछ शारीरिक व्यायाम करना आवश्यक था। इन नियमों में दो बड़े ही महत्त्व के थे—एक तो सर्वत्र भगवद्भाव और दूसरा प्रति आधे घंटे पर भगवान् का स्मरण तथा स्मरण आने पर उसे देरतक स्थिर रखने का प्रयास। सायंकालीन सामूहिक प्रार्थना के बाद पोद्दारजी की उपस्थिति में सब लोग उक्त नियमों के सम्बन्ध में परस्पर विचार-विमर्श करते और यह देखते कि कहाँ त्रुटि हुई है तथा उसे कैसे सुधारा जा सकता है। खान-पान में संयम था। तेल, मिर्च, खटाई का व्यवहार नहीं के बराबर था। नियमों का पालन लोग स्वेच्छा से करते थे और अपने तद्विषयक अनुभव डायरी में लिख लेते थे।

संपादन-सहयोग

सन् १९३६ के अखण्ड नाम-संकीर्तन के पहले सम्पादकीय विभाग शाहपुर

---

१. डॉ० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव': जीवन के चार अध्याय, पृष्ठ १०-१२

स्थित गीतावाटिका में आ गया। उस समय सम्पादकीय विभाग के निम्नलिखित सदस्य थे—

१. श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी, २. श्रीनन्ददुलारे बाजपेयी, ३. श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ४. पं० चिम्मनलाल गोस्वामी, ५. श्रीदुलीचंद दुजारी, ६. श्रीदेवधर शर्मा ७. पं० राजबली पाण्डेय, ८. श्री एन० रामचन्द्रन ब्रह्मचारी, ९. श्रीगोपालजी, १०. श्रीकृष्णदास दादा, ११. श्रीमुनिलाल गुप्त (सम्प्रति स्वामी सनातनदेव) १२. श्रीहजारी लाल माहेश्वरी, १३. श्रीचन्द्रशेखर पाण्डेय।

यह उल्लेखनीय है कि उक्त सभी लोग पोद्दारजी के व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर आये थे, जीविका के लिए नहीं। इनमें से कुछ तो निःशुल्क सेवा करते थे, कुछ को साधारण वेतन मिलता था, पर सभी निःस्वार्थ भाव से रहते थे। पोद्दारजी सब को अपने परिवार का एक अंग समझते थे और उनकी आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखते थे। वे इन आश्रितों की व्यक्तिगत एवं पारिवारिक समस्याओं में भी पूरी दिलचस्पी लेते थे और आवश्यकतानुसार उनकी सहायता के लिए हमेशा तैयार रहते थे।

काम का बँटवारा सदस्यों की योग्यता तथा रुचि के आधार पर था। गोपालजी विस्तृत लेखों का संक्षेपण, भाषा-सुधार आदि का कार्य करते थे। श्रीनन्ददुलारे बाजपेयी सम्पादन कार्य में सहयोग देते थे और साथ ही 'कल्याण'-सम्पादक के नाम आये पत्रों का उत्तर भी लिखते थे। श्रीदेवधर पत्रों का उत्तर देते थे तथा विस्तृत लेखों का संक्षेप करते थे—इस प्रक्रिया में लेख के मूलभाव की रक्षा के साथ ही भाषा के परिष्कार पर भी ध्यान रखा जाता था। श्रीदुलीचंद दुजारी का कार्य मुख्य रूप से व्यवस्था देखना था। वे 'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरु' के लेखों का टंकण कार्य भी करते थे।

श्री एन० रामचन्द्रन सन् १९३९ में आये। इसके पूर्व वे स्वामी शिवानन्द (ऋषिकेश) के आश्रम तथा रामकृष्ण मिशन में रह आये थे। उनके आगमन का उद्देश्य था—पोद्दारजी का सत्संग-लाभ तथा उनके निर्देशन में साधनामय जीवन व्यतीत करना। ये एक-दो घंटे टंकण का कार्य करते थे। व्यक्तिगत खर्च के लिए इन्हें नियमित धन-राशि मिल जाया करती थी।

संपादकीय विभाग के पुराने कार्यालय, गोरखनाथ के पास वाले बगीचे का वातावरण बड़ा ही सात्विक था। शाहपुर स्थित गीतावाटिका में उसके स्थानान्तरण के पश्चात् पोद्दारजी की सतर्कता के बावजूद आध्यात्मिकता में कुछ शिथिलता आयी और राजसी वातावरण का शनैः-शनैः प्रवेश होने लगा। सम्पादन से सम्बद्ध सारा काम गीतावाटिका में ही होता था, किन्तु विशेषांक के मुद्रण के समय सब लोगों को एक डेढ़ महीने तक प्रतिदिन गीताप्रेस जाना पड़ता था। ऐसी व्यवस्था त्रुटिरहित मुद्रण तथा नियत समय पर 'कल्याण' के प्रकाशन की दृष्टि से की जाती थी।

समय के साथ सम्पादकीय विभाग की व्यवस्था तथा वातावरण में भी परिवर्तन हुआ। इसका मुख्य कारण था कुछ सदस्यों का संन्यासग्रहण और कुछ का जीविका हेतु अन्यत्र गमन। उनके स्थान पर निम्नांकित नये सदस्य आये—

१. श्रीमाधवशरण श्रीवास्तव, २. श्रीशिवनाथ दुबे, ३. श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल, ४. पं० श्रीजानकीनाथ शर्मा ५. श्रीरामलाल श्रीवास्तव, ६. श्रीसुदर्शन सिंह, ७. श्रीराधेश्याम बंका।

अब सम्पादक सहित विभाग का नया रूप इस इस प्रकार संघटित हुआ—

१. श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, २. पं० चिम्मनलाल गोस्वामी, ३. पं० जानकीनाथ शर्मा, ४. श्रीमाधवशरण श्रीवास्तव, ५. श्रीदुलीचंद दुजारी ६. श्रीशिवनाथ दुबे, ७. श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल, ८. श्रीरामलाल श्रीवास्तव ९. श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र', १०. श्रीराधेश्याम बंका, ११. श्री एन० रामचन्द्रन ब्रह्मचारी।

इनमें श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' स्थायी रूप से गोरखपुर में नहीं रहते थे। विशेषांक के समय आते थे और दो चार-महीने रहते थे, किन्तु पोद्दारजी के अस्वस्थ होने पर वे प्रायः गोरखपुर रहकर ही कार्य करते थे।

पोद्दारजी के जीवनकाल तक सम्पादकीय विभाग के स्थायी सदस्य ये ही रहे। काम बढ़ने पर आवश्यकतानुसार समय-समय पर सहयोग के लिए कुछ लिपिक एवं टंकक आंशिक समय के लिए रख लिये जाते थे।

संपादकीय विभाग के उपर्युक्त सदस्यों में सम्पादन का प्रमुख कार्य—लेखों का चयन तथा संपादन पोद्दारजी स्वयं करते थे। इस दिशा में उन्हें कभी-कभी पं० चिम्मनलाल गोस्वामी का सहयोग मिल जाता था। आगे चलकर श्रीराधेश्याम बंका भी सहायता देने लगे थे। प्रूफ देखने का कार्य पोद्दारजी एवं गोस्वामीजी करते थे। बाद में श्रीदुलीचंद दुजारी भी इस कार्य में हाथ बँटाने लगे थे। प्रूफ बड़ी सावधानी से देखे जाते थे, जिससे एक भी अशुद्धि न रहने पाये। संदर्भों को मूलग्रंथ से मिलाकर ठीक किया जाता था तथा प्रत्येक संदर्भ के नीचे ग्रंथ का नाम एवं श्लोक या छंद की संख्या दी जाती थी। कभी-कभी संदर्भ ढूंढ़ने में बहुत समय लग जाता था—फिर भी मूलग्रन्थ से मिलाने के बाद ही फर्मा मुद्रण के लिए दिया जाता था। पं० जानकी नाथ शर्मा इस कार्य के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध हुए। उन्हें संस्कृत के ग्रंथों का काफी अध्ययन है तथा उनकी स्मरण-शक्ति भी बड़ी तीव्र है। वे गीता, भागवत, उपनिषद, पुराणादि के श्लोकों के संदर्भ आसानी से बता दिया करते थे। इसके अतिरिक्त लेख लिखना तथा विभाग के शास्त्रीय प्रश्नों वाले पत्रों का उत्तर देना भी उनका कार्य था। श्री माधवशरण श्रीवास्तव 'कल्याण-कल्पतरु' का कार्य करते थे। अंग्रेजी में आये हुए पत्रों के उत्तर देने का काम भी उनके जिम्मे था। श्रीशिवनाथ दुबे पत्रों के उत्तर देते तथा आवश्यकतानुसार 'कल्याण' के लिए लेख लिखा करते थे।

श्रीरामलाल श्रीवास्तव ग्रंथों की सहायता से लेख तैयार करते थे। बाद में संपादकीय विभाग के पुस्तकालय का भी दायित्व उन्हें सौंप दिया गया। विभाग में आने वालों पत्र-पत्रिकाओं की सार-संभाल तथा उनसे 'कल्याण' के लिए उपयोगी सामग्री संकलित करने का कार्य भी उन्हें दिया गया था।

संपादकीय विभाग के अनुगतों के अतिरिक्त पोद्दारजी को बाहर के लेखकों का भी अभूतपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ। सबने हृदय खोलकर श्रद्धा एवं निःस्वार्थ भाव से अपनी सेवाएँ 'कल्याण' को अर्पित कीं। जिन-जिन लेखकों के सहयोग मिले, उनकी सूची तैयार करना कठिन है। अनगिनत संन्यासियों, संतों, भक्तों तथा विद्वानों के अयाचित आशीर्वाद तथा स्नेहपूर्ण योगदान से कल्याण का भावदेह पुष्ट हुआ। पत्रकारिता जगत में उसका विद्युत् गति से विकास एक विचित्र घटना मानी जाने लगी।

विशेषांकों का संपादन

'कल्याण' के विशेषांक निकालते समय उनका शीर्षक अथवा विषय अपने सहयोगियों एवं कुछ विद्वानों की सहायता से पोद्दारजी स्वयं तय करते थे। विषय निश्चित होने के बाद उसकी रूपरेखा प्रमुख रूप से महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज की सहायता से बनायी जाती थी। कविराज महाशय से सूची बनवाने के लिए उनके पास आरंभ में पोद्दारजी स्वयं जाते थे। फिर यह कार्य प्रायः श्रीशिवनाथ दुबे को भेजकर सम्पन्न कराया जाने लगा। बाद में इसके माध्यम पं० रामनारायणदत्त शास्त्री बने, जो काशी में ही निवास करते थे। कविराजजी से 'परलोक और पुनर्जन्मांक' विशेषांक की विषय-सूची बनवाने का दायित्व पोद्दारजी ने शास्त्रीजी को ही सौंपा था। इस सम्बन्ध में उनका निम्नांकित पत्र उल्लेखनीय है—

पूज्य श्रीशास्त्रीजी महाराज, ५-४-१९६८

सादर प्रणाम।

सेवा में एक पत्र लिखा था। आपका कोई उत्तर अभी तक नहीं मिला।

'कल्याण' का आगामी विशेषांक 'परलोक और पुनर्जन्मांक' निकालने की बात सोची गयी है। जन्मान्तर, कर्मफल, स्वर्ग-नरक की सत्ता आदि न मानने के कारण आजकल लोगों में यथेच्छाचार बढ़ रहा है। इसलिए इस विषय के अंक की बड़ी आवश्यकता हैं। इसमें बहुत-से विषय रह सकते हैं—संकेत के लिए मैं इसके साथ कुछ लिख रहा हूँ। इसकी पूरी सूची बनवानी है। अतः आप पूज्य श्रीकविराजजी के पास जाकर उनसे प्रार्थना करें और उनसे समय लेकर सूचीं लिखवाकर शीघ्र भिजवा दें। आप भी एक सूची बनावें तथा पूज्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय से भी निवेदन करें—वे भी इसमें सहायता करें। श्रीकविराजजी तथा श्रीवलदेवजी से यह भी पूछें कि किस विषय पर लेख लिखने के लिए किनसे निवेदन किया जाय। श्रीकविराजजी

भी लिखवाना शुरू कर दें। इसके लिए आवश्यक समझें तो एक बंगाली सज्जन को अच्छे वेतन पर नियुक्त करें, जो कविराजजी के बुलाने पर उनकी सुविधा के अनुसार बार-बार उनकी सेवा में उपस्थित हों।

मैं इस पत्र की नकल श्रीदुबेजी को भी भेज रहा हूँ—वे भी चेष्टा करेंगे।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे।

आपका
हनुमान प्रसाद

विवरण-सहित विषय-सूची तैयार हो जाने पर उसे 'कल्याण' में प्रकाशित किया जाता था और उसके अनुसार लेख आमन्त्रित किये जाते थे। कुछ लेखकों को पोद्दारजी व्यक्तिगत रूप से विनयपूर्ण पत्र लिखकर निबन्ध भेजने का अनुरोध करते थे, कुछ के पास आदमी भेजकर लेख प्राप्त करने की चेष्टा की जाती थी। पं० गोपीनाथजी कविराज के लेख के लिए वाराणसी में एक बंगाली सज्जन नियुक्त थे। पोद्दारजी के रुग्ण होने पर इस पूरी प्रक्रिया में पं० रामनारायणदत्त शास्त्री का पूरा सहयोग रहता था। वे स्थायी रूप से तो सम्पादकीय विभाग में नहीं रहते थे, पर पुराणों से सम्बद्ध विशेषांक निकालने में अनुवाद विषयक कार्य में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता था।

इस प्रकार पोद्दारजी की छत्रछाया में 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग की कार्य-पद्धति, वातावरण, पारस्परिक सहयोग—सब-कुछ एक अनुकरणीय आदर्श बन गया। उनके व्यक्तित्व के संस्पर्श से सब कुछ दिव्य हो गया। पोद्दारजी का स्नेह और सम्मान सभी सदस्यों को सहज प्राप्त था। वे कहने को 'भाईजी' थे, पर उनके हृदय में माता का स्नेह था, जो अपना वात्सल्य बच्चों पर बिना किसी प्रत्याशा के बरसाया करती है। उनकी बोलने की शैली रससिक्त, मृदुल, सद्भाव-समन्वित और हृदयग्राही थी। यह मृदुल व्यवहार ही सहयोगियों को अनुशासित रखने का अमोघ साधन था। आश्रितों के नैतिक उत्थान के लिए वे सतत सचेष्ट रहते थे। सहयोगियों के जीवन में पतन के चिह्न देखते ही वे उनको सावधान कर देते और लड़खड़ाने पर उन्हें अपनी दोनों भुजाएँ बढ़ा कर वैसे ही उठा लेते से, जैसे माँ धूल-धूसरित बच्चे को गोद में भर लेती है। आश्चर्य यह था कि सब-कुछ जानकर भी भाईजी के मन में क्षणभर के लिए भी उनके प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव नहीं आता था। व्यक्तियों, आश्रितों तथा सहयोगियों को अपार करुणा, स्नेह एवं विश्वास देकर वे उन्हें सदा-सदा के लिए मोल ले लेते थे, अपना बना लेते थे। फिर कोई उनसे लेन-देन, सुख-सुविधा, वेतन-बोनस, समय-असमय की चर्चा ही कैसे करता ? यथावसर आश्रितों को अपेक्षित सेवा अनायास और अलक्षित रूप से स्वतः उपलब्ध हो जाती थी।

संपादन नीति

'कल्याण' का प्रवर्तन विशुद्ध रूप से लोकहित-साधन के उद्देश्य से हुआ था। उसके मूल में ही समाज के नैतिक स्तर को उन्नत करने का लक्ष्य निहित था। सेठ जयदयालजी गोयन्दका तथा श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार ऐसे अध्यात्मनिष्ठ महापुरुषों के स्नेहपूर्ण संरक्षण में उसका स्थूल तथा सूक्ष्म देह विकसित हुआ और देखते-ही-देखते वह उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। 'कल्याण' के इस चमत्कारी विकास का एक बहुत बड़ा कारण उसके सम्पादक पोद्दारजी का लोकोत्तर व्यक्तित्व और उनके द्वारा अपनायी गयी दूरदर्शिता-पूर्ण समन्वयवादी सम्पादन नीति थी। इसके निर्धारण और दृढ़तापूर्वक पालन में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। गांधीजी की सलाह मानकर 'कल्याण' में विज्ञापन तथा पुस्तक-समीक्षा प्रकाशित न करने का जो ऐतिहासिक निर्णय उन्होंने लिया, उससे पत्र के आध्यात्मिक-स्वरूप की तो रक्षा हुई हो, उसकी लोकप्रियता-वृद्धि में भी अपूर्व सहायता मिली। राग-द्वेषपूर्ण युगीन वातावरण से ऊपर उठकर, राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त होकर. जीवमात्र की सेवा का लक्ष्य सामने रखकर, दृश्यमान् जगत् को भगवान् की लीलाभूमि तथा जड़-चेतन को उन्हीं का स्वरूप मानकर पोद्दारजी ने 'कल्याण'-सम्पादन के लिए जो निर्देशक सिद्धान्त स्थिर किये, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. श्रुति, स्मृति, पुराण-इतिहास आदि सत्शास्त्रों में आस्था रखते हुए, सनातनधर्म की पद्धति का अनुसरण करते हुए सदाचार, दैवी-सम्पत्ति, भगवद्-भक्ति, विश्वप्रेम, भोगों में अनासक्ति तथा सर्वत्र सब-कुछ भगवन्मय देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना।

२. सभी धर्मों के उत्तम सिद्धान्तों का आदर करना।

३. किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय का खंडन करनेवाले लेखों को स्थान न देकर उसके लोकहितकारी तत्वों का मंडन करनेवाली सामग्री का उपयोग करना।

४. दूसरे धर्मों-सम्प्रदायों के जो छिद्र हैं, उनको न तो देखना और न ही प्रकाश में लाने का प्रयास करना।

५. सबकुछ भगवान् का है, यह जगत एकमात्र उनकी ही अभिव्यक्ति है, अतएव किसी से द्वेष न करके प्रेमभाव रखना।

६. सदाचार अर्थात् चारित्रिक उन्नति को सर्वोच्च स्थान देना, कारण कि चारित्रिक उन्नति हुए बिना ज्ञान, भक्ति, कर्म—किसी भी साधन की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए 'कल्याण' में साधन चतुष्टय-पर बल दिया जाता है। साधन चतुष्टय में विवेक, वैराग्य, षड्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व (मोक्ष की तीव्र इच्छा)—ये चार तत्त्व आते हैं। विवेक द्वारा सत्यासत्य और नित्यानित्य का निर्णय, विवेक होने पर

वैराग्य की प्राप्ति, विवेक तथा वैराग्य की सिद्धि पर षड्सम्पत्ति की उपलब्धि, और इसके पश्चात् मुमुक्षत्व। षड्सम्पत्ति में सम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान—ये छः बातें हैं। इनमें सारी दैवी सम्पत्ति आ गयी। इनके बिना व्यक्ति कर्म, उपासना तथा ज्ञान किसी का भी अधिकारी नहीं हो सकता। गीता में भक्त के लक्षण अलग बताये गये हैं, ज्ञानी के अलग, निष्काम-कर्मी के अलग; पर सभी में सदाचार पर जोर दिया गया है। दैवी सम्पत्ति और प्रभु के प्रति चित्त अर्पण—यह सबमें होना चाहिए।

७. श्रीराधाकृष्ण तथा गोपियों के प्रेम को इस रूप में प्रस्तुत करना, जिससे उसकी आड़ में किसी भी प्रकार से अनाचार को प्रोत्साहन न मिले।

८. नाम की महिमा का समर्थन करते हुए भी सदाचार-पालन को सर्वाधिक महत्त्व देना।

९. कर्म, उपासना तथा ज्ञान-मार्ग का तत्त्व ग्रहण कर उनकी मर्यादा की रक्षा करना।

कुछ लोगों का यह विचार है कि वृन्दावन-वास करते हुए कुछ भी किया जा सकता है, वहाँ निवास करने वालों पर सांसारिक मर्यादा आरोपित नहीं की जाती, वे सब कुछ कर सकते हैं। कर्मवादियों का कहना है कि काम-रहित होने के कारण वे किसी कर्म से लिप्त नहीं होते। उस स्थिति में इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थ में बरतती हैं। जैसे आँख है, वह रूप देख रही है, हाथ चमड़ी का स्पर्श कर रहा है। इस स्थिति में जो भी किया जाय, उस पर कोई विधि-निषेध लागू नहीं होता। उनकी यह भी धारणा है कि हम जो कुछ भी करते हैं, वह राग और कामना से रहित होकर करते हैं और राग तथा कामना से रहित कोई भी कर्म अनाचार नहीं होता। इसलिए निष्काम भाव से कुछ भी किया जाय तो कोई हर्ज नहीं है।

'तत् कार्यं न विद्यते' कहकर ज्ञानी कहते हैं—कि हम पर कोई दायित्व नहीं है। कोई मरता है तो मरा करे, हम तो सिद्ध हैं।

भक्तिमार्गी कहते हैं, भगवान् के शरणापन्न होकर कुछ भी किया जा सकता है, भगवान् का नाम लो, फिर चाहे सो करो।

गीता में इन तीनों का विरोध है। निष्काम कर्मी, ज्ञानी और भक्त तीनों को इन्द्रियों को वश में रखने वाला होना चाहिए और उनके सारे कार्य प्राणियों के हित में होने चाहिए।

जिसे अपने सुख-दुःख का ज्ञान नहीं, वही **'तत्कार्यं न विद्यते'** कह सकता है। अन्यथा यह भुलावा है, धोखा है। गीता में भगवान् का स्पष्ट आदेश है—

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ —गीता १२/४

'इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण हो, सर्वत्र सुख-दुःखों में, द्वन्द्वों में समता हो और सारे भूतों के हित में परायणता हो'—ये तीन शर्तें हैं, जिनके अभाव में आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। 'कल्याण' में इस सिद्धान्त के पालन पर निरन्तर ध्यान रखा गया।

१०. 'कल्याण' में वर्ण जन्म से माना गया, पर जन्म के साथ कर्म भी होना चाहिए। जन्म के साथ कर्म यदि नहीं है तो जाति में रहते हुए भी व्यक्ति अपने वर्ण से पतित हो जाता है। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न ब्राह्मण रहेगा, क्षत्रिय कुल में उत्पन्न क्षत्रिय रहेगा, वैश्य कुल में उत्पन्न वैश्य रहेगा, शूद्र कुल में उत्पन्न शूद्र रहेगा ही। यह रहेगा केवल विवाह-शादी, जाति-पाँत के व्यवहार में, लेकिन यदि ब्राह्मण शूद्र का कर्म करेगा तो वह शूद्र ब्राह्मण है, चाण्डाल का काम करेगा तो वह चाण्डाल ब्राह्मण है। इस प्रकार के अमर्यादित अभ्यास से उसके अन्दर ब्राह्मणत्व रहेगा नहीं और दूसरे जन्म में वह वर्णच्युत हो जायगा।

११. कर्म-सिद्धान्त के अनुसार सत्कर्म करनेवाले को कभी बुरे फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसमें कर्म-बीज-फल-न्याय होता है। जिस तरह का बीज हम बोते हैं उसका अनन्त गुणा फल पैदा होता है, उसी प्रकार जिस तरह के कर्म हम करेंगे, उसी तरह का बहुत अधिक मात्रा में फल उत्पादन होगा।

इस कथन का कि—'एक आदमी अभी पाप कर रहा है, बुरे कर्म कर रहा है, फिर भी फलता-फूलता दिखाई दे रहा है और एक बेचारा सदाचारी, अच्छे कर्म कर रहा है, फिर भी दुःखी है'—इसका उत्तर भी कर्म-सिद्धान्त ही है। जो आदमी इस समय अच्छा कर्म नहीं कर रहा है, फिर भी फलता-फूलता है, वह पूर्वकृत कर्म का फल पा रहा है। जैसे, किसी किसान के पास गतवर्ष का गल्ला जमा है और इस वर्ष उसने खेती नष्ट कर दी है, फिर भी वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है। एक किसान की खेती इस वर्ष अच्छी हुई है, पर अभी पकी नहीं है और उसके घर में गल्ला नहीं है, इसलिए वह भूखों मर रहा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अच्छी खेती हुई है, इसलिए वह भूखों मर रहा है या उसने खेती नष्ट कर दी है, इसलिए वह अच्छा खाता-पीता है। बल्कि वह सम्पादित पूर्वकृत कर्मों का भोग कर रहा है।

कर्म-सिद्धान्त में एक बात यह भी जानने की है कि बिना किसी के प्रारब्ध के कोई उसका बुरा नहीं कर सकता। पर जब हम किसी का बुरा सोचेंगे या करने जायेंगे तो नवीन कर्म होकर वह हमारे लिए एक दुष्कर्म बन जायगा और हमारा बुरा हो जायगा। इसलिए दूसरे का अनिष्टचिन्तन कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका बुरा होगा कर्म-सिद्धान्त के अनुसार। उसके पूर्व के कर्म वैसे होंगे और प्रारब्ध फलदानोन्मुख होगा तब; लेकिन उसका बुरा करने की बात सोचते ही हमारा बुरा हो जायगा, क्योंकि इससे नवीन कर्म बन जाता है। इसी प्रकार यदि दूसरे के द्वारा

अमंगल होता दिखाई पड़े, तो वहाँ यह सोचना चाहिए कि हमारा अमंगल हमारे पूर्व-कृत कर्मानुसार ही हुआ है, वह तो निमित्तमात्र है। उसने भूल से हमारे अमंगल में अपने को निमित्त बनाया, अतः भगवान् उसे क्षमा करें। दूसरे का कभी बुरा करे नहीं और यदि दूसरा बुरा करता हो तो उस पर क्षुब्ध हो नहीं।

१२. समदर्शन में आस्था रखनी चाहिए, समवर्तन में नहीं। सबमें एक आत्मा व्याप्त है। जैसे अपने अंग हैं, अपने अंगों में से हाथ को चोट लगे, पैर को चोट लगे, सिर को चोट लगे तो स्वयं को चोट लगती है, पर कर्म सबके अलग-अलग हैं। अतः सबके साथ व्यवहार एक-सा नहीं हो सकता। माँ और पत्नी की अंग-रचना में कोई अन्तर नहीं है, पर उनके साथ व्यवहार की बात अलग रही, भावान्तर इतना रहता है कि माँ को देखते ही भक्ति पैदा होती है, कभी मन में बुरे भाव पैदा होते ही नहीं। गीता में एक श्लोक है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५।१८)

पण्डित अर्थात् ज्ञानी सबमें आत्मा को समान देखते हैं, भेददृष्टि से नहीं। यहाँ यदि समान बर्ताव मात्र मनुष्य के साथ करने की बात कही गयी होती तो भ्रम की संभावना थी, इसीलिए ऐसा नहीं कहा गया। दो मनुष्यों के नाम लिये—विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण और श्वपच (चाण्डाल) तथा तीन पशुओं के नाम लिये—हाथी, गाय और कुत्ता। हाथी, गाय और कुत्ते में किसी भी बात में समता नहीं है—न रूप में, न आकार में, न वजन में, न उनके भोजन में और न ही उनके व्यवहार में। हम हाथी की सवारी करते हैं कुत्ते की नहीं, गाय का दूध पीते हैं, कुतिया का नहीं। लेकिन इनकी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है।

१३. मानवीय गुणों के प्रचार-प्रसार में निरन्तर संलग्न रहना। प्रस्तुत प्रसंग में मानवता की परिभाषा थोड़ी भिन्न है। मानव की मानवता का प्रारम्भ तब होता है, जब वह भगवान् की ओर मुड़ता है, क्योंकि मानव-जीवन मिला है भगवान् की प्राप्ति के लिए। इसलिए जबतक वह भगवत्प्राप्ति की ओर नहीं बढ़ता, तबतक उसे मानवता की प्राप्ति नहीं होती, वह तब तक **'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति'** को चरितार्थ करता है।

१४. मानव-शरीर जहाँ अत्यंत पवित्र, लाभदायक तथा परमपद का साधन है, वहाँ वह बड़े जोखिम की भी चीज है। पशु-पक्षी इत्यादि के जीवन में नवीन कर्म नहीं होते, वे केवल कर्म-भोग करते हैं। इसीलिए वे अपने कर्मों का क्षय करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। उनका कर्म-ऋण उतरता रहता है, पर मनुष्य नवीन कर्म करता है—**'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते'**। इसीलिए मनुष्य के लिए विधि-निषेध कर्तव्याकर्तव्य के निर्देशक शास्त्र-पुराणों की रचना हुई है। मानव यदि कहीं पशुता, पैशाचिकता,

असुरता का काम करने लगे तो अपने भविष्य को अन्धकारमय बनानेवाले, दुःखमय बनानेवाले दुष्कर्मसंग्रह कर लेगा, जिसका फल उसे लाखों-करोड़ों वर्षों तक नीची योनियों में रहकर भोगना पड़ेगा। गीता में भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आसुरी वृत्ति के लोग हैं, उनको मेरी प्राप्ति तो होती ही नहीं, वे जन्म-जन्म में आसुरी योनि को, अधम गति को, नीची गति को, नरकादि गति को प्राप्त होते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

—गीता १६।२०

अतएव मनुष्य को विशेष सावधान रहना है। मनुष्य के पास साधन है, शक्ति है, वह सब कुछ कर सकता है। एक सिंह, एक अजगर कितने जीवों को खायेगा? पर एक मनुष्य अपने ऑफिस में बैठा हुआ कसाईखाने की योजना बनाकर असंख्य जीवों का संहार कर सकता है। अतः मानव को मानव बनना है, दानव नहीं। असुर भावापन्न मनुष्य के लिए गीता में कहा गया है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

—गीता १६।१३-१५

"मैं यह करूँगा, यह करूँगा, मेरे समान कौन है?" अहंकार से भरा वह कहता है कि "आज यह प्राप्त कर लिया, कल यह प्राप्त कर लूँगा। जो चीज मेरे हाथ से निकल गयी, उसे फिर प्राप्त कर लूँगा। जो मेरे विपक्षमें आया है, उसे समाप्त कर दिया है, जो बाकी हैं, उन्हें फिर समाप्त कर दूँगा। मैं शक्तिमान हूँ, बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं सम्पन्न हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, मैं जनता का नेता हूँ। मेरे समान कौन है? मैं यह करूँगा, मैं इस प्रकार जनता का उपकार करूँगा, यह भला करूँगा।" इस प्रकार की भावना करके वह दूसरों के साथ द्रोह करता है, द्वेष करता है, कलह करता है, छल-कपट करता है, जिसका परिणाम होता है—'आसुरी योनि'। 'कल्याण' द्वारा इन सबके निषेध का प्रयास होता रहा है।

१५. अर्थ और काम का हमारे यहाँ निषेध नहीं है। जीवन-यात्रा के लिए ये दोनों आवश्यक हैं—जीवन के पुरुषार्थ हैं, पर अर्थ और काम धर्म से नियंत्रित हों एवं उनका लक्ष्य मोक्ष होना चाहिए। मनुष्य को केवल कामोपभोगपरायण नहीं होना चाहिए। 'कल्याण'-संपादन में इस बात पर भी ध्यान दिया गया।

१६. 'कल्याण' ने गीता के सिद्धान्तानुकूल मनुष्य की भाँति ही अन्य योनियों—पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि में भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया और उनकी रक्षा तथा पोषण को मनुष्य का परम कर्तव्य माना।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

—गीता ६।२९

१७. 'कल्याण' में इस बात का भी प्रतिपादन किया गया कि लौकिक व्यक्ति को गुरु मानने से ही परमार्थ सिद्धि हो, यह आवश्यक नहीं है। गुरु कौन है? जो संसार से पार लगाने में समर्थ हो। उसने गुरुतत्त्व अथवा गुरु-शिष्य-परंपरा का विरोध नहीं किया, गुरु को भगवत्स्वरूप मानने में भी उसने आपत्ति नहीं की, किन्तु आध्यात्मिक उत्थान के लिए किसी से मन्त्र-दीक्षा लेना आवश्यक नहीं माना। ऐसा सिद्धान्त बनाने का मुख्य कारण था—वर्तमान युग में गुरु-नामधारी व्यक्तियों द्वारा समाज में धर्म के नाम पर फैलाये गये अनाचार तथा श्रद्धालुओं के शोषण-व्यापार का विरोध।

१८. 'कल्याण' के माध्यम से पाप और पुण्य की एक नयी परिभाषा दी गयी। 'जिस क्रिया एवं विचार के द्वारा परिणाम में अपना और दूसरों का अहित हो, अमंगल हो, वह पाप है तथा जिस विचार या क्रिया के द्वारा अपना एवं दूसरों का परिणाम में हित हो, वह पुण्य है'। मनुष्य को यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि मेरा मंगल हो, दूसरे का भले ही अमंगल हो जाय। इससे उसका मंगल तो होगा ही नहीं, क्योंकि वह पाप करेगा। इसी प्रकार जबतक मनुष्य को अपनी स्थिति का भान है, तबतक वह दूसरों के दुःखों से प्रभावित न हो, यह अपराध है। हम दूसरे का दुःख टाल नहीं सकते, इतनी शक्ति नहीं है, पर अपनी शक्ति के अनुसार टालने का विचार और प्रयत्न तो कर ही सकते हैं। यदि इससे हम चूकते हैं, तो पाप करते हैं।

१९. 'कल्याण' में इस बात का भी प्रतिपादन किया गया कि किसी भी वर्ण, जाति, देश, धर्म तथा सम्प्रदाय का व्यक्ति भगवान् को प्राप्त कर सकता है। बस, केवल उत्कट चाह होनी चाहिए।

२०. 'कल्याण' ने सिद्धान्ततः यह तथ्य स्वीकार किया कि सब धर्मों में समन्वय नहीं हो सकता, सबके आचरण एक-से नहीं हो सकते। माँ का धर्म, राजा का धर्म—ये सब अलग-अलग हैं। इन सबमें एकता नहीं हो सकती।

२१. मानव-हित को ध्यान में रखते हुए 'कल्याण' में धर्म-परिवर्तन तथा धर्म के नाम पर होने वाले संघर्षों की निरर्थकता का प्रतिपादन किया गया। 'कल्याण' में ऐसे लेखों को स्वीकार नहीं करने का सिद्धान्त बनाया गया, जिनसे आपस में द्वेष फैलता हो, आलस्य आता हो, प्रमाद बढ़ता हो, अकर्मण्यता का समर्थन होता हो,

कलह पैदा होता हो, अनाचार को प्रोत्साहन मिलता हो, भगवान् के किसी रूप के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती हो तथा दुराचार का समर्थन होता हो। यह चाहे कर्म के नाम पर हो, ज्ञान के नाम पर अथवा भक्ति के नाम पर।

२२. पोद्दारजी समन्वयवादी थे। सभी धर्मों-सम्प्रदायों के प्रति उनके मन में समान आदर था। यद्यपि सनातन-धर्म का प्रचार ही उनका मूल उद्देश्य था, तथापि दूसरे धर्मों और सम्प्रदायों की अच्छी बातों को ग्रहण करने में उन्हें जरा भी हिचक नहीं होती थी। उनका कहना था—'दूसरे धर्मों की अच्छी बातों को ग्रहण करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिए।' किसी का जी दुखाना 'कल्याण' का कभी उद्देश्य नहीं रहा। 'कल्याण' में सभी धर्म-सम्प्रदाय-सम्बन्धी लेख देने की नीति रखी गयी और अन्य धर्म-सम्प्रदाय वाले लेखक भी 'कल्याण' में स्वीकृति पाते रहे।

२३. अर्थोपार्जन के स्थान पर अर्थहानि सहकर भी सदाचार का प्रचार करना। इस पत्र का प्रकाशन भगवत्प्राप्ति की दिशा में लोगों को प्रेरित करने के उद्देश्य से हुआ था, अतएव भगवत्प्रेम और विश्वप्रेम का प्रचार इसका प्रधान लक्ष्य रखा गया।

२४. 'कल्याण' ने अवतारवाद सिद्धान्त का समर्थन किया। इसी प्रकार पर-लोक और पुनर्जन्म का समर्थन एवं प्रचार भी इसका उद्देश्य रहा।

२५. 'कल्याण' में प्रकाशित होनेवाली सामग्री की उत्कृष्टता की ओर पोद्दारजी का ध्यान विशेष रूप से रहता था। इसलिए सम्बद्ध विषय के अधिकारी विद्वानों से लेख लिखवाने की व्यवस्था की जाती थी।

२६. 'कल्याण' में आरम्भ से ही आचार्यों और संन्यासियों के लेखों को प्रधानता देने की नीति अपनायी गयी, अधिकारियों के नहीं।

२७. यथासंभव जीवित व्यक्तियों के चित्र न छापने तथा उनके जीवनवृत्त प्रकाशित न करने की परिपाटी अपनायी गयी। पोद्दारजी की मान्यता थी कि इससे लोगों में आत्मख्यापन तथा व्यक्तिपूजा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और अहंभाव की वृद्धि होती है; जो अंततः मानव के पतन का कारण बनता है।

२८. पोद्दारजी ने आरम्भ से ही 'कल्याण' को राजनीति से पृथक् रखने का सिद्धान्त अपनाया। उनका यह तर्क था कि राजनीति के प्रवेश से पत्र के स्वरूप पर आँच आ सकती है और वह विकृत हो सकता है।

२९. प्राचीन काल से चली आती हुई सांस्कृतिक परंपराओं में आस्था रखते हुए भी 'कल्याण' ने गलत परम्पराओं का कभी समर्थन नहीं किया। समकालीन स्थिति के प्रकाश में रूढ़िवादिता का विरोध कर प्रगतिशीलता को विवेकपूर्वक अपनाने पर बल दिया गया।

३०. भारतीय संस्कृति के प्रति पोद्दारजी के मन में अगाध श्रद्धा थी, अतएव आरम्भ से ही 'कल्याण' में उसके विरुद्ध कुछ भी प्रकाशित न करने का सिद्धान्त अपनाया गया। इसके साथ ही पाठकों को ऐसी सामग्री उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता रहा, जिससे उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के गौरव के प्रति आस्था उत्पन्न हो।

३१. त्रुटिरहित मुद्रण पोद्दारजी का प्रमुख सिद्धान्त था। वे यह मानते थे कि मुद्रण की सफाई तथा शुद्धता का प्रभाव पाठकों पर अधिक पड़ता है, जो प्रकारान्तर से पत्र के स्तरोन्नयन का कारण बन जाता है। इस सिद्धान्त के पालन के लिए लाखों की संख्या में मुद्रित प्रतियों में भी वे हाथ से संशोधन की व्यवस्था करते रहे।

३२. मर्यादा 'कल्याण' का एक अनिवार्य पक्ष था। इसका उल्लंघन कहीं भूल से भी न हो जाय, इसका ध्यान रखा जाता था। लेखों के विषय, भाषा तथा वर्तनी में तो इसपर दृष्टि रखी ही जाती थी, देवी-देवताओं की चित्र-रचना में भी इसके पालन का प्रयास किया जाता था। श्रीगंभीरचंद दुजारी को लिखे गये एक पत्र की निम्नांकित पंक्तियों से इस पर प्रकाश पड़ता हैं—

"गोविन्द भवन में शंकरजी का जो चित्र है, उसका ब्लॉक नहीं बनवाना है। उसमें भगवान् शंकर के एक पैर पर पार्वतीजी बैठी हैं। यह दृश्य 'कल्याण' की नीति के अनुकूल नहीं हैं।"

३३. पोद्दारजी का यह विश्वास था कि आचरण से असंपृक्त कोरे दार्शनिक सिद्धान्त प्रभावी नहीं होते। इसलिए 'कल्याण' में आये हुए लेखों को प्रकाशनार्थ स्वीकृति प्रदान करने के पूर्व वे यथासंभव उनके लेखकों के व्यक्तिगत जीवन में उसके प्रभाव का पता लगाते थे और अंततः कथनी-करनी में सामंजस्य के सूत्र मिलने पर ही उसे 'कल्याण' में स्थान देते थे। उन्होंने यह प्रतिबंध अपने ऊपर भी लागू किया और साधनामय जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक पत्र के संपादक का गुरुतर दायित्व मनसा-वाचा-कर्मणा आजीवन निभाया।

धार्मिक पत्रकारिता के क्षेत्र में पोद्दारजी को असाधारण सफलता प्रदान करने में उनके द्वारा स्वीकृत तथा कार्यान्वित इन सिद्धान्तों की प्रमुख भूमिका रही है।

'कल्याण' का लेखक मण्डल

कल्याण का आविर्भाव बम्बई में ही हो गया था। तेरह महीने का यह शिशु 'भगवन्नाम' की घूँटी पीकर अपने माता-पिता, बन्धु-सखा सब कुछ—'भाईजी'—पोद्दार-जी की गोदी में किलकारियाँ मारता हुआ गोरखपुर आया था। उसके अंतः एवं बाह्य शरीर की पुष्टि, संरक्षण तथा संवर्द्धन में इस धर्मपिता ने क्या कुछ किया, साधु-संतों, पंडितों एवं विद्वानों के आशीर्वाद से किस प्रकार उसका सर्वांगीण विकास संभव

हुआ, गीताप्रेस एवं संपादकीय विभाग के सहृदय सहयोगियों का सहज वात्सल्य उसके लालन-पालन में कितना सहायक हुआ, इसका विवरण देते हुए पोद्दारजी ने इन पंक्तियों के लेखक को बताया :

" 'कल्याण' भी अपने आप चला, महाराज ! हमने कौन-सा प्रयत्न किया ? सच्ची बात यही है । लेखक ऐसे-ऐसे हमको मिल गये, जो लिखते नहीं थे, पर जिनसे हमने कहा—लिखिये, उन्होंने अस्वीकार नहीं किया ।

'कल्याण' का पहले वर्ष का अंक निकला बम्बई में । उस समय मैं कुछ लिखता था, श्रीजयदयालजी के लेख भी देता था । वे राजस्थानी मिश्रित हिन्दीभाषा में अपने भाव बता देते थे, मैं उन्हें प्राञ्जल हिन्दी में लेख का रूप दे देता था । वहाँ पर स्थायी लेखकों में थे—भूपेन्द्रनाथ सन्याल, इनसे पहले की जान-पहचान थी। वे बड़े महात्मा माने जाते थे, बिहार में रहते थे, उनके बंगला में लेख आते थे। एक पं० लज्जारामजी मेहता थे, वे भी बड़े अच्छे लेखक थे । एक विद्यामार्तण्ड पंडित सीतारामजी शास्त्री थे । बहुत बड़े विद्वान् थे, भिवानी के थे । वहाँ पर एक ऋषिकुल आश्रम था, उसके वे अध्यक्ष थे । वे 'कल्याण' में लिखते थे । पहले साल उन्होंने लिखा था । एक पंडित राधाकृष्ण मिश्र थे । वे दो भाई थे, माधवप्रसाद मिश्र और राधा-कृष्ण मिश्र । माधवप्रसाद मिश्र हिन्दी के बड़े विख्यात लेखकों में थे । पहले साल राधाकृष्णजी ने लिखा । अच्युत मुनिजी ने लिखा था पहले साल ही । उनसे अच्युत मुनिजी से जान-पहचान हो गयी । हमारे पास रहने वाले श्रीश्रीलालजी याज्ञिक के एक स्वजन थे—रामशंकर । वे अनूपशहर में रहते थे । उनकी अनेक महात्माओं से जान-पहचान थी । उन्होंने अच्युत मुनिजी से और अन्य अनेक महात्माओं से मेरा सम्बन्ध जुड़वा दिया । हरिबाबा का नाम था—स्वामी 'स्वतः प्रकाश' । इनके लेख पहले साल में छपे थे । अच्युत मुनिजी के भी छपने लगे । भोलेबाबा स्थायी लेखक हो गये । पहले तो वे उपनिषदों पर ऐसे ही फुटकर लेख लिखते रहे । उसके बाद 'परमहंस विवेकमाला' दूसरे साल से छपनी शुरू हो गयी । प्रसिद्ध उपनिषदों का उन्होंने प्रश्नोत्तर के रूप में भाषान्तर लिखा है । वह 'कल्याण' में पूरा छपा है । भोलेबाबा जब-तक जिये, तबतक 'कल्याण' के लेखक रहे । अच्युत मुनिजी भी लिखते रहे ।

गांधीजी का पहले साल राम-नाम पर एक छोटा-सा लेख छपा था । उसमें लिखा था कि 'राम नाम ने मेरी रक्षा की है ।' उड़िया बाबा लिखते नहीं थे । उनके उपदेशों का संकलन होता था । पहले साल के बाहर के लेखकों में—भूपेन्द्रनाथ सन्याल तथा विरधीचन्द्रजी शर्मा, बहुत बड़े विद्वान थे । बम्बई में झाबरमल्लजी शर्मा मेरे साथी थे । बम्बई के दो आचार्य भी लेखक बने । एक थे वल्लभ संप्रदाय के आचार्य 'गोकुलनाथजी महाराज' और दूसरे थे रामानन्द-संप्रदाय के आचार्य 'अनन्ताचार्यजी' ।

इन्होंने 'कल्याण' में लिखा। मैथिलीशरणजी की भी शायद दो एक कविता छपी थीं। इन्होंने उन्हीं दिनों 'भारत-भारती' लिखी थी। उससे उनकी बहुत प्रसिद्धि हुई थी सारे भारत-वर्ष में। उनसे मेरा परिचय हो गया था कलकत्ते में ही। आचार्य महावीरप्रसादजी से भी परिचय हुआ था कलकत्ते में ही। एक परिव्राजक थे अमेरिका से आये हुए, उनसे भी कलकत्ते में ही परिचय हुआ।

दूसरे साल का 'भगवन्नामांक' वहीं निकला। 'भगवन्नामांक' निकालने के बाद ही मैं यहाँ आ गया और 'भगवन्नामांक' के दूसरे अंक से यहाँ से निकलना शुरू हो गया—गोरखपुर में। 'भगवन्नामांक' का दूसरा संस्करण यहाँ निकला। पहले साल में प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी ने भी लिखा। यहाँ से फिर अयोध्या के महात्माओं से परिचय हुआ। एक थे हरिस्वरूप जौहरी एम० ए०। गुलाबराय एम० ए० भी लेख भेजते थे। रामदासजी गौड़ से पहले से ही परिचय था। वे शायद साल भर यहाँ रहे संपादन विभाग में। उनसे प्रेम बहुत था। बाबा राघवदासजी से आते ही परिचय हो गया। वे भी लिखते थे। वृन्दावन के गोस्वामी मदनमोहनजी आचार्य के लेख आने लगे। वे अब नहीं हैं।

एक महात्मा थे, ज्योतिजी नाम के। पं० गोपीनाथजीने कमरा बन्द करके उनसे लिखाया था। मालवीयजी ने लेख लिखकर दिया। मैं गया उनके पास। बोले—'कमरा बंद करो।' छः घंटे लगे, वे बोलते गये, मैं लिखता गया। बाहर भीड़ हो गयी। उनको लेख पढ़वाकर, उनसे हस्ताक्षर करवाकर मैंने उनको बाहर आने दिया। बाहर आने पर मुझसे बोले—'देखो, तुमने हमारा समय खराब कर दिया। कितनी देर से लोग बैठे हैं। सब क्या कहेंगे?' पर वहाँ बोलना तो था नहीं। मैं चुपचाप मुस्कराकर चल दिया। इस तरह से लोगों से लिखाया। महात्माजी से जब कहा, जो कहा, तब उन्होंने लिखा। सब शंकराचार्यों ने लेख दिये।

'कल्याण' की नीति मध्यम मार्ग का अनुसरण करना था। इसमें ईसाई भी लिखते थे, मुसलमान भी लिखते, पारसी भी लिखते थे। मुसलमान हमसे बहुत प्रेम करते थे। कई मुसलमान हमारे मित्र थे। एक अभी मरे हैं। डॉ० मोहम्मद हाफिज सैयद। वे यहाँ आते थे। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर थे, श्रीकृष्ण के उपासक थे। हमको घर ले गये और कहा—"हम आप को अपना भगवान् दिखाते हैं।' मेज पर श्रीकृष्ण का एक सुन्दर चित्र रखा था; चंदन लगाया हुआ था तथा सामने धूप प्रज्वलित थी। कई ईसाई पादरी हमारे मित्र थे। एक मद्रास के थे, बहुत प्रेम करते थे। वे लेखक थे। वे 'कल्याण' के लिए लेख लिखते थे। 'कल्याण' के लिए उस समय के बड़े-से बड़े लेखक लिखते थे। श्रीराजगोपालाचारी ने 'भगवन्नामांक' में लेख लिखा था। दो व्यक्ति यहाँ से पाण्डीचेरी गये, हमारे भेजे हुए। एक तो अभी वहाँ पर हैं—चन्द्रदीप त्रिपाठी। तीन व्यक्ति संन्यासी हुए और यहां से

गये । एक स्वामी सनातनदेवजी; बहुत बड़े विद्वान् हैं; जिन्होंने कई भाष्य लिखे हैं; एक स्वामी अखंडानन्दजी और स्वामी कृष्णानन्दजी ।

स्वामी शिवानन्दजी अपने-आप लेख भेजते थे । उस समय स्वर्गाश्रम में एक छोटी कुटिया में रहते थे । मन के सम्बन्ध में एक लेखमाला उनकी 'कल्याण' में निकली । वे अंग्रेजी में लेख भेजते थे, उसका हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' में प्रकाशित होता था । मालवीयजी महाराज पत्र का उत्तर नहीं देते थे प्रायः । वे लिखने में बड़े कच्चे थे, बोलने में तो बड़े पक्के थे । तार लिखाते थे तो लिखवाकर कई बार कटवाते । जब आदमी लेकर तारघर जाने लगता तो बुलाकर कहते—'देखो भई, इसे ठीक करना है ।' मालवीयजी महाराज के पास तो आदमी भेजना पड़ता था । कोई यहाँ से जाता तो लेख देते । गांधीजी का यह था कि यहाँ से जमनालालजी को लिख दिया जाता था, जमनालालजी बात कर लेते थे और उनसे लिखवाकर भिजवा देते थे । गांधीजी का उत्तर तो हाथ-का-हाथ आ जाता था । चार प्रश्नों का उत्तर माँगा तो उन्होंने जेल से उत्तर दिया, वह छपा है, 'कल्याण' के 'ईश्वरांक' में । गांधीजी तो यह कहने लगे थे कि 'तुम 'कल्याण' का जो काम करते हो, यह हमारा ही काम करते हो, इसमें हमारा भी हिस्सा है ।' एक पत्र में उन्होंने लिखा था—'तुम हमारे पास रहते तो सबसे अच्छा था, लेकिन तुम गीताप्रेस और 'कल्याण' का जो काम कर रहे हो, वह बहुत अच्छा है, उसमें हमारा भी हिस्सा है, क्योंकि तुमको हम अपना मानते हैं और तुम हमको अपना मानते हो ।' वे 'कल्याण' को अपना मानते थे और राय भी दिया करते थे समय-समय पर । पं० गोपीनाथजी कविराज हमेशा पत्र का उत्तर देते थे । लेकिन लेख के लिए उनके पास आदमी भेजना पड़ता था । क्योंकि, उनको अवकाश नहीं मिलता था । आदमी पीछे लगा रहता तो वह उनसे लेख लिखवा लेता । या तो यहाँ से किसी को भेजा जाता था या वहीं पर किसी को नियुक्त कर दिया जाता था । जब सूची लिखवानी पड़ती थी, तब तो यहाँ से खास आदमी जाता था । वे हिन्दू धर्म पर बहुत बड़ा ग्रंथ लिखवाने को कह रहे थे । बहुत दिनों आदमी उनके पास रखा, पर वे उसकी भूमिका भी नहीं लिखवा पाये ।

श्रीनारायण स्वामी की एक घटना है । श्रीनारायण स्वामी कायस्थ थे । मुरादाबाद में शायद डिप्टी कलक्टर थे, पहले । ये घर से निकलकर विरक्त संन्यासी हो गये । घर के लोगों को कुछ पता नहीं कि कहाँ हैं ? क्या नाम है ? ये केवल एक टाट की लंगोटी पहनते थे । रात को दो घंटे के अंदाज सोते थे । ये ऋषिकेश में आये हुए थे । पहले मैं उनके दर्शन कर चुका था दो-एक बार । जब वे ऋषिकेश में आये तो मैं उनके पास गया । कहा—'महाराजजी ! आप विरक्त संन्यासी कैसे हुए, यह सब लिखिये ।' पहले तो 'नाहीं' करते रहे—पर पीछे उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, हम लिख देंगे उर्दू में' । उन्होंने

उर्दू में लिख दिया। उसका अनुवाद बुलन्दशहर के वकील, हरिप्रसादजी शर्मा ने किया। वही 'एक संत के अनुभव' के नाम से 'कल्याण' में छपा था। पंडितों को—खास करके आचार्यों को विषय दिये जाते थे कि महाराज, आप इस विषय पर लिख दें तो अच्छा हो। आज्ञा के रूप में नहीं, नम्रतापूर्वक प्रार्थना की जाती थी। जब जब इनसे चाहा, तब तब इन्होंने लिखा। पुरी गोवर्धनपीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्री भारती कृष्णतीर्थजी महाराज बड़ी कृपा रखते थे। जब उनसे लेख के लिए प्रार्थना की गयी, उन्होंने लिखकर भेजा।

विशेषांक के लिए जब लेख माँगा जाता था तो खास तौर से कह दिया जाता था कि संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू—इनमें से किसी भी भाषा में लेखकर भेज सकते हैं। विभिन्न भाषाओं में लेख आते थे। उनका रूपांतर अपने यहाँ हो जाता था। अपनी जान में रूपांतर संतोषप्रद ही करवाया जाता था—योग्य विद्वानों से ही। गुजराती और बंगाली का तो प्रायः मैं ही करता था। कुछ गौरी-शंकरजी करते थे, तो उसे मैं देख लेता था। मुझे विश्वास था अपने ऊपर कि गुजराती और बंगला के अनुवाद में भूल नहीं होगी। मराठी का अनुवाद करते थे महाराष्ट्र के एक साधु (नाम भूल रहा हूँ), पीछे यहाँ गर्दे जी भी रहे, वे अनुवाद कर लेते थे। कुछ लेखों का अनुवाद बाबूराव विष्णु पराड़करजी से भी करवाया था। अंग्रेजी लेखों का अनुवाद प्रायः गोस्वामीजी करते थे।

लेखकों में यह बात विशेष थी कि अधिकांश 'कल्याण' को अपना समझकर लिखते थे। वे दिये जाने पर भी पारिश्रमिक स्वीकार नहीं करते थे। उसमें वे अपना अपमान समझते थे। लेकिन यह नीति रही कि जो लोग पारिश्रमिक चाहते थे, उनको दिया जाता था। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी, डॉ० राधाकमलजी मुखर्जी, वसन्त-कुमार चट्टोपाध्याय, श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, श्रीक्षितिमोहन सेन, श्रीक्षेत्रलाल साहा, श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, डॉ० महानामव्रत ब्रह्मचारी आदि बड़े-बड़े लेखक थे। उनके बहुत से लेख 'कल्याण' के लिए आते थे। और भी बहुत से बंगला विद्वानों के लेख आते थे। गुजराती के भी बहुत से विद्वानों ने 'कल्याण' के लिए लिखा, जैसे श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, श्रीमंगलजी उद्धवजी शास्त्री आदि। स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती एवं श्रीमगन लाल हरिभाई व्यास के भी बहुत-से लेख प्रकाशित हुए हैं।''

पोद्दारजी द्वारा दिये गये इस विवरण से यह स्पष्ट है कि उनके महान् स्वप्न को साकार करने में सात्विक भावापन्न असंख्य लेखकों का सहयोग अप्रत्याशित रूप से स्वतः प्राप्त होता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके द्वारा अनुष्ठित महान् ज्ञान-यज्ञ को सम्पन्न करने में देश की सारी मेधा, सारा त्याग-तप और सारी साधना अपना अंशदान करने के लिए उद्विग्न हो उठी हो। स्थानाभाव से ऐसे सभी पुण्य-

श्लोक विद्वानों तथा सन्तों की सूची प्रस्तुत करना सम्भव नहीं होगा। अतः कुछ विशिष्ट लेखकों की नामावली नीचे दी जाती है—

श्रीयुत् अच्युत मुनिजी, स्वामी भोले बाबा, श्रीभूपेन्द्रनाथ सन्याल, विद्यावारिधि पण्डित शिवनारायण शास्त्री, स्वामी विज्ञानघन, साहित्याचार्य श्रीब्रह्मदत्त-शास्त्री, लाला श्रीकन्नड़मल, श्रीवियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध,' श्रीरामचन्द्र-कृष्ण कामत, श्रीआनन्दघनरामजी, श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, श्रीमोतीलाल रविशंकर घोड़ा, श्रीदेवेन्द्र राव गुड़पाल, श्रीरमाशंकर मोहनजी भट्ट, श्री वी० एच० वडेर, श्रीरामचन्द्र दीक्षितार, श्री एस० एन० ताडपत्रीकार, श्रीबालूरामशास्त्री, श्रीपद्मसिंह शर्मा, श्रीनाथूराम शंकर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीमंगलदेव शास्त्री, श्रीभवानी शंकर, श्रीरघुनन्दन प्रसाद सिंह, श्री टी०एल० वास्वानी, श्रीविद्याधर शास्त्री, श्रीमोती लाल शास्त्री, पं० लज्जाराम मेहता, श्रीहनुमान शर्मा, श्रीतुलसीराम शर्मा 'दिनेश', श्रीविरधीचन्द्र शर्मा, श्रीमाधवप्रसाद मिश्र, श्रीराधाकृष्ण मिश्र, श्रीसीताराम विद्यामार्तण्ड, पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, श्रीक्षितिन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीहाराणचन्द्र शास्त्री, श्रीक्षितिमोहन सेन, श्रीरामचन्द्र चक्रवर्ती, श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, श्रीअक्षयकुमार वंद्योपाध्याय, श्रीरंगनाथ दिवाकर, श्रीगौरीशंकर गोयनका, पं० सीताराम शास्त्री, पं० रमानाथशास्त्री, श्रीरोनाल्ड निक्सन (बाद में कृष्णप्रेम-भिखारी), स्वामी श्रीभारती-कृष्ण तीर्थ, डा० गंगानाथ झा, पं०द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीज्वालाप्रसाद सिंहल, श्रीसैय्यद कासिम अली, डा० एच० डब्ल्यू० मोरेनो, श्री एच०जी०डी० टर्नबुल, श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', पं० रामनारायणदत्त शास्त्री, पं० जानकीनाथ शर्मा, श्रीरामलाल श्रीवास्तव, पं० शिवनाथ दुबे, श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र,' श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी (सम्प्रति स्वामी अखण्डानन्द); स्वामी सनातन देव, प्रो० लाटूसिंह गौतम, श्रीदत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर; श्रीहीरेन्द्रदत्त, पं०सदाशिवशास्त्री; श्रीमदनमोहन गोस्वामी, श्रीबलदेवप्रसाद मिश्र; श्रीफिरोजकावस दावर; पं०मदनमोहन मालवीय, डा० भगवानदास; श्रीविष्णुवामन; पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे; पं० गोपीनाथ कविराज; श्रीरामनाथ 'सुमन'; श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज; श्रीरासमोहन चक्रवर्ती; श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल; पं० दामोदर गोस्वामी, श्रीरामदास गौड़; श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती; श्रीशिवलाल शास्त्री; श्रीरामदयाल मजूमदार; सर जान वुडरफ; श्री भगवतीप्रसाद सिंह एम० ए०; डा० विनयतोष भट्टाचार्य; श्रीअनन्त शंकर कोल्हटकर; डा० महेन्द्र नाथ सरकार; स्वामी श्रीशंकर पुरुषोत्तम तीर्थ; श्रीताराचन्द्र पाण्ड्या; श्रीनकुलेश्वर मजूमदार; स्वामी श्रीशिवराम-किंकर योगत्रयानन्द; पं० राजबली पाण्डेय; पं० श्रीबालकराम विनायक; स्वामी श्रीस्वरूपानन्द; श्रीगंगेश्वरानन्दजी; स्वामी श्रीविशुद्धानन्द भारतीय; श्रीमदनमोहन विद्याधर; पं० रमानाथ शास्त्री; श्रीपंचानन तर्करत्न; श्रीअनिलवरण राय; पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी; पं० दीनानाथ सारस्वत; डा० मुहम्मद हाफिज सैयद; प्रो० हरिहरनाथ हुक्कू; श्रीलालजीरामजी शुक्ल; डा० दुर्गाशंकर नागर;

श्रीजयेन्द्र भगवान दूरकाल; पं० किशोरीदास वाजपेयी; बाबा राघवदास; पं० गंगाशंकर मिश्र; श्री शांति कुमार नानूराम व्यास; पं० मथुराराम शास्त्री; श्रीबलदेव उपाध्याय; श्रीक्षेत्रलाल साहा; श्रीजयंतीलाल एन० मानकर; पं० विजयानन्द त्रिपाठी; स्वामी श्रीजगदीश्वरानन्दजी; पं० श्रीहनुमान शर्मा; श्रीसम्पूर्णानन्द; श्रीश्रीप्रकाश; श्रीजयदयाल गोयन्दका; श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी; श्रीरामगोविन्द त्रिवेदी; स्वामी श्रीकरपात्रीजी; प्रो० जीवनशंकर याज्ञिक; डा० भीखनलाल आत्रेय; पं० इन्द्रनारायण द्विवेदी; श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकर; पं० श्रीमुरलीधर शर्मा; श्रीरामलाल जी पहाड़ा; प्रो० रामचरण महेन्द्र; डा० सदाशिव कृष्ण फड़के; श्रीनारायण पुरुषोत्तम सांगाणी; श्रीकैलाशनाथ काटजू, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; पं० वेणीराम शर्मा गौड़; पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार; डा० लोकेशचन्द्र; डा० लल्लन प्रसाद व्यास; प्रो० जयनारायण मल्लिक; श्रीयुगलसिंहजी खींची; पं० गौरीशंकर द्विवेदी; पं० बालमुकुन्द मिश्र; स्वामी श्री अनिरुद्धाचार्य; वेकंटाचार्य; पं० रामनिवास शर्मा; स्वामी श्रीमद्-चन्द्रशेखरेन्द्रजी महाराज; स्वामी श्रीशान्तानन्द सरस्वती; श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी; स्वामी चिदानन्द सरस्वती; डा० महानामव्रत ब्रह्मचारी, श्रीराममाधव चिंगले; पं० माधवाचार्य शास्त्री; डा० के० सी० वरदाचारी; स्वामी रामसुखदास; आचार्य शिवकुमार शास्त्री; श्री च० भास्कर रामकृष्णमाचार्युलु; प्रो० इन्दुप्रभा आत्रेय, पं० जनार्दन मिश्र 'पंकज'; डा० नीरजाकान्त चौधुरी; डा० शान्तिप्रकाश; आत्रेय श्रीश्रुतिशील शर्मा; श्रीश्यामकान्त द्विवेदी; श्रीरेवानन्द गौड़; श्रीराम-निरीक्षण सिंह; सरोजनी नानावती; श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन; जयदेवीजी; मदनगोपाल गाड़ोदिया; रसिकमोहन विद्याभूषण; श्रीरामदयाल मजूमदार; श्रीपरशुराम चतुर्वेदी; श्रीजहूरबख्श; श्रीबदरुद्दीन राणपुरी; स्वामी स्वतः प्रकाश (हरिबाबा); श्रीगोकुल-नाथ महाराज; श्रीमधुसूदनाचार्य; श्रीराजगोपालाचारी; राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद; श्रीरघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री; श्रीराघवाचार्य; स्वामी श्री प्रज्ञानपाद; स्वामी माधवा-नन्द; योगिराज स्वामी प्रज्ञानाथ; स्वामी प्रेमानन्द तीर्थ; स्वामी ज्ञानानन्द; स्वामी संकर्षणदास; स्वामी गौरांगदास; स्वामी पुरुषोत्तमानन्द; श्रीगोमतीदास; स्वामी मंगलनाथ; पं० रामवल्लभशरण; श्रीसतीशचन्द्र मुखर्जी; डा० रघुवीर; श्रीमाधव हरि अणे; श्रीआद्याप्रसाद श्रीवास्तव; श्रीचारुचन्द्र दास ।

लोकप्रियता का रहस्य

'कल्याण' का प्रवर्तन सं० १९८३ (सन् १९२६ ई०) में हुआ था। आरम्भ में इसके १६०० ग्राहक थे। इसके मासिक अंकों में प्रकाशित सामग्री और उसकी संयोजन-पद्धति का पाठकों पर इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि दूसरे वर्ष 'भगवन्नामांक' के प्रकाशन कालतक उसकी ग्राहक-संख्या पाँच हजार तक पहुँच गयी। इस विशेषांक ने 'कल्याण' की व्यापकता और आकर्षण को अपूर्व गति दी। प्रकाशन के कुछ

ही समय के अनन्तर विशेषाङ्क अप्राप्य हो गया, जिससे व्यवस्थापकों को विवश होकर उसका दूसरा संस्करण निकालना पड़ा।

'कल्याण' की इस संक्रामक लोकप्रियता ने दो वर्षों के भीतर ही देश के विभिन्न सम्प्रदायों तथा धार्मिक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं को पीछे छोड़ दिया। सेठ जयदयालजी गोयंदका की प्रबन्ध-क्षमता और पोद्दारजी की दीर्घकालव्यापी साधना ने उसे पौने दो लाख ग्राहकों का जीवनधन बना दिया। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि उसकी निरन्तर बढ़ती हुई माँग को पूरा करने का रास्ता न देखकर प्रकाशन-व्यवस्था को संख्या-वृद्धि पर रोक ही नहीं लगानी पड़ी, उसे घटाने का अप्रिय निर्णय भी लेना पड़ा। पत्रकारिता के इतिहास में यह एक अपूर्व घटना थी।

'कल्याण' की विद्युत् गति से बढ़ती हुई लोकप्रियता के अनेक कारण हैं, किन्तु उन सबके मूल में सर्वप्रधान उसके समर्पणशील एवं उदारमना संपादक का लोकोत्तर व्यक्तित्व था। पोद्दारजी की अध्यात्म-प्लावित जीवन-पद्धति तथा सुदृढ़ नीति के परिणामस्वरूप यह पत्र लाखों जिज्ञासुओं तथा साधनामार्ग के पथिकों का जीवन-संगी बन गया।

इतनी अप्रत्याशित जनप्रियता का संबल प्राप्त करने पर भी पोद्दारजी ने उसके संचालन में व्यापार-बुद्धि का सन्निवेश नहीं होने दिया। श्रीजयदयाल गोयन्दका की प्रबन्ध-क्षमता का सहारा प्राप्त कर उन्होंने आर्थिक की अपेक्षा पारमार्थिक लाभार्जन ही उसका मुख्य लक्ष्य बनाया। विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओं का आर्थिक मेरुदण्ड माना माना जाता है। पोद्दारजी ने गांधीजी की सलाह पर 'कल्याण' को उससे मुक्त रखकर एक अकल्पनीय प्रयोग किया और आत्मशक्ति के द्वारा उस में आशातीत सफलता प्राप्त की।

इसके फलस्वरूप 'कल्याण' को समय-समय पर भयंकर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु ये बाधाएँ उन्हें रंचमात्र भी अपने स्वीकृत पथ से विचलित नहीं कर सकीं। इसका दूसरा कारण था, प्रकाश्य सामग्री के स्तर का उत्तरोत्तर उन्नयन। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य था पाठकों का संस्कार-मार्जन और इस माध्यम से उच्चतर जीवन मूल्यों के प्रति उन्मुखता संपादन। अतः आध्यात्मिक, धार्मिक तथा नैतिक विषयों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की लोकरंजक रचनाओं को 'कल्याण' में स्थान नहीं दिया जाता था। उसके अंकों में यदा-कदा इसकी विज्ञप्ति भी प्रकाशित होती रहती थी—"भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्य आदि ईश्वरपरक, कल्याण मार्ग में सहायक, विशुद्ध अध्यात्मविषयक तथा व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखों के अतिरिक्त अन्य विषय के लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें।" इस प्रकार के सिद्धान्त ने समाज में 'कल्याण' की एक गरिमा निर्मित की।

तीसरा कारण पोद्दारजी की उदार तथा समन्वयवादी विचारधारा थी। वे

आध्यात्मिकता के उस धरातल पर पहुँच गये थे, जहाँ निज-पर का भेद विलीन हो जाता है। उनके लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय बराबर थे। ईश्वर के किसी भी नाम रूप का उपासक उनकी दृष्टि में अभिनन्दनीय था। उनकी मान्यता थी कि सभी धर्म-सम्प्रदायों का अन्तिम लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति ही है। भेद केवल साधन पद्धतियों अथवा साधन-मार्गों में है। नामरूप आवरण मात्र है, फिर भी, अनाम और अरूप की प्राप्ति के लिए इनका अवलम्बन आवश्यक है। तत्वज्ञान प्राप्त होने पर ये हट जाते हैं। तब भीतर अखण्ड अपार आनन्द-सागर लहराता दिखाई देता है। फलतः 'कल्याण' में सभी धर्म-सम्प्रदायों के विचारों तथा लेखकों को स्थान मिलता था। इसके विश्वप्रसिद्ध विशेषांकों—भक्तांक, ईश्वरांक, शिवांक, शक्तिअंक, योगांक, सत्कथांक, साधनांक, धर्मांक, उपासनांक की विषय सूची इसका प्रमाण है। इतना अवश्य है कि अन्य धर्मों के अनुयायियों के चरित अथवा उपदेश संकलित तथा विवेचित करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि वे मानवता के कल्याण-साधक होने के साथ ही सनातन-धर्म, जो उनकी दृष्टि में मानव धर्म का ही नामान्तर है, के विरोधी न हों। इस प्रकार की सावधानी इसलिए बरती गयी कि 'कल्याण' का उद्देश्य सनातनधर्म की प्रतिष्ठा करना था, न कि इतर धर्मों का प्रचार।

'कल्याण' को खण्डनात्मक प्रवृत्ति से दूर रखने की नीति ने भी इसे सर्वप्रिय बनाने में सहयोग दिया। किन्तु इस उदार नीति का अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि पोद्दारजी हिन्दू-धर्म अथवा भारतीय संस्कृति पर अनुचित आक्षेप भी बर्दाश्त करने के पक्षधर थे। सिद्धान्तों की बलि देकर सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। मानवीय आचार-विचार के आधारभूत तत्त्वों पर कुठाराघात करने वाले व्यक्तियों अथवा विचारों का डटकर खंडन करने में वे रंचमात्र भी संकोच नहीं करते थे। इतना ही नहीं, वे दूसरों को भी उनका विरोध करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। इस स्पष्टवादी तथा दृढ़ नीति ने 'कल्याण' की प्रतिष्ठा बढ़ायी। नास्तिकता तथा भौतिकता को प्रश्रय देनेवाली साम्यवादी विचारधारा उन्हें हिन्दू-जीवन-दर्शन की विरोधी प्रतीत हुई। इसलिए 'कल्याण' में उन्होंने उसके सिद्धान्तों की खुलकर आलोचना की। 'साम्यवाद और अधिकार भेद' आदि लेख इसके प्रमाण हैं।

पत्र की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसमें विभिन्न रुचियों के लोगों के लिए मानसिक संबल उपलब्ध कराने की व्यवस्था हो। सामग्री की विविधता एक अनिवार्य तत्त्व है। पोद्दारजी ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को हृदयंगम करके 'कल्याण' को एकरसता से बचाया। उसे केवल दार्शनिक विवेचनों से बोझिल नहीं बनाया, ज्ञानपूर्ण लेखों से दुरूह नहीं होने दिया, कोरे उपदेश छाप कर नीरस नहीं बनाया; केवल पौराणिक उपाख्यान प्रकाशित कर परम्परावाद का पोषण नहीं

किया, केवल शोधपूर्ण सामग्री छाप कर साधारण पाठकों से दूर नहीं होने दिया, मात्र भावभक्ति की धारा प्रवाहित कर एकांगी नहीं बनाया, अपितु उसे मानव जीवनोपयोगी विविध तत्त्वों एवं विषयों से समन्वित कर एक ऐसे पत्र का रूप दिया, जो सबकी रुचि का हो तथा जिसमें सभी प्रवृत्तियों के पाठक अवगाहन कर सकें। शर्त केवल एक रखी और वह थी—उदात्त मनोभावों और परिष्कृत रुचि का पोषण। इससे युगधारा को अध्यात्म की कल्याणमयी दिशा की ओर मोड़ने में वे कृतकार्य हुए।

'कल्याण' में सदाचारपूर्ण साधारण जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति से लेकर तत्वज्ञानस्पृही महात्माओं तक के लिए उपयोगी सामग्री प्रकाशित होती थी। 'पढ़ो, समझो और करो' में छोटी-छोटी प्रेरणाप्रद घटनाएँ प्रकाशित होती थीं। 'साधकों के लिए', 'परमार्थ की पगडंडियाँ' तथा 'परमार्थ-पत्रावली' में साधना एवं सम्बन्धित सामग्री रहती थी। 'उपनिषदों के रत्न' तथा 'परमहंस विवेकमाला' में दार्शनिक विवेचन रहता था। दर्शन सम्बन्धी अन्य लेख भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहते थे। 'सत्संग वाटिका के बिखरे सुमन' तथा 'विवेक वाटिका' के अन्तर्गत संत-महात्माओं की उपयोगी सूक्तियाँ दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त साहित्यिक तथा ऐतिहासिक लेख भी होते थे। तामसिक जीवन को पथ-निर्देश देनेवाले सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित निबंध भी रहते थे। पुराण-साहित्य में रुचि रखनेवालों के लिए पौराणिक प्रसंग दिये जाते थे। पाठकों के मानसिक क्षितिज के विकास के लिए पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों से उद्‌बोधक सामग्री ली जाती थी। पोद्दारजी के पास विभिन्न भाषाओं की बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं। उनसे वे 'कल्याण' के लिए उपयोगी सामग्री छाँट लेते थे। बंगला तथा गुजराती साहित्य में उनकी विशेष गति थी। वे उनसे भक्ति-ज्ञान विषयक सामग्री अनूदित कर 'कल्याण' का पोषण करते थे। इस प्रकार विविध स्रोतों से 'कल्याण' की अन्तरात्मा को पुष्ट करने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते थे।

परम्पराप्रियता के साथ-साथ प्रगतिशील तत्त्वों को भी 'कल्याण' में स्थान दिया गया। सनातन-धर्म का समर्थन करते हुए भी पोद्दारजी ने रूढ़िवादिता को कभी प्रश्रय नहीं दिया। उनका व्यक्तित्व जागरूक था। समय की आवश्यकता को वे अच्छी तरह समझते थे। व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का सटीक समाधान प्रस्तुत करने में उनकी पटुता अतुलनीय थी। 'महासंहार की तैयारी और हमारा कर्तव्य'[1] शीर्षक लेख में उन्होंने महायुद्धों से त्रस्त जनजीवन के प्रति करुणा प्रकट करते हुए विज्ञान का सही उपयोग करने की सलाह तथा आपसी द्वेष मिटाकर एक-दूसरे के हित-सम्पादन में लगने की प्रेरणा दी। 'हमारा पाप'[2] शीर्षक लेख में तथा-

१. कल्याण, १२.५।१०२६ २. वही, १५।७।१२६०

कथित साधु-महात्माओं की पोल खोली और समाज को ऐसे वंचक भक्तों से सावधान रहने की चेतावनी दी। मध्यकालीन संत-साहित्य में सतीप्रथा की अपार महिमा गायी गयी है। पति के परलोकवास के पश्चात् पत्नी भी प्राणेश्वर के साथ सती हो जाती थी। पोद्दारजी इसके महत्त्व को समझते थे, इसकी वंदना करते थे, किन्तु वर्तमान स्थिति में उन्होंने इसे व्यवहार्य नहीं माना। पति की मृत्यु पर स्वेच्छया या लोकलज्जावश अपनी देह अग्निदेव को समर्पित करने के बजाय दिवंगत आत्मा की सुख-शांति-हेतु पति-वियुक्ता विधवाओं के लिए शेष जीवन सादगी, वैराग्य तथा सहन-शीलता के साथ भगवच्चिंतन करते हुए बिता देना वे श्रेयस्कर समझते थे।[1]

पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा-पद्धति का भारत के नागरिक जीवन, विशेषकर नारी-समाज पर अधिक प्रभाव पड़ा है। नारी, जो श्रद्धा तथा लज्जा की साक्षात् मूर्ति मानी जाती थी, अपना स्वरूप विस्मृत कर पाश्चात्य रंग में रँग कर स्वातंत्र्य और समानाधिकार के लिए आन्दोलन पर उतर आयी। इस प्रवृत्ति के प्रसार में पोद्दारजी ने भारतीय संस्कृति का ही विनाश नहीं देखा, सामाजिक जीवन में भी अशान्ति तथा अव्यवस्था का प्रसार अवश्यंभावी माना। उनका दृढ़ विश्वास था कि समय रहते यदि इसके प्रचार की गति अवरुद्ध नहीं की जाती है तो देश के सांस्कृतिक गौरव का विशाल प्रासाद धराशायी हो जायगा। 'कल्याण' के 'नारी-अंक' में उन्होंने इस पर विचार किया। 'भारतीय गृहों से लुप्त होती हुई गृह-लक्ष्मियाँ'[2] तथा 'आज की सबसे बड़ी आवश्यकता'[3] शीर्षक लेख इसी भावना से प्रेरित होकर लिखे गये थे।

सम्पादक-जीवन में राजनीति से स्वयं दूर रहते हुए भी आज की राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार से दुःखी होकर पोद्दारजी को कलम उठानी पड़ी। जनतंत्र के दावेदारों को अनाचार तथा अत्याचार में आकंठमग्न देखकर उन्होंने ऐसे लोगों को प्रतिनिधि चुनकर भेजे जाने का विरोध किया।[4] 'नैतिक पतन और उससे बचने के उपाय'[5] शीर्षक लेख में आधुनिक जीवन की समस्याओं पर उन्होंने गंभीरता पूर्वक प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त सामयिक संदर्भों पर लिखे गये 'वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्तव्य'[6] 'स्वतंत्र भारत की भाषा'[7] 'आज का भ्रष्टाचार और उससे बचने के उपाय,'[8] 'यह विषमता कैसे दूर हो?'[9] 'चेतावनी',[10] 'वर्तमान गणतंत्र और मतदाताओं का कर्तव्य'[11] 'अनैतिकता का निराकरण'[12] 'हमारा देश किधर जा रहा

---

१. कल्याण, १५।१।१५७८-७९।
२. वही, २२।१।१२४
३. वही, २१।७।७२८
४. वही, १५।७।११९७
५. वही, २५।८।१२५३
६. वही, १८।८।९२६
७. वही २२।३।८९०
८. वही, २२।१२।१४९४
९. वही, २३।६।१०७१
१०. वही, २५।१२।१५११
११. वही, २५।१२।१५१६
१२. वही, २६।१०।१३६०

हैं ?'[१] 'सभ्यता से मदहोश हुए हम कहाँ जा रहे हैं ?'[२] 'समाजव्यापी पतन का निवारण'[3] शीर्षक कतिपय अन्य लेखों में उनकी संवेदनशीलता तथा सजग पत्रकारिताके दर्शन होते हैं।

सामग्री की उत्कृष्टता भी 'कल्याण' की लोकप्रियता में सहायक हुई। आरम्भ में लेख सम्बद्ध विषय के अधिकारी विद्वानों से माँगे जाते थे; किन्तु कालांतर में 'कल्याण' की प्रतिष्ठा स्थापित हो जाने के बाद पोद्दारजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से विद्वान् लेखकों ने स्वयं ही लेख भेजने आरम्भ कर दिये। प्रचार और विज्ञापन से दूर रहनेवाले साधकों, संतों तथा विद्वज्जनों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया गया। इस कारण पत्र का स्तर उत्तरोत्तर उन्नत होता गया। पोद्दारजी ने लेखकों से सहयोग प्राप्त करने के लिए अनेक माध्यम अपनाये—पत्र-व्यवहार, प्रत्यक्ष-सम्पर्क, प्रतिनिधियों द्वारा लेख प्राप्ति, घनिष्ठ परिचितों के सम्पर्क एवं प्रभाव का उपयोग आदि।

'कल्याण' की महत्त्वस्थापना में उसके विशेषांकों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। वे अपने विषय के विश्वकोश के रूप में समादृत हुए। सामान्य पाठकों से लेकर शोधार्थियों तथा विशेषज्ञों तक के लिए भी वे अमूल्य संदर्भ-ग्रन्थ प्रमाणित हुए। योगांक, शिवांक, शक्ति-अंक आज भी अप्रतिम तथा अक्षय ज्ञानकोष माने जाते हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अल्प मूल्य, त्रुटिरहित मुद्रण, साफ सुन्दर छपाई, सरल सुबोध शैली आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनका 'कल्याण' की लोकप्रियता में कम योगदान नहीं है। 'कल्याण' के अल्प मूल्य में वितरण के कई कारण थे—लेखकों को प्रायः पारिश्रमिक नहीं देना पड़ता था, धार्मिक संस्था होने के कारण गीताप्रेस सभी प्रकार के करों से मुक्त है, उसके कर्मचारी अन्य प्रेस कर्मचारियों की अपेक्षा कम वेतन पर और अधिक निष्ठा से काम करते हैं आदि।

त्रुटिरहित मुद्रण को भी उसके उत्कर्ष के विशिष्ट निमित्तरूप में ग्रहण किया जा सकता है। किसी भी प्रकार की अशुद्धि न रह जाय, पोद्दारजी इसका बराबर ध्यान रखते थे। इसीलिए तीन बार प्रूफ पढ़ा जाता था और तीन लोग उसे पढ़ते थे—पोद्दारजी, पं० चिम्मनलाल गोस्वामी एवं श्रीदुलीचंद दुजारी। उद्धरणों को संदर्भ ग्रंथों से मिलाया जाता था। यही कारण है कि 'कल्याण' का अपना एक स्तर बना और भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में इसने सर्वाधिक प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता प्राप्त की। 'कल्याण' की विषय-प्रतिपादन-शैली अत्यंत सरल एवं सुबोध होती थी।

'कल्याण' के व्यापक प्रचार में एक अन्य प्रमुख हेतु इसके आकर्षक चित्र भी हैं। चित्र अपने ढंग के अनोखे होते थे। पोद्दारजी चित्रों की भावना पुराणों

---

१. कल्याण, ३०।१०।१२७३
२. वही, ३९।५।९३४
३. वही, ३६।५।६४१।

एवं शास्त्रों में वर्णित देवी-देवताओं के स्वरूप एवं स्वानुभव के आधार पर देते थे और चित्रकार तूलिका से उसे आकार प्रदान करते थे। 'कल्याण' के चित्रकारों में श्रीदेवलालीकर, श्रीघासीराम शर्मा, श्रीजगन्नाथ, श्रीबिनयकुमार मित्र, श्रीभगवानदास आदि प्रमुख हैं। सबसे अधिक सहयोग श्रीविनयकुमार मित्र से प्राप्त हुआ। इनमें से अब केवल श्रीभगवानदास विद्यमान हैं, शेष सभी दिवंगत हो चुके हैं। 'कल्याण' के प्रकाशन के पूर्व पत्रिकाओं को चित्र से अलंकृत करने का प्रचलन बहुत कम था। गीताप्रेस के माध्यम से पोद्दारजी ने देव-चित्रों का व्यापक प्रचार किया। चित्रों के प्रयोग के पीछे उनकी अपनी कुछ मान्यताएँ थीं—निर्गुण ब्रह्म की साधना सबके लिए न तो ग्राह्य है और न सहज ही। साधना के लिए सगुण स्वरूप सहज है, किंतु उसके लिए आधार की आवश्यकता है। भगवान् के सगुण स्वरूप की रत्न, प्रस्तर, धातु या मूर्त्तियाँ सदा-सर्वदा सुलभ नहीं हैं। चित्र इस कमी की पूर्ति करते हैं। इसीलिए भगवान् के विभिन्न रूपों की प्रतिष्ठा चित्रों के माध्यम से की गयी है। 'कल्याण' में प्रकाशित चित्रों को लेकर पाठकों ने घर-घर 'देव-मन्दिर' स्थापित कर लिये।

चित्र-निर्माण में लोकहित तथा मर्यादा का विशेष ध्यान रखा गया। राम-कृष्ण के लोकरक्षक रूप की ही प्रतिष्ठा की गयी है। इसीलिए देवी के चित्र बने तो राक्षसों का वध करते हुए। यही कारण है कि कृष्ण की रासलीला पर अधिक चित्र नहीं बनवाये गये। चौबीस अवतारों के चित्र बनवाने के पीछे दृष्टिकोण यह था कि लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप उपास्य देव की आराधना के लिए चित्र चुन सकें। चित्रों में शक्ति, शील तथा सौन्दर्य—तीनों की प्रतिष्ठा पर दृष्टि रखी गयी। अधिकांश चित्रों का निर्माण विशेषांकों के लिए हुआ है। कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, एवं परलोक के प्रतिपादक प्रसंगों को चित्रों के द्वारा रूपापित किया गया है। मनुष्य को पापकर्म से विमुख करने के लिए ही नारकीय यंत्रणा के चित्र बनवाये गये हैं। भगवान् के विभिन्न स्वरूपों की एकता वाले प्रसंगों पर चित्रनिर्माण पोद्दारजी का मुख्य उद्देश्य था। राम-शिव-कृष्ण की एकता वाले प्रसंगों पर चित्रों का निर्माण इसी उद्देश्य से हुआ। चित्रों की रचना में भारतीय मर्यादा एवं परम्परा का पूरा ध्यान रखा गया है। देवी स्वरूपों—सीता, पार्वती, दुर्गा, राधा—आदि के चित्रों में यह ध्यान रखा गया है कि वे उद्दीपक न होकर मातृभाव की प्रतिष्ठा के साधक बन सकें तथा श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न कर सकें। इनके वस्त्राभूषण एवं भाव-भंगिमा का विधान इसी दृष्टिकोण से किया गया है। इस प्रकार साधक कलाकारों के सहयोग से गीताप्रेस की अपनी विशिष्ट चित्रशैली बनी, जिसे 'गीता-प्रेसशैली' की संज्ञा दी जा सकती है।

'कल्याण' के इस सम्मोहक वैशिष्ट्य के निर्माण में पोद्दारजी और उनके श्रद्धास्पद सेठ जयदयालजी गोयन्दका की जीवनव्यापी साधना और अध्यात्मशक्ति का प्रमुख

योगदान था। धार्मिक पत्रिकाएँ 'कल्याण' के पहले भी निकलीं और उसके समानान्तर भी प्रकाशित होती रहीं, किन्तु पत्रकारिता के क्षेत्र में जो प्रतिष्ठा तथा व्यापकता 'कल्याण' को मिली, वह न किसी पूर्ववर्ती पत्रिका को नसीब हुई और न कोई समकालीन पत्र ही उस स्तर तक पहुँच सका। मेरे विचार में इसका मुख्य कारण संपादक का दैवीशक्ति-सम्पन्न व्यक्तित्व था, जिसका संस्पर्श प्राप्त कर कागज के जड़ पन्ने अविरल भक्ति, अगाध-ज्ञान तथा अनिवर्चनीय-योग तत्त्व के संप्रेषक हो जाते थे। 'कल्याण' की प्रत्येक पंक्ति उनके अलौकिक जीवन-रस से सिंचित तथा सर्वहितकारिणी करुणा-भावना से आप्लावित रहती थी। वह विश्वरूप भगवान् की आराधना का प्रधान माध्यम बन गया—सम्पादक, लेखक तथा पाठक का पृथक् अस्तित्व जाता रहा—वे सबके हो गये और उनका आत्म-प्रकाश होने से 'कल्याण' सर्वजनपूज्य हो गया।

'कल्याण' का अवदान

'कल्याण' का प्रवर्तन उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में उस समय हुआ था, जब अंग्रेजी-राज्य भारतभूमि में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुका था और पाश्चात्य सभ्यता का शिक्षित वर्ग में व्यापक प्रसार हो चुका था। उसकी चमक-दमक से आक्रान्त तथा दिग्भ्रांत भारतीय जनमानस अपनी परम्परागत संस्कृति से पराङ्मुख हो पश्चिमी साँचे में ढलना ही जीवन का लक्ष्य मान बैठा था। भारतीय मनीषा के लिए यह संक्रमणकालीन अवस्था एक चुनौती थी। इसका सामना करने के लिए असाधारण व्यक्तित्व-सम्पन्न तथा उच्च आदर्शों से अनुप्राणित पत्र की आवश्यकता थी। 'कल्याण' के प्रकाशन से उस अभाव की पूर्ति हुई। उसके अध्यात्म-संवलित लेखों ने तत्कालीन जन-जीवन को एक नयी प्रेरणा दी। सभी प्रकार के प्रलोभनों तथा भय से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता और धार्मिकता के प्रसार के लक्ष्य की ओर 'कल्याण' दृढ़तापूर्वक अग्रसर होता रहा। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखों द्वारा जनता को सन्मार्गावलंबन की निरन्तर प्रेरणा देते रहने से वह एक सर्वप्रिय पत्र बन गया। धार्मिक एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता से सर्वथा शून्य होने के कारण सभी धर्मों एवं संप्रदायों के लोगों ने उसका आदर किया। गीता-प्रचार के कार्य में 'कल्याण' के प्रकाशन ने अभूतपूर्व सहयोग दिया। श्रीजयदयालजी गोयन्दका श्रीमद्भगवद्गीता का संदेश घर-घर पहुँचाकर जिस सात्त्विकता, आध्यात्मिकता का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे, उसे 'कल्याण' के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का दुष्कर कार्य पोद्दारजी ने किया।

चौवालीस वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक पोद्दारजी ने 'कल्याण' का सम्पादन किया। इस लम्बे समय में इसके माध्यम से अगणित देशवासी कल्याणामृत का पान कर भगवान की ओर उन्मुख हुए, जीवन के परमलक्ष्य भगवत्प्रेम की प्राप्ति का महत्त्व समझा और उसकी उपलब्धि के साधनों का ज्ञान प्राप्त किया। सहस्रों निराश व्यक्तियों को आशा, उत्साह तथा नवीन चेतना का वरदान मिला। पारस्परिक ईर्ष्या-

द्वेष से जर्जर कितने हृदयों में सौहार्द की ज्योति जगी, यह बताना कठिन है। मानव स्वभाव की महज दुर्बलताओं के समक्ष घुटने टेकनेवाले कितने गृहस्थ, विरक्त, बाल-युवा-वृद्ध भगवान की सौहार्दमयी करुणा का सहारा पाकर पापपंक ने निकलकर लोकपावन हो गये—कौन बता सकता है ? मात्र उनका अनुमान पोद्दारजी के संग्रह में सुरक्षित पत्रावली से लगाया जा सकता है।

'कल्याण' प्रकाशन से धार्मिक पत्रकारिता के क्षेत्र में नया अध्याय जुड़ा। अपने सम्पादन काल में पोद्दारजी ने चौवालीस विशेषांक प्रकाशित किये, जो विभिन्न विषयों से सम्बद्ध थे। इन विशेषांकों तथा साधारण अंकों के माध्यम से उन्होंने भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की स्मरणीय सेवा की। इस महान देश के सांस्कृतिक-रिक्थ की रक्षा का प्रयास 'कल्याण' के माध्यम से उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहा। गीताप्रेस द्वारा शिष्ट, सात्त्विक तथा धार्मिक साहित्य का संवर्द्धन और नाममात्र के मूल्य पर वितरण निश्चय ही एक अभूतपूर्व योजना थी। उनके द्वारा संगठित व्यवस्था से भारत का प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य विश्व के कोने-कोने में पहुँचा। 'कल्याण' के द्वारा उन्होंने प्राचीन भारतीय वैदिक वाङ्मय, तन्त्रशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि में निहित तत्वज्ञान तथा धर्माचार को विशेषज्ञों के लिए ही नहीं, सर्वसाधारण के लिए भी सुलभ कर दिया। भारत मतमतान्तरों और विचार-धाराओं की बहुलता का देश है। यहाँ एक विचारधारा यदि कर्म को महत्त्व देती है, तो दूसरी भक्ति को। कोई ज्ञान को ही परमार्थपथ का साधक मानता है, तो कोई मात्र योग को। इन सभी का उद्देश्य प्राचीन काल में ऋषियों द्वारा किये गये विविध आध्यात्मिक प्रयोगों से मनुष्य को अवगत कराना, संयम और साधना द्वारा परमतत्त्व के स्वरूप-बोध की क्षमता प्रदान करना और अन्ततोगत्वा महान् सत्य की प्राप्ति कराना है। यह दृष्टिकोण सभी विचारधाराओं में समान रूप से ग्राह्य है और यही वेदान्त का महान संदेश है, जिसे प्रचारित करना 'कल्याण' का मुख्य उद्देश्य रहा है। पाठकों के आध्यात्मिक विकास के साथ ही उनके व्यावहारिक जीवन के परिष्कार की ओर भी 'कल्याण'-सम्पादक की दृष्टि रही। पाश्चात्य जोवन पद्धति के अन्धानुसरण की प्रवृत्ति की उन्होंने तीव्र आलोचना की और उसके कुप्रभावों के निदर्शन के लिए प्रचुर लेख प्रकाशित किये। इससे सांस्कृतिक नवचेतना और आर्य संस्कृति के विकास तथा भारतीय धर्म-दर्शन के लोक-व्यापी प्रचार में अपूर्व योगदान प्राप्त हुआ।

पत्रकारिता एवं लेखन जगत् में पोद्दारजी ने जो कीर्तिमान स्थापित किया, वह अदृष्टपूर्व तथा अतुलनीय था। 'कल्याण' जैसे सुरुचिपूर्ण, सद्भाव तथा धर्म-प्रधान पत्र का निष्ठापूर्वक सम्पादन कर उन्होंने जो ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त की, वह अविस्मरणीय है। उन्होंने धर्मग्लानिग्रस्त समाज में धर्म के प्रति नयी चेतना और नया उत्साह उत्पन्न किया। लोकोत्थान का यह परम पुनीत अनुष्ठान उन्होंने

सन्तों, विद्वानों तथा साधकों का सक्रिय योगदान लेकर पूरा किया। उनके अथक प्रयास से 'कल्याण' मातृभूमि के अंचल में फैले सुदूरवर्ती गाँवों और नगरों में रहने वाली धार्मिक जनता की श्रद्धा, आस्था और भगवद्भक्ति-साधना का प्रधान स्रोत बन गया। देश के ग्रामवासी अर्द्धशिक्षित किसानों तथा नगर के कोलाहलपूर्ण जीवन में कालयापन करनेवाले सुशिक्षित नागरिकों के लिए समान रूप से अध्यात्म तथा सदाचार-शिक्षा का वह सबल माध्यम बन गया। उनके सम्पादकत्व में १९२६ ई० से १९७० ई० तक 'कल्याण' के जो मासिक अंक तथा विशेषांक प्रकाशित हुए, उनका आकार-प्रकार तथा प्रतिपाद्य एक विराट् योजना और विराट् मानस का साक्षात्कार कराता है। पोद्दारजी के हृदय में पुराणों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। 'कल्याण' के विशेषांकों के रूप में पुराणों के सस्ते और प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर उन्होंने लोकशिक्षा की सुदृढ़ आधारभूमि निर्मित की। दुर्लभ पुराणों की खोज और उनका हिन्दी-टीकासहित प्रकाशन उनके-जैसा निष्ठासम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता था। वे पुराणों को वेदोपनिषदों की भाँति ही प्रामाणिक मानते थे। पुराणों में वर्णित लौकिक-अलौकिक घटनाओं की सत्यता में आस्था रखते हुए वे उनकी ऐतिहासिकता में रंच-मात्र भी सन्देह नहीं करते थे। ज्ञान-विज्ञान के अक्षय-कोश तथा धर्माचरण के प्रेरणा-स्रोत के रूप में उनकी अस्मिता उन्हें स्वीकार्य थी।

प्राचीन वाङ्मय के पुनरुद्धार तथा प्रचार के साथ ही पोद्दारजी ने 'विशेषाङ्कों' के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं धर्मसाधना के आधारभूत तत्वों के पुनराख्यान का भी प्रयास किया। 'धर्मांक', 'उपासनांक', 'परलोक और पुनर्जन्मांक' की योजना इसी उद्देश्य से हुई। समसामयिक समस्याओं को ध्यान में रखकर 'गो', 'नारी' और 'बालक' विशेषांक निकाले गये। इनमें आध्यात्मिक के साथ ही व्यावहारिक दृष्टि को भी महत्त्व दिया गया, जिससे देश के सामाजिक तथा आर्थिक विकास में संलग्न सरकारी तथा निजी संस्थाओं एवं व्यक्तियों को भी अपेक्षित दिशानिर्देश प्राप्त हो सके।

अध्यात्मनिष्ठ पाठकों के परितोष के लिए 'वेदांतांक, 'साधनांक,' 'उपनिषदांक' एवं 'योगवाशिष्ठांक' जैसे विशेषांकों में साधना एवं दर्शन के निगूढ़ तत्त्वों को सरल सुबोध भाषा में प्रस्तुत कर साधकों की जिज्ञासानिवृत्ति का प्रयास किया गया,

इस प्रकार पोद्दारजी ने 'कल्याण' के द्वारा भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों को प्रकाश में लाकर हिन्दूदर्शन तथा जीवनपद्धति का यथार्थ स्वरूप विश्व के सामने रखा, जिससे उसके प्रति फैली हुई अनेक भ्रांतियों का निराकरण हुआ और इतर धर्मावलम्बियों की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। पत्रकारिता के सहारे इतने बड़े लक्ष्य की सिद्धि अपने आप में एक कल्पनातीत उपलब्धि थी।

गीताप्रेस : स्थापना एवं विकास

'कल्याण' की ही भाँति उसकी मुद्रण एवं प्रकाशनस्थली 'गीताप्रेस' का भी हिन्दी-मुद्रणालयों की गौरवमयी परम्परा में विशिष्ट स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी स्थापना 'कल्याण' के आविर्भाव के कुछ वर्ष पूर्व 'गोविन्द-भवन-न्यास,' कलकत्ता के तत्त्वावधान में हुई थी। इस योजना का सूत्रपात कब और कैसे हुआ—इसकी अपनी एक अलग कहानी है।

इस विश्वविश्रुत प्रतिष्ठान के आदिस्वप्नद्रष्टा सेठ जयदयालजी गोयंदका राजस्थान प्रदेशान्तर्गत चुरू नामक स्थान के निवासी थे। व्यवसाय के लिए वे जन्मभूमि छोड़-कर बाँकुड़ा (पश्चिमी बंगाल) चले गये थे। वहाँ आरम्भ में अपने मामा श्रीनाहरमल बाजोरिया के साझे में व्यापार चलाया। बाद में अपनी अलग दूकान खोल ली। वे मुख्यतः सूत, मिट्टी का तेल, कपड़ा, बर्तन, चीनी, रंग आदि बेचने का काम करते थे। व्यवसाय के सिलसिले में वे चक्रधरपुर, सीतामढ़ी आदि नगरों में जाया करते थे। व्यापार में वे 'सही भाव' तथा 'सही तौल' के लिए प्रसिद्ध थे। दीन-दुखियों की सेवा-सहायता में सदैव दत्तचित्त रहते थे। इससे व्यापारियों में ही नहीं, जनसाधारण में भी उनके आध्यात्मिक स्वभाव एवं सदाचरण की प्रसिद्धि हो गयी थी।

गीता में सेठजी की बाल्यावस्था से ही अपार निष्ठा थी। उसका नियमित रूप से पाठ करते-करते सहसा एक दिन उन्हें दिव्यज्योति के दर्शन हुए। उसी प्रकाश ने उन्हें साधना का पथ दिखलाया तथा सिद्धि का द्वार उन्मुक्त कर दिया। जिस साधन तथा तत्त्वचिंतन से जीवन में सौरभ का प्रसार हुआ, हृदय में शांति का संचार हुआ; तन-मन में दिव्यता आयी तथा अज्ञानांधकार का नाश हुआ, वह सौरभ, वह शांति, वह दिव्यता और वह ज्ञान जन-जन को मिले, इस मंगल-कामना ने ही गोयंदकाजी को गीता-प्रचार को अपना जीवन-लक्ष्य बनाने की प्रेरणा दी।

गीता-प्रचार की उनकी इस भावना को उद्दीप्त करने में एक घटना से घृता-हुति का काम किया। गीता का स्वाध्याय करते-करते एक दिन उसके अठारहवें अध्याय के निम्नांकित दो श्लोकों (६८-६९) पर उनकी दृष्टि सहसा ठहर गयी—

> य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
> भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
> न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
> भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझमें परमप्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे

भक्तों में कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वी भर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय कोई दूसरा होगा भी नहीं'।

इस घटना के बाद उनका सर्वस्व गीताप्रचार के लिए अर्पित हो गया।

गीता के प्रकाश में साधना के सोपानों को पार करते-करते कुछ वर्षों बाद एक दूसरी घटना घटी। गोयंदकाजो को भगवान् विष्णु का साक्षात्कार प्राप्त हुआ। उस समय उन्हें भगवान का स्पष्ट आदेश इन शब्दों में मिला—'मेरी वाणी गीता का प्रचार करो।' इससे उन्हें यह तथ्य हृदयंगम हो गया कि गीता-प्रचार का कार्य भगवान का कार्य है। अतः वे उसके संपादन में तन-मन-धन से जुट गये।

जहाँ कहीं भी वे जाते, व्यापार के कार्यों से छुट्टी पाने पर मित्रों, परिचितों तथा स्वजनों को गीतोक्त निष्काम-कर्मयोग का उपदेश करते और उन्हें गीता पढ़ने की प्रेरणा देते। धीरे-धीरे व्यापार गौण होता गया, उसका स्थान गीतानुमोदित सत्संग-मनन, ध्यान-ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य-चर्चा ने ले लिया।

व्यापार के सिलसिले में सेठजी प्रायः कलकत्ता जाया करते थे। सत्संग का कार्यक्रम वहाँ भी आयोजित होता था। सत्संग-स्थल किसी घनिष्ठ परिचित का घर या दूकान होता था। धीरे-धीरे सत्संगियों की संख्या बढ़ने लगी। अतः उसके निमित्त 'ईडेन-गार्डेन' के पीछे किले का समीपवर्ती स्थान चुना गया। किन्तु कालान्तर में सत्संगियों की संख्यावृद्धि से यह स्थान छोटा पड़ने लगा और अन्य व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। बहुत खोजने के बाद एक सुविधाजनक मकान मिल गया। यह बाँस-तल्ला गली में बिड़ला बंधुओं के गोदाम के समीप स्थित था। इसे किराये पर लेकर 'गोविंद-भवन' की संज्ञा दी गयी। यह व्यवस्था सं० १९७९ वि० (सन् १९२२ ई०) के पूर्व हो चुकी थी।

इसके बाद 'गोविन्द-भवन' कलकत्ता में सेठजी के सत्संग का प्रधान केन्द्र हो गया। वे जब भी कलकत्ता आते, सत्संगियों तथा साधकों में उत्साह की लहर दौड़ जाती। उनकी सन्निधि में सैकड़ों जिज्ञासु ध्यान का अभ्यास करते, नियिमित रूप से नाम-जप होता और गीता पर आधृत प्रवचन का पुरोगम चलता। सेठजी भगवान् के निर्गुण तथ सगुण रूप को समान महत्त्व देते थे। परमलक्ष्य की प्राप्ति में ज्ञान, निष्काम-कर्म तथा भक्तियुक्त कर्म, तीनों की महत्ता साधक की रुचि एवं सामर्थ्य के अनुसार उन्हें स्वीकार्य थी।

कालान्तर में सेठजी के सत्प्रयास से उत्तरी-भारत में गीता पर आधृत सत्संग-समितियों का एक जाल-सा बिछ गया और उसके परिणामस्वरूप साधकों का एक समूह-सा खड़ा हो गया, जो गोयंदकाजी द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर जीवन को सफल

बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता। इन सभी को स्वाध्याय के लिए गीता की आवश्यकता हुई, किन्तु उस समय सही अर्थ तथा शुद्ध पाठ की गीता सुलभ नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति के लिए गोयंदकाजी की प्रेरणा से गोविन्दभवन ने वणिक-प्रेस, कलकत्ता द्वारा पाँच हजार प्रतियाँ मुद्रित करायीं। सत्संग-समितियों की व्यापक माँग से यह प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। छः हजार प्रतियों के दूसरे संस्करण का पुनर्मुद्रण हुआ। इस प्रकार गोविन्द-भवन ने गीता की कुल ११ हजार प्रतियाँ छपवायीं, किन्तु उनका स्तर गोयंदकाजी के मनोनुकूल नहीं था। लाख प्रयत्न करने पर भी अर्थ तथा पाठ की भूलों से पिंड नहीं छूटा। प्रेस की अव्यवस्था तथा कार्यकर्ताओं की अक्षमता ही इसका मूल कारण है, ऐसा उन्होंने महसूस किया। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने अपना एक अलग प्रेस स्थापित करने का संकल्प किया।

प्रश्न उठा कि प्रेस खोला कहाँ जाय? उस समय गोयंदकाजी के एक घनिष्ठ सम्बन्धी तथा स्नेहभाजन श्रीघनश्यामदास जालान वहाँ उपस्थित थे। ये गोरखपुर के निवासी थे। उन्होंने अपने यहाँ प्रेस खोलने का सुझाव इस प्रस्ताव के साथ रखा कि वे तथा उनके साझीदार श्रीमहावीरप्रसाद पोद्दार दोनों मिलकर प्रेस का काम सँभाल लेंगे। घनश्यामदासजी की गोयंदकाजी में गहरी आस्था थी। उनका जीवन भी साधना-निष्ठ था। उन दिनों गोविन्द-भवन, कलकत्ता से गीता मँगवाकर वे गोरखपुर में उसके विक्रय की व्यवस्था करते थे। गोरखपुर लौटकर वे इस योजना को व्यावहारिक रूप प्रदान करने में लग गये। इसके लिए उर्दू बाजार (वर्तमान हिन्दी बाजार) में एक छोटा-सा मकान १० रुपये मासिक पर लिया गया। कलकत्ता से मँगायी जानेवाली गीता की प्रतियाँ बेचने के लिए पं० सभापति मिश्र नामक व्यक्ति की नियुक्ति हुई, जिनका कार्य था गीता की पुस्तक बेचना तथा गाँव-गाँव जाकर विद्यालयों, मंदिरों, तथा संस्कृत-पाठशालाओं में गीता का प्रचार करना। जो बालक या विद्यार्थी एक अध्याय गीता कंठ करके सुना देता, उसे श्रीघनश्यामदास जालान आठ आना पुरस्कार देते थे। इस प्रकार गीता-प्रचार का कार्य चलने लगा। श्रीमहावीरप्रसाद पोद्दार को मुद्रण का कुछ अनुभव था। अतः प्रेस की व्यवस्था होने पर उन्होंने तत्सम्बन्धी कार्यभार और उसके हिसाब-किताब को सँभालने का आश्वासन दिया। इस प्रकार अपेक्षित प्रबंध होने पर सेठजी को पत्र के द्वारा अवगत करा दिया गया। उन्होंने गोरखपुर में प्रेस खोलने की सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी।

सं० १९८० वि० वैशाख शुक्ल १३, रविवार (२९ अप्रैल, १९२३ ई०) को गोरखपुर में प्रेस की स्थापना हुई और उसका नाम रखा गया 'गीताप्रेस'। उसके संचालन के लिए सर्वप्रथम सं० १९८० वि० भाद्र शुक्ल पूर्णिमा, सोमवार (२४ सितम्बर, १९२३ ई०) को हैण्डप्रेस प्रिंटिंग मशीन ६००) रुपये में खरीदी गयी।

श्रीघनश्यामदास जालान ने कलकत्ता से टाइप तथा टाइप के केस खरीद कर गोरखपुर भेज दिये। उर्दू-बाजार के जिस मकान में गोविन्दभवन, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित एवं प्रेषित गीता की बिक्री होती थी, उसी के पिछले भाग में हैण्डप्रेस मशीन बैठायी गयी तथा कम्पोजिंग विभाग रखा गया।

हैण्डप्रेस से अच्छी छपाई नहीं हो सकती थी। बहुत ही कुशल मशीनमैन दो व्यक्तियों की सहायता से एक घंटे में १००० पन्ने छाप सकता था। अतः प्रकाश्य सामग्री को अपने कंपोजिंग विभाग में कंपोज करके रायगंज मुहल्ले में स्थित 'भारत-प्रकाश-प्रिंटिंग-प्रेस' में छपवाया जाता था। छपाई विषयक इस अभाव की पूर्ति एक बड़ी मशीन बैठाने से ही हो सकती थी। अतः सं० १९८० वि० आश्विन शुक्ल १३, सोमवार (२२ अक्तूबर, सन् १९२३) को सबसे पहले एक ट्रेडिल मशीन दो हजार रुपये में खरीदी गयी और उसे उर्दू-बाजार के मकान में लगाया गया। बाद में इससे भी कार्य में समुचित प्रगति होते न देखकर सं० १९८० पौष शुक्ल ४, गुरुवार (१० जनवरी, सन् १९२४ ई०) को लगभग सात हजार रुपयों की २२ × ३० इञ्च साइज की (पेन फ्लैट-बेड सिलिंडर मशीन) बड़ी मशीन खरीदी गयी। कंपोजिंग-विभाग का भी विस्तार किया गया। इससे गीता के मुद्रण तथा प्रकाशन में बड़ी सुविधा हो गयी। अब गीता के अनेक प्रकार के छोटे-बड़े संस्करणों के अतिरिक्त गोयंदकाजी की पुस्तकों का भी प्रकाशन होने लगा।

गीताप्रेस का वर्तमान स्थान पर स्थानान्तरण

उर्दूबाजार के जिस मकान में गीताप्रेस स्थित था, वह बहुत छोटा था। कार्य की विस्तृत योजना तथा प्रगति को देखते हुए एक बड़े मकान की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसकी खोज की दिशा में विचार किया जाने लगा। भगवत्कृपा से अल्प-प्रयास से ही कानपुरवासी श्रीनिवास नाम के एक महानुभाव से, जो रैली एंड ब्रदर्स के यहाँ काम करते थे, वर्तमान गीताप्रेस का पूर्वी भाग खरीदा गया। उस समय तो इस मकान को आवश्यकता से अधिक बड़ा बता कर कुछ लोगों ने असहमति व्यक्त की, किन्तु बाद में प्रेस की विकास की संभावना पर सभी सहमत हो गये और इसे सं० १९८३ वि० आषाढ़ शुक्ल २, सोमवार (१२ जुलाई, १९२६ ई०) को खरीद लिया गया। कुछ धन और लगाकर मकान को अपनी सुविधानुकूल सुधरवा लिया गया। इस कार्य के लिए गीताप्रेस ने गोविन्दभवन-न्यास से रुपये उधार लिये। मकान की मरम्मत हो जाने पर उर्दू-बाजार वाले पुराने स्थान से गीताप्रेस अपने नये भवन में आ गया। खरीदते समय बड़ा लगने वाला मकान ज्यों-ज्यों कार्य विस्तृत होता गया, छोटा लगने लगा। अतः कालान्तर में उसी मकान के बगल में और भी जमीन खरीदी गयी। उसमें प्रेस के लिए बड़े-बड़े हाल बनवाये गये। गीता-प्रेस के मुद्रण, प्रकाशन तथा विक्रय विभाग की पूरी व्यवस्था हो जाने पर धार्मिक

पुस्तकों के अतिरिक्त 'कल्याण' तथा 'कल्याण-कल्पतरु' का प्रकाशन भी यहीं से होने लगा।

गीताप्रेस का मुद्रण विभाग

जिस गीताप्रेस का आरम्भ एक छोटे-से हैण्डप्रेस और ट्रेडिल मशीन से हुआ था, वह आज भारत का एक प्रमुख मुद्रणालय है। उसके कई विभाग हैं। उनमें मुख्य हैं—छपाई विभाग, दफ्तरी विभाग, ढलाई विभाग, कम्पोजिंग विभाग और कार्य-शाला (वर्कशाप)।

छपाई विभाग

इस विभाग में १८ बड़ी तथा तीन छोटी मशीनें हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१८ फ्लैटबेड मशीन (२०" × ३०" तथा २२" × ३०")

२ ट्रेडिल मशीन, डिमाई फोलियो साइज कागज छापने वाली।

१ ट्रेडिल मशीन, क्राउन साइज, १६ पेजी, कागज छापने वाली।

दफ्तरी विभाग

इस विभाग में छपे फर्मों को मोड़कर, सिलकर, काटकर और जिल्द बाँधकर पुस्तक का रूप दिया जाता है। इसमें कार्यरत मशीनों का विवरण इस प्रकार है—

(क) फोल्डिंग मशीन १; जो आठ घंटे में 'कल्याण' के कम-से-कम ४४,००० आठपेजी फर्मों की मोड़ाई कर सकती हैं।

(ख) सिलाई मशीन—तार से सिलाई करने वाली ११ मशीनें हैं, १० पैर
से चलती हैं और १ बिजली से। 'कल्याण' और पुस्तकों की सिलाई करने में इनका
उपयोग होता है। धागे से जुज़ की सिलाई के लिए दो पुस्तक सिलने वाली मशीनें हैं,
जो आठ घंटे में $\frac{२० \times ३०}{३२}$ पेजी गुटका रामायण के ११००० फर्मों की जुज़-सिलाई
कर सकती हैं।

(ग) कटिंग मशीन—कागज काटने के लिए क्रमशः ३३", ३४", ३६"
और ४२" की चार कटिंग मशीनें हैं, जो बिजली से चालित हैं। एक कार्ड-बोर्ड-
कटिंग मशीन है, जिससे दफ्ती की कटाई होती है।

(घ) ब्लेड शार्पेनिंग मशीन—कटिंग मशीन की छुरियों पर धार देने के लिए एक शार्पेनिंग मशीन भी है।

दफ्तरी विभाग की उपर्युक्त मशीनों की तालिका इस प्रकार है—

१. पेपर फोल्डिंग मशीन	२
२. पैर से चालित तार, सिलाई मशीन	१०
३. बिजली से चालित तार-सिलाई मशीन	१
४. जुज़ सिलाई मशीन	२
५. पेपर कटिंग मशीन	४
६. कार्डबोर्ड कटिंग मशीन	१
७. ब्लेडशार्पेनिंग मशीन	१

ढलाई विभाग

इसमें ६ टाइप ढलाई मशीनें हैं, जिनसे टाइप की ढलाई होती है। 'कल्याण' के मासिक अंक तथा वार्षिक विशेषांक की छपाई लगभग एक लाख सत्तर हज़ार होती है। इसी प्रकार गीता और रामायण भी लाखों की संख्या में छपती हैं। इनकी छपाई में एक बार प्रयुक्त होने के बाद टाइप फिर काम लायक नहीं रह जाते, अतः गलाने के लिए भेज दिये जाते हैं। नयी कम्पोजिंग के लिए नये टाइप काम में लाये जाते हैं। इस आवश्यकता की पूर्ति गीताप्रेस के ढलाई विभाग द्वारा होती है।

कम्पोजिंग विभाग

गीताप्रेस की इस विराट मुद्रण व्यवस्था के बावजूद 'कल्याण' एवं धार्मिक पुस्तकों की निरन्तर बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में उसकी अक्षमता को देखते हुए उसके द्वारा अब तक मोनो टाइप या लाइनो-टाइप कम्पोजिंग मशीन खरीदने में प्रदर्शित उदासीनता निश्चय ही आश्चर्यजनक है। यहाँ अब भी टाइप कास्टिंग मशीन से तैयार किये हुए टाइप से हैण्ड-कम्पोजिंग होती है। इसके पीछे भी महात्मा गांधी द्वारा प्रदत्त परामर्श ही मुख्य हेतु है। काम के लिए मशीन का प्रयोग जितना अधिक होता है, बेकारी उतनी ही अधिक बढ़ती है। इसीलिए गांधीजी ने हैण्ड-कम्पोजिंग को वरीयता देने की राय दी थी, जिससे अधिक से अधिक लोगों को काम मिल सके। किन्तु गीताप्रेस के वर्तमान विकसित रूप को देखते हुए लोक-कल्याण के लिए ही अब मोनो-टाइप कम्पोजिंग मशीन की नितान्त आवश्यकता है।

गीताप्रेस कम्पोजिंग विभाग का किंचित् अनुमान निम्नलिखित आँकड़ों से लगाया जा सकता है—

१. टाइप रखने के केसों की संख्या २००० से अधिक।
२. लोहे की, काठ की, छोटी बड़ी सब गैलियों की संख्या ५०० से अधिक।
३. कोटेशन, लेड, बार्डर, टम आदि १६० मन से अधिक।
४. स्पेस, क्वार्ड ६० मन से अधिक।

५. हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती के १२५ प्रकार के टाइप १६६० मन से अधिक हैं।

कार्यशाला

मशीनों के विशाल परिवार की सँभाल-सुधार के लिए कार्यशाला का प्रबंध अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। गीताप्रेस की कार्यशाला यह दायित्व बड़ी तत्परता तथा कुशलता से वहन करती है। यह कार्य निम्नलिखित मशीनों द्वारा सम्पन्न होता है—

१. मिलिंग मशीन	१
२. शेपिंग मशीन	१
३. ड्रिलिंग मशीन बड़ी	१
४. ड्रिलिंग मशीन छोटी	१
५. प्लेनिंग मशीन	१
६. लेथ छोटी मशीन	१
७. लेथ बड़ी मशीन	१
८. शान मशीन	१

संचालन-सहयोग

महान् कार्य की सफलता के लिए तीन बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं—कुशल नेतृत्व, सच्चे सहयोगी और अनुकूल परिस्थिति। कुशल नेतृत्व और सच्चे सहयोगी मिलने पर परिस्थितियाँ स्वतः अनुकूल हो जाती हैं। गीताप्रेस को श्रीजयदयाल गोयन्दकाजी एवं पोद्दारजी-जैसे आध्यात्मिक सत्पुरुषों का संरक्षण तथा स्नेहपूर्ण पथ-प्रदर्शन प्राप्त होने के साथ ही कतिपय श्रीघनश्यामदास जालान, श्रीशुकदेव बाबू, श्रीगंगा प्रसाद अग्रवाल, पं० लादूरामजी ऐसे समर्पणशील सहयोगियों की भी सेवाएँ अनायास उपलब्ध हो गयीं, जिन्होंने अपने जीवन की सम्पूर्ण साधना का एकमात्र लक्ष्य इस महदनुष्ठान की सफलता को मान लिया था। गोयन्दकाजी तथा पोद्दारजी की छत्रछाया में इन्होंने 'कल्याण' तथा गीताप्रेस की जैसी निष्काम-सेवा की, वह अपने आप में एक आदर्श थी। नाम-यश की कामना से विरत रहकर ये आजीवन एकनिष्ठभाव से कर्तव्य-पालन करते रहे। अर्थ और अधिकार-लिप्सा के इस युग में इतने समर्पित कर्मयोगियों का एक साथ प्राकट्य और सहयोगदान अवश्य ही एक अलौकिक व्यापार था। इनमें से कुछ विशिष्ट लोगों का यथोपलब्ध जीवन-परिचय नीचे दिया जाता है—

घनश्यामदास जालान

श्रीघनश्यामदास जालान गीताप्रेस के उन प्रवर्तक कार्यकर्ताओं में से एक हैं, जिनके अथक प्रयास ने ही इसे वर्तमान स्थिति तक पहुँचाया। उनका मुख्य लक्ष्य श्रीजयदयाल गोयन्दका की वाणी का प्रचार करना था। सेठजी के प्रवचनों और पत्रों को लिपिबद्ध करना, पत्रों की फोटोप्रिंट प्रति तैयार करवाना, इनके दैनिक जीवन का आवश्यक अंग था।

इनका जन्म सन् १८८१ ई० में गोरखपुर नगर के साहबगंज मुहल्ले में हुआ था। पिता का नाम श्रीपृथ्वीराज एवं माता का नाम श्रीमती हरदेई बाई था। उनके पितामह जयनारायणजी मूलतः राजस्थान के निवासी थे।

भगवद्भक्ति एवं सेवाभावना के संस्कार इन्हें रिक्थ के रूप में प्राप्त हुए थे। इनके पिता भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। श्रीघनश्यामदास ने किसी प्रकार की विद्यालयीय शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। इन्हें जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह सत्संग तथा जीवन के गम्भीर जीवनानुभव का ही परिणाम था। हिसाब-किताब की पटुता के लिए व्यापारिक क्षेत्र में ये विख्यात थे। इनकी यह दक्षता भविष्य में गीताप्रेस के लिए एक वरदान बन गयी।

इनका विवाह सं० १९६३ वि० में सुश्रीवसन्तीदेवी के साथ हुआ। वे भी धर्मपरायण थीं और इनके धार्मिक अनुष्ठानों में सतत सहयोगिनी रहीं।

सेठ जयदयालजी गोयन्दका के सम्पर्क से इनके व्यक्तित्व को एक नयी दिशा मिली। सेठजी के मृदुल व्यवहार, आचारनिष्ठा तथा उच्च आध्यात्मिक स्थिति से प्रभावित होकर इन्होंने उनके चरणों में अपने को समर्पित कर दिया। इसके पश्चात् सेठजी के सपनों को साकार करना इनके जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया। जब गीता-प्रचार हेतु प्रेस की स्थापना की समस्या उठी तो इन्होंने उसके लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कर गोरखपुर में प्रेस खोलने और उसकी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने का जो साहसपूर्ण कदम उठाया, वह इनकी सेठजी में अनन्य निष्ठा तथा अंतर्निहित धार्मिक संस्कारों की प्रेरणा का ही प्रतिफल था। अमुक पुस्तक में कितना डोरा, कितना कागज, कितना पारिश्रमिक लगेगा, इसका लेखा ये मिनटों में जबानी जोड़-भाग से बता देते थे। 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या, 'कल्याण' के विशेषांकों तथा कागज का स्टाक आदि बातें इनकी जिह्वा पर रहती थीं। आश्चर्यजनक सस्ते मूल्य पर गीताप्रेस की धार्मिक पुस्तकें सुलभ कराने में इनकी तत्परता तथा व्यापारिक विशेषज्ञता का मुख्य योगदान रहा है। इस वैशिष्ट्य के कारण ही ये गीताप्रेस के आजीवन मुद्रक और प्रकाशक बने रहे। सहानुभूति तथा सद्व्यवहार के कारण गीताप्रेस के कर्मचारियों का इन्हें पर्याप्त आदर तथा विश्वास प्राप्त था। इससे प्रेस का काम सफलता से सम्पन्न होता रहा।

गीताप्रेस के द्वारा आस्तिकता, सात्त्विकता, भारतीय संस्कृति, दैवी सम्पदा आदि जिन मूल्यों का प्रचार-प्रसार हुआ, उन्हें यथासम्भव अपने जीवन में उतारने का ये सतत प्रयास करते रहे। भोजन में तीन ही वस्तुओं का सेवन, घर में कूपजल और यात्रा में गंगाजल के प्रयोग, हस्तनिर्मित वस्त्र तथा चर्मरहित जूते के उपयोग, आत्मसंयम तथा नियमित संध्योपासना में ये गोयन्दकाजी के सच्चे अनुयायी थे। अध्यात्म-साधना की भाँति ही समाजसेवा में भी इनकी गहरी रुचि थी। जब कभी समाज पर दैवी संकट आया, ये तन-मन-धन से विपद्ग्रस्त जनों की सेवा में लग गये। गीताप्रेस द्वारा संचालित सेवा-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में, चाहे वह राजस्थान में छः मास रहकर अकाल पीड़ितों की सहायता हो अथवा गोरखपुर जिले के भयंकर बाढ़ में त्रस्त जीवों की रक्षा, ये सदैव आगे रहे। कितने असहाय बालक-बालिकाओं का भोजन-वस्त्र से पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, आश्रयहीन कन्याओं के विवाह आदि कृत्य इनके द्वारा सम्पन्न हुए होंगे, इसका अनुमान लगाना कठिन है।

परिणतवय में शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद इनकी मानसिक स्थिति आनन्दपूर्ण बनी रही। अन्तिम दिनों में ये ऋषिकेश चले गये थे। वहीं गोयन्दकाजी के सान्निध्य में गीताभवन के सामने गंगा-तटपर २४ मई सन् १९५८ को इन्होंने प्राण विसर्जित किया।

श्रीसुखदेव अग्रवाल

गीताप्रेस को छोटी-सी संस्था से उठाकर विशाल संस्थान का रूप देने वालों में श्रीसुखदेव अग्रवाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सेठ जयदयालजी गोयन्दका की इन्हें अपार कृपा तथा विश्वास प्राप्त था। इनके निरभिमान, सरल, कर्तव्यपरायण तथा उत्साही व्यक्तित्व ने गीताप्रेस के इतिहास में अभ्युदय का एक नया अध्याय जोड़ा। अपनी चारित्रिक दृढ़ता, कार्यदक्षता और अल्प समय में अधिक कार्य निपटाने की क्षमता के कारण ये गीताप्रेस की व्यवस्था के केन्द्रविन्दु बन गये। अनोखी सूझ, व्यावसायिक बुद्धि तथा धन के क्रमिक एवं त्वरित विनियोग-पद्धति की विशेषज्ञता से इन्होंने गीताप्रेस की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में स्मरणीय सेवाएँ कीं।

इनका जन्म सम्भवतः १९०० ई० में बरार (आंध्र प्रदेश) के एक छोटे से ग्राम में हुआ था। पिता का नाम श्रीनन्दराम था। वे साधारण व्यापारी थे। दुर्भाग्यवश जब सुखदेवजी चार-पाँच वर्ष के ही थे, पिता का निधन हो गया। माता ने बड़ी कठिनाई से पालन-पोषण किया। आर्थिक विपन्नता के कारण ही इनकी शिक्षा महाजनी हिसाब-किताब, हिन्दी तथा अंग्रेजी के सामान्य परिचय तक सीमित रह गयी। माताजी सात्विक और धार्मिक विचारों की थीं। बालक सुखदेव पर उनकी पूरी छाप पड़ी।

अर्थाभाव तथा जगत से स्वाभाविक उपरामता के कारण इन्होंने वयस्क होने पर विवाह का प्रस्ताव ठुकरा दिया और आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया। स्वस्थ शरीर, गौर वर्ण, उन्नत ललाट और तेजपूर्ण मुखमण्डल इनके अखण्ड ब्रह्मचर्य का प्रमाण था।

युवावस्था में माता तथा मामा के आग्रह से ये उनकी व्यापारिक आवासभूमि आसाम चले गये। वहाँ तिनसुकिया में सर्वश्री सनेहीराम-डूँगरमल फर्म में मुनीमी का कार्य करने लगे। उन्हीं दिनों आरा (बिहार) की भयंकर बाढ़ से देश का पूर्वाञ्चल शोकमग्न हो गया। ऐसी विषम परिस्थिति में सहायता के लिए सेठजी ने गोविन्द-भवन, कलकत्ता में आयोजित एक महती सभा में समुपस्थित लोगों को स्वयंसेवक के रूप में बिहार जाने के लिए नाम देने का अनुरोध किया। सुखदेवजी ने फर्म के मालिक श्री डूँगरमलजी से आज्ञा लेकर स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखा दिया। बाढ़-सेवा-कार्य तन्मयता से सम्पन्न कर ये पुनः तिनसुकिया लौट गये।

गोयन्दकाजी आरा की बाढ़ में इनकी कर्मठता, लगन, उत्साह और सेवा-भावना देखकर मन्त्रमुग्ध हो गये। गोरखपुर में गीताप्रेस की स्थापना हो चुकी थी। वहाँ समर्पित भाव से काम करनेवाले निष्ठावान् कार्यकर्ताओं की आवश्यकता थी। सुखदेव बाबू के व्यक्तित्व में अपेक्षित गुणों का अद्भुत समन्वय देखकर गोयन्दकाजी ने सर्वश्री सनेहीराम-डूँगरमल-फर्म से श्रीसुखदेवजी को गीताप्रेस के सेवार्थ देने का अनुरोध किया। सुखदेवजी तो तैयार ही बैठे थे; मालिक की अनुमति प्राप्त हो जाने पर अपनी माता को साथ लेकर गीताप्रेस के भगवदीय कार्य के लिए वे गोरखपुर चले आये।

कुछ ही दिनों में सुखदेव बाबू अधिकारियों और कर्मचारियों के समान रूप से विश्वास-भाजन बन गये। बही-खाते का अच्छा अनुभव होने से इनको गीताप्रेस का प्रधान खजांची और क्रय-विक्रय-विभाग का व्यवस्थापक बना दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रबंध के अन्य कार्यों में भी इनका सुझाव लिया जाता था। ये गोविन्द-भवन के मानद सदस्य थे।

गीताप्रेस की मनसा-वाचा-कर्मणा सेवा तथा अधीनस्थ कर्मचारियों का सर्व प्रकारेण हितसाधन ही इनकी जीवनव्यापी साधना का उद्देश्य रहा। इससे इनकी सर्वप्रियता आजीवन अक्षुण्ण बनी रही। अनुशासनप्रियता इनकी कार्य-व्यवस्था का मुख्य अंग थी। बाहर से कठोर दिखाई देते हुए भी इनके अन्दर करुणा और सहानुभूति का निर्झर सतत् प्रवहमान रहता था। सुखदेव बाबू का यह चरित्र अध्यात्म-साधना-प्रसूत था। नाम-जप में इनकी अनन्य निष्ठा थी और गीता का पाठ ये नियमित रूप से करते थे। गोताप्रेस में प्रतिवर्ष गीता-मर्मज्ञों का प्रवचन आयोजित करने में इनका विशेष हाथ रहता था। अयोध्या के कनक-भवन-बिहारी भगवान राम इनके इष्टदेव थे। उनके दर्शनार्थ ये वहाँ प्रतिवर्ष रामनवमी के अवसर पर जाया करते थे।

पोद्दारजी के 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग तथा परिवार सहित बम्बई से गोरखपुर आने पर सबको सँभालने का पूरा दायित्व सेठजी ने सुखदेव बाबू को ही सौंपा। इस उत्तरदायित्व को उन्होंने जीवन भर बड़ी तत्परता एवं कुशलता के साथ निभाया।

सुखदेव बाबू पोद्दारजी के अनन्य भक्त थे और प्रत्येक स्थिति में उन्हें अपना रक्षक, सहायक और सूत्रधार मानते थे। पोद्दारजी की सहधर्मिणी 'माँजी' की भी इन पर बड़ी कृपा रहती थी। जब कभी पोद्दारजी प्रवास में अकेले जाते, तब 'माँजी' की संभाल का भार सुखदेव बाबू पर ही छोड़ा जाता था।

सन् १९५९ की ग्रीष्मऋतु में इन को मियादी बुखार हो गया। आयुर्वेद में इनकी बड़ी आस्था थी। अतः आरम्भ में वैद्यों से काफी उपचार कराया गया, किन्तु रोग बढ़ता ही गया। इसी बीच सेठजी का चित्रकूट में सत्संग होने वाला था। इन्होंने सेठजी तथा श्रीपोद्दारजी दोनों को चित्रकूट चलने के अपने दृढ़निश्चय से अवगत करा दिया। रोग-जर्जर काया रेलयात्रा का कष्ट सहन करने में असमर्थ थी। चिकित्सकों ने भी चित्रकूट जाने की राय नहीं दो, पर इनके दृढ़ संकल्प के सामने सबको झुकना बड़ा। प्रस्थान के समय सुखदेव बाबू ने गीताप्रेस तथा उसके प्रत्येक कर्मचारी को अश्रूपूरित नेत्रों से प्रणाम किया।

चित्रकूट में सेठजी का सत्संग इनकी रोगशय्या के पास ही होता था। शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था। २ दिसम्बर १९५९ को प्रातःकाल से ही स्थिति बिगड़ गयी। सायंकाल ४ बजकर ५५ मिनट पर सेठजी के सामने पुण्यसलिला

मंदाकिनी के तट पर 'हरिनाम' की कीर्तन-ध्वनि सुनते हुए इनका साकेत-वास हुआ। पोद्दारजी को गोरखपुर में जब सुखदेव बाबू के देहावसान का समाचार मिला तो वे स्तंभित रह गये। चैतन्य होने पर बोले—

"मेरी आन्तरिक रुचि को परखकर बिना संकेत किये ही मेरी सुख-सुविधा का ध्यान रखनेवाला, मनुहार करके, अकड़ करके मेरी सेवा-शुश्रूषा का प्रबन्ध करनेवाला, जिद्द करके अपनी बात मनवाने वाला, आन्तरिक प्रेमी, बात का धनी तथा निष्काम सेवा और त्याग की प्रतिमूर्ति मेरा लघुभ्राता आज मुझे एकाकी छोड़कर भगवान् श्रीराम के साकेतधाम में पधार गया। सुखदेव के बलपर मेरे जीवन के कितने ही आयोजन सफल हो सके हैं। उनके साथ मेरे कैसे आन्तरिक स्नेह-सम्बन्ध थे—यह एक रहस्य ही रहेगा।"

महापुरुष की यह शब्दांजलि सुखदेव बाबू के समर्पणशील व्यक्तित्व की एक महान उपलब्धि थी।

श्रीगंगाप्रसाद अग्रवाल

गीताप्रेस के जीवनदानी कार्यकर्ताओं में गंगा बाबू का अपना अलग स्थान है। उसकी स्थापना के आरम्भिक वर्षों में ही ये गोरखपुर आये और अन्तिम क्षण तक उसकी सेवा में संलग्न रहे।

आत्मगोपन की प्रवृत्ति के फलस्वरूप इन्होंने अपने जीवन-सम्बन्धी तथ्यों को प्रकाश में नहीं आने दिया। इस विषय में केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि इनका जन्म उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले के एक वैश्य परिवार में हुआ था। घर पर साधारण शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त ये जमशेदपुर चले गये और टाटा कम्पनी में कार्य करने लगे। अपनी तकनीकी अभिरुचि एवं अन्तः-प्रतिभा के कारण इन्हें वहाँ उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सम्भालने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्हीं दिनों ये अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण सेठ श्रीजयदयालजी गोयंदका के सम्पर्क में आये। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होंने उस कम्पनी की नौकरी छोड़ दी और गीता-प्रेस की सेवा के लिए गोरखपुर चले आये। यहाँ इन्हें गीता-प्रेस के मुद्रण विभाग की देखरेख का काम मिला, जिसको इन्होंने बड़ी कार्यकुशलता एवं निपुणता के साथ निभाया। इनके व्यवस्थापकत्व में कम्पोजिंग तथा मुद्रण विभाग उत्तरोत्तर विकसित होते गये। कर्त्तव्यपालन को ही इन्होंने साधना माना और अल्पकाल में ही कुशल प्रबन्धक के रूप में ख्यात हो गये।

इनकी सफलता का मुख्य कारण था—गीताप्रेस के कर्मचारियों के प्रति अगाध स्नेह की भावना। प्रत्येक कर्मचारी का दुःख-दर्द इनका अपना दुःख-दर्द था। ये उनके व्यक्तिगत तथा पारिवारिक अभावों की यथासम्भव पूर्ति के लिए सदैव तत्पर रहते थे। यदि कोई कर्मचारी प्रेस के कार्य को नुकसान पहुँचाता था तो ये पहले

उसकी मानसिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करते थे कि किसी तनाव की स्थिति में तो उसने ऐसा नहीं किया है ? यदि ऐसा होता तो ये उसे यथाशक्ति दूर करने का प्रयास करते और भूल के लिए उसे सर्वथा क्षमा कर देते थे ।

गंगाबाबू का जीवन अत्यन्त सरल तथा आडंबरहीन था । अपनी आवश्यकताएँ इन्होंने बहुत कम कर ली थीं । घुटने तक धोती तथा बंडी—यही इनकी पोशाक थी । इसी प्रकार खान-पान में भी सादगी रखते थे । तली वस्तुओं तथा फल का व्यवहार नहीं के बराबर करते थे । यहाँ तक कि बीमारी की दशा में भी ये फल-सेवन से यथासम्भव विरत रहते थे ।

गंगाबाबू का जीवन आद्योपान्त साधनामय रहा । ये पोद्दारजी से बहुत प्रभावित थे । भगवद्भक्ति तथा नामजप के प्रति इनके मन में आरम्भ से ही निष्ठा थी । पोद्दारजी के सम्पर्क से वह और प्रगाढ़ हो गयी । साधना के लिए ये गोरखपुर से संलग्न कुसम्ही जंगल में जाकर घंटों ध्यानमग्न रहते थे । इनके इष्टदेव मर्यादापुरुषोत्तम राम थे । इसीलिए गीताप्रेस के कार्य से अवकाश मिलने पर या उपरामता जागृत होने पर ये प्रायः चित्रकूट चले जाया करते थे । कीर्तन में इनकी बड़ी रुचि थी । उस स्थिति में इनकी भाव-विभोरता देखते ही बनती थी ।

अपने इस सर्वप्रिय कीर्तन को करते-करते वे अपने को भूल जाते थे—

अगड़बम बगड़बम बाजे डमरू ।
नाचें सदाशिव जगद्गुरू ॥

श्रीगीताप्रेस की ओर से बाढ़, अकाल, भूकम्प आदि के समय जब भी सहायता-कार्य का आयोजन होता था, ये उसमें बड़ी तत्परता से अपनी सेवाएँ अर्पित करते थे । समाज के निर्धन एवं दलित वर्ग के प्रति इनकी गहरी सहानुभूति थी । जाड़े से ठिठुरते लोगों को कम्बल या धूसा बाँटना, भूख से पीड़ितों को अन्नदान तथा गरीब विद्यार्थियों को कॉपी-किताब की सहायता दिलवा कर इन्हें अपार आत्मतोष होता था ।

गीता का निष्काम कर्मयोग इनकी जीवन-पद्धति में साक्षात् दृष्टिगोचर होता था । अपनी अगाध निष्ठा एवं सेवा के प्रतिदान की इन्होंने कभी आकांक्षा नहीं की । जीवन की सन्ध्या वेला में एक दिन सत्संग के क्रम में श्रीजयदयाल गोयंदका ने इनसे कहा था, "गीताप्रेस को कभी मत छोड़ना, जूता खाना पड़े तो भी उसे स्वीकार कर उसकी सेवा करना ।" गंगाबाबू ने सेठजी के इस आदेश का अंतिम सांस तक पालन किया ।

इनके पार्थिव शरीर का तिरोधान मकर संक्रान्ति, १४ जनवरी १९७७ ई० को प्रातः आठ बजकर पचास मिनट पर हुआ था ।

पं० लादूराम शर्मा

गीताप्रेस की आरम्भिक विकास-योजनाओं को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने वाली विभूतियों में पं० लादूराम शर्मा का भी विशिष्ट स्थान है । इनका जन्म

आश्विन शुक्ल ८, सं० १९५२ को राजस्थान के चुरू जिले के बदासर नामक ग्राम में हुआ था। शैशवकाल में ही अनाथ हो जाने के कारण इनकी शिक्षा हिन्दी, संस्कृत तथा महाजनी सामान्य ज्ञान तक सीमित रह गयी। कुछ बड़े होने पर इन्हें ज्योतिष तथा कर्मकाण्ड का अध्ययन जीविकोपार्जन के लिए करना पड़ा। सद्व्यवहार, असाधारण प्रतिभा एवं निष्ठा के द्वारा इन्होंने शीघ्र ही समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया और बदासर के राजा हीरा सिंह के पुरोहित हो गये।

इन्हीं दिनों जयदयालजी गोयन्दका का सत्संग-यात्रा के क्रम में बदासर-प्रवास का पुरोगम बना। पं० लादूराम उनके प्रवचन से बहुत प्रभावित हुए। एक दिन इन्होंने सेठ जी से पूछा, 'जिसके पास पैसा न हो, वह सत्संग कैसे करे ?' सेठ जी का बेलाग उत्तर था, "सत्संग ऐसी अमूल्य निधि है, जिसको घर का थाली-लोटा बेचकर भी एकत्र किया जा सके तो अवश्य करना चाहिए।" इससे इनके मन में जो झटका लगा, उसने सांसारिक आसक्ति समाप्त कर दी। उसी क्षण इन्होंने अपना सारा जीवन संतसेवा तथा स्वाध्याय में व्यतीत करने का संकल्प ले लिया और सेठ जी के सर्वतोभावेन अनुगत बन गये। जन्मभूमि से विदा होकर ये गोरखपुर आ गये और गीताप्रेस के कार्य में सहयोग करने लगे।

गीता-प्रेस के लिए शेषपुर मुहल्ले में स्थित वर्तमान स्थान मिल जाने पर उसे हिन्दी बाजार से स्थानान्तरित कर नये भवन में प्रतिष्ठित करने से सम्बद्ध सारा कार्य इन्होंने बड़ी सूझ और तत्परता से किया। भवन-निर्माण से लेकर 'कल्याण'-प्रेषण व्यवस्था तथा पाकशाला का प्रबन्ध तक, विविध प्रकार के छोटे-बड़े कार्य वे बड़ी प्रसन्नता से लगातार ४० वर्षों तक सम्पन्न करते रहे। गीताप्रेस के बाह्य तथा आन्तरिक विकास में इन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। ये बड़े ही कर्मनिष्ठ, निश्छल, विनीत तथा निरभिमान व्यक्ति थे। इनके जीवनकाल में गीताप्रेस द्वारा बाढ़-अकाल से सम्बद्ध जो भी जनसेवा के कार्य आयोजित हुए, उनकी सफलता में इनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इतना ही नहीं, कुछ समय तक चुरू के ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था को सँभालने का भार भी सेठ जी ने इन्हें सौंपा था।

पंडित जी की जीवनव्यापी सेवा का सर्वोत्कृष्ट उपहार गीताप्रेस को लीलाचित्र-मंदिर के भवन के रूप में प्राप्त हुआ। इसके निर्माण और नियोजन में इनकी प्रशंसनीय भूमिका रही है। इस कार्य के समाप्त होने के कुछ ही समय बाद सं० २००८ में ये अकस्मात पक्षाघात से पीड़ित हो गये। उपचार करने के बाद वह प्रायः ठीक हो गया, किन्तु चिकित्सकों ने काम करने की अनुमति नहीं दी। इस स्थिति में भी ये यथाशक्ति गीताप्रेस की मनसा-वाचा सेवा करते रहे। सं० २०२२ वि० में पक्षाघात का दूसरी बार आक्रमण हुआ। चार दिन चेतनारहित रहने के बाद ये आराध्य के विराट् स्वरूप में लीन हो गये। इस अवसर पर व्यक्त पोद्दारजी के निम्नांकित उद्गार

पंडित जी के प्रदेय का वास्तविक मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं—"पंडित जी ने ४० वर्षों तक निष्काम भाव से गीताप्रेस की जो सेवा की, वह अनुकरणीय है। उनके जैसा कर्मठ व्यक्ति, बुद्धिमान समायोजक प्राप्त होना सम्भव नहीं है।"

इस प्रकार एकनिष्ठ भाव से 'कल्याण' तथा गीताप्रेस की सेवा में जीवन अर्पण करने वाले ऐसे साधक कार्यकर्ताओं के सहयोग से ही श्रीजयदयाल गोयन्दका तथा पोद्दारजी का धार्मिक प्रचार-प्रसार द्वारा भारतीय साँस्कृतिक आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठा का महान् स्वप्न साकार हुआ। अपने सहयोगियों के चयन में उन्होंने सदैव यह ध्यान रखा कि वे आस्तिक, सदाचारी और अध्यात्मनिष्ठ हों। उनका जीवन 'कल्याण' और गीताप्रेस के आदर्शों के अनुकूल बना रहे। इसलिए वे उनके आध्यात्मिक प्रशिक्षण की निरन्तर व्यवस्था करते रहे। प्रेस के भीतर ही समय-समय पर सत्संग का आयोजन, आर्त-सेवा के हेतु उन्हें गीताप्रेस सेवा-दल के स्वयंसेवक के रूप में बाहर भेजना, मरणासन्न व्यक्तियों की सद्गति के लिए नाम-कीर्तन की व्यवस्था का भार उन्हें सौंपना, कार्य आरंभ होने के पूर्व नित्य सामूहिक प्रार्थना की योजना करना और उसमें 'कर प्रणाम तेरे चरणों में लगता हूँ अब तेरे काज' प्रतीक वाले पद का गान, प्रतिदिन कम-से-कम दो बार 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे; हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण-कृष्ण हरे हरे' मंत्र का कीर्तन, राम कृष्ण के चित्र के साथ करते हुए एक व्यक्ति को हर कर्मचारी के पास भेजना और उसे कुछ क्षणों के लिए काम रोक कर भगवच्चिंतन में प्रवृत्त करना, आदि आयोजनों द्वारा उनकी वृत्तियों का परिष्कार करके वे 'कल्याण' और गीताप्रेस के कार्य को भगवान का ही काम समझने की प्रेरणा देते रहे। उनकी यह आत्मीयता मौखिक न होकर व्यावहारिक जीवन में भी पदे-पदे अभिव्यक्ति पाती रहती थी। अभाव अथवा आपत्ति के क्षणों में कर्मचारियों की भरपूर सहायता तथा सार-सँभाल वे अपना परम धर्म मानते थे। ऐसी उदार एवं अध्यात्म-सिक्त मानसिकता द्वारा ही इस बृहद् योजना का पोषण और संवर्द्धन हुआ।

इसका फल पोद्दारजी के जीवन-काल में ही दृष्टिगोचर होने लगा। सुदूर प्रदेशों से गोरखपुर आनेवाले श्रद्धालु गोरखनाथ की भाँति गीताप्रेस का भी दर्शन एक पुनीत कर्तव्य मानने लगे। शास्त्रकारों ने मूर्ति-निर्माण में लोहेका प्रयोग वर्जित कर रखा था, किंतु 'कल्याण' तथा गीताप्रेस के प्रकाशनों की लोकप्रियता से यह नियम भी शिथिल हो गया। भावुक दर्शनार्थी गीता-चित्र-मंदिर तथा प्रकाशन-विभाग की प्रदक्षिणा करने के बाद मशीन विभाग में जाते थे। वहाँ गीता, रामायण, पुराण, एवं उपनिषद् के साथ संतवाणी और संत-चरित को जनता-जनार्दन को सुलभ कराने वाली मशीनों पर सिर टेक कर, फूल चढ़ा कर कृतार्थ होते थे। जड़ निमित्त को इतना समादर कदाचित् ही विश्व के किसी अन्य देश में प्राप्त हुआ हो। कहना न होगा कि 'कल्याण' और गीताप्रेस की यह लोकोत्तर प्रतिष्ठा तथा कल्पनातीत उत्कर्ष पर्दे के भीतर सम्मोहन वेणु बजाने वाले छायानट का प्रसाद था।

साहित्य-सर्जना एवं ग्रंथ-संपादन

सदाचार-परायण वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण पोद्दारजी का लालन-पालन धार्मिक वातावरण में हुआ था। उनकी अनन्य स्नेही अभिभाविका दादी रामकौर देवी स्वयं वेदान्त की पंडिता थीं। अध्ययन, मनन तथा धार्मिक कार्यों के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि थी। बालक हनुमानप्रसाद में अध्यात्म-निष्ठा जाग्रत करने के उद्देश्य से वे बचपन से ही इन्हें धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन एवं साधु-महात्माओं के सत्संग की प्रेरणा देती थीं। दादी के ही प्रयास से इन्हें महात्मा वखन्नाथजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ और बहुत ही छोटी उम्र में इन्होंने गीता कंठस्थ कर ली। अध्ययन के प्रति रुचि यहीं से जाग्रत हुई। विवाहोपरान्त ये पिता श्रीभीमराज पोद्दार को व्यापार में सहयोग देने के लिए कलकत्ता चले गये। पिता भी अध्ययन-परायण धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अतएव व्यापार-कार्य से समय निकाल कर स्वाध्याय का काम यहाँ भी अबाधगति से चलता रहा। उन दिनों कलकत्ता राजनीतिक आन्दोलन की भाँति साहित्यिक गतिविधियों का भी प्रमुख केन्द्र बन गया था। हिन्दी-पत्रकारिता की तो वह जन्मस्थली ही थी। अतः देश के प्रमुख साहित्यकार वहाँ आयेदिन पधारते थे। समाज-सेवी तथा साहित्यप्रेमी होने से पोद्दारजी उनके सम्पर्क में आते और प्रेरणा प्राप्त करते थे। इसके साथ ही सामाजिक-साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनुशीलन उस समय निकलने वाली विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा चलता रहा।

कलकत्ता के गण्यमान्य हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला के पत्रकारों, जैसे—'माडर्नरिव्यू' के सम्पादक रामानन्द चटर्जी, 'संध्या' के सम्पादक श्रीब्रह्मबांधव उपाध्याय, बंगला के प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय लेखक श्रीसखाराम गणेश देउस्कर, 'भारत-मित्र' के संपादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, 'कलकत्ता-समाचार' के सम्पादक पं० झाबरमल्ल शर्मा, श्री अमृतलाल चक्रवर्ती, श्रीनवजादिकलाल श्रीवास्तव, श्रीयशोदानन्द अखौरी, श्रीरामलाल वर्मा तथा श्रीराधामोहन मुखर्जी के प्रत्यक्ष सम्पर्क से इनकी कारयित्री प्रतिभा अंकुरित होने लगी। उग्र राजनीतिक विचारधारा तथा नवीन समाज की संरचना के उस संदेशवाहक युग में धार्मिक पुनर्जागरण, समाज-सुधार और क्रान्तिकारी आन्दोलन साहित्य-रचना के मुख्य उपजीव्य थे। पोद्दारजी की इन तीनों में रुचि एवं गति थी। स्वाध्याय से लेखनशैली भी परिष्कृत हो चुकी थी; अतएव ये विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखकर भेजने लगे।

जनवरी १९११ के 'मर्यादा' मासिक पत्र में इनका पहला लेख 'मातृभूमि की

पूजा' प्रकाशित हुआ ।[1] इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से मातृभूमि की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उसकी उपासना की बात कही गयी है, जो प्रकारान्तर से भारत के परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त कराने का आह्वान है। लेख की एक-एक पंक्ति देशभक्ति से ओत-प्रोत है। रचनाक्रम की दृष्टि से यह उनके कृतित्व का प्रथम उपहार है, फिर भी उसमें जिस विचार-गांभीर्य तथा परिष्कृत भाषा-शैली के दर्शन होते हैं, परवर्ती लेखों से उसकी प्रवृत्तिगत भिन्नता लक्षित नहीं की जा सकती। इससे उनकी स्वाध्यायपुष्ट नैसर्गिक प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।

---

१. यह लेख अविकल नीचे उद्धृत किया जाता है—

'भारतवासी भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य को युग-युगान्तर से भिन्न-भिन्न भावों में तथा भिन्न-भिन्न आकारों में पूजते चले आये हैं। आज भी हम ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के रूप में भगवान की सृष्टि, स्थिति एवं संहारकारिणी शक्ति की पूजा करते हैं। सरस्वती एवं लक्ष्मी को हम उन्हीं के ज्ञान और ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी समझकर पूजते हैं, सूर्य एवं अग्नि में उन्हीं की ज्योति का दर्शन कर तथा गंगा यमुनादि को उन्हीं की करुणा का प्रवाह समझकर पूजते हैं। इसी तरह पीपल के वृक्ष में, तुलसी-कुंज में, पत्थर में, मिट्टी में—जहाँ-तहाँ हम उन्हीं को अधिष्ठित समझकर उनकी पूजा करते हैं। परन्तु हाँ ! आज हम मातृभूमि के रूप में उनकी पूजा नहीं करते—अनेक दिनों से हम ऐसा करना भूल गये हैं।

हिन्दुओं ने असंख्य भावों से भगवान् की पूजा की है। नन्द-यशोदा ने पुत्रभाव से, देवी रुक्मिणी ने पतिभाव से, वीर शिरोमणि अर्जुन ने सखाभाव से, स्वामी श्रीशंकराचार्य ने आत्मभाव से, तुलसीदासजी ने जगदीश्वरभाव से, श्रीचैतन्य ने प्राणेश्वरभाव से, छत्रपति शिवाजी ने स्वदेशभाव से और महाराणा प्रताप ने स्वजातिभाव से उनकी पूजा की है।

आज सामाजिक अवस्था तथा देश-कालानुसार हिन्दुओं में अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती है। देवता का नाम कुछ भी रखा जाय तथा उसकी पूजा को पद्धति कुछ भी हो, पर वह सब उसी एक जगन्नियंता जगदीश्वर के प्रभाव से अनुष्ठित होती है तथापि हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि विशेष देवता की आराधना से विशेष फल प्राप्त होता है। आज वर्तमान युग में हमें सर्व-मंगलमयी शिवा, सर्वार्थसाधिका, सर्वैश्वर्यरूपिणी जननी जन्मभूमि की पूजा की पूर्ण आवश्यकता है, मातृस्तनों के साथ-साथ जिसके जल, फल तथा अन्न से हमारी देह परिपुष्ट हुई है, जननी की तरह जिसने हमको वक्षःस्थल पर धारण कर रखा है तथा हमारा अंतिम चिर विश्रामस्थान भी जिसकी गोद में होनेवाला है, ऐसी अन्नपूर्णारूपिणी जगद्धात्री जननी की पूजा न करना हमारे धर्म-भाव का परिचायक कदापि नहीं हो सकता। आज शुभकाल समागत हुआ है, चित्त से अपने देह और मन को पवित्र करके आओ भ्रातृगण ! आज हम सब मिलकर जननी जन्मभूमि की पूजा करने में प्रवृत्त होवें।

भक्तगण अपने इच्छानुसार अपने इष्टदेवता की मूर्ति कल्पित कर उसका ध्यान करते हैं। आओ, आज हम भी अपने इष्टदेवता का जननी जन्मभूमि के रूप में ध्यान करें। हिमाचल जिसके मस्तक का किरीट है, जाह्नवी जिसका कण्ठहार है, घनश्याम

इसी के आसपास उनका 'नवनीत' में 'निवृत्ति का सच्चा स्वरूप' शीर्षक एक अन्य विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित हुआ। तत्कालीन साहित्य-प्रेमियों के बीच वह चर्चा का विषय रहा। अध्ययन तथा लेखन की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गयी।

राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के कारण 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत सरकार ने १९१६ ई० में पोद्दारजीको बंगाल के शिमलापाल नामक स्थान में नजरबन्द कर दिया। यहाँ के एकान्त जीवन ने इनकी प्रवृत्ति को अध्यात्म की ओर उन्मुख होने में सहायता दी। बंदीजीवन में आध्यात्मिक साहित्य के अनुशीलन का

वृक्षराशि जिसके विचित्र वस्त्र हैं, मृगमद मलयज से जिसका देह सौरभित हो रहा है, महासमुद्र जिसके चरण युगलों को धोता हुआ अविराम कलकल स्वर में मानो जिसकी बन्दना कर रहा है, नवप्रस्फटित कमलदल जिसके कण्ठ प्रदेश में शोभा पा रहे हैं, और नवोदित अरुण किरणों से जिसका मुखमण्डल उद्भासित हो रहा है—ऐसी 'भुवनमोहिनी' हमारी जननी है, जिसकी आराधना एवं वन्दना से हम इस जगत् में अतुल सुख के भागी हो सकते हैं। क्या हम उसको भूले ही रहेंगे?

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि हम किस मंत्र से माता की आराधना करें तथा मातृपूजा के निमित्त किन-किन सामग्रियों को एकत्रित करें? इसका सीधा उत्तर यह है कि संतान माता को जिस नाम से संबोधित करे, वही उसकी पूजा का मंत्र हैं तथा माता का मुख उज्ज्वल करने के लिए जो-कुछ करे, वही उसकी पूजा का आयोजन है। आज हमें उचित हैं कि हम अपना तन, मन, धन, विद्या, बुद्धि, सामर्थ्य, पुरुषार्थ आदि समस्त शक्तियों को मातृपूजा की सामग्रियों के रूप में समर्पण कर दें—अपने हृदय-मंदिर में मातृ-मूर्ति स्थापित करें।

एक समय फारस का एक सम्राट् शिकार खेलने के लिए जा रहा था। रास्ते में हठात् एक किसान सामने आ गया। किसान यह सोचकर कि 'खाली हाथ राजा का दर्शन नहीं करना चाहिए'—राजा को भेंट देने के लिए पास के ही एक तालाब में से एक अंजलि जल लेकर सम्राट् के सम्मुख हुआ। परम प्रतापान्वित, अतुलित शक्तिशाली सम्राट् ने सरल हृदय किसान की अकपट राजभक्ति देखकर उसकी वह सामान्य जलांजलि सादर ग्रहण की। इसी प्रकार आज हम भी दरिद्र तथा अधःपतित होने पर भी भक्तिभरे हृदय से मातृचरणों में अन्ततः एक अंजलि जल प्रदान करने में तो समर्थ हैं! माता हमारे सामान्य उपहार को अवश्य ही सादर ग्रहण करेगी। इसी से आओ भाइयो! आज हम अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार मातृपूजा करने में प्रवृत्त होवें। हमारे देश के कविगण माता का यशगान करें, लेखक माता को गौरवान्वित बनानेवाले ग्रन्थ लिखें, चित्रकारगण जननी की मूर्तियाँ अंकित करें, शिल्पी और व्यवसायीगण देश की समृद्धि बढ़ाने का यत्न करें, इसी प्रकार धनी, दरिद्र, पंडित, मूर्ख—सभी अपनी-अपनी शक्ति एवं सामर्थ्यानुसार मातृपूजा करने में दत्तचित्त होवें।

इस पूजा में जातिभेद नहीं है। सभी समान रूप से मातृपूजा के अधिकारी हैं। दशों दिशाओं में मातृमूर्ति विराजमान है, भक्तगण अपने इच्छानुसार मातृमूर्ति के दर्शन कर सकते हैं। प्रिय भ्रातृगण! आप साकारवादी हों वा निराकारवादी, यदि आपने कभी

पर्याप्त अवसर मिला—उपनिषद्, भागवत, गौड़ीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों का गहन अध्ययन—इसका स्मरणीय प्रसाद था।

इन्हीं दिनों नारदीय भक्तिसूत्रों के पारायण का भी संयोग प्राप्त हुआ। ये सूत्र पोद्दारजी को अपनी भक्तिभावना के पोषक तथा व्यंजक लगे। इनके अहर्निश अध्ययन-मनन तथा चिन्तन से नये-नये भाव प्रस्फुटित होते थे—ये उन्हें लिपिबद्ध करने लगे। फलतः कुछ ही दिनों में नारद भक्ति-सूत्रों की एक बृहद् व्याख्या तैयार हो गयी जो कालान्तर में गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित हुई। आध्यात्मिक साहित्य-प्रणयन का श्रीगणेश इसी से हुआ और यह क्रम आजीवन चलता रहा।

अपने इष्टदेवता का माता, पिता या गुरु के रूप में ध्यान किया है तो एक बार जननी जन्मभूमि के रूप में भी ध्यान कीजिये।

भक्तगण भगवान् को सर्वत्र विराजित देखकर कृतार्थ होते हैं। आज आप भी अपनी बहुसाधुजनसेविता, बहुपुण्यमयी, सुजला, सुफला, जननी जन्मभूमि को—स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि को, अपने प्राणाराम में अधिष्ठित देखकर अपने जन्म तथा जीवन को सार्थक कीजिये।

भगवान् श्री शंकराचार्य कहते हैं कि परब्रह्म के दर्शन करने पर समस्त जगत् नन्दनवन-सा भासित होने लगता है, समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष मालूम होते हैं एवं संसार की समस्त नदियाँ भगवती जाह्नवी के समान प्रतीत होने लगती हैं। इसी प्रकार यदि आज हम जन्मभूमि को अपने इष्टदेवता के रूप में देखने लगेंगे तो हमारा स्वदेश नन्दनवन हो जायेगा तथा सब प्राणियों में मातृप्रेम का संचार होगा, सबमें स्वदेश भक्ति भी जगेगी। सब एक दूसरे के दुःख में दुःखी तथा सुख में सुखी होंगे और विरोध का नाश होगा।

हाँ! वह सुदिन कब आयेगा कि जब भारतवासी भगवान को मातृभमि के रूप में तथा मातृभूमि को भगवान् के रूप में देखकर कृतार्थ होंगे!

अनेक दिनों से हम मातृभूमि के रूप में परमात्मा को आत्मसमर्पण करना भूल गये। हा! आज कौन हमको जगायेगा? आज भारत के वे पूजनीय और प्रातःस्मरणीय महात्मा कहाँ हैं, जिन्होंने मातृभूमि के रूप में भगवान को आत्मसमर्पण कर अपने आर्यत्व का पूर्ण परिचय दिया था?

हमारे शास्त्रकारों का कथन है कि 'भक्तों की आराधना से प्रसन्न होकर समय-समय पर भगवान् अपनी एक विशेष मूर्ति प्रकट करते हैं'। क्या ऐसा कोई नहीं है, कि जो अपनी असाधारण साधना एवं उग्र तपस्या के प्रभाव से भगवान को हमारे हृदय-मंदिर में मातृभूमि के रूप में अवतरित कर सके?

हे दयामय जगदीश्वर! भारतवासियों ने ज्ञान से या अज्ञान से सर्वदा ही तुम्हारे ऐश्वर्य की पूजा की है और कर रहे हैं। इसी से हे मधुसूदन! आज कृपा करके पुनः दर्शन दीजिये। अपनी इस घोषणा को स्मरण कीजिये—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

बंगाल-सरकार द्वारा कलकत्ता से निष्कासित होकर पोद्दारजी ने बम्बई की शरण ली। अबतक इनकी जीवनधारा राजनीति से अध्यात्म तथा समाज-सेवा की ओर मुड़ चुकी थी। इनके समय का अधिकांश भाग साधना तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के संयोजन में बीतने लगा। साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास के भी कई नये द्वार खुले। मराठी तथा गुजराती भाषा के विशाल धार्मिक-साहित्य के अध्ययन के क्षितिज का पर्याप्त विस्तार हुआ।

बम्बई-जीवन में ही 'कल्याण' का आविर्भाव हुआ। उसके सम्पादन के क्रम में अध्ययन और लेखन की प्रवृत्ति को अनेक विधाओं में प्रवाहित होने की प्रेरणा तथा अवसर प्राप्त हुआ। उसके गोरखपुर स्थानान्तरित होने पर पोद्दारजी ने गुरु गोरखनाथ की भूमि ही अपनी स्थायी साधनाभूमि बना ली और जीवनपर्यन्त योगयुक्तचित्त से संपादन के साथ ही अध्यात्म-चिंतन, काव्य-रचना और निबंध-लेखन का क्रम चलता रहा। राजनीति तथा समाजसेवा की भाँति साहित्य-सर्जना भी पोद्दारजी की अध्यात्म-साधना का ही एक अंग था। इस क्षेत्र में भी निष्काम-कर्म-योग-साधना ही उनकी मूल प्रेरक-शक्ति थी। कर्तृत्वाभिमान-रहित समर्पित भाव-पुरस्सर अक्षर-साधना उनकी दृष्टि में नाम-स्मरण तथा लीलाचिंतन का ही पर्याय थी। किसी ग्रंथ के प्रणयन का संकल्प न करना कर्तृत्व के अहंकार से बचने का ही उपक्रम था। उन्होंने जो कुछ लिखा, भगवान की प्रेरणा से भगवद्रूप जगत् की सेवा के लिए लिखा। यही कारण है कि अपनी अनुभूतियों को शास्त्रीय आधार प्रदान करते हुए उन्होंने शास्त्र की ही प्रतिष्ठा की और अपने कर्तृत्व को उसका जूठन-मात्र माना।

पोद्दारजी का जीवन मूलतः पत्रकार का जीवन था। अतएव 'कल्याण' के साधारण अंकों अथवा विशेषांकों में ही स्थिति की प्रेरणा तथा आवश्यकता के अनुसार उनकी अधिकांश रचनाएँ आयीं। सम्पादन के समय जब देखा कि अपेक्षित विषयों पर लेख नहीं आये हैं, या वे स्तरीय नहीं हैं अथवा उनमें अभिव्यक्त विचार अधूरे हैं, उस स्थिति में उन विषयों पर निबन्ध लिखकर अभाव पूरा किया। इन लेखों में सम्पादक के नाते यह ध्यान रखा गया कि जो विचार सम्बद्ध अंक के दूसरे लेखों में आये हैं, उनका केवल संकेत किया जाय; किन्तु जो अन्यत्र अनिर्दिष्ट अथवा अविवेचित रह गये हैं, उनपर विशेष प्रकाश डाला जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके लेखों का जो स्वरूप होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया। विशेषांकों में वे अपना स्वतन्त्र लेख

भगवन्! उपयुक्त समय पर शीघ्र ही हमारे हृदय-मंदिर में अवतीर्ण होकर हमें कृतार्थ कीजिये, जिससे हम मातृभूमि को आप के रूप में देखकर अपने जीवन को सफल करें और मनुष्य-जन्म को सार्थक करें।'

'मर्यादा', जनवरी १९११ ई०, पृ० ११२-११[illegible]

तभी लिखते थे, जब अभीष्ट विषय के अनुकूल लेख प्राप्त नहीं होते थे या जब वे यह अनुभव करते थे कि अमुक विषय पर लेख न देने से विशेषांक अपूर्ण रह जायगा। इस सन्दर्भ में एक दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पोद्दारजी ने जितना कुछ लिखा है, उसे जिया भी है। इसलिए उन्होंने ऐसे विचारों को अपने लेखों में स्थान नहीं दिया है, या उनपर लेखनी नहीं चलायी है, जो सिद्धान्त में तो आते हैं, पर व्यवहार में नहीं। यह सिद्धान्त 'कल्याण' के लेखकों की भाँति ही उन्होंने अपने ऊपर भी कड़ाई से लागू किया। उनकी वाणी तथा लेखन के मर्मस्पर्शी होने का यही रहस्य है।

प्रतिपाद्य विषय

हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में पोद्दारजी का उदय ऐसे समय में हुआ, जब पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रभाव से भारतीय जनमानस धर्म के प्रति उत्तरोत्तर उदासीन होता जा रहा था। आर्यसमाजी उपदेशकों के खण्डन-मण्डनात्मक प्रवचन अपना आकर्षण खो चुके थे, किन्तु ईसाई-धर्म-प्रचारकों की शिक्षा तथा चिकित्सा-पद्धति निर्बाध गति से हिन्दू-समाज के उपेक्षित वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने में आशातीत सफलता प्राप्त कर रही थी। इससे हिन्दू-संस्कृति के कालान्तर में लोप होने का खतरा उत्पन्न हो गया था। पोद्दारजी ने 'कल्याण' के माध्यम से हिन्दू धर्म के मुख्य उपजीव्य दर्शन-गीता, रामायण, महाभारतादि आर्षग्रंथों की महत्त्वपूर्ण बातें अत्यन्त सरल शैली में लोगों के समक्ष प्रस्तुत कीं। उसके द्वारा पाश्चात्य-प्रभावों से विमोहित जनता का मोहभंग हुआ और उसमें स्थिति-बोध की क्षमता आयी। उनकी धारणा थी कि मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। इसके फलस्वरूप उनका अधिकांश साहित्य आध्यात्मिक है। नैतिकता, समाज-सुधार या राजनीति-जैसे विषयों पर यदि लेखनी चलायी भी है तो उसका उद्देश्य जन-कल्याण ही रहा है। स्वधर्म-निष्ठा अथवा कर्तव्य-पालन की प्रेरणा इसके अंगरूप में ही आयी है। अतः आध्यात्मिकता का प्रसार, आस्तिकता एवं भगवत्प्रेम के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना, भगवन्नाम-माहात्म्य का प्रचार तथा अपनी संस्कृति के प्रति गौरव-बुद्धि उत्पन्न करना ही उनकी साहित्य-सर्जना का एकमात्र उद्देश्य रहा है।

पोद्दारजी सगुणोपासक भक्त थे, इसलिए ईश्वर के साकाररूप की प्रतिष्ठा एवं ईश्वर-भक्ति की सर्वसुलभता के प्रतिपादन में ही उनकी वृत्ति अधिक रमी है। अपनी कृतियों में उन्होंने दैवी गुणों के विकास की आवश्यकता पर जोर दिया है। उनके विचार में रोग-शान्ति के लिए औषधि के साथ-साथ जैसे संयम तथा पथ्यसेवन आवश्यक होता है, उसी प्रकार भक्ति-भावना की प्रतिष्ठा, विकास एवं परिष्कार के लिए दैवी सम्पद् का अवलम्बन अपरिहार्य है।

साहित्य की परिभाषा

साहित्य देवता के एकान्त उपासक होने से पोद्दारजी की दृष्टि में उसका आदर्श

अत्यन्त उत्कृष्ट था। उनकी धारणा थी कि "सत्साहित्य ही वास्तविक 'साहित्य' पद वाच्य है। केवल भाषा को साहित्य नहीं कहा जाता। भाषा तो साहित्य का माध्यम मात्र है। जो साहित्य विभिन्न क्षेत्रों में समान भाव से सभी को कल्याण-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देता है, सभी का कल्याण करता है, वही सत्साहित्य मानव को श्रेय की ओर ले जाने के लिए विभिन्न रूपों में आत्मप्रकाश करता है तथा मानव को सदा श्रेय के मार्ग पर ही आगे बढ़ाता रहता है।"

उनका सारा लेखन चाहे वह गद्यमय हो या पद्यमय, इस महान् आदर्श से ओत-प्रोत है। इसके निर्वाह के लिए वे किसी व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय की आलोचना से आजीवन विरत रहे। उनके विचार में इस प्रकार का कृतित्व राग-द्वेष की सृष्टि करता है। अतः अभ्युदय एवं निःश्रेयस्-परक साहित्य की रचना में ही उनकी लेखनी अह-निश तत्पर रही।

साहित्य-निर्माण के विविध रूप

मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास को लक्ष्य मानने से पोद्दारजी द्वारा निर्मित साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है। स्वरूप एवं शैली को दृष्टि में रखते हुए उसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

गद्यात्मक रचनाएँ

पोद्दारजी के गद्य-साहित्य को विधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

१. निबन्ध, २. टीका, ३. पत्र, ४. प्रवचन, ५. सम्पादकीय, ६. गद्यकाव्य, ७. संस्मरण।

१. निबन्ध

पोद्दारजी का निबन्ध-साहित्य परिमाण की दृष्टि से जितना विशाल है, उतना ही उसका फलक भी व्यापक है। इनके लेखन का मुख्य प्रेरणास्रोत 'कल्याण' रहा है। इसके अतिरिक्त गोष्ठियों तथा सभाओं के लिए वक्तव्य के रूप में भी समय-समय पर लेख तैयार किये जाते रहे हैं।

२. टीका-साहित्य

धर्मपरायण जनता संस्कृत के उत्कृष्ट धर्म-ग्रन्थों की टीकाओं के अभाव का अनुभव बहुत दिनों से करती रही है। जो टीकाएँ प्राप्त भी थीं, उनकी भाषा तथा विषय-प्रतिपादन-शैली पण्डिताऊपन और साम्प्रदायिक आग्रहों से आक्रांत रहती थी। इसके परिणाम-स्वरूप जनसामान्य इनसे अपेक्षित लाभ नहीं उठा पा रहा था। पोद्दारजी ने लोकशिक्षा के इस सशक्त माध्यम के अभाव को पूरा करने में गीताप्रेस की सारी शक्ति लगा दी। उन्होंने स्वयं तो टीकाएँ कीं ही, अन्य विद्वानों को भी इस दिशा में

लगाकर शुद्ध टीकाएँ निर्मित करायीं और उनकी लाखों प्रतियाँ मुद्रित कराकर देश के कोने-कोने में पहुँचायीं। भक्ति-सूत्रों की व्याख्या, श्रीरामचरितमानस, विनयपत्रिका, दोहावली आदि ग्रन्थों के अनुवाद इसी के परिणाम थे।

३. पत्र

पोद्दारजी के आध्यात्मिक तथा सामाजिक विचारों के प्रसार में पत्राचार का विशिष्ट स्थान है। व्यक्तिगत पत्रों के द्वारा पोद्दारजी ने असंख्य लोगों का मार्ग-दर्शन किया। देश-विदेश के हजारों स्त्री-पुरुष अपनी लौकिक-पारलौकिक समस्याओं को पत्रों द्वारा पोद्दारजी के समक्ष प्रस्तुत करते थे और वे उनके विस्तृत उत्तर लिखकर उनका समाधान करते थे। आगे—'पथ-निर्देश' शीर्षक अध्याय में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

४. प्रवचन

संस्थाओं अथवा व्यक्तियों द्वारा आयोजित सभाओं, गोष्ठियों, अपने तत्वावधान में संचालित श्रीराधाष्टमी महोत्सव एवं अन्य धार्मिक उत्सवों के अवसर पर तथा शरीर स्वस्थ रहने पर अपने निवास-स्थान पर पोद्दारजी प्रवचन करते थे, जिसका प्रायः श्रद्धालुओं द्वारा ध्वन्यंकन कर लिया जाता था। इन प्रवचनों में उनकी सर्जक-प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। इनमें भक्ति की विभिन्न भूमिकाओं के प्रत्यक्षानुभव भावपूर्ण शैली में अनुस्यूत हैं। आत्माभिव्यंजन के इसी क्रम में उनके जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का प्रकाशन भी समय-समय पर होता रहा है। इस प्रकार अनायास ही एक अमूल्य निधि संचित होती रही, जिसके आधार पर उनकी जीवन-यात्रा का वर्णमय प्रासाद निर्मित हो सका। पोद्दारजी के अधिकांश प्रवचन भक्ति-सिद्धान्त, गोपीप्रेम या श्रीराधा-माधव की लीला पर हैं। कुछ नैतिक मूल्यों एवं सदाचारपूर्ण उपदेशों से भी सम्बद्ध हैं। इनमें से कुछ पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं, किन्तु अधिकांश फुटकल रूप में ही 'कल्याण' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं की प्रतियों में उपलब्ध हैं।

५. सम्पादकीय टिप्पणियाँ

'कल्याण' जैसे प्रतिनिधि धार्मिक पत्र के सम्पादक होने के नाते पोद्दारजी को आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त अन्य प्रसंगों—देश की साम्प्रदायिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दशा अथवा समस्याओं पर भी पाठकों के दिशा-निर्देश के लिए अपने विचार व्यक्त करने पड़ते थे। इस गुरुतर दायित्व का निर्वाह वे अत्यन्त निर्भीक तथा संतुलित शैली में करते थे। गो-हत्या, नोआखाली का हत्याकाण्ड तथा हिन्दू कोड बिल से सम्बद्ध उनके लेख इसके प्रमाण हैं।

६. गद्यकाव्य

पोद्दारजी मूलतः भक्त थे। अतः आराध्य के लीलावर्णनों तथा आध्यात्मिक साहित्य के महत्त्व निदर्शन में उनकी विचार-सरणि भावोच्छ्वास में निमग्न हो जाती थी। रस-परिप्लुत गद्यप्रवाह इसी स्थिति का प्रसाद है। इसका दर्शन साधकों के पास लिखे गये उनके व्यक्तिगत पत्रों में पग-पग पर होता है। चित्रात्मकता, सजीवता तथा रसात्मकता इनमें आद्योपान्त तरंगायित दिखाई देती है।

७. संस्मरण

पोद्दारजी का देश के अनेक प्रसिद्ध संत-महात्माओं, राजनेताओं, समाजसेवियों तथा कलाविदों से घनिष्ठ परिचय था। इनके अतिरिक्त 'कल्याण' तथा गीताप्रेस से सम्बद्ध व्यक्तियों में से भी कुछ लोग उनसे मनसा जुड़े हुए थे। ऐसे आत्मीय जनों के देहावसान पर उनके संवेदनशील हृदय के उद्‌गार संस्मरण के रूप में यथासमय 'कल्याण' में प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं—महात्मा गांधी, महामना पं० मदन मोहन मालवीय, बाबा राघवदास, देशबन्धु चितरंजनदास, गायनाचार्य विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीलालबहादुर शास्त्री, डा० सम्पूर्णानन्द तथा सेठ युगलकिशोर बिरला।

विषयानुसार वर्गीकरण

पोद्दारजी के समस्त क्रियाकलाप का एक ही लक्ष्य था, जीवमात्र का कल्याण-चिंतन तथा सम्पादन। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण विश्व-कल्याण के लिए समर्पित था, चाहे वह व्यक्ति-सेवा का कार्य हो या लेखन-सम्पादन, प्रवचन; किसी जिज्ञासु की मानसिक उद्विग्नता को दूर करने के लिए पत्र लिखने का काम हो या समकालीन राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों से उत्पन्न किंकर्तव्यविमूढ़ता का निरसन; उनकी रचनात्मक प्रतिभा का प्रकाश सबको सब समय सुलभ था; किन्तु उसका सर्वप्रमुख माध्यम 'कल्याण' था। वे उसके द्वारा जीवन और जगत की विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते रहते थे—अपने ढंग से और अपनी मान्यताओं के अनुसार। उसके अनेक पक्ष थे—धर्म-दर्शन, भक्ति, राजनीति, समाज-सुधार, राष्ट्रप्रेम, संस्कृति, साधना, ऐतिहासिक संतचरित आदि।

शैलीगत वर्गीकरण

उपर्युक्त विषयों से सम्बद्ध निबन्ध विविध शैलियों में लिखे गये हैं, किन्तु प्रतिपाद्य के अनुसार उनकी प्रकृति तथा पद्धति बदलती रही है। गंभीर विषयों के निरूपण में विवेचनात्मक, भक्त-चरितों में विवरणात्मक, संस्कृति, धर्म, राष्ट्र एवं प्राचीन ऋषियों के गौरवगान में आवेशपूर्ण, जिज्ञासुओं के पत्रोत्तर तथा धार्मिक समारोहों में दिये गये व्याख्यानों में उपदेशात्मक और पौराणिक कथा-वार्ता की चर्चा में व्यास शैली के दर्शन होते हैं।

भाषा

पोद्दारजी बहु-भाषाविद् थे। हिन्दी की भाँति ही बंगला तथा गुजराती पर भी उनका असाधारण अधिकार था। इनमें लिखे गये उनके कुछ पत्र मिले भी हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त गद्य की मुख्य भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। सरलता के साथ ही प्रांजलता उसका मुख्य गुण है। मुख्य विषय-क्षेत्र अध्यात्म-दर्शन होते हुए भी उन्होंने उसे सर्वजनग्राह्य बनाने के लिए तत्समता तथा पारिभाषिकता से बोझिल नहीं होने दिया है। यही कारण था कि उनके निबन्ध-संग्रहों की प्रतियाँ लाखों की संख्या में छपने पर भी अल्पकाल में ही दुष्प्राप्य हो जाती थीं।

पद्यात्मक रचनाएँ

पोद्दारजी की गद्य तथा पद्य रचनाओं की प्रेरणा और उद्देश्य में एक तात्विक अंतर दृष्टिगोचर होता है। उनका गद्यलेखन लोकशिक्षा तथा लोकोद्बोधन की भावना से प्रेरित था, किन्तु काव्यरचना का मुख्य हेतु आत्मतुष्टि, आत्मनिवेदन, अंतः-निरीक्षण तथा आत्मविश्लेषण था। इसलिए जहाँ गद्यरचनाओं में उनके लोकसंग्रही व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं, वहाँ काव्य-कृतियों में उनका एकांतिक भक्त रूप उद्भासित हुआ है। इनमें उनके साधक जीवन के विकास के सोपान स्पष्टतया लक्षित किये जा सकते है। संक्षेप में इनके अन्तर्गत उनकी भावसाधना के वे रहस्य सुरक्षित हैं, जो अन्य स्रोतों में दुर्लभ हैं।

काव्यरचना का श्रीगणेश अध्यात्म-साधना में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के बाद इनके बम्बई-जीवन में हुआ। यहाँ रहते हुए विभिन्न अवसरों पर विषम स्थितियों में भगवान् ने किस प्रकार उनकी सहायता और रक्षा की, इसका वृत्तान्त पीछे दिया जा चुका है। इससे आराध्य की कृपाशीलता पर पोद्दारजी का अखण्ड विश्वास हो गया। प्रभु के आर्तहारी स्वभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त कर वे कृतज्ञता से गद्गद् हो गये और भगवच्चरणों में अपने को सर्वतोभावेन अर्पित कर दिया। उनके इस आत्मार्पण की छन्दबद्ध अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है—

अब हरि! एक भरोसो तेरौ।
नहिं कछु साधन ज्ञान भगति कौ, नहिं बिराग उर हेरौ॥
अघ ढोवत अघात नहिं कबहूँ, मन विषयन कौ चेरौ।
इन्द्रिय सकल भोगरत संतत, बस न चलत कछु मेरौ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ-सरिस अति प्रबल रिपुन तें घेरौ।
परबस पर्‌यो न गति निकसन की, जदपि कलेस घनेरौ॥
परखे सकल बंधु, नहिं कोऊ बिपद-काल कौ नेरौ।
दीनदयाल दया करि राखउ, भव-जल बूड़त बेरौ॥

ब्रजरसमाधुरी से परिप्लुत, वैष्णवसंस्कार से अनुप्राणित और आध्यात्मिक अनुभूतियों से मण्डित इन पदों में भक्त-हृदय की अनेक रहस्यमयी भावभूमियों की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। नाम, रूप, लीला और धाम के तत्व-चतुष्टय का बड़ा ही सरल, सुबोध और प्रांजल शैली में निरूपण हुआ है, जिससे भक्ति-शास्त्र एवं भक्तियोग के अनेक रहस्य सहज ही बोधगम्य हो गये हैं। इन पदों में माधुर्यलीला के साथ भगवान् की ऐश्वर्यपूर्ण मर्यादाबद्ध लीला का समन्वित रूप जिस कुशलता के साथ अभिव्यक्त हुआ है, वह उज्ज्वल रस के एकांतिक भोक्ता द्वारा ही संभव हो सकता है। आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण एवं आत्मनिवेदन की विविध भावस्थितियों का उद्‌घाटन भावयोग में स्रष्टा की अगाध गति का परिचायक है। प्रपन्न भक्त और परम प्रियतम की दिव्य रागात्मक सम्बन्ध-भावना की नित्य नूतन रमणीयता का निदर्शन इनकी विशेषता है। इनके अंतर्गत भारतीय संस्कृति एवं भक्ति-साधना के व्यक्तिगत और सामाजिक परिवेश का सन्निवेश जिस विस्तृत धरातल पर हुआ है, वह पोद्दारजी के व्यापक दृष्टिकोण तथा उदार व्यक्तित्व का परिचायक है।

काव्य की भावभूमि

पोद्दारजी की काव्य-रचना का अधिकांश श्रीराधा-माधव के गुण, स्वरूप, लीलावर्णन तथा भक्ति से सम्बद्ध है। पदों में भक्ति का जो स्वरूप एवं परिवेश उभरा है, उसकी मूल चेतना मध्ययुगीन है। इनमें माधुर्य-लीलासक्त मध्यकालीन भक्तों की आत्मविभोरता के दर्शन होते हैं। किन्तु राधातत्व के ऐतिहासिक क्रम-विकास में रीतिकालीन कवियों द्वारा चित्रित वासनोद्दीपक प्रवृत्ति के निरसन का सजग प्रयास पोद्दारजी की प्रगतिशील भक्तिभावना का अपना वैशिष्ट्य है। इस क्षेत्र में उनकी असाधारण सफलता का कारण अखण्ड साधना तथा अपूर्व त्याग द्वारा उपलब्ध दिव्यानुभूति थी। उनके द्वारा किया गया लीला-प्रसंगों का वर्णन बौद्धिक प्रक्रिया-प्रसूत न होकर साक्षात्-लीला-परिकर के रूप में प्राप्त प्रत्यक्षानुभव पर आधृत है। राधा-कृष्ण-लीला की दिव्यता की रक्षा करते हुए, शैशव, कैशोर्य, तारुण्य आदि अवस्थाओं के चित्रण के माध्यम से लौकिक जीवन के वात्सल्य, माधुर्य, हास्य-विनोद, प्रेमचर्चा, संयोग-वियोग, सौन्दर्य, सौशील्य, औदार्य आदि का मर्यादित निरूपण रचनाकार की संयत एवं व्यापक दृष्टि का द्योतक है। राधामाधव के उपासक पोद्दारजी की भक्ति-साधना में गौड़ीय वैष्णवों के आदर्शानुकूल राधापरत्व की प्रधानता है। उन्होंने अपनी दीर्घकालीन तपश्चर्या से इस सम्बन्ध में एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण विकसित किया था, जो पूर्वाचार्यों के मतों से अनुमोदित होते हुए भी सर्वथा विलक्षण है। रससाधना का असिधाराव्रत, लोकाराधक का जीवन व्यतीत करते हुए, उन्होंने इसी स्वानुभूत भक्ति-पद्धति के सहारे निभाया। उनके राधा-कृष्ण-तत्त्व-दर्शन का किंचित् आभास निम्नांकित पंक्तियों से प्राप्त किया जा सकता है—

"सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का आनन्दस्वरूप या ह्लादिनी शक्ति ही राधा के रूप में प्रकट है। श्रीराधा स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्ण के विशुद्धतम प्रेम की ही अद्वितीय घनीभूत स्थिति हैं। ह्लादिनी का सार है प्रेम, प्रेम का सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधा मूर्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष, साक्षात् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेम की आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। कामगंधहीन, स्वसुखवांछा-वासना-कल्पना-गंध से सर्वथा रहित, श्रीकृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी, श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधा का एकमात्र कार्य है—त्यागमयी पवित्रतम नित्यसेवा के द्वारा श्रीकृष्ण का आनन्द-विधान। श्रीराधा पूर्णतमा शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्तमान हैं। अभेदरूप में तत्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्यलीला के रसास्वादनार्थ अनादिकाल से ही नित्य दो स्वरूपों में विराजित हैं। श्रीराधा का मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होने पर भी मदीयतामय मधुर स्नेह से आविर्भूत होने के कारण सर्वथा ऐश्वर्यगंधशून्य है। वह न तो अपने में गौरव की कल्पना करता है, न गौरव की कामना ही। सर्वोपरि होने पर भी वह अहंकारादि दोष-लेश-शून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधा-प्रेम का एक विशिष्ट रूप है। राधाजी इसी भाव से आश्रयनिष्ठ प्रेम के द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूप से राधा के द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेम-सुख का अनुभव करते हैं, उससे अनन्त गुना अधिक है। अतएव श्रीकृष्ण चाहते हैं कि मैं प्रेम का 'विषय' न न होकर 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवा के द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' ही न बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ। मैं आराध्य ही न बनकर आराधक भी बनूँ। इसी से श्रीकृष्ण राधा के आराध्य होने पर भी स्वयं उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ श्रीराधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिका के भाव से आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपने में प्रेम का अभाव देखते हैं और अपने को अत्यन्त दीन और दूसरे का ऋणी अनुभव करते हैं, क्योंकि विशुद्ध प्रेम का यही स्वरूप है।"[१]

राधाकृष्ण-लीला-वर्णन के अतिरिक्त उनके कुछ पद दैन्य भाव के भी हैं, जिनमें भक्त कवि ने आराध्य से शरण में लेने की याचना की है, भवसागर से पार उतारने का अनुरोध किया है। इन पदों में विनयशीलता है तो भगवान् की कृपा-शीलता एवं दयालुता तथा करुणा पर अखण्ड विश्वास भी। दैन्य और आत्मनिरीक्षण के साथ-साथ समर्पण का भाव सूर-तुलसी की पदावली का स्मरण दिलाता है। भगवान् के अन्यरूपों का गुणगान, भगवत्स्वभाव, नाम-महिमा तथा श्रीमद्भगवद्गीता

१. 'श्रीराधामाधव रस सुधा' (षोडशगीत) की भूमिका

से सम्बन्धित प्रसंगों पर भी कुछ पद मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उपदेशात्मक शैली में लिखे गये पदों में संसार की नश्वरता तथा मानवदेह की दुर्लभता आदि के प्रतिपादन द्वारा विषयग्रस्त जीवों को चेतावनी दी गयी है।

अध्यात्म के साथ ही व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध स्थितियों एवं घटनाओं की पद्यबद्ध अभिव्यक्ति पोद्दारजी की लोकचेतना का परिचायक है। चीन-दमन की साधना और सिद्धि, गोरक्षा, गोभक्ति, देशभक्ति, सर्वसेवा, शुद्धाचरण शीर्षक रचनाओं में इसकी झलक मिलती है। साधना के ऊँचे धरातल पर स्थिति होते हुए भी एक सच्चे राष्ट्रभक्त की भाँति जन्मभूमि के प्रति कर्तव्यपालन में वे सतत तत्पर रहे। चीन द्वारा भारतभूमि पर किये गये आक्रमण ने उनकी समाधि भंग कर दी और 'चीन-दमन की साधना और सिद्धि' शीर्षक पद में उनकी ओजपूर्ण वाग्धारा अनायास प्रस्फुटित हो गयी।

पोद्दारजी के काव्य का अन्तरंग पक्ष जैसा उद्‌बोधक एवं शान्ति-प्रदायक है, उसी भाँति उसका बाह्य स्वरूप–भाषा, शैली, वाक्यविन्यास, एवं स्वरमाधुर्य भी परिष्कृत तथा प्रांजल है। खड़ी बोली हिन्दी तथा ब्रजभाषा के अतिरिक्त बंगला तथा राजस्थानी में भी उनकी कतिपय रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन सभी भाषाओं के विरचित पदों में रचयिता की तुलनात्मक सफलता का आकलन करने से विदित होता है कि मध्यकालीन वैष्णव भक्ति की मानसिकता से प्रेरित तथा प्रभावित होने के कारण ब्रजभाषा में विरचित उनके पद सभी दृष्टियों से अधिक आकर्षक तथा मर्मस्पर्शी हैं।

पदों में परम्परानुसार प्रायः मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। वे राग-रागिनियों पर आधृत हैं। प्रत्येक पद में प्रयुक्त राग का निर्देश भी कर दिया गया है। पद-शैली मध्यकाल में भक्ति-भाव के प्रकाशनहेतु मुख्य माध्यम के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। कबीर, मीरा, सूर, हरिदास, तुलसी प्रभृति भक्तोंद्वारा उसे पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया जा चुका था। भावों के उच्छल प्रवाह के लिए उसकी क्षमता सर्वस्वीकृत हो चुकी थी। पोद्दारजी के भक्त-मानस ने इस परम्परया प्रतिष्ठित काव्यरूप का अनुगमन श्रेयस्कर समझा। मुक्तक शैली में राग-रागिनियों के निर्देश सहित पदविन्यास इसी का द्योतक है।

इस प्रकार कल्पनाओं की उदात्तता, भावों की प्रगाढ़ता, अनुभूतियों की विलक्षणता, अभिव्यंजना की प्राणवत्ता, प्रस्तुतीकरण की मार्मिकता तथा चित्रण की स्वाभाविकता के द्वारा उन्होंने अभिव्यक्ति को सरस तथा हृदयग्राही बनाया है। पोद्दारजी ने भावसागर के अन्तस्तल में पैठकर अनुभूति के जो दिव्य रत्न प्राप्त किये, वे चिन्मयता के अखण्ड-प्रकाश से उद्दीप्त हैं। जन मानस उनसे अनन्तकाल तक मार्ग-दर्शन प्राप्त करता रहेगा।

ग्रंथ सम्पादन

पोद्दारजी के सम्पादन एवं निर्देशन में गीताप्रेस से संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी का प्रचुर साहित्य प्रकाशित हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी धर्म-दर्शन तथा सदाचार से सम्बद्ध हैं।

संस्कृत के ग्रंथ

संस्कृत के ग्रन्थों में गीता के विभिन्न संस्करण, आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा गीता पर लिखे गये भाष्य (सानुवाद), सम्पूर्ण महाभारत (सटीक), श्रीमद्-भागवत, श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, उपनिषद्, पुराण, ब्रह्मसूत्र, पातंजल-योगदर्शन, दुर्गासप्तशती आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त स्तोत्र, सहस्रनाम, नीतिपरक तथा व्याकरण ग्रंथ भी प्रकाशित हुए। ये सभी ग्रंथ अधिकारी विद्वानों की सहायता से पोद्दारजी की देखरेख में तैयार कराये गये। सम्पादन में तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया—पाठ पूर्णतया शुद्ध और प्रामाणिक हो, अर्थ व्याकरण-संगत और शास्त्र-सम्मत हो तथा व्याख्या में मर्यादा का ध्यान रखा जाय। इस सन्दर्भ में एक बार चर्चा करते हुए पोद्दारजी ने कहा था, संस्कृत के ग्रंथों का अर्थ करते समय अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। बृहदारण्यक उपनिषद निकल रहा था। उसके एक अध्याय में सगर्भा स्त्री के लिए जिन पौष्टिक औषधियों के सेवन का विधान है, उनके सभी नाम वृषभ-परक हैं। श्रीशंकराचार्य ने भी यही अर्थ किया है। पोद्दारजी इस अर्थ से सहमत न हो सके। कारण कि उससे पाठकों में धर्म-ग्रन्थों की पवित्रता तथा मान्यता के प्रति संदेह उत्पन्न होने की आशंका थी। उन्होंने पता लगाया तो वे सारे-के-सारे नाम ज्यों-के-त्यों आयुर्वेद में मिल गये, उसी गुण की औषधि विशेष के। इसी प्रकार महाभारत की अनुवाद-व्यवस्था से सम्बद्ध एक प्रसंग पर बातचीत करते हुए उन्होंने बताया कि 'महाभारत में राजा रन्तिदेव के प्रसंग में 'गवालम्भन' शब्द आता है। उसका अर्थ लोगोंने 'गोहत्या' किया है, जबकि उसका वास्तविक अर्थ 'गोस्पर्श' है।' रन्तिदेव के उक्त प्रसंग का अर्थ करते हुए यह कहा गया है कि रोज दो हजार गायों की हत्या होती थी, जिससे चन्दनवती नदी बह गयी। पोद्दारजी बहुत खोजबीन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उसका वास्तविक अर्थ यह है कि रन्तिदेव रोज दो हजार गायें दान करते थे। दान देने के पूर्व गायों को नहलाया जाता था। इस क्रिया में प्रयुक्त प्रचुर जल से नदी बह गयी। सम्पादन की प्रामाणिकता की रक्षा के लिए उन्होंने कहीं भी परंपरासे स्वीकृत मूलपाठ में परिवर्तन नहीं किया। उसे शुद्ध मानकर अनु-वाद करते समय अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने का पूरा प्रयास किया और उसमें भी यह ध्यान रखा कि वह अर्थ व्याकरण-सिद्ध एवं शास्त्रानुमोदित हो।

इसी प्रकार शृंगारिक प्रसंगों के अनुवाद में मर्यादा का पूरा ध्यान रखा गया है। सटीक भागवत का संपादन करते समय यह समस्या विशेष रूप से सामने आयी।

लोकाराधन

लोकसेवा पोद्दारजी की अध्यात्म चर्चा का ही एक अंग था। साधनात्मक उत्कर्ष के साथ ज्यों-ज्यों द्वैत-दृष्टि का अभाव होता गया, उसकी व्यापकता एवं प्रगाढ़ता बढ़ती गयी। परम स्थिति को प्राप्त करने के बाद उन्हें सारा व्यक्त जगत् अव्यक्त भगवत्स्वरूप की प्रतिकृति प्रतीत होने लगा। विराट् सत्ता से तादात्म्य स्थापित हो जाने से वे जीवमात्र से अपने को अभिन्न अनुभव करने लगे। ऐसी स्थिति में सबके सुख-दुःख उनके अपने सुख-दुःख हो गये। तब प्राणिमात्र की सेवा उन्हें अपने द्वारा की गयी अपनी ही सेवा मालूम होने लगी। इससे सेवाभावना के सहज दोष—प्रतिदान की आकांक्षा तथा कर्तृत्वाभिमान जाते रहे। पोद्दारजी की इस प्रेममयी सेवा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। सारा चराचर जगत् उनकी दृष्टि में सेव्य था। सेवा, गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार से होती थी। उनके द्वारा की गयी प्रकट सेवा लोक-विदित है, किन्तु अप्रकट एवं गुप्त सेवा का आकलन परिमित ज्ञान और सीमित दृष्टि-सम्पन्न मानव के लिए असम्भवप्राय है। इस गोपनीयता के बावजूद वह कृतार्थ जीवों के माध्यम से दिग्दिगंत में प्रसरित होती रही। इस पर कौन विश्वास करेगा कि लोक-सेवा में प्रतिवर्ष लाखों रुपये व्यय करने वाले इस मन के बादशाह के पास अपना एक पैसा भी नहीं था? किन्तु, सेवाकार्यों के लिए उन्हें कभी धनकी कमी नहीं रही। वे प्रायः कहा करते थे—'सेवा करनेवालों की कमी है, धन की नहीं; वह तो आयेगा ही, ईश्वर की कृपा से। पर सेवा होनी चाहिए सच्चे अर्थ में।'

देश के विभिन्न भागों से उनके पास प्रतिदिन अनेकों पत्र ऐसे व्यक्तियों के आते थे, जो अपनी या अपने किसी कुटुम्बी की चिकित्सा, बच्चों की फीस देने या पुस्तकें खरीदने, प्रसूतिकाओं की चिकित्सा एवं आहार-व्यवस्था, अन्त्येष्टिकर्म, कन्या के विवाह, विधवाओं के भरण-पोषण, गायों के लिए चारा इत्यादि की व्यवस्था के लिए उनसे आर्थिक सहयोग की प्रार्थना करते थे। उन पत्रों को पोद्दारजी स्वयं पढ़ते और यथासाध्य सहायता भिजवाने का प्रयत्न करते थे—किसी को मनीआर्डर द्वारा, किसी को बीमा द्वारा। वे जहाँ कहीं भी रहते ग़रज़मन्दों से घिरे रहते—माँगें अनेक प्रकार की होतीं—भोजन, आवास, किराया, वस्त्र, मंदिर-निर्माण, यज्ञ के लिए चंदा आदि। किसी को निराश करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था।

'कल्याण' एवं गीताप्रेस की सेवा में लगने के पश्चात् उनके शरीर का एक-एक कण तथा जीवन का प्रत्येक श्वास विश्वरूप प्रभु की सेवा में नियोजित रहा। अंतिम बीमारी के समय शय्याग्रस्त होने के बाद भी जबतक शरीर में कुछ भी शक्ति रही,

वे अपने पास भेजे गये अभावग्रस्त व्यक्तियों के पत्र स्वयं पढ़ते थे और स्वजनों द्वारा उन्हें सहायता भिजवाते थे। यह क्रम १३ मार्च सन् १९७१ तक अनवरत चलता रहा। शनैः-शनैः उन्हें आभास होने लगा कि शरीर भगवान् के विधानानुसार आगे चल नहीं सकेगा। अब उनमें बोलने तथा ठीक से संकेत करने की भी सामर्थ्य शेष नहीं रह गयी थी। अतएव उस रात्रि में उन्होंने अपनी सेवा के हिसाब की सब कापियाँ नष्ट करवा दीं। पास में जो धनराशि बाकी बची, उसकी वितरण-सूची लिखवा दी। इसके पश्चात् अत्यन्त विनम्र शब्दों में स्वजनों से आर्तसेवा की परम्परा चलाते रहने का अनुरोध करते हुए कहा—

"गोरखपुर आने के पश्चात् (सन् १९२७ से) अर्थ की दृष्टि से मैं निःस्व रहा हूँ—न मेरे पास अपना एक पैसा है, न कहीं कुछ जमा है, न मैंने कुछ कमाया है। गीताप्रेस, 'कल्याण' या अन्य किसी भी संस्था से मेरा आर्थिक सम्बन्ध नहीं रहा है; न मैंने भेंट-पूजा-उपहार के रूप में किसी से भी एक पैसा कभी लिया है। अवश्य ही मेरे द्वारा विभिन्न संस्थाओं की, भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदि दैवी-प्रकोपों से पीड़ित प्राणियों की एवं विधवा बहनों की सहायता में प्रचुर अर्थ व्यय हुआ है। पर वस्तुतः उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं था। यह सब हुआ है उन लोगों के भाग्य से और दाताओं के भगवत्प्रेरित या स्वेच्छा-प्रेरित दान से। इसके लिए किसी पर दबाव डालने की बात ही नहीं थी। मैंने न तो किसी से माँगा है और न अपील की है, वरन् परिस्थितिवश कभी-कभी दान की रकम पूरी-की-पूरी या अधूरी वापस कर दी है। जब 'भारतीय-चतुर्धाम-वेद-भवन-न्यास' का निर्माण हुआ और उसके लिए दान की अपील प्रकाशित हुई, तब उसमें सब ट्रस्टियों के साथ मेरा भी नाम प्रकाशित कर दिया गया। पर मैंने उसमें से अपना नाम निकलवा दिया और तब पत्रों को भिजवाया। मैंने कभी अर्थ के लिए की जाने-वाली अपील में अपना नाम नहीं दिया है। इस प्रकार की सहायता के लिए जो पैसे आते थे, उनमें से मैंने एक-एक पैसे का हिसाब रखा है, किसकी सेवा में वे पैसे लगे, यह भी बराबर लिखता रहा हूँ। तीन वर्ष तक उस हिसाब को रखता था। तीन वर्ष के पश्चात् उसे नष्ट कर डालता था। कहाँ से पैसा आया, किस-किस को दिया गया—इससे सम्बद्ध नाम मैं यथासम्भव ज्ञात नहीं होने देता था। कारण, मैंने जिसको जो-कुछ दिया है, वह भगवद्भाव से दिया है, वह मेरी अर्चा का एक स्वरूप रहा है। जिस कार्य के लिए जितने पैसे प्राप्त होते थे, उस कार्य में उतने पैसे अवश्य लगा देता था। चेष्टा तो यह रखता था कि उसमें कुछ अपने पास से भी सम्मिलित कर दूँ। मेरे पास का अर्थ है,—मेरे ऐसे साथी, ऐसे स्वजन, जिनका मुझसे कोई अलगाव न रहा हो।" पोद्दारजी की सेवाभावना इतनी प्रबल थी कि कभी पैसा न होता तो आपद्ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए वे अपनी पत्नी के

गहनों तक को बेचने में संकोच नहीं करते थे। श्रीमोहनलाल सारस्वत (रतनगढ़) को लिखे गये निम्नांकित पत्र में इस प्रकार की एक घटना का उल्लेख है—

श्रीहरिः

गोरखपुर

प्रिय श्रीमोहनजी, जेठ बदी २,२०१०

सादर सप्रेम हरिस्मरण ।

आप का तारीख २७-५-५३ का पत्र मिला। एक कार्ड जयपुर से मिला था। ····की पत्नी को ····मासिक देकर रसीद लेते रहियेगा। श्री········के बाबत लिखा, सो ठीक है, मुझे स्वयं उनकी बड़ी चिन्ता है। उनकी बीमारी की स्थिति सुनकर मैं और कुछ भी नहीं कर सकता, जो-कुछ व्यवस्था हो सकी उनको दे दिया गया; भविष्य में (छः महीने के लिए सोचकर) सौ रुपये प्रतिमास भेजने की बात उनसे कह दी है। पर आप जानते हैं, मैं तो सर्वथा अकिंचन हूँ। मेरे पास पैसा नहीं। दुनिया की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर हो गयी है कि पहले लोग अपनी इच्छा से अच्छे काम में पैसा लगाने को कहते थे, अब वह तो सर्वथा बंद हो गया है—कहने पर भी नहीं होता। मैं बंबई से काम छोड़कर इसीलिए आया था कि एक पैसा भी कमाऊँगा नहीं, पैसे का संबंध किसी से रखूँगा नहीं, गरीबी से रहूँगा। लगभग २० वर्षों तक ऐसा निभ गया। उसके बाद माया के चक्कर में फँसा। पैसों का सम्बन्ध होने लगा—चाहे परोपकार के लिए ही हो, परन्तु किसी से माँगा नहीं। इधर दो-तीन वर्षों से मित्रों के, अभावग्रस्तों के, आग्रह पर लोगों से कहने का कुछ काम पड़ा। बड़ा कटु अनुभव हुआ। मन में ग्लानि हो गयी। कहने पर काम नहीं हुआ। यदि कुछ हुआ तो बड़े भारी एहसान तथा ऋण का बोझ उठाकर। मित्र लोग, तथा जिनके अभाव है, वे इस बात को कैसे समझें ? मैं बहुत असमंजस में पड़ जाता हूँ। श्री··· से कह दिया। पर मेरे पास एक पैसा भी नहीं, प्रेस की रोकड़ से—उचंत में लेकर उनको रुपये दे दिये, किन्तु अभी तक वे वापस नहीं किये जा सके। पिछले दिनों एक सज्जन को ६००) देने थे—सहायता में। कहीं प्रबन्ध नहीं हुआ—सावित्री की माँ का एक गहना बेचकर दिया। यह स्थिति है ! कैसे लेता-देता हूँ, इसीसे आप अनुमान कर सकते हैं। किससे कहूँ ? लाभ भी क्या है ? इसी से श्री········को पत्र नहीं दिया। उनके दो पत्र आये, एक पहले आया था, दूसरा आज आया। आप उन्हें मेरे नाम लिखकर एक सौ रुपया दे दीजियेगा।

उन्होंने (रु०२८७) अंदाज ऋण के लिखे हैं, मासिक खर्च के भी (१५०) अंदाज बतलाये हैं और ठंडी जगह जाने की बात लिखी है। बातें तीनों ही ठीक हैं, पर मैं उन्हें क्या लिखूँ ? मेरे पास कोई व्यवस्था नहीं है। १००) रु० महिना तो छः महीने तक मैं किसी प्रकार भेजता रहूँगा, पर इससे अधिक कुछ भी करने की मेरी परिस्थिति

नहीं है। उनके ऋण के रुपये मैं शीघ्र भेज दूँ, ऐसी मेरी बड़ी इच्छा है, पर जब तक व्यवस्था न हो तब-तक मैं क्या लिखूँ? ....उनके बाहर जाने बाबत भी मैं क्या लिखूँ? उनके शरीर पर बुरा असर न पड़े, इसलिए उनको न लिखकर ये समाचार मैंने आप को लिखे हैं। आप इनका सारांश स्पष्ट उन्हें बता दीजिये। मैं हृदय से उनकी सेवा करना च हता हूँ, पर कर सकूँगा, तभी जब भगवान चाहेंगे। उनको मैं अभी पत्र नहीं लिख रहा हूँ।

आप का भाई

हनुमान

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सेवा के सम्बन्ध में पोद्दारजी के विचार कितने उन्नत एवं सात्त्विक थे। अपने से नीचे स्तर वाले व्यक्ति की सामर्थ्यानुसार सहायता-सेवा उनकी दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य का सामान्य धर्म है। वे कहते हैं—''जिसके पास एक सौ रुपया है, वह दो सौ रुपये वालों को न देखे, वह दस रुपये वालों को देखे और अपने एक सौ रुपयों में से अधिक रुपया कम वालों को बाँट दे। गीता में भगवान् ने कहा है—

यज्ञाशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'सबको सबका हिस्सा देकर जो बचा है, वह उसे खाये। जो अपने लिए कमाता-खाता है, वह पाप खाता है'—गीता के इस श्लोक का मैं यह अर्थ करता हूँ।

'जिसके पास जो कुछ है, वह सबका सब परार्थ है, सबका मिला हुआ—सम्मिलित धन है, उसमें सबका भाग है, वह सबका है, उसका नहीं है। जहाँ-जहाँ उसकी आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, सदाशयता एवं समादर के साथ उसका उपयोग करना कर्तव्य है।''

इसी सन्दर्भ में एक घटना की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, ''एक बार कपड़ा बाँटने के लिए हमलोग देहातों में गये। पाँच-छः गाँवों में सात-आठ घर हमें ऐसे मिले, जो बाहर से बन्द थे। पूछने पर पड़ोसियों ने बताया कि इन घरों की बहनों के पास पहनने को साड़ी नहीं है। जो साड़ी है, वह इतनी फट गयी है कि शरीर दिखाई देता है। अतएव वे बहनें घर को बन्द करके उसी में रहती हैं। आप भीतर साड़ी फेंकिये और आवाज दीजिये। वे आपकी साड़ी पहनकर बाहर आ सकेंगी। वैसा ही किया गया। बात सर्वथा सत्य थी। मेरी आँखों में अपने देश की बहनों की यह दुर्दशा देख-कर आँसू आ गये। मन में आता है, यदि हमारी बहनें चार-पाँच सौ रुपये की साड़ी न पहनकर, तीस-चालिस रुपये की साड़ियाँ पहन लें और जो बचे उसमें वे पाँच-छः

रुपये मूल्य वाली साड़ियाँ खरीद कर पचासों बहनों को पहना दें तो कितना अच्छा हो ! देश की एक भी बहन नंगी न रहे । बढ़िया कीमती कपड़े पहनना पाप है ।''

इस प्रकार की व्यक्तिगत अथवा व्यष्टि-सेवा पोद्दारजी के दैनंदिन जीवन का एक अभिन्न अंग बन गयी थी । इसके अतिरिक्त दैवी तथा भौतिक आपत्तियों के समय, प्रसिद्ध पर्वों के अवसरों पर, गोरक्षा तथा गोसेवा के निमित्त तथा समाज-सेवा के लिए वे उच्चस्तरीय समष्टि-सेवा का आयोजन करते थे । इनके लिए आर्थिक-साधन उपलब्ध कराने के साथ सारी व्यवस्था की देखरेख भी वे स्वयं करते थे ।

पोद्दारजी स्वयं अकिंचन थे, किन्तु उनके तपोनिष्ठ सदाचारपूर्ण तथा सेवापरायण व्यक्तित्व की समाज में इतनी साख स्थापित हो गयी थी कि सम्पन्न लोग उनके माध्यम से लोकसेवा के लिए धन देने में गौरव का अनुभव करते थे । यही कारण था कि जीवन में उन्होंने मानव तथा इतर जीव-सेवा के लिए जो भी योजना चलायी, उसके लिए रुपये ज्ञात-अज्ञात स्रोतों से अनायास ही उपलब्ध हो गये । अर्थ-संकोच का कभी उन्हें अनुभव ही नहीं हुआ । इस सम्बन्ध में उनका स्वयं कहना है—

"मैं समझता हूँ, कि पब्लिक-सेवा-कार्यों में करीब करोड़ रुपया खर्च हुआ होगा । दान वाला अलग है, मेरा अलग । हमारे पास तो एक पैसा नहीं है, न हमने कमाया और न किसी से एक पैसा माँगा । अकाल के समय जो लोग देते थे, वह लेता था । गीताप्रेस में चन्दा नहीं लेते । किसी से हम कभी माँगते नहीं थे, आया और लगा दिया ।''

परोपकारपरायण के लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है—पोद्दारजी के क्रियाकलाप इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

संचालन-परामर्श-सहायता आदि माध्यमों से वे देश के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाली लोकसेवी संस्थाओं को जीव-कल्याण में सतत संलग्न रहने की प्रेरणा देते थे । पोद्दारजी से सम्बद्ध संस्थाओं की संक्षिप्त सूची नीचे दी जाती है—

१. कुष्ठ-सेवाश्रम, गोरखपुर ।
२. श्रीशार्दूल फ्री वाटर सप्लाई वर्क्स, रतनगढ़ (राजस्थान) ।
३. मूक-बधिर-विद्यालय, गोरखपुर ।
४. गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश ।
५. गांधी-बाल-निकेतन, रतनगढ़ ।
६. श्रीभगवान-भजनाश्रम, वृन्दावन ।
७. श्रीपञ्चायती-गोशाला, वृन्दावन ।
८. चित्रकूट-भजनाश्रम ।
९. ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चुरू, राजस्थान ।

१०. स्वर्गाश्रम-ट्रस्ट, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)।
११. गीताभवन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)।
१२. मंगलनाथ गोशाला, ऋषिकेश।
१३. श्रीकृष्ण-जन्मभूमि-सेवा-संघ, मथुरा।
१४. अखिल-भारतीय-आर्य-हिन्दू-सेवा-संघ, दिल्ली।
१५. अखिल-भारतीय-अग्रवाल-सेवा-समिति, प्रयाग।
१६. धन्वंतरि-मन्दिर-आयुर्वेदिक-रसायनशाला, रतनगढ़।
१७. जनहित-न्यास, सरदारशहर, राजस्थान।
१८. श्रीरतनगढ़-नेत्र-चिकित्सालय, रतनगढ़।
१९. नवद्वीपभजनाश्रम-ट्रस्ट, रामचन्द्रपुर (प० बंगाल)।
२०. वृन्दावन-भजन-सेवाश्रम।
२१. बिहार-राज्य-गोशाला-पिंजरापोल-संघ, सदाकत आश्रम, पटना।
२२. श्रीराजस्थान-ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, रतनगढ़।

आपत्कालीन सहायता

देश के विभिन्न भागों में समय-समय पर आनेवाली आकस्मिक आपत्तियों के अवसर पर पोद्दारजीने तत्कालिक सेवा-व्यवस्था 'गीताप्रेस सेवादल' के माध्यम से जितनी निष्ठा और उदारता से आयोजित की, वह शासन के लिए अनुकरणीय बन गयी। उनकी प्रबन्ध-पटुता और ईमानदारी से प्रभावित होकर सरकार ने भी गीताप्रेस के द्वारा ही अनेक आपत्कालीन सेवाकार्यों में राजकीय अनुदान का वितरण कराया। यह उल्लेखनीय है कि पोद्दारजी ने इस प्रकार के सहायता कार्यों के लिए कभी जनता से धन देने की अपील नहीं निकाली, सारी व्यवस्था उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से अनायास प्राप्त धन से होती थी। नीचे इस प्रकार के सेवाकार्यों का कुछ विवरण दिया जाता है—

१. बिहार-भूकम्प-सहायता-कार्य, सं० १९९२।
२. गोरखपुर के बाढ़-पीड़ितों की सहायता (प्रायः प्रतिवर्ष)।
३. राजस्थान में अकाल-सेवा, सं० १९९५।
४. नोआखाली कांड, सं० २००३।
५. सर्वदलीय-गोरक्षा-आन्दोलन, सं० २०२३।
६. बिहार में अकाल-सेवा, सं० २०२३।
७. अकालग्रस्त राजस्थान में वृहद्-सेवा-योजना, सं० २०२३।
८. तिहाड़-कांड-जेल-पीड़ित-सहायता, सं० २०२४।
९. आसाम के तूफानग्रस्त क्षेत्र में सेवाकार्य।
१०. पूर्वी पाकिस्तान के तूफान पीड़ितों की सहायता, सं० २०२६।

प्राचीन देवालयों का पुनरुद्धार

शताब्दियों के विदेशी-शासन, अंग्रेजी-शिक्षा तथा पाश्चात्त्य-सभ्यता के प्रभाव से हिन्दू-समाज विशेष रूप से उसका नवशिक्षित वर्ग अपने धार्मिक विश्वासों तथा संस्कृति की आधारभूत परम्पराओं की उपादेयता को संदेह की दृष्टि से देखने लगा था। इससे धर्माचरण की मूलभित्ति—श्रद्धा और विश्वास का उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा। समाज के कर्णधार उसके घातक परिणामों की कल्पना से ही सिहर उठे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन संघटित न हो सका। धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना जिस महान् उद्देश्य से की गयी थी, व्यावहारिक धरातल पर सब कुछ उसके विपरीत ही देखने में आया। अल्प-संख्यक होने से मुसलमानों तथा ईसाइयों के धार्मिक एवं सामाजिक विधान पूर्ववत् अछूते रहे, किन्तु बहुसंख्यक होने के दंडस्वरूप हिन्दुओं की श्रुति-स्मृति-अनुमोदित जीवन-पद्धति में सीधा हस्तक्षेप किया जाने लगा। 'हिन्दू-कोड-बिल' उसका एक उदाहरण था। सरकार की ढुलमुल नीति के कारण बहुसंख्यक होने के बावजूद हिन्दू भारत में गोहत्या का वैधानिक निषेध न करा सके। एक ओर जहाँ हिन्दुओं द्वारा धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए स्थापित संस्थाओं और उनके तत्त्वावधान में सम्मिलित आन्दोलनों को सांप्रदायिक कहकर कुचलने में ही शासन की सफलता मानी गयी, वहीं दूसरी ओर ईसाइयों और मुसलमानों द्वारा चलाये गये धर्मप्रचार तथा धर्मपरिवर्तन-अभियान को नजरअंदाज किया जाता रहा।

अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की यह नीति हिन्दू-हितों की रक्षा नहीं कर सकती, इस विश्वास ने धर्माचार्यों तथा मनीषियों को धर्मरक्षार्थ स्वावलम्बन का मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी। हनुमानप्रसादजी पोद्दार जैसा अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति भी, जिसके सारे क्रियाकलाप धर्म, सम्प्रदाय, जाति और वर्ग-भावना के घरौंदों से परे थे—इस सम्भावना से चिंतित हो उठा। इसके प्रतिकार के लिए उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार रचनात्मक पद्धति अपनायी। प्राचीन देवालयों का पुनरुद्धार उसी का एक अंग था। उनकी धारणा थी कि सामान्य हिन्दू जनता में निष्ठा तथा आस्तिक-भावना की रक्षा के लिए देवपूजा की पुनर्प्रतिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इस दिशा में भी नये मन्दिरों के निर्माण की अपेक्षा प्राचीन देवालयों के जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण को वे अधिक पुण्यदायक तथा लोककल्याणकारी मानते थे। अयोध्या, मथुरा, सालासर आदि तीर्थों के ऐतिहासिक मन्दिरों के पुनरुद्धार एवं सेवा-व्यवस्था में सहयोग के पीछे उनके अन्तस्तल में निहित यही भावना काम कर रही थी।

श्रीरामजन्मभूमि (अयोध्या) का उद्धार

अयोध्या के रामकोट मुहल्ले में मर्यादापुरुषोत्तम राम की ऐतिहासिक जन्मस्थली अनन्तकाल से हिन्दुओं का एक पुण्यतीर्थ रहा है। पौराणिक युग के समाप्त

होते-होते यहाँ का प्राचीन मन्दिर ध्वस्त हो चुका था। हिन्दू-संस्कृति के पुनरुत्कर्ष काल में शकारि विक्रमादित्य ने इसका जीर्णोद्धार कर कसौटी के ६४ खम्भों से युक्त एक विशाल मन्दिर निर्मित कराया। तब से यह अयोध्या के दर्शनीय स्थलों में प्रमुख रहा। उसकी यह धार्मिक प्रतिष्ठा ही मुस्लिम-विजय के पश्चात् विनाश का कारण बन गयी। १५२८ ई० में मुगल बादशाह बाबर ने अयोध्या पर आक्रमण करके विजयोन्माद में उसे तोड़ डाला और ध्वसांवशेषों पर एक मस्जिद बनवायी, जो बाद में 'बाबरी मस्जिद' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसमें लगे हुए काले पत्थर के देव मूर्त्यांकित खम्भे आज तक अपने अतीत की गाथा सँजोए हुए हैं।

इस घटना के पश्चात् मस्जिद के पास ही प्राचीन राममन्दिर से संलग्न भूमि पर हिंदुओं ने एक दूसरा छोटा-सा राममन्दिर बना दिया, किन्तु प्राचीन राममन्दिर की पुनर्प्राप्ति के लिए उनका प्रयास निरन्तर चलता रहा। २३ दिसम्बर १९४८ की रात को यहाँ एक विचित्र घटना घटी। जिस समय समस्त चेतन प्रकृति निद्रादेवी की गोद में विश्राम कर रही थी, बाबरी मस्जिद में अकस्मात् भगवान का प्राकट्य हो गया। प्रातः होते-होते यह सम्वाद सारे नगर में विद्युत् गति से फैल गया। विप-क्षियों ने इसे षड्यन्त्र की संज्ञा देकर मस्जिद से मूर्ति हटाने के लिए फैजाबाद के जिला न्यायाधीश की अदालत में वाद प्रस्तुत किया। जिलान्यायाधीश ने दोनों पक्षों की दलीलें सुनने के बाद यथास्थिति कायम रखने का निर्णय सुनाते हुए मुकदमे के अन्तिम निर्णय तक मूर्ति को सुरक्षित रखने तथा उसकी विधिवत् सेवा-पूजा व्यवस्था का आदेश दिया। सरकार ने शान्तिभंग होने के भय से उसी समय से जन्मभूमि पर सशस्त्र पुलिस का पहरा बैठा दिया।

बाबरी मस्जिद में भगवान् के प्रकट होने का सम्वाद पाकर पोद्दारजी अयोध्या गये। सन्तमहात्माओं तथा अन्य कार्यकर्ताओं को उनकी उपस्थितिमात्र से अपार आश्वा-सन तथा प्रोत्साहन मिला। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या सरकारी पहरे के भीतर भगवान् की सेवा-पूजा तथा अखंड-कीर्तन के आर्थिकभार की व्यवस्था करने की थी। इसपर प्रतिमाह लगभग १५००) का व्यय संभावित था। मुकदमे का खर्च इससे पृथक् था। पोद्दारजी ने उसके प्रबंध का दायित्व अपने ऊपर ले लिया और धर्मनिष्ठ श्रीमानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर यथोचित व्यवस्था करा दो। इस योजना के संचालन में समय-समय पर आने वाले छोटे-मोटे खर्चों को वे स्वयं वहन करते थे।

पोद्दारजी ने इस कांड से हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच उत्पन्न वैमनस्य को मानवीय धरातल पर मिटाने का प्रयास किया। एक सच्चे राष्ट्रप्रेमी नागरिक के रूप में उन्होंने इस्लामीधर्म-दर्शन के मर्मज्ञ, विचारशील मुसलमानों से सम्पर्क स्थापित किया और हिन्दू-मन्दिर में मुस्लिम पूजागृह के अस्तित्व की वैधता पर उनके स्वतन्त्र मत संकलित किये। इस विचार के उन्होंने कुछ उदार मुसलमानों को

साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना के उद्देश्य से अयोध्या भेजा और उनके द्वारा वहाँ की जनता के समक्ष दिये गये वक्तव्यों को पत्रों में छपाकर वितरित कराया। उनमें से कुछ ने जन्मभूमि में स्थापित राममूर्ति को हटाने के पक्ष में मुसलमानों के द्वारा संचालित आन्दोलन के विरोध में दिल्ली में अनशन करने की भी धमकी दी। इसके अतिरिक्त अपने सुपरिचित राज्याधिकारियों, नेताओं तथा समाजसेवकों को व्यक्तिगत पत्र लिखकर उन्होंने इस समस्या को सद्भावनापूर्वक सुलझाने में सहयोग देने का आग्रह किया।

श्रीकृष्ण जन्मभूमि में भागवत भवन का निर्माण

श्रीरामजन्मभूमि के उद्धार की भाँति मथुरा में श्रीकृष्ण जन्मस्थान के लुसप्राय गौरव की पुनर्स्थापना के लिए भागवतभवन-निर्माण की बृहद् योजना की कल्पना तथा कार्यन्वयन भी पोद्दारजी का एक महान् अवदान है। इस स्पृहणीय अनुष्ठान की भूमिका अकस्मात् बन गयी।

एक बार की बात है। अपने कुछ साथियों के साथ पोद्दारजी तीर्थाटन करते हुए मथुरा पधारे। वहाँ इनके सम्मान में लक्ष्मीदास-भवन में एक समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर एक सज्जन ने पोद्दारजी का ध्यान श्रीकृष्ण-जन्मस्थान की दुर्दशा की ओर आकृष्ट करते हुए निवेदन किया, ''मथुरा में प्रतिवर्ष लाखों यात्री आते हैं। ऐसा कौन है जिसका हृदय श्रीकृष्ण जन्मभूमि की वर्तमान दुरवस्था को देखकर शतधा विदीर्ण न होता हो ?'' स्वागत समारोह के अन्त में कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए पोद्दारजी खड़े हुए। उनके नेत्र अश्रुपूरित थे। कृष्ण-जन्मभूमि के उद्धार सम्बन्धी प्रस्ताव का हृदय से अनुमोदन करते हुए बोले,—''जन्मस्थान के प्रति जो कुछ कहा गया, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। एतन्निमित्त अपने क्षुद्र प्रयास भी अर्पित करने को प्रस्तुत हूँ। शीघ्र ही दस हजार रुपये आपलोगों की सेवा में भेजूँगा। वास्तव में यह कार्य आपके ही कर्त्तव्य-पालन की अपेक्षा करता है।'' पोद्दारजी के इस वक्तव्य पर उपस्थित लोगों ने हर्षध्वनि की।

गोरखपुर लौटने पर पोद्दारजी ने दस हजार रुपये तत्काल भेजवा दिये। श्रीकृष्ण जन्मस्थान के विकास-यज्ञ की यह प्रथम आहुति थी। सहयोगियों से विचार-विमर्श करने के बाद उस स्थानपर सं २०१५ में श्री केशवदेव मन्दिर तथा सं० २०१९ में विशाल 'श्रीकृष्ण चबूतरा' का निर्माण करवाया। श्री केशवदेव मन्दिर का उद्घाटन भी पोद्दारजी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् उस स्थान पर एक विशाल 'भागवतभवन' बनाने की योजना बनी। प्रारम्भ में उस पर होनेवाला व्यय २२ लाख रुपये था, किन्तु आगे चलकर उसका रूप बहुत बड़ा हो गया। अनुमानित व्यय की राशि भी उसी अनुपात से बढ़ गयी। भवन

का शिलान्यास सं० २०२१ वि० माघ शुक्ल १०, गुरुवार (११ फरवरी १९६५) को पोद्दारजी के हाथों हुआ। इस अवसर पर योजना के सांस्कृतिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए पोद्दारजी ने जो वक्तव्य दिया, वह अत्यन्त सारगर्भित था। उनके शब्द थे, "लगभग ३५० वर्ष पूर्व अत्याचारी औरंगजेब के द्वारा मन्दिर के ध्वंस किये जाने के बाद यही पहला अवसर है, जब इस पुण्यभूमि में व्रज के विद्वानों द्वारा श्रीमद्भागवत का मंगल-पारायण हो रहा है। इस प्रकार भस्मीभूत स्थल पर जो पवित्र सुधा-धारा प्रवाहित हो रही है, उसके लिए इन अनुष्ठानों के पुण्यभागी संयोजकों का हम सभी हृदय से अभिनन्दन करते हैं।"

इस पुनीत आयोजन के उपलक्ष्य में भागवत के सप्ताह-परायण के साथ, भागवत-कथा, रासलीला आदि के बृहद् कार्यक्रम हुए। संयोगवश उस समय वहाँ 'कलकत्ता समाचार' के सम्पादक और पोद्दारजी के पुराने मित्र पं० झाबरमल्ल शर्मा भी उप-स्थित थे। पोद्दारजी से मिलकर वे गद्‌गद हो गये और उनके सम्मान में तत्काल विरचित निम्नांकित काव्यांजलि अर्पित की—

परम भागवत मित्रवर, श्रीहनुमानप्रसाद !
तेरा दर्शन लाभ कर गत-कल्मष-अवसाद ॥
तू चिंतक है तत्त्व का तथा धर्म का सेतु।
दिखलाया कल्याण-पथ जनहित-साधन-हेतु ॥
भक्त-शिरोमणि, संतवर, साधक, प्रेमाधार !
चिरस्नेही का कीजिये अभिनन्दन स्वीकार ॥

भागवत-भवन के निर्माण में पोद्दारजी ने स्वयं तो प्रयत्न किया ही, देश की प्रसिद्ध समाज-सेवी संस्थाओं तथा सरकार से भी योगदान करने की अपील की। भागवत भवन का निर्माण-कार्य अभी चल रहा है। उसके पूरा होने पर इस का भारतीय सांस्कृतिक स्थानों में अपना एक विशिष्ट स्थान होगा।

इसी प्रकार श्रीसालासरजी (राजस्थान) के हनुमान-मन्दिर की सुरक्षा एवं सेवा की समुचित व्यवस्था के लिए पूजा-पात्रों का प्रबन्ध कर उन्होंने प्राचीन धार्मिक परम्पराओं के समुचित-निर्वाह में यथोचित अंशदान किया। श्रीसालासरजी के मन्दिर में पूजा के बर्तनों की व्यवस्था करने के लिए एक व्यक्ति को लिखा गया उनका पत्र नीचे उद्धृत है—

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुर,
दिनांक २०–६–६५

पूज्य श्रीमालीरामजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपको एक कष्ट दिया जा रहा है। श्रीसालासरजी में पूजा के लिए कुछ चाँदी के बर्तन आदि बनवाने हैं। मालूम हुआ है कि सरदारशहर में

बहुत अच्छे बनते हैं और दाम भी किफायत से लगते हैं। सालासर के पुजारी श्रीप्रह्लाद-रायजी आपसे मिल रहे हैं। इनके पास बर्तनों की सूची है, ...कुल मिलाकर एक हजार भरी चाँदी के बर्तन बनवाने हैं। इस सूची में यथायोग्य परिवर्तन करके ये जैसा—जो कुछ बनवाना चाहें, बनवा देना चाहिए। आपकी स्वीकृति का पत्र मिलते ही रुपये बीमा से भिजवा दिये जायेंगे। काम अच्छा मजबूत और किफायत से हो, यह तो आप स्वयं देखेंगे ही।

आशा है, आप सानन्द एवं स्वस्थ होंगे।

शेष भगवत्कृपा।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

इन महान कार्यों के अतिरिक्त कितने पुराने मन्दिरों की मरम्मत, कितनी प्राचीन उपेक्षित मूर्तियों की स्थापना एवं नये मन्दिरों के निर्माण तथा कितने भग्नप्राय संतपीठों के उद्धार में सेवाव्रती व्यक्तियों तथा संस्थाओं को उन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता प्रदान की, इसका विवरण प्रस्तुत करना स्मृति तथा अनुमान दोनों की शक्ति के परे हैं।

चतुर्धाम-वेद-भवन की स्थापना

विश्ववाङ्मय की प्रथम कृति के रूप में वेदों का शीर्षस्थान है। हिन्दू-जीवन और धर्म-साधना का तो वह मूल प्रेरणास्रोत ही है। उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्य-पाल श्रीविश्वनाथदास वैदिक साहित्य के एकान्त प्रशंसक और भक्त थे। एकबार वे अपने मित्र श्रीपरेशचन्द्र चटर्जी के साथ बद्रीनाथ यात्रा पर गये। वहाँ उनके मन में वैदिक ज्ञान के आलोक-विस्तार के हेतु वेदों के अध्ययन-अध्यापन, वैदिक-साहित्य के प्रकाशन, वैदिक-ऋचाओं के ज्ञान एवं पाठ तथा वैदिक-साहित्य पर शोधकार्य की व्यवस्था करने का संकल्प हुआ। अपने विचार उन्होंने चटर्जी महाशय के समक्ष रखे। उन्होंने इसकी सराहना की और तदर्थ पचास हजार रुपये देने का वचन दिया। बात-ही-बात में इसके लिए उपर्युक्त स्थान जगन्नाथपुरी जँचा, अतः वहाँ वेदभवन स्थापित करने का निश्चय हो गया।

इस घटना के कुछ दिनों बाद दास महोदय का गोरखपुर आगमन हुआ। उन्होंने इस योजना की चर्चा पोद्दारजी से की। इन्होंने इसका सहर्ष अनुमोदन करते हुए यह सुझाव दिया कि जगन्नाथपुरी में ही नहीं, अन्य तीन धामों में भी इसकी स्थापना की जाय। श्रीदास को योजना का यह व्यापक रूप बहुत प्रिय लगा। पोद्दारजी ने इस सम्बन्ध में गोरक्षपीठ के महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी महाराज से परामर्श किया और उनसे सक्रिय सहयोग की प्रार्थना की। महन्तजी ने इस सद्विचार का स्वागत करते

हुए यथेष्ट योगदान का वचन दिया। पोद्दारजी ने यह सूचना माननीय श्रीश्रीप्रकाशजी को दी। उन्होंने भी इसकी उपादेयता की सराहना की। इस प्रकार भूमिका प्रस्तुत हो जाने के बाद योजना को अंतिम रूप देने के लिए २७ जनवरी १९६५ को गोरखनाथ-मन्दिर में विचारगोष्ठी का आयोजन हुआ। सर्वसम्मति से 'चतुर्धाम-वेद-भवन-न्यास' की स्थापना करने का निर्णय किया गया और उसके प्रथम महासचिव के रूप में श्री-विश्वनाथदास का नाम स्वीकृत हुआ। श्रीदास इस सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर सक्रिय हो गये। उनका मुख्य कार्य था समाज के सभी वर्गों के प्रतिष्ठित लोगों से मिलकर उन्हें योजना का महत्त्व बताना तथा कार्यसंचालन के लिए धन-संग्रह करना। पोद्दारजी उनके सहायतार्थ संयुक्त-मंत्री बनाये गये और संरक्षक हुए पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीनिरंजनदेवतीर्थ।

देश के प्रसिद्ध उद्योगपतियों तथा समाजसेवकों में पोद्दारजी के अद्भुत प्रभाव तथा लोकप्रियता का इस योजना को पूरा लाभ मिला। इन्होंने श्रीविश्वनाथदास के साथ इस सम्बन्ध में कई स्थानों की यात्रा की और अनेक उदार पूँजीपतियों से पत्रा-चार द्वारा धनसंग्रह का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप १९६८ ई० तक लगभग आठ लाख रुपये संग्रहीत हो गये। इस धन का उपयोग निम्नांकित तीर्थ-स्थानों पर प्रतिष्ठित वेद-प्रचार-केन्द्रों में किया जा रहा है—बद्रीनाथ रुद्रप्रयाग, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारका, कालड़ी (केरल), गोकर्ण (मैसूर), श्रीरंगम (तमिलनाडु) तथा प्रयाग।

वेद विद्यालयों में वेदों के साथ-साथ अन्य विषयों का भी अध्ययन कराया जाता है। जगन्नाथपुरी में नित्य यज्ञ होता है और चारों धामों के वेद-मन्दिरों में प्रति-दिन वैदिक ऋचाओं के सस्वर पाठ की व्यवस्था है।

विकलांग सेवा

मूक बधिर विद्यालय की स्थापना

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद विकलांगों की सेवा पर काफी ध्यान दिया गया है और उनके लिए उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। किन्तु इस विशाल देश की आवश्यकता को देखते हुए वह अत्यन्त नगण्य रही है। गोरखपुर नगर में इस प्रकार की कोई संस्था नहीं थी। पोद्दारजी ने इस अभाव की पूर्ति के लिए सन् १९५५ ई० में 'मूक-बधिर-विद्यालय' की स्थापना की, जिसमें मूक तथा बधिर बालकों को उचित शैक्षणिक उपचार एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान कर समाजो-पयोगी नागरिक बनाने की व्यवस्था हुई। प्रारम्भ में एक किराये के मकान में इस विद्यालय में १५ बच्चों को प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध किया गया। कुछ ही दिनों बाद पोद्दारजी के प्रयास से इसके संचालन के लिए एक प्रबन्ध-समिति गठित हो गयी। १९६५ ई० में उन्होंने इस विद्यालय के लिए एक पृथक् भवन बनवा दिया। इस विद्यालय से

अब तक एक सौ से अधिक बच्चे प्रशिक्षित हो करके विभिन्न व्यवसायों में कार्य करते हुए सुखद जीवन-यापन कर रहे हैं ।

कुष्ठसेवाश्रम योजना

कुष्ठ रोगियों की सेवा के निमित्त गोरखपुर में कुष्ट-आश्रम की स्थापना में पोद्दारजी ने स्मरणीय सहयोग दिया । इस ओर सर्वप्रथम ध्यान पूर्वांचल के प्रसिद्ध समाजसेवी बाबा राघवदास का गया । उनके प्रयत्न से 'गांधी-स्मारक-निधि' की उत्तर प्रदेश शाखा ने जनवरी १९५१ में उत्तर-प्रदेश में एक कुष्ट-सेवाश्रम स्थापित करने का निश्चय किया । तराई एवं पहाड़ी क्षेत्र को कुष्टरोग से अधिक प्रभावित देखकर उक्त कुष्ठ-आश्रम की स्थापना गोरखपुर में की जाय, यह निश्चय हुआ । बाबा का पोद्दारजी से आत्मीयता का सम्बन्ध था । वे इनकी जीव-दया तथा आर्त-सेवा-भावना से अच्छी तरह परिचित थे । अतएव इस योजना को कार्यान्वित करने में उन्होंने श्रीपोद्दारजी से भी सहयोग लिया ।

सन् १९५१ की 'तिलक-जयन्ती' के पुण्य पर्वपर कुष्ट-सेवाश्रम की स्थापना की गयी । कुछ ही महीनों पश्चात् संत श्री विनोबाजी भूदान-ग्रामदान-कार्य से उत्तर प्रदेश में प्रविष्ट हुए । बाबा राघवदासजी उनके साथ हो गये । परिणाम-स्वरूप संस्था का सम्पूर्ण भार पोद्दारजी के कंधोंपर आगया । उन्होंने प्रयत्न करके सन् १९५३ में इस संस्था को 'कुष्ट सेवाश्रम' के नाम से पंजीकृत कराकर स्थायित्व प्रदान किया । आरम्भ में एक-दो वर्षोंतक गांधी-स्मारक निधिसे सहायता मिलती रही, परन्तु फिर बन्द हो गयी । पोद्दारजी ने इसके संचालन में अपेक्षित व्यय-व्यवस्था सम्बन्धी उत्तर-दायित्व को भी पूर्ण सफलता के साथ निभाया यहाँ । कुष्टरोगियों के भोजन, चिकित्सा तथा आवास की स्थायी व्यवस्था है । इसका अपना अलग चिकित्सालय है, जिसमें सेवापरायण डॉक्टर और कुशल प्रशिक्षक जीवन से निराश और समाज द्वारा उपेक्षित कुष्टरोगियों को स्वास्थ्यलाभ के साथ ही जीविकोपार्जन के लिए औद्योगिक शिक्षा की भी व्यवस्था करते हैं । कुष्ट-सेवा के क्षेत्रमें गोरखपुर के कुष्ट-सेवाश्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान है । आज यह सेवाश्रम विशाल वट वृक्ष के सदृश अपनी छायामें सहस्त्रों कुष्ट-रोगियों के लिए चिकित्सा एवं सुख-शान्ति-प्राप्ति की व्यवस्था कर रहा है ।

जीवदया

पोद्दारजी का सेवाक्षेत्र चराचरव्यापी था । यह दूसरी बात है कि उसका सर्वाधिक प्रसाद मानव-जगत को प्राप्त हुआ, किन्तु उनके हृदय में अन्य जीवों के पोषण एवं त्राण की कितनी लालसा उद्वेलित रहती थी, इसका अनुमान उनके जीवन की एक घटना से लगाया जा सकता है । कहानी पोद्दारजी की पितृभूमि, रतनगढ़ की है । सं० २००८ का चैत्र महीना था । एक दिन पोद्दारजी कोठरी में बैठे साधना में लीन थे । अचानक उसके कोने में उनकी दृष्टि गयी । देखा, चिड़िया के दो बच्चे मरणासन्न स्थिति में पड़े

हैं। अपनी साधना की क्रिया बन्द करके वे तत्काल उठे, उनके मुख पर पानी डाला और सारा काम छोड़कर उनकी सेवा-शुश्रूषा में लग गये। कुछ ही दिनों में दोनों बच्चे स्वस्थ होकर फुदकने लगे और समयपर पंख निकल आने के बाद उड़ गये।

श्री पोद्दारजी के रतनगढ़ वाले मकान के पीछे के खुले हिस्से में प्रतिदिन प्रातः नियम से मोर, कबूतर एवं अन्य चिड़ियों के लिए अन्न विकीर्ण किया जाता था। वहाँ सैकड़ों पक्षी एकत्र होकर दाने चुगते थे।

संस्कार-मार्जन

पोद्दारजी ने अपने सम्पर्क में आने वाले जिज्ञासुओं को ही सन्मार्ग प्रदर्शन नहीं किया, उनके पावन व्यक्तित्व के संस्पर्श से अनेक संस्कारहीन तथा पथभ्रांत लोगों को भी नयी जीवन-दिशा मिली। अपने उदार एवं वात्सल्यपूर्ण व्यवहार के द्वारा उन्होंने एक गिरहकट युवक के जीवन में आकस्मिक परिवर्तन किस प्रकार संघटित किया, इसका वृतान्त नीचे दिया जाता है—

पोद्दारजी कलकत्ता गये हुए थे। गोविन्दभवन में सत्संग कराकर लौट रहे थे। कुछ दूर आगे बढ़े थे कि छोटी उम्र का एक बालक आया और हाथ फैलाकर दीन स्वर में कहने लगा, 'मैं भूखा हूँ, कुछ पैसे दीजिये।' उसकी दीनता से पोद्दारजी का हृदय द्रवित हो गया। जेब से कुछ पैसे निकालकर उसे दे दिये। वास्तव में वह गिरहकट था। पैसे निकालते समय उसने देख लिया था कि जेब में रुपये हैं। पोद्दारजी कुछ आगे बढ़े थे कि उसने उनकी जेब में बगल से हाथ डालकर रुपये निकालने चाहे। पोद्दारजी को ऐसा लगा कि कोई उनकी जेब छू रहा है। संभालने के लिए उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया और संयोग की बात कि उस युवक का हाथ उनकी पकड़ में आ गया। हाथ पकड़ने के बाद पोद्दारजी ने उसकी ओर देखा। देखते ही उन्होंने पहचान लिया कि यह युवक वही व्यक्ति है, जिसको उन्होंने थोड़ी देर पहले पैसे दिये थे। पोद्दारजी ने उसका हाथ छोड़ दिया और सड़क के किनारे ले जाकर उससे कहा, 'भइया! तुम रुपये के लिए ही हाथ डाल रहे थे न? यह लो रुपये।'' पोद्दारजी ने अपनी जेब से निकाल कर सब रुपये उसे दे दिये। रुपये देने के बाद उससे बोले, 'तुम रुपया चाहते थे, यदि मैं तुमसे कहूँ कि तुम चोरी मत करो या गिरहकटी मत करो, तो यह बात तुम मानोगे नहीं। सबकी अपनी-अपनी आदत होती है, अतः इसके लिए मैं कुछ नहीं कहता। पर मेरा एक कहना मान लेना। कम-से-कम इतना करो कि रुपयों का पता लगाने के लिए 'मैं भूखा हूँ' ऐसा कहकर भीख मत माँगो। ऐसा करने का फल यह होगा कि यदि कोई सचमुच भूखा आदमी भीख माँगेगा तो उसको भी भीख नहीं मिलेगी।'

यह कहकर पोद्दारजी ने उस युवक से विदाई ली और स्वजनों के समूह में चले गये। युवक भी अपने रास्ते चला गया। कहाँ तो दुर्गति की कल्पना करके वह भय

से काँप रहा था, कहाँ उसे सौजन्यसमन्वित ऐसा स्नेहपूर्ण व्यवहार मिला ! इस पर मुग्ध होकर उसने पोद्दारजी के निवास का पता लगा कर उनसे पुनः मिलने का संकल्प किया—इस उद्देश्य से कि क्षमायाचना कर पश्चात्ताप से जलते हुए हृदय को शान्ति प्राप्त हो। दूसरे दिन उस युवक ने पोद्दारजी से भेंट करके उनसे एकान्त में मिलने के लिए समय माँगा। इसे सहर्ष स्वीकार कर पोद्दारजी ने मिलने का समय निश्चित कर दिया। युवक समय पर आ गया। उसने एकान्त में दीनवाणी में अपनी बात कही, 'मेरी एक बूढ़ी माँ है। माँ के तथा अपने भरण-पोषण के लिए मेरे पास और कोई साधन नहीं है। जो लोग यह जानते हैं कि मैं गिरहकट हूँ, वे न तो अपने पास खड़ा होने देते हैं और न ही कोई काम दिलाते हैं। जो लोग मुझे गिरहकट नहीं जानते हैं, उनके यहाँ काम करता हूँ तो पुलिस उनको जाकर बता देती है कि 'यह युवक गिरहकट है, इसे आप अपने यहाँ काम पर न रखें।' पुलिस के ऐसा कहने पर मुझे वहाँ से भी हटा दिया जाता है। फिर लाचार होकर गिरहकटी अपनानी पड़ती है।' इतना कहकर युवक ने पोद्दारजी के चरणों में वे सब रुपये रख दिये, जो उन्होंने दिये थे। उसने कहा—'मुझे रुपये नहीं चाहिए। आप अपने रुपये ले लीजिये। आप कहीं पर मुझे काम दिला दीजिये।'

पोद्दारजी ने सारी बात ध्यान से सुनी, फिर कहा, "ये रुपये तो तुम अपने पास रखो। रही काम की बात, सो तुम मेरे साथ चलो।' पोद्दारजी उसे अपने साथ गोरखपुर ले आये। वे जानते थे कि यदि कलकत्ता में काम दिलवाया तो पुलिस तथा अन्य परिचित लोग उसे काम नहीं करने देंगे। अतः उसे गोरखपुर लाकर अपने पास ही काम पर लगा दिया। किसी को उसके बारे में नहीं बताया और वह युवक सम्मान-पूर्वक कार्य करने लगा।

पोद्दारजी के पास रहकर उस युवक ने अपने को बहुत सुधारा। दैवयोग से एक दिन उसके पूर्व संस्कार सहसा जाग्रत हो गये। उसने सम्पादकीय विभाग के कार्यालय में एक कर्मचारी के कुछ रुपये उठा लिये। रुपयों के गायब होने की जानकारी भी उस व्यक्ति को तुरन्त हो गयी। उसने कहा, "अभी रुपये यहाँ पड़े थे, कहाँ गायब हो गये। इतनी देर में क्या हो गया?" रुपयों की खोजबीन आरम्भ हुई। बहुत जाँच करने पर भी रुपये नहीं मिले। तब फिर यही सोचा गया कि कार्यालय में जितने व्यक्ति हैं, उनमें से ही किसी ने रुपये लिये हैं। अतः हर एक व्यक्ति की तलाशी ली जाय। तलाशी लेने का निश्चय होने पर पं० श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी ने कहा, "पहले मेरी तलाशी ले लो, जिससे छोटे कर्मचारियों को बुरा न लगे।' यह बात पोद्दारजी के कानों तक पहुँची। उन्होंने अनुमान लगाया, उसी युवक ने रुपये लिये होंगे। तलाशी लेने पर रुपया निकलेगा तो उसकी मानसिक स्थिति कैसी होगी, इसके अनुमानमात्र से वे उद्विग्न हो उठे। तुरन्त बाहर निकले और एक छोटी-सी चिट्ठी गीताप्रेस के मैनेजर के नाम लिखी। फिर सामने खड़े एक व्यक्ति से कहा, "उस

युवक को बुलाकर कहो कि शीघ्र यह पत्र लेकर गीताप्रेस जाय और मैनेजर से उत्तर ले आये।'' वह व्यक्ति बोला, ''भाईजी ! आज कार्यालय से कुछ रुपये गायब हो गये हैं। पता नहीं किसने लिये हैं ! सबकी तलाशी ली जायेगी। सबके साथ उसकी भी ली जायेगी। तलाशी लेने के बाद ही उसको भेजना चाहिए।''

इतना सुनना था कि पोद्दारजी उबल पड़े। क्रोधातिरेक से कभी तुतलाते हुए, और कभी आधे-आधे वाक्य दुहरा कर आवेश का नाटक करते हुए बोले, ''क्या वह चोर है ? क्या उसने रुपया चुराया है ? झूठा दोष लगाते हो ? तुम सब लोगों की मति मारी गयी है।'' उस व्यक्ति ने कहा, ''किसी पर सन्देह नहीं किया जा रहा है। केवल तलाशी ली जा रही है।'' उसका वाक्य पूरा नहीं हुआ था कि क्रोध का नाटक सीमा पार करने लगा। उच्च स्वर में बोले, ''मैं कहता हूँ कि इस युवक ने रुपये नहीं लिये हैं। मैं गंगाजल उठाकर कह सकता हूँ कि उसने रुपया नहीं लिया है, फिर क्यों उसकी तलाशी ली जाय ? और तुमलोगों की तलाशी के लिए क्या मैं जरूरी काम का हर्जा करूँ ? बुलाओ उसको। मुझे अभी गीताप्रेस भेजना है।''

युवक बुलाया गया, चिट्ठी दी गयी और वह उसे लेकर गीताप्रेस चला गया। उसे यह समझते देर नहीं लगी कि गीताप्रेस भेजने का नाटक पोद्दारजी ने उसकी प्रतिष्ठा बचाने के लिए ही रचा था। सम्पादकीय विभाग के लोग इस रहस्य से अवगत हो गये। उसकी साइकिल गीताप्रेस की ओर जाने वाली सड़क पर चल रही थी, पर वह किसी दूसरी ही दुनिया में था। पोद्दारजी की अप्रतिम क्षमाशीलता देखकर वह उनके चरणों में लिपट कर रोना चाहता था। थोड़ी देर में वह गीताप्रेस से लौट आया। कार्यालय का समय समाप्त होने पर वह घर चला गया। रात्रि के समय एकान्त पाकर पोद्दारजी के कमरे में गया और रुपये समर्पित कर चरणों में लिपट गया। फूट-फूट कर रोते हुए करुणापूर्ण शब्दों में क्षमायाचना करने लगा, ''मैंने ही वह चोरी की थी। ये ही वे रुपये हैं। आपने मेरी लाज रखी है, अन्यथा आज न जाने क्या होता ! आप ही मेरी नैया पार लगायेंगे।''

पोद्दारजी ने उस युवक के सिर पर प्यार से हाथ रखकर सहलाते हुए सान्त्वना दी, ''भैया ! ये रुपये तो तुम अपने पास ही रखो। तुम्हारी कोई आवश्यकता थी, तभी तो तुमने रुपये चुराये। ये रुपये भी अपने ही हैं। अतः अपने पास ही रखो। पर भैया ! तुमने चोरी क्यों की ? तुम्हारे कोई अभाव था तो मुझसे कहते। यदि मैं तुम्हारे कहने पर नहीं देता, फिर तुम चोरी करते। अच्छा, कोई बात नहीं। अब कोई तुम्हें कुछ नहीं कहेगा।'

युवक निरुत्तर हो मूर्तिवत् खड़ा था। पोद्दारजी के मानवातीत व्यवहार से उसे एक नवीन प्रकाश मिला। वह युवक आज एक पवित्र एवं सम्मानित जीवन व्यतीत कर रहा है।

भ्रांत बालिका की सँभाल

भूले-भटकों को सन्मार्ग पर लाना पोद्दारजी की प्रकृति बन गयी थी। महाप्रकृति इसके पोषण के लिए निरंतर नये उपादान प्रस्तुत करती रहती थी। एक घटना है—

बाबूलाल अग्रवाल नाम के एक सज्जन पंजाब के हाँसी कस्बे की नगरपालिका के सदस्य थे। अगस्त १९६६ की बात है। दिनभर कार्य करने के बाद वे रात को दस बजे घर आये। उनकी लड़की सरोजबाला ने दरवाजा खोला। थके माँदे थे। कपड़े उतारे, भोजन किया और घर की छत पर जाकर सो गये। सबेरे उठे। पता चला कि सरोज अपने कमरे में नहीं है। वह अपने भाई-बहन के साथ सोती थी। खोज मची। पर कहीं कुछ पता नहीं चला। घर तथा पास-पड़ोस के सभी लोग घबरा गये।

तरह-तरह के अनुमान किये जाने लगे। १६-१७ वर्ष की जवान लड़की के इस तरह गायब हो जाने से माँ-बाप को बहुत सदमा पहुँचा। सरोज की माँ ने कहा, 'मेरी लड़की मथुरा-वृन्दावन के अलावा और कहीं नहीं गयी है।' पता लगाने के लिए सगे-सम्बन्धी मथुरा-वृन्दावन की ओर भेजे गये। जगह-जगह टेलोफोन किये गये और तार भेजा गया गया। पर कोई फल नहीं निकला।

इन दिनों सरोज के मन में अधिक विरक्ति जाग उठी थी। जगत सुहाता नहीं था। प्रतिदिन छः-छः, सात-सात घण्टे जप तथा आध्यात्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय करती थी। किसी सन्त का आश्रय लेकर ईश्वर-दर्शन की लालसा उसके मन में जाग पड़ी थी। जब अवसर मिलता, कमरा बन्द करके एकान्त में बैठ जाती थी। एक बार उसने अपनी माँ से कहा भी था, "माँ! मैं वृन्दावन जाऊँगी।" पर, उसकी बात हँसी में टाल दी गयी थी।

माँ का अनुमान ठीक निकला। रात को लगभग बारह बजे सरोज मथुरा-वृन्दावन के लिए घर से अकेली निकल पड़ी। राह में संयोग से एक कुलीन तथा सत्संगी महिला का साथ मिल गया। उसके साथ वह दिल्ली चली गयी। महिला ने कहा, 'यदि सचमुच तुम आध्यात्मिक पथ पर चलना चाहती हो और संतों के आश्रय में रहना चाहती हो तो गीताप्रेस, गोरखपुर जाओ।' उसकी सलाह मानकर उसने दिल्ली पहुँचकर मथुरा का टिकट न लेकर गोरखपुर का टिकट ले लिया और लखनऊ होते हुए १ सितम्बर १९६६ को दोपहर में गोरखपुर आ गयी। थोड़ी ही देर में स्टेशन से गीतावाटिका पहुँच गयी। सरोज को पोद्दारजी के पास पहुँचाया गया। उन्होंने प्यार से बात की, स्नेह दिया, शीश पर हाथ फेरा, सान्त्वना दी। सरोज अपने घर से एक पवित्र नीयत से निकली थी। उसने सारी बातें बता दीं। उन्होंने कहा, 'बेटी, तेरे मां-बाप कितने परेशान हो रहे होंगे?

लोक सेवा के लिए सदैव तत्पर
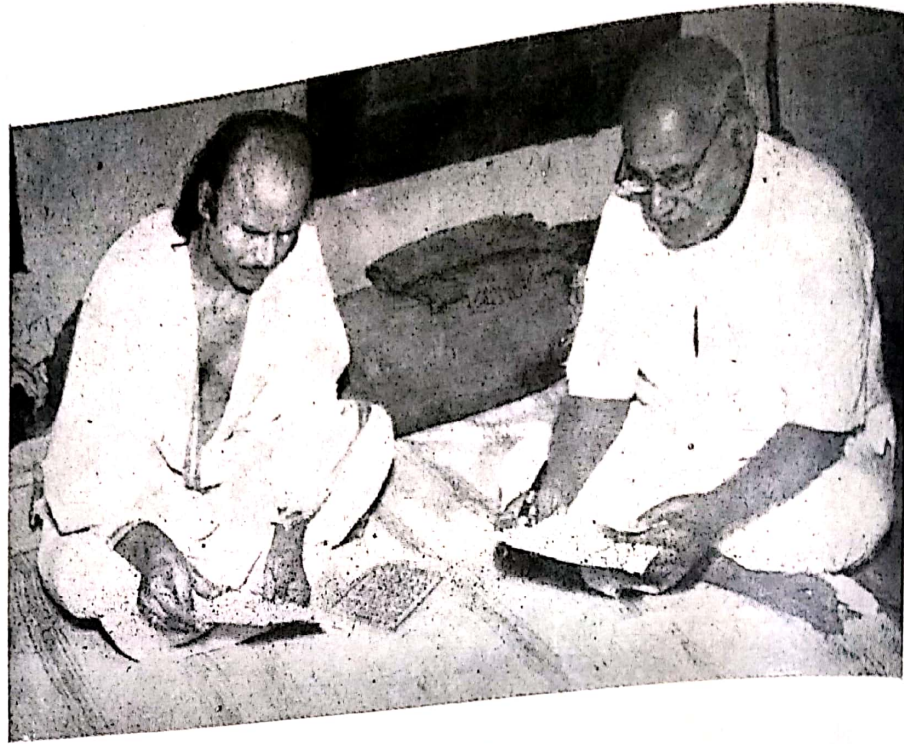
सम्पादन-कार्य में निरत
(पार्श्व में श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव')
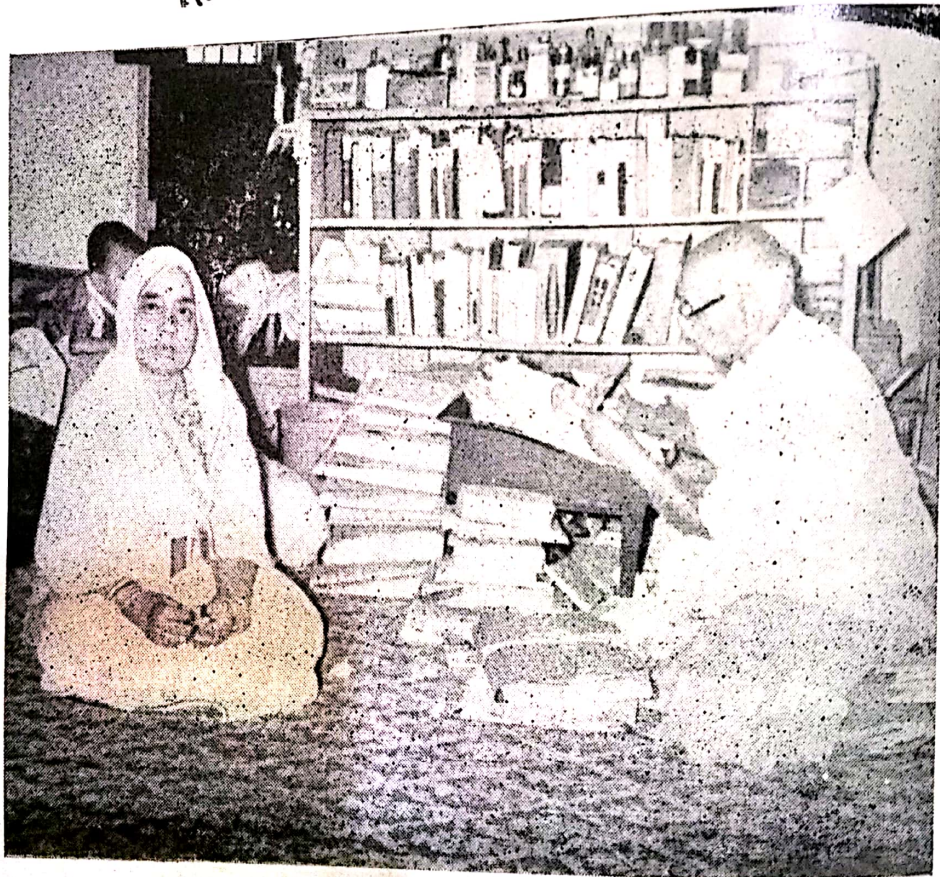
अध्ययन--कक्ष में

पत्रलेखन में व्यस्त
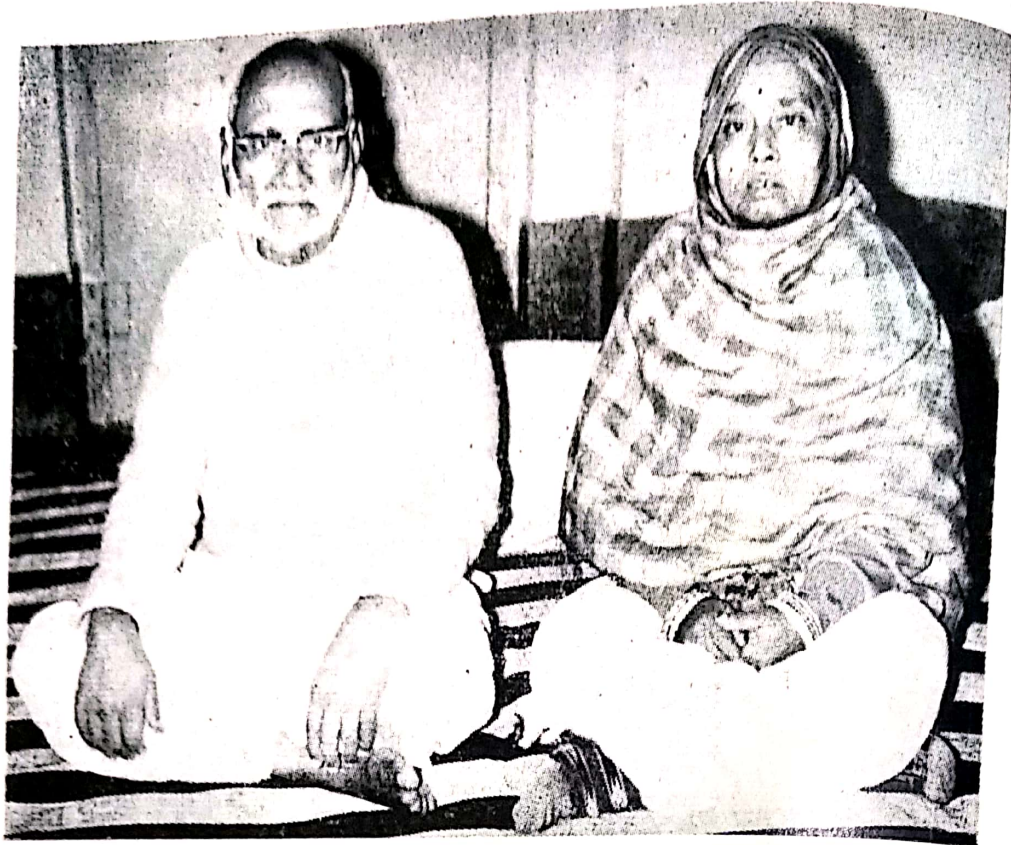
जीवन-संगिनी के साथ
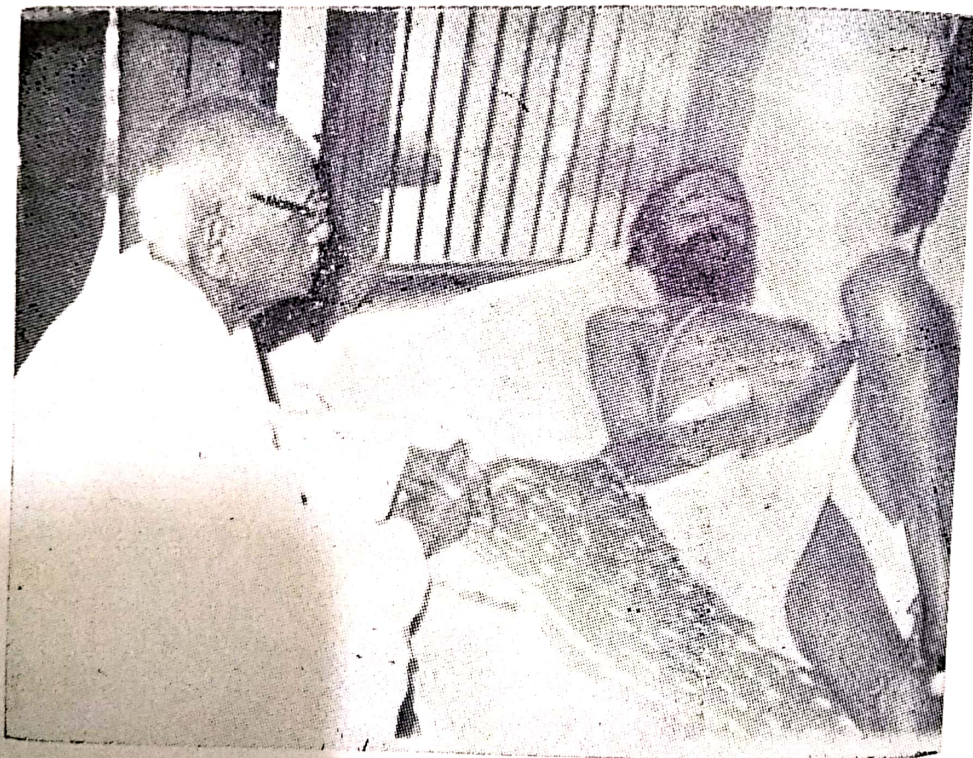
एक अनशनकारी साधु से संलाप करते हुए
('गोहत्या-बन्दी-आन्दोलन' १९६६ ई०)
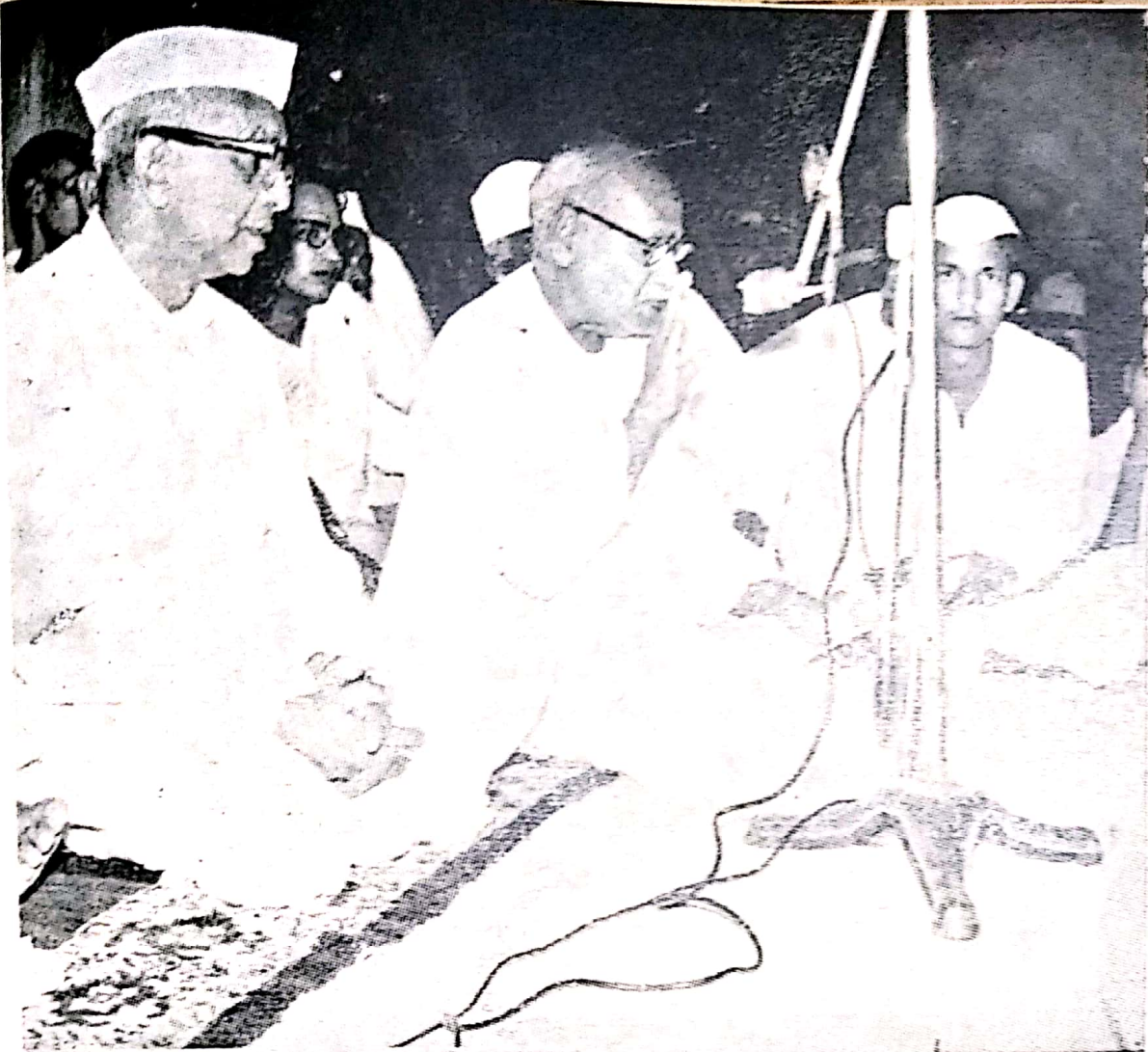
'श्री कृष्ण–जन्मस्थान' मथुरा के श्री केशवदेव मन्दिर का उद्घाटन समारोह (सं. २०१५ वि.)
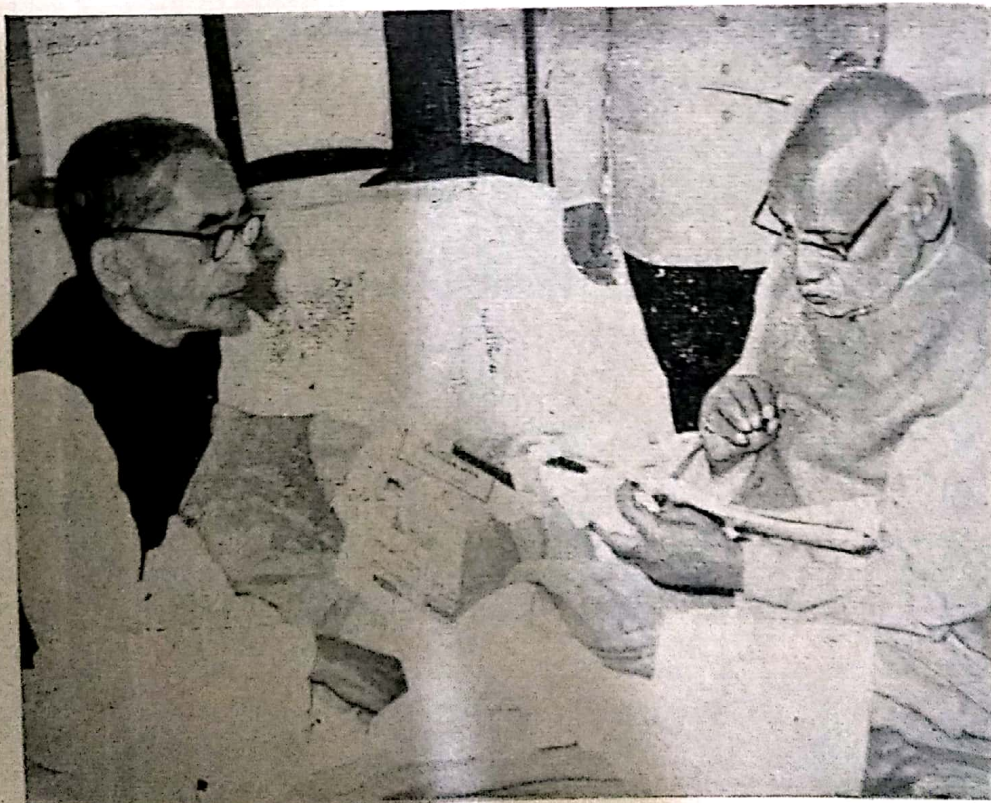
उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री विश्वनाथ दास के साथ 'वेदभवनन्यास'
स्थापना के विषय में परामर्शरत

महाप्रयाण

'सजनो ! चलु वा पिय के देस ।'

जोगी रहा सो रमि गया बाकी रही भभूत
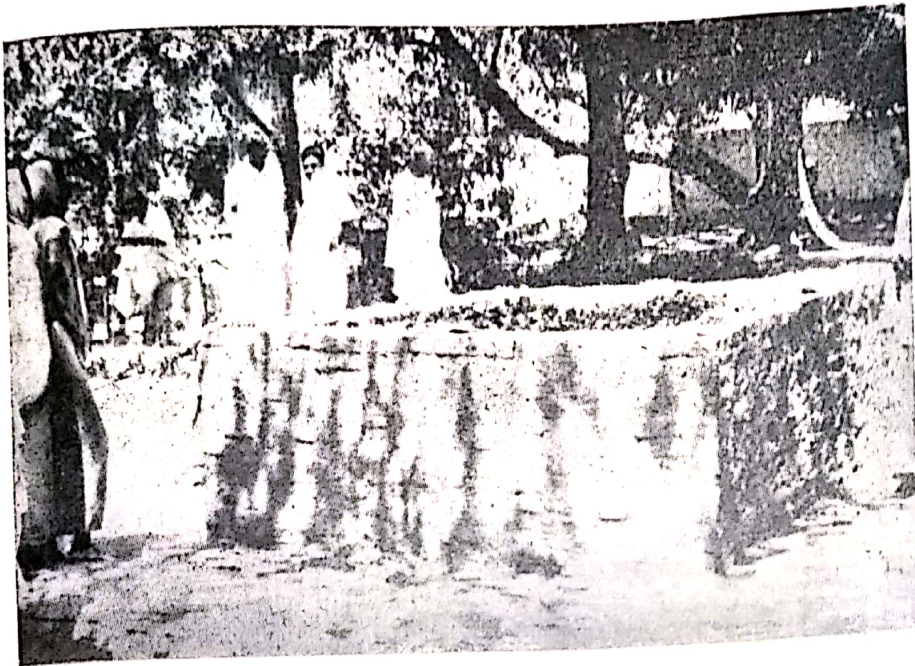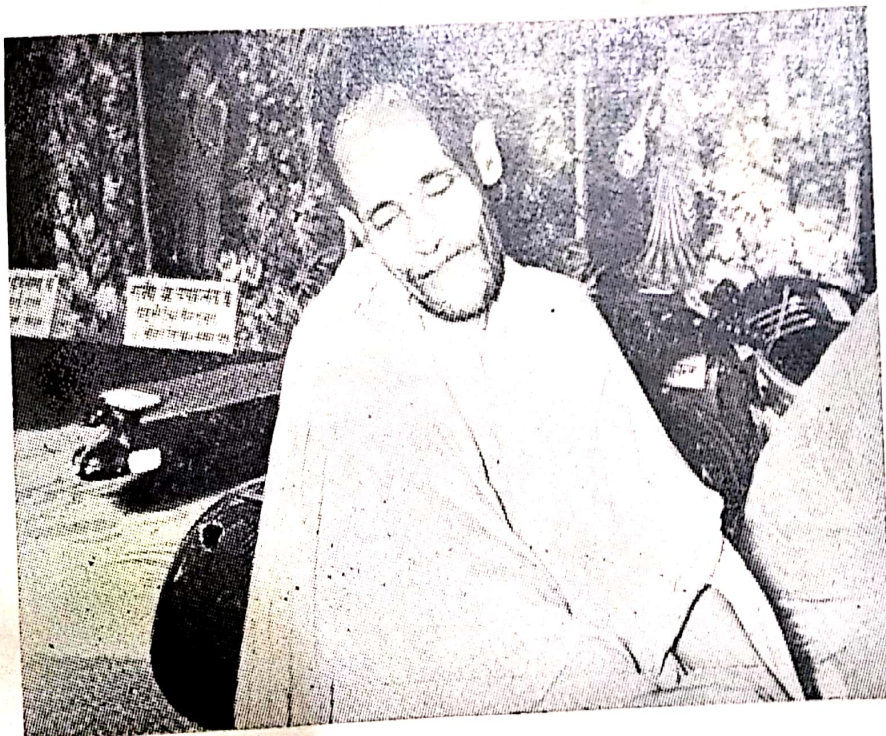
'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हारा कपाट ।'
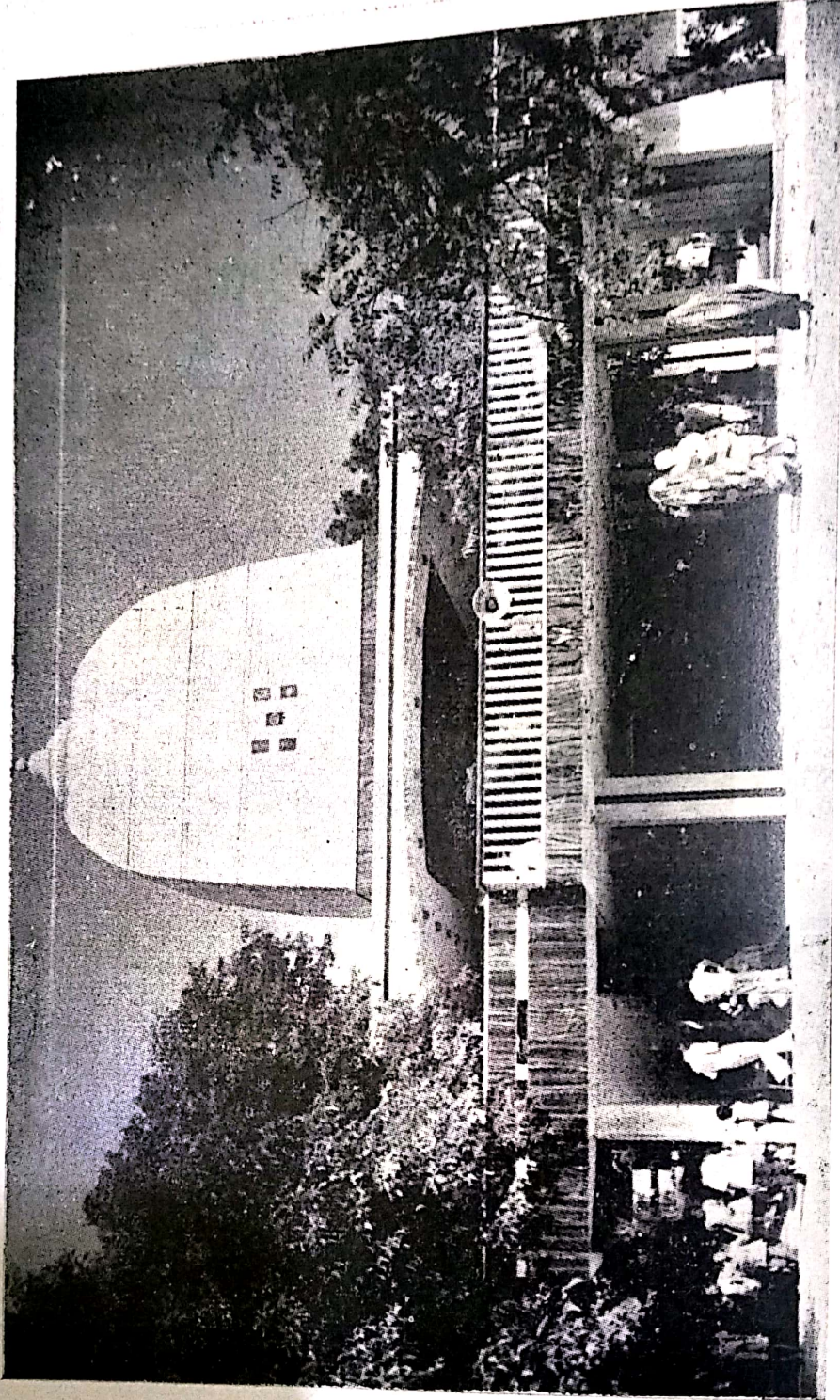
श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार स्मारक, गीतावाटिका, गोरखपुर

जिस उद्देश्य को लेकर तू चली है, उसकी प्राप्ति तो घर पर रहकर भी हो सकती है। आजकल घर से बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं है। सच्चे साधु अब मिलते ही कहाँ हैं?' बातचीत के क्रम में ही पोद्दारजी ने उससे पिता का नाम और पता पूछा और उस पते पर तत्काल इस आशय का तार भेज दिया कि आपकी लड़की सरोज यहाँ पर सुरक्षित है, आप को यहाँ आना चाहिये। दूसरे दिन उसके पिता का तार आ गया और शनिवार २ सितम्बर, ६६ को सरोज के ताऊजी गोरखपुर पहुँच गये। ताऊजी के साथ एक सम्बन्धी और थे। वे लोग स्टेशन से सीधे गीतावाटिका आये। नीचे ही उन्हें सरोज खड़ी मिल गयी। उसने चरणों में प्रणाम किया। उसे पाकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। सरोज की थोड़ी देर तक अपने ताऊजी से बातें हुई। जिस आत्मीयता से पोद्दारजी ने सरोज को अपने पास रखा था, उसे सुनकर वे मुग्ध हो गये। उन्होंने सरोज से कहा, 'यद्यपि बिना कहे घर से बाहर निकलकर तुमने परिवार का अनुशासन भंग किया है, किन्तु भगवान की कृपा से तुम ऐसे स्थान पर आयी हो, जो अपने घर से भी बढ़कर है। इस घर में आने से एक ऐसा सम्बन्ध जुड़ गया है, जिससे हमारे कुल के गौरव की अभिवृद्ध ही हुई है।' फिर सरोज को लेकर वे ऊपर गये और पोद्दारजी को प्रणाम किया। वे क्या कहते? जिन्होंने एक परायी बेटी को अपनी बेटी की तरह प्यार किया, अपनी पुत्री की तरह घर में रखा, अपनी बेटी से बढ़कर उसकी इज्जत समझी और इज्जत की, उन्हें क्या कहें? पोद्दारजी ने आगंतुकों का यथोचित सत्कार किया, फिर बोले 'गोरखपुर आये हैं तो गोरखनाथ जी के दर्शन कर आइये।' सभी दर्शन करने गये, फिर गीताप्रेस भी देखा।

दूसरे दिन सरोजने पोद्दारजी का आशीर्वाद लेकर, उनकी आत्मीयता, सद्-व्यवहार, वात्सल्य, अहैतुक प्रेम का गुणगान करती हुई, अपने ताऊजी के साथ हाँसी के लिए प्रस्थान किया। पोद्दारजी ने उसे विदा कर संतोष की साँस ली।

गो-सेवा

कृषिप्रधान भारतीय-संस्कृति में गोवंश की अपार महिमा रही है। एक सच्चे हिन्दू के रूप में पोद्दारजी उसके प्रसार, पालन और रक्षण में सदैव दत्त-चित्त रहकर व्यक्तिगत तथा शासकीय प्रयत्नों को तन-मन-धन से प्रोत्साहन देते रहे हैं। उनके जीवनकाल में देश में जब भी गायों पर संकट आया, उन्होंने दानवीरों से मुक्तहस्त से सहायता की अपील की और स्वयं भी यथाशक्ति सहायता दी। राजस्थान में १९६७-६८ में भयंकर सूखा पड़ा था। गायों के लिए चारे की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। पोद्दारजी ने इस हेतु कई लाख रुपये एकत्र किये और स्थान-स्थान से चारा खरीद कर राजस्थान भेजवाया। इतना ही नहीं, अशक्त और अनुपयोगी गाय-बैलों की रक्षा के लिए उन्होंने अनेक स्थानों पर पिंजरापोलों

की स्थापना करायी और इस प्रकार लाखों निरीह मूक पशुओं को काल का ग्रास होने से बचाया।

राष्ट्र के बुद्धिजीवियों का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में 'गो-अंक' प्रकाशित किया। इसमें भारत के गोवंश की समस्या पर धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि अनेक दृष्टियों से गंभीर लेख प्रकाशित किये गये थे। 'गो-अंक' गो-समस्यापर विश्वकोस के सदृश है।

स्वतंत्रता के बाद भी भारत में गोवंश की हत्या जारी रखने को वे देशवासियों के मस्तक पर एक कलंक मानते थे। भारत की धर्मप्राण-जनता इसे मिटाने के लिए बराबर प्रयास करती रही। इनमें सर्वदलीय-गोरक्षा-महाभियान-समिति द्वारा सं० २०२३ वि० (नवम्बर-दिसम्बर १९६६) में संचालित आन्दोलन सर्वाधिक उग्र तथा व्यापक था। उक्त गोरक्षा-महाभियान-समिति के निर्माण में पोद्दारजी का प्रमुख हाथ था। इसमें जो व्यय हुआ, उसकी भी अधिकांश व्यवस्था इन्होंने ही की। इस आन्दोलन में इन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। इसके संचालन सहयोग करने के लिए ये स्वयं दिल्ली गये और वस्तुस्थिति से परिचय प्राप्त कर आन्दोलनकारियों को उचित दिशानिर्देश दिया। इतना ही नहीं, पत्रकार के रूप में इन्होंने समय-समय पर विभिन्न पत्रों में वक्तव्य देकर, 'कल्याण' में अपीलें प्रकाशित कर तथा राजनेताओं के पास व्यक्तिगतरूप से पत्र लिखकर गोहत्या बन्द कराने का अनुरोध किया। २५ मई १९६६ को दिल्ली के दैनिक पत्र 'हिन्दुस्तान' में पोद्दारजी का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ, जिसमें सरकार से गोहत्या पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाने तथा गोहत्याविरोधी आन्दोलन में बंद अनशनकारी साधुओं के प्रति अच्छा व्यवहार करने के लिए सरकार से अपील की गयी थी। इसी संदर्भ में दिल्ली के अंग्रेजी दैनिक 'इण्डियन एक्सप्रेस' में २८ जून १९६६ को पोद्दारजी ने गोहत्या के प्रश्न पर सरकार द्वारा अपनायी गयी उपेक्षापूर्ण नीति पर खेद प्रकट किया था। इसमें उन्होंने 'अमेरिकन एक्सप्रेस' द्वारा भारत सरकार को दी गयी, गोहत्या पर प्रतिबंध लगाने के स्थान पर उसके विस्तृत एवं विकसित करने की, सलाह की कड़े शब्दों में भर्त्सना की और भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं से अनभिज्ञ तथाकथित विशेषज्ञों की कूटनीतिक चालों का पर्दाफाश किया। वक्तव्य के अंत में उन्होंने सरकार से इस संवेदनात्मक प्रश्न पर ठंडे दिमाग से सोच कर उपयुक्त हल निकालने तथा जेल में डाले गये निरपराध साधुओं को तत्काल मुक्त करने का अनुरोध किया था।

इस प्रकार पूरे आन्दोलन-काल में उनके वक्तव्य विभिन्न पत्रों में प्रकाशित होते रहे। पुरी के शंकराचार्य श्रीनिरंजनदेवतीर्थ के जेल से छोड़े जाने पर इन्होंने सरकार को साधुवाद देते हुए लिखा—

"जगद्गुरु शंकराचार्य (पुरी) को छोड़कर जो बुद्धिमानी का कार्य किया गया है, इसके लिए मेरी बधाई तथा कृतज्ञता स्वीकार करें। विनीत प्रार्थना है कि तुरंत संत श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी को भी ससम्मान छोड़ दिया जाय। राष्ट्रपतिजी के द्वारा अविलंब सम्पूर्ण गोवंश की हत्या बन्द करने का अध्यादेश जारी करके देश के विभिन्न स्थानों में आमरण अनशन कर रहे दर्जनों धर्मप्रेमी, निर्दोष महानुभावों तथा महिलाओं की प्राणरक्षा का पुण्य तथा करोड़ों देशवासियों के हार्दिक क्षोभ को मिटाकर उनका सच्चा आशीर्वाद और सौहार्द प्राप्त किया जाय। आवश्यक हो तो संविधान में परिवर्तन के साथ ही गौ को राष्ट्रीय पशु घोषित किया जाय।"

गोहत्या-निषेध के लिए चलाये गये आन्दोलन के समय दिल्ली में साधु-संन्यासियों पर पुलिस द्वारा किये गये लाठीचार्ज की निन्दा करते हुए पोद्दारजी ने लिखा—"गोहत्या के निषेध के लिए गत ७ नवम्बर को दिल्ली में देश के सभी सम्प्रदायों के लाखों मनुष्यों के द्वारा किये गये प्रदर्शन के नाम पर समाज-विरोधी तत्त्वों ने जो तोड़-फोड़-आगजनी के पापपूर्ण-कृत्य किये और पुलिस ने निर्दोष, निरीह जनता तथा साधु-संतों पर लाठी, गैस, गोली बरसा कर जो अनुचित कार्य किया है, वह बड़े ही दुःख की बात है। इससे गोहत्या-बन्दी के शान्तिपूर्ण पवित्र-कार्य में एक बड़ी बाधा आ गयी है। कुछ लोग, प्रदर्शन-कारियों के द्वारा ही यह कुकृत्य किया गया,—इस भ्रम में पड़ गये। अब असली चीज सामने आ रही है। पर इस हिंसात्मक कुकृत्य से अपार दुःख होने पर भी हमें अपनी गोरक्षा की पवित्र भावना को जरा भी न शिथिल होने देना है न उसमें किसी प्रकार की हिंसा की कल्पना अथवा छाया को ही आने देना है। हर्ष की की बात है कि अहिंसामय सत्याग्रह चलाया जा रहा है। हिन्दू-समाज के प्रसिद्ध संत प्रभुदत्तजी ने और गोवर्धन पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी ने तथा कई संतों ने आमरण-अनशनव्रत* आरम्भ कर दिया है। कुछ संत पहले से ही अनशन कर रहे हैं।

---

* अपनी माँगों की पूर्ति के लिए आमरण अनशन का आश्रय ग्रहण करना पोद्दारजी को रुचिकर नहीं था। जब उन्हें ब्रह्मचारीजी एवं श्रीशंकराचार्य महाराज के इस प्रकार के निश्चय का पता चला तो उन्होंने दोनों ही महात्माओं से इस व्रत से विरत होने की प्रार्थना की, पर वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। अनशन आरम्भ हुआ—आन्दोलन पर उसका अनुकूल प्रभाव पड़ा, पूरे देश में हलचल मच गयी। सरकार चिन्तित हुई, पर वह झुकी नहीं। धीरे-धीरे महात्माओं की शारीरिक स्थिति चिन्ताजनक होने लगी और उनके भक्त उनके प्राणों की रक्षा के प्रयास में लग गये। सरकार माँग को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी; अतः भक्तों ने आन्दोलन को बन्द कर महात्माओं के प्राण बचाने का विचार किया। पोद्दारजी स्थिति को बिगड़ते देखकर चिन्तित हो उठे। एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा—'सरकार का चाहे जो रुख हो, आन्दोलन को जारी रखना ही उचित है। आगे चलकर सम्पूर्ण गोवंश की हत्या तो बन्द होगी ही, इस सरकार के सिरपर सदा के

केन्द्रीय सरकार से मेरा सविनय-सादर निवेदन है कि वह आग्रह छोड़कर करोड़ों-करोड़ों देशवासियों की न्यायसंगत माँग को तुरन्त स्वीकार करके, भारत के संविधान में परिवर्तन करके ऐसा कानून बना दे, जिससे सम्पूर्ण रूप से गोवंश की हत्या भारत में सर्वत्र-सदा के लिए बन्द हो जाय। स्वराज्य से पूर्व लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि के द्वारा वचन दिया हुआ है कि स्वराज्य मिलते ही गोहत्या बन्द हो जायगी। उस वचन को पूरा करें''।

लिए कलंक का टीका लग जायगा, और जो (दो महात्माओं के शरीर-पातका) पाप होगा, उसका फल तो बाध्य होकर इसके कर्णधारों को भोगना ही पड़ेगा। गोरक्षा-समिति के संचालक यदि शिथिल होकर तपस्या छोड़ देंगे तो वे भी कर्त्तव्यच्युत ही होंगे। मंगल-मय भगवान् सबको सद्‌बुद्धि दें—सबका मंगल करें!'

विधिका विधान! सरकार ने स्थिति की गंभीरता से उद्विग्न हो कर कूटनीति का आश्रय लिया। उसने दोनों महात्माओं के भक्तों को 'रहस्यमय' आश्वासनों में बहका लिया और उनके माध्यम से उनका अनशन भंग करवा दिया। महात्माओं के प्राणों की रक्षा हो गयी, भक्त लोग प्रसन्न हो गये, पर पोद्दारजी का हृदय भारी हो गया। अपनी दूरदर्शिता से वे सरकार की कूटनीति को भाँप गये; उन्हें यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि गोरक्षा का प्रश्न अब खटाई में पड़ गया। आन्दोलन की सफलता की जो आशा बन रही थी, वह दुराशा में परिणत होती दिखाई पड़ने लगी। पोद्दारजी का अनुमान सही साबित हुआ। अपनी व्यथा उन्होंने 'कल्याण' में प्रकाशित एक लेख में व्यक्त की। उसके कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं—

मनुष्य बिना मृत्यु के मरता नहीं और मृत्युकाल आने पर बचता नहीं। यदि किसी की मृत्यु में निमित्त महान् गौरवयुक्त हो, धर्मयुक्त हो, भगवदर्थ, धर्मरक्षार्थ किसी के प्राण विसर्जित होते हों तो यह बहुत बड़ा सौभाग्य है तथा आदर्श तो है ही। मेरा परम पूज्य आचार्यजी (जगद्‌गुरु शंकराचार्य श्रीनिरंजनदेवतीर्थ) तथा ब्रह्मचारीजी (श्रीप्रभु-दत्तजी ब्रह्मचारीजी) के जीवन से मोह है तथा मैं इनके जीवन से देश तथा धर्म का बड़ा लाभ मानता हूँ, इससे मैं निश्चय ही यह चाहता था कि इनके जीवन की रक्षा हो। ये जब अनशन-व्रत करने को प्रस्तुत हुए थे, उस समय भी मेरा मन सर्वथा अनुकूल नहीं था। पर जब व्रत ले लिया गया, तब इनकी जीवन-रक्षा के साथ ही इनके जीवन के व्रत की रक्षा का प्रश्न जीवन-रक्षा के प्रश्न से भी अधिक महत्त्व की वस्तु हो गया। इसीसे मैं चाहता था कि इनकी जीवन-रक्षा तो हो, पर वह हो इनके वचनानुसार सरकार के द्वारा सम्पूर्ण गोवंश की रक्षा होने पर ही—कम-से-कम सम्पूर्ण गोवंश की रक्षा के लिए कानून बनाने या सिद्धान्त को मान लेने का पूर्ण आश्वासन मिलने पर ही। दुःख की बात है कि वैसा नहीं हुआ। इससे एक बार देश पर बहुत बुरा असर पड़ा।

× × ×

शंकराचार्यजी की मृत्यु नहीं हुई, उनका अनशन टूट गया। पर यदि शंकराचार्य जी की मृत्यु होती तो वह हिंदू-धर्म पर कलंक नहीं होता, प्रत्युत वर्तमान राज्य-सत्ता पर कलंक होता, जिसके कारण शंकराचार्य की मृत्यु होती। साथ ही मृत्यु होती तो हिंदू-

इस अभियान के लिए राष्ट्रीय-चेतना तथा जनमत जाग्रत करने तथा विभिन्न विचारों के गो-भक्तों को एक मंच पर लाने के उद्देश्य से पोद्दारजी ने देश के गण्यमान्य समाज-सेवियों तथा मनीषियों से सम्पर्क स्थापित किया। 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' के तत्कालीन सरसंघ-संचालक श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकर को लिखे गये निम्नांकित पत्र से सम्मिलित प्रयास विषयक उनकी उद्विग्नता का पता चलता है—

श्रीहरिः

प्रवास-स्थान गीताभवन
स्वर्गाश्रम, देहरादून
३–७–६६

पूज्य गुरुजी,

सादर नमस्कार।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। इधर ऐसा निश्चय किया गया है कि गोहत्या सम्पूर्णरूप से बन्द हो जाय—इसके लिए सब लोग मिलकर सम्मिलित प्रयत्न करें। अभी कुछ दिन पूर्व स्वामी श्रीकरपात्रीजी और ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी यहाँ पधारे थे। उन्होंने मिलकर काम करना स्वीकार किया है और साथ ही उन्होंने तथा और लोगों ने भी एक विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये हैं। आशा है कि यह कार्य सफलता के साथ सम्पादित होगा। पर इस आन्दोलन में प्राण तभी आ सकेंगे, जब आप स्वयं सक्रिय रूप से भाग लेंगे। गोहत्या भारत का कलंक है, और जल्दी-से-जल्दी यह दूर हो—ऐसी सभी की सदिच्छा है। आप तो कई बार सक्रिय भाग ले चुके हैं और अब भी आप

धर्म कलंकित नहीं होता, वरं होता प्रतिष्ठित। जिसके अनुयायियों में अपनी माँग के लिए आत्मसमर्पण करने की इतनी विशाल शक्ति है, वह तो धर्म के प्रभाव का द्योतक होता, न कि कलंक का। शंकराचार्य का जीवन-कार्य भी अमर और प्रभावी हो जाता।

× × ×

यह कहें तो अनुचित नहीं होगा कि उपवासों में जो माँग की गयी थी, वह पूरी होने के पूर्व ही अनशन समाप्त हो गया। दो महान् व्यक्तियों के जीवन की रक्षा हो गयी, पर उनकी जो माँग थी वह स्वीकृत नहीं हुई। हमारे ध्यान से कुछ अंश में उनके जीवन की उच्चता कम हुई।

—'कल्याण', वर्ष ४१, पृ० ८१३ से ८१७

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पोद्दारजी किसी भी महापुरुष के जीवन व्रत की रक्षा को उसके जीवन से अधिक महत्त्व देते थे; किसी महान् उद्देश्य के लिए जीवन उत्सर्ग कर मनुष्य अमर हो जाता है, किंतु अपने जीवनव्रत को भंग कर वह जीवित ही मृतप्राय हो जाता है।

साथ ही हैं। मेरी आप से यह साग्रह विनीत प्रार्थना है कि आप इस गोरक्षा-आन्दोलन में सक्रिय सहयोग देने की कृपा करें।

मैं यहाँ लगभग दो महीने से हूँ और आगामी ८ जुलाई को गोरखपुर जाने का विचार है। आपकी कृपा और प्रीति तो मुझपर सदा है ही, विशेष बढ़ती रहे। शेष भगवत्कृपा।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

पोद्दारजी कानूनन गो-हत्या-बन्दी को स्वीकार करते हुए गो-संवर्धन के महत्त्व की आवश्यकतापर सदा जोर देते थे। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था—'कानूनन गो-हत्या-बन्दी के साथ निम्नलिखित कार्य भी साथ-साथ करने की आवश्यकता है—

(१) गायों की नस्ल-सुधार का काम हो, अच्छे सुपुष्ट बैल तैयार किये जायें तथा बहुत अधिक दूध देनेवाली गायों से ही सबल साँड़ों का सम्पर्क विशेष रूप से कराया जाय। अनुपयोगी गौओं तथा निर्बल रोगी साँड़ों के द्वारा गोवंश की वृद्धि न करायी जाय।

(२) अच्छे साँड़ काफी संख्या में तैयार कराये जायें।

(३) अपाहिज पशुओं के लिए सुव्यवस्थित गोसदन खोले जायें और उनमें उन पशुओं के जीवन-निर्वाह के लिए चारे-पानी की व्यवस्था हो।

(४) अधिक-से-अधिक चारा बोकर चारा पैदा किया जाय; प्राकृतिक घास के ऊपर निर्वाह होना कठिन है। भारत में करोड़ों एकड़ भूमि ऐसी बतायी जाती है, जिसमें सिंचाई का साधन या वर्षा होने पर सफल खेती हो सकती है।

(५) स्थान-स्थान में गोचर-भूमि छोड़ी जाय।

(६) गायों के खाने-पीने की चीजों का निर्यात किसी रूप में भी न हो, इसकी व्यवस्था की जाय।

(७) जबतक सर्वत्र गोबध-बंदी का कानून न बन जाय, तबतक गायों का निर्यात कम-से-कम उन प्रदेशों में न हो, जहाँ पशु-हत्या निर्बाध होती है।

(८) कसाइयों के हाथों में गाय कतई न जाय, इसकी सुदृढ़ व्यवस्था हो।

(९) जहाँतक सम्भव हो, प्रत्येक गृहस्थ एक-एक गाय-पालन करने का व्रत ले।

(१०) नगरपालिकाओं ने जहाँ घरों में गायें रखने पर रोक लगा रखी है, वहाँ गंदगी न फैले—इसकी व्यवस्था करके सबको गाय रखने की अवश्य छूट दे।

(११) प्रतिदिन सम्पूर्ण गो-रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना की जाय।

—'कल्याण', वर्ष ४१, पृ० १०१०-१०११

संक्रामक रोगी की शुश्रूषा

पोद्दारजी की अगाध करुणा-भावना, मन-बुद्धि और वाणी से ही आपदग्रस्तों की सेवा से सन्तुष्ट होनेवाली नहीं थी। बुद्ध, गांधी और रामकृष्ण परमहंस की भाँति कायिक सेवा को ही वे सच्ची सेवा मानते थे। उनके दीर्घव्यापी सेवानिष्ठ जीवन में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक घटना की चर्चा पर्याप्त होगी।

उन दिनों पोद्दारजी ऋषिकेश में निवास कर रहे थे। नित्य प्रवचन होता था। एक दिन गीताभवन (स्वर्गाश्रम) का सत्संग-मण्डप श्रोताओं से भरा हुआ था। उस दिन के प्रमुख वक्ता थे—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार। भारी भीड़ के बावजूद चारों ओर शान्ति थी। प्रवचन समाप्त होने पर एक आवश्यक सूचना, जिसमें सेवा अपेक्षित थी, एक सत्संगी भाई की ओर से वक्ता द्वारा सुनायी गयी—'राजस्थान से एक संभ्रांत, किंतु अभावग्रस्त ब्राह्मण-देवता आये हुए हैं। सहसा हैजा-ग्रस्त हो जाने के कारण उनकी स्थिति चिन्ताजनक हो गयी है। इस अशक्त अवस्था में उन्हें सेवा की आवश्यकता है। कृपया उत्साही पुरुष अपना नाम लिखवायें। रात्रि भर की सेवा के लिए चार व्यक्तियों के नाम चाहिए।'

प्रथम बार सूचना पढ़े जाने पर केवल दो उत्साही भाइयों ने अपना नाम लिखवाया। प्रस्तावक द्वारा सूचना दोहरायी गयी। इस बार एक और व्यक्ति ने नाम दिया। सूचना प्रसारित कराने वाले व्यक्ति ने धीरे से श्रीपोद्दारजी से कहा, 'केवल एक नाम और चाहिए, कृपया एक बार उक्त सूचना पुनः दोहरा दें।'

'इसकी आवश्यकता नहीं'—यह कहकर पोद्दारजी अपने स्थान से उठ खड़े हुए। सूचना प्रसारित करवाने वाला उलझन में पड़ गया। सोचा कि उसने तीन व्यक्तियों से कैसे रात्रिभर काम चलेगा? दो व्यक्तियों के बिना वमन और मल से सने कपड़े कैसे बदले जायेंगे और आठ घंटे तक एक साथ सेवा कर पाना अकेले व्यक्ति के लिए कदापि संभव नहीं। पर पोद्दारजी के सामने इस सम्बन्ध में उसे कुछ आगे कहने का साहस नहीं हुआ।

गीताभवन से बाहर निकलने पर पोद्दारजी ने साथ चलते जनसमूह पर दृष्टिपात करते हुए सूचना प्रसारित कराने वाले बन्धु से कहा, 'एक व्यक्ति सेवा के लिए जिस स्थान पर जितने बजे कहिये, पहुँच जायेगा।

सूचना प्रसारित कराने वाले सज्जन ने कहा—'रात्रि में ठीक दस बजे स्वर्गाश्रम में बने मन्दिर के पिछवाड़े स्थित झोपड़ी में पहुँच जाय। दो बजे तक उसको रहना होगा। उसके बाद दूसरी पारी के लोग आ जायेंगे।

'अच्छा' कहकर पोद्दारजी आगे बढ़ गये।

रात के दस बजने वाले थे। माँ भागीरथी की शांतिमय गोद में विवर्ण चन्द्रमा निश्चेष्ट पड़ा था। उसी समय पोद्दारजी ने धीरे-से झोपड़ी का दरवाजा खोलते हुए भीतर प्रवेश किया।

'आ····प'····आश्चर्य-चकित हो सूचना प्रसारित कराने वाले सज्जन ने कहा, 'आप रहने दीजिये, हमलोग सब सँभाल लेंगे।'

'क्यों, क्या मैं सेवा नहीं कर सकता ?'

'नहीं, यह बात नहीं। इनके कपड़े वमन तथा मल से बार-बार सन जाते हैं, उन्हें साफ करना पड़ता है, फिर कपड़े बदलने पड़ते हैं।'

'तो क्या हुआ ?' पोद्दारजी ने सहज स्वर में उत्तर दिया।

'बड़ी भयानक दुर्गन्ध आती है, इसीसे कह रहा हूँ'—उसने पोद्दारजी के कान में धीरे-से कहा।

'मल-ही-मल तो भरा है इस शरीर में। दुर्गन्ध है तो सुगन्ध कहाँ से आयेगी ?' कहते हुए उक्त सज्जन के अनुरोध की अवहेलना कर बिना किसी हिचक के ये रोगी की सेवा में लग गये। मल से सने कपड़ों को बदलना, वमन साफ करना, दवा देना, कुल्ला कराना, जल पिलाना—सब कुछ यथासमय आवश्यकतानुसार करते रहे—रोगी रूप में प्राप्त प्रभु की अर्चना का अवसर मानकर बड़ी ही लगन से, प्यार से, स्नेह से। सूचना प्रसारित कराने वाले सज्जन यह लीला देखकर विस्मय-विमुग्ध थे। दूसरों को आर्तसेवा का उपदेश देने वाले पोद्दारजी उन्हें स्वयं अपूर्व सेवाव्रती तथा सेवापटु दिखे। सेवाभाव के इस प्रत्यक्ष प्रमाण से वे गद्‌गद हो गये।

संत के स्पर्श और ममता-भरी सेवा से रोगी को अपार शान्ति का अनुभव हुआ। इनकी पारी का समय पूरा होते-होते उसकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हो गया और जब ये लौटने लगे तो उसके नेत्रों में कृतज्ञता के आँसू छलछलाए हुए थे।

बाढ़ तथा भूकम्प-सेवा

देश के विभिन्न भागों में जब-जब दैवीप्रकोप हुआ, पोद्दारजी ने प्रभावित लोगों की सेवा को सदैव अपना सौभाग्य समझा। अकाल, बाढ़ तथा भूकम्प के समय उन्होंने विशाल स्तर पर सहायता-कार्य का आयोजन किया। अखण्ड-भारत में जब क्वेटा में भूकम्प आया तो उससे प्रभावित लोगों की सहायता के लिए 'कल्याण' के माध्यम से जनता से अपील की गयी। सं० १९९० वि० (सन् १९३४ ई०) में बिहार प्रलयंकर भूकम्प से काँप उठा। गीताप्रेस ने अपने स्वयंसेवकों के द्वारा भोजन-वस्त्र के वितरण की व्यवस्था की, पानी के पाइप लगवाये, अन्नदान किया, कुँओं की सफाई करायी तथा अन्य प्रकार से पीड़ितों के कष्ट-निवारण का प्रयास किया। गोरखपुर निरन्तर बाढ़-विभीषिका का शिकार होता रहा है। पोद्दारजी प्रायः प्रतिवर्ष बाढ़-

पीड़ितों की सेवा-सहायता का आवश्यकतानुसार प्रबन्ध करते थे। तत्कालीन अधिकारियों ने उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।[1]

सं० २०१२ वि० (सन् १९५५ ई०) को भीषण बाढ़ से पूरे पूर्वांचल में त्राहि-त्राहि मच गयी। पोद्दारजी ने अपने साधनों तथा जनसहयोग से बाढ़पीड़ितों के कष्ट-निवारण की व्यापक-योजना बनायी और उसे गीताप्रेस के सेवाकार्यदक्ष स्वयंसेवकों की सहायता से प्रभावी ढंग से कार्यान्वित किया। इनकी निष्ठा, ईमानदारी और कुशलता से प्रसन्न होकर सरकार ने अपने द्वारा स्वीकृत सहायता की धनराशि भी गीताप्रेस के स्वयंसेवकों को वितरण व्यवस्था के लिए प्रदान कर दी।[2]

इन्हीं दिनों भाद्रशुक्ल ३, सं० २०१२, शनिवार (२० अगस्त १९५५) को केन्द्रीय सरकार के गृहमन्त्री श्रीगोविन्दवल्लभ पंत गोरखपुर पधारे और पोद्दारजी से

---

१. उत्तर प्रदेश के गवर्नर के पत्र दिनांक २२ सितम्बर १९३६ का निम्नांकित अंश इस पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है—

"I met Hanuman Prasad Poddar of the Gita Press when I visited the district this year. In that connection I realised what the Gita Press stood for. It fed all the refugees which at times aggregate to 24,000 and at an average of the month were not less than 15,000 daily. The expenditure in this connection would at a conservative estimate, be not less than Rs. 40,000. The Gita Press organisation also was most useful in providing men and rescue boats with the help of which the operations were speedy and successful."

इसी प्रकार सं० १९९६ वि० चैत्र कृ० २, सोमवार (२५ मार्च १९४०) की बाढ़ में गीताप्रेस के सहायता-कार्य के प्रति जिलाधीश द्वारा कृतज्ञताज्ञापन इन शब्दों में किया गया है—"I have had the good fortune particularly during the heavy flood of 1938 to see the devotion and to receive valuable help from the Gita Press. Had it not been for the selfless generosity of Hanuman Prasad Poddar and of the Press in gift of money and in kind............it would have been quite impossible to administer any relief at all to thousands of persons in the flooded villages in this and other districts. I can not express adequetely my gratitude and admiration for all that they did."

२. सन् १९५५ ई० में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने लिखा
प्रिय हनुमानप्रसादजी,
बाढ़पीड़ितों के लिए आप जो काम करहे हैं, वह श्लाघ्य है। मैं उसके लिए २००० रुपये भेज रहा हूँ।

भेंट की। उन्होंने सरकार की ओर से पोद्दारजी को ५००० रुपये उक्त सहायता-कार्य के निमित्त प्रदान किये।

बाढ़-पीड़ितों की सेवा पोद्दारजी पूरे उत्साह से करते थे। बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश तथा पंजाब के बाढ़-प्रभावित क्षेत्रों में इन्होंने अनेक सेवाकार्य आयोजित किये। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों की कपड़ा मिलें प्रचुर मात्रा में गीताप्रेस को निःशुल्क अथवा लागत मूल्यपर वस्त्र देतीं और गीताप्रेस अभावग्रस्त क्षेत्रों में उनके वितरण का प्रबन्ध करता। बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों में अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त नकद आर्थिक सहायता भी दी जाती, झोपड़ियाँ बनवायी जातीं, पशुओं के लिए चारे की व्यवस्था की जाती, सस्ते गल्ले की दूकानें खोली जातीं और अवसर पड़ने पर बाँध की मरम्मत या निर्माण में यथोचित योगदान किया जाता था। बलिया जिले में सुरेमनपुर स्टेशन के पास स्थित गंगातटवर्ती सात मील का बाँध इसी प्रकार की सहायता से बनाया गया था। यह बाँध इतना चौड़ा है कि उसपर दो मोटरें समानान्तर चल सकती हैं। बाँध के किनारे पड़ने वाले खेतों के मालिकों ने मिट्टी दी और निकटवर्ती गाँवों के लोगों ने श्रमदान किया। यह विशाल बाँध गीताप्रेस के सेवाव्रती कार्यकर्ताओं की देखरेख और व्यय-व्यवस्था में चार महीने की अल्पावधि में बनाया गया था। यह सब-कुछ पोद्दारजी की लोकसेवा में गहरी निष्ठा का प्रसाद था।

अकाल-सहायता

अकालग्रस्त क्षेत्रों में पोद्दारजी मनुष्यों में अन्न-वस्त्र वितरण के साथ ही पशुओं के लिए चारे की भी व्यवस्था करते थे। राजस्थान में सं० २००८ वि० (सन् १९५२ ई०) में भयंकर अकाल पड़ा। उस समय पोद्दारजी ने सेवा के लिए व्यापक प्रबन्ध किया। लगभग ढाई लाख रुपये व्यय हुए। अकालग्रस्त क्षेत्रों में पीने के पानी की व्यवस्था के लिए पुराने कुओं की मरम्मत करायी गयी, नये कुँए बनवाये गये, पशुओं के लिए गुवार वितरित हुआ और सस्ते मूल्य का चारा उपलब्ध कराया गया। प्रभावित गाँवों में अन्न-वस्त्र बाँटे गये। इस प्रकार पीड़ितों को राहत देने का बहुमुखी प्रयास हुआ। सन् १९६९-७० में राजस्थान में पुनः भीषण अकाल पड़ा और पशुओं—विशेषकर गायों की स्थिति बड़ी दयनीय हो गयी। उस समय पोद्दारजी अस्वस्थ थे, तथापि उन्होंने कई स्थानों पर सेवाकार्य की व्यवस्था करायी। बीकानेर में गायों की सेवा का विशेष कार्य हुआ। अपनी धर्मपत्नी से पाँच हजार की अल्प पूँजी लेकर पोद्दारजी ने यह कार्य आरम्भ किया था, किंतु भगवान् की कृपा से उस योजना में लगभग १५ लाख रुपये व्यय हुए, जिसकी व्यवस्था देश के धर्मप्रेमी श्रीमानों द्वारा हर्ष के साथ अल्प समय में हो गयी। सन् १९५५ ई० में गोरखपुर बुरी तरह अकाल की चपेट में आ गया। पोद्दारजी ने अकालग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और वहाँ के निवासियों में अन्न-वस्त्र बँटवाया। इस कार्य में सरकार ने भी उन्हें पूरा सहयोग

दिया। उत्तरप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ पंत द्वारा इस सन्दर्भ में लिखे गये पत्र के आवश्यक अंश उद्धृत किये जाते हैं—

"प्रिय हनुमानप्रसादजी,

सस्नेह अभिवादन !

आपका ५ तारीख का पत्र मिल गया था.........जो अन्न-संकट महाराजगंज और फरेन्दा में हो रहा है, उससे मुझे काफी वेदना है। वास्तव में कई महीने हुए तभी से हमारी यह अभिलाषा और प्रयत्न रहा है कि यथासंभव किसी को भी भूख से कष्ट न पहुँचे और वर्तमान परिस्थितियों में जो हम अधिक-से-अधिक कर सकते हैं, इस सम्बन्ध में करें। गोरखपुर के प्रतिनिधियों से भी बातचीत होती रही है। आपका पत्र मिलने पर इस ओर और भी ध्यान दिया गया। नयी हिदायतें जारी की गयीं। काम बहुत बड़ा है और कठिनाइयाँ हैं यातायात की, पर यथासंभव जो भी हमसे बन सके, करना हमारा कर्तव्य है। आप के और भी जो सुझाव हों, भेजने की कृपा करें। आप वहाँ वास्तविक सेवाकार्य इन दुखियों की व्यथा को दूर करने का कर रहे हैं, इसलिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। इस पत्र के साथ पाँच हजार का चेक भेज रहा हूँ। इसका आप पीड़ितों के दुःख मिटाने में उपयोग करियेगा।"

आर्त्त-सेवा

दीन-दुःखियों के प्रति पोद्दारजी के हृदय में अपार ममता थी। इनकी सेवा में उन्हें हार्दिक सुख मिलता था। इसे वे 'आर्त्त नारायण' की सेवा कहते थे। अपने जीवन के आरम्भ से ही लिये गये इस व्रत को इन्होंने अन्तिम साँसतक निभाया। ये कहा करते थे, "जब मैं उन्हें सहायता देता हूँ तो मुझे लगता है मैं अपना कर्ज चुका रहा हूँ।" कर्ज चुकाने के ऐसे अवसर इनकी खोज में रहते और अपनी ओर से ये उनकी बाट जोहा करते थे। रुपये-पैसे, अन्न, वस्त्र जैसे अगणित उपादानों से भगवान् नारायण की अर्चना कर वे परम संतोष-लाभ करते थे। जाड़े के दिनों में जब सारा नगर गहरी नींद में मग्न हो जाता तो ये चुपके-से कमरे से निकलते, मोटर में कंबल का बंडल लदवाते और वह सन्नाटे को चीरती हुई चल पड़ती। स्टेशन तथा नगर की सड़कों पर ठिठुरते हुए नर-कंकालों की आवरण-सेवा अज्ञात तथा अलक्षित रूप से करते हुए गाड़ी धीरे-धीरे आगे बढ़ती। यह महानिशा-कर्म ब्रह्मवेला के पूर्व समाप्त हो जाता। गर्मी पाकर सड़क तथा प्लेटफार्म के चिर-सहचरों के पैर फैलते, करवटें बदलतीं, किन्तु उसके कारण का पता उन्हें प्रातः आँख खुलने पर ही लगता। कर्ता तब भी अज्ञात, अलक्षित ही रहता।

पोद्दारजी की उदारता की ख्याति सुनकर कभी-कभी अनधिकारी भी उनके पास सहायता के लिए पहुँच जाते थे। एक घटना बड़ी मनोरंजक है—एक दिन पोद्दारजी के पास एक व्यक्ति आया। दीन स्वर में निवेदन किया, "मेरी

बीमार पत्नी अस्पताल में है, बड़ी विपत्ति में हूँ, कुछ सहायता कर दीजिये।'' पोद्दारजी ने उसे तत्काल कुछ रुपये दे दिये। कुछ समय बाद वह व्यक्ति फिर आकर बोला, 'अस्पताल में उसे बच्चा हुआ है, खाने को कुछ नहीं है, मदद कर दीजिये।' पोद्दारजी ने पुनः सहायता कर दी। इसके एक सप्ताह बाद वह पुनः आकर कहने लगा, 'हालत खराब है, कुछ और दीजिये।' तब भी दे दिया। दस दिन बाद रोता-चिल्लाता वह फिर उपस्थित हुआ, 'महाराज, मैं तो कहीं का न रहा। पत्नी चल बसी, बच्चा भी मर गया। कफन के पैसे नहीं हैं। दाहक्रिया कैसे होगी? आप ही माई-बाप हैं। उद्धार करें।'' पोद्दारजी ने अंत्येष्टि के लिए अपेक्षित रुपये दे दिये। उस समय वहाँ कई लोग उपस्थित थे। एक को उस व्यक्ति पर संदेह हो गया। उसने दबी जबान से कहा, 'भाईजं, यह कैसा आदमी है? कोई ठग लगता है।' पोद्दारजी बोले, 'यह मुझे पहले दिन से ही मालूम है। न पत्नो बं मार, न बच्चा हुआ, न अस्पताल, न मृत्यु। किन्तु जब यह मेरे सम्मुख आकर बैठता है, तब लगता है कि उसने पूर्व-जन्म में मुझे कोई ऋण दे रखा था। मैं इसका ऋणी हूँ और वही चुका रहा हूँ। यह इसकी कृपा है कि किश्तों में वसूल कर रहा है। इकट्ठा माँगता तो मुझे परेशानी होती।'

सब कुछ जानते हुए भी प्रवंचक की सहायता करना और ऐसा करते समय मन में यह भाव भी न रखना कि मैं इस पर उपकार कर रहा हूँ, पोद्दारजी जैसे अलौकिक करुणा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए ही संभव था। वे स्वयं तो सहायता करते ही थे, आवश्यकता पड़ने पर अपने समर्थ मित्रों को भी सहयोग के लिए लिखते थे। एक गरीब ब्राह्मण की कन्या के विवाह हेतु आर्थिक सहायता के लिए प्रसिद्ध उद्योगपति रामकृष्ण डालमिया को लिखे गये उनके पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है—

गोरखपुर

प्रिय भाई रामकृष्ण,

यहाँ एक सरयूपारोण ब्राह्मण अच्छे प्रतिष्ठित हैं। पहले वकील थे, कांग्रेस का कार्य करते थे। वकालत छोड़ दी। उनके एक कन्या है। अभाव के कारण विवाह न हो सका। अब वह कन्या सत्रह वर्ष की हो गयी। विवाह बड़ी मुश्किल से एक जगह तय हुआ है। परन्तु उसमें कम-से-कम दो हजार रुपये लगाने पड़ेंगे। उनके पास एक पैसा भी नहीं है। यद्यपि मैं ऐसे कामों से अलग ही रहता हूँ तथापि कोई-न-कोई आ ही जाता है। वे बहुत ही चिन्तित हैं। तुम इस समय बम्बई में हो। अपने घर से बिल्कुल नहीं, पर चाँदी-बाजार या रुई-बाजार में दो-चार आदमियों से कहकर यदि एक हजार रुपये तक का प्रबन्ध करवा सको तो उनको बहुत ही सहारा मिलेगा। वे इसके पात्र हैं। जवाब शीघ्र मिलना चाहिए, क्योंकि लगन जल्दी ही है। इस काम के लिए जरूर चेष्टा करनी चाहिए।

एक काम और है। मेरे पास साधु टी० एल० वास्वानी के एक भक्त करांची से आये थे। वास्वानीजी साधु पुरुष हैं। अमेरिका में जो सर्व-धर्म-महासभा होने वाली है, उसमें वे निमन्त्रित किये गये हैं। बहुत ही अच्छे वक्ता हैं, परन्तु उनके पास खर्च नहीं है, वे तो किसी से माँगते नहीं, उनके भक्त लोग चेष्टा कर रहे हैं। कम-से-कम पाँच हजार का खर्च है। मेरठ के एक प्रोफेसर साहब का पत्र भी आया है, वह इसके साथ भेजता हूँ, तुम पढ़ना। काम उपयोगी है, कोई कर दे, उसका बहुत नाम हो सकता है, उपकार भी हो सकता है। जैसा उचित समझो, करना। मेरा उसके लिए कोई खास आग्रह नहीं है। हाँ, वकील को कन्या के विवाह वाले काम में सहायता हो जाय तो अच्छा है। परन्तु तुम अपने पास से न भेजना, अन्य किन्हीं से हो तो करना।

तुम्हारा भाई

हनुमान

सामान्य अभावग्रस्तों के अतिरिक्त प्रतिष्ठित विद्वानों तथा समाज-सेवियों की भी सहायता करने में वे विशेष आनन्द का अनुभव करते थे। इस सन्दर्भ में पत्रकार पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी का एक संस्मरण है—''संस्कृत के एक पण्डितजी मेरे पास आये और अपनी आर्थिक कठिनाई की बात कही। मैं उन दिनों 'विशाल-भारत' का सम्पादन करता था। मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की तो उन्होंने कहा—'किसी साधन-सम्पन्न व्यक्ति को पत्र ही लिख दीजिये।' मुझे उस समय भाई पोद्दारजी का शुभ नाम याद आया और इस आशा से कि वे दस-बीस रुपये उन पंडितजी को भेज देंगे, उन्हें पत्र लिख दिया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन पंडितजी ने मुझे यह समाचार सुनाया कि पोद्दारजी ने ७५ रु० भेज दिये हैं। पोद्दारजी का बड़ा विनम्रता-पूर्ण पत्र भी मुझे मिला। जिसका आशय यह था कि 'संस्कृत के पंडित प्रायः निर्धन होते हैं, उनका काम दस-बीस रुपये से नहीं चल सकता।'[1]

हमारे एक पत्रकार बंधु के अनुज क्षय रोग से पीड़ित हो गये। मैंने फिर पोद्दारजी से सहायता माँगी। उन्होंने फिर ७५ रु० भेज दिये, जबकि दूसरों ने दस-दस, पाँच-पाँच ही भेजे थे।

दिल्ली में जब मैंने 'हिन्दी भवन' खोला तो पोद्दारजी की सेवा में निवेदन किया। उन्होंने तुरन्त १५० रु० भेज दिये। साथ में उन्होंने एक पत्र भी लिखा, जिसका आशय यह था—'मैं स्वयं पैसे वाला आदमी नहीं हूँ। ऐसे अवसरों पर अपने उदार मित्रों से कुछ रुपये ले लिया करता हूँ'।''

---

१. पावन स्मरण, पृ० सं० १४१।

दैवी विपत्तियों के समय सेवा-कार्यों की व्यवस्था के लिए पोद्दारजी ने अन्तिम दिनों में एक 'ट्रस्ट' बनाया था, जिसका नाम था—'आर्त्तनारायण सेवा-संघ'। इस संघ की स्थापना के उद्देश्य के सम्बन्ध में श्रीपोद्दारजी ने लिखा है—

"देश में दैवी विपत्तियाँ आती ही रहती हैं। अकाल, बाढ़ तो कहीं-न-कहीं बने ही रहते हैं। अग्नि-प्रकोप, भयानक दंगे, भूस्खलन, भूकम्प आदि भी होते रहते हैं। इन दैवी विपत्तियों से पीड़ित मनुष्य-मात्र की बिना किसी भेदभाव के तथा अन्यान्य प्राणियों भी भगवत्सेवा के भाव से यत्किंचित् सेवा हो सके, इसके लिए "आर्तनारायण सेवा-संघ" नामक एक संघ स्थापित करने का निश्चय किया गया है। इसमें स्थायी कोष भी रहेगा और दुर्घटनाओं के अवसर पर समय-समय पर धन भी एकत्र किया जायगा, जिससे सेवा-कार्य किया जा सकेगा। इसका किसी भी संप्रदाय या राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। यह सबकी सेवा के लिए सभी लोगों का सम्मिलित संस्थान होगा। यह विशुद्ध जीव-सेवा के द्वारा भगवत्सेवा का पवित्र कार्य है।'

संघ का पंजीकरण हो गया था, पर इसी बीच पोद्दारजी अधिक अस्वस्थ हो गये और कुछ महीनों पश्चात् नित्य लीला में लीन हो गये, इससे 'संघ' का स्वरूप नहीं बन पाया; जन्मते ही काल-कवलित हो गया।

पोद्दारजी ने कितने ही सेवानिवृत्त, उच्चपदस्थ अधिकारियों, राजनेताओं तथा समाजसेवियों को अभावग्रस्त देखकर अयाचित सहायता की थी। किसी भी सूत्र से पता लगने पर वे अपेक्षित वस्तुएँ तथा द्रव्य उन्हें अर्पित कर संतोषका अनुभव करते थे। इस प्रकार से सहायता-प्राप्त व्यक्तियों की नामावली प्रस्तुत करना न उचित है, न अपेक्षित ही।

•

पथ निर्देश

'कल्याण' के देशव्यापी प्रचार ने पोद्दारजी को अपूर्व ख्याति तथा लोकप्रियता प्रदान की। अपने उदार व्यक्तित्व एवं श्रेयस्कर कृतित्व के प्रभाव से उन्होंने जनसामान्य से इतनी आत्मीयता स्थापित कर ली और उनका इतना गहरा विश्वास प्राप्त कर लिया कि विविध धर्मों, सम्प्रदायों, तथा वर्गों के लोग उन्हें अपना सच्चा मित्र, सहायक, उद्धारक तथा पथ-प्रदर्शक मानने लगे। पत्रकार-रूप में प्रथम परिचय के समय लोगों को जो सुजन लगा था, वही समय की कसौटी पर अपना स्वर्णत्व प्रमाणित कर अब 'स्वजन' हो गया। ऐसा स्वजन जिसके समक्ष अंतर्बाह्य जीवन की कथा सीवन उधेड़कर रखी जा सकती थी, मन की गाँठ निःसंकोच खोली जा सकती थी और इह-पर की सारी जिज्ञासाएँ समाधान के लिए मुक्तभाव से प्रस्तुत की जा सकती थीं। 'भाईजी' की जो उपाधि बंबई जीवन में मित्रों ने स्नेहवश दी थी, पोद्दारजी के गोरखपुर जीवन की कल्याण-साधना ने उस पर राष्ट्रीय-स्वीकृति की मुहर लगा दी।

इसके परिणामस्वरूप मार्ग-दर्शन के इच्छुक श्रद्धालुओं, जिज्ञासुओं तथा साधकों के हजारों पत्र प्रतिमास आने लगे। कोई अध्यात्म-साधना के रहस्यों को जानना चाहता, किसी को कर्मकाण्ड के किसी अंगविशेष की जानकारी प्राप्त करनी होती, किसी को परमार्थ-साधन की पगडंडियों के निर्देश की इच्छा रहती, कोई सत्संग-भजन की विधि विषयक दिशानिर्देश की प्रार्थना करता, कोई समाज-सुधार के किसी पक्ष-विशेष पर उनकी सम्मति चाहता, कोई नितान्त वैयक्तिक समस्याओं का समाधान चाहता, कोई पारिवारिक जीवन की जटिल समस्याओं पर उनकी राय माँगता, कोई राजनीतिक वादों के सत्-असत् पक्ष-निरूपण की अपेक्षा करता, कोई धार्मिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट तत्त्वों पर उत्पन्न शंकाओं के समाधान की इच्छा व्यक्त करता, कोई वर्तमान से ऊब कर देश-जाति की भावी स्थिति पर प्रकाश डालने का आग्रह करता, कोई राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी प्रश्न को सामने रखता, कोई नारी-जीवन की ज्वलन्त समस्याओं—विधवा-विवाह, बाल-विवाह, विवाह-विच्छेद, मुक्त-प्रेम-सम्बन्ध आदि पर उनके सुविचारित निष्कर्ष पाने का आग्रह करता तो कोई अपने व्यवसाय से सम्बन्धित किसी समस्या के विषय में उनका अभिमत माँगता। इतना ही नहीं, स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि लोग दाम्पत्य जीवन की अत्यन्त गोपनीय बातें उनके पास बेहिचक लिखकर भेजने लगे। ऐसे पत्रों में चारित्रिक स्खलन, सन्देह, गृह-कलह, ज्ञात-अज्ञात रूप में हुए पापों की स्वीकृति, निराशा, असफलता, ग्लानि प्रभृति दुर्बल मनोभावों से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या के संकल्प जैसे गम्भीर प्रश्न रहते।

जिज्ञासुओं के इस विशाल समुदाय के प्रश्नों का उत्तर समस्या की प्रकृति तथा औचित्य को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत पत्रों तथा 'कल्याण' के माध्यम से दिया जाता था। ऐसे पत्रों का उत्तर पोद्दारजी बड़ी सावधानी से देते थे। पत्र-लेखक की मनःस्थिति को ध्यान में रखते हुए वे उसे पूर्णरूपेण संतुष्ट एवं आश्वस्त करने का प्रयास करते थे। उनकी शैली इतनी हृदयस्पर्शी, भाव इतने सर्वसंवेद्य और आत्मीयता इतनी गहरी होती थी कि प्रपंचग्रस्त जीवन के ताप से दग्ध शरणागतों के विजड़ित एवं हतोत्साह हृदय में आशा की एक नयी लहर तथा प्रकाश की एक अलौकिक किरण बिखर जाती थी। उनके संस्कारमार्जक समाधान से अन्धकार में भटकते हुए असंख्य व्यक्ति प्रकाश-पथ पर अग्रसर हुए, अनगिनत निराश, विषादमग्न तथा जीवन से ऊबे लोग आशा, उत्साह तथा नवचेतना प्राप्त कर आत्महत्या की कुचेष्टा से विरत हुए। कितने लोगों को बद्धमूल ईर्ष्याद्वेष, पारस्परिक सन्देह तथा मनोमालिन्य त्याग कर सौहार्द्र की पुनर्स्थापना की प्रेरणा मिली, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के शिकार कितने साधक, गृहस्थ और विरक्त उनके पत्रों से करुणावरुणालय की पतितपावनता से आश्वस्त होकर पापपंक से निकले, यह बताना कठिन है। जीवन की ऐसी कौन-सी गुत्थी, समस्या, पहेली तथा उलझन थी—जिसका समाधान जिज्ञासुओं को उनके पत्रों द्वारा न प्राप्त हुआ हो। कर्मकाण्डी न होते हुए भी उन्होंने मन्त्र-साधना के रहस्यों, अनुष्ठान की महत्ता और क्रिया-विधि से सम्बद्ध जानकारी देकर अपना विरद निवाहा। व्यवहार और परमार्थ के विविध आयामों को समेटते हुए उन्होंने निष्ठावान जिज्ञासुओं का सर्वप्रकारेण परितोष एवं हित-साधन ही अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा था। इसलिए उनकी दृष्टि में लोकजीवन के गरम झोकों से परितप्त आर्तजनों के पत्रों का उत्तर देना भगवदाराधन का ही एक रूप था।

इसकी उन्होंने एक पद्धति बना रखी थी। 'कल्याण'-सम्पादक तथा अपने नाम से आये हुए पत्रों को वे स्वयं खोल कर ध्यानपूर्वक पढ़ते थे और यथावसर उत्तर देने के लिए सुरक्षित रूप से रख देते थे। बाद में उत्तर लिखते समय उन्हें पुनः पढ़ते थे। उस सयय उनकी मनःस्थिति पत्र-प्रेषकों से मात्र सहानुभूति की न होकर समानुभूति की होती थी। जिज्ञासुओं के शब्दों के माध्यम से वे उनके आत्मप्रदेश में प्रविष्ट होकर स्थिति का यथार्थ बोध प्राप्त करते थे, फिर उसके समाधान के विविध पहलुओं पर गम्भीरता से विचार करते थे। यह प्रक्रिया पूरी हो जाने पर संस्कारमुक्त तथा करुणार्द्र चित्त से उत्तर लिखा जाता था। व्यावहारिक जीवन तथा शास्त्र-सम्बन्धी पत्रों का समाधान सर्वाधिक सरल था—कठिनाई केवल साधनात्मक समस्याओं के समाधान में आती। इसलिए नहीं कि उनके तद्विषयक ज्ञान अथवा गति में कोई कमी थी, बल्कि इसलिए कि प्रश्नकर्त्ता प्रकृत समस्या से सम्बद्ध साधना के अंग अथवा

स्थिति विशेष की पूर्वावस्था का साक्षात् अनुभव प्राप्त कर चुका है या केवल उसके सैद्धान्तिक रूप से परिचित है । सोपान व्यतिक्रम से साधनात्मक विकास की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है । इसलिए जिज्ञासु साधक की स्थिति के अनुसार ही उच्चतर स्तर की व्याख्या की जाती थी । सामान्य प्रश्नकर्त्ताओं को वे प्रायः सदाचारपालन, नाम-जप तथा इष्टदेव के ध्यान का उपदेश करते थे । 'कल्याण' की व्यवस्था एवं सम्पादन में अहर्निश व्यस्त रहते हुए भी कोई पत्र कदाचित् ही अनुत्तरित रह पाता । पत्रों की बौछार उन्हें सावन की झड़ी-सी शीतल और सुखद लगती । उनके उत्तर में उनकी स्थितप्रज्ञता व्यवहारभूमि पर अवतरित होती थी । किन्तु आराध्ययुगल की लीला तथा प्रेम-निरूपण से सम्बद्ध पत्रों के उत्तर में स्थिति बदल जाती थी । तब समाधान-कर्त्ता अथवा उपदेष्टा की भूमिका से ऊपर उठकर वे भोक्ता अथवा द्रष्टा की स्थिति में पहुँच जाते थे । पारसी कृष्णोपासिका रैहाना तैयबजी को संबोधित पत्रों में इसके स्पष्ट दर्शन होते हैं । उनके पत्र आत्मीयता तथा उद्धारक विश्वासदायिता से ओत-प्रोत होते थे । शब्दों की यह शक्ति साधनाप्रसूत थी । अतः इससे जिज्ञासु को मानसिक तृप्ति के साथ ही अन्तःपरिष्कार द्वारा जीवनधारा को परमलक्ष्य की ओर मोड़ने में अपूर्व सहायता मिलती थी ।

इस प्रकार के असंख्य पत्रों का संकलन तथा विवेचन न यहाँ सम्भव है, न अपेक्षित ही । फिर भी विषय तथा प्रकृति के विचार से वे मोटे तौर पर निम्नांकित वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—

१. आध्यात्मिक (कर्म, उपासना, योग तथा ज्ञान सम्बन्धी)
२. साधनात्मक
३. नैतिक
४. व्यावहारिक
५. सामाजिक
६. राजनीतिक
७. पारिवारिक
८. वैयक्तिक ।

इन सभी वर्गों के पत्रों के उत्तर पोद्दारजी की लेखन-शैली के उदाहरण-स्वरूप यहाँ उद्धृत किये जाते हैं ।

१. भगवद्दर्शन-प्राप्ति के साधन

॥ श्रीहरिः ॥

प्रिय महोदय,

सप्रेम हरिस्मरण ।

मैंने 'कल्याण' में यह लिखा था और मेरा दृढ़ विश्वास भी है कि आजकल भी श्रीभगवान् के दर्शन अवश्य होते हैं । काल का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता जब कि भगवान् सर्वकाल में है । रही दर्शन की बात सो अब से कुछ ही समय पूर्व के ऐसे

अनेकों महात्माओं के चरित्र मिलते हैं, जिनको श्रीभगवान के दिव्य दर्शन हुए हैं। श्रीतुलसीदासजी आदि के चरित्र प्रसिद्ध हैं। जब भगवान सर्वकाल में हैं और कुछ ही समय पूर्व भक्तों को उनके दर्शन हुए थे, तब आज क्यों नहीं हो सकते ? अतएव यह दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि दर्शन होते हैं। यह विश्वास ही सबसे पहला साधन है। जिनको दर्शन में विश्वास ही न होगा, वे इच्छा और साधन क्यों करेंगे ?

★ ★ ★

भगवान के दर्शन में कोई साधन वास्तव में कारण है ही नहीं। ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसके बदले में भगवान के दर्शन मिल सकें। भक्तलोग 'कैवल्य-मोक्ष' के मूल्य पर भी दर्शन को—यथार्थ दर्शन को—अधिक-से-अधिक सस्ता ही समझते हैं। यानी मोक्ष का त्याग करने पर भी दर्शन मिल जायँ तो सस्ते ही मिले। यथार्थ दर्शन से मेरा मतलब भगवान के दिव्यतम सच्चिदानन्दमय विग्रह से है, जो ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा है। मायिक-विग्रह के दर्शन होना सहज है, परन्तु सच्चिदानन्द विग्रह के अत्यन्त कठिन हैं। जिस समय भगवान सच्चिदानन्द विग्रहरूप में प्रकट होते हैं, उस समय भी उन्हीं को यथार्थ दर्शन होते हैं, जिनके सामने से वे अपनी योगमाया को हटा लेते हैं। इस दर्शन में जो आनन्द है, उस आनन्द के सामने ब्रह्मानन्द भी तुच्छ हो जाता है। इसी से ज्ञानियों के शिरोमणि जनक भगवान श्रीराम की माधुरी को देखकर प्रेमाश्रुपूर्ण नैनों से पूछने लगे कि ये कौन हैं ? क्योंकि उन्हें देखते ही विदेहराज जनक की दशा कुछ और ही हो गयी थी—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ॥

× × ×

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥

(श्रीरामचरित मानस)

इसीलिए श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने यथार्थ ही कहा है कि 'जौ लौं तोहि नन्द को कुमार नाहिं दृष्टि पर्‌यौ, तौ लौं तू बैठि भले ब्रह्म को बिचारि ले।'

इतने दुर्लभ होने पर भी भगवान की कृपा से ये दर्शन सहज ही हो सकते हैं और भाग्यवानों को हुए हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। आप ने सुगम रास्ता पूछा सो—भगवान की कृपा पर दृढ़ विश्वास किया जाय और उनकी कृपा के बल पर मन में निश्चय किया जाय कि दर्शन अवश्य होंगे।

२. दर्शन के लिए गोपीजनों की भाँति परम कातर हो जाना और तन-मन-धन सबको तुच्छ समझ कर केवल दर्शन के लिए उत्कंठित रहना।

३. प्रह्लाद की भाँति भगवान् के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट सहन करने को तैयार रहना और आनन्द से सहना।

४. भरतजी की भाँति ध्यानसहित जप करते हुए निरंतर प्रतीक्षा में आकुल रहना।

५. शबरी की भाँति पल-पल में आतुर होकर राह देखना और भूख-प्यास भूल जाना।

६. सुतीक्ष्णजी की भाँति प्रेम में मत्त हो जाना।

७. मीरा की भाँति चरणामृत के नाम पर विष-पान के लिए भी तैयार रहना।

८. श्रीचैतन्य महाप्रभु की भाँति विरह-कातर होकर दिन-रात फुफकार मार-मार कर रोना।

९. विल्वमंगल की भाँति भगवान को हृदय में बाँध रखना।

१०. अर्जुन की भाँति अपने जीवन को उनके अर्पण कर देना।

इसी प्रकार और भी अनेक भाव हैं और ये सभी अधिकारीभेद से दुर्लभ या सुलभ हैं। यों तो ये सभी कठिन हैं, सुगम बात एक यह है कि भगवान को अपना परम प्रेमी प्रियतम मानना और उनसे मिलने के लिए हृदय में नित्य नवीन परन्तु एक ही लालसा सदा जाग्रत रखना। जिस क्षण यह लालसा हमारे मन में किसी भी दूसरे उपाय से शान्त न होने वाली बेचैनी उत्पन्न कर देगी, उसी क्षण भगवान के दर्शन हो जायेंगे। इसमें सबसे बड़ी कठिनता भगवान को सबकी अपेक्षा बढ़कर-प्रियतमों में भी परम-प्रियतम मान लेना है। यह मान्यता, यह सम्बन्ध जब स्थिर हो जायेगा, तब लालसा उत्पन्न होते देर नहीं लगेगी और यह प्रेमपूर्ण लालसा एक बार उत्पन्न होने पर फिर प्रतिक्षण बढ़ती ही जायगी। यह कभी कम तो होती ही नहीं, क्योंकि पल-पल में बढ़ना ही प्रेम का स्वरूप है। अतएव मेरी समझ में तो यही बात सबसे उत्तम और सुगम मालूम होती है कि आप सबसे पहले श्रीभगवान को अपना परम प्रियतम बनाने की प्रबल चेष्टा कीजिये।

भगवान के अनन्त, अपार, गुणातीत गुण, उनके दिव्य-माधुर्य, प्रेम, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल, श्री आदि का मनन, बार-बार उनका ध्यान, उनके पवित्र नाम का सतत जप करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उनमें प्रियतम भाव बढ़ता है। ज्यों-ज्यों प्रियतम भाव बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उनके स्मरण और ध्यान में अधिक-अधिक आनन्द आता है और त्यों-ही-त्यों स्मरण और ध्यान जीवन का स्वभाव-सा बनता जाता है। फिर उनकी अस्पष्ट झाँकी होने लगती है। परीक्षाएँ भी कभी-कभी हुआ करती हैं। उपदेवताओं के उपद्रव भी होते हैं, परन्तु भगवान की कृपा का भरोसा रखने से सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं और अन्त में 'परम प्रियतम'—इस

दुर्लभ भाव की प्राप्ति होती हैं। बस, इस परम-प्रियतम भाव की प्राप्ति के साथ ही परमप्रियतम भगवान के मंगल द्वार खुल जाते हैं। फिर लालसा उत्पन्न होती है और वह देखते ही देखते आग की तरह क्षणों में ही विस्तार पाकर सारे हृदय को आक्रान्त कर डालती है। इसी शुभ बेला में योगमाया का पर्दा हटता है, भक्त के सामने भगवान का दिव्य-विग्रह—अनन्त चन्द्रमाओं की सुधाभरी ज्योत्स्ना को, अनंत सूर्यों के प्रकाश को, अनन्त कामदेवों के सौन्दर्य को, अनन्त देवों के दिव्यत्व को अपनी दिव्य ज्योत्स्ना, दिव्य सुशीतल तेज, दिव्य सौन्दर्य और दिव्यतम दिव्यत्व से दलन करते हुए प्रकट होता है। दिव्य के संसर्ग में आते ही भक्त का देह, उसका प्रत्येक अंग, सर्व काल के लिए दिव्य हो जाता है और वह फिर दिव्य नेत्रों से दिव्य आँसू बहाता हुआ मंत्रमुग्ध की भाँति अपने परम प्रियतम दिव्यातिदिव्य परम दिव्यतम सौन्दर्य को निरख-निरख कर सदा के लिए अनन्त आनन्द के अपार अमृत-सागर में डूब जाता है। उस समय की स्थिति को वह जानता है, परन्तु वह भी कह नहीं सकता, क्योंकि उस समय वहाँ का सभी कुछ मन, बुद्धि वाणी से परे का दृश्य होता है।

बस, संक्षेप में यही आपके प्रश्न का उत्तर है। आप ने मुझको 'संत' नाम से सम्बोधन करके भूल की है। मैं तो सन्तों की चरणधूलि का भिखारीमात्र हूँ। बहुत देर से पत्र का उत्तर दिये जाने के कारण पुनः क्षमा चाहता हूँ। सम्भव है इसमें भी लीलामय की कोई लीला हो।

शेष भगवत्कृपा।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

२. आत्म-कल्याण और भगवत्कैंकर्य

॥ श्रीहरिः ॥

गीतावाटिका, गोरखपुर

१६-११-३७

सम्माननीया बहिन,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका ता० १२-११-३७ का कृपापत्र मिला। आत्म-कल्याण और भगवत्-कैंकर्य तो प्रत्येक बुद्धिमान प्राणी का लक्ष्य होना चाहिए। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भगवत्कृपा से मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है और सच कहा जाय तो जीव का वास्तविक लक्ष्य यही है। प्रत्येक मनुष्य इसी की चिंता में है, इसी की खोज में है। इसीलिए तो मनुष्य किसी भी अवस्था में सन्तुष्ट और परितृप्त नहीं है। कोई सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा और ऊँचा क्यों न हो जाय, धन-जन-मान-मर्यादा ऐश्वर्य और भोगों के बाहुल्य में कितना ही आगे क्यों न बढ़ जाय, वह

सदा किसी-न-किसी वस्तु की कमी का ही अनुभव करता है। वह चाहता है कि मुझे पूर्ण और अखण्ड सुख मिले, जो कुछ मिला है वह तो अपूर्ण और खण्डमात्र ही है। इसी से वह सदा अतृप्त और अभावग्रस्त रहता है और जिसके मन में अभाव का अनुभव है, वही दुःखी है। इस दृष्टि से सारा जगत् दुःखी है। इसमें कहीं कोई अवस्था ऐसी नहीं है, जिसमें कुछ भी अभाव नहीं, कोई जरा-सी भी कमी न हो, किंचित् भी अपूर्णता न हो। अपूर्णता के कारण होनेवाला दुःख का अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य किसी पूर्ण को चाहता है, पूर्ण को प्राप्त किये बिना वह तृप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार मनुष्यमात्र का लक्ष्य आत्म-कल्याण या भगवत्कैंकर्य ही है। क्योंकि पूर्णता एकमात्र श्रीभगवान में ही है और इस पूर्ण की प्राप्ति भगवत्-कैंकर्य से ही होती है। यह भगवत्कैंकर्य ही वास्तविक आत्म-कल्याण है। परन्तु मोहग्रस्त मनुष्य, यथार्थ में भगवत्कैंकर्य को चाहनेवाला होने पर भी विषयासक्ति-वश विषयों में ही उस सुख को खोजता है, वह भगवान् की कोई परवाह नहीं करता और इसी से वह सदा दुःखी रहता है, क्योंकि भगवान् से रहित विषयों में सुख है ही नहीं। भगवान् से रहित जगत् को तो स्वयं भगवान् ने ही 'दुःखालयं अशाश्वतं' 'सुख-रहितं' और 'अनित्यं' बतलाकर भजन करने की आज्ञा दी है। 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—(गीता ९/३३)। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान् प्राणी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवत्कैंकर्य ही होना चाहिए—इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। परन्तु भगवत्कैंकर्य होना चाहिए भगवान् के इच्छानुकूल। भगवान ने जिसको अपना किंकर स्वीकार करके जो काम सौंप दिया, उसे वही काम प्रसन्नचित्त से भगवान् का स्मरण करते हुए बिना किसी आसक्ति और फल की इच्छा के भगवत्सेवा के लिए करना ही चाहिए। अर्जुन को युद्ध के लिए आज्ञा देते हुए श्रीभगवान कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३–३०, ३१)

'सब कर्मों का मुझमें संन्यास (निक्षेप) करके, सदा मुझमें चित्त लगाये हुए (आसक्ति से उत्पन्न) आशा और (अहंकार से उद्भूत) ममता से रहित होकर और (अपनी किसी बुराई से और बुराई की आशंका से उत्पन्न) मनस्ताप से रहित होकर (मेरे लिए ही मेरी बात मानकर) युद्ध करो। जो कोई भी मनुष्य मुझमें दोष-बुद्धि न रखकर और श्रद्धावान् बने रहकर (मेरे बताये हुए किसी काम को दोषयुक्त जानकर, भगवान् ने ऐसे काम में मुझको क्यों लगाया—इस तरह की दोष-

कराऊँ वही ठीक है, ऐसी श्रद्धा मन में दृढ़ रखकर)
बुद्धि न करके, और मैं जो कुछ करते हैं, वे सब कर्मों के बन्धन
सदा सर्वदा मेरे उपर्युक्त वचनों के अनुसार व्यवहार
से छूट जाते हैं ।'

भगवान् के इन वचनों पर पूर्ण विश्वास करके आपको भगवान् के द्वारा दिये हुए स्वांग के अनुसार कर्तव्य-पालन के रूप में भगवान की सेवा अनन्य भाव से करनी चाहिए । भगवान के किंकर में निम्नलिखित आठ बातें अवश्य होनी चाहिए । इनमें जितनी कमी है, उतनी ही कैंकर्य-भाव में कमी है, यों समझना चाहिए ।

१. भगवान् की दयालुता पर दृढ़ विश्वास ।

२. भगवान् का (प्रतिक्षण) सतत स्मरण ।

३. अपने को सदा भगवान् के अधीन समझना ।

४. भगवान के किंकर का कभी अकल्याण हो नहीं सकता, इस बात पर दृढ़ विश्वास रखकर सदा प्रसन्न रहना ।

५. भगवान् के भेजे हुए प्रत्येक उपहार में (चाहे वह हमारी विकृत दृष्टि से भयानक और दुःखद ही जान पड़े) उनकी सहज कृपा को देखकर उसे सिर चढ़ाना और परम सन्तुष्ट रहना ।

६. भगवान् के दिये हुए प्रत्येक कार्य को उनकी परम सेवा समझ कर सब प्रकार की आसक्ति और कामना को छोड़ कर उनकी प्रीति के लिए ही आनन्दपूर्वक करना ।

७. अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता का भाव छोड़कर श्रीभगवान् की रुचि पर अपने को सर्वथा छोड़ देना और उनकी रुचि में ही परम अनुकूलता का अनुभव करना, चाहे वह लोक-दृष्टि में प्रतिकूल ही हो ।

८. भगवान् से नित्य कैंकर्य को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहना ।

अतएव आपको किसी प्रकार की भी मानसिक चिंता और भविष्य में अनिष्ट की आशंका नहीं करनी चाहिए । जिसके जीवन की बागडोर भगवान् के हाथ में हो, उसे चिंता क्यों हो ? अतएव आप तो भगवान् का अनन्य चिंतन करती हुई भगवान् के बतलाये हुए कार्य को करती रहें । बस, सारी चिंता भगवान् आप ही करेंगे । उनकी प्रतिज्ञाओं का स्मरण कीजिये । भगवान् कहते हैं—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गीता ९–२२)

'मुझमें अनन्य भाव रखनेवाले जो सज्जन मेरा चिंतन करते हुए भलीभाँति मुझे भजते हैं, उन मुझमें लगे हुए पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ' । 'योग' कहते हैं अप्राप्त की प्राप्ति को और 'क्षेम' कहते हैं प्राप्त वस्तु के संरक्षण को । जब हमारे सब प्रकार के योग और क्षेम का जिम्मा भगवान् स्वयं लेते हैं, तब हमें भगवान् के चिंतन को छोड़कर अन्य किसी प्रकार की चिंता ही क्यों करनी चाहिए ? जरा इस

बात को समझिये—हमारा भला कित बात में है, इसका निर्णय करने वाले हों—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, परम दयालु, परम सुहृद, साक्षात् भगवान् और उस भली वस्तु को ला भी दें स्वयं वही भगवान्। किस वस्तु के संरक्षण में हमारा क्षेम है, इसका निश्चय करें वही भगवान् और उसका संरक्षण भी करें, वही भगवान। फिर हमें और क्या चाहिए ? हम बहुत बार आग में हाथ डालने की इच्छावाले अबोध शिशु की भाँति बुराई में भलाई समझ लेते हैं, हम कुयोग को योग मान लेते हैं, जिनके बने रहने में हमारा अहित होता है (जैसे किसी बुरी आदत के, बुरी वस्तु के, क्रोधादि कुभावों के, अभिमानादि दोषों के), उन्हीं में अपना हित मान लेते हैं। परन्तु यदि सब हमारे जिम्मे न होकर बच्चे की स्नेहमयी जननी की तरह (सारे जगत् के मातृहृदय का समस्त स्नेह जिन भगवान् के स्नेह-सागर की एक बूंद भी नहीं है) उन परम सुहृद् भगवान् के जिम्मे हो तो हमारे सौभाग्य का क्या कहना है ! भगवान् इस जिम्मेवारी को लेने के लिए तैयार हैं, फिर हम अपनी सारी जिम्मेवारीं उन्हें सौंप कर केवल उनका चिंतन और सेवन करते हुए जगत् और उसके झंझटों से निश्चित क्यों न हो जायँ ? असल में भक्त तो, योगक्षेम भगवान् निबाहेंगे, इस भावना से भी अपने को बचाना चाहते हैं। वे तो योगक्षेम की चिंता करते ही नहीं, भगवान् का चिंतन ही उनका योग और वही क्षेम है। वे भगवान् के चिंतन में अपने योगक्षेम को कारण बनाकर अपनी विशुद्ध भक्ति में कलंक नहीं लगाना चाहते। उनका ध्येय तो बस चिंतन ही होता है। वे उस अनन्य भगवच्चिंतन की धारा में अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं देखना चाहते, नहीं देखते। फिर भगवान् ने तो यहाँ तक कह दिया है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

"जो एक बार मेरी शरण आकर 'मैं' तुम्हारा हूँ (यह सच्चे हृदय से) कह देता है, उसे मैं सब प्राणियों से अभय दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।" इन सब प्राणियों में ब्रह्मा से लेकर कीटाणुपर्यन्त सभी आ जाते हैं, फिर हमलोग भगवान् की शरण होकर उनसे क्यों न कह दें कि 'नाथ! हम तुम्हारे ही हैं।' और क्यों न सारी चिंताओं से सदा के लिए छूट जायँ।

आपको किसी भी मानसिक चिंता को अपने हृदय में नहीं आने देना चाहिए। जहाँ भगवच्चिंतन हो, वहाँ अन्य चिंता क्यों आवे ? तथापि यदि कोई चिंता हो तो उसे मन से निकाल दीजिये। मुझको सब बातें खोलकर लिखना चाहें तो प्रसन्नता से लिखिये। भगवान् को सौंपी हुई जिन्दगी की चिंता भगवान् करेंगे, हम क्यों करें ?

आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा।

आपका भाई,
हनुमानप्रसाद पोद्दार

३. अपने दोष देखिये और दूसरों के गुणों का मनन करिये

॥ श्री हरिः ॥

रतनगढ़ (बीकानेर)
मार्गशीर्ष कृष्ण ७-१९८८

प्रिय बहिन,

जय श्रीकृष्ण ।

परमात्मा के सिवा सभी वस्तुएँ दोषयुक्त हैं, इससे हमलोगों में दोष रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है; परन्तु मनुष्य का यह धर्म है कि वह परमात्मा के आदर्श को सामने रखकर अपने प्रत्येक दोष को चुन-चुन कर सर्वथा दूर करे और सम्पूर्ण रूप से निर्दोष बनने के लिए प्रयत्न करता रहे। दोषों के बढ़ने या घटने में संग और वातावरण बहुत अधिक कारण होता है। तुम अच्छे संग में हो, इससे तुम्हारी दोषों के दूर होने की आशा उचित ही है। असहिष्णुता का दोष बहुत आगे बढ़ कर दूर हुआ करता है। केवल बाह्य रूप से या सभ्यता के लिहाज से विपरीत भाव को सह लेना ही सहिष्णुता नहीं है, प्रतिकूलता से मन में दाह होना मात्र असहिष्णुता है; इसका नाश राग-द्वेष के नाश से होता है। इस बीच में इसे यथासाध्य दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि जब हममें ऐसी अनेक बातें हैं, जो दूसरों से प्रतिकूल हैं और वे उनको किसी तरह सहते हैं तो हमें भी दूसरों की प्रतिकूल बातें सहनी चाहिए। प्रकृतिभेद के अनुसार मतभेद होना स्वाभाविक ही है। संसार में मतैक्य कभी नहीं हुआ और न होना सम्भव ही है; क्योंकि संसार का स्वरूप ही विभिन्नता को लिये हुए है। परन्तु इस प्रकृति-भेद के अन्दर राग-द्वेष के वश में न होने से मनुष्य सर्वथा सहिष्णु ही नहीं, परम प्रेमी भी बन सकता है। प्रकृति-भेद से घबरा कर सबको एक प्रकृति के बनाने की चेष्टा करना और वैसा न होने पर विकल या हताश होना मूर्खता है। स्वभाव की विभिन्नता कभी मिट नहीं सकती, विवेकपूर्वक इसको सहना चाहिए। साधारणतः निम्नलिखित उपाय हैं—

१. अपने दोषों को देखते रहना।

२. दूसरे में दोष दीखते ही उसके दोषों से अपने दोषों की तुलना करना, इस तुलना में बहुत बार भूलें होंगी और भ्रमवश अपने दोष बहुत कम दीखेंगे, परन्तु चेष्टा करते-करते सफलता मिलेगी और अपने दोषों का समूह दीखेगा—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो मन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

३. दूसरे का दोष सामने आने पर उसकी स्थिति में अपने को लेकर उस स्थिति के अनुसार विचार करना, यानी हम उसकी स्थिति में होते तो क्या करते ?

४. क्रोध को रोकने की चेष्टा करना, कम-से-कम क्रोध आने पर उस समय बोलने से रुक जाना।

५. बार-बार शान्त-चित्त से दूसरों के सद्गुणों का मनन करना।

इन सारे उपायों से भी सर्वोत्तम उपाय है श्रीभगवान् से नित्य आर्तभाव से दोषनाश के लिए प्रार्थना करना। प्रार्थना में बड़ा भारी बल है, इससे बहुत ही शीघ्र और बड़ा ठोस काम होता है।

दो पुस्तकें भेज रहा हूँ, 'मानव-धर्म' और 'आनन्द की लहरें'; इन्हें पढ़ना। 'मानव-धर्म' में क्षमा और अक्रोध शीर्षक दोनों लेख तथा 'आनन्द की लहरें' सारी पढ़ जाना।

मुझे तो भगवान् की शरणागति के समान सब दोषों की एकमात्र अव्यर्थ औषधि दूसरी नहीं दिखाई पड़ती; क्या लिखूँ, सावन के अंधे की-सी बात है।

तुम मन और शरीर से प्रसन्न होगी, भगवत्-सम्बन्धी शुद्ध विचार ही मन की स्वस्थता है, यह बात ध्यान में रहे।

मन के प्रत्येक दोष पर ध्यान रखना, बुरे विचार मात्र को शत्रु समझ कर एक क्षण के लिए भी उसे नहीं टिकने देना चाहिए। पाप पर कभी दया नहीं करनी चाहिए। बुरा विचार तरंग की भाँति मन में आकर आश्रय पाते ही समुद्र बन जाता है। तीन बातों से दूर रहना—दंभ, अभिमान और नास्तिकता।

तुम्हारा भाई,
हनुमानप्रसाद

●

४. असत् स्फुरणों को मार भगाइये

॥ श्री हरिः ॥

रतनगढ़ (बीकानेर)
१३–९–३७

पूज्यपाद.........महाराज,

चरणों में सादर प्रणाम।

आपके तीनों पत्र मिले। यहाँ आने पर मुझे दो बार बीकानेर और एक बार दिल्ली जाना पड़ा, इससे समय पर उत्तर नहीं लिख सका, आप कुछ भी अन्यथा न समझें।

'पूज्यपाद' और 'चरणों में सादर प्रणाम', लिखने में फारमेलिटी (औपचारिकता) तनिक भी नहीं है। मैं जिस दृष्टि से शब्दों का प्रयोग करता हूँ, किसी भी अवस्था में इस जन्म में उसमें अन्तर नहीं पड़ सकता। इसलिए आप जरा भी

संकोच न करें। आपके द्वारा 'श्रीभाईजी' शब्द का प्रयोग बहुत ठीक जँचा, यही होना चाहिए। बीच के पत्र में लिखी हुई अद्‌भुत घटना को पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ। आप श्रीभगवान् का नाम जपते हैं, नामस्मरण से सब काम सध जायगा, यह आपका भरोसा था, उसी भगवन्नाम ने मेरे नाम और रूप में आपके सामने प्रत्यक्ष उपस्थित होकर आपको बचाया है। उसी ने 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र की आपको दीक्षा दी है; आप इसी कल्याणमय मन्त्र का जप करते रहिये और इस शंका को दूर कर दीजिये कि अभी नामस्मरण ने आपको अपनाया नहीं। नामस्मरण नहीं अपनाता तो दूसरा रक्षा करनेवाला कौन था? आप इस बात का विश्वास कीजिये—नाम मेरे रूप में या अन्य किसी रूप में सदा आपके साथ है, आपके मन की दशा को और आप की शारीरिक क्रिया को देखता है, आपको बचाता है, आपकी वृत्तियों से लड़ने में विजय दिलवाता है, आपकी प्रवृत्ति में, आपके मन में संकोच, लज्जा, भय और पतन का भाव पैदा करता है। कहीं किसी प्रकार से पतन होने पर फिर उठाता है। यह सब तो होता ही है। आप विश्वास कर लें कि श्रीभगवन्नाम सदा मेरे कार्यों को देखता है, न मालूम कब किस अवस्था में भाईजी के रूप में या अन्य किसी रूप में मेरे समीप प्रकट हो जायगा, जिससे मुझे संकोच और लज्जा के सागर में डूब जाना पड़ेगा, इसलिए ऐसे किसी भी काम में प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए। जो साथ है, वह चाहे जब सामने आ सकता है, यह समझने से आप सदा ही अलग रहते हुए भी भाईजी के या श्रीअरविन्द की सन्निधि में ही रहेंगे। यह आपके विश्वास और निश्चय पर निर्भर है।

आपने मुझे अपना समझकर मेरे सामने हृदय खोल कर रक्खा है, यह कोई भगवान् का ही विधान है। मुझपर आपका जो विश्वास और स्नेह है, उसको देखते हुए मैं आपका चिर ऋणी हूँ। आपके स्नेह का बदला कभी चुका नहीं सकता। भगवान् पर विश्वास रखिये—भगवान् के अप्रतिहत बल से आप संशय और निश्चय, आशा और निराशा के युद्ध में अवश्य ही विजयी होंगे। नैया डगमगायेगी, परन्तु डूबेगी नहीं। हाँ, विश्सास छूट जायगा तो अवश्य कठिनता का सामना करना पड़ेगा।

भगवदनुकम्पा से नौका निश्चित ही उद्दिष्ट दिशा में जायगी और यात्रा अवश्य ही सफल होगी—इसमें सन्देह करना भगवत्कृपा का तिरस्कार करना है। "मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।" हाँ, मच्चित्तः होने की आवश्यकता है, परन्तु यह भाव भी विश्वास से ही मिलता है।

कुसंस्कारजनित असत् स्फुरणाओं से घबरायें नहीं, उनको मार भगाने का प्रयत्न कीजिये; जरा भी आश्रय न दीजिये। सिर उठाते ही पूरे हाथ से प्रहार कीजिये। भगवान् की शक्ति आपको अन्त में विजय प्रदान करेगी, "न मे भक्तः प्रणश्यति।"

योगक्षेम के सम्बन्ध में मुझे स्वयं बड़ी चिन्ता है। मैं आपको यहाँ साथ लाने के प्रयत्न में भी था, परन्तु सफल नहीं हुआ और बिना योगक्षेम की व्यवस्था के यहाँ

लाने में औचित्य नहीं जान पड़ा। इससे हृदय पर पाषाण रखकर ही आपको काशी भेजना पड़ा। मैंने समर्थ स्वामी रामदास की जीवनी लिखाने का प्रस्ताव प्रेस की प्रकाशन-समिति से किया है, अभी उत्तर नहीं मिला है, उत्तर मिलने पर लिखूँगा। मैं यथाशक्य चेष्टा में हूँ। भगवान् सब निवाहेंगे।

सब बच्चे प्रसन्न होंगे। सबकी याद आती है।

आपका
हनुमान

५. सच्चे सम्बन्धी से नाता जोड़िये

॥ श्री हरिः ॥

रतनगढ़ (बीकानेर)
पौष कृ० ६, १९९४

प्रिय महोदय,

सादर हरिस्मरण।

आपके पत्र मिले बहुत दिन हो गये, उत्तर लिखने में बिलम्ब हो गया, इसके लिए क्षमा करें। आपके विस्तृत पत्र के उत्तर में मेरा तो यह निवेदन है कि 'दृश्य-मान जगत' में जन्म-मरण का खेल अविराम चल रहा है। यहाँ इस प्रकृति के जादू-घर में कुछ भी स्थिर या नित्य नहीं है। संहार को हृदय से लगाये हुए ही सृजन का उदय होता है। आज जो सुन्दर है, मनोहर है, सौन्दर्य-माधुर्य है भरा है, सरल बालकेलि से सबको प्रमुदित कर रहा है, वही कुछ दिनों में यौवन, जरा और व्याधि की घाटियों को लाँघता हुआ आसन्नमृत्यु होकर अत्यन्त कुरूप, भीषण, वीभत्स, 'दुर्गन्ध-युक्त और महान् दुःख-दोषमय होकर, सबके लिए कष्टप्रद हो जाता है और चेतन आत्मायुक्त सूक्ष्म शरीर से वियुक्त होकर वह सर्वथा घृणित, हेय, अस्पृश्य हो जाता है। फिर बिना किसी सहानुभूति के हम उसे श्मशान में ले जाकर फूँक डालते हैं या भीषण सुनसान स्थान में जमीन खोद कर गाड़ देते हैं। यही तो परिणाम है इस शरीर का! आज प्यारी पत्नी, प्राणप्रिय पति, श्रद्धास्पद माता-पिता, अभिन्न-हृदय मित्र, प्राणों का पुतला प्यारा पुत्र आदि को परस्पर पाकर सब अपने को परमसुखी समझते हैं, सबके प्राण हँसते हैं, परन्तु दूसरे ही दिन मृत्यु के भयानक आघात से हमारे ये प्राण-प्यारे आत्मीय निधन को प्राप्त हो जाते हैं। हमारा प्यार का भण्डार लूट लिया जाता है। हम हाय-हाय करते हैं, चिल्लाते हैं, पर कुछ भी नहीं कर पाते। यही हाल संसार की सभी चीजों का है। असल में यह अपनापन, यह ममता ही हमारे दुःखों का हेतु है। जिसे पाकर मनुष्य हँसता है, उसको खोकर उससे कई गुना अधिक दुःखी होना पड़ता

है और यहाँ का यह पाना होता ही है खोने के लिए। जन्म होता ही है मृत्यु के लिए, संयोग उत्पन्न ही होता है वियोग के निश्चित विधान को साथ लेकर। हम कुछ दिन रोते हैं, फिर उसी भाँति हम भी इस चोले को छोड़कर नये के लिए चलते हैं। चोला पुराना होने पर भी मोहवश उसे छोड़ते हम घबड़ाते हैं। ममत्व के कारण किसी प्रकार की भी, जरा भी, विनाश की आशंका हमें व्याकुल कर देती है, परन्तु विनाश तो अवश्यम्भावी है, नवीन सृजन के लिए उसकी आवश्यकता है, वह होता ही है और होता ही रहेगा। कब तक ? सो कौन कह सकता है ? परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि जन्म-मरण-युक्त जगत् चाहे सदा रहे, परन्तु इसमें हमारा जो विषयों से ममत्व का सम्बन्ध है, वह तो सदा कभी नहीं रहेगा।

आज हम अपने इस शरीर के माता-पिता, स्त्री, स्वामी, पुत्र, कन्यादि से प्रेम करते हैं, उनके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते। उनका जरा-सा अदर्शन भी हमें असह्य हो जाता है। पर जब हम उन्हें छोड़ जाते हैं और दूसरे चोले में पहुँच जाते हैं, तब उनकी याद भी नहीं करते। न मालूम कितनी बार कितनी योनियों में हमारे प्रिय माता-पिता, स्त्री-पुत्र, यश-कीर्ति, घर-जमीन हो चुके हैं, परन्तु आज हमें उनकी याद भी नहीं है। हमारे वे पहले के माता-पिता कहाँ किस दशा में हैं, हमारी प्राणप्रियतमा पत्नी की किस शरीर में क्या दशा है ? हमारे आत्मा से भी बढ़कर प्यारे पुत्र-पौत्र किस स्थिति में हैं, हमें क्या उनका कुछ भी पता है ? हमें उनकी दशा जानने के लिए कुछ भी उत्कंठा, इच्छा या जिज्ञासा है ? हम उन्हें भूल गये हैं। जैसे हम उन्हें भूल गये हैं, वैसे ही वे भी हमें भूल गये हैं। उनको भूलकर आज हम अपने नये संसार में, नये घर में, नये सम्बन्धियों के प्रेम में मस्त हैं। आगे चलकर इनको भी भूल जायेंगे। ऐसे विनाशी, क्षण-स्थायी सम्बन्ध को यथार्थ सम्बन्ध समझकर सुखी होना मूर्खता नहीं तो क्या है ? ऐसे सम्बन्ध को लेकर ममत्व करना ओर फिर रोना-धोना ही तो अज्ञान है।

इसमें जो नित्य है, सत्य है, जिससे कभी बिछोह नहीं होता, जो सदा साथ ही रहता है और रहेगा, उसी से प्रेम करना चाहिए। और वह है श्रीकृष्ण। उसी के अनेकों नाम हैं—है वह एक ही। वही हमारा, सब अवस्थाओं का और सब समय का मित्र है। वह सुहृद् है, नित्य, सुन्दर है, मधुर है। वह सदा का साथी है, वह हमारे प्राणों का प्राण है, आत्मा का आत्मा है। इस श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी से भी प्रेम करोगे तो उसी में धोखा होगा; जिसको चाहोगे, वही धोखा देगा। न मालूम हमने कितनी योनियों में सुख के संसार रचे हैं, वहाँ हमारे सभी सम्बन्धी थे। हम सबको धोखा दे आये। आज उनकी तनिक भी चिंता हमें नहीं है। वे हमसे प्रेम करते थे, परन्तु हमसे उन्होंने क्या पाया ? बस, यही बात है। इसलिए एकमात्र श्रीकृष्ण को ही अपना समझो, उन्हीं से प्रेम करो। सबमें उन्हीं को देखकर फिर सबसे प्रेम

करो। किसी में खास ममत्व नहीं करना चाहिए। जीवन-मृत्यु उनका (श्रीकृष्ण का) खेल है। सबमें सब समय सब ओर से उन्हीं को पकड़ लो, तभी जीवन सार्थक होगा। तभी सुख के, सच्चे सुख के, परमानन्द के यथार्थ दर्शन होंगे।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

६. संकट-नाश के अमोघ उपाय

॥ श्रीहरिः ॥

कार्तिक शुक्ल ११, १९९३

प्रिय भाई,

सप्रेम हरिस्मरण।

तुम्हारे कई पत्र आये, मैं उत्तर नहीं दे सका, इसके कारण तुम्हारे मन में विचार होना स्वाभाविक ही है। परन्तु भाई, तुम किसी तरह का अन्यथा विचार न करना, तुम सदा ही मेरे छोटे भाई हो। मैं कार्यवश या प्रमादवश तुम्हें पत्र नहीं लिखता, इससे तुम्हें मुझपर नाराज नहीं होना चाहिए। तुम्हारी स्मृति न मालूम कितनी बार होती है। तुम्हारे संकटों का मुझे पता है। तुम न भी लिखो तो भी तुम्हारे संकटों को मैं स्वयं वहुत कष्टकर समझता हूँ। तुम्हारे संकट शीघ्र दूर हों, ऐसी चाह होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि तुम्हारे संकट मेरे ही हैं। ऐसा कई बार विचार और अनुभव भी होता है। परन्तु जो मेरे उपाय के बाहर की वस्तु है, उसके लिए मैं क्या करूँ ?

तुम श्रीभगवान् का स्मरण करो। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्र का जाप और श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध के तीसरे अध्याय 'गजेन्द्र-स्तुति' का प्रतिदिन आर्त्तभाव से पाठ करो। इन उपायों से संकट दूर होने में बड़ी सहायता मिलेगी। विश्वासपूर्वक इनका साधन किया जाय तो मेरे विश्वास के अनुसार बड़े-से-बड़े संकट भी दूर हो सकते हैं। प्रार्थना और भगवन्नाम में बड़ा बल है। एक नाम से पापों का अशेष नाश हो सकता है। इसको केवल कल्पना मत मानो। ज्ञानी लोग कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रह्म का स्वरूप जान लेने पर मुक्ति हो जाती है और यह बात सर्वथा सत्य भी है, परन्तु इसमें प्रमाण क्या है ? जिस कर्म-बन्धन में सब लोग फँसे हैं, बिना इच्छा के कर्मों का फल बाध्य होकर भोगना पड़ता है; उस कर्म-बन्धन की सारी ग्रन्थियाँ ब्रह्म को जानते ही क्योंकर टूट जाती हैं ? ज्ञानमात्र से बन्धनों का नाश होना यदि सम्भव है तो फिर नाममात्र से पापों का नाश क्यों सम्भव नहीं है ? भगवान् का नियम ऐसा ही है, दोनों ही बातें सत्य हैं। अतएव तुम मन में विश्वास करके भगवन्नाम की शरण ग्रहण करोगे तो तुम्हारे संकटों का नाश होना बड़ी बात नहीं है।

यह सत्य है कि क्षणभंगुर सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए, तथा विनाशी संसार के संकटों के विनाश के लिए अविनाशी सनातन परमात्मा की प्राप्ति करानेवाले अविनाशी भगवन्नाम का प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है। सांसारिक क्षणभंगुर पदार्थों के पाने की इच्छा तथा प्रारब्धवश अपने कल्याण के लिए परमात्मा के विधान से प्राप्त हुए दुःखों के विनाश की कामना—दोनों में ही अज्ञान कारण है। जो वस्तु नाश होनेवाली है, प्रतिक्षण मृत्यु को प्राप्त हो रही है, उस सतत मरणशील वस्तु की चाह कैसी? इसी प्रकार संकटों के मूलभूत विषयों के द्वारा संकटों से छूटकर सुखी होने की वासना कैसी? मल से मल कभी नहीं धुलता। इसलिए सांसारिक लाभ-हानि को प्रारब्ध पर छोड़कर निश्चिन्त रहना चाहिए। आवश्यकतानुसार विहित कर्म अवश्य करने चाहिए; परन्तु फलासक्ति को त्यागकर भगवत्सेवा ही कर्म करने में उद्‌देश्य होना चाहिये। कर्मसम्पादन होते ही तुम अपने फर्ज को अदा कर चुके, फिर चाहे उसका फल कुछ भी हो। जैसे भूकम्प-पीड़ित एक आदमी को तुमने मकान बना दिया, फिर दूसरे ही दिन पुनः भूकम्प आया—उसका मकान गिर पड़ा, इससे जैसे तुम्हारा कर्म व्यर्थ नहीं गया, उसी प्रकार तुम भगवान् की सेवा समझ कर जो कार्य करते हो, तुम्हारी पूजा स्वीकार हो गयी। तुम्हें उसके फल से क्या मतलब? तुमने तो पूजा के लिए कर्म किया था, फल के लिए नहीं और फल में मनुष्य का अधिकार भी नहीं है। ऐसी अवस्था में न तो फल की इच्छा करनी चाहिए और न कर्म या कर्मफल में आसक्ति ही होनी चाहिए। विचार करके जो विषय-मोह को छोड़कर और इस प्रकार फलासक्ति को त्यागकर विहित कर्म करता है, वही यथार्थ में बुद्धिमान् है, और वही परम सुख और शान्ति को पाता है। तुम बुद्धिमान् हो, जगत् का क्षणभंगुर स्वरूप जानते हो। जिनको सुखी मानते हो, वे भी अन्दर ही अन्दर जलते हैं। उनकी जलन का कारण अवश्य ही दूसरा है, यह भी तुम जानते हो। अतएव तुम्हें विषयासक्ति का त्याग करने की चेष्टा करते रहना चाहिए और प्रेमपूर्वक भगवान् की प्रसन्नता के लिए भगवन्नाम का जप निष्काम भाव से ही करना चाहिए।

तुम्हारा भाई,
हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

७. ध्यान-साधना

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस
पौ० शु० १५, सं० १९९३

प्रिय महोदय,

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपा पत्र मिला। आपने मेरे लिए 'पूज्यवर' और 'सादर प्रणाम' लिखा सो मेरी प्रार्थना है, भविष्य में ऐसा न लिखें। मैं भी बदले में आप को ऐसे ही

लिखता तो शायद आप को दुःख होता। अपने में परस्पर बराबरी का प्रेमभरा व्यवहार होना चाहिए। मैं तो इस योग्य हूँ भी नहीं।

आप को ध्यान में कभी कुछ भी नहीं दीखता, केवल अन्धकार का भान होता है, इसमें प्रधान कारण मेरे अनुमान से अभ्यास की कमी है। ध्यान से कुछ सम्बन्ध मन का है। जिस किसी विषय या पदार्थ में जिनका मन एकाग्र होकर तदाकारता को प्राप्त हो जाता है, इच्छा करने पर वही वस्तु बन्द ही नहीं, खुली आँखों से भी दीखने लगती है। परन्तु इसमें दो बातों की प्रधान रूप से आवश्यकता है। जिस वस्तु का ध्यान करना है, उसके स्वरूप की दृढ़ धारणा होनी चाहिए एवं चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास होना चाहिए। चित्त के अत्यन्त चांचल्य में भी ध्यान नहीं होगा, और जिस पदार्थ की चित्त में धारणा नहीं है, उसका भान भी होना कठिन है। इसीलिए ध्यान के अभ्यासी के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस मूर्ति या स्वरूप का ध्यान करना चाहता है, उसके चित्र को बारम्बार या लगातार देखकर और उसका बारम्बार चिंतन कर उस स्वरूप को मन में भलीभाँति जँचा ले। चित्र न हो तो वर्णन के अनुसार ही उसको जँचा लेना चाहिए और फिर मन में उस जँची हुई मूर्ति का ध्यान करे। जितना ही चित्त की एकाग्रता का अभ्यास अधिक होगा, उतना ही ध्यान शीघ्र, स्पष्ट और अधिक कालस्थायी होगा। ध्यान के साधन का आरम्भ तो निराशामय-सा ही हुआ करता है, इसमें घबराना नहीं चाहिए। ध्यान में साधक जब बैठता है तो कई बार ऐसा होता है कि जो बातें काम के समय याद नहीं आतीं, वे उस समय स्फुरित होती हैं। इसका कारण यही है कि उस समय बाहरी कार्यों से मन को हम अलग कर लेते हैं, किन्तु वह पूरी तरह अलग होता नहीं और भगवान के ध्यान में लगने का उसे अभी अभ्यास नहीं है। ऐसी हालत में मन अपने में अंकित पुराने संस्कार-चित्रों को दिखाने लगता है। कई बार निद्रा, आलस्य, उकताहट और शून्यता-सी होती है। ये सभी मन के एकाग्र न होने तक के लिए हैं। मूढ़ और क्षिप्त वृत्ति से ध्यान का अभ्यास नहीं होता। यह याद रखना चाहिए कि ध्यान अष्टांग-योग में सातवाँ सोपान है, इसके पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा—इन छः मंजिलों पर चढ़ने की आवश्यकता है। एक ही साथ सातवीं मंजिलपर चढ़ने की चेष्टा करनेवालों को कठिनता होनी स्वाभाविक ही है। हाँ, भगवत्कृपा से सब कठिनाइयाँ एकबारगी ही मिट जाती हैं। अतएव भगवान् की शरण होने से भगवान् का ध्यान, भगवत्स्वरूप में समाधि और भगवान् का साक्षात्कारतक हो सकता है। भगवान् की शक्ति से साधक एक ही प्रयास में उड़कर बीच की सब मंजिलों को लाँघ कर एकदम ऊपर पहुँच सकता है। वस्तुतः उसे उड़ने का प्रयास भी नहीं करना पड़ता। सारी व्यवस्था दूसरी ही ओर से हो जाती है। 'योग-दर्शन' में भी ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा इसी बात को स्वीकार किया गया है। अतएव भगवान् की शरण

की भावना करते हुए आप को भगवत्-शक्ति के बल का मन में आश्रय करके साधन करना चाहिए। ऐसा करने से शीघ्र और उत्तम सफलता की सम्भावना है।

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन न होने को आप संकट मानते हैं, यह आप का सौभाग्य है। यह संकट अत्यन्त तीव्र कष्ट के रूप में परिणत हो जाना चाहिए। जिस दिन—जिस क्षण आप श्रीकृष्ण का अदर्शन क्षण भर के लिए भी सह न सकेंगे, उस क्षण श्रीकृष्ण भी आप को दर्शन दिये बिना नहीं रह सकेंगे। यह आप के ही हाथ की बात है।

मुझे आप भूल से भक्त मानते हैं। मेरे मन में भक्ति की जो अधूरी-सी कल्पना है, उसको देखते मेरी स्थिति भक्ति से बहुत ही दूर है। आप की सहायता, विश्वास कीजिये, श्रीकृष्ण स्वयं करने को तैयार हैं।

आपका
हनुमानप्रसाद

•

८. मेरा कृष्ण हिन्दू का नहीं, गोपी हृदय का है

॥ श्रीहरिः ॥

डालमिया दादरी
१८-११-३९

प्यारी बहिन,

जय श्रीकृष्ण।

प्रेम के तारों से गूँथी हुई दोनों बहिनों की राखी ठीक वक्त पर पहुँच गयी थी। मैं पत्र लिखने को था, पर लिख न पाया। सफाई देने की जरूरत नहीं, कारण तो कई थे, परन्तु प्रधान कारण स्वभाव-दोष ही समझिये। अब लगभग पौने दो महीने से गोरखपुर से अलग हूँ। एकान्त सेवन-सा कर रहा हूँ। ज्यादातर अलग कमरे में रहता हूँ। आप से क्या छिपाऊँ ? प्यारे श्री कृष्ण और श्रीराधारानी की बड़ी कृपा है, दिन बहुत मौज से बीत रहे हैं। यहाँ से कुछ दिनों बाद और कहीं जाने का विचार है। जाऊँगा, तब लिखूंगा।

मेरे पत्र के जवाब में आप का प्रेमभरा पत्र बाँकुड़े में मिला था। मोहन की बाँकी झाँकी और नूपुरों की न्यारी झनकार, मुरली की विश्वविमोहिनी गुंजार और उस गुंजार से बेबस हुई रैहाना बहिन की हृदय-पीड़ा से निकली हुई आँसुओं की धारा—लगातार कई महीनों तक हृदय को भिगोती रही। उस खत के जबाब में बहुत भाव उमड़े। पाँच-सात बार लिखने बैठा, बहिन के आँसुओं का जादू भाई की आँखों में आ गया। कम-से-कम तीन बार की सच्ची घटना है।

प्यारे श्रीकृष्ण की बात क्या कहूँ, कुछ अजीब लीला है उनकी। उनका सभी कुछ मनोहर है, सुन्दर है, मधुर है, पवित्र है और दिव्य है। वे सर्वेश्वर हैं, सर्वलोक-महेश्वर हैं, सब कुछ से परे हैं। इतना होते हुए भी वे इतने अपने हैं, इतने सरल और निरभिमान हैं कि क्षुद्र प्राणीतक को अपनी माधुर्यमयी लीला का रसास्वादन प्रदान करते हैं। वे सकुचाते नहीं, उनके बड़प्पन में कमी लगती ही नहीं। सचमुच बहिन ! उनका स्वभाव, उनका शील, उनकी आत्मीयता, उनका प्रेम, उनका स्वरूप, उनका सौन्दर्य इतना विलक्षण और अद्वितीय है कि उसका वर्णन हो नहीं सकता। वह उनके प्रसाद से अनुभव करते ही बनता है। यह साहित्यिक वर्णन नहीं है, कल्पना नहीं है, सत्य है, परन्तु किसी के सामने प्रकाश करने की चीज नहीं है। उनका प्रेम प्राप्त होने पर दिल की क्या दशा होती है, उसे दूसरा कोई जान नहीं सकता—

सखी ! हौं श्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गयी वा मूरति हिरदय माँहि पगी ॥
संग हुतो अपनो सपनों सो सोय रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परे सखि नेकु न न्यारो होई ॥
कासों कहौं कौन पतियावे कौन करै बकवाद।
कैसे कै कहि जाय सखी री गूँगे को गुड़ स्वाद ॥

× × ×

चरचा करी कैसे जाय।
बात जानत कछुक हम सों कहत जिय थहराय ॥
कथा अकथ सनेह की उर नाहिं आवत और।
वेद स्मृति उपनिषद कौ रह्यौ नाहिन ठौर ॥
मनहि में है कहनि ताकी सुनत श्रोता नैन।
कहौ कैसे आग बूझै कहि न आवत बैन ॥

× × ×

मो मन गिरिधर छबि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ॥
सजल स्यामघन बरन लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यौ।
'कृष्णदास' किये प्राण निछावर यह तन जग सिर पटक्यौ ॥
क्या कहूँ अधिक ?

तन मन धन अरपन कियो सब तुम पै वृजराज।
मन आवै सो कीजिये हाथ तुम्हारे लाज ॥

उस दिलवर ने दिल की लाज रक्खी है, कैसी-कैसी झाँकियाँ वह दिखलाता है, कुछ कहने की बात नहीं है। कहने की न जरूरत है, न योग्यता है, न अधिकार है,

न लाभ है और न फुरसत ही है। आप मेरे मोहन की प्रेमिका हैं, इससे बरबस आप के सामने कुछ लिख गया। प्रार्थना यह है कि इस खत को पढ़कर फाड़ डालें, किसी को पढ़ावें नहीं।

बहिन सरोज के और मेरे लिए आपने जो कुछ लिखा, वह आपके हृदय का शुद्ध भाव है। बहिन सरोज के लिए तो मैं क्या कहूँ····कहनी बात यही है कि मैं तो बिल्कुल नाचीज हूँ। गुनाहों से भरा हुआ इन्सान हूँ। जरूर श्रीकृष्ण की मुझ दीन पर दया है, इसीसे सब दया करते हैं और सबको मैं अच्छा लगता हूँ। आपके लिए मेरे हृदय में कैसे भाव हैं, मैं उनको खोलकर बतलाना नहीं चाहता। पता नहीं, आपके साथ पूर्वजन्म का सम्बन्ध है या नहीं। कभी आपसे मिला नहीं····परन्तु आपके प्रति ठीक वैसे ही स्वाभाविक आकर्षण है, जैसे एक पेट से पैदा हुए सगे भाई का अपनी बहिन के साथ होता है, उससे भी कहीं बढ़कर। बहिन-भाई के सम्बन्ध में भी कोई स्वार्थ रह सकता है, कोई और दोष आ सकता है, किसी कारण से प्रेम में कमी हो सकती है, परन्तु अभी तक आपके प्रति वह तो सर्वथा निस्वार्थ और निर्दोष है। इसी से मैंने आपको उससे बढ़कर बतलाया है। सच्चे प्रेम में गर्व, स्वार्थ, आत्मश्लाघा, क्रोध, अपवित्रता, कामना, बाहरी दिखावा, व्यावहारिकता, संकोच और निजसुख की इच्छा नहीं होती। मैं आपको पत्र बहुत ही कम लिखता हूँ, परन्तु आपकी मीठी याद सदा ही रहती है। सरोज बहिन का भावस्तर और भी ऊँचा होगा। आपके सम्बन्ध को लेकर सरोज बहिन के प्रति भी मेरा भ्रातृभाव उज्ज्वल और पवित्र रूप में बढ़ रहा है। सच्चे स्नेह में गुण-दर्शन की अपेक्षा नहीं होती। परन्तु आप में तो मुझको एक महान् गुण दीखता है। गुण तो और भी बहुत-से हैं, जिनसे मुझको बहुत कुछ सीखने को मिलता है। अभी उस दिन 'कल्याण' में आपका लेख 'यह दिव्यता क्या है?' छपा है, उससे भी मैंने बहुत कुछ सीखा है, परन्तु वह एक महान गुण है—आपका श्रीकृष्ण-प्रेम। उसने तो मुझको बहुत ही प्रभावित किया है। मैं जानता हूँ, आप सच्ची मुसलमान हैं····मुझे कभी यह इच्छा नहीं होती कि आप सच्ची मुसलमान न रहें, परन्तु मेरा कृष्ण हिन्दू का नहीं है, वह तो गोपी-हृदय का है। जहाँ भी गोपी-हृदय की छाया है, जहाँ उसका कुछ आदर्श है, वहाँ वह अपना सर्वस्त्र सौंपने को तैयार है।

मैं सच्चा भक्त नहीं हूँ। भक्तों की चरणधूलि का भी अधिकारी नहीं हूँ। चाहता हूँ, कृष्ण-भक्त के आदर्श को सामने रखकर चल सकूँ। यह सच है कि आशिक अपने प्यारे माशूक का प्यारा नाम सीने में छुपाये रखने पर भी दम (श्वास) मात्र से सारे वायुमण्डल को प्रियतममय बना देता है····परन्तु मैं तो वैसा आशिक नहीं। मैं आपको क्या दुआ दूँ। अगर मेरे दुआ करने से कुछ हो तो मुझे उसमें कोई इन्कार भी नहीं, लेकिन मैं तो खुद बूँद-बूँद के लिए तरसता हूँ; पाता हूँ, परन्तु तरसना नहीं मिटता।

पता नहीं, यह कैसा अमृत है, जितना ही पीने को मिलता है, उतनी ही प्यास बढ़ती है····बाँटने को तो रह ही नहीं जाता।

आज इस खत में मैं सनकी की तरह जो कुछ मन में आता है, लिखे चले जाता हूँ····बीच-बीच में कलम रुकती है, भाव बदलना भी चाहता हूँ, परन्तु फिर उसी तरह चला जाता हूँ।

'गोपी-हृदय' पुस्तिका छप गयी होगी, मुझे कुछ प्रतियाँ भिजवा दीजिये। अगर गीता-प्रेस में उसके छपने से आप पर हिन्दू होने का जरा भी इलजाम लगाया जाने की सम्भावना हो, तो वैसी हालत में आपके चाहने पर भी मैं उसका गीताप्रेस में छापना पसन्द नहीं करता।

आप सच्ची मुसलमान हैं। आपके प्रति मेरे ऊँचे भाव और भी ज्यादा बढ़ते हैं। मैं कभी नहीं चाहता कि 'गोपी-हृदय' को लेकर कोई भी आप पर जरा भी शक करे और उस बात को लेकर अम्माजान को जरा भी क्लेश हो।

अवश्य 'गोपी-हृदय' मेरे लिए बहुत प्यारी चीज है। काका साहब उसे साहित्यिक चीज समझते हैं। साहित्य का बड़ा सुन्दर ग्रंथ वह है ही। इससे उनका समझना ठीक ही है। एक देश-सेवक भाई ने लिखा था—'इसमें सिर्फ भावों की उड़ान है, देश के काम की चीज वह नहीं है'। उनका लिखना उनकी दृष्टि से ठीक है। मैं अपनी नजर से उसमें कुछ और ही समझता हूँ, जो साहित्य और भाव से अत्यन्त अतीत है। इसीसे वह मुझे प्रिय लगती है। जो कुछ भी हो, छपने का प्रबन्ध हो गया, यह बड़ी अच्छी बात है।

आपका खत मगज चाटने का काम नहीं करता। हृदय को जरूर हिलाता है और कभी-कभी उसे पढ़कर आनन्द से झूम जाता हूँ। मुझे डाक्टरों ने हृदय का रोगी बतलाया है, और उससे जरूर आपके पत्रों से लाभ होता है। यह हृदय का हिलना—हिलना होने पर भी हृद्रोग का शमन करने वाला होता है।

पूजनीया अम्माजान के चरणों में मेरा प्रणाम। बहिन सरोज आजकल कहाँ हैं ? आपके पास हों तब तो उन्हें मेरा हरिस्मरण कह दीजिये।

राखी के नेग का क्या भेजूँ, कुछ समझ में नहीं आता। बस, मेरा हार्दिक स्नेह ग्रहण कीजिये। आपकी यह राखी श्रीकृष्ण की याद दिलानेवाली है, इससे मुझे बहुत ही प्रिय है। राखी····आपको····सरोज बहन को और मुझको श्रीकृष्ण का प्रेम प्रदान करने में सहायक हो। व्यावहारिक दृष्टि से जो कुछ भेजूँगा, उसे भाई की भेजी सौगात समझ कर स्वीकार कीजियेगा।

आपका प्यारा भाई
हनुमानप्रसाद

●

९. जीव की देहधारण प्रक्रिया और श्राद्ध-तर्पण

॥ श्रीहरिः ॥

प्रिय महोदय,

सप्रेम हरिस्मरण ।

आप का कृपापत्र मिला । आप के प्रश्नों का संक्षेप में क्रम से उत्तर लिख रहा हूँ ।

१—जैसे जोंक अगले तृण पर पैर रखकर पिछले तृण से पैर उठाती है, उसी प्रकार जीव दूसरे शरीर का निश्चय करके पहले शरीर को छोड़ता है। अथवा जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'जैसे पुराना वस्त्र त्याग कर मनुष्य नया वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही जीव एक शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर को धारण कर लेता है।' ये दोनों ही बातें सत्य हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि 'जीव अपने कर्मफल भोगने के लिए नरक, पितृलोक या स्वर्गादि लोकों में भी जाता है।' इन दोनों ही शास्त्रीय सिद्धान्तों की संगति है। शरीरों के कई भेद हैं। हमारे इस मर्त्यलोक का पाँचभौतिक शरीर पृथ्वीप्रधान होता है, पितृ-लोक का वायुप्रधान होता है और स्वर्गादि देवलोकों का तेजप्रधान होता है। यहाँ मृत्यु होते ही जीव को एक आधार रूप शरीर मिल जाता है। उसे 'आतिवाहिक देह' कहते हैं। इसलिए उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के साथ कोई विरोध नहीं रहता। उनमें शरीर मिलने की बात है, कैसा-कौन-सा शरीर मिलेगा, यह कुछ भी नहीं कहा है।

आतिवाहिक शरीर से—कर्मानुसार यदि जीव को नरकों में जाना है तो वायु-प्रधान 'यन्त्रणाशरीर' मिलता है, जिसमें उसे भीषण यंत्रणाओं का अनुभव होता है, पर मृत्यु नहीं होती। जैसे नरकों की आग से जलने और तीक्ष्णधार के अस्त्रों से कटने आदि की पीड़ा असह्य होती है, पर मृत्यु नहीं हो पाती। पितृलोक के अन्यान्य स्तरों में जानेवाले जीवों को भी वायुप्रधान भोगदेह प्राप्त होते हैं, परन्तु उनमें वे नरक-यंत्रणा न भोगकर पितृलोक के भोग भोगते हैं। स्वर्गादि देवलोकों में जानेवाले को तेजप्रधान देह मिलते हैं। ये स्थूल पार्थिव देह नहीं होते। देव-देह में वृद्धावस्था नहीं होती। मूत्र-पुरीषादि नहीं होते। हम लोगों की भाँति मरण नहीं होता। पर इन देहों की आकृति यहाँ मृत्युलोक की आकृति के सदृश्य ही होती है। हाँ, प्रेत-लोक के देह की आकृति मलिन तथा भयानक दीखती है और देव-लोक के देह की तेजस्वी और सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु उन आकृतियों को देखकर यहाँ के उनके परिचित लोग उन्हें पहचान सकते हैं कि ये अमुक हैं। राम के लंका-विजय के पश्चात् महाराज दशरथ के लंका पधारने की बात आती है। उन्हें पहचान कर सीताजी अवगुण्ठनवती हो जाती हैं तथा भगवान् श्रीरामचन्द्र उनका यथोचित सत्कार करते हैं। इस प्रकार के अन्यान्य बहुत-से इतिहास हैं। इस युग में भी परलोकगत महात्माओं के आने और

उन्हें पहचानने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।[1] (यद्यपि ऐसी बातों में आज झूठ-फरेब बहुत अधिक मात्रा में आ गया है)। पितृलोक और देवलोक के आत्मीय जन हमारे साथ वैसा ही सम्बन्ध मानते हैं, जैसा यहाँ मानते थे और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार सुख-दुःख में सुखी-दुःखी होते हैं तथा सहायता एवं विरोध करने का भी यथाशक्ति प्रयास करते हैं। हमलोग जो उनके लिए श्राद्ध, तर्पण, दान आदि करते हैं, उन लोकों के नियमानुसार वहाँ के पदार्थों के रूप में वह उन्हें प्राप्त होता है, उनकी भूख-प्यास मिटती है और उन्हें शांति मिलती है। उनके निमित्त किये हुए सदनुष्ठानों से उनकी सद्‌गति तक हो जाती है। इसलिए उनके निमित्त श्रद्धा तथा विधिपूर्वक श्राद्ध-तर्पण, कीर्तन, दान तथा जपादि अवश्य-अवश्य करने चाहिए।

२—जो लोग पितृलोक तथा देवलोकादि से लौटकर मनुष्य या पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि स्थूल शरीरों को प्राप्त हो जाते हैं, उनको भी उनके यहाँ के पदार्थों के रूप में परिणत होकर हमारे अर्पण किये हुए पदार्थ मिलते हैं। जैसे, हमें अमेरिका डालर भेजने हों तो यहाँ तो रुपये ही जमा करायेंगे, परन्तु बैंक अपने भाव से मुद्रा-परिवर्तन करके वहाँ उन्हें दे देगा। इसी प्रकार हम यहाँ जो कुछ देंगे, वह उन्हें वहाँ उन्हीं के उपयोगी होकर मिल जायगा। वसु, रुद्र और आदित्य—देव शक्तियाँ, कौन जीव कहाँ है, इस बात का पता रखती हैं और यथायोग्य वस्तुएँ वहाँ पहुँचा देती हैं। इसलिए श्राद्ध-तर्पण करते ही रहना चाहिए, चाहे पितर पितृ, देव-लोक में हों, चाहे स्थूल योनि में आ गये हों।

३—आप की यह शंका ठीक है कि 'यदि कोई पितर मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ श्राद्ध-दान आदि किसको मिलेगा? ऐसी स्थिति में श्राद्ध-तर्पण आदि करने से क्या लाभ है?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो हमको यह पता कैसे लगेगा कि अमुक पितर की मुक्ति हो गयी है। हमने मुक्ति मानकर श्राद्ध-तर्पण करना छोड़ दिया और उसकी मुक्ति अभी नहीं हुई तो हम कर्तव्यविमुखता का पाप करनेवाले हुए और उस पितर को अतृप्त रहना पड़ा। दूसरे, यह मान लें कि मुक्ति हो गयी तो भी श्राद्ध-तर्पणादि करने में कोई हानि नहीं है, हमारे उस सत्कर्म का फल लौटकर हमीं को मिल जायेगा, जैसे किसी के नाम मनिआर्डर से भेजे हुए रुपये उस व्यक्ति के वहाँ न मिलने पर या मर जाने पर लौटकर हमें वापस मिल जाते हैं।

शास्त्र का आदेश डंके की चोट है हो, हमारा अपना भी इस विषय में कुछ अनुभव है। उसके आधार पर हम यह कहते हैं कि श्राद्ध, तर्पण, हरिकीर्तन, अनुष्ठान, नारायणबलि और गया-श्राद्ध आदि से पितरों को बहुत सुख मिलता है, उनका बड़ा

---

१. द्रष्टव्य—मनीषी की लोकयात्रा (डा० भगवतीप्रसादसिंह) का परिशिष्ट भाग 'परलोकवार्ता'।

हित होता है । अतएव माता-पिता एवं पूर्वपुरुषों के प्रति कर्त्तव्यशील प्रत्येक व्यक्ति कों श्रद्धा तथा विधिपूर्वक यथासाध्य श्राद्ध-तर्पण अवश्य करना चाहिए ।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

१०. भगवान विष्णु और शिव की अभिन्नता

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस,

गोरखपुर

सम्मान्य श्रीशर्माजी, २४-३-३६

सादर प्रणाम ।

आपका २० मार्च का कृपापत्र मिला । भगवत्कृपा से आध्यात्मिक और शास्त्रीय विषयों पर कुछ विचार करने का सौभाग्य मुझको अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मैंने तत्व को यथार्थ समझ लिया है, या मैं जो कुछ समझता हूँ, वही सबको मान लेना चाहिए । विषय इतना गहन है कि सबका समन्वय करके निश्चित रूप से कुछ भी कहना बहुत ही कठिन है । तथापि आप कृपापूर्वक मुझसे जो कुछ भी पूछेंगे, उसका उत्तर देने की चेष्टा करना मेरा कर्त्तव्य होगा । समयाभाव से कुछ विलम्ब हो जाय तो आप क्षमा करेंगे ही । साथ ही मेरी यह प्रार्थना है कि मैं जो कुछ भी लिखूँगा, उसे वैसा ही मानने के लिए मेरा कोई आग्रह नहीं मानना चाहिए । आज्ञापालन के लिए प्रश्नों का उत्तर दूँगा, किसी मत-स्थापन के लिए नहीं । आपके तीनों प्रश्नों का संक्षेप में निम्नलिखित उत्तर है—

१. भगवान् विष्णु और भगवान् शिव को तत्वतः मैं अभिन्न मानता हूँ और लीलाविग्रह के रूपों में भिन्न-भिन्न । 'तत्त्व' और 'लीला' शब्दों के भेद पर कृपया ध्यान दीजियेगा ।

२. वैष्णव भगवान् विष्णु को और शैव भगवान् शिव को 'परमात्मा' मानें तो दोनों ही ठीक हैं, क्योंकि 'परमात्मतत्व' दो नहीं है, वह एक ही है । वैष्णव की भाषा में उसका नाम विष्णु है और शैवों की भाषा में शिव । अवश्य ही यदि वे विष्णु और शिव को भिन्न-भिन्न 'परमात्मतत्व' मानें तो गलती करेंगे । परन्तु ऐसा कोई मानता ही नहीं । अज्ञान की भूमिका में आग्रहवश राग-द्वेष होना दूसरी बात है ।

३. भगवान् विष्णु और भगवान् शिव का वास्तविक रूप अनिवर्चनीय है, बुद्धि भी वहाँ नहीं पहुँच सकती । माया के कार्यरूप बुद्धि और वाणी में आनेवाला

स्वरूप तो बहुत नीची कल्पना का है। इंगित के लिए भी कोई एक शब्द नहीं है। सबका समन्वय करने के लिए गीता का—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥
(गीता १३।२२)

श्लोक कहा जा सकता है, परन्तु इसमें भी यथार्थ वर्णन नहीं है।

इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि भगवान् के लीला-विग्रह अवास्तविक हैं। लीला-विग्रह का स्वरूप-तत्व भी इस मन-वाणी बुद्धि से परे है।

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
(रामचरित मानस)

कृपा तो आपकी है ही।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

११. साधना में मन की प्रधानता है, स्थूल वस्तुओं की नहीं

॥ श्रीहरिः॥

गोरखपुर
मार्ग० शुक्ल १-१९९२

सम्मान्य श्री····

सादर प्रणाम।

आपका ता० ३-११-३५ का कृपापत्र यथासमय मिल गया था। मुझे बड़ा संकोच है कि मैं आपका तार मिलने पर भी इतने अधिक विलम्ब से उत्तर लिख रहा हूँ। इस बीच में दो बार तो मुझे बाहर जाना पड़ा, और अप्रत्याशित ऐसे नये काम आते रहे कि जिनके कारण अवकाश बहुत ही कम मिला। मैं इस प्रमाद के लिए आपसे तथा श्रीमान् महाराजा साहब से क्षमा चाहता हूँ।

राजमहल के समीप साधना-मन्दिर बनाने की बात विदित हुई। बहुत अच्छा विचार है। किवाड़, खिड़कियाँ तथा दीवार के रंग के सम्बन्ध में आपकी जिज्ञासा बहुत उचित है, परन्तु इस सम्बन्ध में मेरा ज्ञान बहुत ही मर्यादित है, इससे मैं विशेष तो कुछ नहीं बता सकूँगा। मेरी धारणा के अनुसार जो कुछ ठीक मालूम होता है, वही निवेदन कर देता हूँ। यह सत्य है कि वर्ण के साथ साधना का कुछ सहायक या बाधक सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु यह सम्बन्ध इतना अधिक बलवान नहीं है कि उसका विचार किये बिना साधना करने से सफलता ही न मिले। मूल वर्ण शुद्ध शुक्ल है अथवा उसे अवर्ण वर्ण भी कह सकते हैं। जगत् में हमें जितने वर्ण दृष्टिगोचर होते हैं,

उनमें शुद्ध शुक्ल कोई भी नहीं है, आपेक्षिक शुक्ल है—नीलाभ या रक्ताभयुक्त शुक्ल है। मूल शुद्ध शुक्ल ही वर्ण का स्वरूप है, उसीका दूसरा नीलाभ शुक्लवर्ण विष्णु भगवान् का और रक्ताभ शुक्लवर्ण शंकर भगवान का स्वरूप है। समस्त अन्यान्य वर्ण इन्हीं रक्त और नील वर्णों से बनते हैं। मूल शुद्ध शुक्ल श्वेत जैसा पीत ज्योतिर्मय दीखता है। इसी से रक्ताभ से पूर्व पीताभ वर्ण माना जाता है। बस, इन्हीं पीत, रक्त और नील से सारे वर्ण बनते हैं। इनमें देवताओं के विभिन्न वर्णों के अनुसार विभिन्न उपासनाओं में विभिन्न वर्णों का प्रयोग होता है। नीलम, मुक्ता, माणिक्य, प्रवाल आदि विभिन्न रत्नों का तथा विभिन्न वर्णों के पुष्पों का देवताओं के प्रति प्रयोग इसी वर्ण-विज्ञान पर अवलम्बित है। आपके श्रीमान् महाराजा साहब भगवान् श्रीराम के उपासक हैं, श्रीराम का वर्ण मूल नील, हरित आभा और शुद्ध प्रकाशयुक्त है। अतः श्रीराम को हरितवर्ण प्रिय है। मेरी समझ से आप किवाड़ों और खिड़कियों पर हरा रंग करवा सकते हैं। वार्निश में स्पिरिट अशुद्ध वस्तु है, अन्यथा वार्निश भी अच्छा ही है। अन्दर दीवाल पर हलका पीला रंग (भगवान् के पीताम्बर के अनुकरण पर) करवा सकते हैं। 'नील' में दोष है! आजकल नीला रंग जर्मनी में इस ढंग से बनता है, जिसमें नील का प्रयोग नहीं होता। कुछ अन्यान्य वनस्पतियों तथा पत्थरों के संयोग से उक्त रंग बनता है। नील वर्जित है, नीलारंग वर्जित नहीं। भगवान् की पट्टमहिषियाँ तो नीलाम्बर ही प्रायः पहना करती हैं। यह पीताम्बर और नीलाम्बर का जोड़ा प्रसिद्ध है। यदि वैसा निर्दोष (नीलवर्जित) नीलारंग मिल जाय तो दीवार पर उसे भी लगा सकते हैं। यह तो रंग की बात हुई। परन्तु यह कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि दीवार या किवाड़ों पर अमुक रंग ही लगाना चाहिए। साधन में मन की प्रधानता है, स्थूल वस्तुओं की उतनी नहीं है।

श्रीमहाराजा साहब से मेरा सादर यथायोग्य कहें।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

१२. अपना मत (वोट) किसको दें?

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

जुलाई १९५०

प्रिय महोदय,

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'देश में चुनाव शीघ्र होने वाला है और नियमानुसार हम सभी को उसमें अपना मत देना पड़ेगा। अतएव हमलोग किनको

मत दें*—यह बताइये।' इसके उत्तर में निवेदन है कि असल में आजकल का राजनीतिक क्षेत्र अत्यन्त दूषित हो गया है। श्री Shaw Desmond ने अपनी World Birth पुस्तक में (देखिये पृ० २४८) लिखा है—"Like horse racing, there is some thing in politics which degenerates; they turn good men into bad men and bad into worse." 'घुड़दौड़ की भाँति राजनीति में भी ऐसा कुछ है, जो मनुष्य को नीचे की ओर ढकेल देता है। अच्छे मनुष्यों को बुरे मनुष्य और बुरों को और भी पतित बना देता है।'

फिर आजकल की धर्मशून्य राजनीति तो और भी भयानक है। बुराई में नाम तो लिया जाता है धर्म का, पर सच पूछा जाय तो सारी बुराई है धर्म से अनियंत्रित उच्छृङ्खल राजनीति में ही। इसी राजनीति ने दो महायुद्ध करवाये और यही अब तीसरे के 'उद्योगपर्व' में लगी है। सहयोगी 'आर्यमित्र' ने बहुत ठीक लिखा है—'भारतवर्ष की तबाही का कारण भी यही गंदी और सड़ी राजनीति है। जिस राजनीति ने मानवता का संहार किया, बैर-वृक्ष का बीज बो कर छिन्नता-भिन्नता और आपा-धापी का स्वार्थपूर्ण जाल बिछाया, उसे भली कहना सत्य का गला घोंटना और आत्मा का हनन करना है।' हम फिर डंके की चोट पर राजनीतिक अखाड़ेबाजों से पूछना चाहते हैं कि वे बतायें और जरूर बतायें कि धर्म ने कब और क्या अनर्थ किया? यदि नहीं किया तो आज वे 'धर्म' शब्द का उच्चारण करने में भी अपने को क्यों कलंकित समझते हैं?

फिर आज की राजनीति में जनतन्त्र के नाम पर मत (वोट) प्राप्त करने के लिए जिन साधनों को काम में लाया जाता है, वे कितने घृणित और दूषित हैं! बिना हुए ही अपने मुँह से बड़े-बड़े गुणों का अपने में आरोप करना और दूसरे के सच्चे गुणों को भी छिपा कर उसमें बिना हुए ही बड़े-बड़े दोष बतलाना, अपने को ईमानदार बतलाना और यह जानते हुए भी कि प्रतिपक्षी मुझसे अधिक ईमानदार है—उसको बेईमान बताना, मतदाताओं को फुसलाना, रिश्वत देना, डराना-धमकाना, बहकाना और धोखा देना, चाहे जैसी प्रतिज्ञा कर लेना, साथ ही द्वेष, दम्भ, छल, मार-पीट आदि न जाने ऐसे कितने पाप प्रपंच हैं, जो मत पाने के लिए किये जाते हैं। देश में करोड़ों रुपयों के साथ ही इसमें जो भयानक चारित्रिक पतन होता है तथा वैर-विरोध की परंपरा चलती है, वह बड़ी ही अकल्याणकारिणी है।

* यह पत्र जुलाई सन् १९५० में लिखा गया था। सन् १९५१ में स्वतंत्र भारत में सर्वप्रथम चुनाव होने वाले थे। एक ही स्थान के लिए अनेकों उम्मीदवार खड़े हो रहे थे। देशवासियों के मन में यह प्रश्न था कि देश, धर्म की रक्षा एवं हित की दृष्टि से अपना मत (वोट) किसको दें। लोगों की उसी जिज्ञासा के समाधानरूप में यह पत्र है। यद्यपि इसकी विशेष उपयोगिता सामयिक थी, परन्तु इसमें वर्णित विचार शाश्वत मूल्य के हैं।

—सम्पादक

राजनीति के साथ यदि धर्म हो—यदि राजनीति सत्य, अहिंसा, अस्तेय, प्रेम, तपस्या, मन-इन्द्रियों का निग्रह, धैर्य, निःस्वार्थभाव, त्याग, कर्तव्यपरायणता आदि लक्षणों वाले धर्म से नियंत्रित हो, तो ये सब पाप और बेईमानियाँ न हों, चुनाव भी सच्चा हो, न इतनी दलबंदियाँ ही हों। उसमें योग्य पुरुष का ही चुनाव हो। पर ऐसा होना तो इस समय सम्भव नहीं प्रतीत होता। राजनीति का क्षेत्र बहुत दूषित हो गया है। अधिकार और पद की लिप्सा बहुत बढ़ गयी है। अतएव किसी भी दबाव, धमकी, लालच, भय आदि के वश में न होकर अपनी समझ से ऐसे लोगों को मत देना चाहिए, जो भगवान् के विश्वासी हों, सत्यवादी हों, न्याय का पक्ष लेनेवाले हों, त्यागी हों, सदाचारी हों, निःस्वार्थ हों, बुद्धिमान हों, निर्भीक हों, धैर्यवान हों, राजनीति-कुशल हों, द्वेषमूलक साम्प्रदायिक भावों के दोषों से रहित हों और सारी प्रजा का समानभाव से कल्याण चाहनेवाले हों—फिर चाहे वे कांग्रेसी हों, हिन्दू महासभाई हों, या अन्य किसी दल के हों अथवा स्वतन्त्र हों। चुनाव का लक्ष्य ही होना चाहिए—योग्यतम पुरुषों का निर्वाचन।

मतदाता को असल में इसी बात का ध्यान रखना है कि सुयोग्य पुरुष चुने जायँ। इसके लिए किसी संस्था का और उसके द्वारा खड़े किये जानेवाले किसी भी पुरुष का विरोध करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु उचित-अनुचित का विचार न करके अमुक संस्था का—कांग्रेस, हिन्दू-महासभा या अन्य किसी का विरोध ही करना है, इस प्रकार की द्वेषमूलक प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। जैसे पिछले चुनाव में लोग कहते थे कि 'हमें तो कांग्रेस के कुत्ते को भी वोट देना है, पर कांग्रेस से बाहर देवता को भी नहीं, वैसे ही अब यह न कहें कि 'हमें तो कांग्रेस के विरोध करने वाले कुत्ते को भी वोट देना है, कांग्रेसी देवता को भी नहीं।' राग-द्वेष-हीनता, विवेक, न्याय, निष्पक्ष-भाव रहना चाहिए, तभी मतदाता का निर्णय यथार्थ और विशुद्ध होगा! नहीं तो जिनसे द्वेष है, उनमें दोष-ही-दोष दिखाई देंगे और जिनमें राग है, उनमें गुण-ही-गुण। यथार्थ निर्णय होगा ही नहीं और इस दशा में अवांछनीय पुरुष चुने ही जायेंगे। पर जिनको भी मत दें, उनसे कम-से-कम ये चार प्रतिज्ञाएँ अवश्य करा लेनी चाहिए—

१. गोवध को कानून के द्वारा कतई बंद करायेंगे।
२. किसी भी धर्म में दखल देने वाला कोई कानून नहीं बनायेंगे।
३. भारतीय संस्कृति की रक्षा करेंगे।
४. अन्न, वस्त्र, न्याय, शिक्षा और चिकित्सा को सस्ती-से-सस्ती बनायेंगे।

'कल्याण' का यह क्षेत्र नहीं है। आपने पूछा, इसलिए इतनी बातें लिख दी गयी हैं।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

१३. आदर्श प्रेम और मोह का अन्तर समझिये

॥ श्रीहरिः ॥

प्रिय श्री···· ····

गीताप्रेस
२-२-३७

सप्रेम हरिस्मरण ।

आप का कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये । उत्तर न लिख सका, इसके लिए क्षमा करें । सम्राट् एडवर्ड के सिंहासनत्यागका आप के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा है और आप इस त्याग तथा प्रेम को बहुत बड़े सन्त के और भगवत्प्रेमी के त्याग से भी ऊँचा मानते हैं—सो उसमें तो आप की स्वतन्त्रता है । आप चाहे जिस बातको अपने मन में चाहे जैसा महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं । सम्राट् अष्टम एडवर्ड के त्यागभाव की तारीफ तो मैं भी करता हूँ, उनका यह त्याग बहुत ही अनोखा है । स्त्री-पुरुषों के आकर्षण को दिखाने वाले उपन्यास-लेखक भी इस प्रकार के त्याग की कल्पना कठिनता से कर सकते हैं । इस त्याग के प्रति मेरे मन में सम्मान है और मैं भगवान की प्राप्ति चाहने वाले साधकों के सामने इस उदाहरण को पेश करके उनमें भगवान के लिए इस प्रकार की त्याग-भावना जाग्रत करने का प्रयत्न भी करता हूँ । एडवर्ड ने अपने प्रेम का पन निबाहने के लिए इतने बड़े साम्राज्य, पद, गौरव, उपाधि और देशतक का आनन्द-पूर्वक तृणवत् परित्याग कर दिया और एक साधारण व्यक्ति के रूप में अपनी प्रेमिका के पीछे हो लिये, यह कम महत्त्व की बात नहीं है ।

इससे बड़ी महत्त्व की बात एक और है, वह यह कि एडवर्ड यदि चाहते तो विरोधी मन्त्रिमण्डल को तोड़कर नया मन्त्रिमण्डल बनाने की चेष्टा करते । उनके पक्ष में भी प्रभावशाली लोग थे ही । परन्तु इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड में दो दल हो जाते और सम्भवतः लड़ाई तक की नौबत आ जाती । सिंहासन का त्याग करके एडवर्ड ने अपने देश को इस भीषण परिस्थिति से बचाकर बड़े ही महत्त्व का कार्य किया । कुछ लोग इसमें उनकी कमजोरी को ही कारण बतलाते हैं और यह बात भी किसी अंश में सच भी हो, परन्तु इस पर भी तो उनके त्याग की तारीफ ही करनी पड़ती है । इतना होने पर भी आपने जब मेरा मत पूछा है तो मुझे स्पष्ट ही कह देना चाहिए, मैं इसमें प्रेम की जगह मोह को ही प्रधान कारण मानता हूँ । हिन्दू-दृष्टि से तो मिसेज सिम्पसन और एडवर्ड का सम्बन्ध ही व्यभिचार है । सिम्पसन का पहला विवाह १९१६ में अमेरिका में हुआ था और ११ वर्ष वे अपने पति के साथ मजे में रहीं । इसके बाद १९२९ में मिसेज सिम्पसन का दूसरा विवाह हुआ और वे अपने द्वितीय पति के साथ लन्दन में आकर रहने लगीं । कहते हैं कि १९३३ में प्रिन्स आव

वेल्स के रूप में एडवर्ड के साथ सिम्पसन की मुलाकात हुई और तभी से दोनों में सम्बन्ध हो गया। तबसे सिनेमा, सैर, विहार, भोज सबमें वह इनके साथ रहने लगी। इस समय उसने दूसरे पति को तलाक भी नहीं दिया था। १९३६ में २७ अक्तूबर को तलाक की अर्जी मंजूर हुई। हिन्दू-दृष्टि से तो एक विवाहिता स्त्री के साथ पर-पुरुष का ऐसा आकर्षण या सम्बन्ध स्पष्ट शब्दों में व्यभिचार है। जहाँ तक मेरा अनुमान है, इन दोनों का यह कोई पारमार्थिक या आध्यात्मिक प्रेम नहीं है, इसमें लौकिक इन्द्रियाकर्षण न हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसी हालत में इसको प्रेम की उच्चस्थिति बतलाना या आदर्श प्रेम मानना भी मोह है। एक मनचाहे व्यभिचार में प्रवृत्त स्त्री के लिए राज्य का त्याग कर देना, आदर्श प्रेम नहीं, आदर्श कर्तव्यपालन नहीं, बल्कि मोहवश कर्तव्यविमुख होना है। प्रजा के प्रति उनका बहुत कुछ कर्तव्य था, उसको भूल जाना प्रशंसा की बात नहीं। अतएव मैं उनके त्याग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हुआ भी उनके उद्देश्य को मोह या अज्ञानजनित विषय-वासना ही समझता हूँ। इसलिए इस त्याग को मैं न तो सन्तों का त्याग समझता हूँ और न भगवत्प्रेम की आग में सर्वस्व को झोंकना ही। जहाँ इन्द्रिय-तृप्ति की इच्छा है, वहाँ 'प्रेम' नहीं है, 'काम' है। अवश्य एडवर्ड चाहते तो सिम्पसन की अपेक्षा अधिक सुन्दरी स्त्री से विवाह कर सकते थे। उनका अपनी टेकपर अडिग रहकर राज्य का त्याग कर देना, इतने अंश में महत्त्व की बात है, पर यह तो मन की बात है। सौन्दर्य किसी वस्तुविशेष में सीमित नहीं होता, वह तो मनुष्य की कल्पना में रहता है। वह जिसमें राग करता है, उसी को सुन्दर देखता है। द्वेष की वस्तु अत्यन्त सुन्दर होने पर भी भयानक मालूम होती है। अस्तु।

हाँ, मेरा तो यह कहना है कि इस घटना से हमें त्याग का पाठ सीखना चाहिए और यह सीखना चाहिए कि जब एक ऐसी स्थिति का आदमी तुच्छ भोग के लिए स्त्री के मोहपाश में बँधकर इतना बड़ा लौकिक त्याग कर सकता है, तब सबसे अधिक सुन्दर, मधुर हमारे परम आत्मास्वरूप त्रिभुवनेश्वर परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए हमें कितना बड़ा त्याग करना चाहिए! इसलिए भक्तलोग परमात्मा की प्राप्ति के लिए किसी भी त्याग को त्याग नहीं समझते; क्योंकि उस त्याग के फलस्वरूप जो परमात्म वस्तु उनको मिलती है, उसका मूल्य ऐसे अनन्त त्यागों से भी नहीं चुकाया जा सकता।

कृपा रखें।

आपका
हनुमानप्रसाद

१४. रूसी साम्यवाद, अस्पृश्यता तथा मंदिर-प्रवेश, खानपान में पवित्रता, महात्मा गांधी, विधवा-विवाह, तलाक, नामजप : कुछ विचार

श्रीहरिः

गोरखपुर
माघ कृ० १०/१९९३

सम्मान्य महोदय,

सप्रेम हरिस्मरण ।

आप का कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। स्वभाव-दोष तथा कार्याधिक्य के कारण उत्तर लिखने में मुझसे प्रायः देर हो ही जाती है और इसके लिए मैं सबसे क्षमा भी नहीं माँग सकता। आप अपनी उदारता से ही क्षमा कीजियेगा। आप ने प्रश्नों का उत्तर विस्तार से चाहा है, यह आप की कृपा है। मैं लिखना शुरू करता हूँ, विस्तार और संक्षेप का पता पीछे लगता जायेगा।

१. रूस के सोशलिज्म की असली स्थिति का पता तो वहाँ जाकर सब बातों को आँखों देखकर अध्ययन करने से ही लग सकता है। पुस्तकों के विचारानुसार अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही तरह की बातें मिलती हैं। फिर, मैंने तो इस साहित्य का पूरा अध्ययन भी नहीं किया है। ऐनी हालत में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना उचित नहीं मालूम होता। फिर भी जो बातें पढ़ी-सुनी जाती हैं, आप के आग्रह से उन्हीं के आधार पर कुछ लिखने का साहस करता हूँ। जहाँ तक आर्थिक प्रश्न है, वहाँ तक रूस के वर्तमान सिद्धान्त के प्रति मेरी अनास्था होते हुए भी उसकी नीयत का मैं हृदय से अभिनंदन करता हूँ। देश में एक आदमी भी भूखा न रहे, सभी परिश्रम करें और सभी को अन्न-वस्त्र आवश्यकतानुसार मिले; अन्न, वस्त्र-दवा-सेवा आदि के अभाव में देश के किसी बच्चे की मौत न हो, यह नीयत बड़ी सुन्दर है। साथ ही देश का कोई भी बच्चा बेपढ़ा-लिखा न रहे—यह भी बड़ी अच्छी कामना है। परन्तु इस नीयत और ऐसी कामनाओं की पूर्ति के लिए जिस सिद्धान्त का अनुसरण करके, जिन तरीकों से काम लिया जाता है, वे मेरी समझ से पारमार्थिक दृष्टि को सामने रखने पर अनुचित प्रतीत होते हैं।

रूस में आज आर्थिक सुविधाएँ होने पर भी लोगों के विचारों पर कितना अधिक अनुचित दबाव है, इस बात का पता यदि रूस से कदाचित् सोशलिस्ट-गवर्नमेंट का पतन हो जाय तो उसके बाद लग सकता है। अभी तो भीतर की बातें सामने आ ही नहीं सकतीं, क्योंकि जिस दल के हाथ में शासन-सत्ता है, वह जरा भी विचार-विरोध प्रकट करने वाले का सिर उड़ाने के लिए सदा-सर्वदा खड्गहस्त है। इस स्थिति में विरोध का पता कैसे लग सकता है? लेखक भी राजसत्ता की तारीफ ही लिखने को बाध्य हैं। अवश्य ही इस बात में मैं आप से सोलहों आने सहमत हूँ कि हमारे

भारत में भी किसी व्यक्ति को अन्न-वस्त्रादि का अभाव न रहे। मैं तो चाहता हूँ—एक भारत ही क्यों, ब्रह्माण्ड में कोई भी जीव दुःख को न प्राप्त हो। सबके अभाव और कष्ट मिट जायँ, सभी आनन्द और शान्ति को पावें। हमारे ऋषियों का तो यह सिद्धान्त ही था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

'सब सुखी हों, सब निरोग हों, सभी कल्याण का प्रत्यक्ष करें, दुःख का जरा-सा अंश भी किसी को न मिले'।

अवश्य ही केवल सिद्धान्त से काम नहीं चलता। सिद्धान्त बहुत ऊँचा हो और कार्य उसके प्रतिकूल बहुत ही नीचा हो तो सिद्धान्त से किसी को क्या लाभ पहुँच सकता है? आज हिन्दुस्तान की यही हालत प्रायः हो रही है। देश में करोड़ों भाई-बहन दुःखी हैं, अभावग्रस्त हैं और थोड़े से लोग उनके लिए कुछ भी सहानुभूति न दिखलाते हुए मनमाने भोग भोगते हैं। यह पापाचार है; ऐसे भोग भगवान् श्रीकृष्ण के विचारानुसार पाप हैं तथा इन भोगों को भोगनेवाले चोर हैं, असुर हैं और वे पाप ही खाते हैं। उनका जीवन निष्फल होता है। इतना ही नहीं, वे असुरभावापन्न होकर नरकों में गिरते हैं और भाँति-भाँति के कष्ट भोगने को बाध्य होते हैं। जो अपनी कमाई में सबका हिस्सा समझता है और सबको उनका प्राप्य भाग देकर शेष बचे हुए से अपना-निर्वाह करता है, वही यज्ञ करता है और वही यज्ञशिष्ट-भोजी पुरुष अमृत खाता है तथा सुखी होता है। देश के लोगों का यह पापाचार उनके लिए हानिकर होगा। अवश्य ही मेरे विचार से मनुष्य के सुख-दुःख में प्रधानतया प्रारब्ध ही हेतु है और उसी के अनुसार उसे सुखी-दुःखी होना पड़ता है, परन्तु यह उसके समझने की बात है। जिसको भगवान् ने दूसरे के दुःख को दूर करने की किंचित् भी शक्ति दी है, उसको तो अपनी शक्ति के अनुसार तन-मन-धन से दुखियों के दुख दूर करने का प्रयत्न सदा करना ही चाहिए। उसके प्रयत्न करने पर भी यदि किसी का दुःख दूर न हो तो फिर उसका दोष नहीं है। स्वार्थ ही मनुष्य को दोषी बनाता है। उचित मार्ग से स्वार्थ त्याग होने पर फल चाहे कुछ भी हो, मनुष्य दोषी नहीं माना जाता।

रूस आज दुखियों के दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न करता है और सोशिलिज्म की नीयत जितने अंश में दुखियों के दुःख दूर करने की है, उतने अंश में वह प्रशंसा के योग्य है। परन्तु एक का दुःख दूर करने जाकर वह जहाँ दूसरे को ध्वंस करना चाहता है और उसके ध्वंसावशेष पर सुख की इमारत खड़ी करना चाहता है, यह ठीक नहीं है। दोनों का ही भला होना चाहिए। किसी अंश में ध्वंस की भी सार्थकता और आवश्यकता है, परन्तु उसका आधार धर्म होना चाहिए, न कि रागद्वेष-मूलक स्वार्थ। रूसी 'सोशलिज्म' का आधार राग-द्वेष है, यही इसकी बड़ी कमी है

और इसी से इसके स्थायीपने में बहुत सन्देह है। रागद्वेष के कारण ही सोशलिस्ट का हृदय धर्म और धर्म के संस्थापक भगवान् का बहिष्कार तथा विनाश चाहता है, जो आगे चलकर निश्चय ही स्वयं उसी के विनाश का कारण होगा। सत् परमात्मा और उसके सनातन धर्म का किसी भी काल में विनाश नहीं हो सकता। उसका बहिष्कार करने जाकर मोहवश व्यष्टि या समष्टि स्वयं ही अपने सुखों के बहिष्कार की तैयारी करता है और अपने ही हाथों अपनी जीवन-समाधि के लिए जमीन खोदता है।

मैं रूस की भाँति भारत में रूसी साम्यवाद का प्रचार नहीं चाहता, देशवासियों को सुखी अवश्य देखना चाहता हूँ और इसके लिए धर्म या ईश्वर के विश्वास को ही मुख्य साधन मानता हुँ। देश के जो विलासी मनुष्य गरीबों के दुःखों से सहानुभूति नहीं रखते, उनको मैं धर्मात्मा या ईश्वरभक्त नहीं मानता। जो गरीबों का प्राप्य स्वत्व मारकर, उनके खून से अपने परिवार का पोषण कर वाहरी स्वाँग से धर्मात्मा या ईश्वरभक्त बनते हैं, वे तो अपने आप को ही धोखा दे रहे हैं। भगवान ने तो कसौटी बतायी है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'

जो किसी प्राणि से द्वेष नहीं करता, सबका स्वाभाविक मित्र है और दयालु है, वह भक्त है; अपने को भक्त बतलाकर भोगों का दासत्व करनेवाला नहीं। ऐसे नकली धर्मात्मा और रँगे-सियार भक्तों की करतूतें रूस से आयी हुई धर्मध्वंसिनी और ईश्वर-विरोधिनी आँधी को और भी प्रबल बना रही हैं परन्तु यह दोष उन व्यक्तियों का है, जो ऐसा करते हैं। धर्म और ईश्वर तो समय से इस आँधी का और इसमें सहायता देनेवालों की कुप्रवृत्ति का नाश करनेवाले ही होंगे। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की वर्तमान हालत में मनुष्य का मन रूस की आर्थिक सुविधा की ओर स्वाभाविक ही आकर्षित होता है और सम्भवतः एक बार किसी अंश में यहाँ भी रूस की क्रियाओं का अनुसरण हो, परन्तु वह टिकेगा नहीं। मेरी समझ से रूस के साम्यवाद का आदर और प्रचार करनेवाले महानुभावों को—भारत की सभी प्रकार की स्थितियों का रूस के साथ साम्य न होने के कारण, आँखें मूँदकर उसकी सभी बातों का अनुसरण करने-कराने की चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए। परन्तु इसमें मेरी कौन सुनेगा?

२. मैं अस्पृश्यतामात्र को पाप नहीं समझता। जिस अस्पृश्यता में मनुष्य के प्रति घृणा है, उसका अपमान है, जो उसके सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह में बाधक है, उसको भगवान् से जो अलग रखती है, मैं उसको पाप समझता हूँ और इस पाप का नाश केवल अस्पृश्यता छोड़ देने से नहीं होगा। इसका नाश होगा—यथार्थ आत्मदृष्टि होने पर। हम अपनी रजस्वला माता का स्पर्श नहीं करते। शौच गये हुए पिता को नहीं छूते, अपने ही कुछ अंगों को अस्पृश्य मानते हैं। (अवश्य ही आजकल के लोग चम्मच और काँटे से भोजन करने की उपादेयता को तो बताते हैं, जो वस्तुतः है नहीं, पर

इनमें अस्पृश्यता नहीं मानते ।) परन्तु उनमें हमारी श्रद्धा-भक्ति और आत्मीयता कम नहीं है । इसी प्रकार से हम अपने उन भाइयों से भी हार्दिक प्रेम रखते हुए उनके सुख-दुख का ख्याल रखते हुए भी उनको छूने में परहेज रख सकते हैं । इसमें न घृणा है, न मनुष्यत्व का अपमान है । अन्तर्जगत् की स्थिति जाननेवाले लोग इसमें दोनों का ही कल्याण मानते हैं । जितने अंश में घृणामूलक अस्पृश्यता है, उतने अंश में मैं उसका विरोधी हूँ । अस्पृश्यता की सार्थकता मानने पर भी यह मानना तो वस्तुतः मनुष्यत्व से भी गिरानेवाला है कि उन भाई-बहनों को अच्छा खाने-पहनने, अच्छी जगह में रहने, पढ़ने-लिखने, भगवान् की भक्ति करने और चरित्र सुधारने का भी अधिकार नहीं है । माँ को अवस्थाविशेष में न छूने पर भी उसकी सेवा, सुविधा तथा आराम का ख्याल रखा जाता है । इसी प्रकार हर तरह की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्वाभाविक सेवा का ध्यान अस्पृश्य भाई-बहनों के कार्य और सम्बन्ध के अनुकूल ही हम लोगों को अवश्य ही रखना चाहिए । वे भाई-बहन हमारी जो सेवा करते हैं, उसका बदला हम नहीं चुका सकते, उनका तो हमें सदा कृतज्ञ ही रहना पड़ेगा ।

३. मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में मेरा मत है कि—मैं न तो इस बात को मानता हूँ कि मन्दिरों में जहाँ ईसाई और मुसलमान जाते हैं, वहाँ हमारे इन भाइयों के जाने से मन्दिर भ्रष्ट हो जाते हैं, और न यही मानता हूँ कि सभी मन्दिरों में सबका प्रवेश स्वच्छन्दता से खुल जाना चाहिए। हिन्दू-मन्दिरों की प्रतिष्ठा अधिकांश में वैदिक, पौराणिक या तान्त्रिक पद्धति के आधार पर हुई है। उपास्य, उपासना और उपासक के सजातीय भाव-सम्पन्न होने से ही उपासना में सिद्धि मिलती है । उपासना-पद्धति के अनुसार किसी-किसी उपासना-मन्दिर में उपासक के सिवा उसके पिता-माता का भी प्रवेशाधिकार नहीं होता । सबके अबाध जाने-आने से वहाँ का वातावरण विकृत हो जाता है, विजातीय भावों के कारण देवता का प्रकाश वहाँ आवरणयुक्त बन जाता है, जिससे उपासना सिद्ध नहीं होती । अवश्य ही आजकल ऐसे मन्दिर बहुत थोड़े हैं, जिनमें उपासना का शास्त्रीय पद्धति के अनुसार पूरा विचार रखा जाता है । तथापि यदि उपासना का सिद्धान्त ही नष्ट हो जाय तो मन्दिरों की प्रतिष्ठा का उद्देश्य नष्ट हो जायेगा । इसलिए जिस आधार पर मन्दिरों की स्थापना हुई है, उसी आधार पर सब मन्दिरों में सबका प्रवेश समानता से नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि मन्दिरों में अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार प्रायः भोग का प्रबन्ध होता है । सबके निर्बाध आने-जाने से मन्दिर के संचालकों के खान-पानादि में, जिनका सम्बन्ध आचार से है, बाधा आती है ।

तीसरी बात यह है कि इस समय जो मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन है, उसमें अधिकांश लोगों का लक्ष्य आर्थिक है, धार्मिक नहीं । मि० अम्बेडकर ने यह साफ कहा ही है । मन्दिरों में जिनकी धार्मिक दृष्टि ही नहीं है, उनके प्रवेश की क्या

आवश्यकता है? रही अधिकार की बात, सो भगवान् की भक्ति का अधिकार मनुष्यमात्र को है। परन्तु वह भक्ति अमुक मन्दिर में जाने से ही सम्पन्न होगी, अलग दूसरे मन्दिर में अथवा ऐसे मन्दिरों में, जिनमें शास्त्र-दृष्ट्या कोई रुकावट नहीं है, जाने से नहीं होगी, ऐसी कोई बात नहीं है। भगवान की दृष्टि में मन की भक्ति ही सबसे बड़ी चीज है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'बारह प्रकार के गुणोंवाले भगवच्चरणार-विन्द से विमुख ब्राह्मण की अपेक्षा श्री भगवान् में मन अर्पण करनेवाला चाण्डाल श्रेष्ठ है। वह चाण्डाल कुलसहित तर जाता है, परन्तु वह बड़े मानवाला ब्राह्मण नहीं तरता—

विप्रात् द्विषड् गुणयुतादरविन्दनाभ पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

—श्रीमद्भागवत ७।९।१०

भक्ति के लिए तो हृदय-मन्दिर की आवश्यकता है। आजकल मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन में भक्ति का स्थान गौण है, अधिकार का अधिक है और जहाँ किसी मकान में प्रवेशाधिकार की बात है, वहाँ मकान-मालिक से पूछना आवश्यक है। इतना होने पर भी जिन मन्दिरों में जहाँतक जिस पद्धति से मुसलमान और ईसाई किसी भी हेतु से जाते हैं, उन मन्दिरों में वहाँतक अस्पृश्य भाइयों को भी जाने देना चाहिए। अभी त्रावनकोर-नरेश ने अस्पृश्यों के लिए जो अपने राज्य में मन्दिर खोले हैं, उसमें भी उनकी भक्ति-निष्ठा उतनी नहीं है, जितनी अस्पृश्य भाइयों के अधिकार की चिन्ता है। अवश्य ही शास्त्र-ज्ञान से अपूर्ण, वर्तमान शिक्षा-संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित और मुसलमान-ईसाई आदि के द्वारा हिन्दुओं को धर्मान्तरित करने के प्रयत्न से हिन्दू-जाति की संख्या घट जाने की सम्भावना से डरे हुए अस्पृश्यता को हृदय से या वर्तमान युग की आवश्यकता देखकर पाप माननेवाले सहृदय महानुभावों की पवित्र नीयत के प्रति मेरा बड़ा आदर है, मैं उनको हृदय से नत होकर नमस्कार करता हूँ। गरीबों और दुखियों के दुःख से जिनका हृदय दुःखी है, वे सदा ही वन्दनीय हैं, परन्तु मेरी समझ से वे किसी अंश में भूले हुए हैं और परिस्थिति ऐसी है, जो उनकी भूल के सुधारने का अवकाश ही नहीं देती। ऐसे महानुभावों की पर-दुःख कातरता और सहृदयता के प्रति सम्मान रखता हुआ भी मैं इतना तो मानता ही हूँ कि ये अपनी शास्त्रानभिज्ञता से या भूल से शास्त्रमर्यादा और विधि का उल्लंघन करके और कराके अपना तथा उनका दोनों का ही परिणाम में अनिष्ट कर रहे हैं। शास्त्र-विधि के उल्लंघन का परिणाम यहाँ और आगे कभी अच्छा नहीं होता—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता—१६।२३)

मेरी समझ से अस्पृश्य भाइयों के लिए अलग मन्दिर होने चाहिए। उनके अन्दर भक्ति का प्रचार करना चाहिए, न कि उच्च जातियों के विद्वेष का, जिसके परिणाम-स्वरूप शायद घर में ही भयानक लड़ाई हो सकती है। जहाँ तक हो प्रेम बढ़ाना ही उत्तम है। उच्च जातिवाले उनको अपना ही अत्यन्त प्यारा और आवश्यक अंग मानकर अपने अंग की भाँति ही उनका यथायोग्य सम्मान करें, उनके दुःख मिटाने की सच्चे हृदय से तन-मन-धन से चेष्टा करें। उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझें और वे अपनी मर्यादा में रहकर ही अभीष्ट प्राप्त करें। तभी दोनों का कल्याण है।

४. खान-पान के सम्बन्ध में मेरा स्पष्ट मत यह है कि मैं यद्यपि स्वयं बहुत अंशों में खान-पान की पवित्रता पर कुअभ्यासवश पूरा ध्यान नहीं रखता, तथापि खान-पान की पवित्रता पर पूरा ध्यान रखना शरीर, मन, बुद्धि सबकी पवित्रता और उन्नति के लिए आवश्यक है। आजकल जैसे हर किसी चीज को, हर किसी के हाथ से, हर हालत में खा लेने में कोई परहेज रखने की आवश्यकता नहीं समझी जा रही है, यह बिल्कुल हानिकारक बात है। खाने की चीज पवित्र और न्याययुक्त कमाई की हो। धोखे से, अन्याय से, असत्य से किसी के न्याय्यसत्व का अपहरण करके जो पैसे आते हैं, वैसे पैसों से खरीदी हुई चीज न हो। शुद्ध स्थान में माँजे-धोये हुए बर्तनों में शुद्ध स्नात व्यक्ति के द्वारा शुद्धतापूर्वक पकायी हुई हो। अपवित्र वस्त्रों को बदलकर शुद्ध अवस्था में भोजन किया जाय। खाने का असर शरीर पर तो होता ही है, मन और बुद्धि भी भोजन के अनुसार बनती हैं और मन-बुद्धि की अशुद्धि ही आत्मा के बन्धन का एक प्रधान कारण है। मैं हरेक के साथ खान-पान को अनावश्यक, अवैध और हानिकारक मानता हूँ। साथ खा लेने से प्रेम बढ़ने की बात सर्वथा भ्रममूलक है। यूरोप में तो किसी के भी साथ खाने में कोई परहेज नहीं है, फिर वहाँ महायुद्ध क्यों हो गया? और अब दूसरे उससे भी भयानक महायुद्ध का राक्षसी और आसुरी उद्योगपर्व क्यों चल रहा है? कौरवपाण्डव तो भाई-भाई थे, उनमें क्यों लड़ाई हुई? राज्य के लिए पिता पुत्र को और पुत्र पिता को क्यों मार डालते हैं? साथ खाना ही यदि प्रेम का कारण होता हो तो ऐसी बातें नहीं होनी चाहिए थीं। प्रेम का मूल तो निःस्वार्थ भाव है, त्याग है। जहाँ स्वार्थहीनता और त्याग होता है, वहीं प्रेम हो सकता है, खान-पान साथ होने से नहीं।

५. महात्मा गांधीजी के प्रति मेरा हार्दिक सम्मान है। जब वे दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे, तभी से मैं उन्हें जानता हूँ। उस समय कलकत्ते में 'हिन्दू-सभा' के मंत्री की हैसियत से मैंने उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया था। उनके प्रति मेरा सम्मान भाव बहुत वर्षों तक क्रमशः बढ़ता ही गया। हाँ, कुछ वर्षों से उनके मतों के साथ अनैक्य है। इतना होते हुए भी मैं उनके प्रति पिता की भावना रखता हूँ और

वे भी मुझको अपना एक बच्चा समझते हैं। उनका स्नेहपात्र होने से मैं अपने को बहुत भाग्यवान समझता हूँ। मैं उनको 'बापू' सम्बोधन करता हूँ। उनको मैं जरूर एक उच्चकोटि का सन्त मानता हूँ, परन्तु भारतीय आदर्श का नहीं। उनपर जितना प्रभाव टालस्टाय, रस्किन आदि पाश्चात्य सन्तों का पड़ा है, उतना भारत के ऋषियों का नहीं। इसी से वे भारतीय त्रिकालज्ञ मंत्रद्रष्टा ऋषियों के सिद्धान्तों को पाश्चात्य सन्तों के विचारों की कसौटी पर कसने जाकर भयानक उलझन में पड़ जाते हैं और विपरीत धारणा कर बैठते हैं। मुझे यह स्पष्ट कहना चाहिए कि उनके तपःपूत सत्य और अहिंसा से भरे विचार, महान् व्यक्तित्व, उनकी सर्वभूतहित से भरी उच्च भावना, उनके संयमपूर्ण जीवन, उनकी शुद्ध नीयत और उनके विशाल हृदय के प्रति सभक्ति नमस्कार करता हुआ भी मैं उनकी बहुत-सी बातों को न मानने के लिए बाध्य हूँ। यही कारण है कि मैं महात्माजी का अनुयायी नहीं हूँ।

६. विधवा-विवाह को मैं पाप समझता हूँ और इसे करने-करानेवालों को परिणाम में दुःख होगा—ऐसा मानता हूँ। अवश्य ही पुरुषों की नीचता, स्वार्थपरता, कामुकता, और सधवा स्त्रियों के सहानुभूतिरहित क्रूर व्यवहार तथा अन्यान्य कारणों से विधवाओं का दुःख इस समय बहुत बढ़ गया है, उनपर सभी ओर से आफतें छायी हैं। यह भी ठीक है कि विजातीय वेश्या बनने की अपेक्षा किसी एक घर में रह जाना अच्छा है। कोई ऐसी विधवा बहन मुझे मिल जाती है, जो विवाह किये बिना परिस्थिति के परवश होकर अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकती, उसे मैं उन संस्थाओं और व्यक्तियों के पास भेज देता हूँ, जो निस्वार्थभाव से विधवाओं के विवाह की व्यवस्था कर देते हैं। परन्तु मैं इसका प्रचार नहीं चाहता, प्रचार तो ब्रह्मचर्य तथा पवित्र-सती जीवन की महत्ता का ही चाहता हूँ।

विधवाओं की दुरवस्था में पुरुष-जाति का अन्याय बहुत बड़ा कारण है। पुरुषों के पाप इस समय बहुत बढ़े-चढ़े हैं। पुरुषों को चेतना चाहिए। इसमें तो मैं आप से पूर्ण सहमत हूँ कि विधवाओं के प्रति जरा भी दुर्व्यवहार होना उचित नहीं है। बल्कि मैं तो विधवा माता या बहिन को चतुर्थाश्रमी संन्यासी की भाँति पूज्य मानता हूँ और उसके एक-एक दुःख के आँसू को, यदि वह हमारे किसी बुरे बर्ताव से निकला हो तो, अपने सर्वनाश का कारण मानता हूँ। जिस घर में विधवा है, उस घर में विलासिता और विषय-सेवन का त्याग हो जाना चाहिए; और विधवा के प्रति सम्मानपूर्ण बर्ताव होना चाहिए। यह यदि प्रेक्टिकल नहीं है और बहुत अंशों में आजकल नहीं-ही हो रहा है तो हिन्दू जाति का दुर्भाग्य और पतन का चिह्न है। परन्तु विधवा-विवाह भी उनके दुःख-नाश का साधन नहीं है। हाँ, इतना जरूर है कि यदि हमलोगों का विधवाओं के प्रति बुरा बर्ताव रहा तो विधवा-विवाह पाप होने पर भी रुकेगा नहीं। इसका प्रचार बढ़ेगा, जो हमारी जाति के महान गौरव को नष्ट करने में एक बड़ा कारण

होगा। विधवा-विवाह के प्रचार की अपेक्षा विधवाओं में सच्चरित्रता, पातिव्रत और ब्रह्मचर्य के गौरव का प्रचार करना चाहिए। इतनी विधवाएँ क्यों बढ़ रही हैं, इसका कारण शास्त्र-दृष्टि से खोजना चाहिए। मेरी समझ से धर्म का अपालन ही भावी दुःख का कारण है। अतएव धर्म-पालन पर ही जोर देना चाहिए, जिससे परिणाम में ऐसी अवस्था आये ही नहीं। अवश्य ही वर्तमान काल में यह बहुत कठिन है।

७. तलाक और सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों में भी मेरा विश्वास नहीं है। मैं नहीं मानता कि इससे दुःख दूर हो जायेंगे; बल्कि मेरा तो ऐसा अनुमान है कि इससे व्यभिचार-वृद्धि की सुविधा होगी तथा दुःख और भी बढ़ जायेंगे। वर्तमान परिस्थिति में जनसंख्या का अधिक बढ़ना दुःख का कारण है, परन्तु यह सब हमारे हाथ की बात नहीं है; जीव के प्राक्तन-कर्म ही इसमें हेतु हैं। फिर, यदि जन-संख्या-वृद्धि को रोकने का उपाय किया ही जाय तो उसका प्रधान साधन संयम और ऐसे नियमों का पालन है, जो संयम में सहायक हो। तलाक तो हिन्दूदृष्टि से सर्वथा अनुचित है और युक्तियों से भी प्रत्यक्ष हानिकारक है। तलाक की प्रथा न होती और पातिव्रत के प्रति श्रद्धा होती तो अष्टम एडवर्ड के राजत्याग की कल्पना ही न होती।

८. रामनाम के जप और कीर्तन से पाप-ताप का नाश होता है, ऐसा मेरा विश्वास ही नहीं, अनुभव है। उसी के बलपर 'कल्याण' में मैं भगवन्नाम-जपपर अधिक जोर देता हूँ। मानना न मानना मेरे हाथ की बात नहीं है।

आपके आठों प्रश्नों के उत्तर लिख दिये हैं। आपने जिस नम्रता के साथ प्रश्न किये, उससे मैंने नम्रता का पाठ सीखा है। मेरे उत्तर में नम्रता की अपेक्षा स्पष्टवादिता अधिक हो गयी है। मेरी ढिठाई आप क्षमा करेंगे। मैंने जो कुछ लिखा है, इससे आप को या अन्य किसी को सन्तोष होगा या आप इसको मान लेंगे—इस आशा या सम्भावना से नहीं लिखा है; सिर्फ आप के आज्ञानुसार अपना मत निवेदन कर दिया है। मत बदलनेवाली चीज है, आप का भी बदल सकता है और मेरा भी। इसलिए मैं कोई भी आग्रह नहीं करता। यद्यपि इस समय अपनी समझ से अपने मन में भ्रान्ति नजर नहीं आती, परन्तु भ्रान्ति न होने का मैं दावा नहीं करता। भ्रान्ति नजर आ गयी तो भ्रान्ति रही ही कहाँ? रही किसी के मानने की बात, सो जब मैं दूसरों के मत को उनसे द्वेष न रहने और उनमें से कुछ लोगों के प्रति सम्मान-बुद्धिऔर प्रेम होने पर भी नहीं मानता, तो मेरे मत को वे मान लें, ऐसी आशा मैं क्यों करूँ? परन्तु उससे प्रेम का अभाव होने की भी आशंका क्यों होनी चाहिए?

कृपा तो आप की है ही। कृपया बिना मुझसे पूछे आप इस पत्र को कहीं प्रकाशित न करायें।

आपका—
हनुमानप्रसाद पोद्दार

१५. अर्थ-अनर्थ-मीमांसा

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री..............

आप का कृपापत्र मिला। आप ने 'अर्थ' और 'अनर्थ' का भाव एवं अनर्थ की निवृत्ति का उपाय पूछा सो आप की कृपा है। 'अर्थ' शब्द का अर्थ है 'प्रयोजन'। मनुष्य का प्रयोजन—उसकी चाह एक ही है; वह है असीम, अपार, अनन्त, नित्य और पूर्ण आनन्द। इस आनंद के बिना उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। इसीलिए वह हर अवस्था में अभाव का अनुभव करता है। ऐसा पूर्ण आनन्द है एकमात्र भगवान् में। भगवान् ही विशुद्ध आनन्दमय हैं। अतएव भगवत्प्राप्ति ही वस्तुतः 'अर्थ' है; यही परमार्थ है। एक सन्त ने कहा है कि गीता का 'अर्थार्थी भक्त' वस्तुतः इसी 'अर्थ' की कामना करता है। इसके विपरीत जो कुछ भी है, सो सभी 'अनर्थ' है—चाहे वह संसार की दृष्टि में अच्छा हो या बुरा। भगवान् को भूलकर जो कुछ भी पुण्य-पाप, सुख-दुःख, लाभ-हानि, हर्ष-शोक, प्राप्ति-विनाश और जीवन-मरण है—सभी अनर्थ रूप है। भगवान की प्राप्ति होती है, भगवत्तत्त्व का यथार्थ रहस्य जानकर उनकी भक्ति करने से—'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' (गीता ८/२२) 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'भक्त्या मामभिजानाति'। (गीता १८/५५) आदि भगवत्वाक्य प्रसिद्ध हैं। भक्ति (श्रीमद्भागवत–११।१४।२१) जब पूर्णत्व को प्राप्त हो जाती है, तब इसी का नाम पराभक्ति या भगवत्प्रेम हो जाता है। इस प्रेम में भगवान् के साथ कभी विछोह नहीं होता, यह प्रेम ही पूर्ण परम अर्थ है। इससे विपरीत ले जाने वाले या इस ओर जाने में बाधा पहुँचानेवाले जितने भी काम या पदार्थ हैं, वे सभी अनर्थ हैं। 'माधुर्य-कादम्बरी' में चार प्रकार के अनर्थ बतलाये गये हैं—

१. दुष्कृतोत्थ—पापों के परिणाम स्वरूप पापमूलक विषयासक्ति बढ़ जाती है। उससे मनुष्य सांसारिक भोगों की प्राप्ति तथा उनके भोग में इतना उन्मत्त हो जाता है कि वह नित्य नये-नये पाप करने में गौरव का अनुभव करता है।

२. सुकृतोत्थ—पुण्यों के फलस्वरूप मनुष्य को धन, जन, सम्मान आराम आदि अनित्य भोगों की प्राप्ति होती है। तब उनमें उसकी ममता और आसक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह उन्हीं में रमा रहता है तथा केवल उन्हीं के भरण-पोषण की चिन्ता करता है। भगवान् की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता।

३. अपराधोत्थ—भगवान् के नाम और स्वरूप आदि का अपराध होने पर साधन में विघ्न और प्रत्यवाय (विपरीत-फल) उत्पन्न हो जाते हैं।

४. भक्त्युत्थ—भक्ति में लगने पर मनुष्य की कुछ प्रतिष्ठा बढ़ती है, लोगों में उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। इधर उसकी भोगवासना अभी मिटी नहीं,

ऐसी हालत में वह धन, मान, पूजा, प्रतिष्ठा आदि को स्वीकार करके उन्हीं में रत हो जाता है।

इन चारों ही प्रकार के 'अनर्थों' की निवृत्ति सत्संग, सत्कर्म, नाम-जप, विनय तथा श्रद्धापूर्ण भगवत्सेवन से होती है। अनर्थनिवृत्ति पाँच प्रकार की मानी गयी है—'एकदेशवर्तिनी, बहुदेशवर्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा और आत्यन्तिकी'। स्वल्प सत्संग आदि के प्रभाव से कुछ अंश में जो अनर्थ छूटते हैं, यह एकदेशवर्तिनी निवृत्ति है। अधिक अंश में छूटने पर उसे बहुदेशवर्तिनी कहते हैं। बहुत ही थोड़े से अनर्थ शेष रह जायँ, उसे प्रायिकी कहते हैं और अनर्थों की पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर उसे 'पूर्णा' कहते हैं। पूर्णा निवृत्ति हो जाने पर भी जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक अनर्थ का बीज नष्ट नहीं होता, इसलिए अभिमानजनित भक्तापराध आदि दुष्कर्मों से पुनः 'अनर्थ' की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति होने पर अनर्थ-बीज का नाश हो जाता है। आत्यन्तिकी निवृत्ति है—प्रेमस्वरूप भगवान की प्राप्ति। यह पंचम तथा परम पुरुषार्थ है और यही यथार्थ परमार्थ है।

●

१६. सुधार होता निजके सुधारे

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री····

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका बहुत लम्बा-चौड़ा पत्र मिला। आपके चित्त में बहुत उत्साह है और आप पढ़ना छोड़कर तथा घर के काम-काज का भी त्यागकर समाज और देश की सेवा करना चाहते हैं एवं गाँव-गाँव घूमकर जनता को सदुपदेश देना चाहते हैं, सो यह तो बहुत श्रेष्ठ भाव है। जो मनुष्य अपने को सेवाव्रती बनाना और निःस्वार्थ भाव से समाज एवं देश की सेवा करना चाहता है, वह धन्य है। ऐसा होते हुए भी मेरी राय में अभी आपको पढ़ना चाहिए तथा घर का काम-काज भी नहीं छोड़ना चाहिए। आप अभी अल्पवयस्क हैं और आपकी बुद्धि भी स्थिर नहीं है। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि मन में बहुत बार पापभावना भी आती है। 'असत्य, कपट तथा काम-क्रोध' भी हैं ही। द्वेष-दम्भ के कार्य भी आपसे होते हैं तथा भगवान् की ओर वैसा आपका आकर्षण भी नहीं है। भजन आपसे बहुत कम ही बनता है। ये सभी बातें आपने लिखी हैं। ऐसी अवस्था में अभी आपको यह चाहिए कि आप स्वयं पहले देश तथा समाज की सेवा करने के योग्य बनें। इसके लिए पहले अपनी समुचित सेवा करें। पढ़-लिखकर तथा अपने शास्त्रों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर ऐसी योग्यता प्राप्त कर लें

कि जिससे आप शास्त्रानुसार लोगों को अच्छी बात सुन्दर भाषा में और आकर्षक रीति से भलीभाँति समझा सकें तथा उनपर अपने भाषण का प्रभाव डाल सकें। इसके साथ ही यह भी परम आवश्यक है कि आप अपने मन की पाप-भावनाओं को समूल नष्ट कर दें; असत्य, कपट तथा काम-क्रोध से सर्वथा छूट जायँ; द्वेष, दम्भ भी आप में सर्वथा न रहे, भगवान् के प्रति आप का सच्चा आकर्षण हो और भगवान के मंगलमय भजन में आपकी असीम अभिरुचि हो। जब ये बातें आप में आ जायेंगी, सचमुच तभी आप सच्चे सेवाव्रती बन सकेंगे, तभी आपके द्वारा देश तथा समाज की यथार्थ सेवा होगी एवं तभी आपको किसी के प्रति उपदेशादि देने का अधिकार प्राप्त होगा। आपने जो 'समाचार-पत्र' निकालने की इच्छा प्रकट की है, सो समाचार-पत्र निकाल कर उसके द्वारा लोगों को उपदेश देने का अधिकार भी वस्तुतः तभी प्राप्त होगा।

दूसरे का सुधार होना—उसकी बुराइयों का दूर होना आवश्यक है और उसमें हमारे द्वारा जितनी सेवा हो, उतना ही उत्तम है, परन्तु दूसरों की बुराई वही निकाल सकता है, दूसरों का सुधार वही कर सकता है, जो स्वयं बुराइयों से रहित होकर सर्वथा सुधर गया हो। जनता को उपदेश देकर उनकी सेवा करना बहुत बड़े दायित्व का कार्य है। दूसरे के घर का कूड़ा साफ करना पुण्य है, पर वह कूड़ा हम तभी साफ कर सकेंगे, जब हमारा झाड़ू साफ होगा, झाड़ने की कला हम जानते होंगे और कौन कूड़ा है तथा कौन किसके लिए काम की चीज है, इसको भलीभाँति जान सकेंगे। तीनों में से एक बात भी नहीं होगी तो किसी का सुधार करने जाकर हम उसका बिगाड़ कर देंगे। हमारे झाड़ू में यदि गन्दा मैला लगा होगा तो हम दूसरों के घर की धूल झाड़ने के बदले वहाँ गन्दा मैला फैला देंगे। झाड़ना नहीं जानते होंगे तो इकट्ठे कूड़े को उलटे इधर-उधर बिखेर आयेंगे और कौन कूड़ा है—इस बात को नहीं जानेंगे तो किसी की बड़े ही काम की आवश्यक वस्तु को कूड़ा समझ कर फेंक देंगे और उसकी बड़ी हानि कर देंगे—उसके जीवन की जड़ ही काट डालेंगे।

मनुष्य की वाणी से तथा क्रिया से वही वस्तु प्रकट होती है, जो उसके हृदय में होती है। मनुष्य चाहे कितना भी कपट-दम्भ करे, हृदय का असली भाव किसी न किसी रूपमें प्रकट हो ही जाता है। अतएव जबतक हमारे हृदय में काम-क्रोध, असत्य, कपट, द्वेष, दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, लोभ-मोह, कामना, वासना, अभिमान, अहंकार, ममता-माया आदि दोष वर्तमान हैं, जबतक हमारे द्वारा पाप बनते हैं और उनमें हमें रस आता है, तबतक हम दूसरों को क्या देंगे? ऐसे हृदय को लेकर किसी का सुधार करने जायेंगे तो सिवा अपने हृदय की इस गन्दगी को वहाँ भी फैला देने के और उसका क्या उपकार करेंगे? यदि जनता में वैसी बुरी बातें पहले न भी रही होंगी तो हमारी वाणी और लेखनी से निकली हुई बुरी बातें उसमें आ जायँगी, वहाँ के वातावरण में हम एक नया क्षोभ उत्पन्न कर देंगे।

जागृति, क्रान्ति, सुधार, अधिकार, उन्नति, शिक्षा, बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, लोकतंत्र आदि मनोहर नामों पर हम लोगों में द्रोह, द्वेष, कर्तव्य-शून्यता, प्रमाद, अश्रद्धा, नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता, असंयम, असत्य, स्तेय, अहंकार, हिंसा आदि अनेकों दोषों को बढ़ाकर परस्पर की दलबन्दियों में और एक दूसरे को गिराने के प्रयत्न में लगा कर उनके लोक-परलोक दोनों को नष्ट कर देंगे, जैसा कि आजकल न्यूनाधिक रूप में संसार में प्रायः सर्वत्र हो रहा है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि देश के पथप्रदर्शकों और नेताओं के पवित्र और दायित्वपूर्ण स्थानों पर ऐसे लोगों का अधिकार हो गया है, जो स्वयं असंस्कृत, असंयमी और दायित्वज्ञानशून्य हैं। आज की हिंसा प्रतिहिंसामयी ध्वंसकारिणी प्रवृत्ति इसी का परिणाम है। इस प्रकार सुधार के बदले बिगाड़ तो होता ही है—सफाई के बदले गन्दा मैला तो फैलता ही है, साथ ही यदि कहीं सचमुच झाड़ने का काम किया जाता भी है तो वहाँ झाड़ना न जानने से जैसे कूड़ा इधर-उधर बिखर जाता है, वैसे ही एक या कुछ थोड़े-से लोगों में रही हुई परिमित बुराई समाजभर में फैल जाती है। चौबेजी को छब्बेजी न बनकर दूबेजी बनने को बाध्य होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपदेशकों और सुधारकों के द्वारा अविवेकवश सुधार के नाम पर समाज में विस्तृत अमृतवल्ली पर ही भयानक विषसिंचन या उसके जीवन के मूल पर ही कुठाराघात किया जाता है।

भगवद्भजन, देवपूजाराधन, शास्त्रीय आचरण, वर्णाश्रम-धर्म, शौचाचार, सदाचार, संयम, मातृ-पितृ-भक्ति, पातिव्रतधर्म, ब्राह्मण-महत्ता, सात्विक-यज्ञ-दानादि, सन्ध्या-वन्दन, शास्त्रीय भेद, नियमानुवर्तिता एवं वंशपरम्परागत पवित्र सुप्रथाओं आदि का विरोध और ऐसे पवित्र कार्यों के प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न कराने की चेष्टा इसी प्रकार के जीवन-मूल का उच्छेद करनेवाले कुकर्म हैं, जो विपरीत शिक्षा और उच्छृङ्खल उपदेशादि के फलस्वरूप बड़े गर्व एवं उल्लास के साथ किये जाते हैं। इस प्रकार जनता को, खास करके अपक्व बुद्धि, सरलहृदय, बालकों, नवयुवकों और नवयुवतियों को उभाड़ कर सदाचार के विरुद्ध खड़े कर देना सुधार के नाम पर कितना बड़ा बिगाड़ है, संस्कार के नाम पर कितना भयानक संहार है, इस पर आप विचार करें!

अतएव प्रत्येक मनुष्य को आत्मसुधार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन लोगों को विशेष रूप से करना चाहिए, जो समाज और देश की सेवा करना चाहते हैं। वाणी से या लेखनी से यह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करने से होता है। यहाँ तक कि फिर उपदेश की भी आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषों के आचरण ही सबके लिए आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। इसीलिए महापुरुषों को यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जाय, जो नासमझी के कारण जगत् के लिए हानिकर हो। इसीलिए वे उन्हीं निर्दोष कर्मों

को करते हैं, जो उनके लिए आवश्यक न होने पर भी जगत के लिए आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकार से हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें। स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से गीता में इसी दृष्टि से कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

—गीता ३।२१-२४

"श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह अपने आचरण से जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसे आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जन-समुदाय उसी का अनुकरण करने लगता है। हे अर्जुन ! मेरे लिए तीनों लोकों में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं है और न कोई वस्तु ऐसी ही है, जिसे मुझको प्राप्त करना हो, एवं जो मुझे प्राप्त न हो। ऐसा आप्तकाम एवं पूर्णकाम होने पर भी मैं कर्माचरण करता हूँ। यदि कदाचित् मैं सजग रहकर (जगत को लाभ पहुँचानेवाले) कर्मों का आचरण न करूँ तो बहुत बड़ी हानि हो जाय, क्योंकि भैया अर्जुन ! लोग तो मुझे श्रेष्ठ मानकर मेरे पीछे-पीछे ही चलते हैं। मेरे कर्म न करने का फल यह हो कि सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरता का उत्पन्न करनेवाला और सारी प्रजा का उच्छेद करनेवाला बनूँ।'

इससे पता लगता है कि अपने को श्रेष्ठ माननेवाले अगुआ पुरुष पर कितना बड़ा दायित्व है और उसे अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए एवं किस प्रकार से स्वयं आचरण करके लोगों के सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

फिर, एक बात यह भी है कि व्यक्तियों के समूह को लेकर ही समाज बनता है। यदि एक व्यक्ति यथार्थ रूप में सुधर गया तो समाज का एक अंग सुधर गया। यों सभी व्यक्ति अपना-अपना सुधार करने लगें तो सारा समाज अपने आप सुधर जाय। इसके विपरीत यदि सभी लोग दूसरों का सुधार करने में लग जायँ और अपने सुधार की ओर ध्यान ही न दें तो किसी का भी सुधार न होगा।

इसलिए मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप दूसरों के लिए उपदेशक बनने की लालसा को दबाकर पहले अपने में योग्यता बढ़ावें, एवं अपने जीवन को परम विशुद्ध और भगवान् की सेवा के परायण बना दें। फिर आपके द्वारा जो कुछ होगा, सब विश्व की सेवा ही होगी। विश्व की सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन विश्वात्मा भगवान् के अनुकूल होता है और जो अपने को विश्वम्भर की सेवा में समर्पित कर देता है।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

१७. भारतीय संस्कृति विनाश के पथ पर

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री····

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। आज का युवक जिस पथ पर चल रहा है, मेरी तुच्छ सम्मति में वह विनाश का पथ है; कम-से-कम हमारी भारतीय संस्कृति के तो सर्वथा प्रतिकूल ही है। पता नहीं, इसका परिणाम क्या होगा। भगवान् मंगलमय हैं। इसलिए यह विश्वास तो होता है कि यह विपरीत गति भी हमारे कल्याण के लिए ही है। परन्तु कल्याण किस प्रकार होगा, यह बात समझ में नहीं आती। भगवान् की लीला अति विचित्र है, पता नहीं वे किस पर्दे से क्या दृश्य दिखलाना चाहते हैं!

आज का युवक जिस पथ पर चलना चाहता है, उसका उद्गम-स्थान पश्चिम की विचारधारा है। भारतीय संस्कृति के साथ इसका कोई श्रद्धा का सम्बन्ध तो है ही नहीं, उसके साथ इसका मेल भी नहीं खाता; अध्यात्म और धर्म उसके सामने व्यर्थ की वस्तुएँ हैं। सारे विचारों का मानदण्ड है—केवल अर्थ, केवल भोग। भारत का आदर्श है—भगवान् और भगवान् के लिए त्याग। भला उससे इसका मेल कैसे खायेगा? आज भारत की उन्नति का झंडा जिस पथ की ओर बढ़ रहा है, खेद के साथ कहना पड़ता है कि वह भारतीय संस्कृति के ध्वंस का मार्ग है। यह मार्ग तो जड़वाद का है; पार्थिव-भोग ही इस पथ के पथिकों का लक्ष्य है।

'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।' यह कामभोगपरायणता, पता नहीं, हमें कहाँ ले जायगी। आज इसी से भोग-त्याग की खिल्ली उड़ायी जाती है और भोग-विमुखता को मूर्खता कहा जाता है, मानो भोग के बिना उन्नति हो ही नहीं सकती। इसीसे आज भोग-प्राप्ति के लिए हम भारतीय युवकों को बड़े वेग से बिना सोचे-समझे

अपनी संस्कृति के विनाश के मार्ग पर जाते देख रहे हैं। बस, भोग मिले, आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो, विदेशी-शासन का इसीलिए नाश हो कि वह हमारी भोग-कामना में—आर्थिक स्वतन्त्रता में, बाधक है। भोग-कामना में बाधा देनेवाले ईश्वर का, धर्म का, गुरुजनों का, अपनी संस्कृति का—किसी का भी तिरस्कार करने में उसे हिचक नहीं है। किसी के स्वार्थ का नाश करना हो, किसी को पीड़ा पहुँचानी हो, कोई परवा नहीं; हमारी भोग-लालसा का कंटक दूर होना चाहिए !

वर्णाश्रम-धर्म, पातिव्रतधर्म, खान-पान का संयम, स्वामी-सेवक या गुरु-शिष्य के भाव भी इसीलिए नष्ट हो जाने चाहिए कि इससे उच्छृंखलतामयी भोग-वासना में किसी-न-किसी तरह न्यूनाधिक रूप में बाधा पहुँचती है। इसी से आज मनमाने विवाह, हर किसी का जूठन खाने, स्त्रियों को पुरुषों के विरुद्ध उभाड़ने, हरिजनों को उच्च वर्णों के साथ लड़ाने, किसान-जमीदारों में झगड़ा खड़ा करने, मालिकों के साथ मजदूरों का विरोध कराने आदि में जनहित समझा जाता है, और दम्भ से नहीं, स्वार्थ से नहीं, बहुत से महानुभाव तो सचमुच इसी में जनकल्याण समझकर ऐसा करते-कराते हैं। इसका प्रधान कारण हमारी संस्कृति के महत्त्वज्ञान का अभाव ही है। शिक्षा-पद्धति और पाश्चात्यदेशीय साहित्य का प्रचार इसमें विशेष सहायक हो रहा है। इसी से आज जगह-जगह कलह और हिंसा-द्वेष का बोलबाला हो रहा है। युवती, बालिकाएँ, माता-पिता को रुलाकर आये दिन अपने गुरुओं के साथ भाग रही हैं। पुत्र पिता की आज्ञा न मानकर उन्हें अपने मत के अनुकूल बनाना चाहते हैं। जो सौम्य प्रकृति के हैं, वे मां-बाप को रुलाकर भाग निकलते हैं, आत्म-हत्या कर बैठते हैं, और जो कठोर प्रकृति के हैं, वे तीव्र आग्रह करके बल-पूर्वक माता-पिता को बाध्य करते हैं। मा-बाप चुपचाप आँसू पोंछ लेते हैं और हृदय से रोते हुए स्नेहवश सन्तान-सुख की कामना से उन्हें मनमाना करने देते हैं।

स्त्रियों में तलाक की बात उठने लगी है। हिन्दू-स्त्री तो आज इस गिरी अवस्था में भी घर की रानी है। आज भी सब नहीं तो, भारत की अधिकांश स्त्रियाँ घर में अपने स्वामित्व का गौरव अनुभव करती हैं। परन्तु पाश्चात्य उच्छृंखलतामयी सभ्यता का असर यहाँ—हमारी युवती बहिनों पर भी होने लगा है। वे यह नहीं सोचतीं कि स्त्री-पुरुष का आध्यात्मिक बन्धन यदि नष्ट हो गया और यदि उनका पारस्परिक सम्बन्ध केवल भोग या रुपये के लिए ही रह गया तो वही दशा होगी, जो आज यूरोप में हो रही है। यूरोप में जब विवाह होता है, तब पत्नी के नाम प्रायः अलग रुपये जमा करने पड़ते हैं। वहाँ की स्त्रियाँ अपने भावी पतियों से कम से कम इतना तो लिखवा ही लेती हैं कि वे उनको साप्ताहिक खर्च के लिए इतने पैसे देंगे। विषयोपभोग के लिए स्त्री की आवश्यकता है तो रुपये देने ही पड़ेंगे। सम्बन्ध तो केवल रुपयों को लेकर ही है। पिछले दिनों वहाँ एक 'पत्नी-ट्रेड-यूनियन' (Wives

Trade Union) नामक संस्था बनी थी; इसका उद्देश्य है—स्त्रियों को पतियों से आर्थिक अधिकार प्राप्त कराना। इस संस्था की एक प्रधान महिला ने अभी कहा है—'पति बहुत जुल्म करते हैं, वे पत्नियों को सिर्फ भोजन, वस्त्र और रहने के लिए स्थान ही देते हैं। स्त्रियाँ दिन-रात घर का काम करती हैं, बच्चों का पालन-पोषण करती हैं, फिर भी उन्हें कोई निश्चित वेतन नहीं मिलता। न उन्हें बीमा का फायदा मिलता है, न छुट्टी मिलती है और न पेन्शन ही !' जब हमारे यहाँ की स्त्रियाँ भी स्वतंत्र हो जायेंगी, आफिसों में काम करने लगेंगी, पतियों पर से उनके पालन का भार कम हो जायेगा, तब यहाँ भी यही दशा होगी। यह उन्नति है या अवनति, उत्थान है या पतन ? क्या कहा जाय ! स्थिति देखकर सब रोते हैं, परन्तु चलते हैं उसी मार्ग पर। यही तो मोह है। हमारा आज का सुधार तो सचमुच संहार ही है।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

१८. आज का असुर मानव

॥ श्री हरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री…………

स[illegible]म हरिस्मरण।

आप का कृपापत्र मिला। संसार की वर्तमान दुर्दशा पर मैं क्या लिखूँ ! यों तो सब भगवान् का ही विधान है, परन्तु लौकिक दृष्टि से तो आज का संसार एक दूसरे के विनाश में लगा है। जल, थल और आकाश—आज सभी विषाग्नि की वर्षा से संत्रस्त हैं। सारा भूमंडल सर्वविनाशी बमों की गड़गड़ाहट से काँप रहा है। अग्नि देवता की ज्वालामयी लपटों से सभी जले-भुने जा रहे हैं ! मनुष्य आज अपनी मानवता को मारकर असुर-पिशाच बन गया है। लाखों-करोड़ों निरीह नर-नारी मृत्यु के मुख में जा रहे हैं; कोई गोलों की मार से, तो कोई पेट की ज्वाला से। उधर लड़ाकू लोग अपनी रक्तपिपासा का अकाण्ड-ताण्डव कर रहे हैं, तो इधर अर्थगृद्ध सुसभ्य मानव सभ्यताभरी डकैती करके अपनी रुधिरप्रदग्ध भोग-लालसा को बढ़ा रहे हैं। अपने ही जैसे नर-नारी अभाव की आग में जलते रहें, सब भयानक शस्त्रों के शिकार हो जायँ, सबके घर-द्वार राख के ढेर बन जायँ एवं मृत्यु की रक्त-जिह्वा पतियों, पुत्रों पिताओं का रक्त पानकर नारी-जगत् को नरक-यंत्रणा भोगने के लिए बाध्य कर दे, पर हम सुरक्षित रहें और इन मरनेवालों की मृत्यु समाधि पर, श्मशान की विस्तृत भस्म-राशि पर हमारे स्वर्णप्रासाद निर्मित हों तथा हम धन-सम्मान से सुसज्जित होकर

उनमें थिरक-थिरक कर नाचें—यह मानव की पैशाचिकता, उसकी राक्षसीवृत्ति नहीं तो और क्या है ?

विज्ञान के महारथी भी आज अपनी सारी सृजन-शक्ति को महानाश के प्रयास में लगा रहे हैं। किस साधन से कम से कम समय में अल्पायास से ही अधिक से अधिक जनपदों का, नगरों का ध्वंस हो और निरीह नर-नारी काल के कराल गाल में जायँ—इन महारथियों के महान् मस्तिष्क आज उसी की खोज में लगे हैं, मानों महारुद्र की रौद्र इच्छा की पूर्ति का इन्होंने ठेका ही ले लिया है। देश के देश उजाड़ कर उनके खंडहरों में अपने विज्ञान की कीर्ति की पताका फहराना चाहते हैं। यह विज्ञान-जगत् राक्षसीपन नहीं तो और क्या है ?

विद्वानों की विद्वता, नीतिज्ञों की नीति और विभिन्न मतवादियों की गवेषणापूर्ण प्रवृत्ति—सभी मानवता की हत्या का अभूतपूर्व प्रयास कर रही हैं। ईश्वर और धर्म की दुहाई देनेवाले भी आज अपने ईश्वर से परपक्ष का संहार और अपना विस्तार चाहते हैं, मानों भिन्न-भिन्न कई परमेश्वर एक-दूसरे के पक्ष का समर्थन करते हैं! सभी आसुरी सम्पत्ति को पाकर उन्मत्त हो रहे हैं। इसका परिणाम बड़ा ही भयानक होगा। किसकी हार होगी और किसकी जीत, इसका पता तो सर्वज्ञ परमेश्वर को है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मानव का संहार होने पर दुःख की ऐसी ज्वाला भड़केगी, जो सबकी सारी उछल-कूद मिटा कर उन्हें भस्म कर देगी। इसी के साथ असुर-मानव का विनाश होगा। तभी जगत में फिर सुख-शान्ति के दर्शन हो सकेंगे।

गीता में भगवान् ने असुर-मानव की मति, आसुरीवृत्ति और गति का बड़ा ही सजीव चित्र चित्रित किया है, उसका कुछ अंश यह है—

'वे असुर-मानव क्या करना उचित है और क्या छोड़ना, इसको नहीं जानते। उनमें न पवित्रता होती है, न शुद्ध आचार और न सत्य ही। वे जगत् को बिना आसरे, सत्यहीन, ईश्वरहीन और स्त्री-पुरुष के संयोग से केवल भोग-सुख के लिए ही बना हुआ मानते हैं। इस प्रकार की धारणा करके वे नष्टाशय और मन्द बुद्धि अत्यन्त क्रूरकर्म करते हुए जगत् के अहित और विनाश के लिए ही पैदा होते हैं। उनका जीवन दम्भ, अभिमान और मद से पूर्ण एवं कभी पूरी न होनेवाली कामनाओं से घिरा रहता है। अज्ञानवश वे असुर-मानव आसुरी आग्रह को पकड़कर और भ्रष्ट-चरित्र होकर जगत में भटकते हैं। मरते दम तक वे अनगिनत चिन्ताओं में चूर रहते हैं। बस, किसी भी तरह मनमाने विषयों को प्राप्त करना और उन्हें भोगना—एकमात्र यही उनका निश्चित सिद्धान्त होता है। वे आशा-दुराशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे होते हैं। काम और क्रोध पर ही वे निर्भर करते हैं और विषय-भोगों के लिए अन्यायपूर्ण उपायों से अर्थ-संग्रह में लगे रहते हैं। यही सोचा करते हैं कि आज यह मिल गया, कल वह भी मिल जायेगा; हमारे पास इतना धन-ऐश्वर्य तो हो ही गया,

शेष और भी हो ही जायेगा। आज इस वैरी को मारा, शेष शत्रुओं को भी हम धूल में मिलाकर ही छोड़ेंगे। हम ही तो सबके संचालक और नियामक ईश्वर हैं। सबको हमारे ही इशारे पर चलना पड़ता है। ऐश्वर्य का भोग, तमाम सिद्धियाँ, शक्ति और सुख—सब हमारे ही हिस्से में तो आये हैं। हम बड़े धनी हैं; हमारे पीछे विशाल जनता है; है कौन दूसरा हमारी बराबरी का ? यज्ञ और दान से हम देवता और दुखियों को तृप्त कर देंगे। वे असुर-मानव अज्ञानविमोहित, अनेकों प्रकार से विभ्रान्त-चित्त, मोहजाल से समावृत्त और भोग-विषयों में अत्यन्त आसक्त होकर अन्त में भयानक नरकों में पड़ते हैं और उनकी जहरीली गन्दगी में पचते हैं। वे असुर-मानव अपने को ही सबसे अधिक सम्मान्य मानते हैं और सफलता के घमंड में चूर हुए निरंतर धन, मान और मद की गुलामी में लगे रहते हैं। इसी तामसी वृत्ति से वे मनमाने कार्यों को यज्ञ का नाम देकर छाती फुलाते हैं। अहंकार, भौतिक बल, दर्प, काम और क्रोध ही उनके अवलम्बन होते हैं। वे दूसरों की निन्दा में, परदोषदर्शन में निरत रहकर सबके शरीरों में स्थित अन्तर्यामी मुझ भगवान् से ही द्वेष करने लगते हैं। ऐसे द्वेषमूर्ति, पापपरायण, निर्दय, नराधमों को मैं (भगवान्) बार-बार दुःखपूर्ण आसुरी योनियों में डालता हूँ।' (गीता अध्याय १६, श्लोक ७ से १९ तक देखने चाहिए।)

अब आज के असुर मानव से उपर्युक्त लक्षणों को मिलाकर देखिये।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

•

१८. वैराग्य का भ्रम

॥ श्रीहरिः ॥

प्रिय श्री........ गोरखपुर

सप्रेम हरिस्मरण।

आप का कृपापत्र मिला। आप लिखते हैं—"मुझे घर से वैराग्य हो गया है, घर में माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-बालक सभी हैं, परन्तु किसी में मन नहीं अटकता, उनसे मन का मेल ही नहीं खाता। सबसे नफरत-सी हो चली है। चाहता हूँ कि संसार त्याग कर वन में चला जाऊँ। परन्तु कठिनता यह है कि शरीर के सुख और आराम की इच्छा अभी बनी हुई है। कभी-कभी पाप-भावना भी मन में आ जाती है। काम-क्रोध तो है ही। शारीरिक तकलीफ सहन नहीं होती। यहाँ तो कुछ-कुछ लोग सेवा भी करते हैं। दुःख तो यह है कि मुझसे भगवान् का भजन भी नहीं होता। चित्त में उचाट-सी रहती है कि कहीं भाग जाऊँ। न घर सुहाता है, न कहीं भागते ही बनता है। चित्त शान्त नहीं है। बताइये, क्या करूँ ?"

आप ने अपनी सच्ची हालत लिख दी, कुछ छिपाया नहीं, इससे मालूम होता है कि आप का हृदय बड़ा सरल है और सरल हृदय साधना करने पर बहुत ही शीघ्र भगवान् का निवास-स्थान बन सकता है। सच्ची बात तो यह है कि आप को वैराग्य नहीं हुआ है; वैराग्य होने पर काम-क्रोध नहीं रह पाते, न सुख और आराम का ही खयाल रहता है। जब किसी विषय में आसक्ति ही नहीं रही, तब कामना कहाँ से पैदा होगी और कामना न होने पर क्रोध भी क्योंकर होगा ? आप ने इस स्थिति को वैराग्य समझ लिया, यही आप की भूल है। यह तो वस्तुतः आसक्ति का एक रूपान्तर मात्र है। आप को जो नफरत-सी हो चली है, घरवालों के प्रति घृणा होती है, इसका कारण यही है कि आप उनसे जैसा और जितना सुख चाहते हैं, अपनी कामना की जितनी पूर्ति आप उनसे करवाना चाहते हैं, उतनी नहीं हो पाती। बल्कि कभी-कभी आप को ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग मेरे सुख के मार्ग में बाधक हैं, मेरे मनोरथ के प्रतिकूल हैं। इसी से आपके ही शब्दों में—"उनसे आपके मन का मेल ही नहीं खाता।" इसी से नफरत होती है और आश्चर्य की बात तो यही है कि इसको आप ने वैराग्य मान लिया है। यह वैराग्य नहीं है, यह है झुँझलाहटभरी अकर्मण्यता, जो आप को कर्तव्यपथ से विमुख करना चाहती है। असल में आप जिनसे घृणा करते हैं, उनको छोड़ना नहीं चाहते। उनको छोड़ते आप को दुःख होता है, क्योंकि उनमें आपकी सुदृढ़ आसक्ति है और आप उनको सर्वथा अपने अनुकूल तथा अपने सुख के साधक देखना चाहते हैं। इसीलिए चित्त में उचाट है, इसीलिए अशान्ति है और इसी से आप की बुद्धि कर्त्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हो रही है। आप मेरी इन बातों से अपनी स्थिति का मिलान करके देखिये, मुझे विश्वास है, मेरी धारणा अक्षरशः सत्य साबित होगी।

आप लिखते हैं—"भगवान् का भजन नहीं होता" और मैं कहता हूँ—भजन हुए बिना "वैराग्य" हो ही नहीं सकता।

जब भजन में रस मिलेगा और उससे भगवत्प्रेम का प्रादुर्भाव होगा, तब विषयों से वैराग्य आप ही हो जायगा। फिर कोई मनोरथ भी अपूर्ण नहीं रह जायगा। आप जो कुछ भी चाहते हैं, सभी कुछ भगवान् में पूर्ण है। सारे सुख, सारे आराम, कामिनी, कंचन, कीर्ति, भोग, मोक्ष—सभी कुछ उनमें हैं। उनको भूलकर—उनकी ओर से लापरवाह रहकर, भजन में चित्त न लगाकर जहाँ संसार को छोड़ने जायेंगे, वहाँ संसार और भी जोर से आप को जकड़ लेगा। यों भागने से बन्धन की रस्सी टूटेगी नहीं, उसकी गाँठ और भी गहरी घुल जायगी, पक्की हो जायगी। अतएव पहले भगवान् में अनुराग कीजिये, फिर अपने आप ही विषयों से विराग हो जायगा। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी कहते हैं—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठचवता धृतो हरिः॥
(२।६।३३)

''प्रिय नारदजी ! मैंने प्रेमपूर्ण और उत्कण्ठित हृदय से भगवान् को हृदय में धारण कर लिया है। इससे न तो कभी मेरी वाणी असत्य को लक्ष्य करके निकलती है, न कभी मन की गति मिथ्या की ओर होती है, और न मेरी इन्द्रियाँ ही कभी असत्य मार्ग पर जाती हैं''। तात्पर्य यह है कि भगवान् में मन लगने पर असत् विषयों की ओर मन जाता ही नहीं (यह याद रखना चाहिए कि एकमात्र भगवान् ही सत् हैं और सब असत् है।) यही असली वैराग्य है।

अतएव आप उसे वैराग्य न समझकर अपनी एक दुर्बलता समझिये और घर में ही प्रतिकूलता को सानन्द सहते हुए भगवान् का भजन कीजिये। जबतक मन में राग-द्वेष हैं, तबतक पूरी अनुकूलता कहीं भी नहीं मिलेगी। भगवान् ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियास्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (गीता ३/३४)

'प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष भरे हैं। इन राग-द्वेषों के वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों ही परमार्थ-धन के लुटेरे हैं।'

यह समझ रखिये कि राग-द्वेष के रहते हुए अनुकूलता के साथ प्रतिकूलता भी रहेगी ही। वन में ही क्यों, कहीं भी चले जायँ, मन तो आप के साथ ही जायगा न ! फिर केवल स्थान बदलने से क्या होगा ? जो तकलीफ यहाँ है, वही वहाँ भी रहेगी। बल्कि नयी जगह पर शारीरिक आराम न मिलने पर और भी कष्ट का अनुभव होगा। घरवाले कितने ही प्रतिकूल हों, आखिर आप के दुःख में कुछ तो साथ देते ही हैं; यह आप ने भी स्वीकार किया है। अलग जाने पर यह भी नहीं मिलेगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि जब आप को उनकी बातें प्रतिकूल मालूम होती हैं, तब निश्चय ही आप के विचार उनके प्रतिकूल हैं और जब वे लोग अपने प्रतिकूल विचारवाले आपका अपने साथ रहना सहते हैं और समय-समय पर आप की सेवा करते हैं, तब आप को तो और भी नम्र होना चाहिए तथा उनके प्रतिकूल विचारों को आनन्द के साथ सहकर उन्हें सुख पहुँचाने की चेष्ट करनी चाहिए।

साथ ही यह भी सत्य है कि यहाँ जो कुछ भी सुख-दुःख आपको मिलता है, यह आपके ही पूर्वकृत कर्मों का फल है और भगवान् ने आप के कल्याण के लिए इसका मंगलविधान किया है। इसके भोग से आप का प्रारब्ध क्षय होता है और यदि इसे भगवान् का विधान मानकर सिर चढ़ावें तो भगवान् की कृपा प्राप्त होती है। इसलिए मेरी तो यही सलाह है कि सहनशील बनकर घर में रहिये। घर को भगवान का मंदिर और घरवालों को भगवत्स्वरूप मानकर उनकी यथायोग्य सेवा कीजिये तथा भगवान् की कृपा पर विश्वास करके उनके पवित्र नाम का जप करते हुए उनके दिये हुए जीवन को उन्हीं को समर्पित करके आनन्द से संसार यात्रा पूरी कीजिये। आप निश्चय समझिये—जब भगवान की याद आप को बनी रहने लगेगी, तब सारे पाप, सन्ताप,

आसक्ति, कामना, विरक्ति, अशान्ति, मोह, भय अपने आप ही भाग जायेंगे। उस समय आप स्वतः ही सच्चे वैराग्य को प्राप्त होकर परम सुखी हो जायेंगे।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

२०. पापका प्रकट होना हितकर है

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री..........

सप्रेम हरिस्मरण।

आप का पत्र मिला था। आप की स्थिति अवश्य ही दयनीय है। इस स्थिति में आप को दुःख होना कोई बड़ी बात नहीं, परन्तु यह मनुष्य-हृदय की दुर्बलता है। पाप के प्रकट हो जाने को असल में पाप का निकल जाना समझना चाहिए और इधर-उधर की झूठ-कपट भरी, चेष्टा करके उसे छिपाने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए। यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि छिपा पाप बढ़ता रहता है। जिसको पाप छिपाने में सफलता मिल जाती है, उसका दिल दूने उत्साह से पाप करने की प्रेरणा करता है। ऐसा मनुष्य अन्त में पापमय बन जाता है। आप को पाप छिपाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए और पाप के प्रकट होने से आप का जो अपमान-तिरस्कार हो रहा है, उसे भगवान् की कृपा समझनी चाहिए। इसमें आप का पाप नष्ट हो रहा है और आप विशुद्ध हो रहे हैं। असल में पाप का फल सामने आने पर मनुष्य की जैसी दशा होती है, उस दशा की यदि पाप करते समय मनुष्य कल्पना कर सके तो उससे सहज में पाप नहीं होते। परन्तु उस समय तो विषयासक्तिवश वह अन्धा हुआ रहता है।

आप घबराइये नहीं। भगवान दयामय हैं; उनका द्वार पापी-तापी सबके लिए सदा खुला है। फिर आप के पाप तो पश्चात्ताप की आग में जल रहे हैं। भविष्य में ऐसा कर्म न बने, इसके लिए आप प्रतिज्ञा करते हैं, यह भी बड़ा शुभ लक्षण है। इसे भी भगवत्कृपा ही समझिये। भगवान से शक्ति माँगिये, उनसे प्रार्थना कीजिये और उनके बल पर दृढ़ प्रतिज्ञा कर लीजिये। आपका निश्चय दृढ़ होगा तो पाप की शक्ति नहीं है कि वह आप का स्पर्श कर सके। मनुष्य से जो बुरे कर्म होते हैं, वे आत्मा के मूक आदेश से ही होते हैं। आप पापों का होना और रहना सह लेते हैं, इसी से पाप बनते हैं। जिस क्षण आप उन्हें सहन नहीं करेंगे और भगवान् से जो परम बल आप को प्राप्त है, उससे अपने को बलवान मानकर मन, इन्द्रियों को ललकार देंगे, उसी क्षण

आप पाप-ताप को अपने अन्दर से निकाल देंगे और भगवान के बल के सामने नये पाप-तापों को तो आने का मार्ग ही नहीं मिलेगा।

आप भगवान् का पावन स्मरण कीजिये और अपमान-तिरस्कार को पापों का नाश करनेवाली भगवान् की भेजी हुई आग समझकर साहस के साथ प्रसन्नता-पूर्वक अपने सारे पापों की, पाप-वासनाओं की उसमें आहुति दे डालिये। आप पवित्र हो जायेंगे।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

२१. घर छोड़ने से ही भगवत्प्राप्ति नहीं होती

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री…………

सप्रेम हरिस्मरण।

आप का मैनपुरी का लिखा पत्र मिला। आप की भावुकता सराहनीय है, परन्तु प्रत्येक काम बहुत विचार के बाद करना चाहिए। आप की अभी बाईस साल की उम्र है। घर में जवान पत्नी और छोटा बच्चा है—जो आप के ही आश्रित हैं। घर में और लोग भी हैं। ऐसी हालत में घबरा कर घर से निकल जाना कहाँ तक उचित है, इस पर आप को गम्भीरता से विचार करना चाहिए। आप ने छः महीने में घर से चले जाने और फिर एकान्त में रहने का निश्चय किया है, सो तो ठीक है, परन्तु ऐसा एकान्त आप को कहाँ मिलेगा, जहाँ आप का चित्त भजन में ही लगा रहे ? ऐसी जगह दुनिया में आज कहाँ है ? सच्चा एकान्त तो मन के निर्विषय होकर भगवत्परायण होने में है।

आप को आज की दुनिया का अनुभव नहीं है, इसी से आप घर को 'माया-जाल' और बाहर को 'माया से मुक्त' मानते हैं। अनुभव तो यह बतलाता है कि माया का जाल घर की अपेक्षा बाहर ज्यादा फैला हुआ है। घर में तो एक जिम्मेदारी होती है, कर्तव्य का एक बोध जाग्रत रहता है, जिससे जीवन प्रमाद आलस्य में नहीं पड़ता। बाहर तो सारा जीवन बेजिम्मेवार हो जाता है और यदि अच्छा खाना-पहनना मिलने का सुयोग हो गया, तब तो प्रमाद से जीवन छा जाता है।

घर से घबराकर कभी नहीं भागना चाहिए। घर को अपना न मानकर भगवान् का मानिये और घरवालों को भगवान् की मूर्ति मानिये तथा घर में ही रहकर घर की वस्तुओं के द्वारा तन, मन धन से उनकी नम्रतापूर्वक सेवा कीजिये।

मुँह से भगवान् का नाम लेने और मन को भगवान् में लगाने से आप को कोई रोक नहीं सकता। फिर आप स्वयं ही लिखते हैं कि 'घरवाले हमें ईश्वर का भजन करने से रोकते नहीं हैं।' फिर आप क्यों भागना चाहते हैं ? मेरे पास आजकल कम उम्र के विवाहित और अविवाहित युवकों के ऐसे बहुत से पत्र आते हैं, जो घबरा कर घर से भागना चाहते हैं। मैं सबसे यही निवेदन करना चाहता हूँ कि भागने से ही भजन नहीं बनेगा, और न भगवत्प्राप्ति होगी। सदाचारी, संयमी, सहनशील, नम्र और भजन के अभ्यासी बनिये। घर में रहकर प्रतिकूलता को सहन कीजिये। बहुत जगह तो ऐसा होता है कि सहनशीलता के अभाव से ही ऐसी वृत्ति होती है—मन के प्रतिकूल किसी भी बात को सहने की शक्ति न होने से पिंड छुड़ाकर भागने को मन होता है। यह कमजोरी है, त्याग नहीं है यह; मन के अनुकूल परिस्थिति में राग है—विषयों से वैराग्य नहीं। अतएव मेरी नम्र सम्मति तो यही है और मैं बड़े बल के साथ दृढ़तापूर्वक यह कहता हूँ कि आप इस अवस्था में घर छोड़ने का विचार बिल्कुल त्याग दें और अपने स्वभाव को सहिष्णु बनाकर माता-पिता की और घरवालों की सद्भाव से सेवा करें।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

२२. जीवन से विषाद को निकालिये

॥ श्रीहरिः ॥

२४-११-३९

प्रिय श्री.......... ....

सप्रेम हरिस्मरण। आप का पत्र मिला। विवाह निश्चय ही भगवान् का विधान था। उस लड़की का सम्बन्ध आप से होना निश्चित था, इसमें मुझको जरा भी शंका नहीं है। अतएव इसे भगवान् का विधान ही मानिये। दूसरी बात, विवाह न करने में आनंद था, यह बात अभी आप को प्रतीत होती है। विवाह न हुआ होता तो कुछ समय बाद आप की स्थिति बहुत अधिक बिगड़ जाती। अभी विवाह होने पर आप जितने कष्ट का अनुभव कर रहे हैं, उसकी अपेक्षा वह कष्ट कहीं भयानक होता और पता नहीं, उसमें आप का कितना पतन होता। भगवान् की दयामयी व्यवस्था को सिर चढ़ाइये।

आप लिखते हैं—'मेरी समझ से लड़की सच्चरित्रा दीखती है', सो नहीं, सच्चरित्रा है ही। लड़कपन में दोष हो जाना कोई अनहोनी बात नहीं है। लड़कों में जितने दोष घटते हैं, लड़कियों में उसकी अपेक्षा बहुत ही कम घटते हैं। आप की

बात मानती है, भक्तगाथाएँ पढ़ती है, पचास हजार से ज्यादा नाम-जप करती है, और क्या चाहिए ? विवाह तो आप को करना ही पड़ता, कहीं ऐसी मिलती, जो बात-बात में आप के विरुद्ध रहती, तब क्या होता ? जरा कल्पना तो कीजिये ।

विवाह करना न अपराध है, न पाप । विवाह तो करना ही चाहिए । हाँ, जिन महापुरुषों की जन्म से संन्यासमयी वृत्ति होती है, उनकी बात दूसरी है । आसक्ति से विषय-वासना बढ़ती है । ········ यदि आप भगवान् का भजन करते रहे तो यह कुछ समय बाद आप ही कम हो जायगी । घबराइये नहीं । आप घर से भाग जाना चाहते हैं, यह बहुत बुरी भावना है । मुझे आप कुछ भी मानते हैं तो इस भावना को निकाल दीजिये । यदि आप ने भाग जाने का विचार किया तो वह अवश्य ही अपराध होगा, और उससे मैं बहुत ही नाराज होऊँगा । घरवालों से जहाँतक बने राजी रहिये । सहिष्णु बनिये । मन से भगवान् का स्मरण कीजिये । जीवन से विषाद को निकाल दीजिये । विषाद तो तमोगुण है, प्रसाद है—प्रसन्नता । चेहरा तथा मन हँसता रहे । काम-काज मन लगाकर कीजिये । माता-पिता को यथासाध्य सुख पहुँचाइये । माता-पिता प्रत्यक्ष देवता हैं ।

मीरा के पद, भागवत के श्लोक याद कीजिये और गाइये । कौन रोकता है ? मेरी एक बात याद रखिये—विवह न हुआ होता तो कुछ दिनों बाद आप की स्थिति बहुत गिर जाती । विवाह होने से आप उससे बच गये । भगवान् ने आप को बचा लिया । आज जो आप के मन के शुभ भाव हैं, यह इस विवाह का ही परिणाम है । भगवान् का विधान कल्याणकारी ही होता है ।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

२३. माता प्रत्येक स्थिति में सेवनीय है

गीताप्रेस, गोरखपुर
चैत्र शु० ६, सं० २०१९

प्रिय बहिन,

सस्नेह हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला । उत्तर देने में कुछ देर हुई, इसके लिए क्षमा करें । आप के प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है—

माता व्यभिचारिणी हो या सती, पुत्र के लिए माता सर्वथा सब अवस्थाओं में सेवनीय है । सेवा के सम्बन्ध में यह देखने की कोई आवश्यकता नहीं कि माता के आचरण कैसे हैं ।

आवश्यकता पड़ने पर जब वेश्या की भी निर्दोष सेवा करना मनुष्य का धर्म है, तब माता की निर्दोष सेवा में क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? सेवा के विषय में पुत्र माता के आचरणों का निर्णायक नहीं है। उसे माता में मातृभाव से श्रद्धा रखते हुए यथायोग्य बर्ताव करना चाहिए। यदि वास्तव में ही माता के व्यभि-चारिणी होने का पता लग जाय तो पुत्र को अपने सदाचरण, उत्तम व्यवहार, तप और सेवा के द्वारा उसे उस कुपथ से हटाने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि पुत्र का भाव वास्तव में ऊँचा होगा और उसके तप एवं सेवा में कृत्रिमता न होगी तो वह अपने उद्योग में सफल भी हो सकता है।

यह तो पुत्र की बात हुई। माता को समझना चाहिए कि मैं पुत्र के अधीन हूँ और पुत्र मेरे आचरण का रक्षक और निर्णायक है।

पुत्र यदि भ्रमवश निष्कलंकिनी माता पर व्यभिचारिणी होने की शंका करे तो वह अवश्य ही पाप करता है और उस पाप का सबसे बड़ा प्रायश्चित सेवा द्वारा माता का प्रसन्नतापूर्ण आशीर्वाद प्राप्त करना है और अपनी भूल पर परिताप करते हुए शेष जीवन को मातृसेवा में लगा देना है।

हाँ, जान बूझकर माता पर लांछन लगानेवाला पुत्र तो प्रत्यक्ष ही नरक का अधिकारी है।

जो माता पुत्र की भक्ति का अनुचित लाभ उठा कर व्यभिचार में प्रवृत्त रहती हुई भी अपने को पुत्र द्वारा सेवा प्राप्त करने की अधिकारिणी समझती है, वह पुत्र-वंचका माता भी प्रायश्चित के योग्य है।

यह मैंने अपने मन की बात लिखी है, कृपया क्षमा करें। मुझे अपने मत में कोई भ्रान्ति नहीं है।

तुम्हारा भाई
हनुमानप्रसाद पोद्दार

२४. मंगल-साधन न हो सके तो मंगल-विचार में ही लीन रहिये

॥ श्री हरिः ॥

गीतावाटिका, गोरखपुर
२१-६-७०

प्रिय भैया,

सप्रेम हरिस्मरण।

इधर तुम्हारा पत्र नहीं मिला है। मेरा स्वास्थ्य वैसे ही ढीला चल रहा है। कमजोरी अधिक है। बीच-बीच में पेट में दर्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क

की स्थिति भी उत्तरोत्तर कुछ विलक्षण-सी होती जा रही है। जगत् के पदार्थों और प्रपंचों को पकड़ने से वृत्ति बहुत बार इन्कार करती है। जैसा कुछ भगवान का मंगल विधान है, वही होगा।

श्री····जी के पत्र आये थे, वे कुछ दुःखी-से हैं। उन्होंने लिखा है कि 'मेरी इस बीमारी में भाई····या उसके घर के लोग पूछने तक भी नहीं आये।' सो भैया! ऐसा नहीं होना चाहिए था। तुम्हारे मन में यदि आशंका हो कि वे रूखा बर्ताव करेंगे या करते हैं, तब भी तुम्हें स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सच्चे मन से पूछने के लिए जाना चाहिए। स्वाभाविक ही परस्पर एक-दूसरे की मंगलकामना होनी चाहिए। रुपये-पैसे के प्रश्न को लेकर····जी और तुममें किसी प्रकार की अनबन हो जाय, प्रेमवृत्ति का अभाव होकर द्वेषवृत्ति का उदय होने लगे, इसकी कल्पना से भी मुझको दुःख होता है, पर मेरे हाथ की बात तो नहीं है कि मैं किसी के मन को बदल दूँ। फिर मुझ पर तो····के भी अनेकों उपकार हैं और तुम्हारे भी हैं। मेरे प्रति तुम्हारी और उनकी बड़ी सद्भावना है, उसके लिए मैं सदा ही कृतज्ञ हूँ। मैं तो तुमसे और उनसे—दोनों से यही आशा रखता था कि तुम दोनों का आदर्श प्रेम जगत् के लिए उदाहरणरूप होगा, तुम लोगों के परस्पर के व्यवहार भी आदर्श होंगे। पर मेरी आशा से क्या होता है?

मनुष्य जब यह चाहता है और निश्चय करता है कि मुझे ठीक रहना है और अपने बर्ताव को मुझे सदा सात्विक और विशुद्ध रखना है, अपनी भलाई का दूसरे की बुराई देख कर भी कभी त्याग नहीं करना है, उसका संरक्षण और संवर्द्धन करना है तो ऐसी स्थिति आती ही नहीं। मनुष्य दूसरे का कर्त्तव्य देखता है, पर अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है, इससे दूसरे के दोष-ही-दोष दिखाई देते हैं। इसका परिणाम होता है—द्वेष, कलह, दुःख, पाप और पतन। संसार की कोई भी वस्तु साथ नहीं जाती, मनुष्य सब कुछ छोड़कर मर जाता है; पर ऐसा व्यामोह है कि वह राग-द्वेष को भूलकर भगवान् की सेवा में नहीं लगता। मैं हृदय से यह चाहता हूँ कि तुम्हारे और श्री····जी के द्वारा कोई काम ऐसा न हो, जिससे एक दूसरे का अनिष्ट होता हो; और इस बात में भी केवल अपनी चेष्टा की ओर देखना है, दूसरा क्या करता है—अनिष्ट करता है या इष्ट, यह देखकर अपनी ओर से उसके मंगल-साधन में ही और मंगल-साधन नहीं हो तो मंगलविचार में ही लगे रहना है। ऐसी कोई क्रिया तो अपनी ओर से या उसके बदले में होनी ही नहीं चाहिए, जिससे उसका जरा भी अनिष्ट हो। अपने स्वरूप की सात्विकता को दूसरे की राजसिकता, तामसिकता को देखकर छोड़ देना मूर्खता है। हर हालत में हर मूल्य पर अपने अच्छे सात्विक स्वरूप की रक्षा करनी है।

········की माँ के स्वास्थ्य में पहले से सुधार होगा, दवा और पथ्य-परहेज का ख्याल रखना चाहिए। सर्वोत्तम दवा तो सद्भावना और भगवन्नाम तथा प्रार्थना है, इसका जितना आश्रय लिया जाय, उतना ही उत्तम है।

श्री····जी का स्वास्थ्य पहले से अच्छा है, वे यहीं पर हैं। आजकल की परिस्थिति के अनुसार अनेक प्रकार के छोटे-बड़े उत्पात होने पर भी प्रायः कुशल से हैं। सच्ची कुशल तो भगवान की स्मृति में है, पर उसकी तरफ बहुत कम ध्यान है और रुचि भी वैसी नहीं है, जैसी होनी चाहिए।

शेष भगवत्कृपा !

तुम्हारा
हनुमानप्रसाद पोद्दार

•

२१. त्याग प्रेम की आधार-भूमि है

॥ श्रीहरिः ॥

गीतावाटिका, गोरखपुर
दिनांक १-६-७०

प्रिय भाई,

सप्रेम हरिस्मरण।

तुम्हारा पत्र मिला था। पहले भी तुम्हारे कई पत्र मिले थे, पर स्वभावदोष और अस्वस्थता के कारण पत्र नहीं लिख सका। श्री····के जाने से सबको संतोष हो गया, सो आनन्द की बात है। तुम्हारा पत्र भावुकतापूर्ण और तुम्हारे विशुद्ध सरल हृदय की झाँकी करानेवाला है। बेटी····के सम्बन्ध में तुम जो कुछ भी कर रहे हो, यह तुम्हारी उस दुखिया के साथ सहानुभूति रखने वाले हृदय का परिणाम है। इस प्रकार का सहारा देनेवाला और कोई नहीं है।

प्रिय····और श्री····के सम्बन्ध में तुमने जो बातें लिखीं, वे अधिकांशतः सत्य हैं, पर भैया ! मेरा दृष्टिकोण कुछ दूसरा है। पैसे के लिए एक माता के उदर से उत्पन्न भाई-बहनों में वैमनस्य और कलह हो, यह वास्तव में बड़े दुःख की बात है। इसका प्रधान कारण है—'दोनों ओर ही त्याग का अभाव'। प्रेम की भित्ति है 'त्याग'। दोनों तरफ से यदि त्याग है, तब तो वह पवित्र ही नहीं होता, दुनिया को पवित्र करने वाला भी होता है। जैसे राम और भरत का त्याग; कहीं किसी प्रकार के मनमुटाव की कल्पना ही नहीं। पर दोनों ओर से त्याग नहीं हो, एक ही ओर से हो तब भी प्रेम बना रह सकता है। संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है और जो कुछ भी फलरूप में हानि-लाभ होते हैं, वे पूर्वकर्मजनित होते हैं तथा पहले से निश्चित हैं। आज यदि कोई किसी भी प्रकार से बहुत सम्पत्ति प्राप्त कर ले तो वह उसके पास स्थायी रह सकेगी, यह निश्चित नहीं है। वह कंगाल हो सकता है; और कंगाल, जिसके पास कुछ भी नहीं है या जिसका सब कुछ छीन लिया गया हो, बहुत बड़ा धनी हो सकता है। मनुष्य को

भगवान् जैसी बुद्धि दें, उसके अनुसार किसी भी दूसरे का अहित चिन्तन न करते हुए उचित कार्य करना चाहिए। फल भगवान् के हाथ है। ऐसा कोई भी कार्य किसी भी हेतु से मनुष्य को नहीं करना चाहिए, जो अपने और दूसरों के मनों में तमोगुण की वृद्धि करता हो, विचारों में और कार्यों में प्रमाद लाता हो और जिसका फल दुःख हो।

मान लो,····आज यदि····को उसका न्यायप्राप्त हक नहीं देगा तो····को खाने को नहीं मिलेगा अथवा····पैसे बचाकर उन्हें स्थायी रख सकेगा, यह कुछ भी निश्चित नहीं है। वह न्यायप्राप्त हक न मिलने पर भी बहुत सुखी रह सकती है यदि उसके फल-दानोन्मुख प्रारब्धमें ऐसा संयोग हो। इसलिए मैं तो चाहता हूँ कि····अपनी····के लिए त्याग करे और····अपने····के लिए त्याग करे, विशुद्ध हृदय से प्रेमपूर्वक, आदर के साथ। दोनों न करें तो कोई एक करे, तब भी परिणाम बुरा नहीं होगा। नहीं तो आपस का कलह और संघर्ष दिन-रात दोनों के मनों में अशांति और चिन्ता बनाये रखेगा, अवांछनीय कर्म होंगे और फलतः इहलोक और परलोक दोनों में दुःख की प्राप्ति होगी, यह अनिवार्य है।

····के प्रति बाहर के लोगों की सहानुभूति है, यह उनकी कृपा है और उनका शील है। तुम सहानुभूतिपूर्वक इतना साथ देते हो, यह भी आदर्श आचरण है। आग में पानी डालना चाहिए, बढ़ते हुए विष में अमृत ढालकर उसे नष्ट कर देना चाहिए। इसी से वास्तविक हित-सम्पादन होता है। तुम बुद्धिमान हो, सब तरह से योग्य हो, पर तुम्हारी भावप्रवणता जिस ओर तुम्हें ले जाती है, उसी ओर तुम चले जाते हो; यह तुम्हारा गुण है, पर कभी-कभी इससे अवांछनीय परिणाम भी हो जाता है। अतएव तुम सोचकर····जी,····और उसकी माँ····इन सबसे इस प्रकार का बर्ताव-व्यवहार करो, सबको नम्रतापूर्वक ऐसी ही सलाह दो और ऐसे ही कार्य में सहायता-सहयोग दो, जिससे प्रेमसुख की धारा बहे। अनित्य, क्षणस्थायी, परिणाम में दुःख देनेवाले सांसारिक पदार्थों को लेकर परस्पर लड़ना-लड़ाना मुझे बहुत बुरा लगता है और दुःख भी होता है। आशा है, तुम मेरे भाव को समझोगे और तदनुसार कुछ करोगे। बेटी····को भी मैं अलग से पत्र लिखूँगा;····की पत्नी का भी पत्र मेरे पास आया था, उसको भी लिखूँगा। उन सबको भी इसी आशय का पत्र लिखूँगा, जिस आशय का तुमको लिखा है। मानना-न-मानना उनकी इच्छा पर निर्भर है और कर्म के अनुसार बीज-फल-न्याय से फल प्राप्त होना अनिवार्य है। भगवान् सबको सदा सद्बुद्धि दें।

मेरा स्वास्थ्य अभी ठीक नहीं है। इधर कमजोरी अधिक बढ़ गयी है। धीरे-धीरे ठीक होने की बात डाक्टर लोग कहते हैं। होगा तो वही, जो भगवान के मंगल-विधान के अनुसार होना है और वही वास्तव में उचित और मंगलमय होता है। मनुष्य की दृष्टि बहुत दूर तक नहीं जाती। वह अधिक से अधिक देखता है अपने शरीर और

शरीर के सम्बन्धियोंतक। वह एक सीमातक ही देखता है, परन्तु भगवान् की दृष्टि बहुत दूरतक जाती है। अतएव जिसमें हमारा यथार्थ मंगल भरा है, वही कार्य भगवान् करते हैं। इसलिए मनुष्य को भगवान् के प्रत्येक मंगलविधान में प्रसन्न रहना चाहिए।

तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा होगा। घर में सब लोग प्रसन्न होंगे। सबसे मेरा सप्रेम यथायोग्य कहना। शेष भगवत्कृपा!

तुम्हारा
हनुमान

२६. पापी से नहीं, पाप से घृणा करो

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर
ज्येष्ठ कृष्ण, १९८६

प्रिय बहिन,

सप्रेम राम राम।

आपका पत्र आये बहुत दिन हो गये। कार्य की अधिकता से समय पर उत्तर नहीं दे सका, इसके लिए आप दुखित न हों। आपके पत्र को कई कारणों से 'कल्याण' में प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया। इसके लिए क्षमा करेंगी।

आपने जो अपने मन की बातें खोलकर लिखीं, उन्हें पढ़कर हिन्दू-जाति की वर्तमान शोचनीय स्थिति का दृश्य सामने आ गया। भारतीय मातृ-जाति सहनशीलता का आदर्श है, परन्तु यहाँ मैं आपको सहनशीलता का पाठ पढ़ाते बहुत सकुचाता हूँ। पुरुष-जाति की निष्ठुरता, विचारहीनता और उसके कमीनेपन को देखकर एक पुरुष की हैसियत से मेरा सिर नीचा हुआ जाता है। आपकी जो कुछ स्थिति है, उसके सम्बन्ध में मैं क्या लिखूँ? हाँ, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि पातिव्रतधर्म की अपेक्षा भक्ति सदा से ही बहुत ऊँची है और ऊँची रहेगी। भक्तिधर्म के यथार्थ पालन के लिए जगत्भर के सारे धर्म छोड़े जा सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर आप तो पातिव्रत-धर्म पालन करने से विमुख होना भी नहीं चाहती हैं। आपने जो कुछ स्थिति बतलायी है, उस स्थिति में न्याय के अनुसार ऐसे पातिव्रत के बन्धन से मुक्त हो जाना मेरी समझ से अनुचित नहीं है; तथापि भारतीय नारी-समाज के अद्भुत सती-धर्म को देखते हुए मैं सहसा आप को वैसी स्पष्ट राय देने में हिचकता हूँ। ऐसे पतियों की क्या दुर्दशा होगी, सो भगवानही जानें; परन्तु यह बात लिखते भी मैं डरता हूँ, क्योंकि भारतीय सती स्त्री अपने नीचातिनीच स्वामी का भी अनिष्ट सुनना-देखना नहीं चाहती। वह ऐसी कल्पना भी नहीं सह सकती। जहाँतक हो सके आप को परमात्मा के प्रति

अपना मन अर्पण करके उनके भरोसे पर रहना चाहिए। मेरे विश्वास के अनुसार यदि आप वास्तव में भगवान् पर भरोसा करेंगी तो संभव है, बहुत शीघ्र परमार्थ के बाधकों की बुद्धि सुधर जाय। आपको भी यही चाहिए—आप उनका नहीं, परन्तु उनकी नीच बुद्धि का नाश चाहें। आप ऐसा ही चाहती भी हैं, इसलिए मैं विशेष क्या लिखूं ? शत्रु का भी संहार नहीं चाहना चाहिए। चाहना चाहिए उसकी अधम बुद्धि का संहार। द्वेष पाप से होना चाहिए, पापी से नहीं। यथासाध्य अपने मन से किसी को भी शत्रु मानना नहीं चाहिए।

आपके गृह-परित्याग के सम्बन्ध में मुझे यही कहना है कि मुझे अमान्य नहीं है यदि आप नालायक पुरुष-जाति से अपनी रक्षा कर सकें। अभी की हालत में कम-से-कम इस बात से आपको कोई कष्ट नहीं है। परन्तु घर छोड़ने पर इस कष्ट में पड़ना असंभव नहीं। आजकल चारों ओर भेड़ों की खाल में इतने खूँखार भेड़िये बैठे हैं कि उनसे रक्षा पाना कठिन है। उनके नीचाशय की पहचान भी सहज में नहीं हो सकती। साधुओं के आश्रम, तीर्थ की पवित्र भूमि, भक्तों के मन्दिर, ज्ञानियों के मठ, उपदेशकों के उपदेश-गृह, महात्मा कहलानेवाले मनुष्यों के निवास-स्थान, देशभक्त कहलानेवालों की कुटीरें, विधवा और वनितादि आश्रम, शायद कोई भी ऐसी जगह नहीं है, जहाँ ऐसे 'विषकुम्भ पयोमुखम्' नराधम न मिलें। ऐसी अवस्था में आपको कैसे क्या सलाह दूँ ? हाँ, वीरांगना राजपूत रमणियों की भाँति मृत्यु का प्रण करके कोई निकलना चाहे तो उसे कोई रोक ही कैसे सकता है ?

सनातन धर्म में, जहाँतक मेरा विश्वास है, नारी-नियंत्रण को कोई स्थान नहीं है। जो धर्म बिना ही कारण किसी पर अत्याचार करना चाहता है, वह पवित्र सनातन धर्म नहीं, परन्तु धर्म के नाम पर चलनेवाला पाखण्ड है, जिसका शीघ्र ही विनाश हो जाना अभीष्ट है।

आप बड़ों की सेवा करना चाहती हैं सो बड़ी अच्छी बात है। आप अपना धर्म पालिये, वे लोग अपना पाखण्ड बरतें। यदि आपका धर्म वास्तव में सचाई पर होगा तो आपके शुभ मार्ग में कोई रुकावट अन्ततक नहीं ठहर सकती। सम्भव है कि परमात्मा के किसी शुभ संकेत से आपके कल्याणार्थ ही अभी ऐसा हो रहा है। आप धैर्य रखें। परमात्मा के लिए सब सहन करें। अत्याचारियों की अत्याचारबुद्धि का नाश मानती हुई उनका भला चाहें। आपके सत्य शुभ संकल्प से उनका बहुत कुछ भला हो सकता है।

आपके सम्बन्ध में किसी से कोई बात नहीं कही जायगी। मेरी समझ से आपके पास जो कुछ है, उसको सुरक्षित रखना चाहिए।

साधन आप जैसा करती हैं, वैसा ही ठीक है। शरणागति का भाव कुछ विशेष

रखें तो और भी अच्छी बात है। अधिकतर मानसिक उपासना की ओर ध्यान देना अच्छा है। मन की उपासना ही असली उपासना है।

कोई काम हो तो मुझे लिख सकती हैं।

आपका भाई
हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

२८. मैनेजर बनिये, मालिक नहीं

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर

प्रिय श्री…………

सप्रेम हरिस्मरण।

आप ने लिखा—'नाटक के पात्र जैसे अभिनय करने की बात पूरी-पूरी समझ में नहीं आयी, मन में एक भाव हो और ऊपर से दूसरा बतलाया जाय, तो उसमें झूठ और धोखे का आरोप होगा।' बात ठीक है, पर झूठ और धोखा नीयत में दोष होने से होता है। नाटक के पात्र द्वारा जो क्रिया होती है, वह इतनी जाहिर होती है कि किसी को उसमें झूठ और धोखे का अनुमान नहीं होता। सभी जानते हैं कि ये केवल अभिनय करनेवाले पात्र हैं; स्टेज पर जो कुछ दिखलाया जाता है, वह खेल है। खेल में जो आपस का व्यवहार होता है, वह स्टेज पर तो सच्चा ही होता है और वह है भी स्टेज के लिए ही। इसी प्रकार यह संसार भगवान् का नाट्य-मंच (स्टेज) है। इस पर हमलोग सभी खेलने वाले पात्र (ऐक्टर) हैं। सभी के जिम्मे अलग-अलग पार्ट हैं। अपना-अपना पार्ट सभी को खेलना पड़ता ही है। सभी बाध्य हैं भगवान् के कानून से, परन्तु जो खेल के सामान को, खेल से होनेवाली आमदनी को अपनी मान लेता है, उस पर अधिकार करना चाहता है, अथवा अपना पार्ट ठीक नहीं खेलता यानी अकर्तव्य कर्म करता है, वह दण्ड का पात्र होता है। जो ठीक खेल खेलता है, तथा खेल के सामान, खेल के पात्र और खेल की आमदनी पर प्रभु का अधिकार समझता है, वह खेल चाहे किसी रस का हो—करुण हो या भयानक, सुन्दर हो या वीभत्स—वह सदा आनन्द में रहता है। उसका काम है अपने पार्ट को ठीक करना। धोखा या झूठ तब हो, जब वह मन से तो पार्ट करना चाहे नहीं और केवल ऊपर से करे। अर्थात् भगवान् के विधान के अनुसार जो जिसका पुत्र है उसे (इस स्टेज पर—संसार में) उसको ठीक पिता ही जानकर सच्चे मन से पुत्र का-सा बर्ताव ही करना चाहिए; स्त्री को पति के साथ पत्नी का, पति को पत्नी के साथ पति का, माता को पुत्र के साथ माता का, पुत्र को माता के साथ पुत्र का, इसी प्रकार सच्चे मन से

बर्ताव करना चाहिए। जब बर्ताव और मन एक हैं, तब धोखा और झूठ क्यों है ? बर्ताव और मन दोनों ही व्यवहार में हैं, अर्थात् स्टेज के खेल के लिए हैं। और व्यवहार में दोनों ही समान हैं। रही स्टेज के बाहर की बात—वास्तविक स्थिति की बात, सो वास्तविक स्थिति तो खेल है ही। खेल में वहीं तक सत्यता है, जहाँतक खेल से सम्बन्ध है। खेल के परे तो हम न पात्र हैं, न हमारा कोई नाता है। हमारा नाता तो केवल एक प्रभु से है, जिसका यह सारा खेल है।

या यों समझना चाहिए कि यह घर मालिक का—भगवान् का है, हम इसमें सेवक हैं। भगवान् ने नाना प्रकार के सम्बन्ध रचकर हमसे सेवा लेने के लिए इतने संबन्धियों को भेजा है। हमें यथायोग्य उनकी सेवा करनी चाहिए—भगवान् के भेजे हुए समझकर। उनकी सेवा से भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब उनकी सेवा में अवहेलना क्यों की जाय ? परन्तु उनकी सेवा करनी है भगवान् की सेवा के लिए ही। हमारा सम्बन्ध भगवान् से ही है—भगवान् के नाते से ही इनसे नाता है। इनकी सेवा इसी-लिए हमको आनन्द देती है कि इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान् कहें कि तुम्हें दूसरा काम दिया जायेगा, इनकी सेवा दूसरों को सौंपी जायगी तो बहुत ठीक है। हमें तो भगवान् का काम करना है न ? वे कुछ भी करावें। वे यहाँ रक्खें तो ठीक है, दूसरी जगह (और किसी योनि में) भेज दें तो ठीक है। जिनसे सम्बन्ध है, उनके बीच में रखें तो ठीक है, और उनसे अलग रक्खें तो ठीक है। घर उनका, घर की सामग्री उनकी, घर के आदमी उनके और हम भी उनके। वे जैसे चाहें उसका उपयोग करें। न भोग की इच्छा हो न त्याग की, न कोई अपना हो न पराया, न जीने में सुख हो न मरने में दुःख। हर बात के लिए वैसे ही तैयार रहना चाहिए, जैसे आज्ञाकारी सेवक अपने मालिक का हुक्म बजाने के लिए तैयार रहता है।

बस, मैनेजर बन जाय—मालिक नहीं। मालिकी का दावा छोड़ दे, ममत्व हटा ले, मालिक चाहे जहाँ रक्खें। इस दुकान के रुपये उस दुकान में भेजने की आज्ञा दें तो खुशी है, उस दुकान के रुपये यहाँ मँगवा लें तो खुशी है। यहाँ के किसी को भी बदली करके और किसी जगह भेज दें या किसी को बदली करके यहाँ बुला लें—दोनों में ही खुशी है। हमारी यहाँ से बदली कर दें तो भी खुशी है। हम भी उन्हीं के, सब दुकानें उन्हीं की, सब सामान-धन उनका और आदमी उनके। इस प्रकार संसार में रहने से एक तो अभिमान का नाश होता है, जो बहुत-से पापों की जड़ है तथा घर और घर के लोगों में ममता नहीं रहती, जो दुःखों को उपजाती है। याद रखना चाहिए, दुःख ममता से ही होता है। न मालूम कितने लोगों के रोज पुत्र मरते होंगे, कितनों के दिवाले निकलते होंगे, पर हम नहीं रोते। परन्तु जिसमें 'मेरापन' है, उसको कुछ भी हो जाय तो बड़ा दुःख होता है। मालिक का मान लेने पर ऐसी ममता नहीं रहती, क्योंकि सारी दुनिया ही मालिक की है। कोई कहीं रहे, रहेगा मालिक

की दुनिया में ही। पाप आसक्ति से होते हैं, मालिक का मान लेने पर आसक्ति भी नहीं रहती और बिना किसी तकलीफ के सावधानी के साथ संसार में कर्तव्यकर्म किया जाता है, इस से सेवारूप भजन भी होता है।

इस विषय को ठीक तरह से समझना चाहिए। यह ठीक समझ में आ जाने पर फिर किसी भी हालत में दुःख या अशांति नहीं हो सकती। जीवन-मृत्यु, मान-अपमान, लाभ-हानि, सुख-दुःख—सभी में मालिक की लीला, मालिक का हाथ, मालिक की प्रसन्नता, मालिक की रुचि, मालिक का विधान और उसी में अपना परम मंगल देखकर अपार आनन्द और विपुल शान्ति रहती है। कर्तव्य-कर्म तो मालिक की सेवा के लिए किये जानेवाले अभिनय के रूप में होता ही है। निरंतर एक ही उद्देश्य रहता है, जीवन एक ही लक्ष्य पर लग जाता है—स्थिर हो जाता है, वह है—भगवान् की प्रसन्नता, भगवान् का प्रेम, भगवान् की उपलब्धि। यही मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। भगवान् की उपलब्धि को छोड़कर जीवन का और कोई भी प्रयोजन नहीं होना चाहिए। हमारा प्रत्येक कार्य,प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक भावना, प्रत्येक विचारधारा निरंतर वैसे ही भगवान् की ओर अबाध गति से चलनी चाहिए, जिस तरह गंगा की धारा सारे विघ्नों को हटाती हुई अनवरत समुद्र की ओर बहती है। समस्त पदार्थ, समस्त भावना, समस्त सम्बन्ध भली-भाँति अर्पण हो जाने चाहिए भगवच्चरणों में। अपना कुछ भी न रहे, सब कुछ उनका हो जाय। जो कुछ उनका हो गया, वही सुरक्षित है, वही सफल है।

मन स्थिर करने के लिए वैराग्य की भावना तथा भजन के अभ्यास की जरूरत है। जबतक संसार में राग है, आसक्ति है, तबतक मन की चंचलता का मिटना बहुत कठिन है। संसार के बदले भगवान में राग उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए। पहले पहल तो ध्यान के लिए बैठने पर वे बातें याद आयंगी, जो और समय नहीं आतीं—फालतू बातें। परन्तु अभ्यास जारी रखने पर वे सब बातें चली जायेंगी। इसके लिए निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है।

सबसे सरल उपाय है भगवान के नाम का जप करना। मन लगे या न लगे, यदि श्रीभगवान के नाम का जप होता रहेगा तो अन्त में उसी से कल्याण हो जायगा—इस बात पर विश्वास करना चाहिए। साथ ही वैराग्य की भावना बढ़ानी चाहिए। भगवान के संबंध को छोड़कर जगत में जो कुछ भी है, अंत में दुःख देनेवाला ही है। जगत की, घर की, शरीर की सेवा करनी चाहिए—भगवान् के संबंध को लेकर ही। यदि भोगों के संबन्ध से जगत का सेवन होगा तो उससे दुःख ही उपजेगा, यह निश्चय समझना चाहिए। भगवान से रहित जगत—भोग जगत; 'दुखालय' ही है।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

२८. प्रसुप्त आत्मशक्ति को जगाइये

॥ श्रीहरिः ॥

प्रिय…………

गोरखपुर

सप्रेम हरिस्मरण ।

तुम्हारा एक पत्र पहले मिला था, फिर दूसरा आज मिला। उत्तर देने में मुझे सदा ही देर हो जाती है, स्वभाव-दोष है। तुम्हारे पत्रों को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा। तुम बहुत घबरा रहे हो, और निराश तथा हतोत्साह होकर मानो चारों ओर अन्धकार देख रहे हो। असफलता, विपत्ति और आधि-व्याधि में ऐसा होना स्वाभाविक है, परन्तु ऐसी बात वास्तव में है नहीं। मनुष्य को कभी हतोत्साह और निराश नहीं होना चाहिए। गिरे हुए उठते हैं, दुर्बल सबल होते हैं, तिरस्कृत सम्मानित होते हैं और चारों ओर अन्धकार देखनेवाले प्रकाश पाते हैं। यह प्रकृति का नियम है—कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल पक्ष आता ही है, रात के बाद दिन होता ही है। अतएव तुम इतना घबराओ मत। निराश होकर, सर्वथा अपने को अकर्मण्य मानकर महान् आत्मशक्ति का तिरस्कार न करो। नित्यसंगी, सर्वशक्तिमान और तुम्हारे हमारे अहैतुक प्रेमी परम सुहृद् भगवान् का अपमान न करो। भगवान् की घोषणा याद रक्खो—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

—(गीता १८/५८)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९/२२)

'मुझमें चित्त लगा लो, फिर मेरे प्रसाद से—अनुग्रह से सब कठिनाइयों से तर जाओगे। जो अनन्य पुरुष मेरी भली भाँति उपासना करते हुए मेरा अनन्य चिंतन करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तों का 'योगक्षेम' मैं (स्वयं) वहन करता हूँ।'

अतएव तुम घबराओ नहीं। यह कभी मत सोचो कि हम तो गिरे हुए हैं, गिरे ही रहेंगे, उठेंगे नहीं। यह सोचना ही आत्मा का और भगवान् का अपमान करना है। आत्मदृष्टि से कहा जाय तो जो आत्मा भगवान् शंकराचार्य, बुद्धदेव, जनक, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि में थी, वही तुम्हारे में है। सुप्त आत्मशक्ति को जाग्रत करना तुम्हारे हाथ है। भगवान् के बल पर निराशा, निरुत्साह, कायरता, दीनता को छोड़कर साधन में लगे रहो। आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास करो। जो मनुष्य आत्मशक्ति पर विश्वास करके काम में जी-जान से जुट जाता है—सफलता के बारे में कभी सन्देह नहीं करता, उसके लिए अपने आप ही सफलता का मार्ग सुन्दर, प्रकाशमय और कुशकंटकहीन बनता जाता है और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका अनुभव,

उसका निश्चय, उसकी कार्यकारी शक्ति, उसका ज्ञान, उसकी क्षमता, उसका साहस और उल्लास बढ़ता चला जाता है। परन्तु जो आत्मशक्ति में या भगवान् के बल में सर्वथा अविश्वास करके निराश होकर बैठ जाता है, कुछ भी करने में अपने को नितान्त असमर्थ समझता है, उसको ब्रह्मा भी उठा नहीं सकते। वह विषादमय जीवन ही बिताता है। सब कुछ करने में समर्थ होकर भी वह सब प्रकार से वंचित रह जाता है।

'हारिये न हिम्मत विसारिये न राम नाम।' राम की कृपा से और आत्मा की शक्ति से क्या नहीं हो सकता ? इनके लिए कोश में 'असम्भव' शब्द ही नहीं है। तुम अपने को अब किसी काम का नहीं मानते हो, सब ओर से आश्रय और सहानुभूति से रहित मानते हो, बस, तुम्हारे विषाद का यही कारण है। निर्धनता से विषाद नहीं होता, वह तो आत्मग्लानि से ही होता है। तुम्हारे शोकरहित होने की शक्ति तुम्हारे साथ भगवान् ने पहले से ही दे रखी है, वह नित्य तुम्हारे साथ रहती है। तुम्हारे अन्दर ही है। उसके रहते हुए तुम अपने को निराश्रय और सहानुभूति से रहित क्यों मानते हो ? वही सच्चा और पक्का आश्रय है, जो बुरी से बुरी हालत में भी साथ नहीं छोड़ता; भय, विभीषिका, वियोग, विषाद और विनाश में भी जो साथ ही रहता है। तुम्हारे प्रत्येक दुःख में दुःख का अनुभव करता रहता है, उस महा-महिम नित्य आश्रय को विसार कर ही तुम दुःखी हो रहे हो। तुम इसी अवस्था में आज ही सुखी हो सकते हो यदि उसे देख पाओ—उसका अनुभव कर सको। तुमने मेरे लिए लिखा कि 'आप सर्वशक्तिमान हैं, सब जगह आप का निवास है, यह हमारा पक्का विश्वास है। हम अब केवल आप के ही शरण हैं, आप को ही अपने को अर्पण करते हैं। हमारा रास्ता आप ही तय कीजिये।' सो भैया! यह तुम्हारा पागलपन है। आत्मा की दृष्टि से मुझे सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी मानते हो तब तो ठीक ऐसे ही तुम भी हो। अन्य किसी दृष्टि से मानते हो तो तुम्हारा सर्वथा भ्रम है, इस भ्रम को तुरन्त छोड़ दो, इससे कोई लाभ न होगा। उन परमात्मा के शरण जाओ, जो वस्तुतः सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वलोकमहेश्वर होते हुए ही तुम्हारे-सबके परम सुहृद् हैं। अपना सब कुछ उन्हीं के अर्पण कर दो। अपने सुख-दुःख भी उन्हें सौंप दो। सब अर्पण करनेवाले के पास दुःख, निराशा, उदासी, अन्धकार—ये सब कहाँ रह जायेंगे ? ये रहेंगे तो सब अर्पण कहाँ हुआ ? अतएव इन सबको भी उन्हें दे दो। कह दो—अच्छा-बुरा सब तुम्हारा। जब हमीं तुम्हारे हो गये, तो इस अपनी बुराई को हम कहाँ रखें ? वे दयालु प्रभु तुम्हारे अच्छे-बुरे सारे उपहारों को अपनी कृपा की नजर से परम पवित्र और परम दिव्य बनाकर ग्रहण कर लेंगे। उनकी दया पर विश्वास करो। समस्त बल, समस्त ऐश्वर्य, समस्त श्री, समस्त धर्म, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्य के वे भण्डार हैं और अपने सारे ऐश्वर्य से, सारे माधुर्य से, सारी शक्ति

से तुम्हें अपनाने को सदा तैयार हैं। उनकी शरण जाओ, वे तुम पर अपना दिव्य-अमृतकलश उँडेल कर तुम्हें निहाल कर देंगे। घबराओ नहीं, निराश न होओ; वे तुम्हारे हैं, इस बात पर पूर्ण विश्वास करो और अपने भविष्य को उज्जवल—परम-उज्ज्वल देखो। उनकी कृपा से तुम्हारा भविष्य इतना उज्ज्वल हो सकता है, जितने की तुम कल्पना भी नहीं कर सकते।

यदि तुम्हें मुझपर कुछ भी विश्वास है तो तुम मेरी उपर्युक्त बातों पर विश्वास करके अनन्त आत्मशक्ति पर और परम सुहृद् भगवान् की अपार कृपा पर विश्वास करके शोक, विषाद, निराशा और निरुत्साह को छोड़कर उनके चरणों का स्मरण करते हुए निश्चयपूर्वक उनकी शरण की ओर बढ़ चलो। अगर तुमने ऐसा किया तो मैं भी तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल ही नहीं, उज्ज्वलतम हो सकता है और उसकी प्रभा के द्वारा बहुत दूर-दूर के लोग प्रकाश पा सकते हैं। हमेशा भगवान् का चिन्तन करो। चित्त में प्रसन्न रहो और आनन्दपूर्वक आगे बढ़ते चलो। शुद्ध नीयत से कर्म करते रहो। भगवान् सब आप ही ठीक करेंगे।

तुम्हारा
हनुमानप्रसाद पोद्दार

•

२९. आठ आध्यात्मिक प्रश्न

॥ श्रीहरिः ॥

प्रिय श्री………… गोरखपुर

सप्रेम हरिस्मरण।

आप का कृपापत्र मिला। आपने जो प्रश्न किये हैं, वे बहुत विचारपूर्ण हैं। मैं यथामति उनपर अपना विचार लिखने का प्रयत्न करता हूँ। यदि इससे आप को कुछ सन्तोष हो सके तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। आप के प्रश्न अंग्रेजी में हैं। इसलिए उनका हिन्दी अनुवाद देते हुए उसके साथ ही अपना उत्तर लिखता हूँ—

प्रश्न १—निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों का क्या तात्पर्य है—

१. अचल सत्य।
२. चल सत्य।
३. ईश्वर।
४. मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान होना।
५. आत्म-प्रकाश।
६. अन्तःप्रज्ञा।
७. अनुभूति।

उत्तर—(१-२) अचल सत्य और चल सत्य से सम्भवतः आप का तात्पर्य पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य से है। इनके स्वरूप का यदि सूत्ररूप से उल्लेख किया जाय तो पारमार्थिक सत्य तो सत्य के अपने स्वरूप को कहते हैं, और व्यावहारिक सत्य उसे कहते हैं, जिस रूप में उसीको हम अनुभव करते हैं। वास्तव में परमार्थ-सत्य ही अपनी अचिंत्य मायाशक्ति से इस विश्व-प्रपंच के रूप में भास रहा है। हम भी उसी की लीलाशक्ति के एक क्षुद्र विलास हैं। हमारे मन और बुद्धि, जो उसका अनुभव करने के लिए उत्सुक हैं, वे भी इस व्यावहारिक चेतना के ही तो क्षुद्र अणु हैं। अतः इनके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है, वह व्यावहारिक सत्य ही है—भले ही वह ऊँचो से ऊँची और अत्यन्त अलौकिक वस्तु हो। व्यावहारिक-सत्य परमार्थ-सत्य में अध्यस्त है और अध्यस्त वस्तु अपनी सत्ता रखते हुए अपने अधिष्ठान का अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकती। अतः इन मन, बुद्धि आदि से परमार्थ-सत्य के स्वरूप का आकलन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता; वह स्वतः-सिद्ध और स्वानुभूतिमात्र है। फिर भी यह जो कुछ है, उसी का प्रकाश है—इस रूप में भी क्रीड़ा उसी की हो रही है। अतः तत्वज्ञ पुरुष इस व्यावहारिक सत्य में भी अपनी विवेकवती दृष्टि से उसी की झाँकी कर लेते हैं।

३. यद्यपि परमार्थ-सत्य और ईश्वर दो नहीं हैं, परन्तु 'ईश्वर' यह संज्ञा व्यावहारिक है। जो ऐश्वर्यवान् हो, उसे 'ईश्वर' कहते हैं। इस प्रकार राजा, लोकपाल, दिक्पाल और प्रजापति आदि भी 'ईश्वर' शब्द से कहे जा सकते हैं। किन्तु उनका ऐश्वर्य परिमित है, इसलिए उनमें इस पद का औपचारिक प्रयोग होता है। निरपेक्ष ईश्वर वही हो सकता है, जिसका ऐश्वर्य पूर्ण हो, समग्र हो; ऐसी कोई वस्तु न हो, जो उसके ऐश्वर्य से बाहर हो। ऐसा ऐश्वर्य तो उस 'परमार्थ सत्य' का ही है, जिसमें यह निखिल प्रपंच अध्यस्त है। अतः इसका अधिष्ठान होने से उसे ही परमार्थ-सत्य कहा जाता है और इसका स्वामी होने से वही ईश्वर है।

४. ईश्वर को समग्र ऐश्वर्यवान् जान लेना ही ईश्वर का ज्ञान है। परन्तु यह ज्ञान अपरोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरता का ज्ञान होने के लिए उनके सारे ऐश्वर्य का भी ज्ञान होना चाहिए। किन्तु अघटन-घटना-पटीयसी माया की अचिन्त्य-शक्ति और अनन्तलीला का पूर्ण ज्ञान होना किसी भी जीव के लिए सम्भव नहीं है। किसी बड़े राजा के सम्पूर्ण वैभव का ठीक-ठीक ज्ञान होना भी प्रायः असम्भव-सा है, फिर समग्र ऐश्वर्यवान् श्रीभगवान् के वैभव की तो बात ही क्या है? अतः ईश्वर-ज्ञान से अपने शास्त्रों में ईश्वर के स्वरूप का ही ज्ञान माना गया है। ईश्वर ने अपने स्वरूप को अपनी ही प्रकाशभूता माया और माया के कार्यों द्वारा ढक-सा रक्खा है; अतः उसका ज्ञान इस माया के पर्दे को हटाने पर ही हो सकता है। इसलिए भगवत्कृपा-जनित ज्ञान के प्रकाश से माया की निवृत्ति होने पर जिसका अनुभव होता है,

वही ईश्वर का स्वरूप है; इसी को वेदान्त की भाषा में 'ब्रह्म' कहते हैं और इसी से उसे ईश्वर-ज्ञान न कहकर 'ब्रह्मज्ञान' शब्द से जाना जाता है।

५,६,७. आत्मप्रकाश, अन्तःप्रज्ञा और अनुभूति, जिन्हें आप ने क्रमशः Revelation, Intuition और Realization शब्दों से कहा है, वास्तव में अनुभव के ही तीन प्रकार हैं, परन्तु इनके स्वरूप में भेद अवश्य है। ये तीनों ही अनुभव की चरम अवस्थाएँ हैं; किन्तु इनमें से प्रत्येक एक विशेष प्रकार के अधिकारी की अपेक्षा रखता है। आत्मप्रकाश भगवत्कृपासाध्य है। जो साधक सब प्रकार के साधनों का आश्रय छोड़कर भगवान् को आत्मसमर्पण कर देता है, अथवा किसी अन्य कारण से जिसपर भगवान स्वयं कृपा करते हैं, उसके प्रति वे अपने स्वरूप या ज्ञान को प्रकट कर देते हैं।

यही 'आत्मप्रकाश' जब साधक का अपना कोई संकल्प न होने पर भी संस्कार-वश अकस्मात् होता है तो इसे 'अन्तः प्रज्ञा' या 'प्रातिभज्ञान' कहते हैं। कई बार यह साधक के जीवन के प्रवाह को बदलने के लिए भी होता है। ऐसा करके एक प्रकार से भगवान् स्वयं ही उसका पथ-प्रदर्शन कर देते हैं। 'अनुभूति' पुरुषार्थ साध्य है। इसमें भी भगवत्कृपा की आवश्यकता तो रहती है, किन्तु प्रधानता साधक के प्रयत्न की ही होती है। यहाँ पहुँचकर ही उसके कर्तव्य की समाप्ति होती है।

प्रश्न २. जब हम कहते हैं कि वेद ईश्वरकृत हैं तो इसका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या होता है ? क्या यही कि वे सर्वथा निर्दोष और चरमज्ञानरूप हैं ? (क्या यह निर्दोषता चारों वेदों के विषय में समानरूप से अभिप्रेत है, अर्थात् उनमें जितना ज्ञान और विषय निहित हैं, उन सभी के लिए कही जा सकती है अथवा किसी विशेष अंश या मंत्र के लिए ही ?)

उत्तर—वेदों को ईश्वरकृत नहीं, बल्कि 'अपौरुषेय' कहा जाता है। योगदर्शन में ईश्वर को भी पुरुषविशेष कहा है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' (१/२४)। अतः ईश्वरकृत मानने पर उन्हें अपौरुषेय नहीं कहा जायेगा। वास्तव में बात ऐसी है कि जिस प्रकार इस अनादि प्रपंच का अधिष्ठान और कर्ता अनादि है, उसी प्रकार इसका ज्ञान भी अनादि है। अनादि ज्ञेय का ज्ञान भी अनादि होना ही चाहिए। परन्तु प्रत्येक अनादि वस्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार से रहती है। इन्हें ही उसकी सृष्टि और प्रलय अथवा आविर्भाव और तिरोभाव कहते हैं। इसी प्रकार वेदों का भी आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है; किन्तु जब-जब उनका आविर्भाव होता है, तब-तब उनके वर्णों की आनुपूर्वी वही रहती है और उनके द्रष्टा ऋषिगण भी वे ही रहते हैं। जिस प्रकार साधारणतया रात्रि और दिन अथवा ऋतुओं के परिवर्तन का क्रम पुनः एक ही रूप में होता दिखाई देता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय के क्रम में एक नियत समानता रहती है। अतः वेदों के आविर्भाव

का क्रम भी एक-सा ही रहता है। यह नियम केवल मंत्र-संहिता के लिए ही नहीं, बल्कि वैदिक* इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यानों के लिए भी है; जैसा कि यह श्रुति कहती है—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि' (बृह० २।४।१०)। इस श्रुति में वेद, उपनिषद् और इतिहास आदि सभी को इस परम पुरुष का श्वास बताया गया है। जिस प्रकार श्वास बिना पौरुष-प्रयत्न के चलता रहता है, उसी प्रकार ये सब भी बिना पौरुष-प्रयत्न के ही अभिव्यक्त होते हैं। इसी से इन्हें अपौरुषेय कहा गया है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने भी कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर ही इनका साक्षात्कार किया है, ये उनकी बुद्धि से प्रसूत नहीं हैं, इसलिए इनकी 'अपौरुषेय' संज्ञा उचित ही है।

प्रश्न—३. यदि वेद ईश्वरकृत हैं तो ईश्वर द्वारा इनके ज्ञान के आविर्भाव और प्रसार का तथा मनुष्य द्वारा उसके ग्रहण का क्या क्रम है?

प्रश्न—४. क्या यह ज्ञान का प्रसार केवल एक ही बार होता है या इसकी पुनरावृत्ति भी होती रहती है?

प्रश्न—५. यदि इसकी पुनरावृत्ति होती है तो क्या इनके द्वारा व्यक्त होनेवाला ज्ञान अपने विस्तार या स्वरूप की दृष्टि से समान ही रहता है?

उत्तर—इन सब प्रश्नों का उत्तर प्रसंगवश पहले आ चुका है, इसलिए उसकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वेदों का आविर्भाव सृष्टि के आरम्भ के समय प्रत्येक कल्प में होता रहता है और उसके तो ज्ञान ही नहीं, वर्णों के क्रम में भी समानता ही रहती है। यही शास्त्रों का सिद्धान्त है।

प्रश्न—६. यदि समान ज्ञान की ही पुनरावृत्ति हो सकती है तो चार वेदों को ही विशेष महत्त्व और प्रधानता क्यों दी जाती है?

उत्तर—वेदोक्त ज्ञान का भी किसी अधिकारीविशेष को स्वयं अनुभव हो तो सकता है; किन्तु उसे जो अनुभव हुआ है, वह वेदोक्त है या नहीं, इसका निश्चय कैसे होगा? साधन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसमें साधक के जन्मान्तर के संस्कार, जीव

* श्रौत इतिहासादि का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए—इतिहास=उर्वशी-पुरुरवा-संवादादि कथाभाग, पुराण='असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि पूर्ववृत्त, विद्या=देवजनविद्या (नृत्यगीतादिशास्त्र), उपनिषद='प्रियमित्येवोपासीत' इत्यादि उपासना, श्लोक='यदेते श्लोकाः' इत्यादि ब्राह्मणभाग के मंत्र, सूत्र='आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि वस्तु के संग्राहक वाक्य, अनुव्याख्यान=मंत्रों के विवरण और व्याख्यान=अर्थवाद। इस प्रकार यह आठ प्रकार का ब्राह्मण चारों भाग ही है। अतः मंत्र संहिता और सम्पूर्ण ब्राह्मण अपौरुषेय ही हैं।

में स्वाभाविक रूप से रहनेवाला संकोच, पक्षपात आदि दोषों के कारण प्रायः अपूर्णता ही रहती है। किन्तु अपनी अपूर्ण प्रज्ञा से वह उसी को पूर्ण मान बैठता है। इसलिए उसके ज्ञान को श्रुति की कसौटी पर परखना होता है। वह अपौरुषेय और नित्य ज्ञान होने के कारण इन दोषों से रहित है। इसलिए जो ज्ञान उसके अनुकूल होता है, वही प्रामाणिक माना जाता है।

प्रश्न—७. क्या मनुष्य के द्वारा आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति का अर्थ वही है, जो कि ईश्वर के द्वारा उसके प्रति सत्य के आविर्भाव करने का है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर प्रथम प्रश्न खण्ड ५, ६, ७ के उत्तर में आ गया है। वहाँ जो बात कही गयी है, उसके अनुसार इन दोनों प्रकार के अनुभवों के साधक और क्रम में तो भेद है, किन्तु स्वयं अनुभव में भेद नहीं होता। साधक की प्रकृति के भेद से अनुभव के भी स्वरूप या आस्वादन में भेद हो सकता है, किन्तु वस्तुतः तत्व एक ही है। अतः दोनों ही प्रकार के अनुभवों से उन्हें पूर्ण कृतकृत्यता और शान्ति का बोध हो सकता है।

प्रश्न—८. क्या यह सच नहीं है कि जहाँतक मनुष्य की गति है, उसके लिए चरम और सर्वथा निर्दोष सत्य को प्रस्तुत करना असम्भव है, क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क विकासशील है और विकास किसी भी अवस्था में चरम कोटि का या सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता?

उत्तर—मनुष्य किसी भी अवस्था में चरम और सर्वथा निर्दोष सत्य को प्रस्तुत नहीं कर सकता, यह बात तो बिल्कुल ठीक है, क्योंकि जिसमें स्वयं अपूर्णता है, वह पूर्णसत्य का प्रतिपादन कैसे कर सकता है; परन्तु मेरे विचार से यदि मानव-मस्तिष्क को विकासशील न कहकर 'परिवर्तनशील' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में उसकी आयु के साथ कुछ विचारों का विकास होता है तो किन्हीं-किन्हीं गुणों का ह्रास भी हो जाता है। किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों का तो ऐसा मन्द भाग्य होता है कि उनका मस्तिष्क दिनों-दिन और भी विकृत और कुण्ठित होता जाता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं मालूम होता है कि मनुष्य का मस्तिष्क 'विकासशील' है। जो बात व्यक्तियों में देखी जाती है, वही जातियों और देशों के विषय में भी लागू है। मस्तिष्क ही नहीं, प्रकृति के सारे ही विकार परिवर्तनशील ही कहे जा सकते हैं, विकासशील नहीं। एक मोटी बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ अपने जन्म के बाद जैसे बढ़ना आरम्भ करता है, वैसे ही वह अधिकाधिक अपने नाश के समीप भी जाने लगता है। ह्रास की चरम अवस्था ही विनाश है। अतः यदि उसकी वृद्धि में केवल विकास ही निहित होता तो उसका अन्तिम परिणाम नाश नहीं होना चाहिए था। इसलिए प्रकृति के सारे ही कार्य

विकासशील नहीं, परिवर्तनशील ही हैं। हाँ, अन्त में नष्ट होनेवाले होने से उन्हें विनाशशील तो कहा जा सकता है।

शेष भगवत्कृपा।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

पोद्दारजी के ये पत्र उनके निर्मल तथा संवेदनशील हृदय का यथार्थ प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। जिज्ञासुओं की उद्विग्नता के साझीदार होकर, उन्हें सभी प्रकार से अपना कर और उनके विश्वासपात्र बनकर ही उनकी अंतर्वेदना समझी जा सकती है और उसका उपचार किया जा सकता है, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से वे भलीभाँति अवगत थे। इसलिए उनके पत्रों की भाषा सहानुभूति-प्लावित, सरल तथा सुबोध होती थी। प्रश्नकर्त्ता के बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखकर उत्तर देना उनकी उल्लेखनीय विशेषता थी। पांडित्य अथवा अध्यात्मज्ञान के घटाटोप से आर्तजनों को अभिभूत करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। केवल उपदेश के लिए उपदेश देना उनकी दृष्टि में आत्म-प्रवंचना एवं बौद्धिक अनाचार था।

इस गृहस्थ योगी के शब्दों में जीवनव्यापी साधना की त्रिपथगा अलक्षित रूप से प्रवहमान रहती थी। उनकी मर्मस्पर्शी प्रभावोत्पादकता का यही रहस्य था। कटि-भृंगन्याय से अपने प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क में आनेवालों को आत्मवत् बना लेने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। किन्तु सान्निध्य का अवसर प्रारब्धानुसार प्राप्त होता था और उसका लाभ भी निष्ठा के अनुपात से ही उठाया जा सकता था। पत्राचार तथा साक्षात् सम्पर्क द्वारा विभिन्न प्रदेशों, धर्मों, सामाजिक वर्गों तथा स्थितियों के असंख्य लोग उनके इस असीम शब्द-लीला-राज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर कृतकृत्य हो गये।

अध्यात्म-साधना

पोद्दारजी क्षणजन्मा महापुरुष थे। उनकी अध्यात्म-साधना की विकास-प्रक्रिया में पूर्वजन्म के संस्कारों के अतिरिक्त घर का सात्त्विक वातावरण, स्नेहमूर्ति दादी रामकौर देवी की धार्मिक-निष्ठा एवं प्रगाढ़ आस्तिकता तथा स्थानीय संत-महात्माओं के सान्निध्य और कृपा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सत्संग तथा धर्मचर्चा में दादी की गहरी रुचि थी। उस समय रतनगढ़ में मोतीनाथजी (टूटिया महाराज), लक्ष्मीनाथजी, मंगलनाथजी एवं बखन्नाथजी अपनी अलौकिक सिद्धियों के लिए विख्यात थे। ये सभी नाथपंथ के अनुयायी थे। वैष्णव भक्त के रूप में स्थानीय निम्बार्कपीठ के आचार्य मेहरदास की बड़ी प्रसिद्धि थी। रतनगढ़ के निवासकाल में दादी रामकौर देवी इन संतों की यथोचित सेवा करती थीं, इसलिए सभी उन पर कृपाभाव रखते थे। सालासर के प्रसिद्ध हनुमानजी उनके इष्टदेव थे। वे उनका स्मरण करती हुई नाम-जप के साथ नित्य रामचरितमानस और हनुमान-कवच का पाठ करती थीं। पोद्दारजी पर दादी के इस सात्त्विक आचार-विचार का गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त दादी द्वारा पौत्र-प्राप्ति हेतु आयोजित आध्यात्मिक अनुष्ठानों एवं महात्माओं का आशीर्वादलाभ अलक्षित रूप से पोद्दारजी के मानस को अध्यात्मोन्मुख करने में सहायक हुआ।

बाल्यावस्था में ही महात्मा बखन्नाथ के संसर्ग से इनकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर मुड़ गयी। दादी रामकौर देवी के साथ रतनगढ़वास के समय ये प्रतिदिन उनके दर्शनार्थ उपस्थित होते थे। महात्माजी सदाचार, भक्ति, वैराग्य एवं नाम-जप का उपदेश करते थे। बेर खाने के व्याज से पूरी गीता यहीं कंठस्थ हुई, जिसने इनके भावी जीवन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। बाबा बखन्नाथ के सान्निध्य में ये आठ वर्ष की आयु तक रहे। नाथपंथी साधु होने से वैराग्य, योग और वेदान्त ही उनकी साधना के मुख्य अंग थे, किन्तु इनकी रुचि देखकर वे भक्तिसाधना पर ही अधिक उपदेश करते थे। साम्प्रदायिक दुराग्रह से नाथजी सर्वथा मुक्त थे।

बचपन से ही पोद्दारजी की प्रकृति गम्भीर थी—एकान्तप्रियता, चंचल एवं उद्दण्ड प्रकृति के समवयस्क बालकों के संग का त्याग तथा खेल-कूद छोड़कर पढ़ाई-लिखाई में अधिक मन लगाना इनका स्वभाव बन गया था। दादी रामकौर देवी ने पौत्र की इस भगवन्मुखी प्रवृत्ति को उचित दिशानिर्देश देने के विचार से उसे स्थानीय निम्बार्कपीठ के आचार्य बाबा मेहरदास जी के प्रशिष्य श्रीव्रजदासजी से सं० १९५७ में वैष्णवी दीक्षा दिला दी—गले में तुलसीमाला पहनायी गयी। मन्त्रोपदेश ग्रहण करने के पश्चात् दादी के संरक्षण में इनकी क्रियात्मक दीक्षा प्रारम्भ हुई। हनुमत्कवच एवं हनुमानचालीसा

का पाठ हनुमानप्रसाद की दिनचर्या का एक अनिवार्य अंग बन गया। धीरे-धीरे दादी से इन्होंने सूर्य, गणपति, देवी तथा शिव की स्तुतियाँ भी सीख लीं। नवरात्र के अवसर पर प्रतिवर्ष घर में दुर्गासप्तशती का सांगोपांग अनुष्ठान और देवी-भागवत का पाठ पूरे विधि-विधान के साथ आयोजित होता था। स्तोत्रपाठ तथा धार्मिक अनुष्ठानों में प्रगाढ़ आस्था के बीज बालक हनुमानप्रसाद के मानस में इसी स्थिति में आरोपित हुए।

बारह वर्ष की अवस्था में पोद्दारजी व्यापार-कार्य में पिता की सहायता करने के उद्देश्य से कलकत्ता चले आये। इनकी नियमित अध्यात्म-चर्या यहाँ भी अबाध रूप से चलती रही। पिता श्रीभीमराज सात्त्विक वृत्ति के व्यक्ति थे, अतएव धर्माचरण में दादी के साथ पिता का निर्देशन भी मिलता रहा। गीता तथा 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ और रामायण-महाभारत की कथाओं का श्रवण दैनिक-चर्या थी। बीच-बीच में महात्माओं का सत्संग भी होता रहता था। इस प्रकार पिताजी की देख-रेख में पोद्दारजी का जीवन व्यवस्थित रूप से चलने लगा। यहाँ इनके मुख्य काम थे—दूकान देखना, साधु-महात्माओं का सत्कार, दादी और पिता के निर्देशानुसार साधना करना, समाजसेवा और स्वाध्याय। ये अहर्निश इन्हीं कार्यों में व्यस्त रहते थे। न कहीं आते-जाते थे और न किसी के साथ बैठकर व्यर्थ की बातों में समय नष्ट करते थे। घर पर आये दिन साधु, महात्मा, पण्डित और विद्वान् पधारा करते थे। उनकी सेवा का दायित्व इन्हीं पर रहता था।

कलकत्ता के इस निवास-काल में ही सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दका से इनकी प्रथम भेंट हुई। सं० १९६७-६८ में गोयन्दकाजी का कलकत्ता आगमन हुआ। संयोगवश अबकी बार उनका सत्संग पगयापट्टी में श्री हरिबख्शजी साँवलका की दूकान पर आयोजित हुआ। यह स्थान हनुमानप्रसाद की दूकान के सामने ही पड़ता था। बद्रीदास और केदारनाथ हनुमानप्रसाद के यहाँ दलाल थे। उनसे इन्हें इसका पता पहले ही चल गया था। अतः दूकान का काम निपटा कर ये नित्य सेठजी के सत्संग में जाने लगे। श्रीगोयन्दकाजी के प्रेमपूर्ण व्यवहार, मौलिक-चिन्तन तथा निर्दम्भ स्वभाव को देखकर ये मुग्ध हो गये। इसके बाद सत्संग के लिए ये सेठजी को अपनी दूकान पर भी लाने लगे। यद्यपि इस समयतक हनुमानप्रसाद के मस्तिष्क में राजनीतिक विचारों का घोर झंझावात आरम्भ हो गया था, फिर भी सेठजी के सत्संग में इन्हें कुछ ऐसा आकर्षण, ऐसा रस मिलने लगा कि उधर से समय निकालकर ये उनके कलकत्ता आने पर समागम का लाभ उठाने लगे।

इन्हीं दिनों पोद्दारजी का सम्पर्क बंगाल के गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य श्री रसिक मोहन विद्याभूषण[1] से हुआ। परिचय शीघ्र ही घनिष्ठता में परिणत

१. इनका जन्म बंगाल के बीरभूम जिले के एकचका ग्राम में हुआ था। इन्होंने किसी स्कूल या कालेज में शिक्षा नहीं पायी थी। घर पर एक मराठी पण्डित रहते थे, उन्हीं से पाणिनीय

हो गया। इनके मानस में राधापरत्व की भावना प्रतिष्ठित करने में इन महाशय का अपूर्व योगदान रहा है। चैतन्य-मत के साहित्य और गौड़ीय-वैष्णव-साधना का रहस्य आत्मसात् करने में विद्याभूषणजी का सान्निध्य विशेष सहायक हुआ। इससे अपनी

व्याकरण और अन्य शास्त्र पढ़े थे। लिडिस्टान नामक एक विदेशी पण्डित के घर पर ही इन्होंने अंग्रेजी सीख ली थी। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के प्रोत्साहन से इन्होंने साहित्य और दर्शन से सम्बद्ध महत्वपूर्ण ग्रन्थों का एक विशाल पुस्तकालय स्थापित कर लिया था।

सत्रह वर्ष की अवस्था में पितृ-वियोग हो जाने के कारण इनके जीवन में एक विशेष परिवर्तन आया। ये पूर्व बंगाल के ढाका शहर में जाकर दुखी गरीबों की सेवा में लग गये। अभाव-ग्रस्त रोगियों की सेवा के लिए चिकित्साशास्त्र के सामान्य ज्ञान की आवश्यकता थी। अतः ये ढाका से कलकत्ता वापस आये और किसी प्रकार मेडिकल कालेज में प्रवेश ले लिया। साथ ही साथ पुस्तकालय से संस्कृत की पुस्तकें लेकर भाषा का भी अभ्यास कर लिया।

इसी समय महात्मा शिशिरकुमार घोष ने इनको गौरांग-साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा दी। कुछ ही दिनों में ये उसके निष्णात विद्वान् हो गये और इस विषय पर ये 'विष्णुप्रिया,' 'आनन्दबाजार' आदि पत्रिकाओं में लेख लिखने लगे। फिर ग्रन्थ-लेखन का क्रम चला। रूप-सनातन शिक्षामृत, श्रीराय रामानन्द, श्रीकृष्णमाधुरी, गंभीरा में श्रीगौरांग, श्रीगोपी-गीता, श्रीनाममाधुरी, चण्डीदास, विद्यापति, जगन्नाथवल्लभ, अद्वैतवाद, आनन्द-मीमांसा, आत्मनिवेदन, श्रीगीतगोविन्द आदि मौलिक तथा अनूदित वैष्णवग्रन्थों की रचना से ये वैष्णव-जगत् के सर्वमान्य विद्वान माने जाने लगे। इसके फलस्वरूप अखिल भारत वैष्णव सम्मेलन ने इन्हें प्रयाग-अधिवेशन का सभापति मनोनीत कर अपने को गौरवान्वित किया।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ से इनकी अत्यन्त घनिष्ठता थी। एकबार आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ ये उनसे मिलने गये। बातें करते-करते बहुत देर हो गयी। विदा होते समय इन्होंने कहा, 'इतना समय बीत गया है, इसका तो पता ही नहीं था। सचमुच हम न तो 'काल' को ही जानते हैं और न 'काली' को ही। हम तो वैष्णव हैं, कहीं कोई जान या अनजान में भाव (प्रेम) के घर में अपराध करेंगे तो प्रेम के ठाकुर हमें कभी क्षमा नहीं करने के। बस, यह अपराध कभी न हो।' रवीन्द्र बाबू ने उत्तर में कहा—'विद्याभूषणजी! स्वार्थी मनुष्यों की भाँति केवल अपने ही लिए यह प्रार्थना न करें, अपितु हमारे लिए और सारे जगत के लिए भी यही प्रार्थना करें। भाव के घर में कोई अपराध न करे। जगत के सारे अपराध क्षम्य हैं, पर इस अपराध से कहीं छुटकारा नहीं।'

सौ वर्षों से अधिक की आयु भोग कर इन्होंने आदर्श जीवन बिताने का पथ दिखलाया है। ये मधुर भक्तिमार्ग के उच्चश्रेणी के सिद्धपुरुष थे, पर कर्मों की अवहेलना नहीं करते थे, गृहस्थ होते हुए भी अपना जीवन संन्यासी की तरह बिताते थे। इनके पुत्र और स्त्री की मृत्यु छोटी अवस्था में ही हो गयी थी। इन्होंने अपनी भक्तिप्लावित दार्शनिक प्रतिभा से वैष्णवजगत की जो सेवा की है, वह अनेक दृष्टियों से आदर्श थी। साधनामय जीवन व्यतीत कर इन्होंने आराध्य की नित्यलीला में प्रवेश का सौभाग्य प्राप्त किया।

अध्यात्म-साधना के दिशानिर्धारण में पोद्दारजी को नयी दृष्टि मिली। आध्यात्मिक जिज्ञासा के अंकुर पोद्दारजी के मानस में बाल्यावस्था से ही विद्यमान थे। बचपन से ही अंतःप्रेरणा से इन्होंने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के साधकों और उनकी साधना-पद्धतियों की सैद्धान्तिक जानकारी प्राप्त करने के साथ ही तदनुकूल अभ्यास भी किया। तारायंत्र की साधना इसी क्रम में हुई। इसका सुयोग किस प्रकार घटित हुआ इसकी अपनी कहानी है।

उन दिनों कलकत्ता में शरत् बाबू नाम के एक डॉक्टर की बड़ी ख्याति थी। वे होमियोपैथी तथा जड़ी-बूटी के अतिरिक्त तंत्रविद्या के भी ज्ञाता और साधक थे। वस्तुतः उनकी चिकित्सा-पद्धति की असाधारण सफलता का यही रहस्य था। चिकित्सा के साथ ही अध्यात्म-क्षेत्र में भी उनकी ख्याति से आकृष्ट होकर पोद्दारजी ने उनसे संपर्क स्थापित किया और कुछ ही दिनों में घनिष्ठता स्थापित कर ली। पहले उन्होंने साधनापूर्व की संयम-विधि बतायी, जिसमें ब्रह्मचर्य-पालन, खान-पान में संयम तथा निष्ठा के साथ नाम-जप मुख्य था। उसके पश्चात् अपनी विशिष्ट तांत्रिक-साधना का ज्ञान कराया। उनके निर्देशन में इन्होंने कुछ दिनों तक उसका विधिपूर्वक अभ्यास किया। बंगीय अध्यात्म-साधकों के सम्पर्क में इनकी तंत्रविद्या में रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। संयोग से विख्यात तांत्रिक वामाखेपा के शिष्य तारकबाबू से इनका सम्पर्क हो गया। उन्होंने इन्हें तारादेवी की उपासना सिखायी। इसमें तारायंत्र की साधना प्रमुख थी। उक्त साधना का रूप किंचित् राजसी था। उसमें मांस-मदिरा आदि का प्रयोग अनिवार्य था। पोद्दारजी की इन पदार्थों से स्वाभाविक अरुचि थी। तारकबाबू लाख समझाते थे कि यह सब तुम्हें माँ के लिए करना है, किन्तु यह बात हनुमानप्रसाद के गले के नीचे नहीं उतरी। देवी की पूजा में इन द्रव्यों को छोड़कर ये अन्य सभी पदार्थों का प्रयोग कर लेते, मदिरा के स्थान पर शरबत से काम चल जाता और मांस का स्थान शाकाहार पूरा करता था। साधन करते-करते इन्हें तारादेवी का ध्यान होने लगा और उनकी मुख-मुद्रा का आभास भी मिलने लगा, किन्तु राजनीतिक सक्रियता के बढ़ जाने से इसका क्रम बीच में ही टूट गया।

क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेने के कारण पोद्दारजी को अंग्रेजी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। फलस्वरूप इन्हें राजद्रोह के अपराध में १६ जुलाई, १९१४ ई० को गिरफ्तार कर कलकत्ता के अलीपुर जेल में बंद कर दिया गया। आत्मनिष्ठ विप्लववादी-विचारधारा में निष्णात होने से जेलयात्रा इन्हें रंचमात्र भी कष्टकर नहीं प्रतीत हुई। यदि चिन्ता थी तो एकमात्र यही कि घर पर छूटी निराश्रिता-दादी, विमाता, पत्नी और बहनों की देखभाल कौन करेगा ? घर में कोई दूसरा पुरुष नहीं था और भरणपोषण के अपेक्षित साधनों की भी कमी थी। परिवार-सम्बन्धी यह व्यग्रता आध्यात्मिक-उपचार से शीघ्र ही शान्त हो गयी। चारों ओर से निराश हो इन्होंने

अशरण-शरण भगवान् के सर्वसाधक नाम का आश्रय लिया। अहर्निश जप चलने लगा। उसके प्रभाव से सारी चिन्ता जाती रही। इसका विवरण देते हुए उन्होंने बताया,[१] 'अलीपुर जेल में भगवन्नाम का जप प्रारम्भ किया, जिससे दो-तीन घंटे के अन्दर ही शांति मिली। वहाँ पहुँचने पर पहले बड़ी व्याकुलता रही, सब तरफ अँधेरा-ही-अँधेरा दीखता था, घरवालों के पास खाने के लिए एक पैसा भी नहीं था। इसलिए चिन्ताओं का पहाड़ सामने दीखने लगा था। उस समय माला फेरने की बात याद आयी। सिपाही से माला माँगी तो उसने कहा कि माला तो नहीं है। उसने एक कील (काँटी) दे दी, जिससे दीवाल पर बिस्वों (हाथ की अँगुलियों के पोरों) के द्वारा माला की संख्या पूरी करके लकीर कर देता। उस समय बड़े प्रेम से खूब मन लगाकर दो-तीन घंटे भजन हुआ, जिससे बड़ी शान्ति मिली। ऐसे तो पहले भी सप्तशती के पाठ (नवरात्र में) तथा नित्यप्रति शिवमहिम्नस्तोत्र, हनुमत्कवच, सूर्यकवच तथा गोपालसहस्रनाम आदि के पाठ-जप करता था, किन्तु वास्तविक जप यहीं से आरम्भ हुआ।'

इस प्रकार अलीपुर जेल के बंदीजीवन में इन्हें भगवन्नाम के अद्भुत प्रभाव का प्रथम परिचय प्राप्त हुआ।

अंग्रेजी-शासन बंगाल में व्याप्त क्रान्तिकारी-गतिविधियों को दबानेहेतु कुछ भी करने के लिए कटिबद्ध था। अतः कायदा कानून को ताक पर रखकर किसी ठोस अभियोग के प्रमाणित न होने पर भी उसने पोद्दारजी को बंगाल-प्रान्त के बाँकुड़ा जिलान्तर्गत शिमलापाल नामक ग्राम में नजरबंद कर दिया। शिमलापाल के अनिवार्य एकान्तवास की प्रारम्भिक स्थिति में इन्हें कुछ परेशानी रही, यह सोचकर कि अब शेष जीवन शासन के अवांछित अतिथि के रूप में ही व्यतीत करना पड़ेगा। परिस्थिति तनिक भी प्रतिकूल हुई तो फाँसी पर लटकना भी नितांत संभव था। घर की स्थिति, सम्बल और माँझी-रहित-जर्जर नौका जैसी थी। दस-पंद्रह दिनोंतक मन में ये विचार मँडराते रहे।

अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होने पर त्याग, वैराग्य, ध्यान, स्वाध्याय और नाम-जप का प्रकृत-प्रकरण आरम्भ हुआ। प्रातः चार बजे उठकर 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस षोडशाक्षर मंत्र की तीस माला पूरी करने के बाद ये शौच जाते। ६ बजे से पूर्व बाहर निकलने का आदेश नहीं था। अतः प्रायः घर पर ही स्नान कर लेते। समय रहता तो नदी में स्नान कर आते। फिर संध्या-वन्दन, गीता और विष्णुसहस्रनाम का पाठ और ध्यान का क्रम चलता। ध्यान के लिए इनका अवलम्ब था चित्रकार श्री रविवर्मा द्वारा बनाया हुआ 'ध्रुव-नारायण' का एक चित्र, जिसे ये कलकत्ता से ही साथ ले आये थे। यह ध्यान

१. पोद्दारजी के निजी टेप से।

तीन बार नियमित रूप से होता था—प्रातः, अपराह्ण तथा रात्रि में। कुल मिलाकर इसमें ९ घंटे लग जाते थे। शेष समय नाम-जप एवं स्वाध्याय में बीतता था। चेष्टा यही रहती थी कि नाम-जप छूटे नहीं। नजरबंदी के जीवन में नाम के प्रति इनकी रुचि इतनी प्रगाढ़ हुई कि नाम-जप का छूटना इन्हें असह्य हो जाता। जब कोई व्यक्ति इनसे मिलने आता, तब डर लगने लगता कि कहीं स्मरण, तथा जप छूट न जाय। अतएव चेष्टा यही रहती थी कि किसी व्यक्ति के आने पर भी कम-से-कम बोलना पड़े।

प्रातः काल श्री विष्णुभगवान् के चित्रपट की पूजा करते थे। थाने के बगीचे में बेला के बहुत से पौधे थे। वहाँ से किसी बाहरी व्यक्ति को फूल तोड़ने की अनुमति नहीं थी; किन्तु इनके लिए प्रतिबन्ध नहीं था। ये नित्य नाम-जप करते हुए जाते और वहाँ से फूल चुनकर लाते। स्वयं उनकी माला गूँथ कर भगवान् को पहनाते। प्रत्येक वस्तु भगवान् को भोग लगा कर ग्रहण करते थे। जल भी पीते थे तो पहले भगवान् को निवेदन करके। एकादशी को ये निर्जल-निराहार रहते। उस दिन प्रातः काल उठ कर जप में लग जाते और जबतक एक लाख की संख्या पूरी नहीं हो जाती, तबतक जप करते रहते।

छः महीने तक लगन और श्रद्धा के साथ ध्यान का अभ्यास करने से उसमें इन्हें अपूर्व सफलता मिली। एक दिन ये अपनी झोपड़ी में बैठे हुए थे, दरवाजा खुला हुआ था। सामने से एक गाय जा रही थी। इनके मन में आया कि गाय के स्थान पर भगवान् विष्णु को देखूँ। ध्यान का अभ्यास परिपुष्ट हो ही चुका था। मन में धारणा करते ही गाय का दिखना बंद हो गया और उसके स्थान पर भगवान् विष्णु की मूर्ति दिखाई देने लगी। इस सफलता से इनको बड़ी प्रसन्नता हुई। पर इनके मन में आया, शायद संयोगवश ऐसा हो गया है। इन्होंने इसकी परीक्षा के लिए आकाश की ओर देखा, आकाश में एक पक्षी उड़ रहा था। इन्होंने धारणा की और पक्षी के स्थान पर खुली आँखों से भगवान विष्णु की मूर्ति दिखाई देने लगी। बाद में सामने के पेड़पर दृष्टि गयी और उसके स्थान पर भी भगवान् विष्णु की मूर्ति दिखाई दी। इस प्रकार जिस वस्तु के स्थान पर इन्होंने भगवान विष्णु को देखना चाहा, वह वस्तु दिखाई देनी बंद हो गयी और उसके स्थान पर भगवान् विष्णु दिखाई देने लगे। पोद्दारजी की मान्यता थी कि ध्यान बिलकुल व्यावहारिक चीज है, सब कर सकते हैं। इसमें कोई सिद्धि नहीं है, मन की तदाकारता होनी चाहिए। ध्येयाकार-वृत्ति का ही नाम 'ध्यान' है। वृत्ति ध्येय के आकार की बन जाय तो वही चीज सामने आ जाय। जितना अभ्यास होगा, उतना ही ध्यान सफल होगा : पहले मन लगाना पड़ता है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

—गीता ६।२६

फिर लगाना नहीं पड़ता, अपने आप उसकी स्मृति हो जाती है। स्मृति होती है तो वृत्ति के आकार की चीज बन जाती है।

ध्यान से पोद्दारजी को बड़ी शान्ति मिली। मन में यह बात आ गयी कि आत्मा और भगवान् सत्य हैं, और सब-कुछ असत् है, खेल है। उस समय अद्वैत वेदान्त की ओर विशेष ध्यान था। इतना सब कुछ होने पर भी शिमलापाल का जीवन साधना-मय ही रहा, उसमें कोई विशेष अनुभूति नहीं हुई। आत्मानुभूति होती थी, भगवान् का ध्यान भी होता था, साथ ही यह अनुभूति भी होती थी कि मैं 'शरीर' नहीं हूँ, 'आत्मा हूँ'; लेकिन यह निश्चय होने पर भी भगवान के साथ एकता स्थापित नहीं हो पाती थी। आत्मा परमात्मा का ही अंश है, परमात्मा ही आत्मा बने हुए हैं, लेकिन हम अलग हैं, ऐसी कुछ धारणा थी।

शिमलापाल की नजरबंदी की अवधि में साधना, भजन तथा नामजप के अति-रिक्त स्वाध्याय भी खूब हुआ। उसी गाँव के एक बंगाली महाशय श्रीकृष्णचन्द्र के पास धार्मिक पुस्तकों का समृद्ध पुस्तकालय था, उससे पुस्तकें मिल जाती थीं। उप-निषद्, गीता की विभिन्न टीकाओं, पुराण, तथा गौड़ीय वैष्णवों के ग्रंथों का गहन अध्ययन हुआ। अपने स्वाध्याय के क्रम में ही इन्हें उक्त पुस्तकालय में नारद-भक्तिसूत्र की बंगलिपि में मुद्रित एक प्रति मिल गयी। सूत्रों के भाव बहुत प्रिय लगे। उन का गम्भीरतापूर्वक मनन किया। उनसे अपनी साधना में इन्हें बड़ी सहायता मिली। सूत्रों पर बार-बार विचार करने से नये-नये भाव स्फुरित होने लगे। उन्हें लिपिबद्ध करना आरम्भ कर दिया और थोड़े ही दिनों में सब सूत्रों पर विस्तृत टीका तैयार हो गयी। उस समय उसे प्रकाशित कराने का कोई विचार नहीं था। 'स्वान्तःसुखाय' ही उसका निर्माण हुआ था। बाद में यही व्याख्या 'कल्याण' के अंकों में क्रमशः छपी और फिर कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ 'प्रेम-दर्शन' नाम से पुस्तकरूप में गीताप्रेस से प्रकाशित हुई। भक्तिसूत्रों की टीका के माध्यम से पोद्दार जी ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि 'भगवान रसमय हैं, रस में ही परम आनन्द है (रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति)।' भक्ति से ही रसमय भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भक्ति से ही देव-मुनि-दुर्लभ परमानन्द मिलता है। अतएव परमानन्द-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेमाभक्ति का आश्रय ग्रहण करना है। परन्तु इसका यह अर्थ लगाना भूल है कि प्रेमाभक्ति ज्ञान की विरोधिनी है। अन्याय साधनों द्वारा भगवान अन्यान्य रूपों में प्राप्त होते हैं, परन्तु प्रेमरूपा भक्ति द्वारा तो वे प्रियतम रूप में मिलते हैं—'सः प्रेष्टं लभते।'

शिमलापाल-जीवन की यह साधना-पद्धति यद्यपि अनिवार्य परिस्थितियों में अपनायी गयी थी, किन्तु वह विवशताजनित न होकर प्रियता-प्रेरित थी। नजरबन्दी-जीवन में साधना की ओर ये आन्तरिक प्रेरणा से प्रवृत्त हुए थे। इसलिए उसकी

समाप्ति के बाद भी वह अनवरत चलती रही। भगवान् के प्रति यह प्रियता पोद्दारजी के स्वभाव की सहजवृत्ति बन गयी।

नजरबन्दी में की गयी साधना ने इन के जीवन में एक महान् परिवर्तन संघटित कर दिया। एकान्त-सेवन से वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयीं। राजनीति और समाजसेवा, देशप्रेम और लोकमंगल की भावना उत्तरोत्तर अध्यात्म-भावना में पर्य-वसित होती गयी; भगवत्प्रेम के आगे सारे प्रेम फीके पड़ते गये। परवर्ती-जीवन में लोक-सेवा और अध्यात्म-भावना की धाराएँ समानान्तर बहती रहीं—वस्तुतः लोकसेवा इनकी अध्यात्म-भावना की ही लोकोन्मुखी अभिव्यक्ति थी।

इक्कीस महीने की स्थानबद्धता समाप्त होने पर बंगाल सरकार द्वारा प्रान्त से निष्कासित किये जाने के कारण ये पितृभूमि होते हुए प्रसिद्ध समाजसेवी श्रीजमनालाल बजाज के आह्वान् पर बम्बई पहुँचे थे। बम्बई में जीविकोपार्जन की व्यवस्था तथा समाज-सुधार के कार्यों में लग जाने के कारण कुछ समय तक साधना का प्रवाह शिथिल हो गया था। श्रीजयदयाल गोयन्दका की प्रेरणा तथा अन्य संतों के संपर्क से वह शीघ्र ही लक्ष्य की ओर पुनः द्रुतगति से अग्रसर हो गया।

बम्बई-प्रवास में ही पोद्दारजी एक बार गंभीर रूप से बीमार पड़े। कुछ ठीक होने पर इन्हें स्वास्थ्य-सुधार के लिए नासिक जाना पड़ा। वहाँ इनकी भेंट एक दक्षिणी योगी से हो गयी। वे हठयोग की क्रिया करते थे। प्राणायामादि अष्टांगयोग के अच्छे ज्ञाता तथा अद्वैतमत के उपासक थे। इन्होंने उनसे हठयोग की कुछ क्रियाएँ—नेती-धोती आदि सीखीं। प्राणायाम का भी अभ्यास किया। इन क्रियाओं से इन्हें शारीरिक लाभ तो हुआ, किन्तु आत्मोन्नति की दृष्टि से कोई विशेष उपलब्धि नहीं हुई।

बम्बई-प्रवास में इन्होंने व्यवसाय की उपेक्षा कर अधिकांश समय तथा शक्ति समाजसेवा में लगायी। इस बीच इन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि अन्य प्रकार के लौकिक कार्यों से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होने पर भी समाजसेवा या देशसेवा जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकता, परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन भले ही बन जाय। अतः व्यापार, राजनीति और समाजसेवा के स्तरों को पार करता हुआ इनका मन-विहग गुरुत्वाकर्षण-रहित साधना के अनन्ताकाश में विचरण करने के लिए उद्विग्न हो उठा। अर्थोपार्जन, देशभक्ति और समाजसेवा के प्रति उत्साह ज्यों-ज्यों कम होता गया, भगवच्चरणों में आकर्षण उसी अनुपात से बढ़ता गया।

एक बार अपनी छोटी बहन अन्नपूर्णा बाई के विवाह के सन्दर्भ में पोद्दारजी बाँकुड़ा गये। सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दका उन दिनों वहीं निवास करते थे। अतः उनके सत्संग-लाभ का पर्याप्त अवसर मिल गया। विवाह-कार्य करके ये बम्बई लौट गये, किन्तु सेठजी के सत्संग की इच्छा बनी रही। संयोगवश श्रावण सं० १९७७ में सेठ जमनालाल बजाज ने चक्रधरपुर जाकर सेठजी से मिलने का विचार किया। पोद्दारजी

को इसकी सूचना मिली। ये भी उनके साथ चक्रधरपुर चले गये। वहाँ सेठजी ने अपनी दो छोटी पुस्तिकाओं 'त्याग से भगवत्प्राप्ति' और 'प्रेमभक्ति-प्रकाश' के भाषा-संस्कार का काम इन्हें सौंपा। पोद्दारजी ने उनकी भाषा ही नहीं सुधारी, एक प्रकार से कायाकल्प कर दिया। सेठजी इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

सं० १९७९ की शरद ऋतु में सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दका बम्बई पधारे। वहाँ विभिन्न स्थानों पर उनके सत्संग का कार्यक्रम आयोजित किया गया; किन्तु उसका मुख्य केन्द्र बनी श्रीशिवनारायण नेमाणी की बाड़ी। यहाँ दस दिनों तक सेठजी का भावपूर्ण-सत्संग चलता रहा। समारोह के अन्तिम दिन सेठजी ने श्रोताओं के सामने अपनी अनुपस्थिति में भी नियमित रूप से सत्संग का कार्यक्रम जारी रखने का प्रस्ताव रखा। श्रीशिवनारायण नेमाणी सत्संग के लिए अपनी बाड़ी (धर्मशाला) देने के लिए तैयार हो गये। वक्ता की समस्या आयी। सेठजी पोद्दारजी की योग्यता एवं निष्ठा से भली भाँति अवगत थे। उन्होंने इन्हें प्रतिदिन सत्संग कराने का निर्देश दिया। पोद्दारजी ने इस कार्यक्रम के संचालन में अपनी अक्षमता व्यक्त की। इसपर सेठजी ने आग्रह करते हुए कहा—"भगवत्चर्चा करनी है। भगवान्, शास्त्र एवं संतों की बातें पढ़कर सुना देनी हैं। यह उपदेश नहीं है, भगवान् के तथा भगवद्भक्तों के गुण स्वभाव, महत्त्व आदि की चर्चा करके स्वयं को पवित्र करना है।" इसके बाद पोद्दारजी ने सत्संग करने का दायित्व स्वीकार कर लिया।

नेमाणी-बाड़ी में एक बड़ा हॉल तथा कई कमरे थे। उन्हीं में से एक कमरे में छोटा-सा पुस्तकालय खोल दिया गया और हॉल में प्रतिदिन प्रातः एवं रात्रि में सत्संग चलने लगा। पोद्दारजी की विषय-प्रतिपादन शैली, सरल-मधुर भाषा, प्रवचन करते समय इनके शरीर की सात्विक भाव-भंगिमा आदि श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देती थी। बाड़ी में प्रातः काल गीता-शिक्षा की व्यवस्था थी। गीतापर भी पोद्दारजी का धाराप्रवाह प्रवचन होता। सत्संग में अच्छे-अच्छे लोग आते थे। समय-समय पर साधु-महात्मा भी पधारते रहते थे। पोद्दारजी उनका यथोचित सम्मान करके प्रवचन की व्यवस्था कराते थे। इसके ब्याज से बाहर से आनेवाले तथा बम्बई में स्थायी रूप से निवास करनेवाले अनेक महात्माओं से इनका प्रगाढ़ परिचय हो गया।

निराकार की साधना

पोद्दारजी के बम्बई-प्रवास के समय सेठ जयदयाल गोयन्दका पहली बार दस दिन के लिए बम्बई पधारे थे। तब इन्होंने उनसे निर्विशेष ब्रह्म की धारणा एवं अध्ययन के विषय में चर्चा की थी। उन दिनों इनकी चित्तवृत्ति निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म के ध्यान की ओर अधिक थी। सेठजी के सत्परामर्श से उस ध्यान में इन्हें विशेष सफलता मिली थी।

सं० १९८० के वैशाख मास में गोयन्दकाजी के पास भेजे गये इनके पत्र के निम्नांकित अंश से तत्कालीन साधनात्मक स्थिति का पता चलता है—"मेरे ध्यान की स्थिति ठीक लगती है। कार्य करते समय समष्टि-चेतन में स्थिति निरन्तर बनी रहती है। यों भी शायद कहा जा सकता है कि कार्यकाल में क्रियासहित और जो-कुछ भी भान होता है, वह स्वप्न की सृष्टिवत् होता है। साथ-ही-साथ यह प्रत्यक्ष-सा भास होने लगता है कि स्वप्नवत् भी नहीं है। वास्तव में परमात्मा ही परमात्मा है। ऐसी स्थिति में किसी-किसी समय बिलकुल अचिन्त्य अवस्था हो जाती है। तब कार्य में रुकावट भी आती है। ध्यान करते समय तो अब प्रायः बाहर के शब्दों का भी ख्याल नहीं रहता। सारे आकारों का अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त होकर अचिन्त्य के अस्तित्व में विलीन हो जाती है। केवल बोधस्वरूप आनन्दघन ही रह जाता है। ध्यान के बाद और समय जो स्थिति रहती है, वह ऊपर लिखी ही गयी है। शरीर को या जगत् को सत्य मान-कर तो शरीर में स्थिति कभी होती ही नहीं। पर न जाने क्यों जगत् की क्रियाओं से, जो शरीर द्वारा होती हैं और जो समय-समय पर केवल स्वप्न की सृष्टि या आकाश में तिरमिरों के समान ही अपना अस्तित्व रखती हैं, उनसे भी उपराम होने की स्फुरणा होती है। ऐसी स्फुरणा होती है कि ये क्रियाएँ भी न हों तो अच्छा है। आप के साथ या किसी गंगातीरवर्ती देश में रहा जाय तो ठीक है। पर ऐसी स्फुरणा होते समय भी जगत का अस्तित्व स्वप्नवत् ही रहता है।"

शिमलापाल में अभ्यस्त विष्णु भगवान् का ध्यान किस प्रकार निर्गुण-निर्विशेष की साधना में बदल गया, इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं—"यह भी नहीं है, यह भी नहीं है, ऐसा कहकर सबका निषेध करते-करते निषेध करनेवाली वृत्ति ही बच रहती है। प्रयत्न होता कि निषेध करनेवाली यह वृत्ति भी छूट जाय। फिर यह आभास होता कि यह वृत्ति जिसके द्वारा क्रियाशील हो रही है, वह आत्मतत्त्व है, ब्रह्मतत्त्व है, चेतन है। वृत्ति तो जड़ है, मन जड़ है, पर जिसके द्वारा, जिस ब्रह्म के द्वारा, यह क्रियाशील हो रही है, वह ब्रह्म चेतन है और वही परमतत्त्व है। वृत्ति तो कोई चीज नहीं है। निषेध करनेवाली वृत्ति का भी परित्याग कर दिया जाय और इसकी जगह केवल चेतन-ब्रह्म स्वरूपगत होकर रह जाय, उसका कोई भोक्ता न रहे, उसका कोई द्रष्टा न रहे, इस प्रकार की साधना मैं करता। साधना का एक प्रकार यह था।

दूसरी साधना जो थी वह समझने की है—जैसे एक ही महाकाश में सारे आकाश वर्तमान हैं। जितने नगर हैं, वे सब महाकाश में हैं। नगरों में जितने मकान हैं, वे सब आकाश में हैं। उन मकानों में जितने भी अवकाश के स्थल हैं, वे सब आकाश में हैं। उनमें जो सामान रखा है, बर्तन के अन्दर जो पोल है, वह भी आकाश में है और उन सबमें आकाश है।

मैं यों करता कि 'मैं' यह शरीर नहीं हूँ, मैं यह नाम नहीं हूँ। जैसे यह आकाश दीवाल के घेरे में है तब इसका नाम घर है, अगर दीवाल के घेरे में न हो तब यह आकाश ही है। इस घर को आकाश नहीं कहते, लेकिन हमलोग जितने बैठे हैं, इस अवकाश में यह आकाश ही है। इस प्रकार मैं अभ्यास करता कि मैं जो हूँ, वह आत्म-स्वरूप हूँ और मेरे और मेरे अन्दर ही सारे चराचर जीव हैं। जो कुछ भी है, सब मेरे अन्दर है। यह वृत्ति घंटों तक रहती और जब तक मैं इस वृत्ति में रहता, तब तक अपार आनन्द का अनुभव होता—यह दूसरी धारा थी।

तीसरी धारा एक और थी, इसी निर्विशेष के ध्यान की। वह यह थी कि यह दृश्य है। शरीर भी दृश्य है, शरीर से होनेवाले कार्य भी दृश्य हैं, जगत् में जो कुछ हो रहा है, वह सब दृश्य है, और मैं सबका द्रष्टा हूँ, भोक्ता-कर्त्ता नहीं हूँ। न करने वाला हूँ और न भोगने वाला हूँ। इसलिए इनके साथ मेरा वास्तविक सम्पर्क नहीं है। मैं बिलकुल निर्लिप्त हूँ। यह भाव होने के बाद द्रष्टापन भी हटा दिया जाय; क्योंकि द्रष्टा जहाँ पर है, वहाँ दृश्य की अपेक्षा है। दृश्य है तो द्रष्टा है और द्रष्टा है तो दर्शन होता है। वहाँ पर त्रिपुटी है। पहले द्रष्टा बने और फिर द्रष्टा को भी हटाकर जो कुछ रह जाय, उसका कोई नाम नहीं, वही तत्त्व है। मैं उसी तत्त्व में परिनिष्ठित हूँ।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की मेरी साधना चलने लगी और खूब चली। इस तरह चार-पाँच वर्ष निकल गये। उसके बाद एक दिन मैं बम्बई के सत्संग-भवन में बैठा हुआ था, रात्रि का समय था और यही ध्यान कर रहा था। इसका ध्यान करते-करते अकस्मात् बरबस वही नारायण की मूर्ति मेरी दृष्टि में आ गयी। अब उसे मैं हटाने लगा पर हटाने का प्रयास करने पर भी वह मूर्ति हटी नहीं। चार-पाँच दिन तक वृत्तियों का यह संघर्ष चला। मैं लगाना चाहता था वृत्तियों को निर्विशेष में, पर वे लग जाती थीं सगुण स्वरूप में। उसके बाद अकस्मात् एक दिन ऐसा भान हुआ कि भगवान नारायण मानों कह रहे हैं कि देखो, तत्त्व एक है, सत्य एक है। यह निर्विशेष-निर्गुण रूप भी मेरा ही है। निर्गुणरूप से निर्विशेषरूप से मैं सगुण रूप में व्याप्त हूँ और सविशेष रूप में मैं ही दृष्टिगोचर हूँ। सत्य एक है, निर्विशेष रूप भी मेरा ही है, यह बताने के लिए और तुम्हें इसका निश्चय कराने के लिए ही यह स्थिति पैदा हुई। तुम जिस निर्विशेष का ध्यान कर रहे हो, वह नारायण ही है और तुम जिस नारायण का ध्यान कर रहे हो, वह निर्विशेष ब्रह्म ही है, और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। इसके बाद मन का संदेह दूर हो गया और दोनों प्रकार के ध्यान चलने लगे। दोनों में एकत्व बुद्धि हो गयी। बड़ा सुख मिला, बड़ा रस मिला; बड़ा आनन्द मिला।"

इस स्थिति को प्राप्त कर पोद्दारजी ने अनुभव किया कि निर्गुण में सिद्धि नहीं होती, अपितु निर्गुण साधना में उसको 'भूमिका' कहते हैं। चतुर्थ भूमिका में ब्रह्म-

पता नहीं कुछ रात–दिवस, का
पता नहीं कब संध्या–भोर ॥

भाव–समाधि में लीन

मृत्यु-शय्या पर काव्य रचना में निमग्न
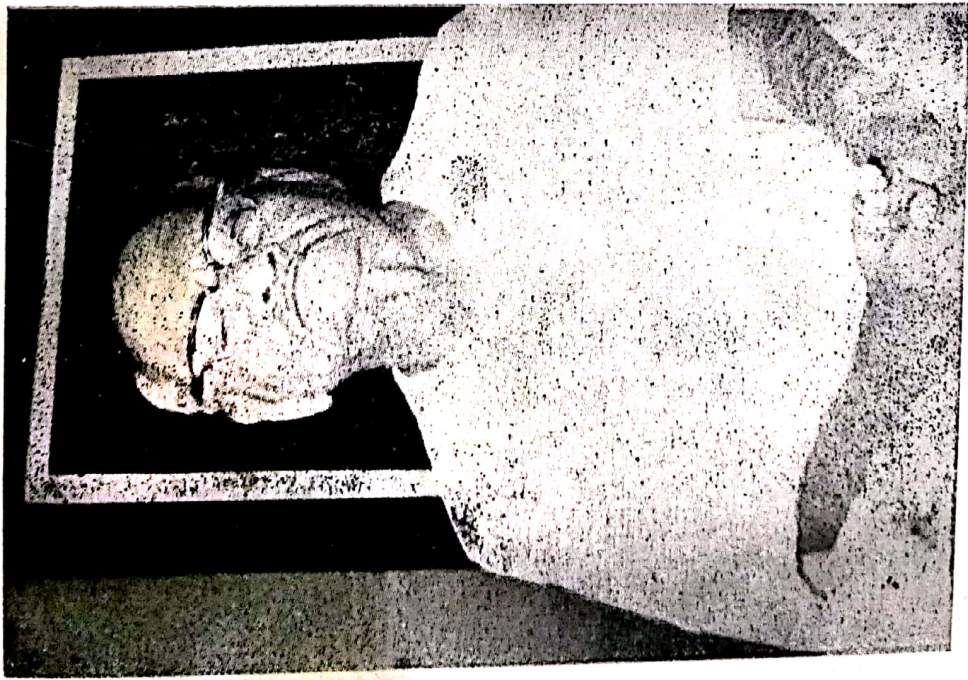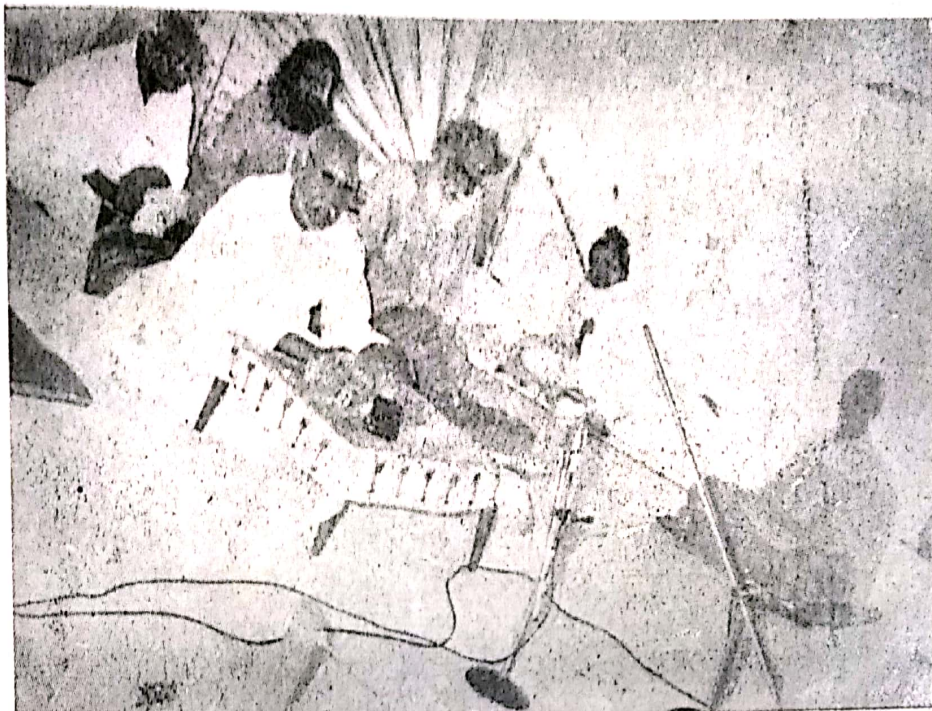
माँ आनन्दमयी का जन्म दिवस–समारोह, देहरादून
(श्री माँ श्री हरिबाबा आदि संतों की सन्निधि में) पोद्दारजी
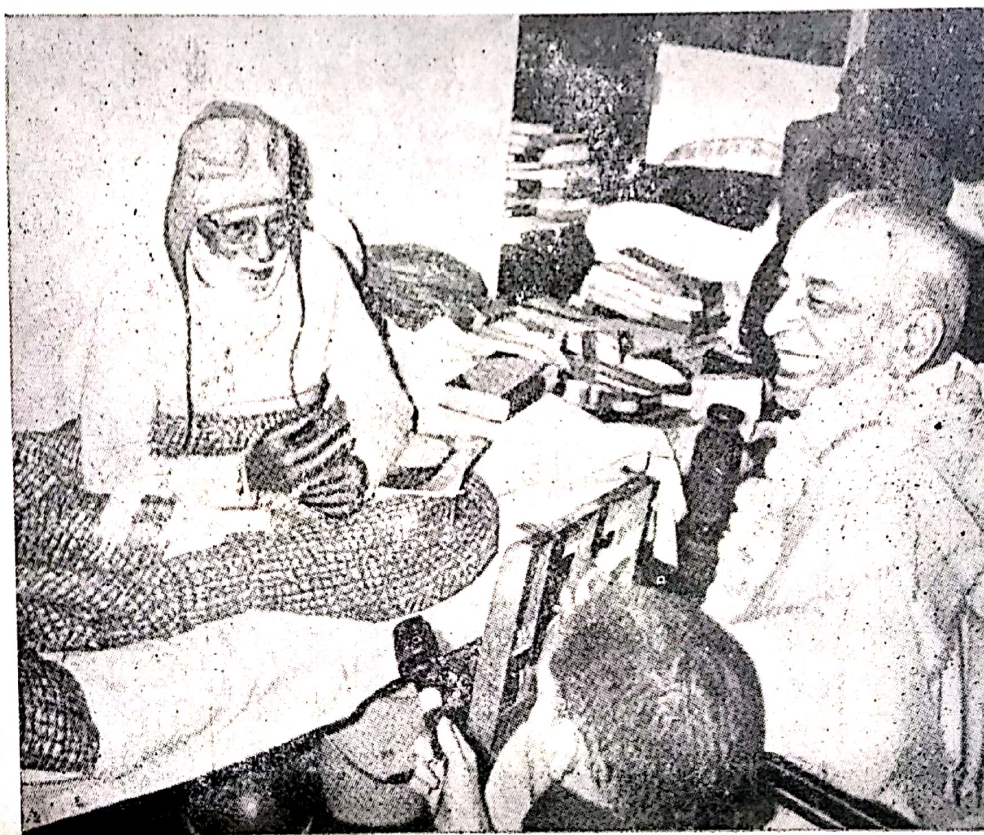
'श्रीकृष्ण' चेतना आंदोलन के प्रवर्तक स्वामी भक्ति 'वेदान्त' तीर्थ के साथ
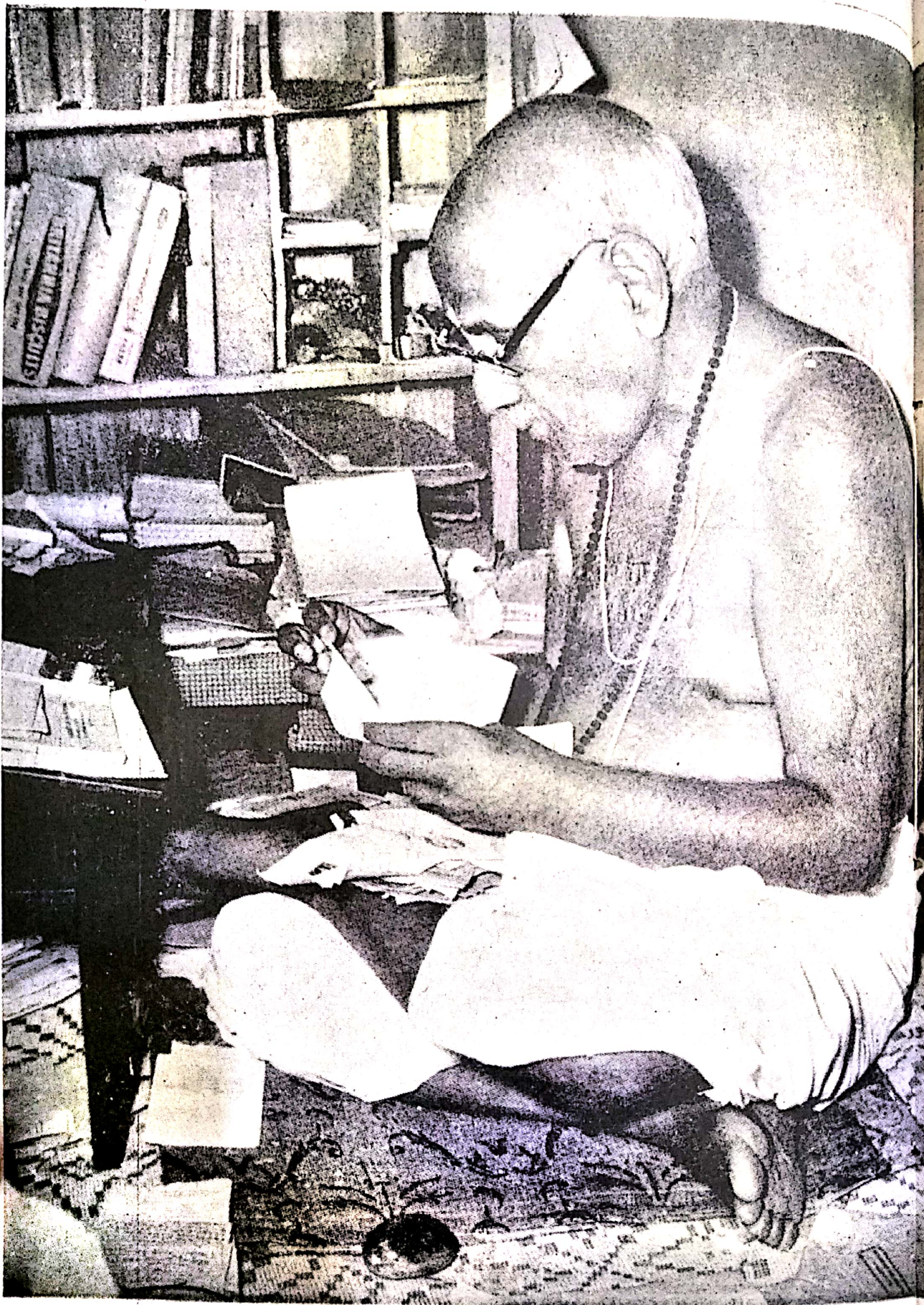
कर्मयोग साधना में तन्मय

परमाराध्या राधारानी
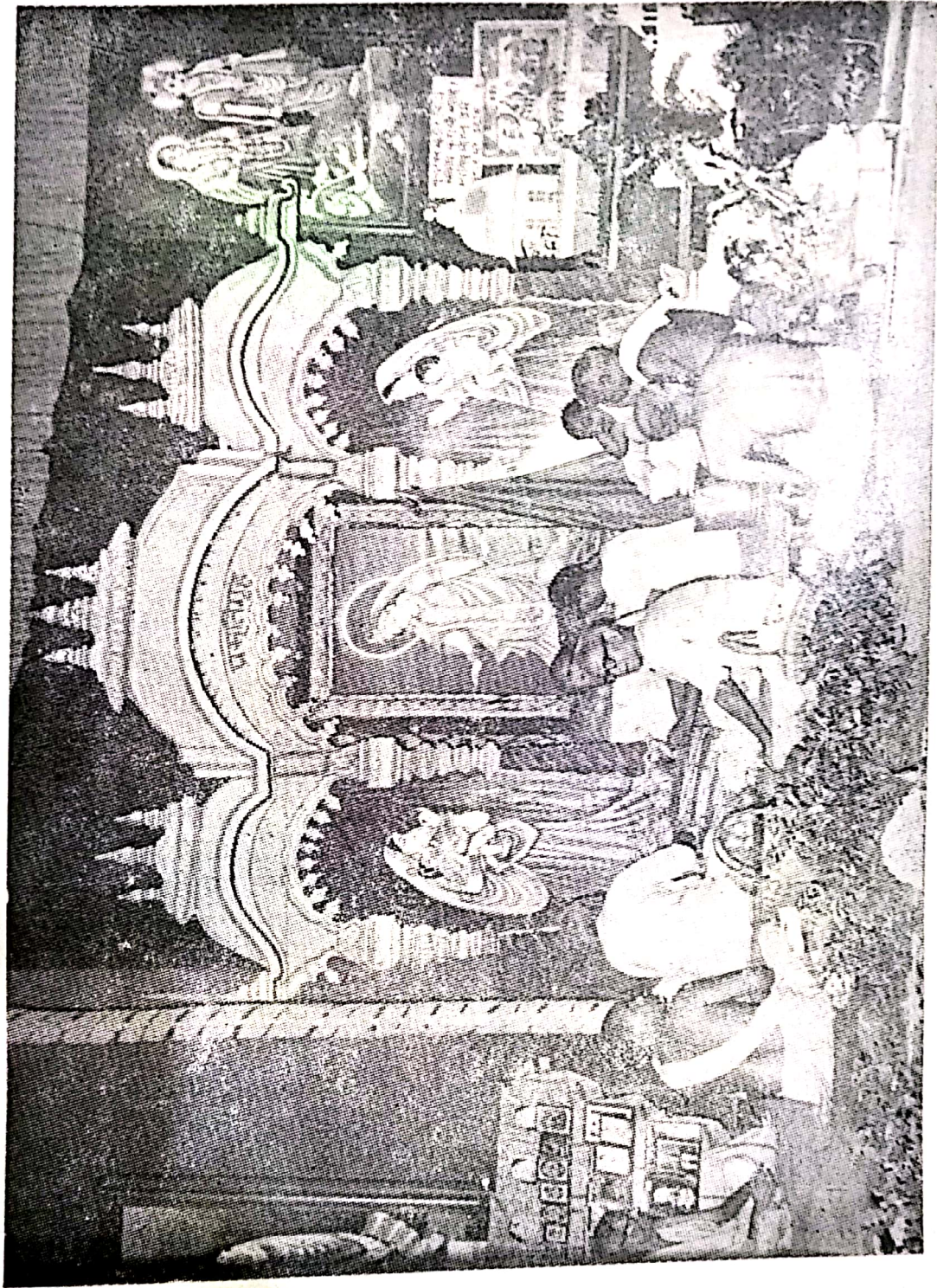
श्री राधाष्टमी–पूजन में संलग्न

श्री राधाष्टमी–महोत्सव
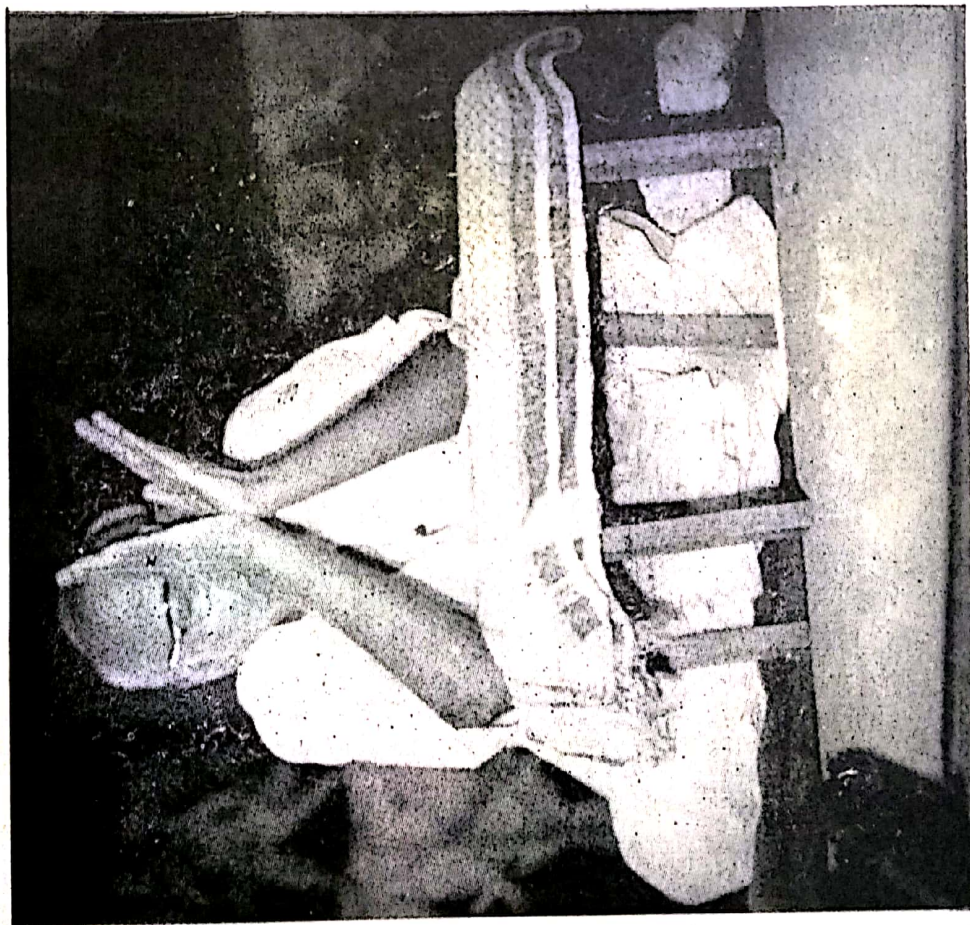
'हृदय आनन्द भर बोलो–बधाई है ! बधाई है !!'

'बंदौं राधा-पद-रज पावन'

जनम-जनम के साथी—राधा बाबा और भाई जी

पोद्दारजी के अध्यात्म-पथ-प्रदर्शक
संतप्रवर श्री जयदयाल गोयंदका

सौंप दिये मन-प्राण तुम्हीं को.........
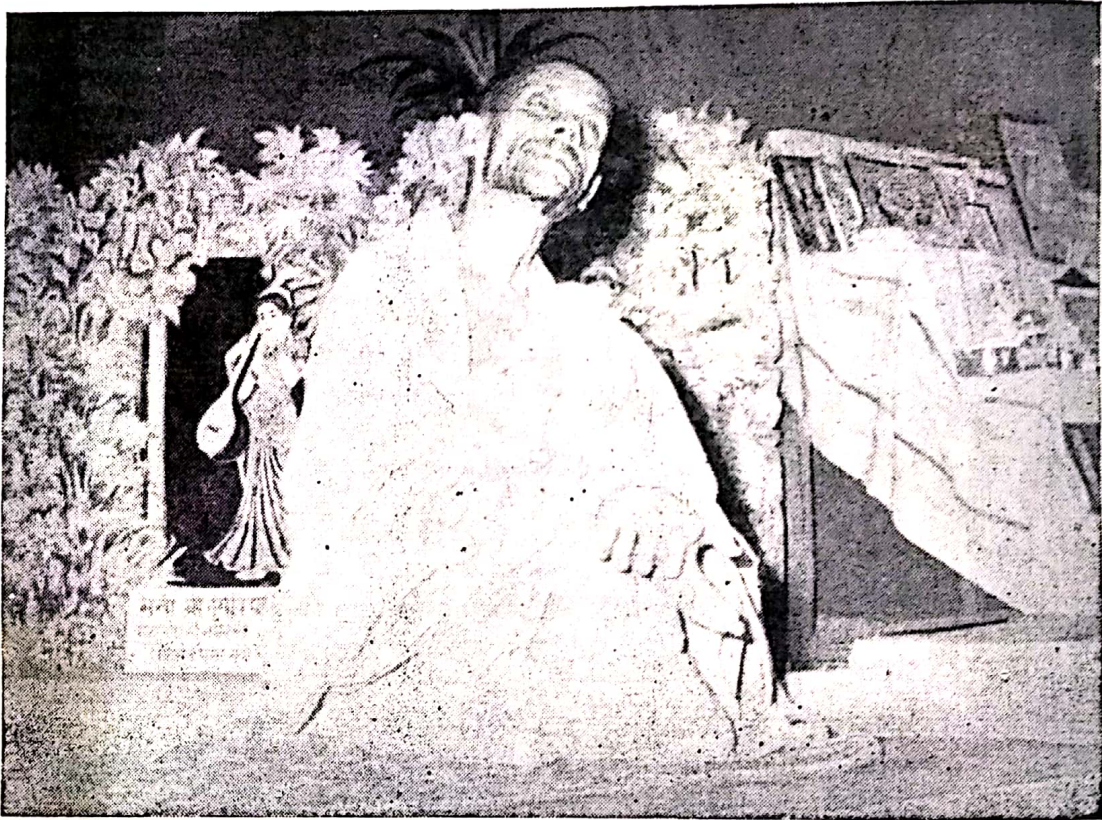
श्रीराधाष्टमी के अवसर पर भावोदधि में मग्न
राधाबाबा

साक्षात्कार होता है। उसके बाद की तीन भूमिकाएँ पंचम, षष्ठ और सप्तम हैं। इनमें स्थित होने पर बाह्य व्यवहार में भी बाधा आने लगती है। इस स्थिति का वर्णन नहीं हो सकता, उसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक बताया भी नहीं जा सकता।

यह मुझे निश्चय हो गया था कि सत्य-तत्त्व एक है, वही निर्विशेष ब्रह्म है और वही सगुण-ब्रह्म भी है। फिर वृत्ति जब क्रमशः प्रगाढ़-प्रगाढ़तर हुई तो यह भान होने लगा कि ब्रह्म सगुण है, सगुण ब्रह्म का जो-कुछ भी है, वह सच्चिदानन्दमय है। लेकिन यह निश्चय नहीं था कि ये जो अवतार लेते हैं, मनुष्य रूप धारण करते हैं, लोकों में रहते हैं, ये भी दिव्य हैं। इसका पूरा-पूरा निश्चय हुआ यहाँ गोरखपुर आने के बाद नारदजी से मिलने पर। तदुपरान्त उसका सम्पूर्णरूप से निश्चय तब हुआ, जब श्रीकृष्ण का ध्यान होने लगा। बम्बई आने से पूर्व मेरे ध्येय थे भगवान् विष्णु। बम्बई आने पर निर्गुण-निर्विशेष की साधना तीव्रगति से चली। पीछे निर्गुण-निर्विशेष साधना के समानान्तर सगुणरूप की साधना स्वतः चलने लगी और भगवान विष्णु का भी ध्यान होने लगा। इसके पश्चात् ध्येयरूप में प्रतिष्ठित हुए श्रीकृष्ण; तदुपरान्त श्रीराधाकृष्ण। साधना के इन स्तरों में यह बात क्रमशः दृढ़ होती गयी कि तत्व एक है, इसमें दो मत नहीं हैं, कोई संदेह नहीं है, वे चाहे राधा-कृष्ण हों, चाहे सीता-राम हों, चाहे शिव-पार्वती हों।

भगवान् राम के दर्शन

बम्बई में ज्ञान की साधना के साथ-साथ नाम-जप का क्रम अनवरत रूप से चल रहा था। भगवान को इन्हें ज्ञान की चरम अनुभूति कराकर अपने सगुण स्वरूप में ही लीन करना था। अतएव उसने अहैतुकी कृपा से पोद्दारजी को एक विशेष अनुभूति करवायी। इसका विवरण देते हुए उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक को बताया—

"प्रसंग सम्भवतः संवत् १९७९ वि० का है। मेरे एक मित्र थे श्रीसागरमल गनेड़ीवाला। मैं तथा वे दोनों ही नवयुवक थे। उन दिनों मैं कभी-कभी धार्मिक नाटक देख लिया करता था। एक नाटक-कम्पनी में 'भक्त सूरदास' नाटक का अभिनय होनेवाला था। सागरमलजी मेरे घर पर आये और बोले, 'भाईजी, भक्त सूरदास नाटक देखने चलिये।' मैं उनके साथ चल दिया। रास्ते में मुझे प्यास की अनुभूति हुई। श्रीसुखानन्दजी की चाल (मकान) रास्ते में ही पड़ती थी। सुखानन्दजी सागरमल के फूफा थे और सागरमल उन्हीं के यहाँ रहते थे। सागरमल ने कहा, 'भाईजी, पानी कहाँ खोजेंगे ? अपने घर पर ही चलिये, वहीं पानी पिया जाय।' हम दोनों उनके घर पर पहुँचे। पानी पीने के लिए बैठे ही थे कि परस्पर की चर्चा में रामनाम के महत्त्व का प्रसंग छिड़ गया। सागरमल नाम के प्रेमी थे, पर उनका कहना

था, 'समझ कर लिये बिना भगवान राम के नाम से कोई लाभ नहीं होता। राम शब्द को भगवान राम का नाम समझ कर लेने से ही लाभ होता है, अन्यथा नहीं।'

"मेरा विश्वास भगवान के नाम पर दूसरे ही ढंग का था। मैंने कहा, 'किसी प्रकार से राम-नाम लिया जाय, लाभ होता ही है। 'राम' शब्द के यदि 'रा' और 'म' ये दो अक्षर मुख से निकल गये तो प्राणी की सद्गति होगी—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

"यह बात सागरमल के गले नहीं उतरी। उन्होंने इस पर विवाद छेड़ दिया। मैंने उन्हें एक कथा सुनाकर कहा, 'मरते समय किसी के मुख से 'हराम' शब्द निकल गया, इसी से सद्गति हो गयी। कारण, 'हराम' में राम शब्द सम्मिलित है।'

"सागरमलजी ने तर्क किया, 'राम शब्द को अंग्रेजी में 'आर' 'ए' 'एम' (RAM) लिखा जाता है और इस शब्द का अंग्रेजी भाषा के अनुसार अर्थ होता है—'मेढ़ा'। कोई अंग्रेज मरते समय मेढ़े के भाव से 'राम' पुकार उठे तो क्या उसकी सद्गति हो जायगी ? उस अंग्रेज के ज्ञान में 'राम' का अर्थ मेढ़े के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं'।

"मैंने कहा, 'ज्ञान-अज्ञान से, श्रद्धा-अश्रद्धा से, भाव अभाव तथा कुभाव से—किसी भी प्रकार से यदि जिह्वा पर राम का नाम आ जाय तो, भगवान का नाम होने से तार देता है। मेरे विश्वास के अनुसार उस अंग्रेज की मुक्ति हो ही जानी चाहिए।' यह विवाद हो ही रहा था कि मेरी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी।

"पीछे क्या हुआ, यह मुझे पता नहीं। होश आने पर श्रीसागरमलजी ने मुझे बताया था कि 'तुम्हारी आँखें खुली थीं, पर बाह्यज्ञान नहीं था। तुम ज्यों-के-ज्यों उसी स्थान पर बैठे रहे। मैंने सोचा कि तुम बेहोश हो गये हो। मैं रात भर तुम्हारे पास बैठा रहा। मैं तो घबरा गया था कि क्या हो गया। सबेरे बड़ी कठिनता से तुम्हें उठाया, सीढ़ियों से नीचे ले गया, मोटर मँगवायी, और मोटर में बैठाकर तुम्हें घर पहुँचाया। साथ में स्वयं गया। घर पहुँचने पर तुम्हें शौच से निवृत्त होने के लिए कहा, पर उस समय तुम्हें बिलकुल होश नहीं था। इससे तुमने मेरी बात का उत्तर नहीं दिया। तुम उसी प्रकार बाह्यज्ञान-शून्य थे। मेरे मन में आया—तुम्हारे सिर पर ठंडा पानी डाला जाय। मैंने तुम्हें पकड़ कर पानी के नल के नीचे बैठा दिया। तुम्हारे सिरपर नल से पानी की धार गिरने लगी। इसी बीच संगीताचार्य श्रीविष्णु दिगम्बर को तुम्हारी ऐसी स्थिति हो जाने की सूचना भेज दी गयी थी। श्रीविष्णु दिगम्बर सूचना प्राप्त होते ही चले आये। उन्होंने अपने दो विद्यार्थियों को बुलवाया और स्वयं तानपूरा लेकर उनके साथ—

'रघुपति राघव राजाराम। पतित पावन सीताराम॥'

कीर्तन की मधुर ध्वनि छेड़ दी। तुम बीच में बैठे थे और चारों ओर अन्य लोग थे।

सम्भवतः पौन घंटे तक कीर्तन होने के बाद तुमको होश आया। रात्रि के ९ बजे से प्रातः ९ बजे तक लगभग बारह घंटे यह स्थिति बनी रही।'

''होश आने पर मैं सकुचा गया। मैंने श्रीविष्णुदिगम्बर को प्रणाम किया। सब पूछने लगे, 'क्या हुआ, क्या देखा ?' मैंने कहा, 'मुझे इतना ही स्मरण है कि बन-वेषधारी भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और श्रीसीताजी के दर्शन हुए। कितनी देरतक हुए, यह याद नहीं है। बातें भी हुई थीं, पर सब बातें स्मरण नहीं। केवल दो ही बातें याद हैं—एक तो भगवान् ने यह कहा कि 'किसी भी प्रकार से भगवन्नाम लेनेवाले की सद्गति होगी ही।' दूसरी बात भगवान् ने परम भक्त श्रीविष्णु दिगम्बर का नाम इसी सिलसिले में लिया था। इसके अतिरिक्त और कुछ याद नहीं।'

''श्री सागरमल ने मुझे याद दिलाना चाहा, 'तुम रात को उस समय कह रहे थे कि 'ये हैं भगवान्, इनके चरण पकड़ लो।' पर मुझे इन शब्दों की स्मृति नहीं थी। इस प्रसंग को सुनकर श्रीविष्णु दिगम्बर स्नेहातिरेक से रोने लगे। इस घटना के बाद सगुण स्वरूप की ओर विशेष झुकाव हो गया तथा भगवद्विश्वास भी प्रगाढ़ होता गया।''

साधक-समिति की स्थापना

पोद्दारजी साधना में इस प्रकार स्वयं तो एकनिष्ठभाव से तल्लीन थे ही, अपने पार्श्ववर्ती लोगों के जीवन को भी अध्यात्माभिमुख करने के विचार से उन्होंने एक 'साधक-समिति' की स्थापना की। उसमें पचास से अधिक सदस्य थे। प्रत्येक साधक के लिए समिति के निम्नांकित नियमों का पालन करना अनिवार्य था—

१. प्रातःकाल उठते ही भगवन्नाम का स्मरण करना।

२. स्नान के पूर्व अशुचि अवस्था में भी कम-से-कम एकबार भगवन्नाम का स्मरण करना।

३. स्नान करते समय कम-से-कम एक बार भगवन्नाम का स्मरण करना।

४. कम-से-कम एक काल की संध्या करना।

५. गायत्री मन्त्र की कम-से-कम एक माला जपना।

६. गीता के प्रधान विषयों का पाठ करना।

७. गीता के कम-से-कम एक अध्याय का अर्थसहित पाठ करना।

८. गीता का पाठ करते समय श्रीभगवन्मूर्ति का चिन्तन करना।

९. कम-से-कम पाँच मिनट ध्यान करना।

१०. 'कर प्रणाम तेरे चरणों में' प्रतीकवाले 'पत्र-पुष्प' के पद का अर्थ समझते हुए प्रातःकाल पाठ करना।

११. कम-से-कम पाँच मिनट व्यायाम करना।

१२. अपने से बड़े जो घर में हों, उनके चरणों में प्रणाम करना।

१३. सत्संग अथवा सच्छास्त्रों का कम-से-कम आधा घंटा स्वाध्याय करना।

१४. षोडशनाम-मन्त्र (हरे राम हरे राम) की कम-से-कम पाँच माला नित्य फेरना।

१५. भोजन करते समय भगवन्नाम-चिन्तन करना।

१६. बलिवैश्वदेव करना।

१७. शयन करते समय भगवन्नाम स्मरण करना।

१८. विदेशी मिलों के बने एवं हिंसायुक्त रेशमी वस्त्रों को न पहनना।

१९. मादक द्रव्यों—भाँग, गाँजा, सुल्फा, तम्बाकू, बीड़ी आदि का सर्वथा त्याग करना।

पोद्दारजी ने इन नियमों का पालन आजीवन दृढ़तापूर्वक किया। इन्हें साधना के क्रम में यह निश्चित हो गया कि चंचल मन ही साधना-मार्ग से मनुष्य को विचलित करता है। अतः आरम्भ में इनके द्वारा उपदिष्ट सदाचार पद्धति का मूलाधार बना मनोनिग्रह का प्रयास। 'मन को वश करने के कुछ उपाय' नाम की पुस्तक इसी स्थिति की देन है।

नाम-जप-साधना

अलीपुर के जेल-जीवन से भगवन्नाम के प्रति पोद्दारजी की निष्ठा दृढ़ हो चली थी। शिमलापाल में नाम-जप बड़ी तत्परता से होता रहा। बम्बई आने के पश्चात् भी उसका क्रम बराबर चलता रहा। बीच-बीच में नाम-जप के विलक्षण प्रभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति होती रही, इससे उसके प्रति आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इन्हें यह अनुभव होने लगा कि वर्तमान समय में नाम ही परम साधन है, परम आश्रय है, जिसकी शरण में जाकर जीव लोक-परलोक की ऊँची-से-ऊँची वस्तु प्राप्त कर सकता है। अतएव इन्होंने समाज में नाम-प्रचार की व्यापक योजना बनायी। सं० १९७९ में सत्संग का कार्यक्रम आरम्भ होने पर सामूहिक 'जप-यज्ञ' का श्रीगणेश हुआ। इसके प्रभाव-स्वरूप हजारों व्यक्ति नामपरायण हो गये। कुछ मास नियमित रूप से जप करने से लोगों को नाम के अद्भुत प्रभाव का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। फलतः नाम-जप उनकी दैनिक साधना का मुख्य अंग बन गया।

निराकार-ध्यान-साधना बम्बई में कई वर्षों तक चली। उसके पश्चात् इनका मन सगुण-साकार-साधना की ओर स्वतः उन्मुख हो गया। सं० १९८४ में बिना किसी प्रयास के शिमलापाल की भाँति भगवान् विष्णु का प्रत्यक्षवत् ध्यान होने लगा। इन दिनों ये 'कल्याण' के 'भगवन्नामांक' का सम्पादन कर रहे थे। नाम-जप के परिणामस्वरूप भगवत्प्राप्ति की उत्कट आकांक्षा जाग्रत होने से जागतिक कार्यों से विरक्ति हो गयी थी। ये गंगातट पर जाकर एकांत में साधना करना चाहते थे। मन में स्वतः

जगत के प्रपंच से वितृष्णा उत्पन्न हो गयी थी। काम-धंधे से उपरामता हो रही थी। 'परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ से मेरी तृप्ति होगी ही नहीं', यह इनकी दृढ़ धारणा बन गयी थी। ऐसी दशा में इनकी सारी क्रियाएँ और चेष्टाएँ परमात्मा की प्राप्ति के लिए होने लगीं। प्राण परमात्मा को पाने के लिए छटपटाने लगे। समस्त सांसारिक बंधनों को तिलांजलि देकर संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया और कमण्डलु की भी व्यवस्था कर ली। अब ये उस दिन की आकुलतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे जब मनोनुकूल वातावरण में साधन कर निजानंद में सर्वप्रकारेण लीन हो जायेंगे। हृदय की यह आकुलता वाणी में मुखरित हो गयी—

होगा कब वह सुदिन, समय शुभ, मायावी मन बन कर दीन।
मोहमुक्त हो, हो जावेगा पावन प्रभु-चरणों में लीन॥
कब जग की झूठी बातों से, हो जायेगी घृणा इसे।
कब समझेगा उसे भयानक, मान रहा रमणीय जिसे॥

× × ×

पुण्यभूमि ऋषि-सेवित में कब होगा इसका निर्जनवास।
गंगा की पुनीत धारा से कब सब अघ का होगा नाश॥

× × ×

कब साधन के प्रखर तेज से सारा तम मिट जायेगा।
कब मन विषय-विमुख हो हरि की विमल भक्ति को पायेगा॥

× × ×

कब यह मोह-स्वप्न छूटेगा, कब प्रपञ्च का होगा बाध।
पर-वैराग्य प्रकट कब होगा, कब सुख होगा इसे अगाध॥

× × ×

कब प्रतिबिम्ब बिम्ब होगा, कब नहीं रहेगा चित्-आभास।
निजानन्द, निर्मल अज, अव्यय में कब होगा नित्य निवास॥

इस तीव्र विरक्ति की दशा में किसी प्रकार का जागतिक व्यवहार चलना असंभव-प्राय था। 'कल्याण' का कार्यभार किसी उपयुक्त उत्तराधिकारी को सौंपने के लिए पोद्दारजी कुछ दिनों के लिए सेठ श्रीजयदयाल गोयंदका के निर्देशानुसार गोरखपुर आये। यहाँ आने पर ईश्वरीय विधान के कारण उन्हें रुक जाना पड़ा। कालान्तर में इनका मन यहाँ रम गया। इनके चुम्बकीय व्यक्तित्व से साधकों और समर्पणशील सेवकों की एक मंडली संगठित हो गयी। साधना में उपस्थित व्यतिक्रम दूर हो गया और 'कल्याण'-सम्पादन के साथ उसके उच्चतर सोपान अनायास आयत्त होते गये। साधना के उच्च स्तर पर पहुँच कर इन्होंने यह अनुभव किया कि बम्बई-जीवन में प्राप्त विष्णु का साक्षात्कार, साक्षात् दर्शन नहीं था, प्रगाढ़ ध्यानमात्र था, किन्तु उस समय भ्रांतिवश वह दर्शन-

सा ही प्रतीत हुआ था। गोरखपुर आने पर भगवद्दर्शन की उत्कण्ठा तीव्र होती गयी। ऊपर से 'कल्याण' का सारा कार्य करते थे, किन्तु अन्तर में भगवद्दर्शन की लालसा प्रतिक्षण तीव्र होती जा रही थी।

इसी समय सेठ श्रीजयदयाल गोयंदका का एक तार मिला, जिसमें इन्हें जसीडीह आने का निर्देश दिया गया था। सेठजी उस समय स्वास्थ्य-लाभ के लिए जसीडीह में निवास कर रहे थे। तार मिलने पर उसी दिन श्रीघनश्यामदास जालान के साथ पोद्दारजी जसीडीह चले गये।

भगवान् विष्णु के दर्शन

आश्विन कृष्ण ६, शुक्रवार, सं० १९८४ वि० की बात है। सेठजी अपने कमरे में लेटे हुए थे। पलंग के पास श्रीघनश्यामदास और पोद्दारजी नीचे बैठे थे। इन्होंने ध्यान विषयक चर्चा करते हुए सेठजी से भगवान् श्रीरामचन्द्र के साक्षात्कार और शिमलापाल में खुले नेत्रों भगवान विष्णु का ध्यान होने की बात कही। इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए इन्होंने बताया कि भगवान विष्णु का ध्यान बीच में बन्द हो गया था, पर अब फिर से होने लगा है। पोद्दारजी की स्थिति को जानकर सेठजी बोले—"भगवान् का दर्शन होने के बाद तत्वज्ञान उसी समय हो जाना चाहिए। यदि किसी प्रतिबन्ध के कारण तत्त्वज्ञान नहीं होता है तो तत्वज्ञान कराने का भार भगवान पर आ जाता है और दो-चार बार दर्शन देकर उसे तत्वज्ञान करा देते हैं; किन्तु मुक्ति में संशय नहीं रहता।" सेठजी ने फिर पूछा—"तुम्हें जो भगवान विष्णु का ध्यान होता है, उसके बारे में तुम्हारी क्या ध रणा है ? उसे ध्यान मानते हो या साक्षात् ?"

पोद्दारजी बोले, "बातचीत एवं स्पर्श के सिवाय साक्षात् होने-जैसा ही होता है।"

सेठजी ने कहा, "यदि तुम साक्षात् समझते हो तो चरण-स्पर्श करने की कोशिश नहीं की क्या ? यह तो तुम्हारी दृढ़ भावना ही लगती है।"

पोद्दारजी का उत्तर था, 'मुझे भी दृढ़ भावना ही लगती है; क्योंकि जबतक ध्यान करता हूँ, तबतक मूर्ति दिखलायी देती है, उसके बाद फिरते हुए और बैठते हुए भी दिखलायी देती है। साथ-साथ आस-पास की चीजें भी दिखलायी देती हैं।' सेठजी ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा, "इसे तो ध्यान की गाढ़ी स्थिति ही समझनी चाहिये।'

इसके बाद लगभग दो बजे श्रीघनश्यामदास जालान के साथ पोद्.रजी सेठजी के पास गये। ये कुछ कहें, इसके पहले ही सेठजी ने कहा, 'आज ध्यान के लिए पहाड़ी पर चलने का विचार है।" इसके बाद वे उपस्थित सत्संगी भाइयों सहित पहाड़ी पर गये। कई स्थान देखने के बाद एक स्थान पसन्द किया। उस समय सेठजी और पोद्दारजी

सहित कुल १५ व्यक्ति थे। बाद में तीन व्यक्ति और आ गये। सब लोग वहाँ पर बैठ गये।

सेठजी ने पोद्दारजी से कहा, "आँख खोले हुए जिस तरह भगवान् का ध्यान किया करते हो, उसी तरह करना और कहना चाहिये।"

पोद्दारजी थोड़ी देर चुप रहे। ध्यान की भावना करते ही सारा दृश्य जगत एकदम लुप्त हो गया। चारों ओर अकस्मात् तीव्र प्रकाश हो गया। पोद्दारजी की वृत्तियाँ बाहर से बिलकुल हट गयीं। इसके बाद बन्दना के चार श्लोक कहकर थोड़ी देर के लिए चुप हो गये। फिर बोलने लगे, 'मुझे जिस प्रकार से भगवान् के स्वरूप का दर्शन हो रहा है, तदनुसार बोल रहा हूँ; आपलोग भी इसी प्रकार ध्यान करें।'

इतना कहकर वे कमलासीन श्रीविष्णुभगवान के स्वरूप का वर्णन करने लग गये। थोड़ी देरतक वर्णन करके पुनः चुप हो गये। फिर कुछ क्षणों के अंतर से वे पुनः बोले, 'मैं चरणस्पर्श के लिए आगे हाथ बढ़ाना चाहता हूँ, पर बढ़ते नहीं हैं। हाथ रुक गये हैं।' इतना कहकर और थोड़ी देर मौन रहने के बाद फिर बोले, 'हाथ तो बढ़ते हैं, पर भगवान् आगे की ओर सरक गये हैं।' फिर पोद्दारजी मौन हो गये। थोड़ी देर बाद पुनः बोले, 'देखिये, भगवान के चरण मेरे समीप आ गये हैं। मैं स्पर्श कर रहा हूँ। आप लोग भी स्पर्श कीजिये।' पोद्दारजी ऐसा कह ही रहे थे कि अकस्मात् जोर से बोले, 'भगवान तो अन्तर्धान हो गये!'

इधर सेठजी ने कहा, 'अन्तर्धान होने की बात का मुझे क्या पता, पर मेरे मन में ऐसी स्फुरणा हुई कि हनुमान से पूछूँ कि तुम ध्यान की बात कहते हो या मैं कहूँ?'

पोद्दारजी बोले, 'ध्यान की बात तो मैं ही कहूँगा, पर मुझे चरणों का स्पर्श अवश्य होना चाहिये।'

सेठजी ने कहा, 'जिस प्रकार से ध्यान हुआ था, उस प्रकार से होना सहज है, पर चरणों के स्पर्श की बात अगले (भगवान) की मर्जी पर है!'

इतने में पोद्दारजी पुनः उसी स्थिति में हो गये और उन्हें पूर्ववत् भगवान् के साक्षात् दर्शन होने लग गये। उनकी आँखें खुली थीं। बोले, "किसी को दर्शन करना हो तो मेरे पास आकर दर्शन करो। भगवान के श्रीचरण ये रहे। मैं स्पर्श कर रहा हूँ, आपलोग भी स्पर्श करें।" ऐसा कहकर जोर से हाथ बढ़ाकर श्रीभगवान के चरणों को पकड़ लिया, फिर बाह्यज्ञान-शून्य होकर गिर गये।

सेठजी ने कहा, "घनश्याम! इसे उठाओ।" घनश्यामदासजी से वे उठे नहीं, अतः ज्वालाप्रसादजी ने सावधानी से उठाकर उनको अपनी गोद में सुला लिया। इस प्रकार निष्पन्द एवं निश्चल अवस्था में वे लगभग डेढ़ घण्टे पड़े रहे। आँखें खुलने पर बोले, "भगवान तो चले गये।" इसके बाद सभी लोग निवास-स्थान पर वापस आने के

लिए चल पड़े। घनश्यामदासजी जालान पोद्दारजी को पकड़े हुए ला रहे थे। उन्हें शरीर का होश नहीं था। निवास-स्थान पर वापस लाकर एक तख्त पर उन्हें सुला दिया गया। उस स्थिति में भी थोड़े-थोड़े अन्तर से दिव्य वाक्यावली उनके मुख से निकलती रही। रात्रि में नींद नहीं आयी। एक विशेष प्रकार का आनन्द उमड़ता रहा।

जसीडीह से गोरखपुर लौटने पर पोद्दारजी को यहाँ भी भगवद्दर्शन हुए। आश्विन शुक्ल ६, रविवार सं० १९८४ (ता० २-१०-१९२७) की बात है। कान्ति बाबू के बगीचे में बने मकान के एक कमरे में प्रातः साढ़े सात बजे सत्संग के समय कई लोग उपस्थित थे। ध्यान की बात हो रही थी, ध्यान भी हो रहा था। अकस्मात् प्रकाश हो गया। आकाश में भगवान् विष्णु प्रकट हुए। पाँच छः मिनट तक उनके दर्शन होते रहे। बाद में वे अन्तर्धान हो गये। इस के अनन्तर पोद्दारजी की उपरामता दिनभर रही।

इसी प्रकार ८-१०-१९२७ ई० को उसी स्थान पर दिन के करीब १२ बजे उपरामता का अकस्मात् पुनः उद्रेक हुआ। उस समय पोद्दारजी बाहर बैठे हुए मजदूरों का काम देख रहे थे। उन्हें ऐसा लगा कि कोई कमरे की ओर खींच रहा है। वे खिंचे हुए कोठरी के अन्दर चले गये और किवाड़ बन्द कर लिये। उत्तर की खिड़की के पास कुर्सी पर बैठ गये और मन की भावना के अनुसार किसी के बैठने के लिए सामने एक कुर्सी और रख ली। एकाएक प्रकाश हुआ। उसके साथ ही भगवान् का आविर्भाव हो गया। सामने की कुर्सी पर एक बार उनका चरण स्पर्श हुआ। फिर आकाश में ही उनकी स्थिति रही। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने बताया, "मैं मन्त्र मुग्ध-सा हो रहा था। मेरे आनन्द का पार नहीं था। प्रभु मेरे सामने स्थित हुए करुणा और प्रेम के साथ महान् आनन्द की वर्षा कर रहे थे। मैं कुछ बोल न सका, न स्तुति कर सका; चरणस्पर्श मैंने उसी समय कर लिये। मन-ही-मन भगवान की इस अयाचित कृपा को देखकर परम आह्लादित हो रहा था। यह स्थिति बहुत देर तक रही। फिर भगवान् बोले, मानो आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा, "तेरी कुछ इच्छा बाकी है ?" बड़ी हिम्मत से एक-दो वाक्य मेरे मुँह से निकले, 'कुछ नहीं', केवल आप'........ भगवान् से वार्तालाप भी हुआ। अकस्मात् वे अन्तर्धान हो गये। मेरी स्थिर-दृष्टि विचलित हो गयी। उस समय घड़ी में लगभग सवा दो बजे थे। इसके बाद करीब चालीस घण्टे तक उपरामता बनी रही।"

लीला पुरुषोत्तम का साक्षात्कार

भगवान विष्णु के ध्यान-दर्शन की यह प्रक्रिया चल ही रही थी कि पोद्दारजी के मन में श्रीकृष्ण-दर्शन की इच्छा जगी। उसका विवरण देते हुए उन्होंने बतलाया, 'विष्णु से श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हुआ भागवत के प्रभाव से। बम्बई में श्रीमद्भागवत

के स्वाध्याय का अवसर मिला, इसमें प्रधान हेतु थे श्री हरिवक्षजी जोशी। वे प्रतिदिन मुझे भागवत सुनाया करते थे। बम्बई में मैं सत्संग-भवन में गीता पर प्रवचन करता था। प्रवचन में गीता की मधुसूदनी टीका का विशेष आधार लेता था। उस टीका में श्रीकृष्ण की बड़ी महिमा गायी गयी है। साथ-साथ भागवत का भी अध्ययन चल रहा था। मैंने उसी समय महात्मा शिशिर कुमार घोष द्वारा लिखित 'अमिय निमाईचरित' पढ़ा था। उसमें चैतन्य महाप्रभु का जीवनवृत्त दिया गया है। गौड़ीय सम्प्रदाय के कुछ अन्य भक्तिपरक ग्रन्थ भी देखे। एक दिन विष्णु भगवान का ध्यान हो रहा था कि मेरे मन में आया—उनकी लीला भी देखने को मिलती तो अच्छा होता। इस पर विष्णु भगवान ने कुछ कहा हो, ऐसी तो बात नहीं, लेकिन मुझे भान हुआ कि कोई कुछ कह रहा है, 'विष्णुरूप में तो दो ही प्रकार की लीलाएँ होती हैं—अवतार-लीला या बैकुण्ठ की नित्यलीला तथा मानव लीला। प्रथम में कोई मानव-लीला नहीं है। मानव-लीला सर्वोच्च एवं पूर्णरूप में हुई है श्रीकृष्ण स्वरूप में। अब तुमको श्रीकृष्ण स्वरूप का अनुभव होने लगेगा।' उस रात को मुझे बड़ा आनन्द रहा। स्वप्न में श्रीकृष्ण स्वरूप के दर्शन हुए, पहले रथस्थ गीता-वक्ता के दर्शन हुए, उसके बाद वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण के, किन्तु राधा के नहीं। ऐसा लगा—मानो श्रीकृष्ण कह रहे हों कि गीता के जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही वृन्दावन के श्रीकृष्ण हैं। उनकी तुम पर बड़ी कृपा है, उन्होंने तुम्हें अपना लिया है। उनकी लीला अब तुमको देखने को मिलेगी।

दूसरे दिन भगवान विष्णु के ध्यान के समय वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण का ध्यान अपने आप होने लगा। फिर वृन्दावन की लीलाओं के दर्शन होने लगे ध्यान में ही, लेकिन अधिकतर वात्सल्य-लीला के हुए, कुछ सख्य लीला के भी। कभी-कभी विष्णु भगवान का भी ध्यान हो जाता था, बीच-बीच में। इसके साथ श्रीकृष्ण स्वरूप के प्रति मन में अनुराग की वृद्धि होती गयी। फिर दिन में, रात्रि में, चाहे जब उनका ध्यान होने लगा। उनकी उपस्थिति प्रत्यक्षवत्-सी मालूम होने लगी, कभी-कभी आवाज सुनाई देती, कभी स्पर्श होता—इस तरह की बहुत-सी घटनाएँ घटीं।

श्रीकृष्ण-लीला-दर्शन

इस दिशा में पोद्दारजी की क्रमशः उल्लेखनीय प्रगति हुई। 'कल्याण' के सम्पादन तथा लोकहितकारी कार्यों में अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद उनकी साधना अबाध गति से चलती रही। इतना सब होने पर भी भगवान श्रीकृष्ण की मधुर-लीलाओं का साक्षात्कार उन्हें नहीं होता था। उनके मन में बड़ी व्याकुलता थी, मधुर लीलाओं के दर्शन की। मधुर लीलाओं के दर्शन के लिए आवश्यकता रहती है शुद्ध-सत्वसम्पन्न निर्मल धरातल की। तीव्र व्याकुलता ने पोद्दारजी के हृदय में अपेक्षित धरातल का निर्माण कर दिया और मधुर-लीला-राज्य में उनका प्रवेश हो गया।

भगवान विष्णु के साक्षात्कार के अनेक परवर्ती साधना-सोपानों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण-लीला-राज्य के जिन तत्त्वों को पोद्दारजी ने इन पंक्तियों के लेखक के समक्ष प्रकाशित किया, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

राधा-माधव का एकात्म्य-बोध

"उसके बाद मुझे अनुभव होता गया कि श्रीकृष्ण ही श्रीराधा हैं और श्रीराधा ही श्रीकृष्ण हैं, इनमें सर्वथा अभेद है। मधुर-लीला-राज्य में एक है—नित्य भाव और एक है नित्य रस। परम भाव और परम रस—ये दोनों ही भगवान के स्वरूप हैं और वे भगवान में नित्य रहते हैं। जहाँ श्रीराधाकृष्ण लीला-विरत हैं, वहाँ परमभाव और परम-रसका बाह्य प्राकट्य नहीं रहता; लीला के समय ही महाभावमयी श्रीराधा और रसराज श्रीकृष्ण के रूप में परम भाव तथा परम रस बिलसित रहते हैं। दो होकर भी श्रीराधाकृष्ण स्वरूपतः एक ही हैं तथा सच्चिदानन्दघन हैं। इस प्रकार का भाव सुदृढ़ होते ही परोक्ष रूप से नित्य चलने वाली रस और भाव की लीला साधक के समक्ष प्रकाशित हो उठती है।

आराध्य का स्वरूप-वैलक्षण्य

श्रीकृष्ण समस्त अवतारों के मूल अवतारी, समस्त भगवत्स्वरूपों के अंशी, साक्षात् परब्रह्म, सर्वेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर, निर्गुण-स्वरूप भूतगुणमय, निराकार—भौतिक आकार रहित, परमेश्वर अचिन्त्यानन्त-सद्गुण-समुद्र, अप्रमेय, अद्वय, अखिल-प्रेमामृतसिन्धु, दिव्य सच्चिदानन्द प्रेमघनमूर्ति, पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान हैं। इन 'स्वयं भगवान' श्रीकृष्ण के प्राकट्य के स्वरूप में एक अत्यन्त विलक्षणता यह है कि उनका परमोच्च एकत्व स्वरूप अन्य अवतारों में कभी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होता है। अन्य अवतार 'अंश-कला' अवतार हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा श्रीराम-श्रीकृष्ण रूप में अवतरित श्रीविष्णु, नर-नारायण, मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि इन सभी में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण अंशरूप में अवतरित होते हैं; अतः पूर्णावतार न होकर भी ये कभी अपूर्ण नहीं होते। ये 'अंश-कला' अवतार नित्य पूर्ण हैं, तथापि इनमें स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का पूर्ण प्राकट्य नहीं होता। विभिन्न कल्पों में भगवान श्रीकृष्ण के ऐसे 'अंश-कला' अवतार होते हैं, श्रीकृष्णावतार भी अनेक कल्पों में होता है, परन्तु इस सारस्वत कल्प में स्वयं भगवान अपने समस्त अंश-कला विभवों के साथ परिपूर्ण रूप से प्रकट हुए हैं। इसी से ये स्वयं भगवान हैं—'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्'। इन 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' में अथवा पूर्णावतार में सभी अवतारों का समावेश है तथा समस्त पुरुष, अंश-कला, विभूति. लीलाशक्ति आदि अवतार इन्हीं में अधिष्ठित हैं।"

लीला-रस-भोग

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्द रसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अंग-अवयव—सभी अप्राकृत भगवत्स्वरूप हैं। उनका यह स्वरूपभूत भगवद्देह

नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्यसम्पन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी वे विभु हैं। कर्म-वश वे पाञ्चभौतिक देह धारण नहीं करते, स्वेच्छा से अपने नित्य सच्चिदानन्दरूप को प्रकट करते हैं। श्रीकृष्ण का दिव्य लीला-निग्रह नित्य सच्चिदानन्दघन ही है।

भगवान के दिव्य लीला-विग्रह का प्राकट्य ही वास्तव में आनन्दमयी ह्लादिनी शक्ति के निमित्त से होता है। श्रीभगवान अपने नित्यानन्द को परिस्फुट करने के लिए अथवा उसका नवीन रूप में आस्वादन करने के लिए ही स्वयं अपने आनन्द को प्रेम-विग्रहों के रूप में प्रकट करते हैं और स्वयं ही उनके आनन्द का आस्वादन करते हैं। भगवान के उस आनन्द की प्रतिमूर्ति ही प्रेम-विग्रहरूपा श्रीराधारानी हैं और यह प्रेम-विग्रह सम्पूर्ण प्रेमों का एकीभूत समूह है। अतएव श्रीराधा प्रेममयी हैं और भगवान श्रीकृष्ण आनन्दमय। श्रीकृष्ण के दिव्य-आनन्द-विग्रह की स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रह स्वरूपा श्रीराधा के निमित्त से है। प्रेमसार श्रीराधा का अस्तित्व ही आनन्द-रससार श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमलीला को प्रकट करता है। दिव्य प्रेमसार विग्रह होने से ही श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और वे नित्य-निरन्तर आनन्दरससागर रसराज श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करती रहती हैं। गोपांगनाएँ श्रीराधा की कायव्यूहरूपा हैं। अनेक रूपों से श्रीराधा-कृष्ण की सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाना और उन्हें प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र कार्य होता है। यह लीला-विलास काम का निर्मूलीकरण अथवा निर्मलीकरण नहीं है; यहाँ तो काम के प्रवेश की कौन कहे, उसकी कल्पना भी नहीं है। निज-सुख-वासना ही काम कहलाती है और जहाँ निजसुखवासना का अस्तित्व ही नहीं, वहाँ काम की कल्पना भी अपराध है। सखी-सहचरी-मञ्जरी की प्रेरणा और सहयोग से नित्य चलनेवाला यह लीला-विलास आनन्दास्वादन एवं आनन्द-वितरण की परम पवित्र क्रीड़ा है।

इस लीला-विलास के दो पक्ष होते हैं—एक आश्रयालम्बन, दूसरा विषया-लम्बन। सुख-प्रदान करने की सेवा जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, वह आश्रयालम्बन है और सेव्य-पक्ष कहलाता है विषयालम्बन। आश्रयालम्बनस्वरूपा श्रीराधा के लिए श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं; जब श्रीकृष्ण आश्रयालम्बन बनते हैं तो वे विषयालम्बन स्वरूपा श्रीराधा की आराधना करते हैं। लीलाराज्य की आराधना का स्वरूप भी लोकोत्तर है। सामान्य लौकिक पूजा-अर्चा नहीं, सर्वतोभावेन समर्पण ही इस दिव्य आराधना की सहज प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया भी उनकी स्वरूपभूत है।

दिव्य प्रेम-राज्य में प्रवेश

विषयराज्य से ऊपर उठने पर ही प्रेम के वास्तविक स्वरूप का किंचित् आभास प्राप्त हो सकता है। निजसुख की वाञ्छा का अर्थ ही है दूसरे से सुख की आशा; इस स्वार्थपरक निजसुख में सच्चा प्रेम कहाँ? प्रेम का आधार है त्याग, मोक्ष की कामना का भी त्याग। मुक्ति की कामना में 'अहम्' के मंगल की चिन्ता परिव्याप्त है; परन्तु

प्रेम में न कोई कामना है, न कोई आकांक्षा। प्रेमराज्य में तो 'अहम्' का सर्वथा विस्मरण है, प्रेमास्पद के प्रति अहम् का पूर्ण-समर्पण है। वहाँ तो प्रेमास्पद प्रियतम का सुख ही सर्वोपरि है। फिर वैराग्य की न आवश्यकता है और न उसका विरोध। विषयों की न उपेक्षा है और न अपेक्षा ही। विषयों के संग्रह-परिग्रह की एकमात्र कसौटी है—स्वसुख वासना का त्याग कर प्रियतम के सुख को ही अपना सुख समझना। इस तत्सुख भाव के आते ही सारा जीवन आनन्दमय, प्रेममय हो जाता है।

भाव-समाधि

इस प्रकार साधना की उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने के अनन्तर पोद्दारजी के मानस में दो समानान्तर धाराएँ प्रवहमान रहने लगीं—एक निर्गुण निर्विशेष को लेकर चलती थी और दूसरी सगुण सविशेष को लेकर। एक के अनुसार जगत् प्रापंचिक-दृश्य-स्वरूप लगता था, किन्तु दूसरे के अनुसार वह भगवान् की लीला का रंगमंच प्रतीत होता था। बम्बई के साधन-जीवन में उन्होंने संकल्प द्वारा वृत्तियों को अन्तर्मुख करने, मन को निष्क्रिय करने आदि साधनों से जगत को भूलने का अभ्यास किया था; किन्तु अब ऐसा होने लगा कि जीवन के व्यवहाररत क्षणों में भी उनकी वृत्ति अकस्मात् संसार को छोड़ देती थी।

अपनी इस विलक्षण स्थिति के सम्बन्ध में एक अंतरंग जिज्ञासु द्वारा आग्रह-पूर्वक पूछे जानेपर उन्होंने बड़े ही संकोच से बताया था, "मैं अपनी उस स्थिति के विषय में विस्तार से बतलाने में लाचार हूँ। भगवत्कृपा से कैसे क्या होता है, भगवान् जानें; मैं तो उस अवस्था में अपने को एक अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति में पाता हूँ। ऐसी स्थिति की संभावना होते ही मैं एकांत में चला जाता हूँ, अपना कमरा बंद कर लेता हूँ, पर कभी-कभी हठात् सब इन्द्रियों का कार्य एकाएक बंद हो जाता है और मैं जहाँ, जिस अवस्था में होता हूँ, उसी अवस्था में रह जाता हूँ; प्राणों के स्पंदन के अतिरिक्त इन्द्रियों की कोई क्रिया नहीं होती। उस अवस्था में आँखें खुली रहने पर भी दिखायी नहीं पड़ता, कानों से सुनता नहीं पड़ता, त्वक्से स्पर्श का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब इन्द्रियों का कार्य होना बंद हो जाता है, तब मन निष्क्रिय हो जाता है और मन के निष्क्रिय होने से बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है। इन्द्रियों के कार्य बंद होने का अर्थ है—कार्य करने की वृत्तिका न रहना; वृत्ति रहने से ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

कभी सब इन्द्रियों का कार्य एकाएक एकसाथ ही बंद हो जाता है, और कभी एक-एक इन्द्रिय का कार्य बंद होते-होते सब इद्रियों के कार्य बन्द हो जाते हैं। कार्य बंद होने में क्रम नहीं है। कभी पहले किसी इन्द्रिय का कार्य बंद होता है और कभी किसी इन्द्रिय का।

वृत्ति इन्द्रियों से हटकर 'उधर' में केन्द्रित हो जाती है। 'उधर' का अर्थ या स्वरूप समझाया नहीं जा सकता। जब बाह्यज्ञान पूरा हो जाता है, तब 'उधर' की स्मृति नहीं रहती और जब अधूरा बाह्य-ज्ञान होता है, तब उधर की कुछ स्मृति तो रहती है, पर वह वाणी में आ नहीं सकती और जितनी वाणी में आ सकती है, उसको भी बताना सहज नहीं है।

कोई प्रबल संकल्प किया रहता है तो कभी-कभी उसकी स्मृति बीच में जाग्रत् हो जाती है, पर प्रायः नहीं होती। उस अवस्था में भी क्षीण-सी स्मृति आने से मेरे द्वारा कोई क्रिया सम्पन्न तो हो जाती है, पर उसका हेतु समझ में नहीं आता। पर यह भी तभीतक होता है, जबतक वृत्ति में 'इधर' का बाह्य जगत् का, कुछ अंश रह जाता है।''

भागवती स्थिति

''जब वृत्ति जाती है, तब यह भी स्मरण नहीं रहता कि कहाँ हूँ, सामने कौन है। पर यह भी उस समय की वास्तविक स्थिति नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के कार्यों का रुक जाना, मन-बुद्धि की वृत्तियों से जगत् का सर्वथा त्याग हो जाना और पूर्णतया वृत्तिका 'उधर' लग जाना ही 'भागवती स्थिति' नहीं है। जबतक वृत्तिजन्य 'इधर' का त्याग और वृत्तिजन्य 'उधर' का ग्रहण है, तबतक प्रकृतिराज्य में ही स्थिति है। 'भागवती स्थिति' में मन-बुद्धि-अहं की सत्ता नहीं रहती, उनके स्थान पर भगवत्सत्ता आ जाती है, जिसका ज्ञान भी भगवत्सत्ता में ही होता है, अन्य किसी भी स्थिति में नहीं। जब वृत्तिजन्य 'उधर' का ही अर्थ या स्वरूप नहीं समझाया जा सकता, तब इन्द्रिय-मन-बुद्धि से अतीत भगवत्सत्ता के स्वरूप को समझाना असम्भव है।

यह स्थिति कहीं भी किसी समय हो जाती है। यात्रा में भी यह स्थित होती है। उस अवस्था में मैं चुप हो जाता हूँ। लोग समझते हैं कि ऐसे ही चुप हो गये होंगे। थोड़ी देर बाद जब स्थिति बदल जाती है, तब मैं बोलने लगता हूँ।

शरीर पर इस स्थिति का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ! कभी-कभी ऐसी मुद्रा में घंटों बीत जाते हैं (जो अस्वाभाविक है) तब बाह्यवृत्ति आने पर कुछ असुविधा होती है। जैसे, बाह्यवृत्ति लुप्त होने पर पैर अस्वाभाविक मुद्रा में रहा तो बाह्यवृत्ति आने पर जब पैर सीधा करता हूँ या चलता हूँ तब कुछ देर के लिए कुछ असुविधा अनुभव होती है। यदि स्वाभाविक मुद्रा में बैठे-या लेटे रहने पर वृत्ति लुप्त होती है तो घंटों बीत जाने पर भी शरीर पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

वृत्ति के लौटने पर भी कभी थोड़ी-थोड़ी वृत्ति आती है, कभी एक साथ सारी वृत्ति आ जाती है। वृत्ति जब अपने आप उतरती है, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि उसको उतारने का प्रयत्न किया जाता है—तो होता यह है कि वृत्ति उतरतो तो है

नहीं, किसी एक विषय पर अटक जाती है। एक दिन वृत्ति को उतारने का अधिक प्रयत्न किया तो वह उतरी नहीं, भगवन्नाम में अटक गयी और घंटों नाम-जप होता रहा।

आजकल वृत्ति जगत्को कम पकड़ती है, 'उधर' अधिक जाती है और फिर 'भागवती स्थिति' हो जाती है।''

जब कभी पोद्दारजी को परिस्थितिवश अपनी वृत्ति को जबरन संसार में लगाने की चेष्टा करनी पड़ती थी, तब उसके फलस्वरूप आन्तरिक द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता था। इस विवशता का परिचय श्रीजयदयालजी गोयंदका को अप्रैल १९६२ में लिखे गये उनके एक पत्र से मिलता है। उसका कुछ आवश्यक अंश नीचे दिया जाता है—

''कलकत्ता जाने के पूर्वतक मस्तिष्क की स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एक धारा में चल रही थी। अधिक समय बाहरी ज्ञान नहीं रहता था—शरीर बेसुध बैठा रहता था। इस धारा में यहाँ कोई बाधा नहीं थी, कलकत्ता जाने पर बाधा आयी। दिनभर लोगों से मिलना, बातचीत करना, जाना-आना आदि करना पड़ता। मस्तिष्क चाहता, किसी भी ऐसी परिस्थिति का स्पर्श न हो—संसार सर्वथा विस्मृत हो जाय, किन्तु परिस्थिति संसार में बँधे रहने को बाध्य करना चाहती थी। बड़ा द्वन्द्व-युद्ध चलता रहता था। दिन में बात करते-करते गड़बड़ी हो जाती। वृत्ति को जबरदस्ती संसार में लगाने की चेष्टा करनी पड़ती। भूलें होतीं, उन्हें सँभालने की चेष्टा करनी पड़ती। लोगों के सामने किसी ऐसी स्थिति के आने पर एक तमाशा न बन जाय—इस भावना से वृत्तियों को संसार से संपृक्त रखने के लिए जबर्दस्ती करनी पड़ती। इसका परिणाम यह हुआ कि उस सहजधारा के विकास में तो बाधा आयी ही, साथ ही चित्त में एक विचित्र अशान्ति भी पैदा हो गयी। रात को बारह-एक बजे जब सोने जाता, तब दिनभर की आघात पायी हुई वृत्ति जबर्दस्ती संसार को त्याग देती। संसार नहीं रहता, तब संसार की नींद भी नहीं रहती। लोग समझते, सो रहा है। इस प्रकार रातें बीतीं। कलकत्ते में शायद ही दो-तीन रातें ऐसी बीती होंगी, जिनमें मैं दो-तीन घंटे सो पाया हूँ।''

पोद्दारजी की इस विचित्र मानसिक स्थिति का स्वरूप उक्त घटना के पाँच वर्ष बाद, १९६७ ई० में लिखे गये उनके निम्नांकित पत्र से और भी स्पष्ट हो जाता है—

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

दिनांक २४-९-६७

प्रिय भैया,

इस समय भौतिक जगत् बहुत नीचे स्तर पर है और क्रमशः नीचे की ओर ही जा रहा है। इसका परिणाम और भी दुःखप्रद होगा। मेरा तो मन आजकल बहुत

ही उपरत-सा रहता है। बेचारे लोग आते हैं—अपनी-अपनी समस्या लेकर, पत्रादि भी लिखते हैं। सभी में भगवान् हैं—सबका आदर करना चाहिए, पर मैं कर ही नहीं पाता। बहुतों की तो बातें ही आजकल मेरी समझ में नहीं आतीं। मन उनको ग्रहण ही नहीं करना चाहता, मानो संसार की बातों के ग्रहण करने की दृष्टि से मन को लकवा मार गया हो। दृष्टिकोण ही बदल गया है। जो लोग आते हैं, वे अपने दृष्टिकोण से अपनी बात ठीक ही कहते हैं, पर उस दृष्टिकोण के अभाव में मुझे उनकी बात का न कोई महत्त्व दीखता है, न निराकरण ही। बड़ी विचित्र स्थिति है। इसी से अधिक समय सर्वथा अकेला कमरे के किवाड़ बन्द करके रहता हूँ। न किसी से मिलने का मन करता है, न किसी को देखने का ही। कोई आते हैं, तब बहुत सँभल-सँभल कर बात करता हूँ, जिससे वे अन्य कुछ न समझें; पर उसमें कठिनाई होती है। जीवन-मृत्यु में कोई भेद नहीं दिखाई देता। पर न मैं अपनी बात किसी को समझा सकता हूँ, न कोई समझ ही पाता है। आवश्यकता भी नहीं है। सबसे यथायोग्य।

तुम्हारा भाई
हनुमान

अपनी इस मनःस्थिति का काव्यबद्ध विवरण उन्होंने 'कल्याण' में प्रकाशित किया था। वह इस प्रकार है—

नाथ ! तुम्हारी कितनी करुणा, कैसा अतुल तुम्हारा दान !
हटा असत माया का पर्दा, दिया स्वयं ही दर्शन-ज्ञान ॥
नहीं रह गया अब तो कुछ भी अन्य, छोड़कर तुमको एक।
मिथ्या जग में रमनेवाले, रहे न मिथ्या बुद्धि-विवेक ॥
आते लोग, सुनाते अपनी विषम समस्याओं की बात।
सुलझाने का उन्हें पूछते साधन, सविनय कर प्रणिपात ॥
कहूँ उन्हें, समझाऊँ क्या मैं, जब न दीखता कुछ सत्-सार।
सुलझानेवाले उस मन को गया सर्वथा लकवा मार ॥

लीला-संवरण का समय ज्यों-ज्यों निकट आता गया, भावसमाधि का स्थितिकाल तथा आवृत्ति उत्तरोत्तर उतनी ही बढ़ती गयी। इससे 'कल्याण'-संपादन में व्यवधान पड़ने लगा। 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग के सदस्य श्रीशिवनाथ दुबे को गीताभवन से ३-६-६८ को भेजे गये पत्र में उन्होंने लिखा, "आजकल मेरे मस्तिष्क की जो स्थिति है और जो उत्तरोत्तर बढ़ रही है, उसे देखते हुए सम्पादन का काम मैं कर सकूँगा, यह नहीं कहा जा सकता। प्रतिदिन ही पाँच-सात घंटे बाह्यचेतना सर्वथा लुप्त रहती है। चेतना के समय भी बार-बार यहाँ का सब-कुछ लुप्त होता रहता है।"

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वृत्तियों के लुप्त होने की यह प्रक्रिया तीव्र होती गयी। उसके फलस्वरूप व्यावहारिक जीवन से उनकी वितृष्णा हो गयी। मन सदैव एकांतवास की प्रेरणा देता, अतः जागतिक प्रपंच से आत्यन्तिक विरक्ति 'स्व'-भाव बन गयी। इसकी झलक गीताभवन (ऋषिकेश) से १९६९ ई० में एक स्वजन को लिखे गये उनके निम्नांकित पत्र में मिलती है—

॥ श्रीहरिः ॥

गीताभवन
१७-६-६९

प्रिय·······

सप्रेम हरिस्मरण।

तुम्हारे पत्रादि मिले। भैया! मेरी स्थिति कुछ विचित्र-सी हो रही है। आज-कल मस्तिष्क अधिक खराब रहता है। यहाँ बहुत लोग घर में ठहरे हुए हैं। गीता-भवन में भी बहुत भीड़ है। बहुत लोग मिलना, बात करना चाहते हैं। मैं उनके सामने मस्तिष्कवाली कोई बात प्रकट करना नहीं चाहता। सबके संतोष के लिए यथा-साध्य अपनी स्थिति को छिपाता हुआ सबके साथ मिलना तथा ठीक-ठीक बातें करना चाहता हूँ—इसलिए कई बार बड़ी कठिनता होती है। सारी वृत्तियाँ जगत् को सर्वथा छोड़ना चाहती हैं; दूसरी एक वृत्ति चाहती है—'ऐसा न हो, चेतना ठीक बनी रहे।' अतः उस समय बाहरी काम, बाह्य चिन्ता आदि की ओर वृत्तियों को जबर्दस्ती लगाना चाहता हूँ। किसी-किसी बार तो इसमें सफल हो जाता हूँ; परन्तु अधिक बार यही होता है कि बाह्य चेतना नहीं होती। अपने आप ही लोगों को निराश होकर चले जाना पड़ता है। जब बाह्य चेतना आती है, तब भी प्रायः कोई वृत्ति जगत को ग्रहण करना नहीं चाहती। उस समय ऐसा लगता है कि कभी बाह्य चेतना हो ही नहीं—जब तक इस शरीर तथा प्राण का सम्बन्ध है, केवल और केवल वही स्थिति बनी रहे; उससे व्युत्थान हो ही नहीं। जब बाह्य चेतना पूरी रहती है, तब भी आज कल बहुत दिनों से ऐसा ही मन करता है—बड़ी प्रबल इच्छा होती है कि मैं अकेला ही रहूँ। कमरा बंद रहे, जहाँ रहूँ, वहाँ भीड़-भाड़ हो ही नहीं। कमरा खुला भी हो तो न कोई मेरे पास आये, न मुझसे जगत की और जगत के विषय की—किसी भी प्रकार की कोई बात की जाय। मेरे सामने कोई विषय-चर्चा ही न हो। मैं अकेले में मन हो तो कोई काम कर लूँ, नहीं तो परमार्थ-चिन्तन में ही लगा रहूँ।

पर अबतक का जीवन बड़ा भीड़-भाड़ का रहा है। घर के ही नहीं, सामा-जिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सेवा-सहायता, ट्रस्ट तथा संस्थाएँ, सत्-साहित्य-प्रचार आदि अनेक विषयों के सैकड़ों-हजारों झंझट अपने ही स्वभावदोष से लगे रहे हैं। हज़ारों-लाखों आदमियों से परिचय है, पत्र-व्यवहार हुआ है, कभी

कहीं मिलन हुआ है। अतः स्वाभाविक ही बड़े सद्भाव से अपनी-अपनी समस्याओं को लेकर लोग मिलना चाहते हैं, पत्र-व्यवहार करना चाहते हैं। मिलने पर कोई घर की बात करता है, कोई अपनी समस्या का समाधान चाहता है, कोई किसी विषय में परामर्श चाहता है, सहायता चाहता है, सिफारिश चाहता है, साधन की बात पूछता है, कोई अपना दुःख सुनाकर दुःख-अशान्ति से त्राण पाने का उपाय पूछता है, और कोई धर्म-अध्यात्म-राजनीति आदि के सम्बन्ध में सम्मति, सहायता, सहयोग चाहता है। ऐसे हजारों-हजारों प्रश्नों को लेकर लोग मिलते हैं।

मेरा सदा का स्वभाव है—किसी को मना करने में बड़ी कठिनता प्रतीत होती है। यह भी ध्यान रहता है कि इन सभी रूपों में भगवान् हैं, फिर मैं इनका तिरस्कार कैसे करूँ ? भगवान की तो पूजा करनी चाहिये, भगवान् उन सब में निश्चय हैं ही। बहुत-सी बातें संकोच से ऐसी भी स्वीकार कर लेता हूँ, जो मेरी लौकिक शक्ति से बाहर की हैं। सबसे बड़ी कठिनाई होती है यह अनुभव कर कि मैं इतने सब रूपों में भगवान् का स्वागत न कर पाकर, अकेले ही और सर्वथा अकेले में ही अपने भगवान् को देखना चाहता हूँ। जनसमूह से वृत्ति प्रबलता से हटती रहती है। कभी-कभी ऐसा होता है और आजकल तो रोज ही दिन में कई बार होता है कि मैं बात कर रहा हूँ, वृत्तियाँ जगत् को छोड़ने लगीं, देखना-सुनना बन्द होने लगा। किससे क्या कह रहा था, इसकी स्मृति नष्ट हो गयी। कौन थे, यह भी भूल गया। कौन क्या कहता है, समझ में नहीं आता। इस अवस्था में बात करते-करते रुक जाना पड़ता है। कभी तो वृत्ति लौटकर जगत् में आ जाती है, मन-इन्द्रियों का काम सामान्यरूप से चलने लगता है और फिर ठीक-ठीक व्यवहार होने लगता है; किन्तु कभी-कभी रही-सही बाह्य चेतना भी चली जाती है। उस दिन एक सज्जन व्यापार की बात कहकर राय पूछ रहे थे। दो-चार बातें करके ही मैं रुक गया। उन्हें पता नहीं चला कि मुझे क्या हो गया। कुछ देर बैठकर बेचारे निराश-उदास होकर चले गये। दूसरे दिन आये, तब मैंने उनको प्रकारान्तर से समझाया।

एक दिन एक सज्जन अपनी लड़की के विवाह में शामिल होने के लिए कह रहे थे। स्त्री-पुरुष दोनों साथ थे। बहुत परिचित, बहुत प्रेम रखनेवाले। मैं बात करते-करते रुक गया। आखें खुली थीं। बाहर कोई परिवर्तन नहीं, पर संसार का अभाव हो गया। इन्द्रियों की क्रिया बन्द हो गयी। मैं बोलता-बोलता रुक गया। उन्होंने मुझे नाराज समझा और वे दुःखी होकर चले गये। ऐसी परिस्थिति में मेरे मन में आता है कि यदि मुझसे स्नेह रखनेवाले तथा मेरे प्रति कृपा करनेवाले, मेरे घर-परिवार के लोग ऐसी व्यवस्था कर देते, जिससे मुझे सर्वथा अकेले में रहने की सुविधा होती; जगत् की बात मेरे सामने आती ही नहीं तो बहुत अच्छा होता। जैसे कोई पागल हो जाय, मर जाय तो उससे फिर कोई कुछ आशा नहीं रखता, वैसा ही समझकर लोग मुझे छोड़ दें।

शरीर की बीमारी में कुछ शान्ति सहज ही मिल जाती है। लोग स्वाभाविक ही कम मिलते-जुलते हैं। घरवाले भी 'डिस्टर्ब' करना नहीं चाहते। आनेवालों को भी वे समझा देते हैं। उस समय ऐसा मन होता है कि शरीर की नीरोगता से तो यह रोग ही अच्छा, यही बना रहे तो कुछ तो राहत मिले।

ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ? कुछ समझ में नहीं आता। अभी रात के साढ़े तीन बजे हैं। बीच-बीच में वृत्तियाँ चेतना को छोड़ रही हैं। बड़ी मुश्किल से रुक-रुक कर ऊपर की पंक्तियाँ लिख पाया हूँ। तुम सोचना—मेरी कैसे क्या व्यवस्था हो ? लोगों को भी दुःख न हो और मेरे 'अरतिर्जनसंसदि' का भी निर्वाह हो जाय।

तुम्हारा भाई,
हनुमान

जागतिक जीवन की सामान्य स्थिति में पोद्दारजी इस प्रकार की भाव-समाधि में लीन होते प्रायः देखे जाते थे, किन्तु कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं, जिनमें संघर्षपूर्ण मानसिक तथा भौतिक परिस्थितियों में भी वे भाव-समाधि में लीन लक्षित किये गये। घटना १९६७ ई० की है। उन दिनों गोहत्या-विरोधी आन्दोलन जोरों पर था। उसकी अर्थव्यवस्था तथा प्रचार-प्रसार का दायित्व पोद्दारजी के ही कंधों पर था। आन्दोलन का केन्द्र दिल्ली था। अपनी माँग को बल देने के लिए पुरी के शंकराचार्य श्रीनिरंजनदेव तीर्थ तथा प्रयाग के श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी आमरण अनशन पर बैठ गये थे। सरकार सभी संभव साधनों से आन्दोलन को कुचल देने के लिए कटिबद्ध थी। अनशन करते तीन सप्ताह बीत चुकने से सत्याग्रहियों की स्थिति गंभीर हो गयी थी। सरकार पर दबाव डालने के उद्देश्य से पोद्दारजी समाचार-पत्रों में वक्तव्य छपाने, तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को पत्र लिखने में अहर्निश व्यस्त थे। जगद्गुरु शंकराचार्य तथा ब्रह्मचारीजी की जीवनरक्षा के लिए उन्होंने सभी संभव उपाय किये। दिनभर अत्यधिक व्यस्त तथा चिन्तातुर रहने के बाद वे रात को १० बजे लिखा-पढ़ी और भेंट-परामर्श से ज्यों ही निवृत्त हुए, यह देखकर सहयोगियों तथा मित्रों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि पल-कान्तर में वे भाव-समाधि में लीन हो गये। जो व्यक्ति कुछ ही क्षणों पूर्व इतना व्यस्त एवं व्यग्र दिखाई पड़ रहा था, वह सर्वथा बाह्यज्ञानशून्य होकर इस विचित्र स्थिति में कैसे चला गया ? लौकिक दृष्टि से यह निश्चय ही एक अनहोनी बात थी, किन्तु साधना के मर्मज्ञ जानते हैं कि लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त जन के लिए यह नितान्त प्रकृत व्यापार है। पोद्दारजी के भावराज्य में वह आन्दोलन आन्दोलन न होकर भगवान् की लीला का विलासमात्र था, जिसमें उनका सहयोग परिकररूपेण लिया गया था। तात्त्विक दृष्टि से उनके निकट वह आन्दोलन इससे अधिक और कुछ नहीं था।

धर्म-तत्त्व-निर्णय

अध्यात्म साधना की भाँति ही धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में भी पोद्दारजी के कुछ व्यक्तिगत अनुभव थे, विचार थे। अपनी एतद्विषयक मान्यता स्पष्ट करते हुए वे एक

स्थान पर लिखते हैं, "किसी भी धर्म के प्रति मेरे मन में अवज्ञा या द्वेष का भाव नहीं है। मेरी मान्यता है कि जैसे भगवान नित्य, अनादि, अनन्त, सनातन, सत्य हैं, वैसे ही धर्म भी नित्य, अनादि, अनन्त, सनातन-सत्य है। यह भगवत-स्वरूप-धर्म ही सनातन धर्म है; आत्म-धर्म है। यह अतीतकाल में भी था, वर्तमान में भी है तथा भविष्य में भी रहेगा। यह किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा निर्मित-प्रचारित नहीं है। यही धर्म जगत् की प्रतिष्ठा है—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' यही सबको धारण करता है और इसी के द्वारा सब धारण किया जाता है। यह सनातन धर्म ही सबका जीवन है। विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न रूपों में प्रकट होकर यही सबको जीवन-दान देता है। सूर्य में प्रकाश और ताप, अग्नि में दाहिकाशक्ति, चन्द्रमा में शीतलता, अमृत में अमर करने की शक्ति, पृथ्वी में क्षमा, सिंह में शौर्य, मानव में मानवता, सती में सतीत्व, माता-पिता में वात्सल्य, पुत्र में मातृ-पितृ-भक्ति, पत्नी में पतिपरायणता, राजा में शासन और पालन-शक्ति, ब्राह्मण में ब्रह्मत्व, क्षत्रिय में क्षत्रित्व, वैश्य में वैश्यत्व, शूद्र में शूद्रत्व, ब्रह्मचारी में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ में गृहस्थी का पालन-पोषण, वानप्रस्थ में त्याग का साधन, संन्यासी में सबत्याग—यों प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, प्राणी, परिस्थिति—सबके विभिन्न धर्मों के रूप में यही एक शाश्वत-सनातन धर्म प्रकट है। धर्म-निरपेक्ष संसार में कोई रह ही नहीं सकता, क्योंकि धर्म ही सबका जीवन है। संसार में जितने सम्प्रदाय या मत है, वे वस्तुतः स्वतन्त्र धर्म नहीं हैं। यदि वे सर्वभूतहित के विरुद्ध नहीं हैं तो इस एक ही सनातन धर्म की ही शाखा-प्रशाखाएँ है। सम्प्रदाय या मत बुरी चीज नहीं हैं, वे सभी देश-कालानुसार निर्मित धर्म-साधन-पद्धतियाँ हैं, जिन में भेद अनिवार्य है और आवश्यक भी है। पर उन सभी में एक चीज आवश्यक है कि उनके द्वारा किसी भी प्राणी का परिणाम में अहित नहीं होना चाहिये। पिता और पुत्र के तथा माता और पत्नी के धर्म अलग-अलग होंगे, पर वे एक दूसरे का हित करने तथा परस्पर सुख पहुँचानेवाले ही होंगे। इसी प्रकार देशकालानुसार विभिन्न सम्प्रदायों और मतों में भेद रहेगा, पर मूलतः एक ही आत्मधर्म में से निःसृत होने से उन्हें परिणाम में परस्पर हितसाधन करनेवाले होने चाहिये। तभी वे धर्मसम्मत हैं, नहीं तो वे आसुर-सम्प्रदाय हैं, जिनमें चिन्ता, दुःख, अशान्ति पाप और नरक सदा साथ रहते हैं और इन्हीं का प्रचार-प्रसार होता है। वास्तव में 'धर्म' वह है, जिससे परिणाम में अपना तथा दूसरों का हित होता हो और 'अधर्म' वह है, जिससे परिणाम में दूसरों का अहित होता हो। यही पुण्य और पाप की भी सार्वभौम परिभाषा है।

यही सनातन धर्म है—जो सनातन-नित्य है तथा सनातन नित्य तत्त्व की प्राप्ति करानेवाला है; भगवत्स्वरूप है तथा भगवान की प्राप्ति करानेवाला है और अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनों का अमोघ साधन है। इसीलिए इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, मनःसंयम, शौच आदि की प्रधानता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' यह भाव इस धर्म का आधार है। यही आत्म-कल्याणकारी

तथा सर्वभूतहितमय सनातन धर्म है; यही हिन्दू-धर्म है; यही सार्वभौम-धर्म विश्व-धर्म या आत्म-धर्म है। इसका पालन करनेवालों की संख्या जिस युग में अधिक होती है, वही 'सत्य-युग' है। मनुष्य को चाहिये कि वह इस धर्म का सेवन करता रहे और अपने को सदा ही 'सत्य-युग' में रखे। ऐसा 'सत्ययुगी' मानव ही विश्व में अपने उदाहरण से सत्य सनातन-धर्म का प्रचार कर सकता है। ऐसा करना ही वास्तविक मानव-सेवा है, सर्वभूत-सेवा है, भगवत्सेवा है। इसीसे जगत में सुख-शान्ति का उदय और विस्तार होगा।

यह है धर्म के सार्वभौम स्वरूप का विवेचन। विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में मैंने गंभीरता से विचार किया है, उनके धर्म-ग्रन्थों को देखा है एवं उनके माननेवालों से विचार-विमर्श किया हैं, सभी में सिद्धान्तरूप से बहुत बातें समान हैं; भेद उनके कार्यान्वयन में ही है। बाइबिल का मैंने अध्ययन किया, उसमें बड़ी अच्छी बातें हैं। कुरान में भी बड़ी अच्छी-अच्छी बातें हैं। पारसी धर्मग्रन्थों में अच्छी बातें हैं। जैन और बौद्ध-धर्म में भी बड़ी अच्छी बातें हैं। अच्छी-अच्छी बातें सब की आदरणीय हैं और बुरी चीजें अपनी भी त्याज्य हैं।'

भगवत्कार्य-सिद्धि

पोद्दारजी का धराधाम पर अवतरण एक महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए हुआ था। उसे उन्होंने 'भगवान का विशेष कार्य' की संज्ञा दी है। वह विशेष कार्य अथवा अवतरण-हेतु क्या था ? यह उन्होंने अपनी कृतियों अथवा प्रवचनों में कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है। 'कल्याण'-संपादन तथा गीताप्रेस के माध्यम से धार्मिक-साहित्य तथा आध्यात्मिक विचारों का विश्वव्यापी प्रचार, लोकसेवा हेतु उनके द्वारा समय-समय पर प्रवर्तित और संचालित बहुमुखी योजनाएँ, व्यक्तिगत साधना द्वारा उपलब्ध उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति और जागतिक जीवन में प्रतिष्ठित करुणा, शील, तथा प्रेम का लोकोत्तर आदर्श ही वह 'विशेष-कार्य' था या इसके अतिरिक्त कुछ और, इसके निर्णय के साधन अब शेष नहीं रहे। सौभाग्य से इस प्रसंग में पोद्दारजी द्वारा जिज्ञासा-निवृत्ति हेतु लिखे गये कुछ पत्र आदि उपलब्ध हैं। सुधी पाठकों के अनुशीलनार्थ हम उन्हें नीचे अविकल उद्धृत कर रहे हैं। संभव है, उनसे तत्वानुसंधान में सहायक सूत्र उपलब्ध हो सकें।

एक संन्यासी महात्मा पोद्दारजी के पास कभी-कभी आते थे और एकान्त में उन से बातें करके चले जाते थे। समय-समय पर वे पत्र-द्वारा भी पोद्दारजी से विचार-विनिमय करते रहते थे। पोद्दार जी उनसे अपने जीवन की, साधना की, अनुभूति आदि की बातें प्रायः छिपाते नहीं थे। उक्त महात्मा के पत्रों का उत्तर ये बड़ी आत्मीयता से देते थे। नीचे एक पत्र दिया जा रहा है—

॥ श्रीहरिः ॥

गीताभवन, स्वर्गाश्रम
आषाढ़ शुक्ल ५, सं० २०२६

'सम्मान्य श्री·······

सादर प्रणाम ।

आपका पत्र मिला था । आपने मेरे शरीर के सम्बन्ध में चिन्ता प्रकट की, यह आप की कृपा है । आप जानते हैं, पाञ्चभौतिक शरीर विनाशी है; इससे वास्तव में हमारा क्या सम्बन्ध है ? यह तो नाश होगा ही । इसके लिए कुछ भी चिन्ता नहीं है । भगवत्कृपा तथा आप गुरुजन-स्नेहियों की सद्भावना से मैं 'स्वस्थ' हूँ । फिर मेरा तो यहाँ वास्तव में अब कोई काम भी नहीं रहा; जिस कार्य के लिए इस पाञ्चभौतिक शरीर के माध्यम से मुझे भेजा गया था, उनका वह कार्य पूरा हो गया । जो कुछ मेरे द्वारा होना अभीष्ट था, वह हो गया । उसका फल निश्चय ही बहुत ही श्रेयस्कर—'उनके' इच्छानुसार हुआ है; पर वह क्या है ? आगे क्या होगा ?—यह जानने की न मुझे आवश्यकता है, न इच्छा । यन्त्र को तो जैसे घुमाया, घूम गया । क्यों घुमाया ? घुमाने का क्या परिणाम होगा ? यह घुमानेवाले यन्त्री जानें । इसके अतिरिक्त एक बात और है—इस समय जगत पतनोन्मुख है । कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है—आध्यात्मिक कहे जानेवाले उच्चस्तर से लेकर चोरी-डकैती, अनाचार-व्यभिचार के निम्न स्तरतक—जिसमें दम्भ, नीच स्वार्थ, राग-द्वेष, काम-लोभ, मद-अभिमान, ईर्ष्या-बैर आदि न आ गये हों । अतः इस संसार में—इस देह में मैं रहना भी नहीं चाहता । यद्यपि सब भगवान् की ही लीला है या मायामात्र है, तथापि देह व्यावहारिक जगत में है और वह व्यावहारिक जगत इस समय गिरते-गिरते बहुत नीचे स्तर पर आ गया है और उसके नीचे गिरने की गति रुकी नहीं है, वरं उत्तरोत्तर जोर पकड़ रही है । ऐसी स्थिति में इस व्यावहारिक जगत में, इस देह में, रहना भी निरर्थक है । ऐसी कोई कामना तनिक भी नहीं है कि शरीर जल्दी चला जाय, या रहे, पर जल्दी चला जाय, यह अच्छा लगता है । न जायगा तो भी प्रसन्नता है ।'

× × × ×

'आजकल अधिकतर मेरा इस जगत से कोई सम्बन्ध भीतर से नहीं है । कार्यकाल में—बाहर भी बहुत ही थोड़ा है और जब जगत की सर्वथा अनुभूति मिट जाती है, उस समय तो भीतर-बाहर कहीं भी जगत् नहीं रह जाता । एकमात्र वे ही रह जाते हैं । यह कोई ध्यान या समाधि नहीं है, जिसका किसी अभ्यास से सम्बन्ध हो, न किसी क्रिया का ही फल है । यह तो उनकी अपनी लीला की एक विलक्षण स्फूर्ति है या उनकी लीला की लीला है—जो अत्यन्त ही दुर्लभ है । वास्तव में यहीं स्वरूप का ठीक-ठीक साक्षात्कार होता है । कई बार ऐसा विचार होता है कि इस

लीला की कुछ, किसी अंश में अनुभूति अमुक-अमुक को भी हो जाती, पर लीलामय का संकेत इसे स्वीकार नहीं करता और वह जो कुछ कहता है, वही ठीक है।

जगत का क्या होगा ? इस स्तर में उसे जानने की न इच्छा है, न आवश्यकता। सृजन-संहार इसका स्वरूप ही है। जैसा कुछ उनकी बाह्यलीला का विधान बन चुका है, वह सामने आता जायगा। कोई यदि चाहे और क्षमता हो तो उसे देखता रहे। नहीं तो अलग, जहाँ है, वहीं बना रहे। इसकी ओर देखे ही नहीं।

आप के प्रश्न तो बहुत हैं और हैं भी महत्त्व के, पर इतने में ही उनका उत्तर समझ लें। आप के सामने, किसी के सामने भी उन सब चीजों को प्रकट करने का निषेध है। जिन बातों को आप के सामने प्रकट करने में संकोच न करने का आदेश है, वे बातें वहीं तक लिखी गयी हैं। इसके आगे बढ़ने का संकेत नहीं है।

जितना जो-कुछ जिसके लिए मुझसे करवाना अभीष्ट था, उतना वे मुझसे करवा चुके। इसका परिणाम भी वैसे बहुत ही मंगलमय हुआ है तथा दूरतक एवं दीर्घकाल-व्यापी होगा। पर अभी अव्यक्त रूप से स्थित है। कभी शायद प्रकट हो या न भी हो, मुझे यह जानने की इच्छा नहीं है।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

अपने सम्बन्ध में ईश्वरीय आदेश का उल्लेख करते हुए वे अन्यत्र कहते हैं—

''मुझसे यही कहा गया कि तुमने लोगों को जो बटोरा, इससे क्या हुआ ? अगर तुम वैसे बन जाते तो तुम्हारे अस्तित्त्वमात्र से बहुत लोगों का इतना अधिक विशुद्ध कल्याण होता, जो इस प्रपंच में नहीं हो पाया। वैसा तो हो ही नहीं पाया और बहुत कम लोगों का हुआ। कई तरह के लोग तुम्हारे पास आये, कई स्वार्थ से आये, कई अपनी कामना की पूर्ति के लिए आये, कई तुमको अपना शिष्य बनाने के लिए आये, पर तुम्हारा जो कार्य था, वह प्रायः पूरा हो चुका है। अब श्रीकृष्ण जब चाहेंगे, तभी तुम्हारा शरीर चला जायगा। वह जो पहले वाला हनुमानप्रसाद था, वह तो मर चुका है, उसके साथ सम्बन्ध वैसे का वैसा बना हुआ है, वही सम्बन्ध है। तुम्हारे लिए अब कुछ करना शेष नहीं है। यह जो-कुछ हो रहा है, जबतक होता है, होने दो और साथ-साथ जो व्यवहार है, जगत में आदर्श है, उसको छोड़ो मत।''

स्वरूप-स्थिति

''इसलिए अब बाह्य जगत में मेरे अन्तःकरण में दो तरह के विचार चलते रहते हैं—एक अत्यन्त दैन्य का और दूसरा स्वरूपस्थिति का। दैन्य के विचार में यह मन में रहता है कि मुझ में कोई भी गुण नहीं है, न मालूम कितने दोष भरे हैं, न मालूम कितने पाप अबतक हुए हैं ! पहले के अपने कुछ दोष दिखायी देते हैं; छोटे दोष बड़े

दिखाई देते हैं। । मन में यह विचार आता है कि सभी अपने से अच्छे हैं; अपने में कोई गुण हो तो अभिमान किया जाय। मुझमें कोई गुण तो है नहीं, केवल अपराध ही भरे हैं। यह भगवान् की दया है कि वे अपराध देखते नहीं और अपनी अहैतुकी कृपा से, अपनी पतितपावनता के स्वभाव से उन्होंने मुझे अपना रखा है। इस प्रकार के विचार बहुत बार आते हैं। उनको मैं कई बार लिख भी देता हूँ। स्वरूप-स्थिति के जो विचार आते हैं, उनके दो प्रकार हैं—प्रथम यह कि मैं भगवान् के द्वारा अपनाया गया केवल उनका प्रियपात्र हूँ, जगत में किसी का नहीं, कोई मेरा नहीं। कोई वस्तु मेरी नहीं, कोई प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति मेरी नहीं और मैं किसी का नहीं, केवल भगवान् के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है; मैं उनका हो गया। दूसरा भाव आता है कि मैं आत्मस्वरूप हूँ। यह जगत् कुछ है ही नहीं, यह सारा माया से दृश्यमान् था, वह माया हट गयी। कब हटी, इसका इसलिए पता नहीं कि यह भ्रम ही था कि माया है, वस्तुतः कुछ था ही नहीं। ये विचार लिखने-कहने के नहीं हैं, क्योंकि स्वरूप-स्थिति में कुछ विचार आते नहीं। इस प्रकार दो तरह के विचार आते है और दोनों धाराएँ चलती हैं। पर इन दोनों से ही मेरी अहंता का वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु जब स्थिति पर ध्यान जाता है तो न दैन्य है और न यह स्वरूपाभिमान ही। जो कुछ है, वह भगवान् का अपना लीलाविलास है। वे जो चाहते सो करते हैं और जो चाहते सो करवाते हैं। नाम-जप का जो अभ्यास था, वह अब भी चलता है, अन्दर से। बीच-बीच में बोल-बोलकर जप करता था; अब वह अन्दर-ही-अन्दर चलता है। भगवान् की स्मृति तो नित्य निरन्तर रहती ही है।''

जीवन के अन्तिम दिनों में पोद्दारजी के अन्तर्मानस में दिव्य भगवल्लीलाएँ चलने लगी थीं और वे भावराज्य में सतत स्थित रहने लगे थे। यह स्थिति लोक-चक्षु से सर्वथा अतीत तथा मन-बुद्धि-चित्त से परे की है। अतएव प्राकृत मन-बुद्धि द्वारा प्राकृत शब्दों के माध्यम से उसका वास्तविक स्वरूप अनधिगम्य है। इसका किंचित् परिचय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज महाशय को दिसम्बर १९७० में बंगला भाषा में लिखे गये पोद्दार जी के पत्र की निम्नांकित पंक्तियों से प्राप्त किया जा सकता है—

''मैं सदा-सर्वदा इस प्रकार का अनुभव करता हूँ कि भगवान् की दिव्य-कृपा-सुधा का वर्षण मेरे ऊपर नित्य हो रहा है....। वर्तमान समय में बहुत दिनों से मेरा शरीर अस्वस्थ है, पर भगवत्कृपा से शरीर की इस अस्वस्थ अवस्था में भी मैं विलक्षण आनन्द-लाभ कर रहा हूँ। प्रायः एकान्त में रहता हूँ और उस समय एक ऐसी स्थिति रहती है, जो सर्वथा अनिर्वचनीय तथा अचिंत्य है।''

जीवन्मुक्तावस्था का यह भोग कई वर्षों तक चलता रहा। भाव-समाधि रह-रह कर उन्हें नित्यलीला में परिकररूपेण सम्मिलित होने का अवसर प्रदान करती

रही और इस व्याज से प्रियतम उन्हें अपनी दिव्यलीला के रसास्वादन का निमंत्रण देते रहे। देह प्रारब्धवश लोकालय में कालक्षेप करता रहा, किन्तु आत्मा आराध्ययुगल के माधुर्य-रस-भोग में लीन रही। अन्त में कैन्सर के रूप में प्रियतम स्वयं पधारे। लाख प्रयत्न करने पर भी वे अपना वास्तविक रूप सर्वतोभावेन अनुगत की भावदृष्टि से छिपा नहीं सके। पोद्दारजी ने मृत्यु-शय्या पर ही उनका मूक अभिनन्दन किया और सबके देखते-देखते रसब्रह्म में लीन हो गये। उनकी अध्यात्म-साधना की यही चरम-परिणति थी।

रहस्य-कथा

मानवीय आत्मा तथा मानव-चेतना अनादिकाल से विश्व की एक अनबूझ पहेली रही है। आदिम युग में जीवन में घटित अलौकिक आकस्मिक, तथा अप्रत्याशित कार्य-व्यापारों को अदृश्य शक्ति द्वारा संयोजित अनुभवकर उसके प्रति भयमिश्रित श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता था—अद्भुत के प्रति आकर्षण का श्रीगणेश यहीं से हुआ, जो कालांतर में प्रेमभाव अथवा अनुराग के उद्रेक से, भक्ति तथा जिज्ञासा का उदय होने पर दर्शन और विज्ञान के विकास का कारण बना। मनुष्य के मानसिक विकास के साथ आध्यात्मिक चेतना का स्तर ज्यों-ज्यों उन्नत होता गया, त्यों-त्यों विश्व की संचालक तथा नियामक परमसत्ता के अस्तित्व में उसका विश्वास दृढ़ होता गया। एकांत चिंतन तथा गूढ़ साधना के द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जो कुछ इन्द्रिय-गोचर है, वही सब-कुछ नहीं है। दृश्यजगत् के परे भिन्न परिधियों एवं धरातलों में अनेक विचित्रतापूर्ण तथा रहस्यमय संसार विद्यमान है। भारतीय धर्मग्रंथों—विशेषरूप से वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों में इसका विशद विवेचन मिलता है। योगियों और संतों नें अपनी ब्रह्माण्डव्यापी सत्ता द्वारा इनकी स्थिति और स्वरूप का साक्षात्कार किया और उनके रहस्यों पर प्रकाश डाला। सिद्ध महापुरुषों के इन अनुभवों ने नश्वर जागतिक जीवन से परे महाजीवन, आत्मा की अनंत यात्रा अथवा अमरत्व, शरीरांत के अनंतर इस लोक से परे दिव्यलोकों में आत्मा के अस्तिस्व, परलोकवाद और पुनर्जन्म की भावना आदि को पुष्ट आधार प्रदान किया। विश्व के आस्तिक धर्मों और संप्रदायों में ही नहीं, अनात्मवादी धर्मों में भी प्रकारान्तर से एक सीमातक इसकी सत्यता स्वीकार की गयी। किन्तु आधुनिक युग के वैज्ञानिक यथार्थवादियों ने इसकी वास्तविकता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया। उनके मत से प्रत्यक्ष सिद्ध अथवा इन्द्रिय-गोचर संसार से बाहर किसी भी लोक तथा मृत्यु के उपरान्त आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास कल्पनामात्र है। किन्तु यह उपपत्ति व्यापक स्वीकृति न प्राप्त कर सकी।

इस दिशा में इधर पाश्चात्य देशों तथा भारत में परामनोविज्ञान के क्षेत्र में जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे मृत्यु के बाद मानवीय आत्मा के अस्तित्व-सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि हुई है। मरने के अनंतर वैयक्तिक आत्मा की अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व एवं अधः लोकों के किसी न किसी स्तर में स्थिति, ध्यानसिद्ध अधिकारी माध्यमों द्वारा उसका आह्वान, प्रत्यक्ष सम्पर्क-स्थापन, वार्तालाप तथा उसी की हस्तलिपि में संदेश-प्राप्ति,[1]

---

१. द्रष्टव्य– परलोक-वार्ता ('मनीषी की लोकयात्रा' का परिशिष्ट–१)—डा० भगवती प्रसादसिंह।
'रवीन्द्रनाथ की परलोक-चर्चा'—अमिताभ चौधरी।

प्रेतात्माओं का वायवी योनिधारण और अधिकारी व्यक्तियों के उनसे सम्बद्ध अनुभव-विवरण आदि तथ्य जिस तरह मानवीय आत्मा की अपार रहस्यमयता का संकेत देते हैं, उसी प्रकार मानवीय चेतना के अनंत अधः तथा ऊर्ध्व स्तरों का आभास स्वप्न-मनोविज्ञान तथा योगविद्या के चमत्कारवर्णनों[1] से प्राप्त होता है। इससे यह विदित होता है कि दृश्यजगत की पृष्ठभूमि में स्थित कोई अदृश्य तथा अज्ञात शक्ति जीवन-सूत्र का अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से संचालन करती है; कार्य-कारण-सम्बन्ध की खोज में उलझे हुए वैज्ञानिक तथा दार्शनिकों के लिए उसकी कार्यपद्धति अगम्य है। पुराण तथा संत-साहित्य इस प्रकार के अद्भुत वृत्तों से भरे पड़े हैं, जो सामान्य मानव-बुद्धि के लिए दुरूह हैं।

पोद्दारजी का बाह्य जीवन पत्रकारिता से जुड़ा था, किन्तु योगयुक्त सिद्ध योगियों की भाँति उनका मानस अलौकिक शक्ति से सतत तरंगायित रहता था। उनके व्यक्तित्व की अंतर्धाराओं से परितः परिचित महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज ने उन्हें 'जन्मना विलक्षण महापुरुष' माना है। उनकी जीवन-यात्रा में आरंभ से अंत तक इस वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। आविर्भाव की प्रेरक अद्भुत परि-स्थितियाँ, जन्मकालीन देह-लक्षण, बाल्यावस्था में भूकम्प से प्राण-रक्षा, सरोजनी देवी का आत्मार्पण, बम्बई में ट्रेन-दुर्घटना से त्राण, राजस्थान में रेल से यात्रा करते समय जीवन-रक्षा—जैसी अनगिनत घटनाएँ इसके प्रमाण हैं। पोद्दारजी इन के मूल में अपनी कोई विशेषता अथवा अलौकिक शक्ति न मानकर इसे शरणागतवत्सल की अहैतुकी कृपा कहते थे। उनके सिद्धांतानुसार यदि प्रकृतरूप में उक्त घटनाओं का परिणाम प्रतिकूल होता तो भी वह भगवान के मंगलविधान के अनुसार उनके परम कल्याण के लिए ही होता। वे साधना की उस उच्च भूमिका को प्राप्त कर चुके थे, जहाँ प्रिय-अप्रिय का भेद समाप्त होकर सब-कुछ एकाकार हो जाता है। कैंसर-जैसी प्राणांतक व्याधि का आराध्यरूप में अभिनंदन कर उन्होंने अंतिम क्षणोंतक अपने हरिश्चन्द्र-व्रत का निर्वाह किया।

ऐसे एकान्त अनुगत भक्त के योगक्षेम की व्यवस्था भगवान के वरदहस्त किस प्रकार करते रहे, उनके संभव-असंभव सभी प्रकार के संकल्पों की पूर्ति असाध्यसाधक विश्वनियंता द्वारा किस प्रकार होती रही, 'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस' की वृहद् योजना किस प्रकार सफलतापूर्वक कार्यान्वित हुई और उनके द्वारा आयोजित लोकाराधन के विविध पुरोगम उत्कृष्ट रूप में कैसे सम्पन्न हुए, इसका रहस्य जानने की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी।

---

१. द्रष्टव्य – 'मनीषी की लोकयात्रा'—डा० भगवती प्रसाद सिंह,
'योगी कथामृत'–परमहंस योगानंद,
'ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया'—पाल ब्रन्टन।

'भागवती-स्थिति' को प्राप्त ऐसे योगयुक्त महापुरुष का पार्थिव शरीर की इयत्ता तथा एकदेशीयता से ऊपर उठकर लोकोत्तर व्यक्तित्व प्राप्त कर लेना सामान्य दृष्टि से आश्चर्यजनक हो सकता है, किन्तु अनंत के सहचर संतों की जीवन-धारा से परिचित व्यक्तियों के निकट यह एक अत्यंत सहज व्यापार है। इनकी यह अलौकिक शक्ति साधनार्जित न होकर जन्मजन्मांतर से सुरक्षित और स्वाभाविक थी। निरंतर सम्पर्क में रहनेवाले ही नहीं, दूरस्थ प्रदेशों के निवासियों, नितांत अज्ञात एवं अपरिचित साधकों और सामान्यजनों का पोद्दारजी के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण और उनसे सम्बद्ध विचित्र अनुभूतियों के वृत्तान्त इसकी पुष्टि करते हैं। आत्मख्यापन के विरोधी होने से पोद्दारजी स्वयं अपने सम्बन्ध में इस प्रकार की कथाओं-तथ्यों के प्रचार-प्रसार का आजीवन विरोध करते रहे, किन्तु धर्मतत्व-विवेचन, भगवान की कृपाशीलता की व्याख्या, जीवन-वृत्त विषयक आत्मोल्लेखों तथा जिज्ञासुओं को लिखे गये पत्रों में इनके अवशेष किसी प्रकार काल-कवलित होने से बच गये हैं।

प्रस्तुत अध्याय में उक्त स्रोतों से ऐसे कुछ प्रसंग संकलित किये गये हैं—इस विचार से नहीं कि इन्हें पढ़कर लोग पोद्दारजी के व्यक्तित्व की अलौकिकता से अभिभूत हो उन्हें महासिद्ध मानकर पूजने लगें—बल्कि इस उद्देश्य से कि एक सदाशय कर्मयोगी जीवन की सम-विषम स्थितियों में काल-यापन करता हुआ आत्मशक्ति के द्वारा किस प्रकार उर्ध्व स्थिति प्राप्तकर अलौकिक शक्तिसम्पन्न बन जाता है, इसका एक जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया जा सके। मानवता का पथप्रदर्शक, दुःख-सुख भोगी, संकल्प-विकल्प से जूझता हुआ मर्त्य मानव ही हो सकता है, स्वर्ग का आनन्द भोगनेवाला निरीह देवता नहीं। संसार-सागर को अखण्ड आस्तिकता, लोकोत्तर कर्तव्यनिष्ठा तथा आत्मानुशासन द्वारा पार करने का मार्ग दिखानेवाले इस विदेह-मार्गी भक्त की जीवन-गाथा ऐसे अनेक रहस्यपूर्ण वृत्त-रत्नों से मण्डित है, जो किसी भी सिद्धयोगी के व्यक्तित्व की चरम उपलब्धि के रूप में परिगणित हो सकते हैं।

यहाँ इसी प्रकार की कुछ रहस्यपूर्ण घटनाओं का विवरण पोद्दारजी की कृतियों तथा अनुगतों से उपलब्ध वृत्त के आधार पर दिया जाता है।

पारसी प्रेत के लिए श्राद्ध-व्यवस्था

पोद्दारजी का बम्बई-प्रवास आध्यात्मिक चमत्कारों का विशाल भंडार है। साधनात्मक उपलब्धियों के साथ-साथ इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। नीचे उन्हीं के शब्दों में एक ऐसी घटना वर्णित है, जिसमें स्वजनों के लिए किये जानेवाले श्राद्ध-कर्म की सार्थकता प्रमाणित होती है। यह घटना सम्वत् १९८२ के आस-पास घटित हुई थी। एक प्रसंग में पोद्दारजी ने इसका विवरण देते हुए बताया—

"साधना प्रारम्भ होने पर उसमें बड़ी तीव्रता आने लगी। मैं प्रतिदिन सायंकाल भोजन करने के पश्चात् लगभग आठ बजे घर से निकल जाता था और चौपाटी

स्ट्रैंड में, जहाँ बहुत-सी बेन्चें पड़ी रहती थीं, वहाँ बैठकर नाम-जप एवं भगवच्चिन्तन करता था। वह स्थल बिलकुल एकान्त था तथा प्रकाश अधिक न रहने से वहाँ अंधेरा-सा रहता था। यह मेरा प्रतिदिन का काम था।

एक दिन मैं बेन्च पर बैठा नाम-जप कर रहा था। अचानक मेरी बेन्च के ठीक सामने मेरे पैरों की तरफ एक पारसी सज्जन खड़े दिखाई दिये। वे सफेद कपड़े पहने हुए थे। पारसियों में जो पुरोहित होते हैं, वे विशेष प्रकार की पोशाक पहनते हैं। वे वैसी ही पोशाक पहने हुए थे। मैं नाम-जप करता रहा और वे सज्जन सामने खड़े रहे। वे बहुत देर तक उसी रूप में खड़े रहे, पर मैं चुप रहा और नाम-जप करता रहा। बहुत देर होने पर मन में आया, "एक भले आदमी सामने खड़े हैं और उन्हें इसी प्रकार खड़े बहुत देर हो गयी है, अतएव इनको बैठने के लिए कह दिया जाय।' ऐसा विचार आते ही मैंने उनसे कहा, "साहेबजी ! आप बैठ जाइये। खड़े-खड़े आपको बहुत देर हो गयी'। मेरे इतना कहने पर वे बोले, "आप डरियेगा नहीं, मैं प्रेत हूँ।" उन सज्जन ने ज्यों ही अपने को 'प्रेत' बतलाया, मैं भयभीत हो गया, मुझे पसीना हो आया। वे समझ गये मैं डर रहा हूँ। उन्होंने फिर कहा, 'आप डरिये नहीं, मैं आपका अनिष्ट नहीं करूँगा; मैं तो आप से सहायता की याचना करने आया हूँ। आपका मंगल होगा।' उनके इस कथन से मैं कुछ आश्वस्त हुआ। बाद में उन्होंने कहा, "यदि आप मुझसे पहले बात नहीं करते तो मैं बोल नहीं पाता, क्योंकि मुझमें ताकत नहीं है कि बिना किसी के पहले बात किये मैं अपनी ओर से यहाँ के लोगों से बोल सकूँ। यही हेतु है कि मैं इतनी देर प्रतीक्षा करता रहा कि आप बोलें। प्रेतलोक में अनेक स्तर हैं। प्रेतों के अनेक प्रकार के अधिकार हैं। उनकी विभिन्न शक्तियाँ हैं। कोई प्रेत सभी जगह आ-जा सकते हैं, कोई नहीं आ-जा सकते। कोई अनेक काम कर सकते हैं, कोई नहीं कर सकते। जैसे इस लोक में मनुष्यों के अलग-अलग अधिकार हैं, शक्तियाँ हैं, बल हैं, वैसे ही वहाँ पर है। मैं प्रेतयोनि में हूँ। मैं सब जगह जा सकता हूँ, हर एक को दिखाई दे सकता हूँ, पर मुझसे पहले कोई बोले नहीं तो मैं बोल नहीं सकता। मैं पारसी हूँ, पर मेरी हिन्दू-शास्त्रों में श्रद्धा है। मेरी मृत्यु अभी हाल में ही हुई है। प्रेत-लोक में मेरी स्थिति अच्छी नहीं है। आप कृपा करके किसी को गया भेजकर मेरे लिए पिण्डदान करवा दें तो मेरी सद्गति हो जायगी।"

मैंने उनसे प्रश्न किया, "गया में हिन्दुओं के द्वारा श्राद्ध किया जाता है। आप पारसी हैं, आप लोग श्राद्ध पर विश्वास नहीं करते, फिर श्राद्ध कराने की बात कैसे कहते हैं ?"

प्रेत ने उत्तर दिया, "सत्य यदि सत्य है तो वह जातिसापेक्ष नहीं है। भिन्नता जाति में होती है, जाति तो यहाँ के व्यवहार को लेकर है, जीव में जाति का भेद

नहीं होता। जीव में पारसी, हिन्दू, ईसाई का सवाल नहीं। जिस जीव को प्रेत बनना होता है, वह बनता ही है।''

उन्होंने अपने बम्बई के निवास स्थान का नाम-पता बतलाया। इसके पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये। मैं घर लौट आया। दूसरे दिन उनके कथनानुसार मैंने उनका पता लगाया। वे बम्बई के बाँदरा नामक अंचल में रहते थे। छः महीने पहले उनकी मृत्यु हुई थी। उनके नाम आदि सब का पता मिल गया। वे पारसी होने पर भी गीता का पाठ किया करते थे। सब बातों का ठीक-ठीक पता लग जाने पर मैंने अपने पास रहनेवाले एक ब्राह्मण को, जिसका नाम हरिराम था, उनका गया में श्राद्ध एवं पिण्डदान करने के लिए भेजा। उन्होंने गया में जाकर उन पारसी सज्जन का पिण्डदान और श्राद्ध किया। जिस दिन गया में उनके लिए पिण्डदान हुआ, उसी दिन चौपाटी में ही मुझे उनके फिर दर्शन हुए। उन्होंगे कहा, ''मैं आप के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आया हूँ। आपने मेरा काम कर दिया। अब मैं प्रेतलोक से उच्च-लोक में जा रहा हूँ।'' मुझे उनकी बात सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ।

''पहले मैं श्राद्ध-तर्पण आदि की उपयोगिता पर थोड़ा सन्देह करने लगा था, सुधारवादियों के साथ रहने के कारण ही इस प्रकारकी वृत्ति हो चली थी; किंतु पारसी प्रेत से मिलने तथा उससे वार्तालाप होने के बाद मेरी उसमें दृढ़ आस्था हो गयी। उसके बाद मैंने शिशिरकान्ति घोष के पुत्र श्री पीयूषकान्ति घोष की 'मृत्युर पर पारे' (मृत्यु के उस पार) नामक ग्रंथ तथा उस विषय की अन्य पुस्तकें देखीं। इस अध्ययन से भी श्राद्ध आदि में निष्ठा बढ़ी और हमारे घर में बड़ी श्रद्धा के साथ श्राद्ध-कर्म होने लगा।''

प्रेत लोक की स्थिति एवं जीवन

''मैंने प्रेत से प्रेतलोक की स्थिति, वहाँ के जीवन, कर्मों के फल आदि के बारे में बहुत-सी बातें पूछीं। उन्होंने सब बातों का सविस्तार उत्तर दिया; अब मैं उन बातों को भूल गया हूँ। पर मुख्य-मुख्य बातें मुझे स्मरण हैं। उन्होंने बताया, किसी के के प्रति वैर लेकर मरने वाले की वहाँ बहुत दुर्गति होती है। उसे नरकों में बड़ा कष्ट होता है। मैंने उनसे पूछा, 'क्या नरक सत्य है ?' वे बोले, 'हाँ, सब सत्य है।' फिर उन्होंने कहा, 'जीवन में किसी के प्रति द्वेष रहा हो तो मरने से पहले उससे क्षमा माँग लें तथा अपने मन से उसके प्रति वैरभाव का त्याग कर दें। इसके अतिरिक्त जो धन के लिए किसी दूसरे की हत्या करता है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है। किसी को आश्वासन देकर न देनेवाले की भी दुर्गति होती है। ब्राह्मण और गरीब का धन अप-हरण करनेवाले की बहुत दुर्गति होती है। माता-पिता और गुरु का अपमान करनेवाले की बड़ी दुर्गति होती है। व्यभिचारी की भी बड़ी दुर्गति होती है।' इस प्रकार उन्होंने मुझे बहुत-सी बातें बतायीं। उन्होंने यह भी बतलाया कि 'प्रेतलोक में बहुत-से सद्भा-

वनायुक्त प्रेत हैं, बहुत-से दुर्भावनायुक्त। बहुत-से सात्त्विक वृत्ति के हैं तथा बहुत-से तामसवृत्ति के। वृत्ति के अनुसार उनके स्वभाव एवं कर्म होते हैं। इस जीवन के ममता तथा राग-द्वेष के सम्बन्ध उनको स्मरण रहते हैं और वैसा ही वे यहाँ के व्यक्तियों को मानते हैं तथा उसी प्रकार का वर्ताव उनके साथ करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु सभी प्रेम या द्वेष का वर्ताव नहीं कर पाते, इसलिए दुःखी रहते हैं। अच्छे प्रेतों को कुछ दिन वहाँ रखकर पितृलोक में भेज दिया जाता है, जो प्रेतलोक का ही एक अंग है। वहाँ उन्हें कर्मानुसार अच्छी-बुरी स्थिति प्राप्त होती है। वहाँ भी पहले का किया हुआ भजन स्मरण रहता है और भजन की वृत्ति बनी रहती है। पहले के अभ्यास के अनुसार वहाँ भजन की प्रवृत्ति होती है और भजन होता है। प्रेतलोक में शान्त प्रेत बहुत हैं, जो किसी का बुरा करना नहीं चाहते। किसी दुष्कर्मवश उनको प्रेतत्व की प्राप्ति हो गयी रहती है। प्रेतलोक के प्राणियों के लिए अन्न-जल-वस्त्रादि का दान उनके नाम पर घरवालों एवं मित्रों को सदा करते रहना चाहिए, वहाँ उनके अन्दर वासना होती है, जो यहाँ दान देने से ही पूर्ण होती है। प्रेतों के उद्धार के लिए तथा उनको सद्गति प्राप्त कराने के लिए श्राद्ध एवं पिण्डदान, गयाश्राद्ध, भागवत-पारायण, विष्णु-सहस्रनाम-पाठ, गायत्री-जप और अपने-अपने धर्मानुसार भगवान की प्रार्थना करने से उन्हें बहुत लाभ होता है।'

दिव्य लोकों से सम्बन्ध

प्रेत-दर्शन की घटना से पोद्दारजी की परलोक की स्थिति एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में जिज्ञासा बढ़ी और उन्होंने अपने साधन-बल से वहाँ की कुछ आत्माओं से सम्पर्क स्थापित कर लिया। उनके माध्यम से वे यदा-कदा परलोकगत आत्माओं की स्थिति का विवरण प्राप्तकर उनके शोकाकुल सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान करते थे। इस तथ्यकी जानकारी होने पर इस विषय को लेकर उनके पास जिज्ञासुओं की भीड़ होने लगी, तब उन्होंने साधना में बाधक समझकर इस प्रकार के प्रेत-वृत्तों का पता लगाने में रुचि लेना कम कर दिया। किन्तु उनका दिव्यलोकों के विभिन्न स्तरों और वहाँ निवास करनेवाली आत्माओं की स्थिति-विषयक ज्ञान पूर्ववत् बना रहा। इसकी पुष्टि उनके द्वारा दिये गये एतद्विषयक निम्नांकित विवरण से होता है—

''पीछे मेरा कुछ दिव्यलोकों से सम्बन्ध हो गया। वहाँ के कुछ प्राणियों से मैंने घनिष्ठ परिचय स्थापित कर लिया। अमुक आदमी की मृत्यु के बाद क्या स्थिति है, इसका पता लगाना होता है तो वहाँ के लोगों से कहा जाता है। वे प्राणी, अमुक नाम तथा अमुक गोत्र के व्यक्ति की अमुक स्थान पर मृत्यु हुई तथा उसका दाह-संस्कार अमुक स्थान पर, अमुक घाट पर हुआ—ये जानकारियाँ प्राप्त करके वहाँ उस व्यक्ति का पता लगाते हैं और पता लगने पर मुझे बता देते हैं। बहुत-से मिलने-जुलनेवाले लोग आते हैं। वे अपने स्वजनों-मित्रों आदि की गति के विषय में पूछते रहते हैं।

इस प्रकार दस-बीस 'केस' बराबर पता लगाने के लिए रहते हैं। मैं उन लोकों के प्राणियों को वे 'केस' बता देता हूँ। उनके प्रयत्न से कुछ व्यक्तियों का ठीक-ठीक पता लग जाता है, कुछ का अधूरा पता लगता है और कुछ का बिलकुल ही नहीं लगता। उन लोकों के प्राणियों के द्वारा वहाँ की बहुत-सी बातें मालूम होती रहती हैं। अमुक मृत व्यक्ति के लिए क्या उपाय करवाना चाहिये, जिससे उसकी सद्गति हो जाय, इसका संकेत भी उनसे प्राप्त हो जाता हैं। पीछे उस व्यक्ति के लिए वैसा उपाय करवा दिया जाता है और उसकी सद्गति हो जाती है।

तीन वर्ष पूर्व बनारस के एक होटल में एक व्यक्ति के द्वारा अपने मित्र की हत्या कर दी गयी। उसकी पत्नी इसी गोरखपुर की बालिका है। वह बहुत दुःखी थी। उसने अपने पति के विषय में मुझसे जानना चाहा। मैंने वहाँ के लोकों के प्राणियों से पता लगाया और उनका बताया हुआ उपाय करवाया। उस व्यक्ति की सद्गति हो गयी। और भी बहुत-सी बातें हैं, जो बताने की नहीं हैं। परलोक में गये हुए कई व्यक्तियों से वार्तालाप हुआ है, पर सब बताया नहीं जा सकता। कन्हैयालाल जालान, गोरखपुर निवासी के पुत्र कुञ्जबिहारी की मृत्यु बहुत वर्षों पहले हुई थी; उसकी भी इसी प्रकार सद्गति हुई।

जैसे यहाँ अमुक शहर में या प्रान्त में हमारे परिचित हैं, हम उन्हें उस शहर या प्रान्त के किसी व्यक्ति के विषय में पता लगाने के लिए कहें तो वे उनका पता लगाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु प्रान्त और शहर की सीमा बहुत बड़ी होने से वे किसी का पता लगा पाते हैं, किसी का नहीं भी। कहीं कोई व्यक्ति उस प्रान्त को छोड़कर दूसरे प्रान्त में चला जाता है तो उस प्रान्त में रहनेवाले अपने किसी मित्र को उनका पता लगाने के लिए कहते हैं। वे मित्र कभी प्रयत्न करते हैं, कभी नहीं भी करते हैं। यही स्थिति ऊर्ध्व लोकों की भी है। जिन व्यक्तियों से परिचय है, वे अपने लोक में हमारे बताये हुए नाम के व्यक्ति का पता लगाते हैं। वहाँ पता न चलने पर वे अपने परिचित अन्य लोकों के व्यक्तियों को अपने लोकों में पता लगाने के लिए कहते हैं। कभी वे पता लगाकर बताते हैं, कभी नहीं भी बताते।

इस लोक की भाँति उन लोकों में भी सभी तरह के प्राणी होते हैं। प्रेतों में भी कुछ बड़े ईमानदार होते हैं और कुछ यहाँ के स्वभाव के अनुसार धोखा देनेवाले भी होते हैं। उन लोगों से सम्पर्क स्थापित करने की कई विधियाँ हैं, जिन्हें मैं बताना नहीं चाहता, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि ऊर्ध्व लोकों से सम्पर्क स्थापित हो सकता है।''

स्वप्नादेश द्वारा आवास-व्यवस्था

राजद्रोह के अपराध में बंगाल से निष्कासित होने के बाद पोद्दारजी बम्बई चले गये और वहाँ व्यापार में लग गये। व्यापार के सिलसिले में एक बार उन्हें

मोहू (इन्दौर) जाना पड़ा। वहाँ पहुँचने पर रात हो गयी थी। इसलिए एक धर्मशाला में ठहरने की व्यवस्था के लिए गये। मैनेजर ने उत्तर दिया, 'कोई कोठरी खाली नहीं है, किसी होटल में चले जाइये'। पोद्दारजी के लिए होटल में ठहरना अरुचिकर था। रात काफी बीत चुकी थी। कुछ देर तक धर्मशाला के नीचे खड़े होकर विचार करते रहे। उसी समय उनको पास में ही एक खाली स्थान दिखाई पड़ा—वह अस्तबल था। पोद्दारजी ने निकट जाकर देखा—जगह गंदी थी, किन्तु वहाँ रात काटी जा सकती थी। अपने हाथों से ही उन्होंने उसकी सफाई की। भोजन का कोई प्रबंध हो नहीं सका, अतः बिस्तर लगाकर वहीं सो गये।

धर्मशाला का मैनेजर भी काम-काज निपटाने के बाद अपने घर जाकर सो गया। रात में उसे स्वप्न हुआ, 'धर्मशाला के बगल में जो अस्तबल है, उसमें मेरा एक भक्त भूखा-प्यासा सो रहा है, तुम जाकर उसके खाने-पीने, ठहरने-सोने की समुचित व्यवस्था करो।' मैनेजर की नींद टूट गयी, तत्काल धर्मशाला आया और उसके सन्निकट घोड़ा बाँधनेवाली कोठरी में एक यात्री को सोता हुआ पाया। यह देखकर उसे स्वप्न की वाणी पर विश्वास हो गया। यात्री को जगाया और चरण छूकर प्रणाम किया। पोद्दारजी ने उनका परिचय प्राप्त करने के बाद रात में वहाँ आकर जगाने का कारण पूछा। मैनेजर ने स्वप्न की बात बता दी। फिर आग्रहपूर्वक पोद्दारजी का बिस्तर उठाया और उन्हें धर्मशाला में ले आया। भोजन-आवास का समुचित प्रबन्ध कर उसने अपनी भूल के लिए बार-बार क्षमा-याचना की। पोद्दारजी सर्वान्तिर्यामी भगवान् की शरणागतवत्सलता पर मुग्ध हो गये।

आश्रित-रक्षा

प्राणिमात्र की सेवा और सहायता करना पोद्दारजी का स्वभाव था। संकट की घड़ी में वे अज्ञात रूप से स्वजनों की रक्षा किया करते थे। श्रद्धालु भक्त को अपनी श्रद्धा के अनुरूप फल की प्राप्ति होती थी। इस प्रकार की एक रहस्यपूर्ण घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

बात ज्येष्ठ कृष्णपक्ष सं० १९९१ की है। उन दिनों सत्संग के निमित्त पोद्दारजी की माता स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में थीं। उनको गोरखपुर पहुँचाने का दायित्व गीताप्रेस के कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं पोद्दारजी के अनन्य भक्त श्रीशुकदेव अग्रवाल को सौंपा गया। वे ट्रेन से गोरखपुर आ रहे थे। लखनऊ एवं गोरखपुर के बीच खलीलाबाद नामक एक स्टेशन पड़ता है। शुकदेवबाबू गाड़ी के गोरखपुर पहुँचने के बहुत पहले मानसिक संध्या-वंदन आदि से निवृत्त हो गये। उनके मन में पोद्दार से मिलने की तीव्र लालसा थी। उत्कंठा के आवेग में उन्होंने समझ लिया कि गोरखपुर स्टेशन आ गया है। अतः गाड़ी का दरवाजा खोलकर वे नीचे उतरने लगे। संयोग से दरवाजे से लगा लोहे का डंडा हाथ में आ गया। गाड़ी गति में थी, अतएव उन्हें

झटका लगा और वे अचेत हो गये। ईश्वर की कृपा, इस स्थिति में भी उनके हाथ से डंडा छूटा नहीं। थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश आया तो अपने को चलती गाड़ी में झूलते हुए पाया। उन्होंने सोचा—अब प्राण गये! पर दिखाई दिया कि स्टेशन निकट आ रहा है। इतने में उन्हें ऐसा लगा कि पोद्दारजी प्लेटफार्म पर खड़े हैं और उन्होंने झटके-से उन्हें गाड़ी से खींच कर प्लेटफार्म पर खड़ा कर दिया है। प्रकृतिस्थ होने पर उन्हें वह प्लेटफार्म अपरिचित-सा लगा। उन्होंने लोगों से स्टेशन का नाम पुछा तो बताया गया कि यह खलीलाबाद है। यद्यपि उस समय पोद्दारजी गोरखपुर में थे और खलीलाबाद स्टेशन गोरखपुर से २० मील दूर है; तथापि उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि पोद्दारजी ने साक्षात् प्रकट होकर उनकी रक्षा की।

यह शुकदेवबाबू की पोद्दारजी में अनन्य श्रद्धा और पोद्दारजी के आश्रित-रक्षा-व्रत-पालन का परिणाम था।

दिव्य संत-मण्डल में अंतर्निवेश

इन्दौर के एक साधनानिष्ठ सज्जन को एक रात्रि में विलक्षण अनुभव हुआ। उन्हें ऐसा बताया गया कि संसार में धर्म-व्यवस्था तथा भक्ति-प्रचार के लिए जो दिव्य संत-मण्डल अनादि काल से चला आ रहा है, उसमें पोद्दारजी को सम्मिलित कर लिया गया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में पोद्दारजी को पत्र लिखा, पर पोद्दारजी मौन रहे।

सन् १९३६ में देवर्षि नारद और अंगिरा ने जब कृपा करके पोद्दारजी को दर्शन दिये और उन्हें अध्यात्म-जगत के अनेक रहस्य बताये, तब उन्होंने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया। दिव्य संत-मण्डल का सदस्य होने के कारण पोद्दारजी को मण्डल के संतों का बराबर सहयोग प्राप्त होता रहता था।

नाम-स्मरण का अद्भुत प्रभाव

भगवन्नाम-प्रचार के लिए सत्संगियों के साथ पोद्दारजी आसाम की यात्रा पर थे। वे बस द्वारा गोलाघाट से तिनसुकिया जा रहे थे। रात का समय था और रास्ता पहाड़ी। एक स्थान पर सड़क बहुत सँकरी थी। वहाँ पहुँचते ही बस में बैठे हुए लोगों में से एक 'पानी-पानी' कहकर जोर से चिल्लाया। सभी सोचने लगे कि क्या हो गया? उस व्यक्ति के अकस्मात् चिल्लाने से ड्राइवर का हाथ काँप गया, इससे बस का चालन-चक्का (स्टियरिंग) हिल गया। बस ढाल पर थी, उसका पहिया फिसल गया। फिर क्या था—वह सीधे पानी से भरी हुई विस्तृत खांई की ओर बढ़ने लगी। खांई में गिरने का अर्थ था—काल के गाल में जाना। ईश्वर-कृपा से ही बस में बैठे हुए लोगों की प्राण-रक्षा हो सकती थी। ज्यों ही बस सड़क से फिसल कर नीचे जाने लगी, पोद्दारजी ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर—'नारायण! नारायण'! का उच्चस्वरों

में घोष किया। 'नारायण' की टेर लगाने भर की देर थीं कि बस एक पेड़ के तने से टकराई और उससे अटक कर वहीं खड़ी हो गई। वह किंचित् क्षतिग्रस्त हो गयी। ड्राइवर को थोड़ी-सी चोट आई, किन्तु बस में बैठे हुए सभी व्यक्ति बाल-बाल बच गये। इस घटना की चर्चा करते हुए पौद्दारजी भगवान की अहैतुकी कृपा का स्मरण कर गद्-गद् हो जाते थे।

इसी प्रकार पोद्दारजी ने 'नारायण' नाम के अद्भुत प्रभाव से गंगा की तीव्र धारा में बहते हुए मोटर बोट में बैठे अपने आश्रितों की प्राण-रक्षा की। श्री ओंकारमल पोद्दार (संबलपुर उड़ीसा निवासी) के शब्दों में उक्त घटना का विवरण इस प्रकार है—

'संवत् २०११ की आषाढ़ शुक्ल, १३, सोमवार (दिनांक १३–७–५४) की एक घटना बरबस आँखों के सामने आ जाती है। हमलोग स्वर्गाश्रम से ऋषिकेश जा रहे थे। गंगा पार करने के लिए प्रातः १० बजे मोटर बोट में बैठे। स्त्री-बच्चों सहित हमलोग २१ व्यक्ति थे। मोटर बोट के रवाना होते ही मेरे मन में एक शंका उठी, 'कहीं बोट का इंजन बन्द हो जाय तो ?' विधि का विधान, सचमुच गंगा की बीच धारा में बोट का इंजन बन्द हो गया। बोट-ड्राइवर ने ब्रेक लगाया, पर ब्रेक भी निष्क्रिय रहा। बोट धारा में पड़कर भँवर की तरफ चल पड़ा। लगता था अब डूबा, तब डूबा। सभी यात्री भगवान को, श्री सेठजी को, श्रीभाईजी को—'बचाओ-बचाओ' के आर्तनाद से पुकारने लगे। उसी समय पोद्दारजी गीताभवन संख्या २ से निकल कर बाहर आये और बोट की यह दशा देखकर तीन बार जोर-जोर से—'नारायण-नारायण-नारायण'—पुकारा। अप्रत्याशित रूप से बोट का बहना बन्द होकर वह रुक गया। उसको स्टार्ट करने की चेष्टा की गई, पर स्टार्ट नहीं हुआ। एक खूब लम्बे मोटे रस्से का एक छोर एक पेड़ के तने से बाँधकर दूसरे छोर से नाव को बाँधा गया इसके बार दूसरी नाव हमलोगों की रक्षा के लिए भेजी गयी। ३-४ घण्टे के प्रयास से किसी प्रकार उस नाव द्वारा हम सब गीताभवन के घाट पर सकुशल पहुँच गये। जब हमलोग परमपूज्य श्रीभाईजी को प्रणाम करने गये, तब वे बड़ो आत्मीयता से मिले और मुस्काराते हुए बोले, 'आप लोगों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, पर भगवान ने रक्षा की।'[1]

शिव-शक्ति का साक्षात्कार

सं० १९९० के आरम्भ की बात है। पोद्दारजी रतनगढ़ में थे। 'शिवांक' का सम्पादन हो रहा था। एक दिन इनके मन में प्रश्न उठा कि 'शिवतत्व ब्रह्मतत्व और विष्णुतत्व से पृथक् है या अभिन्न ? शास्त्रों में कहीं एकता की बात आयी है और

---

१. 'श्रीभाईजी : पावन स्मरण'—पृष्ठ सं० ३२६।

जहाँ-तहाँ पार्थक्य की भी। कहीं विष्णु की महिमा आती है, कहीं शिव की।' जिस दिन मन में ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हुई, उसी दिन इन्हें स्वप्न में भगवान शंकर दिखाई दिये और देखते ही देखते वे विष्णु रूप में परिणत हो गये और विष्णु से फिर शिव हो गये तथा हँसते रहे दोनों ही रूपों में।'

ऐसी अनुभूति होने से इनको यह निश्चय हो गया कि शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा एक ही हैं। इस अनुभूति के आधार पर इन्होंने 'शिवांक' में यह प्रतिपादित किया कि शंकर और विष्णु एक ही हैं, कभी शिव विष्णु की उपासना करते हैं और कभी विष्णु शिव की। बाद में इनको इसका प्रमाण भी रामचरितमानस की 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।' प्रतीक वाली अर्द्धाली में उपलब्ध हो गया। इसके अनंतर इन्हें पद्मपुराण में भी देखने को मिला कि भगवान् राम शिव की उपासना करते हैं और भगवान शिव राम की। शिव-पुराण में भगवान शिव के वचन मिले, "मैं ही विष्णु बन जाता हूँ और मैं ही शिव बन जाता हूँ, दोनों एकही हैं।' भागवत में भी आया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने शिव की सकाम उपासना की। इस प्रकार आर्ष ग्रंथों में प्राप्त प्रमाणों से इनका शिव-विष्णु की एकता विषयक विश्वास दृढ़ हो गया।

बाल्यावस्था में पोद्दारजी ने भगवान शिव की उपासना की थी। कलकत्ता में इनके घर के बगल में शिवजी का मन्दिर था। वहाँ ये प्रतिदिन जाते, थोड़ी देर बैठते, शिवजी पर बिल्वपत्र चढ़ाते, पूजा करते और 'ॐ नमः शिवाय' की एक-दो माला का जप करते थे, पर उस समय शिव के सम्बन्ध में इन्हें कोई अनुभव नहीं हुआ था।

इसी प्रकार जब 'शक्ति-अंक' की तैयारी हो रही थी, इन्हें शक्ति की कृपा तथा प्रत्यक्ष दर्शन-लाभ हुआ था। 'शक्ति-अंक' की अद्भुत सफलता उसीका परिणाम था।

स्वप्न में पुस्तक-प्राप्ति

नागपुर के किसी ग्राम के एक सज्जन श्रीदेशपाण्डे को एक दिन रात में स्वप्न में शिव की आकृति के एक महात्मा दिखायी दिये। उन्होंने स्वप्न में ही श्रीदेशपाण्डे को पोद्दारजी द्वारा लिखित 'साधन-पथ' नामक पुस्तक प्रदान की। निद्रा भंग होने पर जब चारपाई पर उन्हें वह पुस्तक पड़ी मिली तो वे आश्चर्यचकित रह गये।

इस घटना का विवरण देते हुए उन्होंने पोद्दारजी को पत्र लिखा तथा उन महात्मा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। पोद्दारजी ने उसके उत्तर में जो पत्र भेजा, वह इस प्रकार है—

॥ श्रीहरिः ॥

गोरखपुर
वैशाख कृष्ण ८; सं० १९९२

श्रीदेशपाण्डेयजी,

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। आपके पत्र में लिखी बात यदि सत्य है तो बड़े ही आश्चर्य की बात है। इससे मैं आपके लेख की सत्यता में संदेह करता हूँ, ऐसा नहीं समझना चाहिए। मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मुझे इस सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है। आपका यह पत्र मिलने से पूर्व मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मुझमें कोई भी सिद्धि नहीं है। 'साधन-पथ' नामक पुस्तक स्वप्न में किसी महात्मा ने आपको दी और जागने पर वह आपके बिछावन पर मिली, यह आपकी ही श्रद्धा का फल होगा। वे महात्मा कौन थे, मैं कुछ भी नहीं जानता। इसमें क्या रहस्य है, मुझे कुछ भी पता नहीं है। आप कृपया यह अवश्य लिखिये कि उन महात्मा ने आपको और कुछ कहा या नहीं, कहा तो क्या कहा ? आपने उनकी जो आकृति लिखी, वह तो भगवान शिव की-सी मालूम होती है। आप भाग्यवान हैं, जो स्वप्न में महात्मा ने आपको दर्शन दिया। 'साधन-पथ' में जो कुछ लिखा गया है, सो सब शास्त्रों के आधार पर ही लिखा गया है। मेरा उसमें क्या है ? मैं देखता हूँ तो मुझमें वे बातें सब नहीं मिलतीं। अतएव मैं आपको क्या उपदेश दूँ ? उपदेश देने का तो मेरा अधिकार भी नहीं है। 'साधन-पथ' पढ़ने से आपको शान्ति मिलती है, इसको आप महात्मा का प्रसाद समझिये, मेरा कुछ भी न समझिये। आप साधन करके भगवान को प्राप्त करना चाहते हैं, यह बड़े आनन्द की बात है।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

स्वप्न में उपदेश ग्रहण करने का भगवदादेश

मध्यप्रदेश के सतना जिले में रहनेवाली एक सदाचारपरायणा महिला को स्वप्न में पोद्दारजी से उपदेश ग्रहण करने का भगवदादेश प्राप्त हुआ। उक्त महिला ने पोद्दारजी को पत्र लिखकर सारी बात स्पष्ट कर दी। ६ मई १९३५ का वह पत्र यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है—

'श्रीयुत सम्पादकजी को कृष्णकुमारी का 'ॐ नमो कृष्णाय' ज्ञात हो। मुझे ता० २-५-१९३५ को एक स्वप्न हुआ। मैंने स्वप्न में देखा—भगवान वृन्दावनबिहारी आज्ञा दे रहे हैं कि 'मुझे पाने के लिए और मुझमें प्रेम होने के लिए····हनुमानप्रसाद से उपदेश लो····।

'जात पाँत पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई॥'

बस, इतना ही मैंने सुना कि मेरी आँख खुल गयी। रात के करीब २ बजे थे। मैंने सोचा—'हनुमानप्रसाद' किसका नाम है? यहाँ पर तो मैंने किसी का नाम 'हनुमान-प्रसाद' नहीं सुना····। यही सोचते-सोचते निद्रा आ गयी और पुनः स्वप्न में मुझे सुनाई पड़ा कि 'तुझे भ्रम हो गया कि कौन हनुमानप्रसाद है। अरे, वही हनुमानप्रसाद पोद्दार, 'कल्याण'—सम्पादक, गोरखपुर'। बस, फिर क्या था। मुझे परम आनन्द हुआ। अब आपसे मेरी बार-बार यही प्रार्थना है कि अपनी पुत्री समझकर समय-समय पर आप मुझे उपदेश देते रहिये। भूल-चूक क्षमा कीजिये।'

इस पत्र के उत्तर में पोद्दारजी ने जो पत्र लिखा, उसे भी नीचे दिया जा रहा है—

गोरखपुर
ज्येष्ठ सुदी १२, सं० १९९२

प्रिय बहन,

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र आये बहुत दिन हो गये। मैं समय पर उत्तर नहीं लिख सका, इसलिए आप क्षमा करें। स्वप्न की घटना ज्ञात हुई। जिनको स्वप्न में श्रीवृन्दावन-विहारी की वाणी सुनने को मिलती है, वे सर्वथा धन्य हैं। मेरा तो यह निवेदन है कि आप श्रीवृन्दावनविहारी से ही उनके साक्षात् मिलने का उपाय पूछिये। उनसे प्रार्थना कीजिये कि किसी दूसरे का नाम बतलाकर क्यों छलते हैं? मेरा तो यह विश्वास है कि यदि आपकी प्रार्थना में करुणा और उत्कट इच्छा होगी तो वे स्वयं अपने मिलने का उपाय आपको बतला सकते हैं। भगवान श्यामसुन्दर इतने दयालु हैं कि वे अपने बँधने की रस्सी आप ही दे देते हैं और आकर स्वयं बँध जाते हैं। बस, आप यही प्रार्थना कीजिये और दृढ़ विश्वास रखिये कि जरूर दर्शन देंगे। जिन्होंने आपको स्वप्न में मुझसे मिलने की आज्ञा दी है, वे आपकी सच्ची उत्कण्ठा होने पर नहीं मिलेंगे, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। मेरा तो यही निवेदन है।

आपका भाई
हनुमानप्रसाद

देवर्षि नारद तथा महर्षि अंगिरा का दर्शन

इस घटना का वर्णन करते हुए पोद्दारजी ने बताया—

'सन् १९३६ में गीतावाटिका (गोरखपुर) में एक वर्ष का अखण्ड संकीर्तन हुआ था। शिमलापाल में 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर मैंने एक विस्तृत टीका लिखी थी। वह टीका उन दिनों प्रकाशित हो रही थी। भागवत की कथा में भी नारदजी का

प्रसंग सुन रखा था। इन सब हेतुओं से उन दिनों नारदजी के प्रति मन में बड़ी भावना पैदा हुई। बार-बार उनके दर्शनों की लालसा जगने लगी।

एक दिन रात्रि में स्वप्न में दो तेजोमय ब्राह्मण दिखाई दिये। मैं उन्हें पहचान न सका। परिचय पूछने पर उन्होंने बतलाया कि हम दोनों नारद और अंगिरा हैं। फिर उन्होंने कहा, "हम कल दिन में ३ बजे तुमसे मिलने के लिए प्रत्यक्ष रूप में आयेंगे।' यह स्वप्न प्रायः जाग्रत अवस्था के समय का था और इतना स्वाभाविक था कि मुझे उसमें कोई संदेह नहीं रहा। मैंने पीछे बगीचे में इमली के पेड़ों के पास एक कुटिया साफ करवाकर उसके सामने एक बेंच लगवा दी और उसपर दो आसन लगा दिये। मैंने किसी व्यक्ति से भी इसकी चर्चा नहीं की। मैं स्वयं अपने निवास-स्थान के बाहर बरामदे में बैठ गया और उनकी प्रतीक्षा करने लगा। ठीक ३ बजे दो ब्राह्मण आये और मुझसे मिलना चाहा। मैं उन्हें पहचान गया। ठीक वही आकृति, वही स्वरूप, जो स्वप्न में मैंने देखा था। मैं पीछे बगीचे में बढ़ने लगा और वे मेरे पीछे-पीछे चलने लगे। हमलोग उस एकान्त कुटिया पर पहुँचे। उन दोनों को मैंने बेंचपर लगे हुए आसनों पर बैठा दिया, मैं नीचे बैठ गया। दोनों ब्राह्मण सफेद कपड़े पहने हुए थे, किन्तु आसन पर बैठते ही दोनों का वास्तविक रूप प्रकट हो गया। बड़ा ही भव्य एवं दर्शनीय रूप था। वे कुछ देर बैठे रहे और उन्होंने मुझे कुछ बातें कहीं। अंत में उन्होंने कहा, "जब कभी याद करोगे, तब हम आ जायेंगे।" परन्तु उसके बाद मुझे इसकी कभी जरूरत नहीं पड़ी और मैंने उन्हें याद नहीं किया।

नारदजी से वार्तालाप होने के पहले मेरे मन में यह बात आती थी कि भगवान का सगुण रूप दिव्य है, चैतन्य है, भगवद्रूप है। परन्तु कभी-कभी अद्वैत के प्रवचनों को सुनने से थोड़ा संदेह हो जाता था कि भगवान विष्णु, राम, तथा कृष्ण का स्वरूप कहीं मायिक तो नहीं है। अद्वैत-वादियों से यह सुनने को मिलता था कि एकमात्र ब्रह्मतत्व ही सत्य है। इसी से यह संदेह उत्पन्न हो जाता था। गोरखपुर आने के बाद यह संदेह बहुत कुछ नष्ट हो चुका था, पर फिर भी कभी-कभी इस प्रकार की वृत्ति आ जाती थी।

नारदजी ने बताया, 'सत्य एक है, तत्व एक है; वही सत्य,वही तत्व इन भगवत्स्वरूपों में नित्य प्रकट है। वे स्वरूप कभी प्रकट होते हैं, फिर मिट या मर जाते हैं—ऐसी बात नहीं है। महाप्रलय त्रिगुणात्मक प्रकृति में होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति जब साम्यावस्था में आती है, तब महाप्रलय होता है और प्रकृतिजनित पदार्थ उसमें लय हो जाते हैं तथा प्रकृति के सम्बन्ध को लेकर जो जीव-जगत है, वह उस समय उस प्रकृति में आकर खो जाता है। फिर भगवान के संकल्प से प्रकृति की सृष्टि आरम्भ होती है। तब वह जीव-जगत अपने पूर्व के अवशेष कर्मों को लेकर प्रकृति में फिर प्रकट हो जाता है और ये जगत के व्यापार फिर से चालू हो जाते हैं। दिव्य

जगत के जो भगवत्स्वरूप हैं—उनको किसी स्थान की कोई आवश्यकता नहीं है। दिव्य जगत के जो दिव्यलोक हैं—वे एक ही लोक के विभिन्न नाम और विभिन्न स्वरूप हैं। वहाँ जो भगवत्स्वरूप हैं, उनको किसी मायिक आधार की आवश्यकता नहीं है। वे नित्य हैं, सत्य हैं, उनके लोक भी नित्य और सत्य हैं। उन लोकों में समस्त पदार्थ भगवत्स्वरूप ही हैं। वे प्रलय में नष्ट नहीं होते। वे अनादि हैं, अनन्त हैं, यह बात निश्चित रूप से मान लेनी चाहिए। व्यास ने ऐसा ही माना है; शंकराचार्य ने भी ऐसा ही माना है और पहले के ऋषि तो यह मानते ही थे।'

नारदजी वीणा लिये हुए थे। वे मुझ-जैसी वाणी में बोल रहे थे। वे जिस व्यक्ति के सामने प्रकट होते हैं, उससे वे उसकी समझ में आनेवाली भाषा में ही बोलते हैं।'

श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे की परोक्ष सँभाल

पण्डित लक्ष्मणनारायण गर्दे की गणना हिन्दी-पत्रकारिता के स्तभों में की जाती है। प्रारब्धवश वे मानव की स्वाभाविक कमजोरियों के शिकार हो गये थे। एक ओर अगाध पाण्डित्य और दूसरी ओर सहज मानवीय दुर्बलताओं का प्रकोप— उनके जीवन की एक विडम्बना थी। उन्होंने सम्पादकीय विभाग के सदस्य के रूप में काफी दिनों तक 'कल्याण'-सेवा की थी। पोद्दारजी का उनपर अगाध स्नेह था। अतः वे गर्देजी की बराबर सँभाल करते रहे।

'कल्याण' से अलग होने पर गर्देजी वाराणसी चले गये। वहाँ उक्त दुर्बलताओं को नियंत्रित करना संभव नहीं रहा। आश्चर्य की बात यह थी कि जब-जब उन्होंने गलत मार्ग पर पैर बढ़ाया, उन्हें लगा—पोद्दारजी प्रकट होकर उस ओर बढ़ने से उन्हें रोक रहे हैं। अपने जीवन में इसकी कई बार अनुभूति गर्देजी को हुई। पोद्दारजी के अपूर्व वात्सल्य का अनुभव कर वे मुग्ध हो गये। उन्होंने अपनी एतद्विषयक अनुभूति की चर्चा करते हुए पोद्दारजी को एक पत्र लिखा, जिसे उसी रूप में यहाँ उद्धृत किया जाता है। इससे पोद्दारजी की स्नेहशीलता तथा अलौकिक क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है।

॥ श्रीहरिः ॥

पत्थर गली, रतन फाटक,
बनारस सिटी,
२५-८-३७

भाईजी,

'फारमेलेटी' जिसे कहते हैं, उसका सर्वथा परित्याग करने के लिए आज मैं आप को संबोधन करते हुए आप के नाम के पूर्व कोई विशेषण नहीं लगा रहा हूँ,

क्योंकि कोई भी विशेषण लगाने में सत्य का कुछ-न-कुछ अपलाप ही होता है, यद्यपि जो कोई विशेषण मैं आप के नाम के साथ लगाता हूँ; वह हृदयान्तर में सदा सत्य स्वरूप होता है। यदि मैं आप को 'परम प्रिय' कहूँ तो यह देखता हूँ कि मुझे पाप जितना प्रिय है, उतने तो आप प्रिय नहीं हैं। पर यह बात भी झूठ है, क्योंकि पाप यदि मुझे प्रिय होता तो मैं उसकी शिकायत आप से क्यों करता ? पाप है तो मेरा शत्रु ही, पर उसके जाल में फँसकर में पापी हो गया हूँ। मैं पापात्मा हूँ, मेरा अधिकांश जीवन पापमय रहा है, इस समय भी पापमय ही हो रहा है। गत छः वर्षों की डायरियाँ मेरे पास हैं; उन्हें देखता हूँ तो यही सिद्धान्त निकलता है कि जो समय आप के सत्संग में बीता या जो दो-चार-दस दिन पांडिचेरी में बीते या जो बीमारी में बीते, उसी में मैं कम-से-कम शरीरतः पापवर्जित रहा। अन्यथा पाप का ही चिन्तन, पापकर्म में ही निमज्जन; पाप का ही अनुताप, पाप से ही युद्ध, पाप से ही हार-जीत, पाप का ही छिपावा, पाप का ही विस्तार करता रहा हूँ और जो-कुछ मैंने इस पाप से मुक्त होकर सुख-स्वरूप होने का साधन अपने मन में सोचा, वह सब व्यर्थ हुआ। यही प्रतीति हुई कि महापुरुष-सेवन ही पाप-कर्दम से निस्तार पाने का एकमात्र उपाय है। पर इस उपाय को छोड़कर मैं यहाँ आया हूँ, इस भरोसे कि सतत भगवन्नाम-स्मरण से यहाँ भी वह कार्य सध जायेगा, जो आप के संग में अथवा पांडिचेरी में रहकर सध सकता है। भगवन्नाम-स्मरण से पाप से निस्तार होता है, यह बात विश्वास में कुछ आ गयी है, पर भगवन्नाम-स्मरण ने मुझे अभी अपने अधीन नहीं किया है, विकार का हेतु सामने आते ही भगवन्नाम-स्मरण छूट जाता है अथवा जबतक मैं भगवन्नाम का सहारा लेता हूँ, तबतक तो सहारा मिलता है, पर छोड़ते ही छूट जाता है।

भगवान सर्वत्र हैं, सर्वत्र उनका प्रभाव है, यह बात भी कभी किसी समय ही याद आती है। व्यवहारतः तो यही आवश्यक जान पड़ता है कि मुझे किसी ऐसे सत्पुरुष के अधीन रहना चाहिए, जो मुझे जानता है कि मैं पापात्मा हूँ और जिसे मेरे उद्धार की मुझसे भी अधिक चिन्ता है—जैसे अपने नालायक पुत्र के लिए उसकी माता को होती है। पांडिचेरी में श्रीअरविन्ददेव और मदर यह जानते हैं, उन्हें मेरे उद्धार की चिन्ता भी अवश्य होगी, पर वहाँ जाकर रहना इस गृहस्थी को लेकर नहीं बनता। गृहस्थी को चलानेवाले हैं तो भगवान ही। तो क्या इन सबको छोड़कर पांडिचेरी चला जाऊ ? यह एक प्रश्न है। दूसरी बात यह है कि मैं काशी में बिना किसी ऐसे पुरुष के संग के नहीं रहना चाहता, जो मुझे उस तरह से न जानता हो, जिस तरह से आप जानते हैं। आप कृपाकर यह बताइये कि मैं काशी में रहूँ तो किसकी शरण में रहूँ.......... किसको आप के स्थान में मानकर रहूँ, जिसका अंकुश मुझपर रहे ? मैं वहीं रहना चाहता हूँ, जहाँ आप हों या श्रीअरविन्द हों या जिन्हें आप कह दें—वे हों।

ता० १४ अगस्त को मैं आप से विदा हुआ। उसी रात से पूर्वाभ्यस्त पाप-वृत्ति को निरंकुश खुला मैदान-सा मिल रहा है, मुझे बड़ा कठिन युद्ध करना पड़ रहा है। सत्संग की बातें याद कर-करके अपने आप को सँभालने का प्रयत्न करता हूँ, पर सँभालना कठिन होता है। सँभलकर भी फिर-फिर पाप-पथ पर अग्रसर होता हूँ। इससे महापुरुष से दया की भिक्षा चाहता हूँ। सत्संग के द्वारा आप ने सब कुछ बता दिया है, पर वह सार्वत्रिक है। इस पत्र के उत्तर में विशिष्ट रूप से ऐसी आज्ञा कीजिये कि मेरा जीवन (इहैव) ऐसा बन जाय, जैसा आप चाहते हैं।

कल सन्ध्या समय पाप में प्रवृत होने के अवसर पर ऐसा प्रतीत हुआ कि बीकानेरी पगड़ी बाँधे हुए आप मेरे पास आकर खड़े हो गये। आप का मुखमण्डल उदास था। आप ने कहा—"कहाँ जाते हो ? घर चलो"। (आपको मेरे लिए नरक में उतरना पड़ा।) मैंने कहा, यह भ्रम है, तुम यहाँ हो—इसका क्या प्रमाण है ? और स्पष्ट करके बतलाओ। मेरे ललाट में तिलक लगा था, वैसा ही तिलक आप के ललाट में आभासित हुआ। आप मौन रहे, पर मन ही कहने लगा·······अपने भरसक इस बात को स्पष्ट कर लो। मैंने सिनेमा-हाउस के अंधगृह की ओर पीठ फेरी, मैं स्थिर हो गया, मेरे पैर धरती में जम गये। मैंने कहा, 'भाईजी ! जहाँ आप कहिये, वहीं चलता हूँ, बताइये तो सही'। आपने कहा, "घर चलो।" मैं आप के पीछे-पीछे चला। थोड़ी दूर चलकर मैं एक स्थान में रुक गया और मैंने आप से कहा, "आज भर मुझे हो आने दीजिये, कल मैं नहीं जाऊँगा। कहिये, हो आऊँ ?" आप ने कहा, "अच्छा, तो मैं अब जाता हूँ।" यह कहकर आप बहुत दूर निकल गये। मैंने कहा, "भाईजी ! मत जाइये, मैं आप के साथ चलता हूँ।" इसी मनःस्थिति में लौट रहा था। रास्ते में एक योगी मिले; ये योगी कई बार मिले हैं, पर कल इनके जैसे दर्शन हुए, वैसे इससे पहले कभी नहीं हुए थे। इनसे कुछ इधर-उधर की बातचीत चल रही थी, तब अकस्मात् यह स्मरण हुआ कि एक सज्जन मुझसे मिलने के लिए आज मेरे घर आनेवाले हैं, शायद आये हों, तो जल्दी घर चलें। मैं घर चला आया। बीच की एक बात कहना भूल गया। मैंने जब आप को पुकारा, "भाईजी ! आप मत जाइये, मैं आप के साथ चलता हूँ" तो आप ने पास आकर कहा, "तो चलो, घर चलो।" मैंने पूछा, "घर चलकर क्या करूँ ?" आप ने कहा, "ॐ नमः शिवाय" का जप करो। मैंने पूछा, "कितना जप करूँ ?" आप ने कहा, "पाँच माला"। गोरखपुर से चलने के बाद जितने दिन तुम इस दोष में प्रवृत्त हुए, उतनी ५ माला जपो, जन्माष्टमी तक, नित्य सायंकाल।" इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ और मैं उस योगी के दर्शनकर घर लौट आया तथा 'ॐ नमः शिवाय' की पाँच माला का जप कर लिया। प्रायश्चितस्वरूप चीनी-फल आदि लेकर जन्माष्टमी तक का उपवास-व्रत आरम्भ किया है विगत रविवार से और १२ पंच माला 'ॐ नमः शिवाय' की कल मंगलवार की सन्ध्या से आरम्भ की है। यह सब इसलिए

निवेदन किया है कि आप यथोचित संशोधन बताकर मेरे जीवन को ऐसे रास्ते पर लगा दें कि यह जीवन व्यर्थ न जाय, भगवान से कभी विमुख न हो।

भवदीय
लक्ष्मण

मित्र को स्वप्न में सदुपदेश

सं० १९९३ की बम्बई की एक घटना है। पोद्दारजी के एक मित्र अपनी समस्त सम्पत्ति एक वेश्या के नाम रजिस्ट्री करने जा रहे थे। एक रात उन्हें अचानक स्वप्न में पोद्दारजी के दर्शन हुए। उन्हें लगा—पोद्दारजी स्पष्टरूप से इस कर्म से उन्हें रोक रहे हैं। निद्रा भंग होने पर उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ, किन्तु पोद्दारजी की आज्ञा शिरोधार्य कर उन्होंने सम्पत्ति वेश्या के नाम नहीं की और फिर पोद्दारजी को उस सम्बन्ध में एक विस्तृत पत्र लिखकर सारी स्थिति बता दी।

अदृश्य हाथों द्वारा आतिथ्य-व्यवस्था

बात पुरानी है—श्रीकृष्णकान्त मालवीय नैनी जेल में राजनीतिक बन्दी थे। अधिकारियों के आदेश से उनकी बदली बस्ती जेल में हो गयी। उन्हें नैनी से गोरखपुर होकर बस्ती ले जाया जा रहा था। उन्होंने पोद्दारजी के नाम एक तार दिया, जिसमें लिखा था, "आज सन्ध्या ७ बजे की ट्रेन से दस आदमियों सहित गोरखपुर स्टेशन पहुँच रहा हूँ, आप भोजन का प्रबन्ध करवा दें।' पोद्दारजी उन दिनों गोरखनाथ के समीप एक बगीचे में रहते थे। तार प्रातः १० बजे गीताप्रेस पहुँचा। पर गीताप्रेस के व्यवस्थापक महोदय ने न तो भोजन का प्रबन्ध किया और न तार हाथों-हाथ पोद्दारजी के पास पहुँचाया। सायंकाल ६ बजे के बाद वह तार भाईजी के पास पहुँचा। पोद्दारजी उसे पढ़कर बहुत चिंतित हुए। प्रेसवालों की उपेक्षा के प्रति मन में उनके खेद हुआ कि न तो उन्होंने स्वयं व्यवस्था की, न समय से तार मेरे पास भिजवाया। अब समय केवल आधा घंटा ही रह गया था। 'क्या किया जाय ?'—पोद्दारजी इसी चिंता में मग्न थे कि इतने में उन्होंने एक सज्जन को मिठाई, पूरी, सब्जी तथा फलों की टोकरियों के साथ सामने ताँगे में आते हुए देखा। उक्त सज्जन आते ही कहा—"........के यहाँ लड़के का आज विवाह है, उन्होंने आपके लिए मिठाई-फल भेजे हैं।' भगवान् के द्वारा समय पर हुई व्यवस्था को देखकर पोद्दारजी आश्चर्यपूर्ण प्रसन्नता से विभोर हो गये। उन्होंने इक्केवाले को रोक लिया। तुरन्त अपने २-३ साथियों को सब सामान के साथ उसी इक्के से स्टेशन भेज दिया। सामान इतना अधिक था कि कृष्णकान्तजी तथा उनके सब साथियों ने पूर्ण तृप्ति के साथ भोजन किया। पीछे इस घटना का उल्लेख करते हुए पोद्दारजी कहा करते थे कि भगवान् ने भोजन का सामान ही नहीं भेजा, सवारी के लिए इक्का भी भेज दिया; अन्यथा जहाँ मैं रहता था, वहाँ से काफी दूर पैदल

चलने पर इक्का मिलता था। इतने अल्प समय में स्टेशन पहुँचने की व्यवस्था होनी असम्भव थी।

अनुगत की प्राणरक्षा

'कल्याण' के प्रसिद्ध लेखक श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' की पोद्दारजी पर अपार श्रद्धा थी। पोद्दारजी ने अपनी भविष्य-ज्ञान-शक्ति से एक बार किस प्रकार उनकी जीवन-रक्षा की व्यवस्था की, इसका विवरण उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

'सन् १९५५ की बात है। मैं कैलास-मानसरोवर की यात्रा करके लौटा था। थकावट के स्थान पर मन में उत्साह था। चाहता था कि लगे हाथ मुक्तिनाथ-दामोदर-कुण्ड की भी यात्रा हो जाय तो उत्तरा-खण्ड के प्रायः सब तीर्थों की मेरी यात्रा पूरी हो जाय। मैंने श्रीपोद्दारजी से मुक्तिनाथ जाने की अनुमति माँगी और वह मिल गयी।

सितम्बर के दूसरे सप्ताह से अक्तूबर तक यात्रा होनी चाहिए थी। यही सबसे उपयुक्त मौसम था। सब तैयारी हो चुकी थी। सोचा था कि गोरखपुर से ऐसी बस पकड़ेंगे कि उसी दिन हवाई जहाज मिल जाय। भैरहवा में रात्रि व्यतीत करके दूसरे दिन पैदल-यात्रा प्रारम्भ कर दें।

सामान बाँध लिया गया। बस-अड्डे के लिए रिक्शा बुला लिया गया। तब मैं श्रीपोद्दारजी को प्रणाम करने उनके कमरे में गया।

श्रीपोद्दारजी गीतावाटिका के सम्पादन-कार्यालय वाले अपने कमरे में चटाई पर बैठे थे। कागज देख रहे थे। मैंने जाकर प्रणाम किया।

'आप जा रहे हैं?' अचानक पोद्दारजी ने मुख लटका लिया। उनका स्वर भारी और उदास हो गया। वे बोले; "जाइये, 'कल्याण' के विशेषांक (सत्कथांक) के लिए अभी चित्र निश्चित नहीं हुए, चित्रकारों को निर्देश नहीं दिये गये। मैं खटूँगा, करूँगा ही किसी प्रकार!"

सर्वथा अकल्पित स्थिति थी। मैंने बहुत पहले इस यात्रा के सम्बन्ध में उनसे पूछ लिया था। उन्होंने प्रसन्न होकर अनुमति दे दी थी। आवश्यक प्रमाणपत्र पाने में सहायता की थी। चित्रों का चुनाव, उनके सम्बन्ध में चित्रकारों को निर्देश श्रीपोद्दारजी ही सदा करते थे। मैंने बहुत अल्प सहायता ही इसमें कभी-कभी की थी।

सबसे विशेष स्थिति यह थी कि श्री पोद्दारजी को इस प्रकार बोलते सुनने का यह मेरे लिए पहला अवसर था। आगे भी कभी मैंने उनको इस स्वर में बोलते नहीं सुना। मेरे लिए उनका यह स्वर असह्य था। अतः मैंने कह दिया, 'आप ऐसे क्यों बोलते हैं? मना करना है तो सीधे मना कर दीजिये।'

इतना सुनते ही उल्लास-भरे स्वर में पूरे जोर से श्रीपोद्दारजी ने उस समय के सम्पादन-विभाग के व्यवस्थापक दुलीचन्दजी दुजारी को पुकार कर कहा, 'भाया, रिक्शा लौटा दे। सुदर्शनजी नहीं जा रहे हैं।'

अब मेरे कहने को कुछ रह ही नहीं गया था। मैं चुपचाप उठ आया। रिक्शा लौट गया। बिस्तर खोल दिया गया। मन में कुछ दुःख हुआ ही।

दूसरे दिन मैं अपने नित्य-कर्म से निवृत्त हुआ ही था कि श्रीपोद्दारजी मेरे कमरे के द्वार पर आ खड़े हुए। बड़े गंभीर स्वर में बोले, 'सुदर्शनजी ! बड़ी दुर्घटना हो गयी !'

'क्या हुआ ?' मैंने पूछा।

''अभी जिलाधीश का फोन आया था। उन्होंने पूछा था कि 'आपके यहाँ से जो मुक्तिनाथ जानेवाले थे, वे कल गये या नहीं ?' मैंने कह दिया कि 'नहीं गये।' उन्होंने बतलाया कि 'कल जानेवाला हवाई जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उसके सब यात्री मर गये।''

पीछे समाचारपत्रों में छपा कि आँधी-तूफान और भयानक ओलावृष्टि से हवाई जहाज तो नष्ट हुआ ही, मोटर-मार्ग की सड़क भी कई मील टूट गयी। मार्ग के पंद्रह-बीस दिन पहले खुलने की सम्भावना नहीं थी। मुझे उसी हवाई जहाज से जाना था और श्रीपोद्दारजी ने मेरी वह यात्रा--महायात्रा रोकी थी'।*

एक समर्पिता की अभीष्ट-सिद्धि

१९५६ में स्पेशल तीर्थ-यात्रा गाड़ी द्वारा पोद्दारजी ने स्वजनों एवं परिकरों सहित भारत वर्ष के सब तीर्थों की यात्रा की थी। घूमते-घामते ये लोग बेजवाड़ा के पास एक प्रतिष्ठित वकील के घर मिलने के लिए गये। वकील महोदय ने कहा, 'मेरे पड़ोसी की प्रौढ़ा लड़की बड़ी भजनपरायणा है, दिन-रात पूजा-पाठ में लगी रहती है। उससे अवश्य मिलना चाहिए।' पोद्दारजी उससे मिलने गये। साथ के लोगों को बाहर बैठा दिया, भीतर वे अकेले ही गये। जाकर देखते हैं कि उस बालिका ने एक अत्यंत पवित्र स्थान पर अपने ठाकुरजी का विग्रह विराजमान कर रखा है। उसी के पास शीशे में मढ़ा हुआ एक फोटो है। पोद्दारजी ने पूछा, 'ये कौन हैं ?' उसने बताया, 'बहुत वर्षों पूर्व मैंने इनके बारे में एक पत्र में पढ़ा था। तबसे मेरा इनके प्रति समर्पण का भाव हो गया। मैंने इनके फोटो के लिए प्रयत्न किया तो बम्बई से मुझे यह फोटो मिल गया। उसी दिनसे मैं इन्हें अपने इष्टदेव के रूप में पूज रही हूँ।' पोद्दारजी ने कहा, 'क्या तुम कभी इनसे मिली हो ? इन्हें जानती हो ? ये कहाँ रहते हैं ?' उसने उत्तर दिया, ''मैं इनका नाम जानती हूँ, पर कभी इनसे मिली नहीं हूँ, और न मेरा इनसे कोई परिचय है। मैंने

---

* 'भाईजी- पावन स्मरण'-पृ० २४९-५०।

इनके चरणों में अपने को समर्पित कर दिया है। अब मुझे इनसे मिलने की आवश्यकता नहीं है और न मैं इनका पता-ठिकाना ही जानना चाहती हूँ।'

पोद्दारजी ने पहचान लिया कि वह फोटो उन्हीं का था, बम्बई-जीवन का। उन्होंने बड़े संकोच के साथ उस देवी से कहा, 'बहनजी ! अपनी इस फोटो को देखकर मेरी ओर देखिये।' उसने फिर संकोच के साथ फोटो को देखा और पोद्दारजी की ओर देखा। यह जानकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि ये महापुरुष वही हैं, जिनके चरणों पर उसने अपने आप को समर्पित कर रखा है। वह रोमांचित हो गयी और पोद्दारजी के चरणों में अपना मस्तक टेक दिया। कुछ देर बाद वह उठी। पहले उसने चन्दन-पुष्प लेकर पोद्दारजी के मस्तक पर तिलक किया, पीछे चरणों पर चन्दन चढ़ाकर पुष्प अर्पण किये और प्रणाम करके बोली, 'अब आप जा सकते हैं।' पोद्दारजी ने कहा, 'देवी ! तुम्हारा परिचय मैं जान लेता।' उसने उत्तर दिया, ''मेरे परिचय की आवश्यकता नहीं है। आप मेरा परिचय जो आप को मिला है, उसे भी किसी व्यक्ति को मत बताइयेगा, नहीं तो यहाँ भीड़ हो जायगी।' पोद्दारजी ने उसे अपना पता-ठिकाना नोट करने के लिए कहा, पर उसने उत्तर दिया, 'मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। मेरे मन में एक इच्छा थी कि कभी इन महापुरुष के दर्शन मुझे हो पायेंगे कि नहीं ? अन्तर्यामी प्रभु ने वह साध बड़े ही विचित्र ढंग से पूरी कर दी। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। बस, मेरा यह समर्पण अन्ततक निभ जाय !'

पोद्दारजी उसके भाव को देखकर गदगद् हो गये और मन-ही मन उस देवी को आशीर्वाद देते हुए बाहर चले आये। दस वर्ष बाद अपने एक अन्तरंग सेवक को उन्होंने यह घटना बतायी। उस देवी का नाम था—चिन्मयी देवी। पर उसके स्थान का नाम-पता पोद्दारजी ने अंततक किसी को भी नहीं बताया। पूछने पर कहते थे, ''वह नहीं चाहती कि जगत का कोई भी व्यक्ति उसके निष्काम तथा मूक समर्पण को जान पाये, ऐसी स्थिति में तुम लोगों को जानने के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए।'

अंग्रेज भक्त को 'हृषिकेश' का दर्शन

पोद्दारजी के संपादकत्व में प्रकाशित 'कल्याण' के प्रति शनैः-शनैः लोकमानस में अद्‌भुत श्रद्धाभाव प्रतिष्ठित हो गया। इनके द्वारा निर्मित तथा प्रचारित आध्यात्मिक साहित्य की लोकप्रियता ने 'कल्याण' तथा गीताप्रेस के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक किंवदन्तियों की सृष्टि कर डाली और श्रद्धालुओं को उसके विषय में विचित्र अनुभव भी होने लगे। अंग्रेज कृष्णभक्त श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारी (रोनाल्ड निक्सन) के निम्नांकित पत्र और पोद्दारजी द्वारा दिये गये उसके उत्तर में इसकी किंचित् झलक मिलती है—

॥ राधाकृष्ण ॥

१७–१–३५

श्रद्धेय सम्पादकजी,
'कल्याण', गोरखपुर ।

करीब ११ वर्ष का 'हृषीकेश' नामका साँवरे रंगका परम सुन्दर बालक आज लगभग १२ बजे दोपहरको आया। उस समय यह 'श्रीराधाकृष्ण-प्रेमभिखारी' पौष मासके 'कल्याण', भाग ९, संख्या ६ को बड़े ध्यान और प्रेमसे पढ़ रहा था। बड़ी नम्रता-पूर्वक उस बालकने इस भिखारी से एक छोटी ताबीज साइजकी गीता माँगी और कहा कि "गीता अध्याय ९ के २२ वें श्लोक को पढ़ा दीजिये एवं समझा दीजिये।" ज्यों ही यह भिखारी 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' पढ़ने लगा, त्यों ही वह कहने लगा कि "गीता भगवान्का एक स्वरूप है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।" इस भिखारी ने हृषीकेशसे पूछा, "भाई ! तुम कहाँ रहते हो और क्या करते हो ?" उसने प्रेम तथा आनन्दाश्रुओंसहित बड़ी नम्रता से उत्तर दिया, "मैं तो 'कल्याण' में रहकर 'कल्याण' द्वारा सब प्राणियों की चिन्ता किया करता हूँ। भक्त ही मेरे चिन्तामणि हैं। भगवान्, भक्त और भागवत—तीनों एक ही हैं।" तब इस भिखारी ने उनसे पूछा, "भाई ! तुम्हारा घर कहाँ है ?" उन्होंने धीमी स्वर-माधुरी से कहा, "मेरा निवास-स्थान वृन्दावन, सेवाकुञ्ज में है। वहाँ के श्रीराधाकृष्ण मेरे इष्टदेव हैं।" इतना सुनकर उन्हें कुछ जलपान कराने की मेरी इच्छा हुई। तुरंत ही यह भिखारी अन्तरंग-विभागमें जलपान लानेके लिए गया। लौटकर देखा—हृषीकेश कहीं चले गये हैं। अनुमानतः ५ मिनट का समय लगा होगा। इस भिखारी ने बहुत चेष्टा की और स्वयं ४ मीलतक दौड़ा गया, परंतु उनका कहीं कुछ पता न चला।

जब इस भिखारी से हृषीकेशका साक्षात्कार हुआ, तब उस स्थानपर संयोगवश कोई नहीं था। बस, इतना ही आप कृपया सूचित कर दें कि हृषीकेश नामक कोई बालक आपके कार्यालय में कार्य करता है। क्या वह सेवाकुञ्ज, वृन्दावन में रहता है ? इस कृपाके लिए यह भिखारी आपका अत्यन्त कृतज्ञ होगा।

आपका विनीत शरणागत—
राधाकृष्ण प्रेम-भिखारी

पोद्दारजी द्वारा 'श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारी' को लिखा गया उत्तर :

गोरखपुर
दिनांक २०–१–३५

सम्मान्य श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारीजी,

सादर हरिस्मरण।

आपका तारीख १७-१-३५ का पत्र मिला। 'कल्याण' में हृषीकेश नामक कोई परम सुन्दर ब्राह्मण बालक नहीं रहता। सेवाकुञ्ज-विहारी श्रीश्यामसुन्दर सर्वत्र

रहते ही हैं। इसलिए वे 'कल्याण'—कार्यालय में भी जरूर रहते हैं। 'कल्याण' में विशेषरूप से रहते हों तो वे जानें। हमलोगों को तो कभी उन्होंने ब्राह्मण-बालक के रूप में दर्शन दिया नहीं। सचमुच वे हृषीकेश आपको प्रेम-भिक्षा देने के लिए यदि आपके समीप पधारे हों तो आप बड़े भाग्यवान हैं। आपने यह भूल अवश्य की, जो उनको पकड़ नहीं लिया और अपने साथ ही जलपान कराने को नहीं ले गये। उन्होंने आपको 'हृषीकेश' नाम कब और कैसे बतलाया, लिखनेकी कृपा कीजियेगा।

आपका,

हनुमानप्रसाद पोद्दार

पोद्दारजी की गूढ़ अध्यात्म-साधना तथा समर्पित सेवा-भावना ने उनके व्यक्तित्व की गरिमा जनसामान्य की दृष्टि में ही नहीं, समकालीन राष्ट्रनेताओं के हृदय में भी कितनी गहराई से अंकित कर दी थी, उन्हें स्वप्न एवं प्रत्यक्ष रूप में किस प्रकार पोद्दारजी के सिद्धयोगी-स्वरूप का दिव्य दर्शन और उनकी लोकोत्तर-शक्तियों के अनुभव होने लगे थे, श्रीगोविन्द वल्लभ पंत, तत्कालीन गृह-मंत्री, भारत-सरकार तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के पत्रों के उत्तर में लिखे गये पोद्दारजी के निम्नांकित पत्र इसके साथ हैं। इन महानुभावों से प्राप्त मूल पत्रों को पोद्दारजी ने इस विचार से नष्ट कर दिया था कि उनके द्वारा अहंभाव के पोषण की संभावना सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर दी जाय।

माननीय श्रीपंतजी,

सादर प्रणाम।

आपका कृपापत्र मिला। आप सकुशल दिल्ली पहुँच गये, यह आनन्द की बात है। आपके इस नये ढंग के पत्र को पढ़कर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। पता नहीं, भगवान् के मङ्गल विधान से क्या होनेवाला है।

आपने जो स्वप्न तथा प्रत्यक्ष चमत्कार देखने की बात लिखी, वह मेरी समझ में तो आयी नहीं। हाँ, आपके अज्ञात मनके किन्हीं संस्कार के ये चित्र हो सकते हैं। मेरे बाबत आपने जो-कुछ देखा-लिखा, उसके सम्बन्ध में तो इतना ही कह सकता हूँ कि "मैं न योगी हूँ, न सिद्ध महापुरुष हूँ, न पहुँचा हुआ महात्मा हूँ, न किसीको दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ करने की या वरदान देने की ही मुझमें शक्ति है। मैं साधारण मनुष्य हूँ, मुझमें कमजोरियाँ भरी हैं। भगवान् की अहैतुकी कृपा मुझपर अनन्त है, इसमें मेरा विश्वास है। मुझे इस पत्र से पहले आपके स्वप्न तथा जाग्रत में चमत्कार देखने का कुछ भी पता नहीं था। अतएव मैं क्या कहूँ? अवश्य ही आपके निकट भविष्य में देहावसान की जो सूचना इसमें मिली है, उससे मुझे चिन्ता हो रही है। आप उचित समझें तो स्वयं मृत्युञ्जय-मन्त्र का जप कीजिये और किन्हीं विश्वासी

शिवभक्त के द्वारा सवालाख जप करा दीजिये। मैं यह जानता हूँ कि आप आस्तिक हैं। भगवान् में और शास्त्र में आपका विश्वास है। आपने लिखा, 'जवाहरलाल भी, ऊपर से कुछ भी कहें, आस्तिक हैं' सो ठीक है, उनके बारे में मैं भी यही मानता हूँ।

आपने मेरे लिए लिखा कि, "आप इतने महान् हैं, इतने ऊँचे महामानव हैं कि भारतवर्ष को क्या, सारी मानवी दुनिया को इसके लिए गर्व होना चाहिए। मैं आपके स्वरूप के महत्त्व को न समझकर ही आपको 'भारतरत्न' की उपाधि देकर सम्मानित करना चाहता था। आपने उसे स्वीकार नहीं किया, यह बहुत अच्छा किया। आप इस उपाधि से बहुत-बहुत ऊँचे स्तर पर हैं, मैं तो आपको हृदय से नमस्कार करता हूँ।' आपके इन शब्दों को पढ़कर मुझे बड़ा संकोच हो रहा है। पता नहीं आपने किस प्रेरणा से यह सब लिखा है। मेरे तो आप सदा ही पूज्य हैं। मैं जैसा पहले था, वैसा ही अब हूँ, जरा भी नहीं बदला हूँ। आप सदा मुझपर स्नेह करते आये हैं और मुझे अपना मानते रहे हैं। मैं चाहता हूँ, वैसा ही स्नेह करते रहें और अपना मानते रहें। मैं आपकी श्रद्धा नहीं चाहता, कृपा तथा प्रीति चाहता हूँ, स्नेह चाहता हूँ। मेरे लायक कोई सेवा हो तो लिखें। आपके आदेशानुसार पत्र जला दिया है। आप भी मेरे इस पत्र को गुप्त ही रखियेगा।

शेष भगवत्कृपा।

आपका,
हनुमानप्रसाद पोद्दार

●

पूज्यचरण बाबूजी,[१]

सादर प्रणाम।

आपका कृपापत्र मिला। मैंने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि आपके द्वारा मुझको कभी ऐसा पत्र मिलेगा। सात पेज के पत्र में शुरू से अन्ततक केवल मेरे दिव्य-स्वरूप की महिमा, दिव्य दर्शन से परमानन्द तथा उससे प्राप्त लाभ और मेरे गुणों की बार-बार बहुत ही बड़े-चढ़े रूप में स्तुति भरी है। आप-सरीखे माप-तौलकर बोलनेवाले सत्यवादी पुरुष मिथ्या लिखेंगे, यह सोचनेका भी साहस नहीं होता और लिखेंगे भी क्यों? मुझ नगण्य से आपको क्या लेना है, पर जो कुछ आपने लिखा है, उसका अधिकांश तो मेरी कल्पना से भी बाहर की चीज है। कुछ बातें ऐसी हैं, जो मुझसे बहुत अधिक सहस्रों लोगों में है, अतः उनका महत्त्व ही क्या है? मैंने आपके हाथके लिखे इस पत्र को रखना बड़े जोखिम का काम समझा, कहीं इसके माध्यम से मान-बड़ाई के चक्कर में पड़कर व्यक्ति-पूजा न कराने लगूँ, कमजोर जो ठहरा! इसी-

१. पोद्दारजी श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन को बाबूजी कहते थे।

लिए जैसे कई वर्ष पूर्व गङ्गातट पर मेरे साथ रहनेवाले मौनी स्वामीजी के मेरे सम्बंध में अपने अनुभव के आधार पर लिखे वर्णन के ढेर-के-ढेर कागज मैंने अग्निदेवता के अर्पण कर दिये थे, वैसे ही आपके इस पत्र को भी मैंने अग्निरूप दे दिया।

आपने लिखा है कि गीताप्रेस की तीर्थयात्रा-ट्रेन के प्रयाग पहुँचने पर झूसी में श्रीब्रह्मचारीजी के यहाँ आपको मेरे स्वरूप के कुछ अस्पष्ट दर्शन हुए थे। तभी से आप इस प्रयत्न में थे कि आप मुझे पूर्णरूप से देख पायें और इस बार आपका वही प्रयत्न पूर्णरूप से सफल हुआ है।

अतः जो-कुछ भी हुआ हो, आप जानें और आपका प्रयत्न जाने। मेरा स्वरूप तो स्पष्ट सबके सामने है। मैं तो समझता हूँ कि आपकी दृढ़ धारणा ने ही मूर्तरूप लेकर आपको यह कौतुक दिखलाया है। मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो आपका बच्चा हूँ, आप के स्नेह का पात्र तथा अधिकारी हूँ। सदा ही स्नेह पाता रहा हूँ। वही स्नेह, वही वात्सल्यभाव, वही आत्मीयता रखिये। मुझे सदा अपना बालक मानिये। शिक्षा देते रहिये और आशीर्वाद दीजिये, जिससे जीवन में मेरे द्वारा ऐसा कोई भी काम न हो, जो आपके निजजनके द्वारा नहीं होना चाहिए और सदा-सर्वदा मृत्यु के अन्तिम क्षणतक भगवान् की मधुर पवित्र स्मृति बनी रहे।

कुम्भ में आया और आप वहाँ रहे तो श्रीचरणों के दर्शन करूँगा।

आपका
हनुमानप्रसाद

पोद्दारजी के सम्बन्ध में परिचित-अपरिचित, पार्श्ववर्ती एवं दूरस्थ, अध्यात्म साधकों, राष्ट्रनेताओं, पत्रकारों और सद्गृहस्थों से उपलब्ध उपर्युक्त विवरण तथा स्वयं उनके आत्मोल्लेखों में प्राप्त अलौकिक अनुभूतियों के शब्द-चित्र उनके व्यक्तित्व की रहस्यमयता के साक्षी हैं। यद्यपि इस अहंकारशून्य महापुरुष ने अपनी सहज विनय-शीलता से उस तथ्य का निरंतर प्रत्याख्यान किया और अपने को सर्वसाधारण के समक्ष सदैव एक निरीह आस्तिक के रूप में ही प्रस्तुत करते हुए श्रद्धालुओं, भक्तों और प्रशंसकों द्वारा चर्चित अपनी लोकोत्तर-शक्ति-संपन्नता को नकारा; किन्तु कस्तूरी की गंध संपुट में बन्द न रह सकी। श्रुति एवं दृष्टि परम्परा ने उसे लोकविश्रुत कर दिया। व्यक्तिपूजा का निषेध कर भगवदाराधन को ही जीवन-लक्ष्य बनाने का वे आजीवन मनसा-वाचा-कर्मणा उपदेश देते रहे। इस अगाध निष्ठा ने उनके व्यक्तित्व में आराध्य की अनंत शक्तिमत्ता के कण प्रतिष्ठित कर दिये, जिनके दिव्य प्रकाश से संपृक्त जनों का जीवनपथ लोकोत्तर आलोक से आप्लावित हो गया। लोग उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे, परन्तु वही उनके अंतर्जीवन की सहज स्थिति थी।

परिशिष्ट—क

अमृतानुभव

पोद्दारजी भारतीय मनीषा के सच्चे संवाहक महापुरुष थे। प्राचीन ऋषियों और मध्यकालीन संतों की भाँति उनका सारा जीवन त्याग तथा तपश्चर्या से आलोकित था। आत्मसंयम उनकी जीवनचर्या की आधार-शिला थी। उनके चट्टानी व्यक्तित्व का एक-एक कण गम्भीर अनुभव की प्रक्रिया से होकर गुजरा था। लौकिक जीवन व्यतीत करते हुए भी लोकैषणा से विरत रहने से वे उसके दुष्प्रभावों से बचे रहे और आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण जनसामान्य के ही नहीं, वीतराग संन्यासियों तथा भावावेशी भक्तों तक के मार्ग-दर्शकरूप में आजीवन प्रतिष्ठित रहे।

अध्यात्म-साधना के क्रम में उन्होंने शास्त्रों में निर्दिष्ट ब्रह्म, जीव तथा जगत सम्बन्धी तथ्यों का सत्यापन प्रत्यक्षानुभव द्वारा किया था। उनके प्रवचनों तथा लेखों में अभिव्यक्त विचारों की प्रभावोत्पादकता का मुख्य कारण यही साक्षात्कृत अथवा अनुभवपुष्ट ज्ञान है। कर्म, उपासना तथा ज्ञान के विभिन्न स्वरूपों एवं स्तरों का गहन परिचय प्राप्त करने के अनन्तर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उन सबका लक्ष्य एक ही है और वह है—भगवत्प्राप्ति। इस धारणा ने उनके अंतस्तल में समत्व तथा सम-दृष्टि के विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। सभी धर्मों और संप्रदायों के बाह्याचार में ऊपर से भेद दिखाई देने पर भी उनकी तात्त्विक एकता का प्रतिपादन वे इसी स्वानुभूति के बल पर कर सके थे। सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार की अभेद-स्थापना के मूल में भी उनका यही दीर्घकालव्यापी साधना-प्रसूत ज्ञान था।

भगवान की शरणागतवत्सलता तथा कृपाशीलता में उनका अगाध विश्वास था। अपने जीवन की विभिन्न स्थितियों में उसके अवतरण तथा साधनात्मक विकास में पग-पग पर अदृश्य हाथों द्वारा की गयी अपनी सार-सँभाल की कृतज्ञतापूर्ण स्मृति उनके जीवन की अमूल्य निधि थी। एक सच्चे वैष्णव-भक्त के रूप में उन्होंने भगवच्चरणों में आत्म-समर्पण को ही परमपुरुषार्थ माना था—इस समर्पण से जो अलौकिक आनन्द, आंतरिक शांति तथा आत्मशक्ति उन्हें प्राप्त हुई थी, उसका मुक्तहस्त से वितरण उनकी जीवनचर्या बन गयी थी।

जनसामान्य को अध्यात्मोन्मुख करने के लिए ही उन्होंने 'कल्याण' तथा गीता-प्रेस की मानद-सेवा स्वीकार की थी। इनके माध्यम से जीवन की पगडंडियों पर चलने वाले सद्गृहस्थों और विरक्त साधकों के लिए जीवन-लक्ष्य, उसकी प्राप्ति में साधक तथा बाधक तत्व, सात्त्विक-जीवन-यापन के उपाय, आत्मसंयम की महत्ता और उसे आयत्त

करने के साधन आदि का प्रतिपादन वे निरन्तर करते रहे। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संपर्क में आने-वाले जिज्ञासुओं की जीवनधारा को पवित्र बनाये रखने के लिए वे पत्रों के माध्यम से बार-बार सावधान किया करते थे। उनके सत्प्रसंग तथा उपदेशों से कितने ही भ्रांत तथा विचलित साधक आस्था और विश्वास का संबल प्राप्त कर कृतकृत्य हो गये, कितने ही तमोभिभूत अवनत तथा पतित स्थिति से ऊपर उठकर आदर्श नागरिक और अध्यात्म-पथ-प्रदर्शक बन गये।

पोद्दारजी का विशाल वाङ्मय अनुभव-रत्नों का अक्षय भंडार है। उनकी साहित्य-रचना का उद्देश्य इन ज्योतिपुंजों को अतल गहराई से बाहर लाकर जीवन-तट पर बिखेरना रहा है, जिससे वे जनसामान्य को सुलभ हो सकें। व्यवहार तथा परमार्थ—दोनों क्षेत्रों में इस महामानव की पैठ कितनी गहन थी—उसकी जीवन-दृष्टि कितनी तत्वग्राहिणी और पैनी थी—इसका अनुमान इन अध्यात्म-सूत्रों की विषयगत व्यापकता तथा शैलीगत स्वाभाविकता से सहज ही लगाया जा सकता है। एक विशेष देश और काल में सृजित एवं अभिव्यक्त होते हुए भी सार्वदेशिकता इनकी विशिष्टता है—यही इनका अमृतत्त्व है। हमारा विश्वास है कि भवव्याल के दंश से पीड़ित, निराश तथा असहाय जनों को विषय-विष के प्रभाव से मुक्त करने में ये महा-मंत्र सिद्ध होंगे।

उद्‌बोधन

विश्वास करो! तुम दीन-हीन नहीं हो, तुम शुद्ध-बुद्ध हो, तुम अमृत हो, तुम महान् हो। तुम्हारे अन्दर परमात्मा की शक्ति भरी है, तुम चाहो तो सब कुछ कर सकते हो। दूसरी सृष्टि रचनेवाले विश्वामित्र, मुर्दे को जिलाने वाले शुक्राचार्य, पत्थर में से प्रत्यक्ष भगवान को प्रकट करनेवाले प्रह्लाद और माखन दिखा-दिखाकर आँगन में कन्हैया को नचानेवाली गोपियों में और तुम में वस्तुतः कोई फर्क नहीं है। तुम भगवान को उतने ही प्यारे हो, जितने वे सब थे। तुम में इस बात का विश्वास नहीं है, यही कमी है। दृढ़ विश्वास करो और भगवान के वैसे ही प्यार को प्रत्यक्ष पाकर परम सुखी हो जाओ। स्मरण रखो, आत्मविश्वास ही सफलता की कुञ्जी है, मूलमंत्र है और परमात्मा को खींचनेवाला चुम्बक है।

मानव-जीवन का साध्य

मनुष्य-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्प्रेम की प्राप्ति। इस उद्देश्य को निरन्तर सामने रखकर ही हमारे सारे कार्य, सारे व्यवहार, सारे विचार, सारे संकल्प-विकल्प और मन-बुद्धि तथा शरीर की सारी चेष्टाएँ होनी चाहिए। सबकी अबाध गति निरन्तर श्रीभगवान की ओर हो। यही साधन है। भगवान साध्य हैं और यह जीवन उसका साधन है। इसी में जीवन की सार्थकता है। अतएव बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियाँ—सबको सर्वभाव से श्रीभगवान की ओर

अनन्यगति से लगा देना चाहिए। हम कुछ भी काम करें, कुछ भी विचार करें, 'भगवान ही हमारे जीवन के एकमात्र लक्ष्य हैं'—यह स्मृति सदा जाग्रत् रहनी चाहिए।

लक्ष्य की महिमा

लक्ष्य का ध्यान रहना चाहिए, फिर सांसारिक और असांसारिक कार्य का कोई भेद नहीं रहता। प्रत्येक मार्ग उसी लक्ष्य की ओर ले जानेवाला होता है। बल्कि इस लक्ष्य की ओर ध्यान रखनेवाले पुरुष के लिए टेढ़ा-मेढ़ा दुरूह मार्ग भी लक्ष्य की कृपा से सीधा-सरल हो जाता है। संसार के काम फिर संसार के काम रह ही नहीं जाते, जब लक्ष्य ठीक हो जाता है। अतएव मन में निश्चित रहना चाहिए। सांसारिक कार्यों का स्वरूप परिवर्तन हो जायगा, अपने-आप ही।

आदर्श जीवन

रुपया-पैसा, मकान-जमीन सच्चा धन नहीं है। सच्चा धन है—मनुष्य का वह आदर्श जीवन, जिसमें भलाई-ही-भलाई भरी होती है। ऐसे सच्चा चरित्र का धनी पुरुष किसी को वाणी से उपदेश नहीं करता, उसके आचरण ही सबको उसी की भाँति जीवन-निर्माण करने का उपदेश दिया करते हैं।

सफल जीवन का रहस्य

दूसरों से प्राप्त व्यवहार की प्रतिकूलता को लेकर जरा भी मन में दुःख या क्षोभ नहीं करना चाहिए। संसार में सबके मन तथा सबकी रुचि एक-सी नहीं होती। जैसे घरवालों से हमारी भिन्न रुचि है, वैसे ही घरावलों की रुचि हमसे भिन्न है। अत-एव यदि उनकी सभी बातें हमसे मेल नहीं खातीं, तो हमें दुःख नहीं करना चाहिए।

जगत-लीला

नटनागर के इस नित्य नूतन विश्व-रंगमंच पर प्रत्येक प्राणी का नाट्य एक-से-एक विलक्षण होता है। सृष्टिकर्ता की यह लीला-चातुरी अत्यन्त आश्चर्यमयी है। इसके अनुसार प्रत्येक मानव में अपनी प्रकृतिगत और स्वरूपगत एक विशेषता होती है। पर किसी-किसी की विशेषता में एक ऐसी गुह्य-गम्भीर अन्तर्निविष्ट स्वरलहरी रहती है, जो अत्यन्त सुन्दर, सुरम्य और सुमधुर होने पर भी अपनी आत्यन्तिक मृदुता और सौम्यता के कारण हर किसी के जीवन-स्रोततक नहीं पहुँचती। इस अन्तर-स्वरिणी मधुर संगीत-ध्वनि के आनन्द का समास्वादन वही कर सकता है और वही उसको अपने प्राणों के साथ मिलाकर जीवन को गम्भीर अथवा मृदु-मधुर संगीतमय बना सकता है, जो वैसे मनुष्य के अत्यन्त समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त करता है।

भगवान का वरदहस्त

भगवान का मंगलमय विधान अमंगलकारी हो ही नहीं सकता। छोटे बच्चे के किसी अंग का आपरेशन होने पर वह उसे अंग का काटना समझकर रोता है;

आपरेशन करनेवाले सर्जन के मन में उसके रोगनाश का उद्देश्य है और वह उसके हित के लिए ही आपरेशन करता है। घरवाले जो समझदार हैं, वे भी आपरेशन को बुरा नहीं मानते। वे सोचते हैं कि रोग का नाश हो रहा है। पर सर्जन से भूल भी हो सकती है। उसके उद्देश्य में भी प्रमाद हो सकता है, किंतु सर्वशक्तिमान्, हमारे परम सुहृद हमारे लिए जो मंगल विधान करते हैं, वह चाहे दुःख हो, दारिद्रय हो, रोग हो अथवा मृत्यु हो, अवश्य ही हमारी आत्मा के लिए कल्याणकारी होता है। इसमें हमें विश्वास रखना चाहिए और यही सत्य है।

कृपाशक्ति में विश्वास का फल

सच्ची बात यह है कि भगवान की कृपा में विश्वास हो जाय तो विषाद, ग्लानि, निराशा, भय, पाप आदि की वृत्तियाँ रह ही नहीं सकतीं। यही मानना चाहिए और भगवान की दया से ही इस निश्चय पर रहा जा सकता है। मनुष्य का पुरुषार्थ क्या है? वह तो कभी भी प्रलोभन में आ सकता है, आर्त होकर निश्चय छोड़ सकता है, किसी के द्वारा युक्ति करने पर उसे मान सकता है। ऐसे स्थलों में भगवत्कृपा की शक्ति ही रक्षा करती है, यह भगवत्कृपा का प्रत्यक्ष नमूना है। यह तो बहुत ही स्थूल है। भगवत्कृपा का महत्त्व और चमत्कार अत्यन्त विलक्षण है।

विश्वास की महिमा

किसी से डरो मत। डरो बुरे आचरणों से, अपने हृदय की गन्दगी से और भगवान् के प्रति होनेवाले अविश्वास से। जिसके मन से भगवान् का विश्वास उठ गया, यह निश्चय समझो कि उसकी आध्यात्मिक मृत्यु हो गयी।

भगवत्कृपा

भगवान की कृपा नित्य-निरन्तर बरस रही है। वह सदा सब ओर से तुम्हें नहला रही है। ऐसा कोई क्षण नहीं जाता, जिस समय तुम भगवान की कृपा से वंचित रहते हो। वंचिव रहते भी कैसे? तुम उनकी अपनी प्यारी-से-प्यारी रचना जो ठहरे। तुम पर वे कृपा क्या करते, उनके हृदय में तो पल-पल में स्नेह उमड़ा आता है। सचमुच विश्वास करो—जब से तुम हुए, न जाने किस अज्ञातकाल से, तभी से उन्होंने तुम्हें अपनी गोद में ले रखा है। एक क्षण के लिए भी कभी उन्होंने तुमको दूर नहीं किया। उनका कल्याणमय कर-कमळ निरन्तर तुम्हारे सिरपर रहता है और निरन्तर तुम उनका शीतल-मधुर स्पर्श पा रहे हो।

भगवान् तुम्हारे लिए कृपा की मूर्ति ही हैं—'प्रभु-मूरति कृपामई है।' उनके पास इस कृपा के विपरीत या इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; तब फिर तुम क्यों डरते हो कि कभी भगवान की अकृपा हो गयी या कृपा न हुई तो जाने क्या होगा? जब तुम्हें देने के लिए उनके पास कृपा के अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब वे देंगे कहाँ से और तुमको वह मिलेगी भी कैसे?

जहाँ-कहीं दुःख-संकट या पीड़ा-यातना की प्रतीति होती है, वहाँ वस्तुतः उनकी कृपा ही उस रूप में प्रकट होकर तुम्हारा महान् हित-साधन कर रही है, जिसको तुम जानते नहीं और इसीलिए उससे बचना चाहते हो। परन्तु वे दयालु प्रभु तुम्हें उससे वञ्चित नहीं करना चाहते।

भगवान् मङ्गलमय हैं, हमारे परम हितैषी हैं, सर्वज्ञ हैं, किस बात में कैसे हमारा हित होता है—इस बात को जानते हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधान का स्वागत करो। खुशी से सिर चढ़ाकर उसे स्वीकार करो। उनके हाथ के दिये जहर में अमृत का अनुभव करो, उनके हाथ की तलवार में शान्ति की छवि देखो, उनके कोमल करस्पर्श से महिमा को पाये हुए सुदर्शन में परमसुख का शुभ दर्शन करो और उनकी दी हुई मौत में अमरत्व को प्राप्त करो। उनके प्रत्येक मङ्गलविधान में उनको स्वयमेव अवतीर्ण देखो।

भगवद्भाव

प्राणिमात्र में—चराचर समस्त भूत प्राणियों में एकमात्र भगवान् भरे हैं। उनके रूप में भगवान् ही अभिव्यक्त हैं—यह अच्छी तरह समझ कर सभी जीवों का सदा सम्मान-हित करना तथा सभी को यथासाध्य सुख पहुँचाना चाहिए।

तुम चाहे जहाँ रहो, तुम्हारे साथ भगवान् हैं। तुम्हारे अन्दर कुछ भी दिखाई दे, वे सभी भगवान् की पवित्र लीला के अंग हैं, दोष नहीं—यह विश्वास तथा अनुभव करो।

कृपाशक्ति की अवतरण-भूमि

भगवान का स्मरण करते हुए सारा काम करना चाहिए, जिससे चित्त में प्रसन्नता रहे। मन में कमजोरी नहीं लानी चाहिए। यह समझना चाहिए कि हमारी प्रत्येक कमजोरी श्रीभगवान की शक्ति का आवाहन करनेवाली है। दैन्य बड़ी अच्छी चीज है, बशर्ते कि वह निराशा, असफलता, विषाद और साहस नष्ट करनेवाला न हो। सच्चा दैन्य वही है, जो भगवान की कृपा-शक्ति को बुलाता है, भगवान की शक्ति को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिए मार्ग देता है। इसी प्रकार दुर्बलता भगवान की कृपा-शक्ति को बुलानेवाली होती है। हमारी कमजोरी में कोई ताकत नहीं है, जो कृपाशक्ति को रोक दे। इस दृष्टि से स्वयं दीन और दुर्बल होते हुए भी मनुष्य भगवान की कृपा-शक्ति पर विश्वास करके अत्यन्त प्रबल और कठिन से कठिन कार्य के करने में समर्थ हो सकता है।

अपने को जानो

मन में निश्चय करो—शरीर के नाश से तुम्हारी मृत्यु नहीं होती, तुम शरीर नहीं हो। इस शरीर के पहले भी तुम थे और पीछे भी रहोगे। तुम आत्मा हो,

तुम्ह रा स्वरूप नित्य है। जो वस्तु नित्य होती है, वही सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन होती है। इस नित्य, सनातन सर्वव्यापी स्वरूप में न जन्म है न मरण है, न विषमता है न विषाद है, न राग है न रोग है, न दोष है न द्वेष है, न विकार है न विनाश है। यह सत् है, चेतन है और आनन्दमय है।

मोह की चादर फाड़नेका प्रधान साधन है—आत्मशक्ति में विश्वास, आत्म-बल का निश्चय। विश्वास की ज्योति से मोह-तमका नाश तत्काल ही हो सकता है। तुम विश्वास करो, निश्चय करो, कि तुम्हारे अंदर अनन्त शक्ति है। मन, इन्द्रियाँ—सब तुम्हारे सेवक हैं; तुम्हारी अनुमति के बिना उन में जरा भी हिलने-डुलने का सामर्थ्य नहीं है। तुम्हारी ही दी हुई जीवनी-शक्ति से वे जीवित हैं और तुम्हारे ही बलपर सारी चेष्टाएँ करते हैं। तुमने भूल से अपने को उनका गुलाम मान लिया, तुम अपने स्वरूप को भूल गये, इसी से तुम्हारी यह दुर्दशा है। आत्मा के स्वरूप को सँभालो, फिर तुम अपने को अपार शक्ति-सम्पन्न पाओगे।

भगवान और भोग

भगवान् और भोग में बड़ा अन्तर है। उन के स्वरूप, साधन और फल के सम्बन्ध में सात बातें स्मरण रखें—

भगवान्	भोग
१. भगवान् की प्राप्ति इच्छा से होती है।	१. भोगों की प्राप्ति कर्म से होती है, इच्छा से नहीं होती।
२. भगवान् प्राप्त होने पर कभी बिछुड़ते नहीं।	२. भोग बिना बिछुड़े कभी रहते नहीं।
३. भगवान् की प्राप्ति जब होती है, पूरी होती है।	३. भोगों की प्राप्ति सदा अधूरी ही होती है।
४. भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा होते ही पापों का नाश होने लगता है।	४. भोगों को प्राप्त करने की इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं।
५. भगवान् को प्राप्त करने की साधना में शान्ति मिलती है।	५. भोगों को प्राप्त करने की साधना में अशान्ति बढ़ती है।
६. भगवान् का स्मरण करते हुए मरने-वाला सुख-शांतिपूर्वक मरता है।	६. भोगों का स्मरण करते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःखपूर्वक मरता है।
७. भगवान् का स्मरण करते हुए मरनेवाला निश्चय ही भगवान को प्राप्त होता है।	७. भोगों का स्मरण करते हुए मरनेवाला निश्चय ही नरकों में जाता है।

इन सात भेदों को समझ कर मनुष्य को चाहिए कि वह नित्य-निरन्तर भगवान का भजन ही करे।

शुद्ध मन : भागवती शक्ति की लीलाभूमि

मन की नीरोगता ही सच्ची नीरोगता है। जिसका शरीर बलवान और हृष्ट-पुष्ट है, परन्तु जिसके मन में बुरी वासना, असद्विचार, काम, क्रोध, लोभ, घृणा, द्वेष, वैर, हिंसा, अभिमान, कपट, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि दुर्गुण और दुष्ट विचार निवास करते हैं, वह कदापि नीरोग नहीं है। उसकी शारीरिक नीरोगता भी बहुत जल्द नष्ट होनेवाली है।

जगत चाहे हमें सफल-जीवन और बड़भागी समझे, परंतु यदि हमारे मन में दोष भरे हैं, कामनाकी ज्वाला जल रही है और भगवत्प्रेम-सुधा का प्रवाह नहीं बह रहा है तो निश्चय समझो हमारा जीवन सर्वथा निष्फल ही है। परन्तु जिनको कोई नहीं जानता अथवा जिनको निष्फल-जीवन समझकर लोग जिनसे घृणा करते हैं और नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनमें हमें ऐसे पुरुष मिल सकते हैं, जो वास्तव में सफल-जीवन हैं, दिव्यत्व को प्राप्त हैं।

जगत को कुछ भी दिखाने की भावना न रखकर हृदय को शुद्ध बनाओ, बुरी वासना और दुर्गुणों को हृदय से निकालकर उसे दैवी गुणों और भगवत्प्रेम से भर दो। अपने को अपने सर्वस्व और अपनेपन सहित भलीभाँति भगवान के प्रति समर्पण कर दो। तुम्हारे अंदर भागवती शक्ति अवतीर्ण हो जायगी।

भगवत्स्मृति : दैवी निमंत्रण

भगवान पर विश्वास रखकर उनका नित्य-स्मरण करने का प्रयत्न होना चाहिए। विश्वास में कमी नहीं आने देनी चाहिए। यह विश्वास रखना और बढ़ाना चाहिए कि भगवान की स्मृति भगवत्कृपा से होती है; यह मानो भगवान का निमंत्रण है। जब उन्होंने निमंत्रित कर लिया है और बराबर स्मरण रूपी पत्तल भी दे दी है तो परोसेंगे भी जरूर। एक भला आदमी भी निमंत्रित व्यक्ति को पत्तल दे देने पर परोसता ही है। फिर, भगवान कैसे हमें भूखे रख सकते हैं? हाँ, हम पत्तल फेंककर कहीं जरा-सी देर में ही घबराकर वापस न लौट जायँ। लौटने भी वे सहज में नहीं ही देंगे, पर अपने भी तो सावधान रहना ही चाहिए।

विषय-चिन्तन ही सब पापों की जड़ है। भगवत्-चिन्तन ही सर्वनाश से बचने का मूल है। भगवान में मन लगाना है, यह जीवन का उद्देश्य निश्चित हो जाना चाहिए। साधक को सबसे पहले लक्ष्य (साध्य) का निश्चय करना चाहिए। पहली बात है दृढ़ निश्चय की कि यह काम करना है। गीता में भी कही गयी सबसे पहली बात श्रद्धा है—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः—गीता ४।३९

विपत्ति तो सत्य की कसौटी है। सत्य का सोना विपत्ति की आग में तप कर और भी उज्ज्वल होता हैं। गुंडई की तो कल्पना ही क्यों होनी चाहिए। कोई आदमी भूल करे तो हम बदले में गुण्डे बन जायँ? इसमें हमारा क्या लाभ है? इस जोश को उतार दीजिये। अपने चरित्र और आचरण को अधिक से अधिक पवित्र, उज्ज्वल, सर्वहितकारी बनाने की चेष्टा कीजिये। विपत्ति के सामने दृढ़तापूर्वक खड़े रहने से विपत्ति ऊपर-ऊपर से निकल जाती है। यदि कोई उस समय गिर जाय तो उसको वह धर दबाती है। आँधी आती है, फिर निकल जाती है। यही हाल विपत्ति का है। 'हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम'। मन में रोष-विषाद न कीजिये।

अखंड भगवत्स्मृति

श्रीभगवान का स्मरण नित्य-निरन्तर बना रहे तथा हम सदा-सर्वदा उनकी समीपता का अनुभव करते रहें, यह प्रयत्न अपनी शक्तिभर करते रहना चाहिए। होगा तो वही जो होना है और सब भगवान की कृपा से ही होगा। हमारे साधन से कुछ नहीं होगा; तथापि तुम्हें अपनी जान में भूल नहीं करनी चाहिए—

जग की ममता सब गयी भयौ स्याम सों नेह।
चिन्ता दुख सब बहि गये, बरस्यौ सुख कौ मेह॥

आंतरिक शांति और आनंद

दूसरों को चाहे जितना शान्ति का उपदेश दो, सुख-दुःख में सम रहकर आनन्दमग्न रहने की चाहे जितनी मीमांसा करो, जबतक तुम्हारा हृदय शान्त नहीं है, जबतक तुम्हारा हृदय आनन्द से पूर्ण नहीं है, तबतक सब व्यर्थ है। धनी कहलाने से तो बखेड़ा बढ़ता है। सच्चे धनी बनो, चाहे कोई तुम्हें कंगाल ही क्यों न समझे।

सुख-शान्ति के साधन

संसार के भोगों में सुख है, इस प्रकार की हम लोगों की एक भ्रांत-धारणा हो रही है, इसीसे हम लोग उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में सतत लगे हुए हैं, पर ऐसी बात है नहीं। जो वस्तु अपूर्ण और अनित्य होती है, वह कभी सुखदायक नहीं हो सकती। वह तो दुःख और अशान्ति ही देगी। यही कारण है कि प्रायः सभी लोग अशान्त एवं दुःखी हैं। बार-बार अनुभव होने पर भी भ्रम-धारणा के अत्यन्त सुदृढ़ होने के कारण उसीमें लगे रहते हैं। क्या किया जाय? सुख-शान्ति सब चाहते हैं, परन्तु सुख-शान्ति के स.धनों को अपनाना नहीं चाहते। भगवान ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

यह लोक अनित्य और असुखकर है। इसे पाकर (सुख चाहते हो तो) मुझको भजो। हम सुख चाहते हैं, पर 'उनको' भजने में आनाकानी करते हैं। एक अंग्रेज सज्जन ने कहा है—

"Every one desires peace, but few desire those things that make for peace."

शांति का मूल स्रोत

शान्ति से जीवन बिताने के दो उपाय हैं—शान्ति बाहर से आती नहीं, अतः अपने अन्दर से उसका विकास करना पड़ता है। जबतक मनुष्य विविध कामनाओं से संतप्त रहता है, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती। अतः या तो वह कामनाओं का परित्याग करे अथवा यहाँ पर होनेवाले प्रत्येक परिणाम को भगवान के द्वारा रचित मंगलमय माने, तो शान्ति मिल सकती है।

बाहर से कोई किसी को शान्ति नहीं दे सकता। या तो कामना, ममता, स्पृहा और अहंता का सर्वथा अभाव हो जाय तब शान्ति मिलती है अथवा सर्वलोकमहेश्वर भगवान को अपना सहज सुहृद मान लेने पर मिलती है। फिर यहाँ होनेवाले प्रत्येक परिणाम में भगवान का सौहार्दपूर्ण मंगलविधान दिखाई देता है, जिसके कारण अशान्ति की कल्पना ही नहीं हो सकती।

प्रेम-रहस्य

प्रेम कभी बदला नहीं चाहता, लेना नहीं चाहता, देना ही चाहता है; दोष नहीं देखता, गुण ही देखता है, वह एकांगी होता है। लेन-देन का व्यापार उसमें सम्भव नहीं है। पर प्रेम की बाहरी स्थिति में मन में ऐसी छिपी हुई, अपने द्वारा होनेवाले उपकारों के अभिमान की ओर अधिक, पूरा या किसी अंश में बदला पाने की भावना रहती है तो वह समय पर प्रकट हो जाती है और प्रेम के स्वरूप को दूषित कर देती है। प्रेम में तो प्रेमास्पद का सुख ही अपना सुख होता है। उसमें 'क्या किया ? क्यों किया ? कैसे किया ?' यह प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रेम का मूल्य : आत्मोत्सर्ग

जिसका सिर आनन्द के साथ भगवान की इच्छा के सामने झुका है, वह तो आनन्द को पा गया। सचमुच जो भगवान को चाहता है—भगवान से प्रेम करता है, उसे अपनी इच्छा को भगवान की इच्छा में विलीन कर देना पड़ता है। भगवान की जो इच्छा है, वही उसकी इच्छा होती है। इच्छा तो मोटी चीज है; भगवान की रुचि, भगवान का संकल्प—यही उसके जीवन के आदर्श बन जाते हैं। भगवान के प्रेम की प्राप्ति अन्य सारे प्रेमों की आहुति देने पर ही होती है। इसमें एक बार कुछ दु:ख-सा प्रतीत होता है, परन्तु है बड़ा आनन्द और सच्ची शान्ति। यह भावुकता की बात नहीं है, सत्य है।

भगवत्कृपा के कोष में असफलता नहीं है, यदि सचमुच कृपा का अवलम्बन हो। निर्भरता जितनी ही होगी, उतनी ही सफलता समीप आवेगी, यह स्थिर सिद्धान्त है। इस भगवत्कृपा के लिए सब कुछ न्योछावर कर देना चाहिए। वह मनुष्य धन्य है, जिसका जीवन भगवत्कृपा पर निर्भर है और जो भगवान के नाम का एकान्त आश्रय लिये हुए है।

एक रहस्य की बात और है। भगवान कृपालु ही नहीं हैं, कृपा में तो कुछ पराया भाव है। हम उनके बहुत ही निकट हैं। वे हमें छोड़ ही नहीं सकते, "सुहृदं सर्वभूतानाम्।"

सात्त्विक वृत्ति के आधार

व्यवहार में भी ऊँची बात और वास्तव में अपने लाभ की बात यही है कि अपने द्वारा किये हुए किसी के उपकार को तथा दूसरे के द्वारा अपने लिए किये हुए किसी अपकार को भूल जाय और अपने द्वारा दूसरे के बने हुए अपकार को और दूसरे के द्वारा अपने लिए बने हुए उपकार को याद रखे। इससे दोनों की सात्विक वृत्ति बनी रहती है। साथ ही प्रेम पारमार्थिक पथ पर आगे बढ़ता है।

आनंद और प्रकाश के अखंड स्रोत

सदा-सर्वदा मन में सद्भावना और सत् संकल्पों को ही रखना चाहिए। व्यर्थ-चिन्तन और कुचिन्तन से उच्चाट होता है। चित्त को आनन्द और प्रकाश से भरा रहने की कोशिश करनी चाहिए। आनन्द और प्रकाश ही सतोगुण के लक्षण हैं। उद्विग्नता कैसी ? परमात्मा की सेवा में अपने को सदैव संलग्न समझकर सदा-सर्वदा उसीका चिन्तन आनन्द पूर्ण चित्त से करना चाहिए।

समर्पण ही स्वीकृति

जब तुम भगवान को आत्म-समर्पण कर चुके हो, तो यह सम्भव नहीं है कि उन्होंने तुम्हें अपनाया न हो। देरी तो समर्पणकर्त्ता की ओर से ही होती है, प्रभु की कृपा में कभी विलम्ब नहीं होता। परन्तु उनकी कृपा सर्वदा मधुर ही नहीं जान पड़ती। कभी-कभी वह बहुत फीकी और कड़वी भी होती है। प्रह्लाद को जब तरह-तरह के कष्ट दिये जा रहे थे, तब क्या उनकी कृपा नहीं थी ? इसलिए समर्पणकर्त्ता को समर्पण के बाद कुछ और कर्त्तव्य नहीं हैऔर न उसे किसी प्रकार की इच्छा करने का ही अधिकार है। अब जीवन उसका नहीं रहता, प्रभु उसे जैसे चाहें वैसे रखें। वह तो केवल उनकी विश्वलीला का दर्शकमात्र रह जाता है और हुआ रहता है उसके हाथ की कठपुतली।

समर्पण का पुरस्कार

मनुष्य को जब अपनी कमजोरी तथा अवगुणों का पता लग जाता है, तब वे

वहाँ नहीं ठहर पाते। फिर एक बात बड़े विश्वास की और है—जब मनुष्य अपनी सारी दुर्बलताओं को लेकर सर्वसमर्थ परम सुहृद भगवान के शरण हो जाता है, अपने को उनका बना देता है, तब उसकी सारी चिन्ता भगवान् करते हैं। उसे दोषमुक्त रखे या दोषयुक्त, अपनी चीज को कैसे भी रखें, उनका मन जैसे हो वैसे ही रखें। वह तो केवल उनका होकर निरन्तर उनके चिन्तन में ही लगा रहता है। क्षणभर का विस्मरण उसमें परम व्याकुलता पैदा कर देता है।

आत्मा की शक्ति

आत्मा में अनन्त शक्ति है। मोह की गहरी चादर से वह ढकी है, इसी से तुम अपने को मन और इन्द्रियों के वश में पाते हो; इसी से तुम्हारे अन्दर वासना, कामना और विषयासक्ति ने अपने डेरे डाल रखे हैं; इसी से तुम पाप-ताप के आक्रमण से पीड़ित हो। यदि तुम किसी तरह उस चादर को फाड़ सको तो फिर तुम्हारी अनन्त शक्ति के सामने किसी की भी शक्ति नहीं, जो ठहर सके और तुम्हें किसी प्रकार भी सता सके।

मंजिल एक--राह अनेक

एक ही सत्य को पाने के अनेक मार्ग हैं। विविध दिशाओं से उस एक की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। जो जिस दिशा में है, वह अपनी दिशा से ही उसकी ओर चलेगा। सब एक दिशा में नहीं चल सकते; क्योंकि सब एक दिशा में हैं ही नहीं। हाँ, सबका लक्ष्य वह एक ही है, इसीलिए अन्त में सब उस एक ही में पहुँचेंगे; परन्तु दिशा-भेद के अनुसार मार्ग तो भिन्न-भिन्न होंगे ही। तुम जिस मार्ग से चलते हो, वह भी ठीक है और दूसरा जिससे चलता है, वह भी ठीक हो सकता है। तुम्हारा और उसका लक्ष्य तो एक ही है। फिर विवाद किस बात का? इसलिए अपने मार्ग पर चलो, सावधानी के साथ अग्रसर होते रहो; दूसरे की ओर मत ताको। न किसी को गलत समझो और न अपने निर्दिष्ट मार्ग को छोड़ो।

प्रेम और आनन्द

प्रेम भगवान् का स्वरूप ही है। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान भाव-जगत की वस्तु रहें ही नहीं। आनन्दस्वरूप यदि आनन्द के साथ इस प्रकार आनन्दरस का आस्वादन न करें, उनकी आनन्दमयी आह्लादिनी शक्ति उन्हें आनन्दित करने में प्रवृत्त न हो, तो केवल स्वरूपभूत आनन्द बड़ा रूखा रह जाता है; उसमें रस नहीं रहता। इसलिए वे स्वयं ही अपने ही आनन्द का अनुभव करने के लिए अपनी ही स्वरूपभूता आनन्दरूपा शक्ति को प्रकट करके उसके साथ आनन्द-रसमयी लीला करते हैं। यह आनन्द बनता नहीं; पहले नहीं था, अब बना—ऐसी बात नहीं है। प्रेम नित्य, आनन्द नित्य—दोनों ही भगवत्स्वरूप हैं। आनन्द की भित्ति प्रेम और प्रेम का विलक्षण

रूप आनन्द ! इस प्रेम का कोई निर्माण नहीं करता । जहाँ सर्व-त्याग होता है, वहीं इसका प्राकट्य—उदय हो जाता है । जहाँ त्याग, वहाँ प्रेम और जहाँ प्रेम, वहीं आनन्द । भगवान् प्रेमानन्दस्वरूप हैं । अतएव भगवान् की यह प्रेमलीला अनादिकाल से अनन्तकालतक चलती ही रहती है । न इसमें विराम होता है, न कभी कमी ही आती है । इसका स्वभाव ही वर्धनशील है ।

अर्थ और परमार्थ

आज संसार में सब-कुछ रुपये से है, रुपये का ही मान-सम्मान है; नहीं तो कोई पूछता भी नहीं । बात ठीक है, परन्तु यह तो संसारी विषयी पुरुषों की समझ है और उनकी यह समझ ठीक भी है । परमार्थमार्गियों की समझ तो इससे बिलकुल उल्टी होनी चाहिए । विषयी मनुष्य धन, मान, इज्जत चाहते हैं । मुमुक्षु इससे विपरीत चाहते हैं और मुक्तों के लिए दोनों में समता होती है । हम लोगों को तो मुमुक्षु की भाँति धन-मान के नाश होने में परमात्मा की कृपा का अनुभव करना चाहिए ।

अर्थ की लोलुपता से या अधिक आवश्यकता की कल्पना से तुम दूसरों का स्वत्व छीनकर, पराया हक मारकर, गरीबों तथा असमर्थों को सताकर अर्थोपार्जन या अर्थ-संग्रह करते हो तो तुम महापाप करते हो । ऐसा अर्थ सर्वथा अनर्थरूप है, वह यहाँ भी तुम्हें जलाता रहेगा, चाहे कुछ दिन अभिमान के मद में इसका अनुभव न कर सको और परलोक में तो तुम्हें इसका बड़ा ही भीषण परिणाम भोगना पड़ेगा । अतएव अर्थ के लोभ में न पड़कर प्राप्त अर्थ का सदुपयोग करो । अप्राप्त की अन्याय-पूर्वक प्राप्ति के साधन से सदा दूर रहो ।

साधना की दो धाराएँ

साधना की दो धाराएँ हैं—अनादिकाल से । एक धारा में 'अहं' के परिणाम की चिन्ता है, 'अहं' के मङ्गल की भावना है; दूसरी धारा में 'अहं' का सर्वथा समर्पण है । जिस धारा में कर्म की और ज्ञान की प्रधानता है, उस धारा में आत्मपरिणाम की चिन्ता है, 'अहं' के मङ्गल की भावना है । भगवान् ने गीता के अन्तिम उपदेश में कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(१८।६६)

इस उपदेश में 'पापनाश का प्रलोभन' है—'तुम्हारे पापों का नाश मैं कर दूँगा, तुम चिन्ता न करो ।' साधक सोचता है कि 'मेरे पाप का नाश कैसे होगा, मेरा मंगल कैसे होगा ?' इसमें 'अहं' के मङ्गल की भावना है, 'अहं' के परिणाम की चिन्ता है ।

इससे और आगे बढ़ते हैं तो कहते हैं कि 'हमारा बन्धन से छुटकारा हो जाना चाहिए, मुक्ति मिल जानी चाहिए।'.........'मैं बन्धन में हूँ और मैं छूट जाऊँ।' यह जो बन्धन का बोध है, उसमें 'अहं' के मङ्गल की आकांक्षा भरी है। इसीसे जहाँ कोई प्रलोभन नहीं, वहाँ ऐसी कोई भावना नहीं। इसके बाद की स्थिति बतलाते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८।५४)

यहाँ 'पापनाश का प्रलोभन' नहीं है। यहाँ तो साधक 'ब्रह्मभूत' है, 'प्रसन्नात्मा' है। उसे न शोच है न आकांक्षा है। स्वयमेव अपने-आप भगवान आते हैं, भगवान की भक्ति प्राप्त होती है—'मद्भक्तिं लभते पराम्।' पर यहाँ भी भक्तिलाभ की आकांक्षा है। जहाँ कोई आकांक्षा नहीं, जहाँ कोई वासना नहीं, जहाँ 'अहं' का सर्वथा विस्मरण-समर्पण है, जहाँ केवल प्रेमास्पद के सुख की स्मृति है और कुछ भी नहीं—वह एक विचित्र धारा है और उस धारा का मूर्तिमान् रूप ही 'श्रीराधा' हैं। जितनी और सखियाँ हैं, जितनी और गोपाङ्गनाएँ हैं, वे सब राधा-व्यूह के अन्तर्गत आती हैं और राधा इस भावधारा की मूर्तिमती सजीव प्रतिमा हैं। राधा का आदर्श, राधा का जीवन इसीलिए 'ब्रह्मविद्या' के लिए भी आकांक्षित है।

राधा-भाव

भगवान् के स्वरूप का एक भाव है—'आनन्द।' यह अंश नहीं, आनन्दांश नहीं। सत् भगवान का स्वरूप, चित् भगवान् का स्वरूप, आनन्द भगवान् का स्वरूप। भगवान् का जो स्वरूपानन्द है, उस स्वरूपानन्द का वैष्णव-शास्त्रों में नाम है—'आह्लादिनी शक्ति'। इस आह्लादिनी का जो सार है, जो सर्वस्व है, उसे कहते हैं 'प्रेम'। उस प्रेम का जो फल है, उसे कहते हैं 'भाव' और वह भाव जहाँ जाकर परि-पूर्ण होता है, उसे कहते हैं 'महाभाव'। यह महाभाव ही 'श्रीराधा' हैं।

भाव के अनेक स्तर हैं—रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। ये सभी आह्लादिनी शक्ति के भाव हैं। इन सारे भावों का जहाँ पूर्णतम प्रकाश, अनन्त प्रकाश है, वहीं 'श्रीराधा-भाव' है।

यह कोई नहीं बता सकता कि राधा क्या है। राधा हैं—श्रीकृष्ण का सुख। राधा हैं—श्रीकृष्ण का आनन्द। राधा न हों तो श्रीकृष्ण के आनन्द-रूप की सिद्धि ही न हो। श्रीकृष्ण के आनन्द का नाम है—'राधा'। इन राधा के अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं, अनेक विकास हैं।

जैसे मूर्तिमान् रसराज श्रीकृष्ण के द्वारा ही समस्त रसों का अस्तित्व और प्रकाश है, वैसे ही एकमात्र मूर्तिमती महाभावस्वरूपा श्रीराधा के द्वारा ही अमूर्त-

समूर्त—सभी भावों का विकास और विस्तार है तथा उन-उन विभिन्न भावों के अनुसार ही तदनुरूप रसतत्व का ग्रहण होता है। एक ही विद्युत्-ज्योति विविध विभिन्न वर्णों के बल्बों—विद्युत्-प्रकाश-आधारों के सम्पर्क में आकर जैसे विभिन्न वर्णवाली दिखाई देती है, वैसे ही एक ही भाव विभिन्न आधारों के द्वारा उन-उनके अनुकूल रसतत्व का अनुभव करवाता है। एक ही रस का जो विभिन्न रूपों में आस्वादन है, उसमें आधार-भेद की यह भाव-विभिन्नता ही कारण है। वैकुण्ठ आदि की श्रीलक्ष्मी आदि, द्वारका की पट्टमहिषी आदि और विभिन्न-भावसमन्वित श्रीगोपांगनाएँ—सभी इन मूल-महाभावरूपा ह्लादिनी (राधा) के ही विभिन्न-विचित्र विकास हैं। इनमें गोपीभाव परम और चरम त्यागमय होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

दुःख का कारण और निवारण

मनुष्य के दुःख का प्रधान कारण है—किसी वस्तु, स्थिति, व्यक्ति, अवस्था आदि से सुख की आशा करना। उनमें न कभी सुख है और न वे सुख दे सकेंगे। भगवान ने खुले शब्दों में इन सबको दुःखालय बताया है। जो इस ऊपर के सुख की आशा करता है, उसको नित्य ही निराश होना पड़ता है। स्थायी सुख तो भगवान में है और आत्मा में है। वह पूर्ण तथा अखण्ड है और वह सुख नित्य हमारे पास है। कभी घट नहीं सकता, मिट नहीं सकता, छूट नहीं सकता।

विघ्नों की मंगलमयता

विघ्न भी भगवान की दया से ही आते हैं। बीच-बीच में विघ्न न आवें, तो शायद अधिक शिथिलता आ जाय। जैसे रात्रि दूसरे दिन के प्रातःकाल का सुख देने के लिए आती है, वैसे ही विघ्न भी साधना में उत्साह पैदा करने के लिए ही आते हैं। श्रीभगवान सब-कुछ देखते ही हैं, देखते क्या हैं—उन्हीं के इंगित से सब कुछ होता है, फिर अमंगल की क्या संभावना है ? मंगलमय का इंगित मंगलमय ही होगा।

सेवा का स्वरूप

'सेवा' वह है जो सेव्य (प्रियतम) को स्वीकार हो और उनको सुखी करने वाली हो। सेवा का स्वरूप क्या है ? सेव्य की तृप्ति में आत्मतृप्ति। सेव्य को सुखी देखकर सेवक स्वयं सुखी होना नहीं चाहता, कहीं ऐसा न हो कि उस सुख की अनुभूति में सेवा छूट जाय।

हृदय का गुप्त धन

अपनी साधना की तथा उससे प्राप्त सफलता की बात कभी भी किसी से नहीं कहनी है। चाहे वह कितना ही आत्मीय या घर का हो। प्रभु की बात प्रभु से, साध्य की बात साध्य से, साधन की बात अपने साधन से ही कहनी है। बस, सर्वथा और सर्वदा अपनी साधना को सँभाल कर सुरक्षित और गुप्त रखना है। किसी प्रकार भी न तो

प्रशंसा पाने के लिए अपनी साधना को बाहर उड़ाना है और न निन्दा के डर से उसे प्रकट करना है । वह तो हृदय का अति गुप्त धन है, उसे सर्वथा छिपाना है ।

समय का सदुपयोग

समय बहुत मूल्यवान् है । मृत्यु कब आ जाय--पता नह । अतः जीवन का एक क्षण भी प्रमाद, आलस्य में न बिता कर सावधानी से भगवान की सेवा में लगाना चाहिए ।

यथार्थ-कर्म

कर्म आलस्य से अच्छा है । परन्तु कर्म का आधार यदि केवल धर्म है, तो वह बन्धन का कारण है । केवल यथार्थ कर्म मुक्ति को देनेवाला है । कर्म का आधार भगवान होना चाहिए; परन्तु कर्म का आधार भगवान तभी हो सकते हैं, जब सब समय भगवान का स्मरण होता रहे । 'योगस्थः कुरु कर्माणि' तथा फल में भी भगवान हों । 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।' इसके अतिरिक्त मनुष्य को वही कर्म करने चाहिए, जो भगवान के स्मरण में सहायक हों; चाहे वह कर्म लौकिक दृष्टि से कितना ही नीचा अथवा राजसिक ही क्यों न हो । इसके विपरीत जो कर्म सात्विक होने पर भी हमारी केवल कर्म में आसक्ति बढ़ाता है, वह त्याज्य है । सत्य, अहिंसा आदि व्रत भी यदि भगवान से शून्य हैं, तो उनसे काम नहीं बनेगा ।

श्रेष्ठता का मानदंड

जब श्रेष्ठता की कसौटी केवल धन और अधिकार रह जाता है, तब समाज गिर जाता है । आज यही अवस्था हमारे सारे समाज की है ।........मालूम होता है कि अभी पतन और भी बढ़नेवाला है । पाप का फल कभी सुख नहीं होता ।

मनुष्य का इन्द्रिय के प्रत्येक विषय में राग-द्वेष हैं । इस राग-द्वेष से बचकर चलने में ही कल्याण है । यहीं सावधानी और बुद्धिमानी की आवश्यकता होती है ।

चिंतन के आयाम

विषय-चिंतन ही मृत्यु है और भगवच्चिन्तन ही मोक्ष है, क्योंकि विषय के चिंतन से बारम्बार मृत्यु के अधीन होना पड़ा है और भगवच्चिन्तन के प्रभाव से मृत्यु के मुख से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है । अतएव जहाँतक बने, विषय-चिंतन से मन हटाकर भगवान के चिंतन में लगाने की लगन के साथ चेष्टा करनी चाहिए ।

अनुकूलता की आशा—एक आत्म-प्रवंचना

मनुष्य संसार में अनुकूलता चाहता है और दूसरों से आशा रखता है, इसीलिए उसे निराश और दुःखी होना पड़ता है । कोई भी परिस्थिति, अवस्था, मनुष्य, पद, अधिकार हमें सुख-शान्ति दे सकेंगे, यह धारणा ही गलत है । न ये कभी अनुकूल थे

और न हो सकते हैं। मनुष्य इनकी आशा-प्रतीक्षा करता हुआ उनको बार-बार प्रतिकूल पाकर दुःखी होता, जलता, बार-बार मन के उबाल निकालता, क्रोध में भरता, बदला लेना चाहता, अनुकूलता के लिए सिर पीटता और दुःखी होता हुआ जीवन बिताता है और अन्त में मर जाता है। यह दशा प्रत्येक विषयासक्त प्राणी की है। चाहे वह किसी पार्टी का नेता हो, चाहे किसी धर्म-समाज का गुरु हो, मठ का महन्त हो, किसी भूमि का राजा हो, किसी स्टेट का प्राइममिनिस्टर हो, इस सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

अपने को तो अपना ही दोष ढूँढ़ना चाहिए, इसमें अपना लाभ है। यदि हम भगवान के सामने सच्चे हैं और निर्दोष हैं तो सारा जगत चाहे हमें बुरा समझे, हमारी कोई हानि नहीं है और यदि जगत हमारी तारीफ भी करता है, पैर भी पूजता है, पर हम भीतर से बुरे हैं, तो उस मान-बड़ाई का कोई मूल्य नहीं है। जगत के लोग तो दूसरे की उन्नति देखकर डाह भी करने लगते हैं, परन्तु अपनी ओर से ऐसा ही प्रयत्न होना चाहिए कि जिसमें अपना बर्ताव यथासाध्य किसी के लिए अहितकर न हो।

दरिद्रता और दुःख : परम कल्याण के साधन

दरिद्रता और दुःख तथा अपमान और कष्ट को गले लगाओ। फिर देखो—परमात्मा साथ हैं और उन्हीं की प्रेरणा से हमारे कल्याणार्थ यह सब हो रहा है। यह ध्रुव सत्य है, कल्पना नहीं, इस पर विश्वास करो। तुम्हारे परम कल्याण के लिए ही यह सब हो रहा है। भगवान में चित्त लगाने की चेष्टा करो। उनकी कृपा से—संसार-सम्बन्धी स्थिति कुछ भी क्यों न रहे—मानसिक स्थिति ठीक हो जायगी। फिर—

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते—

महान् से महान दुःख तुम्हें विचलित नहीं कर सकेगा।

प्रतिकूलता में अनुकूलता

प्रतिकूल परिस्थिति को अनुकूल बना लेना ही तो साधन है। जगत में कोई परिस्थिति प्रतिकूल नहीं है, यदि नित्य अनुकूल भगवान का सर्वदा साथ बना रहे। जो सब जगह, सब समय, सब रूप में भगवान को देखता है, उसके लिए प्रतिकूलता कहाँ है? फिर प्रतिकूलता को अनुकूल समझना तो मन की वृत्तियों को आसक्ति और ममताहीन बनाने से ही हो सकता है। शान्त, सहनशील, वाक्संयमी, क्षमाशील, निज दोष-दर्शक बने रहने की चेष्टा करनी चाहिए, इस रोग की आप ही दवा हो जायगी।

विश्वास का प्रभाव

अपने पर भगवान की कृपा है, इस बात का यदि निश्चय हो जाय तो फिर मनुष्य निर्भय हो जाता है। उदाहरण छोटे बच्चे की माँ का ले सकते हैं। यह उदाहरण भी पूरा घट नहीं सकता, क्योंकि वह क्या रक्षा कर सकती है? पर प्रभु करोड़ों बच्चों

का एक साथ उद्धार करने में समर्थ हैं। किन्तु हमें विश्वास नहीं होता इसलिए कि भगवान को हम परम वस्तु नहीं मानते। जो कुछ बिलम्ब होता है, चाहने में होता है। सबसे बड़े भगवान हैं—यह समझ में आने से फिर हम दूसरी वस्तु क्यों चाहेंगे? उस प्रकार का हमारा विश्वास नहीं है। बुद्धि तो मानती है, पर मन विश्वास नहीं करता। वे अनन्त, आनन्दमय, ज्ञानमय, ऐश्वर्यमय हैं, यह निश्चय होते ही फिर मामूली ऐश्वर्य के लिए हम क्यों भटकेंगे?

जागते रहो

असावधानी विनाश को बहुत शीघ्र बुला लाती है। सचेत रहो, सावधान रहो, जीवन-महल के किसी भी दरवाजे से काम-क्रोध-रूपी किसी भी चोर को अंदर न घुसने दो और सावधानी के साथ, जो पहले घुसे बैठे हों, उन्हें दृढ़ता और शूरता के साथ निकालने की प्राणपण से चेष्टा करते रहो। सावधानी ही साधना है।

जीवन के एक-एक क्षण को मूल्यवान् समझो और बड़ी सावधानी के साथ प्रत्येक क्षण भगवच्चिन्तन या आत्मचिन्तन करते हुए लोकहित के कार्य में बिताओ। तुम्हारा कोई क्षण ऐसा नहीं जाना चाहिए, जिस में किसी का तुम्हारेद्वारा अहित हो जाय। अहित वाणी और शरीर से ही होता हो, यह बात नहीं है; यदि तुम्हारे मन में बुरा विचार आ गया तो मान लो, तुम अपना और दूसरों का अहित करनेवाले हो गये। बुरा विचार कभी मन में न आने दो; यदि पूर्वसंस्कारवश आ जाय तो उसको तुरंत निकाल बाहर कर दो। बुरे विचार को आश्रय कभी मत दो, उसकी ओर से लापरवाह न रहो।

मन को मौन करो। मुँह से न बोलने का नाम ही मौन नहीं है, मौन कहते हैं—चित्त के मौन हो जाने को। चित्त जगत का मनन ही न करे, जगत का कोई चित्र चित्तपटलपर रहे ही नहीं; बस, एकमात्र परमात्मा में ही चित्त रम जाय, वह उसी में प्रविष्ट हो जाय। विश्वास करो—यह स्थिति होती है, तुम्हारी भी यत्न करने पर हो सकती है। ऐसा ध्यान हो सकता है, ऐसी समाधि सम्भव है, जिस में जगत की तो बात ही क्या, तन-मन की भी सुधि नहीं रहती; अधिक क्या, ध्यान करनेवाला स्वयं ध्येय में समाकर खो जाता है।

भलाई चाहो तो भला करो

प्रतिध्वनि ध्वनि का ही अनुसरण करती है और ठीक उसी के अनुरूप होती है; इसी प्रकार दूसरों से हमें वही मिलता है और वैसा ही मिलता है, जो और जैसा हम उनको देते हैं। अवश्य ही वह मिलता है बीज-फल-न्याय के अनुसार कई गुना बढ़कर।

सुख चाहते हो, दूसरों को सुख दो; मान चाहते हो, मान प्रदान करो; हित चाहते हो, हित करो और बुराई चाहते हो तो बुराई करो। याद रखो, जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल मिलेगा। फल की न्यूनाधिकता जमीन के अनुसार होगी।

जबतक तुम्हें अपना लाभ और दूसरे का नुकसान सुखदायक प्रतीत होता है, तबतक तुम नुकसान ही उठाते रहोगे।

जबतक तुम्हें अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा प्यारी लगती है, तबतक तुम निन्दनीय ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपना सम्मान और दूसरे का अपमान सुख देता है, तबतक तुम अपमानित ही होते रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने लिए सुख की और दूसरे के लिए दुःख की चाह है, तबतक तुम सदा दुःखी ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने को न ठगाना और दूसरे को ठगना अच्छा लगता है, तबतक तुम ठगाते ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने दोष नहीं दीखते और दूसरे में खूब दोष दीखते हैं, तबतक तुम दोषयुक्त ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने हित की और दूसरे के अहित की चाह है, तबतक तुम्हारा अहित ही होता रहेगा।

अपने में डूबो

मनुष्य को सदा अपना हृदय निरीक्षण करते रहना चाहिए। उस में दोष पैदा न होने पावें। कोई दोष दीखे तो उसे तुरन्त निकालने की चेष्टा की जानी चाहिए। दैवी सम्पत्ति का बढ़ना ही मनुष्य की यथार्थ उन्नति है। पद, मर्यादा, धन, मान, सन्तान आदि में बड़ा होना असली उन्नति नहीं। हम जिन को बहुत नीचा देखते हैं और समय-समय पर किसी कारण से जिनसे घृणा करते हैं, उन के अन्दर भी हम से बहुत ऊँची उठी हुई आत्मा हो सकती है। अतएव किसी से घृणा न कर सब में गुण देखना चाहिए। परमात्मा का स्मरण सदा बना रहे और परमात्मा के ही आश्रय में सारे कार्य हों—इस भाव को बढ़ाना चाहिए।

बुराई देखो तो अपनी

मनुष्य यदि अपनी भूल देखे तो दूसरों की भूल उसे कम दिखाई देती है और अपनी भूल का सुधार भी वह कर सकता है, परन्तु यदि केवल दूसरों की ही भूल देखता रहे तो वह भूल देखनेवाली आँखें इतनी बड़ी हो जाती हैं कि फिर दूसरों की छोटी भूल भी बहुत बड़ी दिखाई देती है। द्वेष-कलह बढ़ जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपनी भूल को देख कर उस के लिए पश्चात्ताप करे और उसको यथा-साध्य मिटाता रहे।

सच्चे सम्बन्धी से नाता जोड़ो

इस वर्तमान घर-द्वार, पुत्र-कन्या, भाई-बहन, माता-पिता, पति-पत्नी को अपना मानते हो—तुम्हारा यह भ्रम ही है। इस जन्म के पहले जन्म में भी तुम कहीं थे। वहाँ भी तुम्हारे घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी—सब थे। कभी पशु, कभी पक्षी, कभी देवता, कभी राक्षस और कभी मनुष्य—न जानें कितने रूपों में तुम संसार में खेले हो; परंतु वे पुराने—पहले जन्मों के घर-द्वार; साथी-संगी, स्वजन-आत्मीय अब कहाँ हैं? उन्हें जानते भी हो? कभी उन के लिए चिन्ता भी करते हो? तुम जिन के बहुत अपने थे, बड़े प्यारे थे, उनको धोखा देकर खेल के बीच में ही उन्हें छोड़ आये; वे रोते ही रह गये और अब तुम उन्हें भूल ही गये हो। उस समय तुम भी आज की तरह ही उन्हें प्यार करते थे, उन्हें छोड़ने में तुम्हें भी कष्ट हुआ था; परंतु जैसे आज तुम उन्हें भूल गये हो, वैसे ही वे भी नये खेल में लग कर, नये घर-द्वार, संगी-साथी पाकर तुम्हें भूल गये होंगे। यही होता है। फिर तुम इस भ्रम में क्यों पड़े हो कि इस संसार के घर-द्वार, इस के सगे-सम्बन्धी, यह शरीर, सब मेरे हैं?

सब कुछ राममय है

सदा-सर्वदा भगवान् का स्मरण बना रहे, इसलिए समस्त कार्य भगवत्सेवा के भाव से करने चाहिए तथा सब भूत-प्राणियों में भगवद्भाव करना चाहिए और सब को मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिए। यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। जिस से भी हमारा व्यवहार पड़े, उसी में भगवद्भाव करें। न्यायाधीश समझे कि अपराधी के रूप में भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं। उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उन से मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधी का है और मेरा न्यायाधीश का। आप के आदेश के पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होने पर दण्ड भी दूँगा। पर प्रभो! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूप में आप ही मेरे सामने हैं और आप के प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवा के लिए अपने स्वाँग के अनुसार कार्य कर रहा हूँ।' इसी प्रकार एक भंगिन-माता सामने आ जाय तो उस को भगवान् समझ कर मन ही मन प्रणाम करे और स्वाँग के अनुसार बर्ताव करे। यों ही वकील मुअक्किल को, दूकानदार ग्राहक को, डाक्टर रोगी को, नौकर मालिक को, पत्नी पति को, पुत्र पिता को और अपराधी न्यायाधीश को, भंगिन उच्च वर्ण के लोगों को भगवान समझकर व्यवहार करे—बर्ताव करे स्वाँग के अनुसार; पर मन में भगवद्भाव रखे, तो बर्ताव के सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे। अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी। भगवान् की नित्य-स्मृति बनी रहेगी। यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्य के द्वारा भगवान् की पूजा कर सकेगा। भगवान् ने कहा है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'—'अपने कर्म के द्वारा भगवान् को पूज कर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।'

सर्वथा निश्चिन्त हो जाओ

समस्त चिन्तनों से चित्त को मुक्त कर दो। जैसे छोटा शिशु माँ की गोद में जा कर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही प्रभु के दास बनकर निश्चिन्त हो जाओ। जिस के रखवाले राम हैं, उसे किस बात की चिन्ता होनी चाहिए? सब कुछ छोड़ कर, सब की आशा त्याग कर, भगवान् के सामने सब को तुच्छ मानकर, उस दिव्यातिदिव्य मधुर सुधारस के सामते जगत के सारे रसों को फीका समझकर, उस कोटि-कोटि-कंदर्प-दर्प-दलन, सौन्दर्यसार श्यामसुन्दर के स्वरूप के सामने जगत की समस्त रूपराशि को नगण्य मानकर उसी के भजन में लग जाओ, चित्त को उसी के अर्पण कर दो, सब प्रकार से उसी पर निर्भर हो जाओ। मन से उसी का स्मरण करो, बुद्धि से उसी का विचार करो, वाणी से उसी के गुण गाओ, कानों से उसी के गुण और लीलाओं को सुनो, जीभ से उसी के प्रसाद का रस लो, नासिका से उसी की पद-पद्मपराग को सूँघो, शरीर से सर्वत्र उसी के स्पर्श का अनुभव करो, नेत्रों से उसी छविधाम की छवि को सर्वत्न—सर्वदा देखो, हाथों से उसी की सेवा करो, तन-मन-धन—सब उसीके अर्पण कर दो।

जबतक तुम जगत के पदार्थोंको अपना मानते रहोगे, उनमें ममत्व रखोगे, तबतक कभी निश्चिन्त नहीं हो सकोगे। ये नाशवान्, क्षणभङ्गर परिवर्तनशील पदार्थ कभी तुम्हें निश्चिन्त नहीं होने देंगे। इनपरसे ममत्व और आसक्तिको हटा लो; ये जिनकी चीजें हैं, उन्हें सौंप दो। बस, जहाँ तुमने इन को भगवान् के समर्पण किया कि वहीं निश्चिन्त हो गये; फिर न नाश का भय है, न अभाव की चिन्ता है और न कामना की जलन है।

सबसे बड़ी विपत्ति

मनुष्य के जीवन के एक क्षण का भी पता नहीं है; न जाने, किस पल में प्रलय हो जाय, कब मृत्यु आ जाय। इसलिए 'अमुक स्थिति हो जाने पर भगवान् का भजन करूँगा', ऐसी धारणा छोड़ देनी चाहिए और अभी जो जिस अवस्था में है, उसे उसी अवस्था में भगवान् की कृपा का आश्रय करके साधन आरम्भ कर देना चाहिए। आधे क्षण का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।

पलक मारते-मारते मृत्यु के ग्रास बन जाओगे, फिर कब करोगे? यह मत समझो कि 'अभी छोटी उम्र है—खेलने-खाने और विषय भोगने का समय है; बड़े-बूढ़े होने पर भजन करेंगे।' कौन कह सकता है कि तुम बड़े-बूढ़े होने से पहले ही नहीं मर जाओगे? मौत की नंगी तलवार तो सदा ही सिर पर झूल रही है।

जरा-सा भी समय भगवान् के भजन के बिना नहीं बिताना चाहिए। जो समय भगवद्भजन में जाता है, वही सार्थक है, शेष सब व्यर्थ है। समय का मूल्य

समझ कर एक-एक साँसको खूब सावधानी के साथ, कंजूस के परिमित पैसों की भाँति, केवल भगवच्चिन्तन में ही लगाना उचित है। भजनहीन काल ही वास्तव में हमारे लिए भयंकर काल है। वही सबसे बड़ी विपत्ति है।

पूजा के दिव्य पुष्प

भगवान् की पूजा के लिए सबसे अच्छे पुष्प हैं—श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, दया, मैत्री, सरलता, साधुता, समता, सत्य, क्षमा आदि दैवी गुण। स्वच्छ और पवित्र मन-मन्दिर में मनमोहन की स्थापना करके इन पुष्पों से उनकी पूजा करो।

जो इन पुष्पों को फेंक देता है और केवल बाहरी फूलों से भगवान् को पूजना चाहता है, उसके हृदय में भगवान् आते ही नहीं; फिर वह पूजा किसकी करेगा ?

वास्तविक उन्नति

उन्नति तथा उत्थान का वास्तविक अर्थ है—चरित्र का उत्थान, मानस की उच्चता और तदनुरूप व्यवहार-बर्ताव में विशुद्धि। यही वास्तविक जीवन-संस्कार या संस्कृति है। हमारे अन्दर के दुर्विचारों, दुर्गुणों तथा दोषों का नाश होकर अन्तर के भावों का सात्विक सुधार हो जाय; वासना, कामना आदि विशुद्ध हो जायँ; उनमें से भोगासक्ति, हिंसा, असत्य, उच्छृङ्खलता आदि दोष निकल जायँ; जीवन विशुद्ध, संयमपूर्ण तथा पर-सुख-हित-स्वरूप बन जाय और विचारों के अनुसार ही आचार भी सत्य-शिव-सुन्दर हो जाय—तभी उसकी संस्कृति का उदय समझना चाहिए। आज तो हमारी सारी संस्कृति समाज के हिताहित की दृष्टि से शून्य—केवल कला-प्रदर्शक संगीत, वाद्य, अभिनय तथा नृत्य और उसके सहयोगी सहभोज-पान में ही सीमित हो गयी है। इसी संस्कृति का प्रदर्शन करने के लिए हमारे नृत्य-वाद्य-संगीत-कुशल कलाकारों की 'सांस्कृतिक पार्टियाँ' विदेशों में भी संस्कृति-प्रदर्शन के लिए जाया करती हैं। समाज में गीत-वाद्य, नाट्य-नृत्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है; ये बड़ी मनोहर और उपयोगी कलाएँ हैं। पर हैं तभी, जब इनके साथ संस्कृति का निवासस्थान पवित्र संस्कृत अन्तःकरण हो। केवल 'कला' तो 'काल' बन जाती है।

सत्यनिष्ठा और सरलता ही ऋषित्व

सत्य-निष्ठा होने पर भगवद्ध्यान की तो बात ही क्या, भगवत्कृपा से साक्षात् भगवद्दर्शन हो सकते हैं और एकमात्र भगवच्चिन्तन की ही चिन्ता शेष रह सकती है। हाँ, सत्य हृदय से, विश्वासपूर्वक लगन होनी चाहिए। दम्भ न हो, दम्भ के प्रति सबको बड़ी ही सावधानी रखने की आवश्यकता है। मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि काम-क्रोध की अपेक्षा दम्भ अधिक बुरा है और भगवान कामी-क्रोधी को शीघ्र अपना सकते हैं; परन्तु दम्भी को नहीं। दम्भी बहुत ही ठगाता है, अपनी अधोगति का मार्ग साफ करता है। सरल हृदय का क्रोधी-कामी शीघ्र भगवान का प्रेम प्राप्त कर

सकता है, परन्तु चतुर-चूड़ामणि दांभिक लटकता ही रह जाता है। अतएव सरल हृदयका विश्वास होना चाहिए। ध्रुव, शबरी, मीरा, धन्ना आदि भक्तों में सरल विश्वास ही प्रधान था। सरलता ऋषित्व की एक निशानी है और दम्भ नरक का दूत है, जो जीव को पकड़कर काम, क्रोध, लोभ के त्रिविध नरक-द्वारों में ढकेल देता है।

प्रभु-चरणों की स्मृति रखते हुए खेलो

यहाँ के खेल को नित्य और स्थिर जानकर फँसो नहीं। खेलते रहो, खूब खेलो; परन्तु चित्त को सदा स्थिर रखो-अपने नित्य-सत्य, सनातन और कभी न बिछुड़नेवाले प्यारे प्रभु के चरणों में। इस खेल के साथी—पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, मित्र-बन्धु आदि सब खेल के लिए ही मिले हैं। इनका सम्बन्ध खेलभर का ही है। जब यह खेल खतम हो जायगा और दूसरा खेल शुरू होगा, तब दूसरे साथी मिलेंगे। यही सदा से होता आया है। इसलिए खेल के आज मिले हुए साथियों को ही नित्य के सङ्गी मानकर इनमें आसक्त न होओ; नहीं तो खेल छोड़कर नये खेल में जाते समय तुमको और इन तुम्हारे साथियों को बड़ा क्लेश होगा। जहाँ और जब वह खेल का स्वामी भेजेगा, तब वहाँ जाना तो पड़ेगा ही; इस खेल में और इस खेल के साथियों में मन फँसा रहेगा तो रोते हुए जाओगे।

परिवर्तन का स्वागत करो

जगत के परिवर्तन तो पद-पद पर और पल-पल में सामने आ रहे हैं, यही उसका स्वरूप है। इन तमाम परिवर्तनों में जो सदा एकरस रहता है, वही भगवान है और उसी को पाने के लिए मनुष्य का उद्योग होना चाहिए। जब तक उनकी प्राप्ति नहीं होगी—उनकी प्राप्ति के मार्ग पर ठीक लक्ष्य की सावधानी रखते हुए नहीं चला जायगा, तबतक जगत का कोई भी परिवर्तन हमारे लिए सुखदायी नहीं हो सकता—और जब वैसा हो जायगा, तब प्रत्येक परिवर्तन में नये-नये सीन और वाक्य देख-देखकर हम परमानन्द को प्राप्त होंगे।

भूल जाओ

तुम्हारे द्वारा किसी प्राणी की कभी कोई सेवा हो जाय तो यह अभिमान न करो कि मैंने उस का उपकार किया है। यह निश्चय समझो कि उस को तुम्हारे द्वारा बनी हुई सेवा से जो सुख मिला है, वह निश्चय ही उसके किसी शुभकर्म का फल है; तुम तो उसमें केवल निमित्त बने हो। ईश्वर का धन्यवाद करो, जिसने तुम्हें किसी को सुख पहुँचाने में निमित्त बनाया और उस प्राणी का उपकार मानो, जिसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की।

दूसरों के द्वारा तुम्हारा कभी कोई अनिष्ट हो जाय तो उस के लिए दुःख न करो, उसे अपने पहले किये हुए बुरे कर्म का फल समझो; यह विचार कभी मन में

मत आने दो कि 'अमुकने मेरा अनिष्ट कर दिया है।' यह निश्चय समझो कि ईश्वर के दरबार में अन्याय नहीं होता। तुम्हारा जो अनिष्ट हुआ है या तुम पर जो विपत्ति आयी है, वह अवश्य ही तुम्हारे पूर्वकृत कर्म का फल है।

याद रक्खो

तुम्हारे द्वारा किसी प्राणीका कभी कुछ भी अनिष्ट हो जाय या उसे दुःख पहुँच जाय तो इस के लिए बहुत ही पश्चात्ताप करो। यह ख़याल मत करो कि 'उसके भाग्य में तो दुःख बदा ही था, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। मैं निमित्त न बनता तो उसको कर्म का फल ही कैसे मिलता; उस के भाग्य से हो ऐसा हुआ है, मेरा इस में क्या दोष है ?' उस के भाग्य में जो कुछ भी हो, इस से तुम्हें मतलब नहीं। तुम्हारे लिए ईश्वर और शास्त्र की यही आज्ञा है कि तुम किसी का अनिष्ट न करो। तुम किसी का बुरा करते हो तो अपराध करते हो और इसका दण्ड तुम्हें अवश्य भोगना पड़ेगा। उसे कर्म-फल भुगताने के लिए ईश्वर आप ही कोई दूसरा निमित्त बनाते, तुमने निमित्त बनकर पापका बोझ क्यों उठाया ?

दूसरे के द्वारा तुम्हारा तनिक-सा भी उपकार या भला हो अथवा तुम्हें सुख पहुँचे तो उस का हृदय से उपकार मानो, उस के प्रति कृतज्ञ बनो। यह मत समझो कि 'यह काम मेरे प्रारब्ध से हुआ है, इस में उस का मेरे ऊपर क्या उपकार है, वह तो निमित्तमात्र है।' बल्कि यह समझो कि उसने निमित्त बन कर तुम पर बड़ी ही दया की है। उस के उपकार को जीवनभर स्मरण रखो। स्थिति बदल जाने पर उसे भूल न जाओ। सदा उसकी सेवा करने और उसे सुख पहुँचाने की चेष्टा करो; काम पड़ने पर हजारों आदमियों के सामने भी उसका उपकार स्वीकार करने में संकोच न करो।

भलाई अपनी तरफ से शुरू करो

मनुष्य को चाहिए कि अपनी भूल देखे और अपनी तरफ से भलाई शुरू कर दे; दूसरा क्या करता है, इस को न देखे। जो मनुष्य यह प्रतीक्षा करता है कि दूसरा भलाई करेगा तब मैं करूँगा, वह वास्तव में भलाई करना नहीं चाहता—उसको भलाई से प्रीति नहीं है। दूसरा करे या न करे; अपने भलाई करना ही है। यदि बिच्छू डंक मारना नहीं छोड़ता तो क्या संत उसको बचाने का स्वभाव छोड़ दे ? सूर्य क्या कभी प्रतीक्षा करता है कि कोई प्रकाश देगा, तब मैं प्रकाश दूँगा। इसी प्रकार भलाई करने वाला मनुष्य स्वभाव से निरन्तर भलाई चाहता है और करता है। उस की भलाई दूसरों को भलाई में प्रवृत्त करती है। कदाचित् न करे तो भी उसकी बुराई तो हुई नहीं; भलाई से सत्कर्म हुआ और उसका सुन्दर फल भी उसे मिलेगा ही। किसी की बुराई; बिना उसके प्रारब्धवश कोई कर नहीं सकता। पर जो बुराई करना चाहता है, उस के द्वारा असत्कर्म बनता है और उसके फलस्वरूप उस को दुःख अवश्य मिलता

है। अतएव अन्तर से किसी की बुराई न सोच कर भलाई सोचनी-करनी चाहिए। अपनी ओर से विष देनेवाले को भी अमृत देना चाहिए। संताप देनेवाले को भी शान्ति देनी चाहिए। भलाई करनेवाले की भलाई नहीं करना तो पाप है और भला करना मानवता है। महत्त्व तो बुरा करनेवालों की भलाई करने में है, शत्रुका हितचिन्तन कर एवं उस का हित कर के उसे मित्र बनाने में है।

सदाचार—रक्षा का अमोघ साधन

जब मनुष्य को एकान्त में पाप से घृणा होती है, तब वह पाप से बच सकता है। अर्जुन के पास रात्रि में एकान्त में उर्वशी पहुँचती है और प्रणय की भीख माँगती है, पर उस अवस्था में भी अर्जुन का मन विचलित नहीं होता। वे उर्वशी को 'माँ' कहकर उसका आदर करते हैं। उर्वशी स्पष्ट शब्दों में प्रणय की भीख माँगती है, पर अर्जुन सर्वथा अविचलित रहते हैं अपने धर्म पर। उर्वशी को इसमें अपना अपमान अनुभव होता है, वह क्रोधित हो जाती है, अर्जुन को शाप देती है, पर इस पर भी अर्जुन टस-से-मस नहीं होते। इसी प्रकार जब एकान्त में मनुष्य को पाप से घृणा होगी, उससे वह बचना चाहेगा, तभी चोरी रुक सकेगी। कानून के भय से चोरी नहीं रुक सकती।

दुःखों की जननी—ममता

मकान 'मेरा' है, चूने के एक-एक कण में 'मेरापन' भरा हुआ है। उसे बेच दिया, हुंडी हाथ में आ गयी; इसके बाद मकान में आग लगी। मैं कहने लगा—'बड़ा अच्छा हुआ, रुपये मिल गये।' मेरापन छूटते ही मकान जलने का दुःख मिट गया। अब हुंडी के कागज में मेरापन है, बड़े भारी मकान से सारा मेरापन निकलकर जरा-से कागज के टुकड़े में आ गया। अब हुंडी की तरफ कोई ताक नहीं सकता। हुंडी बेच दी, रुपयों की थैली हाथ में आ गयी। इसके बाद हुंडी का कागज भले ही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैली में आ गयी। अब उसी की सँभाल होती है। इसके बाद रुपये किसी महाजन को दे दिये। अब चाहे वे रुपये उसके यहाँ से चोरी चले जायँ, कोई परवाह नहीं। उसके खाते में अपने रुपये जमा होने चाहिए और उस महाजन की फर्म बनी रहनी चाहिए। चिन्ता है तो इसी बात की है कि वह फर्म कहीं दिवालिया न हो जाय। इस प्रकार जिसमें ममता होती है, उसकी चिन्ता रहती है। यह ममता ही दुःखों की जड़ है। वास्तव में 'मेरा' कोई पदार्थ नहीं है; मेरा होता तो साथ जाता। पर शरीर भी साथ नहीं जाता। झूठे ही 'मेरा' मानकर दुःखों का बोझ लादा जाता है। जिसकी चीज है, उसे सौंप दो। जगत के सब पदार्थों से मेरापन हटाकर केवल परमात्मा को 'मेरा' बना लो; फिर दुःखों की जड़ ही कट जायगी।

माया की प्रबलता

संसार की गति बड़ी विचित्र है। दूसरों को सावधान करनेवाले स्वयं ही नदी की धारा में बहते जाते हैं। माया मरीचिका है! यहाँ तृप्ति और शान्ति नहीं है। ऐसा जाननेवाले और बखाननेवाले को ही माया मोह लेती है। यही तो माया की प्रबलता है। मनुष्य इतना प्रपंच क्यों रचता है, इसका उसके पास कोई उत्तर नहीं है। प्रच्छन्न रूप से हृदय में छिपी हुई सुख की चाह सब करवाती है। यह सत्य है, परन्तु उसका वह सुख कहाँ है, इस बात को न जानकर ही प्रपंच की रचना होती है, यही आश्चर्य है।

कामना की अग्नि

भोगों में सुख वैसे ही नहीं है, जैसे पानी में घी नहीं है, बालू में तेल नहीं है, मृगतृष्णा के मैदान में जल नहीं है और अग्नि में शीतलता नहीं है। अतः जो कोई भी भोगों से सुख की आशा रखता है, उसे सदा निराश ही रहना पड़ता है। तथापि मनुष्य मोह में पड़कर, भोगों में सुख की सम्भावना मानकर उनके अर्जन तथा सेवन में लगा रहता है और फलस्वरूप नित्य नये-नये रूपों में दुःखों से—तापों से जलता रहता है।

अग्नि जितनी बड़ी होती है, उतनी ही उसकी गर्मी दूर-दूर तक जाती है। इसी प्रकार कामना की अग्नि जितनी बढ़ी हुई होती है, उतनी ही अधिक वह अपने को तथा अपने सम्पर्क में आनेवाले पार्श्ववर्तियों को जलाती है। इतना ही नहीं, कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवालों को भी कभी-कभी उससे बड़ा संताप मिलता है। यह कामना की अग्नि विषयों की प्राप्ति से नहीं बुझती; इसे बुझाने के लिए तो वैराग्यरूपी धूल और भगवत्प्रेमरूपी अजस्र अमृत-जल-धारा चाहिए। वह वैराग्य तभी प्राप्त होगा, जब भोगों में दुःखों के दर्शन होंगे। भोग सुखरहित, दुःखालय और दुःखयोनि ही हैं; पर भ्रमवश—मोहवश उनमें सुख की मान्यता हो रही है और जैसे शराब के नशे में चूर मनुष्य गंदे नाले में पड़ा हुआ भी अपने को सुखी बतलाता है, वैसे ही उसे भोगों में सुखों की मिथ्या अनुभूति होती है। शराबी का जैसे वह प्रलाप होता है, वैसे ही उसका भी प्रलाप होता है।

जबतक तुम भगवान् को पीठ दिये, भोगों की ओर मुख किये चलते रहोगे, तबतक तुम्हें सुख-शान्ति नहीं मिलेगी। जितना-जितना अधिक तुम भोगों की ओर अग्रसर होओगे, स्वाभाविक ही भोग-मार्ग में स्थित, भोग-क्षेत्र से उदित, भोगों की सहज परिणामरूपा निराशा, भय, विषाद, चिन्ता, राग, द्वेष, वैर, अशान्ति, द्रोह, दम्भ, परिग्रह, हिंसा, कामना, वासना, ममता आदि दुर्गुण-दुर्विचारों से घिरे रहकर सदा-सर्वदा दुःख-सागर में डूबे रहोगे। जहाँ-जहाँ तुम सुख की आशा से जाओगे, वहीं

तुम्हें भयानक दुःखराशि के दर्शन होंगे; क्योंकि वहाँ—भोग-राज्य में ये ही वस्तुएँ हैं। भोग-राज्य में फँसा मनुष्य शान्ति की, सुख की, वैराग्य की, निष्कामभाव की कितनी ही चर्चा करे, वह कभी भी शान्ति-सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। अशान्ति-दुःख उसके नित्य संगी बने रहेंगे। अतएव जैसे भी हो, भगवान की ओर मुड़ जाओ, जबर्दस्ती ही मुड़ जाओ।

मन को रोकिये

मन-इन्द्रियों के विषयों की ओर न जाने में ही आश्चर्य है, जाने में कोई आश्चर्य नहीं। उन्हें न मालूम कितने जन्मों का विषय-चिंतन और विषय-सेवन का अभ्यास है। इससे घबराना नहीं चाहिए और बड़े बल के साथ साहसपूर्वक मन को विषयों की ओर जाने से रोकना चाहिए। याद रखना चाहिए कि मन आत्मा का सेवक है, स्वामी नहीं। आत्मा के बल से ही वह बलवान है, स्वयं उसमें कोई बल नहीं। आत्मा की अनुमति से ही वह कुछ कर सकता है। अन्यथा कुछ भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा उसे बल पूर्वक रोक दे और कह दे कि तुम्हें मेरे कथनानुसार चलना होगा तो मन की ताकत नहीं कि वह कुछ भी कर सके। अतएव मन-इन्द्रियों को बलपूर्वक काबू में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह एक उपाय है।

दूसरा उपाय है—भगवान के शरण होकर भगवत्कृपा के बल से मन को भगवान में लगाना और विषयों से हटाना। यह निश्चय समझना चाहिए कि भगवत्कृपा से सब-कुछ हो सकता है। जिसको मनुष्य सर्वथा असंभव समझता है, भगवत्कृपा से आश्चर्यमय रूप से वही संभव हो जाता है।

मोह और प्रेम

मोह बड़ी ही आसानी के साथ प्रेम का स्वाँग भरकर सामने आ जाता है और अपनी मोहिनी से मनुष्य को भुलाकर अपने फन्दे में फँसा लेता है। याद रखना चाहिए कि नित्य तथा सत्-वस्तु में जो अनुराग है, वह प्रेम है। बहुत बार भूल से हम लोग नित्य सनातन परम सत्यस्वरूप भगवान के स्थान पर अनित्य, मोहकल्पित विषय-रूप किसी असत् वस्तु को बैठाकर उसे पूजने लगते हैं। इसी से श्रीकृष्ण के स्वरूप को बहुत से लोग मायिक असत् कहते हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण की सत्य धारणा से वंचित हैं। हमारा श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन होते हुए ही हमारा परम प्रियतम है। प्रेम में ज्ञान का अभाव नहीं है। ज्ञान की दृढ़ नींव पर ही प्रेम की मजबूत और खूबसूरत इमारत खड़ी होती है। इमारत के नीचे की नींव किसी को दीखती नहीं, इसी प्रकार प्रेम के प्रकाश में ज्ञान दीखता नहीं, परन्तु इतना निश्चय ही समझना चाहिए कि ज्ञानशून्य प्रेम विषय-प्रेम है, भगवत्प्रेम नहीं और विषय-प्रेम अनित्य का अनुरागी होने से मोह है, प्रेम नहीं।

पाप-पुण्य

पाप और पुण्य की सीधी-सी परिभाषा यह है कि जिस भावना या क्रिया से परिणाम में अपना तथा दूसरों का अहित होता हो, वह 'पाप' और जिस भावना या क्रिया से परिणाम में अपना तथा दूसरों का हित होता हो, वह 'पुण्य' है। जिससे दूसरों का हित नहीं होता, उससे अपना हित कदापि नहीं होगा और जिससे दूसरों का हित होता है, उससे अपना कभी अहित नहीं होगा—यह सिद्धान्त निश्चयरूप से मान लेना चाहिए। हमारा वास्तविक हित दूसरों के हित में ही समाया है। जो मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हम दूसरों का अहित करके या दूसरों के हित की उपेक्षा करके अपना हित करते हैं या कर लेंगे, वे वस्तुतः बड़े मूर्ख हैं। वे अपना हित कभी कर ही नहीं पाते। यह मान्यता ही भ्रम है कि दूसरों के हित की उपेक्षा या उनका अहित करने से हमारा हित हो जायगा। यथार्थ में वे मनुष्य बड़े ही अभागे हैं, जो दूसरों के अहित में अपना हित और दूसरों के दुःख में अपना सुख समझते हैं। ऐसे मनुष्य ही 'असुर-मानव' हैं, जिनका जीवन दूसरों की बुराई में ही लगा रहता है। वे दूसरों की बुराई करने जाकर अपनी ही बुराई करते हैं।

पाप मनुष्य स्वयं करता है, भगवान नहीं कराते

भगवान् किसी पापी या अन्यायी का हाथ नहीं रोकते। यह उन्हीं का बनाया हुआ नियम है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। जैसे गवर्नमेंट जब किसी को बंदूक का लाइसेंस देती है, तब उसे बंदूक रखने या चलाने की कानूनी बातें समझाकर स्वतंत्र कर देती है। फिर वह अपने इच्छानुसार उस शस्त्र का उपयोग करता है। वह चाहे तो कानून का पालन करते हुए उनका उपयोग कर सकता है अथवा चाहे तो कानून तोड़कर भी उपयोग कर सकता है। जिस समय कानून के विरुद्ध वह उस शस्त्र को चलाता है, उस समय भी वह उसका हाथ पकड़ने नहीं आती, फिर भी कानून-भंग करने का दण्ड उसे यथा समय अवश्य देती है तथा शस्त्र भी जब्त कर लेती है। इसी प्रकार भगवान् जब जीव को मानव शरीररूपी शस्त्र देकर संसार में भेजते हैं, तब शास्त्ररूपी कानून साथ रख देते हैं और कहते हैं—'शास्त्र के अनुसार चलने से तुम्हें लाभ होगा, पुरस्कार प्राप्त होगा।' जो शास्त्र के विरुद्ध चलता है, उसका वे हाथ नहीं पकड़ते, केवल उसके अन्याय को स्मरण रखते हैं और उसका यथोचित दण्ड समय पर उसे देते हैं।

कर्म में स्वतन्त्र—फलभोग में परतन्त्र

भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र बना रखा है। अतएव उसके कार्य की जिम्मेदारी उसी पर है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र, किन्तु फलभोग में परतन्त्र है। मनुष्य के अन्तःकरण में दो प्रधान शत्रु हैं—काम और क्रोध। ये ही सारे अनर्थों की जड़ हैं। इन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य पापकर्म में प्रवृत्त होता है। ये दोनों

शत्रु अपने मन में रहते हैं और हम ही इनको प्रोत्साहन देते हैं। अतः इनके द्वारा होने वाले कर्म भी हमारे ही किये हुए समझे जाते हैं। अतएव कोई भी मनुष्य, जो राग-द्वेष या कामना के वशीभूत होकर कर्म में प्रवृत्त होता है, अपने किये हुए कर्मों के उत्तर-दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। उसे उनका फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

कर्म का फल अवश्य भौगना पड़ता है और कर्मानुसार जन्मान्तर की प्राप्ति होती रहती है; एवं जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक यह जन्म-मरण का प्रवाह चलता ही रहता है। मरने पर कर्मानुसार जीव आतिवाहिक देह प्राप्त करके तेजःप्रधान देव-देह से स्वर्गादि लोकों में अथवा वायुप्रधान पितृ-प्रेतादि देह से पितृ- त-लोकों में जाता है। परंतु हिंदू-संस्कृति के सिद्धान्त में अनन्तकालीन स्वर्ग या नरक नहीं हैं। स्वर्ग या नरकादि के सुख-दुःख भोगकर जीव पुनः अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है।

मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल में परतन्त्र। निषिद्ध कर्माचरण से अन्धकारमय दुःखप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पवित्र वैध कर्मों के फलस्वरूप सुखमय स्वर्गादि लोक और उत्तम श्रेष्ठवर्ण की मानव-योनि प्राप्त होती है।

लोक-सेवा

जबतक तुम्हारे मन में यह बात है कि 'मेरे बिना संसार का भला कैसे होगा', तबतक संसार का तुमसे भला नहीं होगा। जबतक तुम यह समझते हो, 'मैं उत्तम हूँ, मुझ में सद्‌गुण हैं, मैं ऊँचा हूँ, दूसरे लोग निकृष्ट हैं, दुर्गुणी हैं, नीच हैं', तबतक तुम जगत का कल्याण नहीं कर सकोगे। जबतक तुम यह चाहते हो कि 'मैं दुनिया का भला करूँ और दुनिया मुझे अपना नेता माने, अपना पूज्य समझे, अपना सेव्य समझे और मेरा सम्मान करे, मेरी सेवा-पूजा करे तथा मेरी बड़ाई हो', तबतक तुम उसका यथार्थ कल्याण नहीं कर सकते; क्योंकि तुम्हारे मन में नेता, पूज्य और सेव्य बनने की जो चाह है, वह तुम्हारे अंदर एक ऐसी कमजोरी पैदा करती रहती है, जिससे तुम दुनिया के सामने सच्ची भलाई की बात नहीं कह सकते।

याद रखो—जबतक तुम मान-बड़ाई के लिए लोकसेवा करते हो, लोकसेवा करके मान-बड़ाई पाने पर प्रसन्न होते हो, तबतक तुम्हारे मन में लोकसेवा के साथ-ही-साथ मान-बड़ाई की एक ऐसी चाह छिपी है, जो धीरे-धीरे तुम्हें लोकसेवा से हटा कर लोकरञ्जन की ओर ले जाती है और जब तुम्हारे मन में लोकरञ्जन का भाव हो जायगा—तुम्हारा उद्देश्य लोकरञ्जन हो जायगा, तब तुम्हें लोकसेवा बरबस छोड़नी पड़ेगी। फिर तो तुम वही करोगे, जिस में लोकरञ्जन होगा।

सुधार का ठेका मत लो

सुधार का ठेका मत लो। न अपने मत को सर्वथा उपकारी समझकर किसी पर लादने का हठ करो। सुधार का सच्चा रूप जो तुम समझते हो, सम्भव है, वह न हो, और तुम्हें मोह, परिस्थिति, स्वार्थ या द्वेषवश वैसा दीखता हो। सावधान! कहीं सुधार के नाम पर संहार न कर बैठो। सुधार तुम्हारे किये होगा भी नहीं; सच्चे सुधारक तो भगवान् हैं, जो प्रकृति के द्वारा निरन्तर ध्वंस और निर्माण के रूप में सुधार करते रहते हैं। स्वार्थरहित, जीवों के सुहृद्, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होने के कारण भगवान् का किया हुआ सुधार परिणाम में निश्चय ही कल्याणकारी होता है और मोहवश इच्छा न करने पर भी बाध्य होकर उसे सबको स्वीकार भी करना ही पड़ता है।

बुराई देखो तो अपनी

दूसरे के दोषों का न प्रचार करो, न चर्चा करो और न उन्हें याद ही करो। तुम्हारा इसी में परम लाभ है। भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं, वे किसने किस परिस्थिति में, किस नीयत से, कब क्या किया है—सब जानते हैं और वे ही उस के फल का भी विधान करते हैं। तुम बीच में पड़ कर अपनी बुद्धि का दीवाला क्यों निकालने जाते हो और झूठी-सच्ची कल्पना कर के क्यों दोषों को ही बटोरते हो ?

नश्वर में अविनश्वर

जीवन क्षणभंगुर है। इस का एक-एक क्षण भगवान की पवित्र स्मृति में ही लगाना चाहिए। सभी को बड़ी सावधानी के साथ संसार के राग-द्वेष से बच कर भगवान की पूजा के भाव से उचित कार्य करते हुए मन को निरन्तर भगवान में लगाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। एक क्षण में मृत्यु हो जायगी, उसके बाद फिर कुछ नहीं हो सकेगा।

दुःख—भगवान का प्रसाद

भगवान ने इस लोक अथवा भोग-जगत के सम्बन्ध में तीन शब्दों का प्रयोग किया है—'असुख', 'दुःखालय', 'दुःखयोनि'। यहाँ वास्तविक सुख है ही नहीं, यह दुःख का आलय है और दुखों की उत्पत्ति का क्षेत्र है। ऐसे भोग-जगत में हम सुख ढूंढ़ रहे हैं और जैसे तपती हुई बालू की लहरों पर सूर्य की किरणें पड़ने से प्यासे हरिण को जल का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार हमें भी सुख दिखाई पड़ता है। पर जैसे हरिण वहाँ पहुँचने पर विशेष संताप के सिवा और कुछ नहीं पाता, उसी प्रकार जगत के अनुकूल भोगों के प्राप्त होने पर दूर से दिखाई देनेवाले सुख नष्ट हो जाते हैं और कुछ ही समय बाद विशेष संताप की अनुभूति होती है। भगवान ने इसीलिए कहा कि सुख चाहते हो तो 'माँ भजस्व'—मुझे भजो। सुखरूप एकमात्र भगवान हैं,

भगवान से रहित जगत सर्वत्र दुःखमय है और वास्तव में साधकों की दृष्टि से ये दुःख भी भगवान के प्रसाद हैं। कर्म-जगत की व्यवस्था के अनुसार दुःख बुरे कर्म का फल है। अतएव दुःख में उस बुरे कर्म का नाश होता है। दुःख में भगवान की स्मृति होती है, दुःख में मनुष्य के मन में वैराग्य होता है, दुःख भगवान की ओर बढ़ने में सहायता करता है। श्रीमद्भागवत में कुन्ती देवी ने अपने सगे भतीजे सर्वशक्तिमान् भगवान श्रीकृष्ण से वरदान माँगा था कि आप हम लोगों को बार-बार विपत्ति दिया करें; क्योंकि बार-बार विपत्ति से स्मृति रूप में आप मिलते हैं और आप का मिलना मोक्षदायक होता है।

अपराध कैसे बंद होंगे ?

जबतक अपराध को अपराध न माना जाय, अपराध का भयंकर फल परलोक में भोगना पड़ेगा—यह विश्वास न हो, 'मेरे अपराध को सर्वव्यापी भगवान् देखते हैं'—यह निश्चय न हो, तबतक किसी भी बाहरी क्रिया से, कानून से या दण्ड से अपराधों का अन्त नहीं हो सकता। धर्म के सिद्धान्त में विश्वास होने पर जब मनुष्य अपराध को पाप समझेगा, तब एकान्त में भी वह अपराध नहीं करेगा। मन में भी अपराध के भाव आने पर वह अन्तर्यामी प्रभु से संकोच करेगा, उनसे डरेगा। नहीं तो, चोरों को दण्ड देने का काम करनेवाला मनुष्य भी स्वयं चोरी का धन लेने में नहीं हिचकेगा, किसी को खून का अपराधी सिद्ध करके उससे घृणा करनेवाला भी स्वयं स्वार्थवश खून करने-कराने में पश्चात्ताप का अनुभव नहीं करेगा और दूसरे को व्यभिचारी बताकर उस की घोर निन्दा करनेवाला भी स्वयं व्यभिचार में रस लेगा। वस्तुतः अपराध के मूलस्रोत का नाश होना चाहिए; वह रहता है मन में, उसका नाश धर्म की अग्नि से ही होता है।

पहले अपना सुधार करो

दुनिया के सुधार और उद्धार की चिन्ता छोड़कर पहले अपना सुधार और उद्धार करो। तुम्हारा सुधार हो गया तो समझो कि दुनिया के एक आवश्यक अङ्गका सुधार हो गया। यदि ऐसा न हुआ, तुम्हारे हृदय में उच्च भावों का संग्रह नहीं हो सका, तुम्हारी क्रियाएँ राग-द्वेष-रहित, पवित्र नहीं हुईं और तुम ने दुनिया के सुधार का बीड़ा उठा लिया, तो याद रखो, तुम से दुनिया का सुधार होगा ही नहीं। यह मत समझो कि तुम लोकसेवक हो, लोकसेवक बनते हो तो फिर तुम्हारे व्यक्तिगत चरित्र से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा चरित्र कलुषित या दूषित होगा तो तुम लोकसेवा कर ही नहीं सकते। लोकसेवा तुम उस सामग्री से ही तो करोगे, जो तुम्हारे पास है। दुनिया के सामने तुम वही चीज रखोगे, उसको वही पदार्थ दोगे, जो तुम्हारे अंदर है। दुनिया को तुम स्वाभाविक ही वही क्रिया सिखलाओगे, जो तुम करते हो। इससे दुनिया का कल्याण कभी नहीं होगा।

सुनाने वाले लाखों हैं, सुनने वाले हजारों हैं, समझाने वाले सैकड़ों हैं, परन्तु करने वाले कोई विरले ही हैं। सच्चे पुरुष वे ही हैं और सच्चा लाभ भी उन्हीं को प्राप्त होता है, जो करते हैं।

उपदेश करो अपने लिए, तभी तुम्हारा उपदेश सार्थक होगा। जो कुछ दूसरों से करवाना चाहते हो, उसे पहले स्वयं करो; नहीं तो तुम्हारे उपदेश नाटक के सिवा और कुछ भी नहीं हैं।

विश्वप्रेम का मूल मंत्र : निज सुख-त्याग

आज जो समस्त विश्व-मानस में एक भयानक द्वेष, परसुख-असहिष्णुता, भीषण कलह तथा हिंसाकी आग जल उठी है, एवं पता नहीं, वह कब भयानक मूर्तरूप में भड़क कर मानव-जातिका विनाश कर देगी, इसका प्रधान कारण है— स्वार्थ का अत्यन्त संकुचित, सीमित हो जाना, मानव का एक छोटी-सी परिधिमें ही सुख की कल्पना करना और स्वसुख-वासनाको ही एकमात्र जीवन का ध्येय बना लेना। विश्वबन्धुत्व या विश्वप्रेम की कितनी ही लंबी-चौड़ी बातें की जाएँ, विशाल योजनाएँ बनायी जाएँ, सह-अस्तित्व या पञ्चशील के नारे लगाये जाएँ—जबतक मानव परसुख को ही निजसुख नहीं मानेगा, जबतक निजसुख का त्यागी और परसुख का विधायक नहीं बनेगा, तबतक सच्चे अर्थ में विश्वप्रेम का उदय कभी नहीं होगा।

समता-विषमता

जगत में विषमता कभी मिट नहीं सकती। जगत भगवान का लीलाक्षेत्र है। लीलामें समता हो जाय तो लीला ही न रहे। जगत में यदि प्रकृति साम्यभाव को प्राप्त हो जाय तो जगत ही न रहे। अतएव भगवान की लीला के लिए चित्र-विचित्र विभिन्न भावों, गुणों, आकृतियों और क्रियाओं की आवश्यकता है। पर इन सारे भावों, गुणों, आकृतियों और क्रियाओं में सर्वत्र समभाव से भगवान भरपूर है। जो इन भरपूर भगवान को देखकर, पहचानकर जगत में व्यवहार करता है, उस में जगत की दृष्टि से यथायोग्य व्यावहारिक विषमता करते हुए भी, जिसका व्यवहार वस्तुतः समत्वपूर्ण होता हैं, जिसका बाह्य विषम व्यवहार आभ्यन्तरिक समता से उत्पन्न और समता से युक्त हैं, वही सच्चा साम्यवादी हैं। पर जो केवल बाहर से सम व्यवहार का प्रयत्न करता हैं, अंदर विषमता रखता है, वह तो समता कां रहस्य ही नहीं समझता। ऐसे विषमता से उत्पन्न और विषमता से युक्त साम्यवाद से सदा दूर रहो।

समता आत्मा में होती है, शरीर के व्यवहार में नहीं होती। सृष्टि की स्थिति, प्रकृति की विषमता में ही है। जहाँ प्रकृति का वैषम्य मिट जाता है, वहाँ जगत का अस्तित्व ही लोप हो जाता है। वह तो महाप्रलय की अवस्था है, जिसमें प्रकृति देवी परमात्मा के अंदर प्रविष्ट होकर सो जाती है।

इसीलिए हिन्दू विद्वान्, जिन जीवों के आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार-बर्ताव में कभी समता हो ही नहीं सकती, उन में भी ब्रह्म—परमात्मा को समभाव से विराजित देखते हैं। भगवान कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'वे पण्डितजन, विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण में, चण्डाल में तथा गौ, हाथी और कुत्ते में भी समदर्शी होते हैं।'

यहाँ कोई कह सकते हैं--'ब्राह्मण और चण्डाल—दोनों ही मनुष्य हैं। इन में समदर्शन ही क्यों, समान व्यवहार भी हो सकता है (यद्यपि यह सम्भव नहीं)।' उन से यह कहना है कि 'मनुष्य की बात तो ठीक है—पर गाय, हाथी, कुत्ते के साथ भी क्या सम व्यवहार की बात कभी सोची जा सकती है ?' पर व्यवहार में विषमता होते हुए भी प्राणिमात्र में एक ही आत्मा—एक ही भगवान सदा विराज रहे हैं, इस बात को हिंदू देखता है। वह ब्राह्मण के साथ ब्राह्मणोचित, चण्डाल के साथ चण्डालोचित तथा गौ, हाथी और कुत्ते के साथ उन के योग्य व्यवहार करता है, परंतु उन में नित्य एक ह[illegible] परमात्मा को देखने के कारण किसी के साथ असद्व्यवहार नहीं करता और न व्यवहार की विषमता से उस के प्रेम और परमात्मभाव में ही न्यूनता आती है।'

जिस प्रकार अपने मस्तक, हाथ-पैर आदि अङ्गों में आत्मभाव समान होने पर भी मनुष्य उन के व्यवहार में भेद रखता है—मस्तिष्क से विचार करता है, मुँह से खाता है और बोलता है, हाथों से आदान-प्रदान करता है, लिखता-पढ़ता है और पैरों से चलता है; एक अङ्ग से दूसरे अङ्ग का काम नहीं लेता; क्योंकि वह जानता है कि यह सम्भव ही नहीं है; परन्तु सब के दु:ख-सुख का समानरूप से अनुभव करता है और समस्त शरीर में समान प्रेम करता है; उसी प्रकार व्यवहार में भेद रखता हुआ भी हिंदू प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मा के नाते सदा समभावापन्न रहता और वह जैसे अपने योगक्षेम तथा कल्याण के लिए प्रयत्न करता है, वैसे ही अन्यान्य जीवों के लिए भी करता है।

यदि कहीं किसी के साथ कभी व्यवहार में युद्धादि-जैसी क्रूर क्रिया करनी पड़ती है, तो वैसे ही जैसे मनुष्य अपने किसी सड़े अङ्ग का विकार निकालने के लिए शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) कराता है।

व्यावहारिक अनेकता में तात्त्विक एकता और प्रकृति-जनित जगत की विषमता में परमात्मा की नित्य समता देखना हिं[illegible]-संस्कृति की विशेषता है।

आत्मवत् व्यवहार में—अपने ही शरीर के दायें-बायें और ऊपर-नीचे के अङ्गों के साथ और उन के द्वारा होने वाले व्यवहार की भाँति—क्रिया में भेद रहेगा; क्योंकि बाह्यव्यवहार सारे-के-सारे प्रकृति में हैं और प्रकृति में भेद है ही। इस प्रकृति-भेद के कारण ही समस्त संसार में विषमता नजर आ रही है। न सबका वर्ण एक-सा है, न बुद्धि एक-सी है, न ढाँचा एक-सा है, न शरीर की ताकत एक-सी है, न चेहरा एक-सा है; कुछ-कुछ भेद अवश्य है। इस भेदमय संसार में अभेद देखना ही तो आत्म-बुद्धि है—शुद्ध ज्ञान है।

विचार-स्वातन्त्र्य

विचार-स्वातन्त्र्यका अर्थ मनमाना आचरण करना नहीं है। 'मेरे मन को जो अच्छा लगेगा, मेरी इन्द्रियाँ जिस में सुख मानेंगी, मैं वही करूँगा, किसी भी नियम-संयम में, बन्धन में नहीं रहूँगा। किसी की हानि हो या लाभ, अपना भी नैतिक पतन हो या उत्थान, मैं इसकी परवाह नहीं करूँगा। मेरी स्वतन्त्रता के आगे किसी का भी कोई मूल्य नहीं है'—ऐसा मानना विचार-स्वातन्त्र्य नहीं है। यह तो यथेच्छाचार है और प्रत्यक्ष ही मन-इंन्द्रियों की गुलामी है। जो मन-इद्रियों का गुलाम बनकर उनकी तृप्ति के लिए विवेकशून्य यथेच्छ आचरण करता है, वह स्वतन्त्र कहाँ है? असल में तो वही परतन्त्र है। जो शरीर से परतन्त्र है, पर मन-इन्द्रियों पर जिसका अधि-कार है; जो उनके वश में नहीं है, पर वे ही जिस के वश में हैं, वही वस्तुतः स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता के लिए नियमों की आवश्यकता है, संयम की आवश्यकता है एवं नित्य अंदर छिपे रहनेवाले काम-क्रोध, ईर्ष्या-असूया, राग-द्वेष, दम्भहिंसा आदि शत्रुओं के पूर्ण दमन की आवश्यकता है। जो मन-इन्द्रियों को दोषों से रहित और नित्य संयम के बन्धन में रखता है, वहो बन्धन से छूटता है। यह बन्धन मुक्ति के लिए होता है और इस बन्धन से छूटना नित्य-बन्धन में बँधना होता है।

असुर-मानव

भगवान् को जीवन की परम गति न मानकर जो केवल भोगों के प्राप्त करने और उन्हें भोगने में ही जीवन की इति-कर्त्तव्यता मानता है, कामोपभोग ही जिसके जीवन का सिद्धान्त है, वह असुर है। वह असुर-मानव दम्भ, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर-वचन तथा अज्ञान को अपनी सम्पत्ति माने रहता है। यथार्थ में कौन-सा कर्म करना चाहिए, कौन-सा नहीं करना चाहिए—इसको वह जानता ही नहीं; इसलिए उसके जीवन में न तो बाहर-भीतर की शुद्धि रहती है, न श्रेष्ठ आचरण रहते हैं और न सत्य का व्यवहार या दर्शन ही। वह मानता है—'संसार का कोई न तो बनाने वाला है न कोई आधार है; प्रकृति के द्वारा अपने आप ही यह उत्पन्न हो जाता है। स्त्री-पुरुषों का संयोग ही इसमें प्रधान हेतु है। अतएव संसार में भोग भोगना ही जीवन का सार-सर्वस्व है।' इस प्रकार मानकर वह असुर-मानव अपने मानव-भाव को भी

खो देता है। उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दूसरे का बुरा करने में ही वह अपना स्वार्थ समझता है। ऐसा कोई उग्र-क्रूर कर्म नहीं, जो वह नहीं कर सकता हो; दूसरे चूल्हे-भाड़ में जायँ, उसका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए।

मानव-नामधारी प्राणी जब अनेक नाम-रूपों से अभिव्यक्त प्राणियों को एक आत्मभाव से न देखकर पृथक्-पृथक् देखता है, तब अपने और पराये सुख-दुःख को भी पृथक्-पृथक् मानता है। इससे वह अपने दुःख-निवारण तथा अपने सुख-सम्पादन के लिए सचेष्ट और सक्रिय होता है और यह व्यष्टि-सुखसंचय की इच्छा तथा प्रयत्न दूसरों के सुखहरण और घोर दुःखोत्पादन का कारण बनता है। जितना-जितना मानव का 'स्व' संकुचित होता है, उतना-उतना ही उसका स्वार्थ भी संकुचित होता है; तथा जितना-जितना 'स्व' विस्तृत होता जाता है, उतना-उतना ही स्वार्थ भी महान् होता जाता है। संकुचित स्वार्थ—एक स्थल पर एकत्र पड़े जल की भाँति सड़ जाता है, उसमें दुःखरूपी कीड़े पड़ जाते हैं और विस्तृत स्वार्थ प्रवाहित-जल-धारा की भाँति पवित्र, कीटाणुरहित, नीरोग होकर सबको स्वास्थ्य-सुख प्रदान करता है।

जो मनुष्य आत्मा को मनुष्य तक ही केवल देखता है, दूसरे चेतन प्राणियों में नहीं, वह मनुष्य-जाति के सुख के लिए पशु-पक्षी, कीट-पतंगों की हिंसा-हत्या करने में संकोच नहीं करता, बल्कि आवश्यक मानकर मानव-सुख या मानव-हित के भ्रम से उनकी बिना संकोच हिंसा करता है। वह इतना निर्दय होता जाता है कि उन मूक प्राणियों को प्राण-वियोग के समय पीड़ा से छटपटाते देखकर आनन्द-लाभ करता है, मनोरञ्जन करता है और हँसता है। यह मानव-शरीर में एक प्रकार का क्रूर 'असुर' ही है।

भक्त-मानव

मानवता के मङ्गलमय स्वरूप की एक बड़ी सुन्दर अनुभूति है—मानव सभी प्राणियों में अपने परम इष्टदेव, अपने परमाराध्य भगवान के दर्शन करता है तथा इस दृष्टि से प्राणिमात्र को सदा-सर्वदा परम पूज्य, परम सम्मान्य, परम आदरणीय तथा नित्य सेवनीय मानता है। वह अपने को अनन्य सेवक और प्राणिमात्र को अपने स्वामी श्री-भगवान का स्वरूप समझकर सदा सबके नमस्कार, पूजन तथा सेवा में लगा रहता है। सबके सामने सदा नत रहकर अत्यन्त विनय-विनम्रता का व्यवहार करता है, सबका सम्मान-सत्कार करता है, और अपने सब कुछ को भगवान की सम्पत्ति मानकर सर्वस्व के द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। इस सेवा स्वीकार को वह उनकी कृपा मानता है। सेवा-बुद्धि प्रदान करने, सेवा में निमित्त बनाने तथा सेवा स्वीकार करने में भगवान की कृपा को ही कारण समझकर वह सदा-सर्वदा कृतज्ञ हृदय से भगवान् का स्मरण-चिन्तन करता रहता है। उसके पवित्र तथा मधुर अन्तःकरण में सदा निर्मल समर्पण की पवित्र मधुर सुधा-धारा बहती रहती है।

वह केवल चेतन प्राणीमें ही अपने भगवान् को नहीं देखता, जड़ प्राणियों में भी वह अपने भगवान् के नित्य दर्शन करके प्रणाम, पूजन तथा समर्पण आदि के द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। ऐसा मानव 'भक्त-मानव' है। इसकी मानवता सर्वथा आदर्श तथा महान् है।

विश्वास : भगवान में या रुपये में ?

रुपये का सम्बन्ध बहुत ही खराब है। मन तो ऐसा करता है कि जिन कामों में रुपये का सम्बन्ध है, वे काम न किये जायँ, बस भजन किया जाय। जगत का भला होना होगा तो भजन से ही हो जायगा। परन्तु हम जगत के भले का ठेका भी क्यों लें ? जगत का कल्याण श्री भगवान के किये होगा। रुपया आता है, रुपये वालों से और विभिन्न कारणों से ऐसी परिस्थिति हो गयी है कि रुपये वाले जिनको रुपये देते हैं, उन्हें अपने से हीन ही समझते हैं। भजन का महत्त्व घटकर रुप्ये का बढ़ जाता है। मुझे तो अपने अनुभव से कहना पड़ता है कि तकलीफ उठा लेना उत्तम, परन्तु रुपये की याचना करना बहुत नीचा काम है। बिना याचना के भी रुपयों का स्वीकार करना अच्छा नहीं है। विश्वास भगवान में होना चाहिए, रुपयों में नहीं।

आनन्द राज्य में विचरिये

बहुत प्रसन्न मन और प्रसन्न-वदन रहना चाहिए। परमानन्द स्वरूप परमात्मा के अटल राज्य में उदासी कैसी ? विषाद और चिन्ता का तो मूलोच्छेद ही कर डालना चाहिए। आनन्द के अथाह सागर में दूसरे को स्थान ही कहाँ है ? मस्त रहना चाहिए, झूमना चाहिए, निरन्तर खिलखिलाकर हँसना चाहिए, मौज की मस्ती में।

चतुराई चतुर्भुज से दूर करती है

अहंकारवश मनुष्य सफलता में अपने को कर्त्ता मानकर यश लूटना चाहता है और भगवान की मर्जी कहकर विफलता का दोष भगवान पर मढ़ना चाहता है। भगवान दोनों ही समय हँसते हैं।

जीवन-स्तर नहीं, चरित्र को ऊँचा उठाओ

आजकल एक नया रोग फैला है—'जीवन के स्तर को, रहन-सहन को ऊँचा उठाओ।' त्याग, तपस्या, संयम, सादगी, सेवा, सदाचार, मितव्ययिता आदि में नहीं, भोग, उच्छृङ्खलता, यथेच्छाचार, विलासिता, आरामतलबी, अनाचार, फिजूलखर्ची आदि में। इसका आदर्श है—अनावश्यक आवश्यकताओं को बढ़ाते रहो। अधिक-से-अधिक वस्तुओं का उपयोग करो, मौज-शौक की चीजें बरतने की आदत डालो, हाथ-पैर से कामकाज न करो, श्रम करने में अपमान समझो, सिनेमा-रेडियो आदि से आनन्द लूटो, जीवन को भोगमय या इन्द्रियों का गुलाम बना लो। फिर इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन का सारा समय तथा सारी विवेक-बुद्धि को लगाते

रहो। इस ऊँचे स्तर के निर्माण में मिथ्या अभिमान, फैशन, विलासिता, बाहरी दिखावा, बेहद खर्च, समय का नाश और इन्द्रियों का दासत्व कितना बढ़ जाता है, साथ ही शारीरिक रोग भी कितने बढ़ते हैं—इसका जरा भी ध्यान न करके हमलोग आज नकली आवश्यकताओं को बढ़ाते जाते हैं। हमारे छात्र-छात्राओं में यह रोग बहुत तेजी से बढ़ रहा है, जो देश के लिए अत्यन्त घातक है।

सच्ची जीवन-दृष्टि

संसार में वैसे ही सब कार्य करें, जैसे नाटक में नाट्यमञ्च पर अभिनेता करता है। उसे जो स्वाँग मिला है तथा उसे उन स्वाँगों में जो कुछ करना है, वह भलीभाँति करता है। न तो वह अपने को वह व्यक्ति मानता है, जो बना हुआ है, न वहाँ के सम्बन्धियों को अपना सम्बन्धी ही मानता है और न वहाँ के व्यवहार को सत्य मानता है तथा न वहाँ की सम्पत्ति को ही वह अपनी मानता है।

जैसा मन वैसा जीवन

बुरे संग से सदा दूर रहो, बुरा संग बुरे मनुष्य का ही नहीं होता; बुरी जगह, बुरा अन्न, बुरा ग्रन्थ, बुरा दृश्य, बुरी बात, बुरा वातावरण आदि सभी बुरे संग हैं। लगातार बुरे परमाणुओं के द्वारा अन्दर के अच्छे परमाणु जब दब जाते हैं—तब बुरी बातें स्वाभाविक ही अच्छी मालूम होने लगती हैं—जैसा मन होता है, वैसी ही दृष्टि होती है और जैसी दृष्टि होती है वैसा ही दृश्य दीखता है। सच्चे साधु को प्रायः सभी साधु दिखाई पड़ते हैं, चोर को चोर दीखते हैं, कामी को सब कामी और लोभी को सब लोभी दीखते हैं।

कुसंग दोष से बचने के उपाय

जीव को कुसंग का प्रगाढ़ अभ्यास है। वह अनन्त जन्मों से कुसंग में ही रस लेता आया है, उसी का अभ्यास करता आया है, इस कारण किंचित् असावधानी से तनिक-सा भी सत्संगमय वातावरण से मन के पृथक्-से होने पर वह दृढ़-कालीन अभ्यास अपनी ओर खींचता ही है। दृढ़ अभ्यास का अभाव भी इसका एक कारण है। साथ ही सत, रज और तम, ये बढ़ते-घटते रहकर समय-समय पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। हम सजग रहें और भगवान के चरणों में पहुँचने के लिए उनके चरणों का ही दृढ़ आश्रय लिये रहें तथा इसके लिए सदा उनसे कातर मन से प्रार्थना करते रहें, तभी मन की कुसंग-दोष से रक्षा सम्भव है। भगवान की कृपा पर विश्वास रखकर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

सर्वनाश की जननी—संग्रह भावना

जब समाज में संग्रह की प्रवृत्ति होती है, देने की प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है, तो विद्रोह होता है, यह नियम है।

एक ओर इतना संग्रह है कि वस्तुएँ बर्बाद होती हैं और दूसरी ओर पेट भरने, शरीर ढकने तक को नहीं, तो विद्रोह स्वाभाविक है ।

तमाशबीन बनिये और तमाशाई भी

यह सारी दुनिया ही तमाशा है । उचित तो यही है और इसमें आनन्द भी है कि इस तमाशे को देखते रहो और अपना पार्ट आने पर स्टेज पर आकर तमाशा दिखाने भी लगो । दोनों ही हालतों में समझें तमाशा ही । परन्तु क्या किया जाय, मुझसे तो ऐसा होता नहीं ? इसीसे मनमें राग-द्वेष भी रहते हैं और इसीसे उनके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोग भी होता है ।

अपराध के मूल : बुरे संकल्प

बुरे वातावरण में रहते रहते चित्त बुरा हो जाता है, फिर उस में बुरे संकल्प उठते हैं । जिसके चित्त में बुरे संकल्प उठते हैं, उसके समान दुखी तथा अपराधी और कौन होगा ? क्योंकि वह अपने चित्त के बुरे संकल्पों को जगत में फैलाकर दूसरों को भी बुरा बनाता है ।

राग द्वेष को सेवक बनाइये

पापों के सरदार राग-द्वेष हैं और इनका राजा है अज्ञानजनित अहंभाव । उसे सिंहासन से उतार कर भगवान का गुलाम बना दो और सिंहासन पर सदा के लिए भगवान को विठा दो, फिर ये गुलाम के गुलाम दोनों—राग-द्वेष सोधे हो जायेंगे और राजा—भगवान के अनुकूल ही बरतेंगे । द्वेष उन वृत्तियों या व्यापारों से होगा जो भगवान के विरुद्ध होंगे और राग उन में प्रेम करेगा जो भगवान के अनुकूल होंगे ।

आहार-विवेक

भोजन के समय जहाँ तक हो, किसी पापी आदमी के साथ बैठ कर भोजन नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार श्रेष्ट पुरुष के साथ बैठ कर भोजन करने से बड़ा लाभ होता है, क्योंकि उस समय सत्-परमाणु अधिक फैलते हैं । इसीलिए गुरुदेव की जूठन, चरणोदक, चरणरज, वस्त्र का जल इत्यादि लेने का तंत्र-शास्त्र में जगह-जगह विधान हैं, क्योंकि हाथों और पैरों में खास करके उनकी अँगुलियों के द्वारा सत्-परमाणु अधिक विकसित होते हैं । गुरुदेव और पतिदेव के दाहिने चरण के अंगूठे को धोकर उस चरणामृत को लेने से श्रद्धावान् शिष्य और पतिव्रता स्त्री को बड़ा लाभ होता है ।

साधक की परीक्षा

जब मनुष्य किसी····भगवत्सम्बन्धी साधना में लगता है, तब विरोधी शक्तियों की अथवा स्वयं भगवान की ओर से ही उसे हिला-हिला कर पक्का करने के लिए या तो बहुत ही भयावने, अत्यन्त कष्ट और संतापदायक अथवा बहुत ही लोभनीय,

मन को बरबस खींचने वाले, कर्तव्य और योग्यता का प्रश्न सामने रख कर डिगाने वाले, धर्म और नीति के द्वारा अनुरोध करवाकर नाना-रूपों में''''मित्रों, प्रेमियों, हितैषियों को निमित्त बनाकर, संकोच में डालकर, मन में चंचलता उत्पन्न करने वाले कारण उपस्थित हुआ ही करते हैं। परन्तु साधक दृढ़ रहे और यदि भगवान की कृपा शक्ति का आश्रय लिये रहे तो भगवत्कृपा से वह डिगने नहीं पाता।

मृत्यु के रूप में आये हुए भगवान का स्वागत करो

जो मृत्यु को निर्वाण मान लेता है, उसे मरने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः मृत्यु को मोक्षदायिनी मानकर उसका स्वागत करना चाहिए। इतना ही नहीं, वस्तुतः मृत्यु का स्वाँग रचकर स्वयं भगवान हो आते हैं—ऐसा अनुभव करके, मृत्यु की भयानकता में भगवान के सौन्दर्य-माधुर्य-पूर्ण मरण-सुधा का पान करके उन्हीं के चरणों में अपने को समर्पित करना तथा उनमें घुल-मिल जाना चाहिए।

भगवद्भाव-राज्य

साधन-जगत में प्रधानतया उत्तरोत्तर विलक्षण चार राज्य हैं—१. कर्मराज्य, २. भावराज्य, ३. ज्ञानराज्य और ४. परम भावराज्य। इसी के अनुसार साधकों के स्वरूप हैं, साध्य-स्वरूप हैं और दिव्य लोकादि हैं। कर्मप्रवण पुरुष कर्मराज्य में श्रौत-स्मार्त वैध कर्मों के द्वारा कर्म-साधन करते हैं। सकामभाव होने पर वे स्वर्गादि पुनरावर्ती लोकों में जाते है और सर्वथा कामनारहित होने पर 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को प्राप्त होते हैं। इनके तत्त्वज्ञान की स्थिति में लोक की कल्पना नहीं है और कर्मतत्त्व की दृष्टि से सृजन-पालन-संहार करनेवाले सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता ईश्वर के सांनिध्य में इनका कर्मजगत में कार्य चलता रहता है। इनमें कोई-कोई साधक सिद्धि प्राप्त करके ब्रह्मा के पद तक पहुँच जाते हैं और मूल परमतत्त्व के अंशावतार विभिन्न ब्रह्माण्डाधिपति सृजनकर्ता ब्रह्मा, पालनकर्ता विष्णु तथा संहारकर्ता रुद्र का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

इससे उच्चतर या आगे 'भावराज्य' है, वहाँ कर्म के साथ केवल निष्कामभाव की प्रधानता न होकर ईश्वर-प्रीति-साधक भक्ति की प्रधानता होती है। भावुक पुरुष इस भावराज्य के क्षेत्र में भावसाधना के द्वारा अपने भावानुरूप इष्टदेव परमैश्वर्य-सम्पन्न, स्वशक्ति युक्त भगवत्स्वरूपों का सान्निध्य और उनके दिव्य लोकों को प्राप्त करते हैं। इनकी साधना का फल दिव्य भगवल्लोकों की प्राप्ति है। ये भी सर्वथा मायामुक्त होते हैं।

इससे आगे ज्ञानराज्य है। इसमें विचार-प्रधान पुरुष साधन चतुष्ट्यादि के द्वारा महावाक्यों का अनुसरण करके विशुद्ध आत्मस्वरूप में परिनिष्ठित होते हैं। इनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। ये ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं या ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करते हैं।

इससे आगे एक महाभावरूप 'भगवद्भाव-राज्य' है। भुक्ति-मुक्ति, कर्म-ज्ञान आदि की वासना से शून्य पुरुष ही इस परम 'भावराज्य' के अधिकारी होते हैं। उपर्युक्त तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषों में भी किन्हीं-किन्हीं में भगवत्प्रेमाङ्कुर का उदय हो जाता है, जिससे वे दिव्य शरीर के द्वारा कर्म-भाव-ज्ञान-राज्य से अतीत भगवद्भाव-राज्य में प्रवेश करके प्रियतम भगवान के साथ लीलाविहार करते हैं या उनकी लीला में सहायक-सेवक होकर उनके सुख में ही अपने भिन्न स्वरूप को विसर्जितकर नित्य सेवा-रत रहते हैं, परन्तु भोग-मोक्ष की कामना-गन्ध-लेश से शून्य, सर्वात्मनिवेदनकारी महानुभावों का ही इसमें प्रवेश होता है, चाहे वे पवित्र त्यागमय प्रेमस्रोत में बहते हुए सीधे ही यहाँ पहुँच जाएँ अथवा उपर्युक्त ज्ञान-राज्य में ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर किसी महान् कारण से इस सर्वविलक्षण महाभावरूप परम दुर्लभ राज्य में प्रवेश प्राप्त करें।

इस भावराज्य में नित्य निरन्तर भावमय सच्चिदानन्दघन दिव्य-प्रेमरस-स्वरूप श्रीराधा-कृष्ण का भावमय नित्य लीला-विहार होता रहता है। गोपी-प्रेम की उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए गोपी-हृदय महापुरुष, श्रीराधा की कायव्यूहरूपा नित्यसिद्धा तथा विविध साधनों द्वारा यहाँ तक पहुँची हुई अन्यान्य गोपाङ्गनाओं का उसमें नित्य सेवा-सहयोग रहता है। इसीको 'गो-लोक' या 'नित्य प्रेमधाम' कहते हैं।

•

परिशिष्ट—ख

वसीयतनामा

[पोद्दारजी कैन्सर के प्रकोप से शय्याग्रस्त थे। २६-२७ दिसम्बर १९६९ को उनका स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया था। गोरखपुर के डाक्टर निराश हो गये थे। ऑपरेशन के लिये उन्हें दिल्ली ले जाने की बात तय हो रही थी। भगवान की कृपा से अकस्मात् स्थिति में सुधार हो गया। उसी दिन रात्रि के प्रथम प्रहर में उन्होंने एक पैड माँगा और उस पर चुपके-चुपके कुछ लिखना आरम्भ किया। थोड़ा-थोड़ा कर के लगभग एक मास में, अर्थात् २७ जनवरी १९७० को उन्होंने उसे किसी प्रकार पूरा किया। यह उनका 'वसीयतनामा' था। उसका विशेष-महत्त्वपूर्ण एवं सर्वसाधारण के लिए उपयोगी अंश नीचे दिया जा रहा है।]

॥ श्रीहरिः ॥

प्रस्तावना

गोरखपुर

दिनांक—२७-१२-६९

कल ज्यादा दर्द था, आज कुछ कम है। मेरे मनमें आया कि मैं अपनी कुछ मान्यताओं और इच्छाओं को—हो सके तो लिख दूँ। तदनुसार लिखना शुरू किया है। मन की बातें सारी तो लिखी ही नहीं जायँगी, कुछ बातें लिखी जा सकती हैं। लिखने के समय मन में जो चित्र होगा, सत्य-सत्य उसी को अंकित करने का विचार है। कहीं कोई राग-द्वेष तथा अन्य कोई भी हेतु नहीं है। लिखी जाने पर जिनको मिलें, वे स्वयं अपने लिए कुछ लाभ की बात देखें और इच्छा हो तो उसे ग्रहण कर सकते हैं।

उम्र ७८ वर्ष की हो गयी। भारत में प्रायः ६० वर्ष की उम्र मृत्यु की उम्र मानी जाती है। तदनुसार मेरा शरीर तो अधिक टिक रहा है। शरीर छूटनेवाला है ही। इसकी जरा भी चिन्ता या दुःख नहीं होना चाहिए। आत्मा का कभी नाश नहीं होता, शरीर नष्ट हुए बिना रहता नहीं—यह अपरिहार्य है। मनुष्य मोहवश अधिक जीना चाहता है। वास्तव में उसे न तो शरीर को अधिक रखने की इच्छा करनी चाहिए और न शरीर के जल्दी नष्ट हो जाने की। कर्मवश सहज जो कुछ होना है,

होता रहे। बस, सावधानी तो केवल एक ही बात की रखनी है कि हर स्थिति में भगवान का स्मरण होता है या नहीं।

शरीर में कहीं भी पीड़ा होगी और वह जिस मात्रा में होगी—उसका अनुभव तो होगा ही; अन्तर इतना ही होता है कि जो शरीर से अपने को पृथक् देखता है, उसे पीड़ा के साथ-साथ होनेवाला दुःख नहीं होता—वह इस बात से दुःखी नहीं होता कि 'मैं बीमार हो गया, भयानक बीमारी है, कब अच्छा होऊँगा, मर तो नहीं जाऊँगा—इत्यादि;' क्योंकि वह नाम-रूपवाले शरीर को 'मैं' नहीं मानता; आत्मा को मानता है; आत्मा नित्य, नीरोग तथा अमर है। पर उसको (शरीर से अपने को पृथक् देखनेवाले को) पीड़ा का ज्ञान—पीड़ाजनित स्थितियों का भोग तो होगा ही। इस प्रकार मुझे भी पीड़ा का बड़ा अनुभव हो रहा है। पेट का असह्य दर्द सहन करगे में कष्ट होता है। पता नहीं, शरीर जायगा या रहेगा। वैसे इसकी अब आवश्यकता भी नहीं रही। 'विशेष-कार्य' समाप्त हो चुका। अब तो शरीर का प्रारब्ध, जो 'विशेष-कार्य' के कारण रुक गया था, समाप्त होते ही शरीर चला जायगा। घरवालों को, स्वजनों को, मुझ में किसी भी कारण से राग रखनेवालों को मोहवश दुःख होगा ही; पर विधाता का अमिट विधान समझकर दुःख नहीं करना चाहिए और मानव-जीवन की यथार्थ सफलता के लिए मेरे भावों के अनुसार या जैसा जँचे वैसा ही प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

मेरा वसीयतनामा

गोरखपुर
२७–१–७०

मेरी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। भगवान के मङ्गल विधान के अनुसार जो कुछ हुआ है, हो रहा है और होगा—वही ठीक है और वही मेरी इच्छा है।

तथापि मेरे मन में ऐसी बात आयी थी कि मेरे जीवन की कुछ अनुभूतियाँ, कुछ खास मान्यताएँ, कुछ परिस्थितियाँ, कुछ कामनाएँ, कुछ विचार—संकेत से या संक्षेप में लिख दूँ, जिससे जो लोग कुछ जानना चाहते हैं—जिज्ञासा रखते हैं, जान-समझकर उससे लाभ उठा सकें।

मेरे पास अपना न तो एक पैसा कहीं जमा है, न मेरे कहीं से कोई आमदनी ही है। रतनगढ़ में कुछ मकान आदि हैं। उसका वसीयतनामा पहले लिख दिया गया था। अब सम्पत्ति के रूप में—'ये मेरे कुछ विचारमात्र' हैं, जिन्हें लिख रहा हूँ। ये सर्वसाधारण—पब्लिक में प्रचार के लिए नहीं हैं। परिवार के, घर के तथा निकट-सम्पर्क के जो लोग हैं, वे इन्हें पढ़ें और जिनको कुछ लेना हो, वे अपना अधिकार समझकर अवश्य ले लें—यह निवेदन है।

मेरे आध्यात्मिक उत्तराधिकारी का कोई एक नामनिर्देश नहीं किया जा सकता, मेरे लिए सभी स्नेहपात्र हैं; पर किसी को उतना ही और वैसा ही उच्चस्तर या मध्य-

स्तर का अंश प्राप्त होगा, जितनी उसकी मेरे प्रति विशुद्ध भावना रही होगी और जो जितनी आध्यात्मिक भूमिका पर आरूढ़ होगा। हाँ, जिन्होंने दम्भ किया, मुझे ठगने या मुझसे केवल लौकिक भोग-सुख-साधन के लिए सम्पर्क रखा है, उनको शायद ही कुछ मिलेगा; किसी को मिलेगा तो वह बहुत ही कम हिस्सा। दम्भी और दूसरों को ठगने की चेष्टा करनेवाले तो स्वयं आत्मवञ्चना करते हैं, उनको कुछ भी प्राप्त होना प्रायः असम्भव है।

मुझमें जिनकी जरा भी श्रद्धा, प्रीति या सद्भावना हो, उनसे मेरा निवेदन है कि वे सभी नर-नारी परम सात्विक, त्यागोन्मुखी, भगवत्सम्बन्धयुक्त जीवन बनायें। 'कल्याणकारी आचरण' नामक पुस्तक में मेरे जो विचार छपे हैं, उनका यथासाध्य पूरा पालन करें तो अवश्य ही उनको भगवत्कृपा से परम-वस्तु की प्राप्ति होगी।

जीवन के शिशुकाल में मुझे अपनी दादीजी श्रीरामकौर देवी से—मेरी माताजी के बहुत पहले ही परलोकवासी हो जाने के कारण, जिन्होंने मुझे माता से कहीं अधिक स्नेह-वात्सल्य देकर पाला-पोसा था—बहुत अच्छी शिक्षा मिली। वे साधुओं की बड़ी भक्त थीं। महान् संत श्रीबखन्नाथजी महाराज की कृपा मुझे दादीजी के कारण ही प्राप्त हुई थी। स्वामी हरिदासजी आदि महात्माओं का प्रसाद भी उन्हीं के कारण मिला था।

पिताजी भी बड़े सात्विक पुरुष थे, उनसे भी संयम की शिक्षा मिली। यों जीवन के प्रारम्भ से ही मुझे भोग-सुख के विरुद्ध त्याग तथा संयम का क्रियात्मक सजीव पाठ मिला। तदनन्तर कलकत्ता में स्वदेशी-युग के क्रान्तिकारी-आन्दोलन से भी बहुत बड़ी नियमानुवर्तिता, संयम, त्याग, और सादगी की क्रियात्मक-शिक्षा मिली; क्योंकि उस समय आन्दोलन का उद्देश्य ही था—देश के लिए तन-मन-धन—सर्वस्व अर्पण कर देना।

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, व्यापारिक—विभिन्न क्षेत्रों के महानुभावों से बार-बार मिलने, किन्हीं-किन्हीं के साथ अत्यन्त न्यून तथा किन्हीं-किन्हीं के विशेष अन्तरंग सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला। उससे मुझे त्यागमय जीवन-निर्माण में बड़ी सहायता मिली। उसके कुछ समय बाद ही महामना पं० मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, डॉ० श्रीराजेन्द्रप्रसाद, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, लोकमान्य तिलक, आदि से निकट का सम्बन्ध हो गया। राजनीतिक जगत् के अन्य महानुभावों से भी मिलना हुआ, पर उपर्युक्त महानुभावों से बहुत समीपता हो गयी। खासकर पूज्य मालवीयजी, महात्मा गांधी और टंडनजी से तो एक प्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध-सा हो गया। ये मुझे अपने परिवार का अत्यन्त विश्वस्त बालक समझते थे। इन लोगों से मुझे बहुत कुछ मिला। बीच-बीच में श्रीजयदयालजी गोयन्दका कलकत्ता

पधारते, तब उनके सत्संग का लाभ मिलता। यों आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ मेरी धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी चलती रहीं।

गोरखपुर आने पर 'कल्याण' के कारण देशभर के सभी प्रान्तों के बहुत बड़े सम्मान्य साधु-महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों, लेखकों तथा विभिन्न धर्मों के माननेवाले महानुभावों से मेरा सम्पर्क हो गया। 'कल्याण' के सम्पादन कार्य में भगवत्कृपा से सभी का अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ।

सन् १९२७ में व्यापार के सारे काम-काज से सम्बन्ध तोड़कर जब मैं बम्बई से चला, तब यही निश्चय किया था कि एक बार गोरखपुर जाकर फिर सदा के लिए कहीं पवित्र गंगातट पर एकान्त निवास करके जीवन के शेष दिन केवल भजन में ही बिताने हैं। पर होता वही है जो श्रीभगवान के मंगलमय विधान के अनुसार होना होता है। 'कल्याण' को गीताप्रेस से प्रकाशित कराने की व्यवस्था हो जाय—इतने ही काम के लिए मैं गोरखपुर आया था; पर 'प्रेस' तथा 'कल्याण' का काम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आसक्ति या वासनावश उसी में मेरा मन अधिक-से-अधिक लगने लगा, मेरी एकान्तवास की इच्छा धरी रह गयी और मैं गोरखपुर का ही हो गया—'करी गोपाल की सब होय।'

....

मैं गीताप्रेस-गोरखपुर में रहने के लिए नहीं आया था, पर भगवान् के मंगल-विधान से रहना हो गया। मैं जब आया था, उस समय काम बहुत छोटे रूप में था। एक बड़ी, एक छोटी—केवल दो छपाई की हाथ-मशीनें थीं। गीता, प्रेमभक्तिप्रकाश, ध्यान से भगवत्प्राप्ति—पुस्तकें निकली थीं। भगवान की प्रेरणा से फिर काम बढ़ता गया। गोविन्दभवन के ट्रस्टियों में साहित्य के जानकार केवल एक पुरुष थे—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया और सब लोग पूज्य श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी के भक्त थे, उनके आदेशानुसार ट्रस्टी बने थे। काम देखते थे श्रीघनश्यादासजी जालान। मेरे आने के बाद साहित्य-प्रकाशन का कार्य बढ़ा। लेखक-अनुवादक-सम्पादक मिलते गये। साहित्य-प्रकाशन होता गया।

यह जो मेरे द्वारा गीताप्रेस और 'कल्याण' का कार्य हुआ, हो रहा है—इसमें वास्तव में मेरा कृतित्व कुछ भी नहीं है। मैं यदि इसके लिये गर्व करूँ तो वह सर्वथा मिथ्याचार और अपराध होगा। मैं तो 'साहित्य-संगीत-कला-विहीन,' 'अज्ञानतिमिरान्ध' साक्षात् एक 'जन्तुमात्र' था। भगवान् ने अपने-आप स्वाध्याय का दीर्घकालीन सुयोग दिया, संत-महात्मा-भक्त-विद्वानों का सङ्ग प्राप्त हुआ, निर्बाध असीम क्षेत्र मिला, बताने, सिखाने तथा सहायता देनेवाले समर्थ साथी मिले। यह सब भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रेरणा से ही हुआ।

बिना किसी योजना के जिस प्रभु ने अपनी इच्छा से तुच्छ को विशाल किया—गीताप्रेस के कार्य को इतना बढ़ाया, उसकी चतुर्दिक् प्रगति की, वे प्रभु जबतक इसे

रखना और चलाना चाहेंगे, तबतक किसी भी बाधा-विघ्न या साक्षात् विध्वंसक भाव से भी इसका कुछ नहीं बिगड़ेगा और यह चलता रहेगा। और जिस क्षण प्रभु इसे रखना नहीं चाहेंगे, उस दिन कोई भी शक्ति इसे बचा नहीं सकेगी। इस भगवद्विश्वास के सभी अधिकारी हैं और सभी को इससे लाभ उठाना चाहिये।

....

यों तो मेरे जीवन पर उपनिषदों का, ऋषियों का, श्रीमद्भागवत का तथा वैष्णवग्रन्थों का बड़ा प्रभाव है; महान् आचार्य श्रीशंकराचार्य तथा भगवान् श्रीचैतन्य-देव से मुझे सर्वाधिक लाभ प्राप्त हुआ है। पर यदि सत्य कहा जाय तो मेरे जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव श्रद्धेय पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दका का है। मेरे जीवन को बहकने तथा एक ही अध्यात्मपथपर सुरक्षित रखने का सारा श्रेय उन्हीं की कृपा को है। उनको मेरे पास भगवान् ने ही भेजा था। यद्यपि सम्बन्ध में वे मेरे मौसेरे-भाई होते थे, तथापि दूर-दूर रहने से मिलने का काम नहीं पड़ा था। कलकत्ते में पारख कोठी में पिताजी के साथ हमारी दूकान पर वे स्वयं आने लगे और उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचा। यह लगभग सन् १९१० की बात है, तबसे शरीर के अन्ततक उनकी कृपा बराबर बनी रही। मैंने कई बार गीताप्रेस और 'कल्याण' के काम को छोड़कर भागना चाहा, पर उनकी प्रबल कृपाशक्ति ने नहीं भागने दिया। उनसे मुझे जो कुछ मिला, उसकी कहीं तुलना नहीं हो सकती। यों कहना चाहिये कि मुझमें यदि कहीं कोई अच्छापन है तो यह भगवान के एवं उनके कृपादान का फल है; बुराई सारी मेरी है।

मुझे जो कुछ लाभ हुआ, उसमें उपर्युक्त संत-कृपा के साथ-साथ तीन चीजों की प्रधानता है—

१. सब में भगवान् को देखना।

२. भगवत्कृपा पर अटूट विश्वास।

३. भगवन्नाम का अनन्य आश्रय।

यही 'मेरी अतुल-सम्पत्ति' है और यह इतनी विशाल है कि असंख्य लोगों के द्वारा इसके ग्रहण किये जाने पर भी यह कम नहीं होगी। आप जो कोई मेरे यथार्थ उत्तराधिकारी बनना चाहें, सबमें भगवान् देखकर सबका हित-सुख-सम्पादन तथा सम्मान करें। निरन्तर बरसनेवाली भगवत्कृपा की अहैतुकी अनन्त सुधाधारा में सराबोर रहें और अनन्य निष्ठा-विश्वास के साथ भगवन्नाम-जप-कीर्तन करते रहें। ये तीनों करेंगे तो अवश्य ही पारमार्थिक लाभ होगा।

....

मुझसे जीवन में घर के एवं बाहर के इतने लोग मिले हैं, जिनकी संख्या नहीं की जा सकती। इनमें पूर्वजन्मों के सम्बन्ध के कारण सम्पर्क में आकर कर्मानुसार

अनुकूल-प्रतिकूल फल देने-लेनेवाले, किसी हेतु से नये सम्पर्क में आनेवाले, अनायास सहज ही मिल जानेवाले, किसी लौकिक कार्य के लिये मिलनेवाले, लौकिक के साथ-साथ विधाता के विधान से किसी अज्ञात 'विशेष-कार्य' में भी सहयोग देनेवाले औरकेवल 'विशेष कार्य' के लिये ही न्यूनाधिकरूप से सम्पर्क में आनेवाले—सभी प्रकार के लोग हैं।

शिलांग, कलकत्ता, शिमलापाल, रतनगढ़, बम्बई, गोरखपुर तथा अन्यान्य स्थानों में –पूज्य महात्मा, संन्यासी, आचार्य, सरकार के उच्च अधिकारी, न्याय-शासन-विभाग के अधिकारी, शिक्षा-विभाग के महानुभाव, गीताप्रेस, 'कल्याण' तथा 'कल्याण कल्पतरु'-सम्पादन-विभाग के कार्यकर्ता, सेवा-सहायता आदि कार्यों से सम्बन्धित, घर में रहनेवाले, घर के कर्मचारी, सेवक, तथा मित्र, साहित्यिक क्षेत्र में सम्पर्क में आनेवाले, 'कल्याण' के लेखक आदि के रूपों में मिलनेवाले—ऐसे बहुत लोग हैं, जिनका न्यूनाधिकरूप से भगवान् के 'विशेष-कार्य' से सम्बन्ध है। यह आवश्यक नहीं कि उस 'विशेष-कार्य' का सबको पता हो। कुछ नाम ये हैं—द्वारका शारदापीठ के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, पुरी गोवर्धनपीठ के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, श्रृंगेरीमठ के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, बदरीनाथमठ (ज्योतिर्मठ) के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, श्रीरामानुज-सम्प्रदाय के जगद्‌गुरु श्रीअनन्ताचार्यजी महाराज, श्रीराघवाचार्यजी महाराज, वल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीगोकुलनाथजी महाराज, महात्मा श्रीभवानीशंकरजी, श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी, स्वामी भोलेनाथजी, स्वामी प्रज्ञानपादज , स्वामी माधवानन्दजी, योगिराज स्वामी प्रज्ञानाथजी, स्वामी अखण्डानन्दजी (सस्तुं साहित्य मण्डलवाले), स्वामी प्रेमानन्दतीर्थजी, स्वामी ज्ञानानन्दजी (भारतधर्म महामण्डल), स्वामी संकर्षणदासजी, बाबा रामकृष्णदासजी, स्वामी गौराङ्गदासजी, स्वामी चिदानन्दजी सरस्वती, स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी, श्रीगोमतीदासजी, स्वामी मङ्गलनाथजी, स्वामी स्वयंज्योतिजी, स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी, श्रीब्रह्म-बाबा, पं० रामवल्लभाशरणजी, श्रीरूपकलाजी, श्रीअञ्जनी नन्दन शरणजी, श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी, श्रीसतीशचन्द्र मुखर्जी, श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, गो० दामोदरजी शास्त्री, श्रीकृष्णप्रेमजी, संत तुकड़ोजी, श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण, श्रीअक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, श्रीजीव न्यायतीर्थ, श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त, श्रीएनी बेसेन्ट, श्रीगोपीनाथजी कविराज, महात्मा सीतारामदास ओंकारनाथ, पं० हाराणचन्द्र शास्त्री, श्रीरामदासजी गौड़····आदि-आदि।

········ ········ ········

जब से मैंने होश सँभाला है—जहाँ तक मुझे याद है मैंने राग-द्वेषवश, जान-बूझकर ऐसा कोई काम प्रायः नहीं किया है, जिससे किसी को दुःख पहुँचे या किसी के भी हित का नाश हो।

कलकत्ते में महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी पत्र 'युगान्तर', 'संध्या' तथा विप्लव-वादियों के साहित्य के अध्ययन और विप्लववादी महान् त्यागपूर्ण जीवनवाले

नवयुवकों के सङ्ग से मेरा मन उनके तथा उस आन्दोलन के प्रति आकृष्ट हो गया था। भारत की स्वतन्त्रता के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समय अवश्य ही अंग्रेजी शासन के प्रति मेरे मन में द्वेष हो गया था और कुछ अंग्रेज उच्चाधिकारियों के प्रति भी था— यह केवल भारत की स्वतन्त्रा को लेकर; पर वह महात्मा गांधी के विशेष सम्पर्क में आने पर नष्ट हो गया।

इसके बाद गांधीजी के जीवनकाल में ही मुसलमानों की हिन्दू-विरोधी चेष्टाओं के कारण मुसलमानों की उस नीति के प्रति भी—किसी व्यक्ति के प्रति नहीं—मेरे मन में विरोध हो गया था, जो कई वर्षोंतक रहा।

इस विरोधी वृत्ति में भी मेरे मन में स्वयं बलिदान होकर उनका सुधार करने की स्फुरणा होती थी। इसी से भगवान की कृपा से मेरे द्वारा किसी प्रसङ्ग को लेकर ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ, जिससे किसी अंग्रेज या मुसलमान की व्यक्तिगत हानि हुई हो। मेरे बहुत-से ईसाई-मुसलमान मित्र हैं, जो मुझे भाई के समान प्यार करते हैं। ईसाइयों में पादरी श्री सी० एफ० एण्ड्रूज महोदय तथा श्रीआर्थर मैसी मुझ पर बड़ी कृपा रखते थे। मुसलमानों में डॉ० मोहम्मद सैयद हाफिज, श्रीसैयद कासिम अली, श्रीबरुद्दीन आदि का मेरे साथ बड़ा प्रेम का सन्बन्ध था और है। गोरखपुर के कई ईसाई विद्वान् तथा मुसलकान भाई मेरे साथ बहुत ही प्रेम तथा आत्मीयता का व्यवहार करते थे, रखते हैं। मैं उन सभी का कृतज्ञ हूँ।

जान-बूझकर बुरी नीयत से कुछ न करने पर भी मेरे द्वारा मत-सिद्धान्त के आग्रह के कारण, मोह-ममतावश, देश के, समाज के, जाति के, परिवार के, घर के— बहुत लोगों का बहुत बार अपमान-तिरस्कार हुआ है। मेरे रूखे-कड़े बर्ताव से, असत् व्यवहार से, कभी-कभी असत् न दीखनेवाले सत्-व्यवहार से भी, बहुतों को दुःख पहुँचा है; इसके लिए घर-बाहर के सभी लोगों से सच्चे हृदय से क्षमा चाहता हूँ। वे सभी मुझपर कृपा करें और मेरे अपराधों के लिए क्षमा कर दें।

भारतवर्ष में तथा बाहर जितने भी ईश्वरोन्मुखी धर्म हैं तथा जिनमें किसी भी नाम से दैवी-सम्पदाको प्रथम स्थान है, वे सभी धर्म शुभ हैं, उनमें फल की दृष्टि से कोई भेद नहीं मानना चाहिए। मेरा तो यह निश्चय है कि परमतत्त्व, सत्य, परमात्मा, भगवान या आत्मा 'एक और अद्वितीय' है। वह नित्य अपने ही आप में, अपने से ही लीलायमान है। जितने भी ईश्वरवादी दैवी-सम्पत्तिवान् धर्म हैं, सब विभिन्न दिशाओं से तथा विभिन्न मार्गों से बहती हुई एक ही समुद्र की ओर जानेवाली विभिन्न नदियों के समान भगवत्प्राप्ति के मार्गरूप हैं। विभिन्न धर्मों तथा विभिन्न आचार्यों-संतों के तत्त्व-निरूपण में जो भेद दिखायी देता है, वह तो अवश्यम्भावी है। आसाम से, पंजाब से, दक्षिण से और हिमालय से काशी जानेवालों के मार्ग, काशी एक होने पर भी, एक-से नहीं हो सकते। इसी प्रकार जो महात्मा जिस मार्ग से

तत्त्वधाम के अन्तर्द्वारतक बुद्धि के द्वारा पहुँचे हैं, उन्हें वहाँ पहुँचाकर वापस लौटी हुई उनकी बुद्धि उनके नाम से उसी मार्ग का वर्णन करेगी और अन्तर्द्वार को ही तत्त्व बताकर उसी का निरूपण करेगी। असल में जहाँ तत्त्व की उपलब्धि है, वहाँ तो न प्रश्न है न उत्तर है; वहाँ कुछ भी बोलना-चालना नहीं है और जहाँ बोलना-चालना है, वहाँ तत्त्व की उपलब्धि—तत्त्व-स्वरूपता नहीं है। अतएव तत्त्व का वर्णन तो होता ही नहीं, वर्णन होता है—साधन-मार्ग का और साधन-मार्ग में विविधता अवश्यम्भावी है। पहुँचे हुए सभी महात्माओं की बुद्धि—चाहे वे किसी धर्म-सम्प्रदाय के हों—सत्य का ही वर्णन करती है और वह सत्य वहीं तक होता है, जहाँतक बुद्धि पहुँच पाती है, देख पाती है।

अतएव मैंने जहाँतक बना है, किसी भी मत-सम्प्रदाय के महात्माओं का और उनकी दैवी-सम्पदायुक्त साधन-पद्धति का कभी विरोध नहीं किया। मुझे ऐसा लगता है कि 'एक ही सत्य विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त है।' मैं यह चाहता हूँ कि मेरी इस मान्यता तथा उपलब्धि के भी लोग उत्तराधिकारी बनें और जो सच्चे मन से बनना चाहते हैं, उन्हीं को मैं यह उत्तराधिकार देता हूँ।

....

पता नहीं, भगवान की किस प्रेरणा से मेरे जीवन में गरीब, अनाथ, विविध कष्टों से पीड़ित नर-नारियों की तथा गौ आदि पशु-जाति की सेवा के सुअवसर प्राप्त होते रहे हैं और उनमें अनायास ही अबतक इतनी अपार 'धनराशि' का उपयोग हुआ है, जिसकी संख्या पर विश्वास करना कठिन है। फिर आश्चर्य यह है कि बाढ़-अकाल आदि सार्वजनिक सेवा के कुछ कार्यों के अतिरिक्त कहीं किसी सेवा का विज्ञापन नहीं हुआ है और न ऐसे सेवाकार्य के लिए कभी किसी से कुछ माँगा ही गया है। भगवान् की प्रेरणा से भगवान् की वस्तु भगवत्स्वरूप महानुभावों तथा देवियों से प्राप्त होती रही और भगवत्स्वरूप अभावग्रस्त नर-नारियों की सेवा में यथायोग्य लगती रही। मेरी अनुभूति में इसमें सभी दिशाओं में केवल भगवान की मङ्गलमयी प्रेरणा ने काम किया। प्रत्येक सत्कर्म में जरा भी अभिमान न करके उसका एकमात्र कारण मङ्गलमयी भगवत्प्रेरणा को ही मानना चाहिए। मैंने ऐसा मानने तथा अनुभव करने की चेष्टा की है। यही सभी को करना चाहिए।

....

मेरी यह दृढ़ मान्यता तथा अनुभूति है कि अपने ही किये हुए कर्मों के फल-स्वरूप अनिष्टकारक प्रारब्ध हुए बिना कोई किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता, पर दूसरे का अनिष्ट करने का विचार और कार्य करके वह स्वयं अपने नवीन 'पाप-कर्म' का कर्ता अवश्य बन जाता है। अतएव किसी भी प्राणी का किसी प्रकार से भी कुछ भी अनिष्ट करने की बात न सोचनी चाहिए न वैसा कोई कार्य ही करना चाहिए।

हाँ, दूसरे का हित-सुख-सम्पादन करने का विचार तथा प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। वह 'हित-सुख-सम्पादन' भी होगा, उसके प्रारब्ध के अनुसार ही। 'पर-हित-सुख-सम्पादन' का हमारा विचार तथा कार्य—हमें पुण्यकर्म का कर्ता बना देगा, जो हमारे लिए शुभ फल का उत्पादक होगा और यदि यही 'पर-हित-सुख-सम्पादन' का विचार और कार्य निष्कामभाव से भगवत्प्रीत्यर्थ या उनकी अर्चारूप होगा तो मानव-जीवन के एकमात्र उद्देश्य—'भगवत्प्राप्ति' में सहायक होगा।

कभी अपने किसी 'अनिष्ट' में दूसरे किसी का हाथ दिखाई दे तो दृढ़ता से यह समझना चाहिए कि हमारा 'अनिष्ट' हमारे अपने कर्मजनित प्रारब्ध के सिवा दूसरा कोई भी, कभी भी कर नहीं सकता। जिसका हाथ दिखाई देता है, वह तो 'निमित्त-मात्र' है और यदि उसने ऐसा किया है तो नया पापकर्म करके अपना ही अनिष्ट किया है; एवं जो अपना अनिष्ट करता है, वह पागल है। पागल सदा ही दया का पात्र है। अतएव उस के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए कि भगवान् उसे 'क्षमा' कर दे। कभी बदले में उसका 'अनिष्ट' तो चाहे ही नहीं।

किसी को बिना ही जनाये उस का उपकार करना, उसको जना कर करना, उस के घरवालों को जना कर करना, बहुतों को बताकर करना अथवा विज्ञापन करके करना—सभी परोपकार उत्तम हैं तथा किसी भी रूप में हों, उन्हें करना कर्तव्य है; पर इन में एक-से-दूसरा नीचे दर्जे का है।

उपकार करके बदले में प्रशंसा चाहना, कृतज्ञता चाहना, समय पर बदले में उपकार की आशा रखना, यश-कीर्ति चाहना, उपकार के एहसान से दबाकर उस से मनमाना काम करवाने की चाह करना; भगवान् से बदले में सुख चाहना, परलोक में बदला चाहना—ये सब 'सकाम-भाव' हैं। इन में जो निर्दोष हों, वे सकाम भाव भी रहें तो भी 'उपकार' करना कर्तव्य है।

पर यह सब 'उपकार' है, 'प्रेम' नहीं है। प्रेमी कुछ भी करके प्रेमास्पद का उपकार नहीं करता, वह तो अपने ही लिए अपना ही काम करता है। इस से प्रेमास्पद या किसी को जताने-बतलाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, वरन् प्रेमी के मन में कभी यह भी नहीं आता कि मेरा प्रेमास्पद यह जान भी ले कि मेरा प्रेमी मेरे दुःख से दुःखी है। प्रेमी प्रेमास्पद के दुःख में उस के सामने बैठ कर रोता नहीं, दूसरों के सामने भी अपनी मानसिक वेदना को प्रकट नहीं करता। इस का अर्थ यह नहीं कि उस को वेदना कम होती है। बड़ी वेदना होती है, पर वह अपनी वेदना का विज्ञापन तो करता ही नहीं, अपनी किसी भी चेष्टा से—भाव-भङ्गिमा से भी, प्रेमास्पदपर यह असर भी नहीं डालना चाहता कि 'मेरा प्रेमी मेरे लिए इतना दुःखी है'; क्योंकि वह समझता है कि इससे भी प्रेमास्पद पर एक एहसान का भार पड़ेगा। अतएव वह चुपचाप जो कुछ भी अधिक-से-अधिक कर सकता है, करता है। जैसे अपने दुःख-निवारण के

लिए कोई स्वाभाविक ही चेष्टा करता है, वैसे ही वह करता है। इतने पर भी अपने दुःख-निवारण की चेष्टा में और प्रियतम के दुःख-निवारण की चेष्टा में एक महत्त्व-पूर्ण अन्तर रहता है। अपना दुःख तो मनुष्य सह भी लेता है, कभी-कभी उसकी उपेक्षा भी कर बैठता है, दूसरों से भी उसके निवारण की आशा करता है; पर प्रियतम का दुःख न तो वह सह सकता है, न उसकी उपेक्षा कर सकता है और न उसकी निवृत्ति के लिए दूसरों की ओर ही ताक सकता है। जो कुछ भी वह कर सकता है, तुरन्त तथा पूर्णरूप में करता है। ऐसे प्रेमी ने ही वास्तव में प्रेम का पाठ पढ़ा है। मुझे भी ऐसे एक-दो प्रेमी प्राप्त हैं, यह मेरे लिए आनन्द की बात है। वास्तव में जिन को प्रेम का सेवन करना हो, उन्हें ऐसा बनना चाहिए।

....

वास्तव में इस पाञ्चभौतिक शरीर से अपने कर्म के अतिरिक्त, मेरे द्वारा कुछ 'विशेष-कार्य' करवाने की योजना थी। जिनकी, जैसी जितनी योजना थी, उनकी कृपा तथा शक्ति से उनका काम बहुत अंश में पूरा हो गया, यद्यपि मैंने जितना चाहा था, जैसे चाहा था, वैसा नहीं हो पाया। यों तो जितने लोग मेरे सम्पर्क में आये हैं, उन का कुछ-न-कुछ कल्याण तो अवश्य ही हुआ है और होगा, पर जिन लोगों ने मेरे द्वारा स्वार्थवश अनुचित कार्य कराने की इच्छा तथा चेष्टा की, वे प्रायः वञ्चित ही रह गये। उनकी प्रगति तो रुक ही गयी, कई किसी अंश में क्षतिग्रस्त भी हो गये। भगवान उनका कल्याण करें।

यद्यपि जगत के मङ्गल के लिए जो कुछ हुआ है, वह बहुत दूर-दूरतक हुआ है तथा उसका प्रभाव व्यापक और दीर्घकालतक रहेगा। 'वह क्या है ? कैसा है ?' यह न मैं पूरा जानता हूँ न जानने की इच्छा है। हाँ, इतना जानता हूँ कि वह प्रभु का कार्य है और महान् है।

मुझ में श्रद्धा-प्रीति-विश्वास रखनेवाले बहुत-से स्त्री-पुरुष हैं। उन में से कई सर्वथा सच्चे हैं, उनको उनकी श्रद्धा, प्रीति, विश्वास के अनुसार भगवान् कल्याण-फल देंगे—निश्चित ही। पर जो लोग अपने को ऐसा मानते हुए या बतलाते हुए भी वास्तव में श्रद्धा-प्रीति-विश्वासयुक्त हृदय से भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम न चाहकर केवल भोगलिप्सा रखते हैं, उनको मिथ्या आचार के कारण भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।

वस्तुतः मुझ में कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, भगवान में है। भगवान के सम्पर्क को लेकर जो मेरे माध्यम से भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम चाहते हैं, उन के अन्तःकरण की सत्यता के फलस्वरूप भगवत्कृपा से उनकी प्रेम-कामना पूर्ण होगी। पर मेरे साथ उनका सम्बन्ध केवल भगवत्-सम्पर्कयुक्त ही होना चाहिए, किसी प्रकार

की लौकिकता का सम्मिश्रण उसमें नहीं होना चाहिए। इसलिए मैं इस बात को जानता हूँ कि मुझ से दूर-दूर रहनेवाले कई स्त्री-पुरुष मुझ में भगवत्सम्पर्कित निष्ठा रखने के कारण भगवत्प्राप्ति के समीप पहुँच रहे हैं और मेरे पास, सदा मेरे समीप रहनेवाले बहुत-से लोग भाव न रखने के कारण आत्मवञ्चित हो रहे हैं। इस का यह अभिप्राय नहीं कि पास रहनेवालों में सभी ऐसे हैं। कई ऐसे लोग हैं—जिनका नाम बताना वर्जित है, जिनको यथार्थ लाभ हो रहा है और होगा।

जो लोग मेरे पास रह कर भी मुझ से दूर-दूर रहते हैं, उन को कुछ भी हाथ नहीं लगता, वे विकृति ही देखते हैं; पर जो दूर रह कर भी अन्तरङ्ग रहते हैं, जिनका श्रद्धापूत हृदय भावसारूप्य पा लेता है, वे भीतर के बहुत कुछ रहस्यों को जान लेते हैं और सत्सङ्ग का वस्तुतः उन्हीं को लाभ प्राप्त होता है। मेरे जीवन में भी ऐसे ही दोनों प्रकार के लोगों से सम्पर्क रहा है। मैं जिन्हें देना भी चाहता था, प्रयत्न भी मैंने किया था देने का, हृदय से परे रहने के कारण वे कभी उसे ग्रहण नहीं कर सके; पर ऐसे लोग, जिन के लिए मेरी अपनी ओर से कोई चेष्टा नहीं हुई, हृदय से भावसारूप्य प्राप्त कर वे बहुत कुछ ले गये। अपने को जगत के सामने अपना जाहिर करनेवाले कोरे रह गये और जिन के विषय में किसी को पता भी नहीं है कि उनसे मेरा कोई सम्पर्क है, वे पा गये। जो पा गये, वे अब भी पा रहे हैं और चूँकि उनका मार्ग मुक्त हो गया है, अतएव वे आगे भी यथाधिकार पाते रहेंगे। अतएव जबतक जीवन है, तबतक जिनको कुछ भी पाने की इच्छा हो, उन्हें अन्तरङ्ग बनने की—पास रहने न रहने को कोई महत्त्व न देकर—मेरे मनोनुकूल साधना में नित्य प्रवृत्त रहने की चेष्टा करनी चाहिए, जिससे कम-से-कम उनका ग्रहणद्वार मुक्त हो जाय, नहीं तो उन्होंने अबतक जो विकृति देखी है, आगे भी वह विकृति ही देखते रहेंगे, उल्टे घाटे में रहेंगे।

मेरे पास जितने लोग आये हैं—आते हैं—सभी कुछ-न-कुछ देने आते हैं और देकर जाते हैं। भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, सद्भाव, शिक्षा, परामर्श, विनय, नम्रता, क्षमा, अहंकार मिटानेवाली दक्षता, दोष दिखानेवाली निन्दा, कर्तव्य का ज्ञान कराने वाली चेतावनी—जिन के पास जो कुछ होता है, दे जाते हैं। लाखों-लाखों नर-नारी ऐसे हैं, जो मेरे पास आये नहीं हैं, पर इसी प्रकार से उन्होंने मुझको सदा दिया है और अनवरत दे रहे हैं। इसलिए मुझ पर तो सभी का उपकार है और मैं सभी का कृतज्ञ हूँ। विभिन्न प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल भावों को धारण करके आनेवाले सभी लोग एक बहुत बड़ा उपकार करते हैं, यह कि—'मधुर और भयानक सभी रूपों में—अनुकूलता और प्रतिकूलता की पोशाक में एक भगवान ही आते हैं'—इस बात को मैं कभी न भूलूँ और राग-द्वेष से बचकर सदा-सर्वदा हर रंग-रूप में छिपे हुए उन को पहचान लूँ। इस दृष्टि से भी सभी मेरे अत्यन्त आदर के पात्र हैं—सभी

भगवत्स्वरूप हैं, मैं सभी का हृदय से नमन करता हूँ। मैंने इस भाव के पोषण तथा संवर्द्धन की चेष्टा सदा की है और मैं चाहता हूँ, मेरे इस भाव को मेरे उत्तराधिकारी ग्रहण करें।

घर के तथा बाहर के उन लोगों में, जो केवल परमार्थ-साधन के उद्देश्य से ही मेरे सम्पर्क में आये हैं, दो प्रकार के नर-नारी हैं--

१. पूर्वजन्म से साधन में लगे हुए।

२. इस जन्म में साधन में लगनेवाले।

इनमें भी दो तरह के हैं—

१. पूर्वजन्म में मेरे सम्पर्क में आये हुए।

२. इस जन्म में सम्पर्क में आये हुए।

इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में मेरे सम्पर्क में आये हुए लोग भी चार प्रकार के हैं—

१. केवल परमार्थ-साधन में लगे हुए।

२. न्यूनाधिकरूप में लौकिक वासना से मिश्रित परमार्थ-साधन में लगे हुए।

३. लौकिक वासना की प्रधानतावाले।

४. केवल लौकिक वासनावाले नाममात्र के साधक।

मैं सबका कल्याण चाहता हूँ, पर भगवान् के नियमानुसार उनको पूर्ण सफलता, आंशिक सफलता या असफलता मिलेगी—उनके भावानुसार ही।

केवल परमार्थ-साधन की दृष्टि से मेरे साथ भावसाम्य करके जो लोग मेरे अधिक सम्पर्क में हैं, उनकी सफलता निश्चित है।

पारमार्थिक सफलता में समर्पण की प्रधानता है। अनुकूल आचरण करने में अपनी जान में शक्तिभर कमी न रक्खे—पर अपने पुरुषार्थ का अभिमान कभी न करे। जिनको समर्पण किया है, सर्वतोभाव से उनकी कृपा का पूरा विश्वास रक्खे—सफलता निश्चित है। जो लोग इस स्तर पर हैं, उन्हें और भी बढ़ना चाहिए। जो इस स्तर से कुछ नीचे हैं या बिल्कुल नहीं हैं—उन्हें शीघ्र प्रयत्न करके लगना चाहिए। जो लोग शुद्धभाव से अनुकूल सेवा में संलग्न हैं, उनका विशेष भार भगवान वहन करते हैं। सत्सङ्गी साधकों को निराश न होकर भगवान् की अहैतुकी कृपा के बलपर निरन्तर यथासाध्य भगवान के अनुकूल कार्यों में (यही साधन है) लगे रहकर यह विश्वास करना चाहिए कि भगवान ने उनको अपना लिया है—सर्वथा स्वीकार कर लिया है।

....

मेरे कुछ स्नेही सज्जन, जो मेरे प्रति श्रद्धा तथा सद्भाव रखते हैं, मेरी जीवनी लिखना चाहते हैं या लिख रहे हैं। जहाँतक उनका शुद्ध भाव है, मैं उसका आदर

करता हूँ और उनके स्नेह के लिए कृतज्ञता प्रकट करता हूँ; परंतु उनसे मेरा अनुरोध है कि वे इसपर पुनः विचार करें।

प्रथम तो हाड़-मांस के पाञ्चभौतिक अनित्य 'शरीर' तथा उसके कल्पित 'नाम' की जीवनी लिखकर उसको सम्मान प्रदान करना—एक प्रकार से प्रत्यक्ष ही 'नाम-पूजा' है, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। मैं उस श्रेणी का पुरुष तो हूँ नहीं, परंतु वास्तव में आत्मस्थित कोई भी पुरुष इस मिथ्या नाम-रूप की जीवनी तथा उसके महत्त्व का समर्थन नहीं करते।

दूसरे, लेखक जीवन को, यथार्थ रहस्य को, कार्य के प्रेरक विचारों को—जो कर्त्ता के जीवन का सच्चा दर्शन कराते हैं—जानते नहीं। फिर, बाहर की बातों में भी जीवनी-लेखक प्रायः उन्हीं बातों का उल्लेख करते हैं, जिनसे उनका महत्त्व प्रकट होता है। उनकी भूलों तथा कमजोरियों को छोड़ देते हैं या छिपा देते हैं; क्योंकि जीवनी के लेखक का उद्देश्य यथार्थ जीवन-चित्र उपस्थित करना नहीं, अपितु बड़े ही सद्भाव से उनके गुणों का प्रचार-प्रसार करके अपनी श्रद्धा प्रकट करना और उन गुणों के प्रचार-द्वारा जगत को लाभ पहुँचाना होता है। पर ऐसा करने में जीवनी एकाङ्गी होती है, सच्ची नहीं होती और असत्य के आश्रय में तो 'विकृति' की पूरी सम्भावना है ही। इसलिए भी जीवनी लिखने का समर्थन नहीं किया जा सकता।

तीसरे, मेरा पाञ्चभौतिक शरीर सर्वथा प्राकृत तथा कर्मजनित होने पर भी इसके द्वारा कुछ 'विशेष कार्य' कराने की कोई दैवी प्रेरणा थी। उसको न तो मैं बतला सकता हूँ और न कोई लेखक जान ही सकता है। उस 'विशेष—कार्य' को लेकर जीवन में कब-कब, कैसे-कैसे, कौन-कौन-से विचार आये, कैसी-कैसी क्रियाएँ हुईं—यह लेखक नहीं जानते; न मैं ही उनको बता या लिख सकता हूँ। इस अवस्था में कोई भी जीवनी-लेखक मेरी यथार्थ जीवनी नहीं लिख सकते। मेरे पाञ्चभौतिक 'शरीर तथा नाम' वाले जीवन में साधारण लोगों-जैसी ही कमजोरियाँ हैं। अनेक अवाञ्छनीय चेष्टाएँ हुई हैं, होती हैं। उन्हें छिपाया जायगा तो जीवनी मिथ्या होगी और बताया जायगा तो वह जगत के लिए और भी हानिकारक कार्य होगा। इसलिए जीवनी लिखकर उसके द्वारा मेरे प्रति सम्मान-प्रदर्शन करने की तथा जगत को लाभ पहुँचाने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

मेरा सच्चा सम्मान तथा मेरे द्वारा जगत को लाभ पहुँचाने का साधन है—मेरे भावों, विचारों तथा सम्मति-उपदेशादि के अनुसार जीवन को संयम, त्याग, सेवा, विनय, अनवरत भगवच्चिन्तन, भगवत्-सम्बन्धी वार्तालाप तथा क्रिया-कलाप एवं प्रत्येक कार्य को भगवान् का स्मरण करते हुए (कर्म तथा भोग में आसक्ति-कामना-ममता न रखते हुए) भगवान् की पूजा के लिए ही करना—इस प्रकार का जीवन बनाना, प्राणिमात्र में भगवान को देखकर सबका हित-सुख-सम्पादन करना तथा भगवत-

सेवा का जीवन बनाना। यही मेरे भावों का उत्तराधिकार है और यही मेरी सच्ची सेवा तथा सच्चा सम्मान है एवं इसे मेरे शरीर छूटने पर ही क्यों, मेरे जीवनकाल में ही—मुझ पर स्नेह-श्रद्धा करनेवाले—सभी भाई-बहिन करें। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी और उनका वास्तव में कल्याण होगा।

....

वास्तव में निर्दोष आत्मा की दृष्टि में निन्दा-स्तुति का कोई अर्थ नहीं है, व्यावहारिक जगत में इनका स्थान है। पर मनुष्य को निन्दा से सर्वथा लाभ उठाने तथा स्तुति से होनेवाले नुकसान से बचने की चेष्टा करनी चाहिए। मैंने बार-बार निन्दा का आदर करके उससे लाभ उठाने की चेष्टा की है और मेरा यह अनुभव है, निन्दा करनेवालों में ७० से ८० प्रतिशत सच्चे होते हैं और हमें लाभ पहुँचाते हैं। इसके विपरीत प्रायः २५ से ४० प्रतिशत प्रशंसा करनेवाले अतिशयोक्तिपूर्ण एवं मिथ्या वचन बोलते हैं—कुछ जान-बूझकर किसी स्वार्थवश और कुछ भ्रान्त धारणा के कारण; और ये हमें नुकसान पहुँचाते हैं। यथार्थ में तो स्तुति-निन्दा, दोनों में ही हर्ष-विषाद-युक्त होना अनुचित है, पर स्तुति का अनादर करना चाहिए और निन्दा के शब्दों पर गहराई से ध्यान देकर अपनी त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। निन्दा करनेवाले का अनादर तो कभी करना ही नहीं चाहिए। मेरी इस मान्यता को जो ग्रहण करना चाहें, वे ही इस मान्यता के उत्तराधिकारी हो सकते हैं और वे अनेक हो सकते हैं।

मेरे जीवन में भी बहुत-सी कमजोरियाँ हैं। मुझसे अपराध बने हैं, उनके लिए मुझे पश्चात्ताप है; परंतु उनका उत्तराधिकारी मैं किसी को नहीं बनाना चाहता। मैं बड़े आग्रह से सबसे यह अनुरोध करता हूँ—मेरी बुराइयों की नकल कभी कोई भी किसी भी हालत में न करें। मेरे उन्हीं आचरणों की नकल करें, जो शास्त्रानुसार वास्तव में कल्याणकारी हों; जो जरा भी गिरानेवाले हों, उनको किसी भी रूप में तनिक भी स्वीकार न करें।

मेरे प्रिय चौपाई-दोहे-श्लोक-गीत

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस १।७।१)

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस ७।११२ ख)

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस ४।३)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गीता ६ । ३१)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६।३२)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६।२९)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६।३०)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७।१९)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७।१४)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गीता ११।५५)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
(गीता २।६४)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २।६५)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(गीता ३।३४)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५।२२)

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥'
(गीता ९।३३)

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(गीता ८।१५)

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(भागवत १।१८।१३)

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
(भागवत ७।१४।८)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशोद्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(भागवत ११।२।४१)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड १९।३५५-५६)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥
(गरुडपुराण २।३५।५१)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता १८।६५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८।६६)

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
(गीता २।५६)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(गीता ५।२०)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
(गीता १२।१७)

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
(ईशावास्योपनिषद् १)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईशावास्योपनिषद् ६)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईशावास्योपनिषद् ७)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठोपनिषद् २।३।१४)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २।७१)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(गीता ५।२९)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ४।३९)

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहु राम को, नाम जपु, 'तुलसी' तजि कुसमाजु ॥
'तुलसी' ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार ॥
(दोहावली)

बंगला गीत

आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार चरण धूलार तले।
सकल अहंकार हे आमार डुबाओ चोखेर जले ॥
निजेरे करिते गौरव दान निजेरे केवलि करि अपमान।
आपनारे शुधू घेरिया घेरिया घूरे मरि पले पले ॥ सकल०

आमारे ना येन करि प्रचार आमार आपन काजे।
तोमारि इच्छा कर हे पूर्ण आमार जीवन माझे ॥
याचि हे तोमार चरम शान्ति पराने तोमार परम कान्ति।
आमारे आड़ाल करिया दाँड़ाओ हृदयपद्म-दले ॥ सकल०

—श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोर

'हे प्रभो ! अपनी चरणधूलि के नीचे मेरे मस्तक को झुका दो। मेरे सारे अहंकार को आँखों के जल में डुबा दो—इतने आँसू बहें कि उसमें सारा अहंकार डूब जाय।

मैं अपने को गौरव देने जाकर केवल अपना अपमान ही करता हूँ। प्रतिपल केवल अपने को ही घेरे हुए घूमता रहता हूँ! मेरे सारे अहंकार को आँखों के जल में डुबा दो।

मैं अपने काम के लिए अब अपना प्रचार न करूँ। मेरे जीवन में हे प्रभो ! तुम अपनी इच्छा पूर्ण करो।

मैं चाहता हूँ तुम्हारी चरम शान्ति को; मैं चाहता हूँ प्राणों में तुम्हारी परम कान्ति को ! प्रभो ! मेरी आड़ देकर तुम हृदय-कमल पर खड़े हो जाओ। मेरे सारे अहंकार को आँखों के जल में डुबा दो।

परिशिष्ट—ग

काव्यांजलि

श्रीराधाकृष्ण चरण कमलेभ्यो नमः

वन्दना एवं प्रार्थना

प्रभो ! कृपा कर मुझे बना लो अपने नित्य-दास का दास ।
सेवा में संलग्न रहूँ उल्लसित नित्य, मन हो न उदास ॥

चिंतन हो न कभी भोगों का, नहीं विषय में हो आसक्ति ।
बढ़ती रहे सदा मेरे मन पावन प्रभु-चरणों की भक्ति ॥

कभी न निंदा करूँ किसी की, कभी नहीं देखूँ पर-दोष ।
बोलूँ वाणी सुधामयी नित, कभी न आये मन में रोष ॥

कभी नहीं जागे प्रभुता-मद, कभी न हो तिलभर अभिमान ।
समझूँ निज को नीच तृणादपि, रहूँ विनम्र, नित्य निर्मान ॥

कभी न दूँ मैं दुःख किसी को, कभी न भूल करूँ अपमान ।
कभी न पर-हित-हानि करूँ मैं, करूँ सदा सुख हित का दान ॥

कभी न रोऊँ निज दुःख में मैं, सुख की करूँ नहीं कुछ चाह ।
सदा रहूँ सन्तुष्ट, सदा पद-रति-रत, बिचरूँ बेपरवाह ॥

प्राणि-पदार्थ-परिस्थिति में हो कभी न मेरा राग-द्वेष ।
रहे न किंचित् कभी हृदय में जग-आशा-ममता का लेश ॥

मस्त रहूँ मैं हर हालत में, करूँ सदा लीला की बात ।
देखूँ सदा सभी में तुमको, सदा रहे जीवन अवदात ॥१॥

बंदौं राधा-पद-रज पावन ।
स्याम-सुसेवित, परम पुन्यमय, त्रिविध ताप बिनसावन ॥
अनुपम परम, अपरिमित महिमा, सुर-मुनि-मन तरसावन ।
सर्वाकर्षक रसिक कृष्णघन दुर्लभ सहज मिलावन ॥२॥

ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामें सिर दीजै ॥
आवत-जात कुञ्ज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
'श्रीराधे' 'राधे !' मुख—यह बर मुँह-माँग्यौ हरि दीजै ॥३॥

राधाजू ! मोपैं आजु ढरौ ।
निज, निज प्रीतम की पद-रज-रति मोय प्रदान करौ ॥
बिषम त्रिषय-रस की सब आसा-ममता तुरत हरौ ।
भुक्ति-मुक्ति की सकल कामना सत्वर नास करौ ॥
निज चाकर-चाकर-चाकर की सेवा-दान करौ ।
राखौ सदा निकुञ्ज निभृत में झाड़ूदार बरौ ॥४॥

बंदौं मधुर लाड़िलि-लाल ।
रूप-रस के दिव्य अनुपम उदधि अमित बिसाल ॥
स्याम घन तन, मुरलि कर बर, अधर मृदु मुसकान ।
सिर मुकुट-सिखिपिच्छ सोहत, सुभग दृग रसखान ॥
नित्य अतुल अचित्य गुन, सौंदर्य-निधि अभिराम ।
रूप राधा मदनमोहन-हृदय-हरन ललाम ॥
चन्द्रिका सिर सोह, मोहन नयन, मुख मृदु-हास ।
कर रची मेंहदी, सजे तन दिव्य भूषन-बास ॥
तरु-लता-पल्लव-सुमन-सिखि जुत अरन्य सुठाम ।
स्याम-राधा मुदित ठाढ़े कदँव-तल सुखधाम ॥५॥

परम गुरु राम मिलावनहार ।
अति उदार, मंजुल मंगलमय, अभिमत-फलदातार ॥
टूटी-फूटी नाव पड़ी मम भीषण भव-नद-धार ।
जयति-जयति जय देव दयानिधि ! बेगि उतारौ पार ॥६॥

करो प्रभु ! ऐसी दृष्टि-प्रदान ।
देख सकूँ सर्वत्र तुम्हारी सतत मधुर मुसकान ॥
हो चाहे परिवर्तन कैसा भी अति क्षुद्र, महान ।
सुन्दर-भीषण, लाभ-हानि, सुख-दुख, मान-अपमान ॥
प्रिय-अप्रिय, स्वस्थता-रुग्णता, जीवन-मरण-विधान ।
सभी प्राकृतिक भोगों में हो भरे तुम्हीं भगवान ॥
हो न उदय उद्वेग-हर्ष कुछ, कभी दैन्य-अभिमान ।
पाता रहूँ तुम्हारा नित संस्पर्श बिना-उपमान ॥७॥

दयामय ! मोहि दासता दीजै ।
सहज कृपाबस, दीनबन्धु ! अपनौ सेवक करि लीजै ॥
अवगुन-खान, भर्‌यौ मल सौं मन, हौं अति मूढ़ गँवार ।
सेवा की नहिं नैंक जोग्यता, नहिं सेवा-अधिकार ॥

छोटे मुँह अति बड़ी चीज मैं माँगी, कृपा-निधान ।
एक भरोसौ प्रबल बिरुद कौ, अघहारी भगवान ।।
निज दासनि में प्रभु जब मोकूँ करि लैंगे स्वीकार ।
पाप-ताप तब छिन में जरि-बरि सभी होंयँगे छार ।।८।।

हे यंत्री ! तुम मुझे बना लो यन्त्र तुम्हारा, सर्वाधार !
अपना कुछ भी रहे न मुझमें, मिटे सभी अभिमान-विकार ।।
जो कुछ हो फिर, सभी तुम्हारे ही मन का हो मेरा कार ।
भर जायें अणु-अणु में मेरे सभी तुम्हारे गुण-आचार ।।
जहाँ निराशा हो छायी, मैं करूँ वहाँ आशा-संचार ।
जहाँ विषाद भरा हो, भर दूँ वहाँ अलौकिक हर्ष अपार ।।
जहाँ अमित अपराध, करूँ मैं वहाँ क्षमा का शुचि विस्तार ।
जहाँ अँधेरा छाया, मैं प्रकटा दूँ वहाँ प्रकाशागार ।।
जहाँ वैर-विद्वेष, जोड़ दूँ वहाँ प्रेम का पावन तार ।
जहाँ भरा हो भय पद-पद, फैला दूँ वहाँ अभय-अनिवार ।।
जहाँ भोग-रति अति हो, कर दूँ वहाँ विरतिमय सब व्यवहार ।
जहाँ भरा अज्ञान, खोल दूँ वहाँ ज्ञान का मैं भण्डार ।।
करूँ सभी, पर करूँ न कुछ भी, जड़ पुतली की भाँति असार ।
एक तुम्हारी ही लीला की हो अभिव्यक्ति अनेक प्रकार ।।९।।

दुःख दूर मत करो नाथ ! दो शक्ति घोर दुःख सहने की ।
दुःख में किन्तु कृपा-सुख अनुभव कर, कृतज्ञ हो रहने की ।।
सुख मत दो, पर हरण करो हरि ! भोग-सुखों की सारी भ्रान्ति ।
देख सदा सर्वथा कृपा तव अनुभव करे चित्त नित शान्ति ।।

दुःख में कभी न रोऊँ मैं, सुख में भी कभी न फूलूँ ।
दुःख-सुख उभय वेष में लूँ पहचान तुम्हें, न कभी भूलूँ ।।
सुख में कभी न जागे मेरे मन में किंचित् भी अभिमान ।
दुख में तुम पर कभी न हो संदेह तनिक, मेरे भगवान ।।१०।।

नाथ ! हौं निपट निरंकुस नीच ।
नरक-कीट मैं पर्‍यौ रहौं नित पाप-ताप के कीच ।।
करौं भगति की बात मनोहर, भीतर भरे बिकार ।
अंतरजामी तुमहू तें मैं करौं कपट-ब्यौहार ।।
निज सुभावबस, नाथ दयाकर ! पकरि उधारौ हाथ ।
पाप-प्रबाह पतित पामर कौं करौ, कृपालु ! सनाथ ।।११।।

तुमने दिया सदा ही मुझको, अपना प्यार-दुलार महान।
मैंने सिर न चढ़ाया उसको, किया निरंतर ही अपमान ॥
मैं कृतघ्न अति, नीच नराधम, सभी भाँति अति हीन, मलीन।
दीनबन्धु ने दोष न देखे, अपना लिया, जान जन दीन ॥
जैसे स्नेहमयी माँ शिशु का मल धोती, नहलाती आप।
स्नेह-सिंधु तुमने वैसे ही किया विशुद्ध, मिटा मल-ताप ॥
मेरी निपट नीचता अतिशय, दया तुम्हारी अमित, अपार।
सहज दयावश भस्म कर दिया तुमने मेरा अघ-सम्भार ॥
चरण-शरण मिल गयी सदा को, छाया सुधानन्द सब ओर।
उदय हो गया प्रेम-सूर्य अब, मिटा मोह-माया-तम घोर ॥१२॥

खड़ा अपराधी प्रभु के द्वार।
न्याय चाहता, क्षमा नहीं, दो दण्ड दोष-अनुसार ॥
अर्थ दण्ड देना चाहो तो करो स्वार्थ सब छार।
रहने मत दो कुछ भी इसके 'अपना' 'मेरा'-कार ॥
कैद अगर करना चाहो तो प्रेम-बेड़ियाँ डार।
रक्खो बाँध इसे नित निज चरणों के कारागार ॥
निर्वासित करना चाहो तो लूटो घर-संसार।
पहुँचा दो सत्वर दोषी को भव-समुद्र के पार ॥
कभी न आने दो फिर वापस, मरने दो बेकार।
बह जाने दो इसे जहाँ सच्चिदानंद की धार ॥१३॥

करुणामय ! उदार चूड़ामणि ! प्रभु मुझको यह दो वरदान।
देखूँ तुम्हें सभी में, सभी अवस्थाओं में हे भगवान ॥
शब्द मात्र में सुन पाऊँ मैं नित्य तुम्हारा ही गुण-गान।
वाणी में गाऊँ मैं गुणगण, नाम तुम्हारे ही रसखान ॥
कर्म नित्य सब करें तुम्हारी ही सेवा, पावें उत्कर्ष ॥
बुद्धि, चित्त, मन रहे सदा ही एक तुम्हारी स्मृति में लीन।
कभी न हो पाये विचार-संकल्प-मनन प्रभु ! तुमसे हीन ॥
सदा तुम्हारी ही सेवा में सब कुछ रहे सदा संलग्न।
यही प्रार्थना—रहूँ तुम्हारे पद-रति-रस में नित्य निमग्न ॥१४॥

जीवन को संगीत बना दो।
मेरी हृत्तन्त्री के तारों से सबको मधु तान सुना दो ॥
मेरे जीवन के मधु-रस से सबके जीवन को सरसा दो।
मेरी हँसी सुख-भरी से तुम सबको हे ! दुखमध्य हँसा दो ॥

सबके दुख में मेरे सुख को धन्य बनाकर नाथ ! मिला दो ।
निज पद-कमल-सुधा-रस-सरिता-तट पर सबको स्थान दिला दो ॥१५॥

बना दो बुद्धिहीन भगवान ।
तर्क-शक्ति सारी ही हर लो, हरो ज्ञान-विज्ञान ।
हरो सभ्यता, शिक्षा, संस्कृति नये जगत की शान ॥
विद्या-धन-मद हरो, हरो हे हरे ! सभी अभिमान ।
नीति-भीति से पिण्ड छुड़ाकर करो सरलता-दान ॥
नहीं चाहिए भोग-योग कुछ, नहीं मान-सम्मान ।
ग्राम्य, गँवार बना दो, तृण-सम दीन, निपट निर्मान ॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धा से करो प्रेम का दान ।
प्रेम-सिन्धु ! निज मध्य डुबाकर मेटो नाम-निशान ॥१६॥

मैंने कभी न चाहा तुमको, तुमने चाहा बारम्बार ।
बिना बुलाये ही आ हिय में, दर्शन दिये, किया अति प्यार ॥
नित आदर के बदले तुमने मुझसे पाई नित दुतकार ।
दूर चले जाने पर मुझको खींच लिया निज भुजा पसार ॥
'लौटो, उस पथ पर मत जाओ'—कहा कान में कितनी बार ।
तब भी चला गया, लौटाने को तुम दौड़े प्रिय ! हर बार ॥
चिर अपराधी, पापी का तुमने हँस उठा लिया सब भार ।
मेरी निज-निर्मित विपदा से गोद उठाकर लिया उबार ॥१७॥

श्रीराधा-माधव-स्वरूप-माधुरी

हरत मन माधव कंचन-गोरी ।
राधा-अनियारे-रतनारे लोचन सौं, कछु भौंह मरोरी ।
पग-पैंजनि, दोउ चरन महाबर, करधनि-धुनि मनु मधु-रस-घोरी ॥
दरपन कर, सोहत मुकता-मनि-हार हृदै, मृदु हँसनि ठगोरी ।
नैननि बर अंजन मन-रंजन, चित्त-बित्त-हर नित बरजोरी ॥
नीलबसन, सरदिंदु दसन दुति, बेंदी सेंदुर-केसर-रोरी ।
सहज मथत मन्मथ-मन्मथ मन दिब्य छटा बृषभानु-किसोरी ॥१८॥

दोऊ सदा एक रस पूरे ।
एक प्रान, मन एक, एक ही भाव, एक रँग रूरे ॥
एक साध्य, साधनहू एकहि, एक सिद्धि मन राखैं ।
एकहि परम पवित्र दिब्य रस दुहूँ दुहूँनि कौ चाखैं ॥
एक चाव, चेतना एक ही, एक चाह अनुहारैं ।
एक बने दो एक संग नित बिहरत एक बिहारैं ॥१९॥

दुहुनि की प्रीति अनादि, अनोखी ।
परम मधुर मूरति सनेह की, चिदानन्दमय चोखी ॥
मन-बचननि ते परे दिव्य दम्पति अनादि अति सोहनि ।
पटतर नहिं कोउ, भई, न होइहै, जोड़ी मोहन-मोहनि ॥
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ नित ही, नित्य एक द्वै देही ।
नित्य रास-रस-मत्त, मत्ततारहित सुचारु सनेही ॥
व्रज-निकुञ्ज प्रगटे दोउ रसमय, रसिक जननि सुख-हेतु ।
करत नित्य लीला तहँ सुललित लोकोत्तर रस-केतु ॥
सेवक मोहि करो दोउ रसनिधि, करि अति नेह अकारन ।
राखौ चरननि में नित अपुनें, करि बिष-बिषय-निवारन ॥२०॥
बिराजत रासेस्वरि-रसराज ।
गौर-स्याम तन नील-पीत पट सजे मनोहर साज ॥
चंचल चपल नैन की चितवनि चित उपजावत मोद ।
मधुर बचन रसभरे कहि-कहि करत बिनोद ॥
कलित केलि कमनीय अलौकिक रस आनन्द अनूप ।
पल-पल बढ़त भाव माधुरि सुचि, बिकसत नव-नव रूप ॥२१॥

श्रीराधा-माधव-लीला-माधुरी

व्रजेस्वरि-गोद में गोबिन्द ।
चकित दृष्टि, पद-कमल अँगूठा चूसत मुख-अरविन्द ॥
बाल मुकुन्द, केस घुँघुरारे, सिर सिखिपिच्छ अनूप ।
बाजूबंद, बघनखा, करधनी, पग पैंजनि अतिरूप ॥
निरखि रही मैया मुख-कमलहि स्नेह दृगनि, मृदुहास ।
कोमल कर सौं दिये सराहौ मन अतिसै उल्लास ॥२२॥
सखनि संग खेलत दोऊ भैया ।
रुचिर खेल बहु भाँति, मुदित मन दाऊ, कुँअर कन्हैया ॥
धावत मिलि गैयन के पाछें, बोलत 'हैया-हैया' ।
ईस्वरपनौ बिसारि, अग्य-से नाचत 'ताता-थैया' ॥
कोमल किसलय लेइ बनाई एक नैक-सी नैया ।
लाइ तराय दई जमुना में हँसि-हँसि जात बलैया ॥
डूबन लगी तरी जल में तब, 'हा मैया री मैया' ।
लगे पुकारन-'नारायन ! अब तुम ही बनो खेवैया' ॥
लरत कबौं, रूठत, रिझवत, पुचकारत दै गलबैयाँ ।
धन्य-भाग ये हरि के प्यारे नैक-नैक से छैया ॥२३॥

पनघट पर हरि करत अचगरी।
ग्वाल-सखा लै संग छरनि तें ढुरकावत, फोरत जल-गगरी ॥
हँसि-हँसि हो-हो करि दिखरावत आँखि, करत सब मधुर मसखरी।
आगें-पाछे धाय, आय सामुहे, ठाढ़ ह्वै रोकत डगरी ॥
भई ग्वालिनीं बिकल सकल, पै मन मुसुकात मुदित ह्वै सगरी।
बोलीं—'अरे ऊधमी लाला! क्यौं नित करौ बात ये लँगरी' ॥२४॥

ब्रज की बड़ी अनूठी बात।
जाकी सुषमा हित सुषमानिधि राम-स्याम ललचात ॥
बस्यौ बसंत आय वृन्दाबन, ब्रज तजि कबहुँ न जात।
जल-थल अमल, बिमल कल कुंजनि, बहत सुसीतल बात ॥
कोकिल कुहू-कुहू करि कूजत, गुञ्जत मधुकर व्रात।
केकी, कीस, कुरंग कुलाहल करत न काहु डरात ॥
खेलत बछरा बाल स्याम सँग, अतिसय हिय हुलसात।
निरखि-स्याम-तन-सुषमा खग-मृग, निरखत ही रहि जात ॥२५॥

निकुञ्ज-लीला

बिराजित स्यामा-स्याम निकुञ्ज।
गौर स्याम बदनारबिन्द अनुपम सुषमा सुख-पुंज ॥
घुँघराली अलकावलि बिथुरी छाई कलित कपोल।
बाँई बाँह स्याम की सोभित स्यामा-कंठ अतोल ॥
दोनों के दृग बने मधुप दोनों के बदन सरोज।
करत परस्पर पान सुधारस, लाजत अमित मनोज ॥
प्रेम भरी सुचि सखी-मंजरी ठाढ़ीं सब चहुँ पास।
निरखि मनोहर मधुर जुगल-छबि हिय अति भर्‍यौ हुलास ॥२६॥

मिलन लीला

थके पर छके न रस के प्यासे।
रहत सतत रस-पान-निरत नित नूतन भाव-विकासै ॥
ज्यौं-ज्यौं पियत प्यास त्यौं बाढ़त, मधुर स्वाद उदभासै।
महाभाव-रसराज-सिरोमनि दोऊ प्यारी-प्यारे ॥
लीला-रस-रत लखि सखि प्रमुदित भूली अग-जग सारे ॥२७॥

झूलन-लीला

झुलावत स्यामा-स्याम-कुमार।
हेम-रत्न-निर्मित झूला पर, रुचिर रेसमी डोरी डार ॥

मन अति मुदित झुलावति गोरी, सहि न सकति स्रम तन सुकुमार।
सोहत ललित कपोल भाल पर स्वेद-बिंदु श्रम-जनित अपार ।।
कूदि परे लखि स्रमित श्रीमती, झट झूले का कर परिहार।
बैठारी कर-कमल पकरि कैं निज कर, उर भरि अतिसय प्यार ।।
कोमल कुसुम-कली मंडित सिंहासन पर, प्रिय अमित उदार।
निज पट-अंचल पौंछे निज कर स्वेद-वारि-कन नंद कुमार ।।
ललितादिक सखियन बैठारे जीवन-धन करि अति मनुहार।
आदर सहित मधुर बानी सौं, करन लगीं सौरभित बयार ।।२८ ।।

बिरह एवं उद्धव-लीला

तिहारौ बिरह दुःख-सुख-रूप।
कबहुँ हँसावत, कबहुँ रुवावत, बिबिध भाव अनुरूप ।।
जब तुम्हरे रस-सुन्दर मोहन सुख की आवै याद।
तब बहि चलै प्रेम-सुख-सरिता, तजि कैं सब मरजाद ।।
जब अमिलन की दुखद भावना मेरे मन में आवै।
तब अति दारुन दुःख अनल प्रगटै तन-मनहि जरावै ।।
जब मन सुमिरन करै अननि ह्वै मधुर दिव्य रसराज।
तब उमड़ै आनन्द-सुधानिधि डूबै दुःख-समाज ।।
जब मन महँ प्रत्यच्छ दरस की अति उतकंठा जागै।
तब अतिसय संताप बिरह कौ उमगै, सब सुख भागै ।।२९।।

राधा की सुधि करत कन्हाई।
कहत रूप-गुन-सील प्रिया के, धीरज चला पराई ।।
प्रगटी प्रिया-मूर्ति नभ स्मृति अनुरूप मंजु छबि छाई।
मृदु मुसकान, तदपि मुख पंकज रह्यौ मनौं कुम्हिलाई ।।
थिर सब अंग, नैन नीचे थिर, सहज समाधि लगाई।
प्रिय-उर-भाव प्रगट भये सगरे मूर्तिवंत ह्वै आई ।।
लखि लच्छन विरुद्ध-धर्माश्रय, मगन भये जदुराई।
हर्ष-विषाद भरी मुख-छबि वह, हरि-हिय माँझ समाई ।।
ढरै अश्रु-मुक्ता ऊधौ-दृग, स्नेह-सुधा सरसाई।
अकथ कहानी दिब्य प्रेम की, कैसेहुँ कही न जाई ।।३०।।

प्रेम-समुद्र की मधुर तरङ्गें

सजनी ! चलु वा पिय के देस।
जहँ न मोह-ममता की रजनी, जहँ न बिछोह-कलेस ।।

जहँ नहिं आवन-जावन कितहूँ, पिय सँग नित्य मिलाप।
जहँ न ग्राम्य-चर्चा कौ डर कछु, जहँ न अजस कौ पाप ॥
जहँ नहिं होत अंग-सँग कबहूँ, मिले रहैं दिन-रैन।
बिछुरत नाहिं एक पल मन सौं, मृतक-सजीवन-मैन ॥
सहज अकिंचन तन-मन सगरे भरे रहैं पिय-नेह।
आठों जाम धाम प्रियतम कें बरसत रस कौ मेह ॥३१॥

सखी री ! यह अनुभव की बात।
प्रतिपल दीखत नित नव सुंदर, नित नव मधुर लखात ॥
छिन-छिन बढ़त रूप-गुन-माधुरि, छिन-छिन नूतन रंग।
छिन-छिन नित नव आनन्द धारा, छिन-छन नई उमंग ॥
नित नव अलकनि की छबि निरखत अलि-कुल नित नव लाजै।
नित नव सुकुमारता मनोहर अंग-अंग प्रति राजै ॥
नित नव अंग-सुगंध मधुर अति मनहि मत्त करि डारत।
नित नव दृष्टि सुधामइ जन के पाप असेष निवारत ॥
नित नव अरुनाई अधरन की, नित नूतन मुसक्यान।
नित नूतन रस-सुधा-प्रवाहिनि, मधु मुरली की तान ॥
नित नूतन तारुन्य, ललित लावन्य नित्य नव बिकसै।
नित नव आभा बिबिध बरन की पिय के तनु तैं निकसै ॥
कछुवै होत न बासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत।
देखत-देखत जनम सिरान्यौ, तऊ नैन नित तरसत ॥
वे ही आत्मा के प्रिय आत्मा, मम प्राननि के प्रान।
मेरे परम प्रान बल्लभ वह, प्रानाराम सुजान ॥
तेरे अनुभव की तू जानै, तेरी बुद्धि बिसाल।
मैं तौ अपने मन नित निरखौं नित-नूतन नंदलाल ॥
एक बेर तू नैकु निरखि लै वा जादू की झाँकी।
फिरि तौ तू नहिं मानैगी बिनु देखे वा छबि बाँकी ॥३२॥

शरणागति एवं गोपी-प्रेम महिमा

जाकौं प्रभु अपनों करि लीन्हों।
जाकौ चरन-सरन दे सबसौं सहज अभय करि दीन्हों ॥
जाकौ हृदय लगाय कह्यौ—'तू सबै भाँति जन मेरो'।
सो क्यों होय सोच-चिंता बस प्रभु चरननि को चेरो ॥
जग के दुःख दोष नहिं कबहूँ, ताकों भेंटन आवैं।
दूरहि तैं तेहि देखि सुरच्छित, दौरि सबै दुरि जावैं ॥

सुर मुनि सिद्ध सुयोगी ताकौ भाग्य सराहत थाकैं ।
अखिल विश्वपति प्रभु सुख मानत, गले लगत अति जाकैं ॥३३॥

जितना-जितना मन से आत्मसुखेच्छा का होता है त्याग ।
उतना-उतना ही विशुद्ध बनता जाता मन का अनुराग ॥
फिर केवल प्रियतम-सुख की ही एक अभीप्सा उठती जाग ।
फिर केवल उस प्रिय-सुख का ही साधन बन रहता बड़ भाग ॥
स्तुति-निन्दा, शुभ-अशुभ, प्रिया-प्रिय, लाभ-अलाभ, मान-अपमान ।
बन्धन-मोक्ष, नरक-सुरपति गृह हो जाते सब द्वन्द समान ॥
एकमात्र प्रियतम-सुख जीवन, एकमात्र प्रियतम भगवान ।
राधा-गोपीजन का पावन दुर्लभ यही स्वरूप महान ॥३४॥

श्रीराधा-कृष्ण-जन्म-महोत्सव

जयति जय श्रीबृषभानु-दुलारी ।
जयति कीर्तिदा जननी, जाई जिन गुन-खानि राधिका प्यारी ।
जय बृषभानु महीप-मुकुट-मनि, जिन घर जनमी जग-उजियारी ॥
कृष्णा, कृष्णजीवना, कृष्णाकर्षिनि कृष्ण-प्रान-आधारी ।
परम प्रेम प्रतिमा परिपूरन, प्रिय-सुख अति सुख माननिहारी ॥
प्रिय-सुख-समैं परम चतुरा नित, निज सुख समैं सुभोरी-भारी ।
प्रिय-सुख लागि बिसरि सब अग-जग, सहित समोद प्रसंसा-गारी ॥
टेक-बिबेक एक प्रियतम सौं, सब के सब संबंध निवारी ।
भजत-भजत भजनीय भई अब, तुम्हरौ भजन करत, कंसारी ॥३५॥

श्रीराम-गुण-गान

ऐसे राम गरीब-निवाज ।
आपहुँ ते बढ़ि अपुनेहिं मानत होन न देत अकाज ॥
बन्धु-बिरोधि बिलोकि बिभीषन कोपेउ निसिचरराज ।
छाँड़ी सक्ति तासु बध-कारन सहमेउ सकल समाज ॥
प्रनतपाल प्रभु लखि तेहिं आवत राखन निज पन-लाज ।
पाछे करि लंकेस सही सो सनमुख गुरुतर गाज ॥
ऐसिहुँ प्रनत-प्रबनता लखि मन आवत तोहि न लाज ।
छाँड़ि सकल जंजाल भजत किन प्रभु-पद जगत-जहाज ॥३६॥

आरति कीजै श्रीरघुबर की ।
सत चित आनन्द शिव सुन्दर की ॥ टेक ॥

दशरथ-तनय कौसिला-नन्दन,
सुर-मुनि रक्षक दैत्य-निकन्दन,
अनुगत-भक्त भक्त-उर-चन्दन,
मर्यादा-पुरुषोत्तम-वर की।

निर्गुण-सगुण, अरूप-रूपनिधि,
सकल लोक-वंदित विभिन्न विधि,
हरण शोक-भय, दायक सब सिधि,
माया रहित दिव्य नर-वर की ॥

जानकिपति सुराधिपति जगपति,
अखिल लोकपालक त्रिलोक-गति,
विश्ववन्द्य अनवद्य अमित-मति,
एकमात्र गति सचराचर की।

शरणागत-वत्सल व्रतधारी,
भक्त-कल्पतरु-वर असुरारी,
वानर-सखा दीन-दुख-हर की ॥३७॥

भगवान का स्वभाव

हरि सम हरि ही हितू हमारौ।
आश्रय एक दीन-पतितन कौ, सहज सहाय, सहारौ ॥
अवगुन-दोष गिनत नहिं एकहु सरनागत के भारी।
निज अवलंबन देय, मिटावत जन की पीड़ा सारी ॥
अभय करत निज दया-दान दै, भय-विषाद हर सारे।
पठवत अन्त दिब्य निज धामहि, निज सुभाव सौं हारे ॥३८॥

श्रीभगवन्नाम-महिमा

भली है राम-नाम की ओट।
जिन्ह लीन्हीं तिनके मस्तक तें टरी पाप की पोट ॥
राम-नाम सुमिरन जिन्ह कीन्हो लगी न जम की चोट।
अन्तःकरन भयो अतिनिरमल, रही तनिक नहिं खोट ॥
राम-नाम लीन्हैं तें जर गइ माया-ममता-मोट।
राम-नाम ते मिले राम, जग रह गयो फोकट-फोट ॥३९॥

चेतावनी

मन, कछु वा दिन की सुधि राख।
जा दिन तेरे तनु-दुकान की उठि जैहैं सब साख ॥

इन्द्रिय सकल न मानहिं अनुमति छोड़ चलैं सब साथ।
सुत, परिवार, नारि नहिं कोऊ पूछैं दुख की गाथ॥
वारँट लै जम-दूत आइ तोहि पकरि बाँधि लै जाय।
कोउ न बनै सहाय काल तिहि देखत ही रहि जाय॥
जम के कारागार नरक महँ अतिसय संकट पाय।
बार-बार करनी सुमिरन करि सिर धुनि-धुनि पछिताय॥
जो यहि दुख तें उबरो चाहै तो हरि-नाम पुकार।
राम-नाम ते मिटैं सकल दुख, मिलै परम सुख-सार॥४०॥

अभिलाषा

मुझसे कभी किसी प्राणी का हो जाये न अहित-अपमान।
सब में तुम्हीं दिखाई दो, हो सबका मुझमें हित सम्मान॥
दुःख मिटाने में औरों के, अपना सुख कर दूँ बलिदान।
बढ़ते देख दूसरों के सुख, मैं पाऊँ आनन्द महान॥
अपने छोटे-से अघको मैं मानूँ बहुत बड़ा अपराध।
कभी न देखूँ दोष पराया, गुण सबके देखूँ निर्बाध॥
घृणा करूँ मैं नहीं किसी से, रहूँ सदा दुष्कृत से दूर।
आने दूँ कुविचार न मन में, रक्खूँ सद्विचार भरपूर॥
बुरे सङ्ग से बचा रहूँ, नित करूँ प्रेमियों का सत्संग।
रँगा रहे जीवन मेरा मधु पावन प्रेम-भक्ति के रंग॥४१॥

मो कों कछू न चहिये राम।
तुम बिन सबही फीके लागैं, नाना सुख धन-धाम॥
सुन्दरि, संतति, सेवक, सब गुन, बुधि बिद्या भरपूर।
कीरति, कला-निपुनता, नीती, इन कौं रखिये दूर॥
आठ-सिद्धि, नौ-निद्धि आपनी और जनन कौं दीजै।
मैं तौ चेरो जनम-जनम कौ, कर धरि अपनौ कीजै॥४२॥

चहौं बस एक यही श्रीराम।
अविरल अमल अचल अनपाइनि प्रेम-भगति निष्काम॥
चहौं न सुत-परिवार, बन्धु-धन, धरनी, जुवति ललाम।
सुख-वैभव उपभोग जगत के चहौं न सुचि सुर-धाम॥
हरि-गुन सुनत-सुनावत कबहूँ मन न होइ उपराम।
जीवन-सहचर साधु-संग सुभ, हो संतत अभिराम॥
नीरद नील नवीन बदन अति सोभामय सुख धाम।
निरखत रहौं बिस्वमय निसि-दिन, छिन न लहौं बिस्राम॥४३॥

अनुभूति

जब ते हिये बिराजे स्याम ।
तब ते बन्यौ मंजु-रस मंदिर पावन परम ललाम ॥
जग के राग-कामना-ममता-मोह-मान-मद-रोष ।
लोभ, दम्भ, भय, सोक, ईरिषा, मत्सर, हिंसा दोष ॥
मंदिर में न रहन कोउ पावत छिनहूँ करि परबेस ।
भानु उदै जिमि तनिक अँधेरौ रहन न पावत सेस ॥
प्रगट भये सब लीला-परिकर, उद्दीपन-सम्भार ।
उमग्यौ रस-बारिधि तजि तट-भुवि, बही सुधारस धार ॥
चल्यौ प्रिया-प्रीतम कौ चिन्मय रसमय रास-बिलास ।
सेवा-सुख संलग्न सखी सब उर अति भन्यौ हुलास ॥
छायौ प्रखर प्रकास सकल दिसि, आत्यन्तिक आनन्द ।
नित नव नव निरुपम रस-लीला प्रगटत सुचि सुच्छन्द ॥४४॥

अन्तर में हो रहा खेल अति मधुर बिलक्षण ।
बाहर कैसे दीखे वह निश्शब्द, अलक्षण ॥
कौन बताये ? किसे ? वहाँ के कैसे अनुभव ।
आ न सके पल एक छोड़कर वह रस नित नव ॥
बाहर आते समय रोक देती वह लीला ।
भीतर ही हैं रमा रही वह चारु सुशीला ॥
उस लीला का त्याग बड़ा ही कठिन असम्भव ।
इसीलिए बन रहा नहीं बाहर कुछ सम्भव ॥
चलती लीला ललित अपरिमित नित नव नूतन ।
कुसुम सरोवर ही क्यों, अगणित सर-निकुञ्ज-वन ॥
मधुर, मनोहर, सुधामयी लीला नित होती ।
जगी उसी में वृत्ति, बाह्य जग में वह सोती ॥
मन इन्द्रिय, सब अंग, बुद्धि उसमें ही तन्मय ।
हुए इसी से बाह्य बुद्धि के कार्य सभी लय ॥४५॥

तुमने जो कहलाया मुझसे, वही कहा मैंने अविकल ।
तुमने जो करवाया मुझसे, वही किया मैंने निश्छल ॥
तुमने जो सिखलाया मुझको, सीखा मैंने वही सकल ।
तुमने जो दिखलाया मुझको, देखा मैंने वही अकल ॥
यह जो कुछ भी कहा, किया, सीखा, लेखा मैंने प्रियतम !
सो सब तुमने ही अपने में अपनी की लीला उत्तम ॥

मन-मति होते कैसे मुझमें, जब मैं ही हूँ नहीं स्वयम।
बना तुम्हारा ही सुख-सदन, तुम्हीं इसमें रहते हरदम ॥४६॥

हुआ जब से मैं तुम्हारा, भूलकर सम्बन्ध सारे।
तभी से आने लगे क्रमशः सभी सद्‌गुण तुम्हारे ॥
वस्तु जो विपरीत थी, या थी विरोधी भाव-धारा।
मिटी अपने-आप सारी, रह गया कोई न चारा ॥
सूर्य के शुभ उदय से ज्यों नष्ट होता सब अँधेरा।
मिटा त्यों संचित युगों से था तिमिर उर में घनेरा ॥
हुआ ज्यों खाली हृदय, त्यों ही जला कूड़ा-कबाड़ा।
आ विराजे तुम सदल-बल, जम गया पूरा अखाड़ा ॥
अब तुम्हारे इस भवन में अन्य कोई आ न पाता।
छा रहे सर्वत्र तुम, कोई यहाँ कैसे समाता ?
चल रही लीला तुम्हारी, बना लीला-धाम जीवन।
दे रहा आनन्द सबको बना सबका सहज निज जन ॥४७॥

जीवन में मेरे शक्ति तुम्हारी आई।
जीवन में मेरे शान्ति तुम्हारी छाई ॥
मिल गया मुझे जीवन में तेज तुम्हारा।
मेरे मस्तक पर हस्तसरोज तुम्हारा ॥
है दिव्य प्रेम को मैंने तुमसे पाया।
है हृदय तुम्हारा रूप अनूप समाया ॥
तुम बसे हृदय निज गृह में प्राण-पियारे।
आनन्द-सूर्य में मिटे द्वन्द-तम सारे ॥४८॥

मेरे द्वारा होता जो कुछ, करते वह सारा भगवान।
'मैं' न रहा, 'मेरा' न रहा कुछ, कर्त्ता कौन, कहाँ अभिमान ॥
ढाँचा एक बना रक्खा है अपने से ही अपने काम।
नियमित सब चलते कल-पुर्जे, होती दिखती क्रिया तमाम ॥
भोग-त्याग, ममता-निर्ममता, अकुशल-कुशल सभी व्यापार।
लीलामय कर रहे स्वयं ही लीला निज-इच्छा अनुसार ॥
नहीं बच रहा करने वाला, करना, करने योग्य पदार्थ।
मिटा स्व-पर, हो गये एक, अविभक्त स्वार्थ, सारे परमार्थ ॥४९॥

भला किया प्रभु ! तुमने मुझको देकर कटु औषधका दान।
भला किया तन चीर निकाला अन्दर का मवाद भगवान ॥

भला किया जो छीना तुमने मीठा जहर भोग का घोर।
भला किया जो दिया अभावों का पूरा समूह सब ओर॥
भला किया जो छीन मान-विष, दिया सुधा-सुन्दर अपमान।
भला किया जो छुड़ा दिया दुस्संग भोगियों का अघ-खान॥
मिटा मोह, मद ढहा, घटा सब विषयों का दुःखद व्यामोह।
बड़ी कृपा की कृपासिंधु ! तुमने हरि ! चिदानन्द संदोह॥५०॥

करुणाकर निकाल नरकों से दिया पराश्रय शुचि सुख-मूल।
सहज अहैतुक सुहृद ! मिटा दी मेरी मोह-जनित सब भूल॥
भोग-वासना कभी न उपजे, कभी न जागे ममता-राग।
छूटे नहीं चरण-आश्रय अब, बढ़ता रहे शुद्ध अनुराग॥५१॥

देख दुःख का वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरों के साथ॥
नाथ ! छिपा लो तुम मुँह अपना, चाहे अति अँधियारे में।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोने में, जग सारे में॥
रोग-शोक, धन-हानि, दुःख, अपमान घोर, अति दारुणक्लेश !
सबमें तुम, सब ही है तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेश॥
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब मैं फिर किसलिए डरूँ।
मृत्यु-साज सज यदि आओ, तो चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख-वेष धारणकर, नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें, मैं पकड़ूँगा जोरों के साथ॥५२॥

मृत्यु ! भयानक आयी तुम, ले प्रियतम प्रभु का मधु संदेश।
तोड़ सभी माया के बन्धन, की मिथ्या ममता निःशेष॥
रहने कहीं न दिया तनिक भी मिथ्या अहंकार का लेश।
चला दिया तुरंत उस पथ पर, जो जाता प्रियतम के देश॥
जन्म-मरण के क्लेश, भविष्यत् के कर सभी नष्ट सविकार।
अमर बनाया, दिला दिया प्रभु पद में नित निवास-अधिकार॥
मुक्तिदायिनी, प्रभु-पद-प्रेमप्रदायिनि मृत्यु परम सुखरूप !
करो कृतार्थ मुझे तुम लेकर निज प्रभाव में अमल-अनूप॥
स्वागत-अर्घ्य कृतज्ञ हृदय का करो कृपा करके स्वीकार।
करता मैं शुचि सुरभित मन-सुमनों से पूजन बारंबार॥५३॥

भूला मैं, पहचान न पाया मृत्यु-वेश में तुमको, नाथ !
तुम्हीं रूप धर घोर मृत्यु का, आये करने मुझे सनाथ॥

लीलामय लीला विचित्र अति, कोई भी न पा सका पार।
तुम्हीं पिलाते स्वयं कृपा कर रूप-सुधा निज मधुर अपार ॥
कर आवरण भङ्ग तुमने ही माया का कर पर्दा छिन्न।
देकर मुझे गाढ़ आलिङ्गन, किया सदा के लिए अभिन्न ॥५४॥

अति आश्चर्य, बदल दी तुमने मेरी दृग पुतली, प्राणेश!
दीख रहे अब मुझको तुम सर्वत्र सभी में, हे हृदयेश!
मानव की क्या बात, सुरासुर, पशु-पक्षी सब, कीट-पतंग।
जल-थल-अनल-अनिल-नभ सब ही एक तुम्हारे ही श्रीअंग ॥
वृक्ष-लता-गिरि-कूट, नदी-नद दिशा-सूर्य शशधर-नक्षत्र।
मुझे दीखते तुम प्रियतम! जीवन के जीवन! नित सर्वत्र ॥
सबका स्पर्शित पवन, सभी का पद रज अमल परम पावन।
सदा समादरणीय, सदा शुचि, सेवनीय, मम मनभावन ॥५५॥

भर गया मेरे हृदय में नित्य दिव्य प्रकाश तेरा।
मिट गया अगणित युगों से छा रहा था जो अँधेरा ॥
ज्योति तेरी से समुज्ज्वल अब क्रिया सम्पूर्ण मेरी।
कामना आसक्ति भोगों की कहीं मिलती न हेरी ॥
हो रही तव अर्चना हर कर्म से प्रत्येक पल है।
है चढ़ा शिव-चरण यह जीवन बना शुचि बिल्वदल है ॥५६॥

सत्संग महिमा

मन सत-संगति नित कीजै।
संत-मिलन, भय-ताप नसावन, संत-चरन चित दीजै ॥
संतन निकट नित्य प्रति जइये, हरि-नामामृत पीजै।
संतनि सकल भाँति नित सेइय, सब बिधि मुदित करीजै ॥
संतहिं महँ बिस्वास करिय नित, श्रद्धा अतिसय कीजै।
संतहिं नित हरिरूप निहारिय, संत कहैं सोइ कीजै ॥
हरि कौ सकल मरम ते जानहिं, तिन सौं सब सुनि लीजै।
सुनि-सुनि मन महँ धारन कीजै, मन तासौं रँगि लीजै ॥
संत सुद्ध जो पंथ बतावैं, तेहि पथ गमन करीजै।
झटपट हरि के धाम पहुँचिये, प्रमुदित दरसन कीजै ॥५७॥

युग-बोध

हुए विदेशी हम स्वदेश में, कर सारा निजस्व बलिदान।
करते अन्ध 'परानुकरण,' तज भारतीय संस्कृति-अभिमान ॥

'पर'-भाषा, 'पर'-वेष, 'पराया'-खान-पान, सब 'पर'-आचार ।
शय्या-सज्जा, भवन-भ्रमण, सब ही 'पर,' 'पर' मन-बुद्धि-विचार ।।
बच्चे कहने लगे पिता को 'पापा' माँ को 'मम्मी' आज ।
परम्परागत चाल छोड़ सब, सजने लगे 'पराया' साज ।।
हटा हृदय से गुरुजन, माता-पिता, पूर्वजों का सम्मान ।
'पर' बनने में लगे मानने उन्नति, प्रगति, विकास महान ।।५८।।

नभ में शब्द भर रहे सारे—'प्रगति' 'विकास' और 'उत्थान' ।
'नव-जागरण,' 'नवोल्लास', बनती 'नव-नव योजना' महान ।।
पर हो रहा इन्हीं नामों पर 'पीछे हटना,' 'पतन ' 'विनाश' ।
'नव-जागरण,' 'योजना' सारी, हैं 'प्रवञ्चना' 'नव-उल्लास' ।।
'सदाचार' का स्थान ले चुका 'अनाचार' 'अति भ्रष्टाचार' ।
'त्याग' और 'कर्तव्य' छिप गये, आये 'अर्थ' और 'अधिकार' ।।
'सत्य' और 'अस्तेय' उठ गये, बढ़ी 'झूठ' 'चोरी' सर्वत्र ।
पैसे पर बिक रहा सहज ईमान, धर्म खो अत्र-परत्र ।।
पैसा ही बन गया सभी कुछ—कर्म, धर्म, साधन, भगवान ।
सत्पथ-न्याय छोड़, सब मानव भजते उसे, त्याग ईमान ।।
बिकने लगी दया, सेवा सब, देश-भक्ति, ईश्वर की भक्ति ।
नीच स्वार्थ-साधन के पथ सब बने, बढ़ रही विषयासक्ति ।।
नकली दवा, दूध-घी नकली, नकली सब खाद्यादि पदार्थ ।
बनने-बिकने लगे अनर्गल, भूले सभी स्वार्थ-परमार्थ ।।
खान-पान की मिटी शुद्धता, बढ़ा अशुचि आमिष-आहार ।
मांस-मत्स-अंडों के नव-नव होने लगे बृहद व्यापार ।।
खुलने लगे कसाईखाने बड़े-बड़े वैज्ञानिक आज ।
माइ-बाप सरकार कर रही घोर जीव-हिंसा, तज लाज ।।
नये-नये दानवी करों की हुई भयंकर अति भरमार ।
प्रजा प्रपीड़ित हुई, बन रही डाकू-सी नृशंस सरकार ।।
बने अधिक व्यापारी, प्रायः अधिकारी तन-मन से चोर ।
तेजी से बढ़ रहा 'चोर-चोरी-पूजन' अब चारों ओर ।।
घोर समाज शत्रु 'सीनेमा' राष्ट्र-चरित्र कर रहा नाश ।
किंतु बढ़ रहा आग-सरीखा, करता सहज विवेक-विनाश ।।
बढ़ी, बढ़ रही नित्य भयानक महँगी, मुँह बाये घनघोर ।
जीवन बना क्लेश-कण्टकमय, छाये दुःख मेघ सब ओर ।।

बढ़ी भयानक गो-हत्या अब रहा न गोपालन का भाव।
कुत्ते लगे प्यार से पलने, बड़े-बड़े घर छाया चाव॥
मिटने लगी सती-मर्यादा, पातिव्रत्य, त्याग-बलिदान।
तितली बनी बालिका-तरुणी इधर-उधर उड़ रही अमान॥

कुल-कन्या, कुल-वधू, छोड़कर कुल-लज्जा, मर्यादा-मान।
जन-समूह में लगीं नाचने, अङ्ग दिखाने, करने गान॥
काम-क्रोध-लोभ-तीनों हैं आत्म-विनाशक नरक-द्वार।
आज हमारे सब कामों में है इनका प्रभाव-विस्तार॥

परम लक्ष्य मानव-जीवन का एक मात्र जो है भगवान।
भूल उसे, सब हुए दुःखमय भोगों में रत जड़-विद्वान॥
पाप दीखता पुण्य, दीखता अनाचार ही अब आचार।
तम से ढकी बुद्धि करती उलटा निर्णय, विपरीत विचार॥

इसीलिए हम पतन-गर्त में गिरे जा रहे, कर अभिमान।
पता नहीं—अब कहाँ रुकेंगे, कब सुबुद्धि देंगे भगवान्॥
धरकर वेश त्यागियों का, जो बनते पुरुष महान।
ब्रह्मनिष्ठ, निष्काम कर्म-रत, मूर्त ज्ञान-विज्ञान॥

धरे स्वाँग, जो सदा दीखते सीधे सादे संत।
ऐसे विनय-विभूषित, मानो निर्मानी अत्यन्त॥
सहज पापियों से बढ़ कर वे घोर कपट की खान।
ऊँचे आसन बैठ, निरन्तर जो बघारते ज्ञान॥

'एक ज्ञान—अद्वैत-तत्त्व ही है सबका सिर मौर।
निम्नकोटि के अपसिद्धान्ती तत्त्व सभी हैं और॥'
करते विजय-घोषणा, मन में रखकर अति अभिमान।
कहते—'माया-निर्मित ही हैं ईश्वर या भगवान॥

है अज्ञान-काल में ही जग-ईश्वर का अस्तित्त्व।
कुछ भी नहीं, कदापि हुआ-होगा कोई भी तत्त्व॥
नहीं तत्त्वतः सत्य किसी में, सभी असत्य विकार।
माया—राज्य असत् में केवल असत् लोक-व्यवहार॥'

रखते नहीं ककहरे का भी शुद्ध प्रेम का ज्ञान।
गोपी-प्रेम विमल की करते ये निन्दा-अपमान॥
सदाचार का ढोल पीटते, असदाचारी आप।
अपने सदाचार की मिथ्या नित्य लगाते छाप॥

कहते—'सदाचार में ही है एक मात्र उत्थान।
इसी सत्य को पकड़, सभी को चलना है अम्लान॥'
स्वयं पैर पुजवाते गुप-चुप, लिये विषय-अनुराग।
बाहर बड़ा विरोध दिखाते, ईश्वर का भय-त्याग॥
जहर बताते घोर मान को, स्वयं ढूँढ़ते मान।
निन्दा करते स्तुति की, स्तुति का करते खुद सम्मान॥

मान-कामिनी-काञ्चन का छाया नस-नस में रङ्ग।
इनमें फँसे भंड ये संतत बहते पाप-तरंग॥
नहीं हिचकते करने में वे ऐसे कर्म जघन्य।
कर पाते हैं नहीं जिन्हें भोगी-पापी भी अन्य॥
बने महात्यागी, संन्यासी, यती, त्याग जग-भोग।
दम्भी, वे दिन-रात लगे रहते इन्द्रिय-सम्भोग॥

हरते धन अति चतुराई से, बना त्याग का ढोंग।
महापुरुष, ईश्वर बतलाते इनको भोले लोग॥
रहते सदा विलास-परायण अधम, इन्द्रियाराम।
बाहर सजे विरक्त, विषय-सुख-विरहित, आत्माराम॥

रमणी-स्वर्ण, बड़ाई-पूजा, मान, देह-आराम।
लक्ष्य बना इनको जीवन का, करते पाप तमाम॥
भोग-दास ये सदा सोचते-करते निन्दित काम।
विषय-विरक्त संतजन भी जिससे होते बदनाम॥
कैसे हो सकता इनसे मानवता का उद्धार।
धूर्त मूर्त ये पाप-रूप, भीषणतम नरकागार॥५९॥

प्रकीर्ण

गोवध सर्वथा बंद हो

गो-हत्या होगी नहीं जब तक पूरी बन्द।
तब तक होगा देश में कहीं न सुख-स्वच्छन्द॥
असुर भाव नित बढ़ेगा, होगा नहीं विकास।
होता ही नित रहेगा दुःखद घोर विनाश॥
सबको प्रभु शुभ बुद्धि दें, हरें मोह-अज्ञान।
एक स्वर से सभी लें गोवध-बन्दी मान॥
करे घोषणा शुचि सुखद सत्वर यह सरकार।
पाप मिटे, फैले सुयश, हो ध्वनि जय-जयकार॥६०॥

चीन-दमन की साधना और सिद्धि

एक ब्रह्म है व्यापक सब में, सभी ब्रह्म का है विस्तार।
विश्व चराचर का है केवल सच्चिन्मय वह ही आधार॥
शत्रु-मित्र, पर-बन्धु न कोई, नहीं कहीं भी कुछ भी अन्य।
एक सर्वगत लीलामय की लीला ही चल रही अनन्य॥
लीला में विभिन्न रस होते, अभिनय विविध विचित्र।
रङ्गमञ्च पर समुद खेलते, बनकर अभिनेता अरि मित्र॥
इसी तरह है आज खेलना चीन-शत्रु से हमको खेल।
उसे भगाना है भारत की भव्य भूमि से बाहर ठेल॥
कर विश्वासघात वह आया, दस्यु भयानक का धर वेश।
उसके इस दुःसाहस, दुष्टवृत्ति का है कर देना शेष॥
दाँत न खट्टे करने हैं, करना है विष दन्तों का भंग।
जिससे हो जाये विष वर्जित निर्मल उसके सारे अंग॥
हो उत्पन्न सुबुद्धि, जगे फिर उसके उर में पश्चात्ताप।
धर्म-ईश को माने, छोड़े नास्तिकता का सारा पाप॥
अतः लगाकर तन-मन धन सब, लेकर प्रभु का ही आश्रय।
रखकर साथ धर्म-ईश्वर को, जूझें हम रण में निर्भय॥
सब कर्मों का करें निरन्तर हम केवल प्रभु में संन्यास।
करें युद्ध, तज आशा-ममता, करके काम-ज्वर का नाश॥६१॥

ईश प्रार्थना, देवाराधन हो, रखकर श्रद्धा विश्वास।
पूर्ण विजय हो भारत की, हो पाप-बुद्धि का सहज विनाश॥
बल-विज्ञानयुक्त देशों के प्रमुखों में उपजे सद्बुद्धि।
सबमें हो सद्भाव, सभी में हो हितयुक्त प्रेम की वृद्धि॥
सभी सभी को सुख पहुँचावें, सबका सभी करें सम्मान।
सबके ही शुचितम कर्मों से सदा सुपूजित हों भगवान॥
हरि सेवामय शुद्ध कर्म यह जीवन सफल करे निष्काम।
मानवता का मिले परम फल निर्मल सच्चिन्मय परधाम॥६२॥

स्वात्म-समर्पण

प्रेरक तुम, प्रेरणा तुम्हारी, रस-रति-भाव तुम्हारे रूप।
करके तुम्हीं दिखाते, स्वयं लिखाते लीला तुम्हीं अनूप॥
देते खोल भाव अनुपम, शब्दों का शुचितम तुम भण्डार।
रचना तुम करवाते, सुनते तुम्हीं उसे फिर कर मनुहार॥

विमल भाव-मुख निज दर्शन का यह अपना ही कृति-दर्पण ।
ज्योति बढ़ाता सहज परस्पर, तुम्हें हो रहा है अर्पण ।
भली-बुरी यह वस्तु तुम्हारी, तुम्हीं सर्वथा स्वामि अनन्य ।
तुच्छ अबोध मलिन इस जनको बना निमित्त कर दिया धन्य ॥६३॥

राजस्थानी के पद

नाथ मैं थारो जी थारो ।
चोखो, बुरो, कुटिल अरु कामी, जो कुछ हूँ सो थारो ॥
बिगड़्यो हूँ तो थाँरो बिगड़्यो, थे भी मनै सुधारो ।
सुधर्‌यौ तो प्रभु सुधर्‌यौ थाँरो, थाँ सूँ कदे न न्यारो ॥
बुरो, बुरो, मैं भोत बुरो हूँ, आखर टाबर थाँरो ।
बुरो कुहाकर मैं रह जास्यूँ, नाँव बिगड़सी थाँरो ॥
थाँरो हूँ, थाँरो ही बाजूँ, रहस्यूँ थाँरो, थाँरो !!!
आँगलियाँ नुँहँ परै न होवै, या तो आप बिचारो ॥
मेरी बात जाय तो जाओ, सोच नहीं कछु म्हाँरो ।
मेरे बड़ो सोच यों लाग्यो बिरद लाजसी थाँरो ॥
जचे जिस तरां करो नाथ ! अब, मारो चाहै त्यारो ।
जाँघ उघाड्याँ लाज मरोगा, उँडी बात बिचारो ॥६४॥

नाथ ! थाँरै सरण पड़ी दासी ।
(मोय) भव-सागर में त्यार काट्यो जनम-मरण-फाँसी ॥
नाथ मैं भोत कष्ट पाई ।
भटक-भटक चौरासी जूणी मिनख-देह पाई ।
मिटाद्यो दुःखाँ की रासी ॥
नाथ ! मैं पाप भोत कीना ।
संसारी भोगाँकी आसा दुःख भोत दीना ।
कामना है सत्यानासी ॥
नाथ ! मैं भगति नहीं कीनी ।
झूठा भोगाँकी तृसना में उम्मर खो दीनी ।
दुःख अब मेटो अबिनासी ॥
नाथ ! अब सब आसा टूटी ।
(थाँरै) श्रीचरणाँ की भगति एक है संजीवन-बूटी ।
रहूँ नित दरसण की प्यासी ॥६५॥

तू भाइ म्हारो रे म्हारो ।
तूं म्हारो, तेरो सब म्हारो, जग सारो ही म्हारो ॥

मन मैं सदा दूसरो समझै ऊपर सैं कह थाँरो।
म्हारो होता साँता भी सो रहे—म्हारैसैं न्यारो ॥
एक बार जो कपट छोड़कर कहै 'नाथ मैं थारो।'
सो म्हारे सगलाँ पुतराँ में अधिक लाडलो म्हारो ॥
सदा पातकी, सदा कुकरमी, विषयाँ में मतवारो।
'मैं थारो', यूँ साचैं मनसैं, कहताँ ही हो म्हारो ॥
झटपट पुन्यवान सो होवै, पापाँसैं छुटकारो।
म्हारो म्हारी गोद बिराजै, कदे न म्हाँसूँ न्यारो ॥
तन-मन-वाणी सैं जो म्हारो, सो निस्चै ही म्हारो।
कदे न लाज्यों, कदे न लाजै नाँव-बिडद-जस म्हारो ॥६६॥

श्री राधा-माधव-रस-सुधा

महाभाव-रसराज-वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ ॥
आस्त्रय-आलंबन दोउ, विषयालंबन दोउ।
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख-सुखिया दोउ ॥
लीला-आस्वादन-निरत महाभाव-रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं रचि बिचित्र सुठि साज ॥
सहित बिरोधी धर्म-गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिंत्य अति सुषमामय श्रीमंत ॥
श्रीराधा-माधव-चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्त्व दो तनु धरैं नित-रस-पारावार ॥६७॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग मालकोस—तीन ताल)

राधिके ! तुम मम जीवन-मूल।
अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल ॥
जस सरीर में निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग।
किंतु प्रान बिनु सबहि व्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग ॥
तस तुम प्रिये ! सबनि के सुख की एक मात्र आधार।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार ॥
तुम्हरे प्राननि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान।
तुम्हरौ प्रेम-सिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान ॥

तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तैं पावत भिच्छुक चून।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ, तनिक न मानौ ऊन।
सोऊ अति मरजादा अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रसस्वामिनि निस्संकोच ॥
तुम्हरौ स्वत्व अनंत नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार।
कायब्यूह निज रस-बितरन करवावति परम उदार ॥
तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्य।
दच्छिन बाम रसास्वादन हित बनतौ रहूँ निमित्त ॥६८॥

श्रीराधा के प्रेमोद्‌गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग रागेश्वरी—ताल दादरा)

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ जीवनधन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी ॥
चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ ॥
तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं ॥
सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहि सुखी नित देखन चाहौं निस-दिन-साँझ-सबेरे ॥
तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ ॥
तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सचु पावौ।
यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौं ॥६९॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्‌गार—श्रीराधा के प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

हे आराध्या राधा ! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुल में वास ॥
तेरा ही रस-तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन-रात घूमता मैं करता वंशीवादन ॥
इदी हेतु स्नानको जाता, बैठा रहता यमुना-तीर।
तेरी रूपमाधुरी के दर्शनहित रहता चित्त अधीर ॥
इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातक की ज्यों, रूप-स्वाति का करने पान ॥

तेरी रूप-शील-गुण-माधुरि मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेमगान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर ॥७०॥

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

मेरी इस विनीत विनती को सुन लो, हे व्रजराजकुमार !
युग-युग, जन्म-जन्म में मेरे तुम ही बनो जीवनाधार ॥
पद-पङ्कज-पराग की मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नँदलाल !
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं कनक लता ज्यों तरुण तमाल ॥
दासी मैं हो चुकी सदा को अर्पण कर चरणों में प्राण।
प्रेम-दाम से बँध चरणों में प्राण हो गये धन्य महान ॥
देख लिया त्रिभुवन में बिना तुम्हारे और कौन मेरा !
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधा ने हेरा !
इस कुल, उस कुल—दोनों कुल, गोकुल में मेरा अपना कौन !
अरुण मृदुल पद-कमलों की ले शरण अनन्य गयी हो मौन ॥
देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मनके बैन ॥
रूप-शील-गुण-हीन समझ कर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं, चरणों में ही लगी रहूँगी बस, हरदम ॥७१॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग परज—तीन ताल)

हे वृषभानुराजनन्दिनि ! हे अतुल प्रेम-रस-सुधा-निधान !
गाय चराता वन-वन भटकूँ, क्या समझूँ मैं प्रेम-विधान ॥
ग्वाल-बालकों के सँग डोलूँ, खेलूँ सदा गँवारू खेल।
प्रेम-सुधा-सरिता तुमसे मुझ तप्त धूल का कैसा मेल !
तुम स्वामिनि अनुरागिणि ! जब देती हो प्रेम भरे दर्शन।
तब अति सुख पाता मैं, मुझपर बढ़ता अमित तुम्हारा ऋण ॥
कैसे ऋण का शोध करूँ मैं नित्य प्रेम-धन का कंगाल !
तुम्हीं दया कर प्रेमदान दे मुझको करती रहो निहाल ॥७२॥

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग परज—तीन ताल)

सुन्दर श्याम कमल-दल-लोचन दुखमोचन व्रजराजकिशोर !
देखूँ तुम्हें निरन्तर हिय-मन्दिर में, हे मेरे चितचोर ! ॥

लोक-मान-कुल-मर्यादा के शैल सभी कर चकनाचूर।
रक्खूँ तुम्हें समीप सदा मैं, करूँ न पलक तनिक भर दूर॥
पर मैं अति गँवार ग्वालिनि गुणरहित कलङ्की सदा कुरूप।
तुम नागर गुण-आगर अतिशय कुलभूषण सौन्दर्य-स्वरूप॥
मैं रस-ज्ञान-रहित रसवर्जित, तुम रसनिपुण रसिक-सिरताज।
इतने पर भी दया-सिन्धु तुम मेरे उर में रहे विराज॥७३॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा अनुपम अकथ अनन्त।
युग-युग से गाता मैं अविरत, नहीं कहीं भी पाता अन्त॥
सुधानन्द बरसाता हिय में तेरा मधुर वचन अनमोल।
बिका सदाके लिये मधुर दृग-कमल कुटिल भ्रुकुटीके मोल॥
जपता तेरा नाम मधुर अनुपम मुरली में नित्य ललाम।
नित अतृप्त नयनों से तेरा रूप देखता अति अभिराम॥
कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मन की आश।
एक तुझी को पाया मैंने, जिसने किया पूर्ण अभिलाष॥
नित्य तृप्त, निष्काम नित्य में मधुर अतृप्ति, मधुरतम काम।
तेरे दिव्य प्रेम का है यह जादू-भरा मधुर परिणाम॥७४॥

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

सदा सोचती रहती हूँ मैं—क्या दूँ तुमको, जीवन धन!
जो धन देना तुम्हें चाहती, तुम ही हो वह मेरा धन॥
तुम ही मेरे प्राणप्रिय हो, प्रियतम! सदा तुम्हारी मैं।
वस्तु तुम्हारी तुमको देते पल-पल हूँ बलिहारी मैं॥
प्यारे! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मन की सहित विवेक!
अन्यों के अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम! एक॥
मेरे सभी साधनों की बस, एकमात्र हो तुम ही सिद्धि।
तुम ही प्राणनाथ हो बस, तुम ही हो मेरी नित्य समृद्धि॥
तन-धन-जन का बन्धन टूटा, छूटा भोग-मोक्ष का रोग।
धन्य हुई मैं, प्रियतम! पाकर एक तुम्हारा प्रिय संयोग॥७५॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग गूजरी—ताल कहरवा)

राधे, हे प्रियतमे, प्राण-प्रतिमे, हे मेरी जीवन-मूल !
पल भर भी न कभी रह सकता, प्रिये मधुर ! मैं तुमको भूल ॥
श्वास-श्वास में तेरी स्मृति का नित्य पवित्र स्रोत बहता।
रोम-रोम अति पुलकित मेरा आलिङ्गन करता रहता ॥
नेत्र देखते तुझे नित्य ही, सुनते शब्द मधुर यह कान।
नासा अङ्ग-सुगन्ध सूँघती, रसना अधर-सुधा रस-पान ॥
अङ्ग-अङ्ग शुचि पाते नित ही तेरा प्यारा अङ्ग-स्पर्श।
नित्य नवीन प्रेम-रस बढ़ता, नित्य नवीन हृदय में हर्ष ॥७६॥

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग गूजरी—ताल कहरवा)

मेरे धन-जन-जीवन तुम ही, तुम ही तन-मन, तुम सब धर्म।
तुम ही मेरे सकल सुखसदन, प्रिय निजजन, प्राणों के मर्म ॥
तुम्हीं एक बस, आवश्यकता, तुम ही एकमात्र हो पूर्ति।
तुम्हीं एक सब काल सभी विधि हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति ॥
तुम ही काम-धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन-मन्दिर में भगवान ॥
[आठों पहर सरसते रहते तुम मन-सरवर में रसवान ॥]*
सभी इन्द्रियों को तुम शुचितम करते नित्य स्पर्श-सुख-दान।
बाह्याभ्यन्तर नित्य निरन्तर तुम छेड़े रहते निज तान ॥
कभी नहीं तुम ओझल होते, कभी नहीं तजते संयोग।
घुले-मिले रहते, करवाते-करते निर्मल रस-सम्भोग ॥
पर इसमें न कभी मतलब कुछ मेरा तुमसे रहता भिन्न।
हुए सभी संकल्प भङ्ग, मैं-मेरे के समूल तरु छिन्न ॥
भोक्ता-भोग्य सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग।
मेरा मन बन सभी तुम्हीं हो अनुभव करते योग-वियोग ॥७७॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग शिवरञ्जनी—तीन ताल)

मेरा तन-मन सब तेरा ही, तू ही सदा स्वामिनी एक।
अन्यों का उपभोग्य न भोक्ता है कदापि, यह सच्ची टेक ॥

* दूसरा पाठ

तन समीप रहता न स्थूलतः, पर जो मेरा सूक्ष्म शरीर ।
क्षणभर भी न विलग रह पाता, हो उठता अत्यन्त अधीर ।।
रहता सदा जुड़ा तुझसे ही, अतः बसा तेरे पद-प्रान्त ।
तू ही उसकी एकमात्र जीवन की जीवन है निर्भ्रान्त ।।
हुआ न होगा अन्य किसी का उसपर कभी तनिक अधिकार ।
नहीं किसी को सुख देगा, लेगा न किसी से किसी प्रकार ।।
यदि वह कभी किसी से किञ्चित् दिखता करता-पाता प्यार ।
वह सब तेरे ही रस का बस, है केवल पवित्र विस्तार ।।
कह सकती तू मुझे सभी कुछ, मैं तो नित तेरे आधीन ।
पर न मानना कभी अन्यथा, कभी न कहना निजको दीन ।।
इतने पर भी मैं तेरे मन की न कभी हूँ कर पाता ।
अतः बना रहता हूँ संतत तुझको दुख का ही दाता ।।
अपनी ओर देख तू मेरे सब अपराधों को जा भूल ।
करती रह कृतार्थ मुझको दे पावन पद-पङ्कज की धूल ।।७८।।

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग शिवरञ्जनी—तीन ताल)

तुमसे सदा लिया ही मैंने, लेती-लेती थकी नहीं ।
अमित प्रेम-सौभाग्य मिला, पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं ।।
मेरी त्रुटि मेरे दोषों को तुमने देखा नहीं कभी ।
दिया सदा, देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी ।।
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी, हे प्यारी !
तुम-सी शील-गुणवती तुम ही, मैं तुम पर हूँ बलिहारी' ।।
क्या मैं कहूँ प्राणप्रियतम से, देख लजाती अपनी ओर ।
मेरी हर करनी में ही तुम प्रेम देखते, नन्दकिशोर ।।७९।।

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग वागेश्री—तीन ताल)

राधे ! तू ही चित्तरञ्जनी, तूँ ही चेतनता मेरी ।
तू ही नित्य आत्मा मेरी, मैं हूँ बस, आत्मा तेरी ।।
तेरे जीवन से जीवन है, तेरे प्राणों से हैं प्राण ।
तू ही मन, मति, चक्षु, कर्ण, त्वक्, रसना, तू ही इन्द्रिय-घ्राण ।।
तू ही स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रिय के विषय सभी मेरे सुखरूप ।
तू ही मैं, मैं ही तू बस, तेरा-मेरा सम्बन्ध अनूप ।।

तेरे बिना न मैं हूँ, मेरे बिना न तू रखती अस्तित्व ।
अविनाभाव विलक्षण यह सम्बन्ध, यही बस, जीवन-तत्त्व ॥८०॥

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग वागेश्री—तीन ताल)

तुम अनन्त सौन्दर्य-सुधा-निधि, तुम में सब माधुर्य अनन्त ।
तुम अनन्त ऐश्वर्य-महोदधि, तुम में सब शुचि शौर्य अनन्त ॥
सकल दिव्य सद्गुण-सागर तुम लहराते सब ओर अनन्त ।
सकल दिव्य रस-निधि तुम अनुपम, पूर्णरसिक, रसरूप अनन्त ॥
इस प्रकार जो सभी गुणों में, रस में अमित असीम अपार ।
नहीं किसी गुण-रस की उसे अपेक्षा कुछ भी किसी प्रकार ॥
फिर मैं तो गुणरहित सर्वथा, कुत्सित-गति सब भाँति गँवार ।
सुन्दरता-मधुरता-रहित कर्कश कुरूप अति दोषागार ॥
नहीं वस्तु कुछ भी ऐसी, जिससे तुमको मैं दूँ रसदान ।
जिससे तुम्हें रिझाऊँ, जिससे करूँ तुम्हारा पूजन-मान ॥
एक वस्तु मुझ में अनन्य आत्यन्तिक है विरहित उपमान ।
'मुझे सदा प्रिय लगते तुम'—यह तुच्छ किंतु अत्यन्त महान ॥
रीझ गये तुम इसी एक पर, किया मुझे तुमने स्वीकार ।
दिया स्वयं आकर अपने को, किया न कुछ भी सोच-विचार ॥
भूल उच्चता भगवत्ता सब सत्ता का सारा अधिकार ।
मुझ नगण्य से मिले तुच्छ बन स्वयं छोड़ संकोच-सँभार ॥
मानो अति आतुर मिलने को, मानो हो अत्यन्त अधीर ।
तत्त्वरूपता भूल सभी नेत्रों से लगे बहाने नीर ॥
हो व्याकुल, भर रस अगाध, आकर शुचि रस-सरिता के तीर ।
करने लगे परम अवगाहन तोड़ सभी मर्यादा-धीर ॥
बढ़ी अमित, उमड़ी रस-सरिता पावन, छायी चारों ओर ।
डूबे सभी भेद उसमें, फिर रहा कहीं भी ओर न छोर ॥
प्रेमी, प्रेम, परम प्रेमास्पद—नहीं ज्ञान कुछ, हुए विभोर ।
राधा प्यारी हूँ मैं, या हो केवल तुम प्रिय नन्दकिशोर ॥८१॥

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

राधा ! तुम-सी तुम्हीं एक हो, नहीं कहीं भी उपमा और ।
लहराता अत्यन्त सुधा-रस-सागर, जिसका ओर न छोर ॥

मैं नित रहता डूबा उसमें, नहीं कभी ऊपर आता।
कभी तुम्हारी ही इच्छा से हूँ लहरों में लहराता॥
पर वे लहरें भी गाती हैं एक तुम्हारा रम्य महत्त्व।
उनका सब सौन्दर्य और माधुर्य तुम्हारा ही है स्वत्व॥
तो भी उनके बाह्य रूपमें ही बस, मैं हूँ लहराता।
केवल तुम्हें सुखी करने को सहज कभी ऊपर आता॥
एकछत्र स्वामिनि तुम मेरी अनुकम्पा अति बरसाती।
रखकर सदा मुझे संनिधि में जीवन के क्षण सरसाती॥
अमित नेत्र से गुण-दर्शन कर सदा सराहा ही करती।
सदा बढ़ाती सुख अनुपम, उल्लास अमित उर में भरती॥
सदा सदा मैं सदा तुम्हारा, नहीं कदा कोई भी अन्य—
कहीं जरा भी कर पाता अधिकार दास पर सदा अनन्य॥
जैसे मुझे नचाओगी तुम, वैसे नित्य करूँगा नृत्य।
यही धर्म है, सहज प्रकृति यह, यही एक स्वाभाविक कृत्य॥८२॥

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

(राग भैरवी तर्ज तीन ताल)

तुम हो यन्त्री, मैं यन्त्र, काठ की पुतली मैं, तुम सूत्रधार।
तुम करवाओ, कहलाओ, मुझे नचाओ निज इच्छानुसार॥
मैं करूँ, कहूँ, नाचूँ नित ही परतन्त्र, न कोई अहंकार।
मन मौन–नहीं, मन ही न पृथक्; मैं अकल खिलौना, तुम खिलार॥
क्या करूँ, नहीं क्या करूँ—करूँ इसका मैं कैसे कुछ विचार ?
तुम करो सदा स्वच्छन्द, सुखी जो करे तुम्हें, सो प्रिय विहार॥
अनबोल नित्य निष्क्रिय स्पन्दन से रहित सदा मैं निर्विकार।
तुम जब जो चाहो, करो सदा बेशर्त, न कोई भी करार॥
मरना-जीना मेरा कैसा—कैसा मेरा मानापमान !
हैं सभी तुम्हारे ही, प्रियतम ! ये खेल नित्य सुखमय महान॥
कर दिया क्रीडनक बना मुझे निज करका तुमने अति निहाल।
यह भी कैसे मानूँ-जानूँ, जानो तुम ही निज हाल-चाल॥
इतना मैं जो यह बोल गयी, तुम जान रहे—है कहाँ कौन ?
तुम ही बोले भर सुर मुझ में मुखरा-से, मैं तो शून्य मौन॥८३॥

(पुष्पिका)

महाभाव-रसराज के मधुर मनोहर भाव।
दिव्य मधुरतम रागमय दैन्य विभूषित चाव॥

दोनों दोनों के लिए सहज सभी कर त्याग।
सुखद परस्पर बन रहे, छलक रहा अनुराग॥
दोनों दोनों के सदा प्रेमीप्रेष्ठ महान्।
नित्य अनन्त अचिन्त्य शुचि अनिर्वाच्य रसखान॥
सुख-दुख दोनों ही सुखद प्रियतम-सुखके हेतु।
अन्य सभी टूटे सहज मिथ्या निजसुख-सेतु॥
राधा-माधव-प्रेम-रस वाचा-चित्त-अतीत।
करते शाखाचन्द्र-से इङ्गित सोलह गीत॥८४॥

श्रीराधाकृष्णचरणकमलेभ्योऽर्पितम् ।[1]

पोद्दारजी की हस्तलिपि (हिन्दी)

सौंप दिये मन-प्राण तुम्हींको, सौंप दिये ममता-अभिमान।
जब, जैसे, मन चाहे, बरतो, अपनी वस्तु सर्वथा जान॥
मत सकुचाओ मनकी करते, सोचो नहीं दूसरी बात।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो, तुमसे सब कुछ पूरा ज्ञात॥
= मान-अमान, दुःख-सुखसे अब मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम्हीं केवल मेरे बन्ध॥
रहूँ कहीं, कैसे भी, रहती वहीं तुम्हारे अंदर नित्य।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य॥
एक तुम्हारे चरणकमलमें हुआ विसर्जित सब संसार।
रहे एक स्वामी बस, तुम ही, करो सदा स्वच्छन्द विहार॥

---

१. 'श्रीराधा-माधव-रस-सुधा' के संस्कृत, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, अंग्रेजी, फ्रेंच जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद छप चुके हैं और ये 'श्रीराधामाधव-सेवा-संस्थान, गीता वाटिका, गोरखपुर' से प्राप्य हैं। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के अनुवाद सहित प्रकाशित यह पुस्तक गीता प्रेस से मिलती है।

पोद्दारजी की हस्तलिपि (अंग्रेजी)

God is my help in every need
God does my every hunger feed
God walks beside me guides my way
through every moment of the day

God is my health I can't be sick
God is my strength unfailing quick.
God is my all I know no fear
Since God & love & truth are here

परिशिष्ट—घ

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार की कृतियाँ

पोद्दारजी की साहित्य-सर्जना की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है कि उन्होंने कभी संकल्पपूर्वक किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। 'कल्याण' के दीर्घकालव्यापी संपादन-काल में आवश्यकतानुसार विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखे जाते रहे, संपादकीय टिप्पणियों का क्रम चलता रहा और पाठकों तथा जिज्ञासुओं के पत्रोत्तर रूप में आध्यात्मिक एवं सामाजिक सममस्याओं का समाधान उसके माध्यम से प्रस्तुत किया जाता रहा। इस प्रकार अलक्षित रूप से लगभग पचीस हजार पृष्ठों का मौलिक वाङ्मय प्रस्तुत हो गया, जिसमें से अब तक प्रायः नौ हजार पृष्ठों का साहित्य ही पुस्तक रूप में प्रकाश में आ सका है। शेष 'कल्याण' के अंकों में बिखरा पड़ा है, श्रद्धालुओं एवं 'अनुगतों के पास प्रवचनों के ध्वन्यंकन या पत्ररूप में सुरक्षित है तथा गीताप्रेस से प्रकाशित विभिन्न पुस्तकों में शंगृहीत है। इन विविध स्रोतों में विकीर्ण साहित्य को स्वतंत्रपुस्तक कारूप देने का प्रयास हो रहा है।

गद्यात्मक रचनाओं के अतिरिक्त पोद्दारजी ने मध्यकालीन संतों की भाँति लगभग दो हजार भक्तिरसपूर्ण मनोरम पदों की भी रचना की है। इनकी भाषा व्रजी, खड़ी बोली तथा राजस्थानी है। ये अर्वाचीन भक्ति साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। 'पदरत्नाकर' शीर्षक से इनका एक विशाल संकलन इधर प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार स्तरीय तथा संस्कारमार्जक मौलिक साहित्य के साथ सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण एवंविकास के निमित्त पोद्दारजी प्राचीन ग्रन्थों की सरल-सुबोध टीकाएँ प्रस्तुत कर राष्ट्रभारती को व्यापक एवं लोकप्रिय बनाने में अमूल्य योगदान किया है।

नीचे पुस्तक रूप में अद्यतन प्रकाशित उनकी कृतियों की सूची दी जाती है—

निबन्ध-संग्रह

१. श्रीराधामाधव चिन्तन
२. श्रीराधामाधव चिन्तन (परिशिष्ट)
३. भगवच्चर्चा—भाग-१
४. भगवच्चर्चा—भाग-२
५. भगवच्चर्चा—भाग-३
६. भगवच्चर्चा—भाग-४

७. भगवच्चर्चा—भाग-५
८. पूर्ण समर्पण
९. भवरोग की रामबाण दवा
१०. समाज किस ओर जा रहा है ?

पत्र-संग्रह

१. लोक-परलोक का सुधार—भाग-१
२. लोक-परलोक का सुधार—भाग-२
३. लोक-परलोक का सुधार—भाग-३
४. लोक-परलोक का सुधार—भाग-४
५. लोक-परलोक का सुधार—भाग-५
६. सुख-शान्ति का मार्ग
७. व्यवहार और परमार्थ
८. शान्ति की सरिता
९. सुखी बनो

उद्‌बोधक साहित्य

१. कल्याण-कुञ्ज—भाग-१
२. कल्याण-कुञ्ज—भाग-२
३. कल्याण-कुञ्ज—भाग-३
४. मानव-कल्याण के साधन
५. दिव्यसुख की सरिता
६. सफलता के शिखर की सीढ़ियाँ
७. परमार्थ की मंदाकिनी
८. दैनिक कल्याण-सूत्र
९. आनन्द की लहरें
१०. दीन-दुखियों के प्रति कर्त्तव्य
११. उपनिषदों के चौदह रत्न

समाज-निर्माणो पयोगी-साहित्य

१. नारी शिक्षा
२. स्त्री-धर्म प्रश्नोत्तरी
३. विवाह में दहेज

४. सिनेमा—मनोरंजन या विनाश का साधन ?
५. हिन्दू संस्कृति का स्वरूप
६. वर्तमान शिक्षा
७. गोवध—भारत का कलंक
८. बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति
९. हिन्दू क्या करें ?
१०. समाज-सुधार

साधना परक साहित्य

१. मानव-धर्म
२. साधन-पथ
३. श्रीभगवन्नाम
४. दिव्य-संदेश
५. गीता में विश्वरूप-दर्शन
६. ब्रह्मचर्य
७. सत्संग के बिखरे मोती
८. सत्संग के बिखरे सुमन
९. मन को वश में करने के कुछ उपाय
१०. मनुष्य सर्वप्रिय और सफल-जीवन कैसे बने ?
११. जीवन में उतारने की सोलह बातें
१२. कल्याणकारी आचरण
१३. प्रार्थना
१४. गोपी-प्रेम
१५. रस और भाव
१६. परमार्थ की पगडंडियाँ
१७. श्रीराधा-जन्माष्टमी-व्रत-महोत्सव की प्राचीनता
१८. महिमा और पूजाविधि
१९. रासलीला का रहस्य
२०. श्रीकृष्ण-महिमा का स्वरूप
२१. पूर्ण परात्पर श्रीकृष्ण का आविर्भाव
२२. भगवान श्रीकृष्ण का आविर्भाव
२३. स्वयं भगवान कब और क्यों आते हैं ?
२४. श्रीराधा का प्रेम-स्वरूप-गुण-तत्त्व

टीका-साहित्य

१. प्रेम दर्शन (नारद-भक्ति-सूत्र की टीका)
२. श्रीरामचरितमानस ,, ,,
३. विनय-पत्रिका ,, ,,
४. दोहावली ,, ,,

काव्य-साहित्य

१. पद-रत्नाकर
२. पत्र-पुष्प
३. प्रार्थना-पीयूष
४. हरिप्रेरित हृदय की वाणी
५. व्रज-रस-माधुरी
६. व्रज-रस की लहरें
७. मधुर—भाग-१
८. मधुर—भाग-२
९. शिव-चालीसा
१०. श्रीराधा-माधव-रस सुधा

परिशिष्ट--७

नामानुक्रमणिका

अ

अंजनीनंदनशरण १४८
अकोला १११
अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय २७५, २७६
अखण्ड-आनन्द (गुजराती मासिक) २५०
अखण्डानन्द स्वामी १०८, १४३, १५५, १५६
अखिल भारतीय अग्रवाल सेवा समिति ३२५
अखिल भारतीय आर्य हिन्दू सेवा संघ ३२५
अग्रवाल समाचार १४१
अग्निपुराण २३५, २३६
अच्युत मुनि ९४, १०८, १४८, २७२, २७६
अजन्ता १७३
अजमत खाँ ८८
अजमेर १७०
अद्भुत रामायण २३४
अद्वैतवाद ४२४
अधरचन्द राय ६०, ६१
अध्यात्म रामायण २३४
अनन्ताचार्य १०८, १३४, २७२
अनन्तशंकर कोलहटकर २७६
अन्नपूर्णा बाई ९९, १०१, ४२९
अनर्धराधव २३४
अनुभव प्रकाश १२२
अनुशीलन समिति ४२
अनूपशहर ११२, २७२
अपोलोबंदर १०४
अब्बूहाफिज खुरासानी २५४
अम्बालाल १७०
अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ३७, १३४
अम्बेडकर ३८४
अमरावती १११
अमिताभ चौधरी ४५७
अमियनाथ भट्टाचार्य ४२
अमेरिका ३७९
अमृतलाल चक्रवर्ती ३७, ३०२
अमृतसर १२, २०, ८४, ८६
अयोध्या ७५, ९८, १४८, ३१८, ३२६, ३२७, ३२८
अयोध्या प्रसाद १५
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' २७६
अरविन्दघोष ४०, ४१, ४३, ४४
अरुणकुमार सिंह ६१
अर्थशास्त्र १
अलीपुर ४३, ५३, ५६, ४२५, ४३६
अल्फ्रेड थियेटर ३८
अवन्ती २२७
अश्विनीकुमार दत्त ४३
अहमदाबाद ७९, ८७, १०८, ११४, १३४, १३५, १४३

आ

आउटरम घाट २३

आत्मनिवेदन ४२४
आत्माराम खेमका ११३
आदिपुराण २३३
आद्याप्रसाद १७६
आद्याप्रसाद श्रीवास्तव २७७
आनन्दमयी (माँ) ३९
आनन्दघनराम २७६
आनन्द बाजार ४२४
आनन्द बाजार ४२४
आनन्द ब्रह्मचारी १५३
आनन्द मीमांसा ४२४
आयरलैण्ड ३४
आर्तनारायण सेवासंघ ३५०
आर्यमित्र ३७७
आरा २९६
आसनसोल ६९
आसाम २, ३, १४, १७

इ

इंग्लैण्ड २७, ३७९
इण्डियन नेशनल कांग्रेस ३०
इण्डिया बैंक १०३
इच्छालाल जोशी २०८
इटली ३४
इन्दुप्रभा आत्रेय २७७
इन्दौर ४६४
इन्द्रनारायण द्विवेदी २७७
इन्साइक्लोपोडिया-ब्रिटानिका। २९

ई

ईडेन गार्डेन २८८
ईश्वर की सत्ता और महत्ता ९
ईशोपनिषद् २२६
ईसा २५३

उ

उचितवक्ता ३७
उज्जैन १७३
उटकमण्ड ५२
उत्तमनाथ १०८, १५२, २०८
उत्तर-रामचरित २३४
उदयपुर १७०
उड़िया बाबा १४८, १५३
उर्दू बाजार २८९; २९०
उर्दू हिन्दीकोश १

ए

एकचका ४२३
एकनाथ ९९
एकरसानन्द (स्वामी) १०८, १५६
एच० डब्ल्यू मोरेनो २८६
एडवर्ड (अष्टम) ३७९
ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया ४५८
एनीबेसेण्ट २२८
एलोरा १७३

ऐ

ऐतरेय (ब्राह्मण) २२६

ओ

ओंकारमल पोद्दार ४६६
ओंकारमल सर्राफ ३१, ३२, ५१, ५२, ५३, ७०

औ

औरंगजेब ३२९

ऋ

ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम चुरू ३२४
ऋषिकेश १११, १२१, १२३, १२७,

१४५, १८८, २६०, २७४, २९५, ३२४, ३२५, ३४३, ४४८, ४६४, ४६६

क

कठोपनिषद् २२६
कनाईलाल दत्त ४३, ५२
कनीराम २, ३, ४, १०, ११, १९, २६
कन्नड़मल, लाला २७६
कन्नूलाल लेन ५१
कन्हैयालाल चितलानिया ३२, ५२
कन्हैयालाल जालान ४६३
कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी २७५
कब्बू भाई १११
कमला बाई २६, ५५
करपात्रीजी २४५, २७७, ३४१
कर्मयोगिन ४०
कलकत्ता ३, ४, ११, १२, १४, १५, १६, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २७, २८, ३०, ३५, ३७, ३८, ३९, ४०, ४४, ४६, ४७, ५०, ५८, ५९, ६०, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६, ६९, ७३, ७४, ८३, ८६, ८७, ९३, ११८, १२२, १३०, १३३, १३४, १३७, १४४, १४९, १५१, १७५, १७८, १९२, १९६, २०५, २०६, २८७, २८८, २९०, २९६, ३०२, ३०६, ३२९, ३३३, ३८६, ४२३, ४२५, ४४६
कलकत्ता विश्वविद्यालय २८
कलकत्ता समाचार ३४, ३७, ३८, ५३, ५४, ६०, ६६
काँकरौली १७०
कांशीची २५४
काकाकालेलकर ८८, १३५
काजिमाबाद १४८
कानपुर ५३, १२६, १३६, १४५, १९४, २१२
कान्तिबाबू १४४
कालड़ि ३३१
कालवा-देवी-रोड ७१
कालीगोदाम १५
कालीघाट २३, ४७
कालेज स्क्वायर ४०
काशी ३९, ९८, १४८, १४९, १५२, १७३, २२३
कासिम बाजार २७
किज्सफोर्ड ४३
किशोरीदास बाजपेयी २७७
किशोरलाल मशरूवाला ८८
कुंजबिहारी ४६३
कुचामन रोड २, ३,
कुन्दनलाल १५२, १५३
कुलीनबिहारी बोस ४२
कुशीनगर १४३
कुष्ठ सेवाश्रम ३२४
कुसुम सरोवर १४८
केदारनाथ १७३
केदारनाथ पाण्डया ३२
केदारनाथ लाहिड़ी १९८
केनोपनिषद् २२६
केशवदेव मन्दिर ३२८
के०सी० वरदाचारी २७७
कैलाश ४७५

कैलाशचन्द्र बोस ३३, ४७
कैलाशनाथ काटजू २७७
कोणार्क १७३
कोलायत ६
कोलासर ५
कौटिल्य १
क्लाइव स्ट्रीट ५२
कृष्णकान्त ८१
कृष्णकान्त मालवीय ४७४
कृष्णकुमार मित्र ४०
कृष्णा कुमारी ४६८
कृष्णचन्द्र ६२, ४२८
कृष्णचन्द्र अग्रवाल १७२, २६१
कृष्णदास २१४
कृष्णदास (बंगाली) १४९,१६६,१७२, २६०
कृष्णदास जाजू ८८, १०८
कृष्णानन्द, स्वामी १०८, १५३
कृष्णलीला-चिन्तन २०७
क्षितिमोहन सेन २७५, २७६, ४२४
क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर २७६
क्षेत्रसाल साहा २७५; २७७

ख

खंडवा १२६
खजुराहो १७३
खलीलाबाद ४६४, १६५
खादर १५२,
खान अब्दुलगफ्फार खाँ ८८
खाम गाँव १११
खुदीराम बोस ४३, ५२
खुर्जा १३६
खेमराज श्रीकृष्णदास ११५

ग

गंगानाथ झा २७६
गंगा प्रसाद १५८
गंगा प्रसाद अग्रवाल ३९४, ३९८
गंगाशंकर मिश्र २७७
गंगा सिंह ६८, ८८, १६९
गंगेश्वरानन्द २७६
गन्धर्व महाविद्यालय ११०, १११
गम्भीरचन्द दुजारी १२३, १२६ ,१३१, २०३, २०७, २५५, २५६
गंभीरा में श्रीगौरांग ४२४
गँवें १५२
गजानन्द धानुका ७
गजाली २५४
गणेशदत्त व्यास ११६
गणेशदास कन्हैयालाल ७८
गणेशवाणी १३३
गणेशशंकर विद्यार्थी ५३, १४५, २३९
गया २०४, ४६१
गर्गसंहिता २३३, २३६
गरुड़पुराण २३३
गांगियासर १०८
गाँधीजी दे० महात्मा गाँधी
गाँधी बाल-निकेतन, (रतनगढ़) ३२४
गिरधारी बाबा १७२
गिरधरशर्मा चतुर्वेदी २७६
गिरिवर सिंह ठ-कुर १५३
गिरीशपति काव्यतीर्थ ३७
गीत गोविन्द ४२४
गीता १२, १३, ३५, ४२, १०८, १०९, १११, १३५, १४४, १६३, २०७, २१७, २१८, २३३, २८७, २८८, २९७, २९९, ३५७, ३७५, ३८५,

४२६, ४२७, ४७८
गीताज्ञान यज्ञ १४३
गीताप्रेस १४४, १५०, १५७, १५९, १६०, १६१, १६४; १७१; १७४, १७५; १८१, १८३, १८६, २५६, २८९, २९०, २९२, २९३, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००; ३०१, ३०५, ३४४, ३६६, ३७९
गीताभवन, १४५, १८१, १८२, १८३, १८८, १९५
गीताभवन, स्वर्गाश्रम ३२५
गीता-रामायण-परीक्षा-समिति ३२४
गीतावाटिका १५७, १८५, २०२, २६०, ३३७, ३५६, ४६९, ४७५
गुरुदास बनर्जी ४१
गुरुमुखराय ढंढारिया १८
गुलजारीलाल नंदा १८२
गुलराज गनेड़ीवाला ३२
गुलाबराय २७३
गुलाबराय नेमाणी ७०
गोकर्ण ३३१
गोकुलनाथ १०८
गोकुलनाथ (महाराज) २७२
गोपालजी २६०
गोपालकृष्ण गोखले ३०, ३५, ३८
गोपालपुरा ६
गोपालसहस्रनाम ४२६
गोपीगीता ४२४
गोपीनाथ कविराज १५, १०८, १४८, २०६, २१२, २२०, २६२, २६३, २७१, २७४, २७५, २७६, ४५५, ४५८
गोरखनाथ १४८
गोरखपुर ७९, ८०, १११, ११२, १२१, १२३, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३६, १३७, १४१, १४३, १४५; १४७, १४८, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५९, १६६, १६७, १६८, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १८२, १८६, १९४, १९८, २०२, २०४, २०५, २०८, २१४, २१५, २५५, २५६, २७१, २७३, ३४२, ३४४, ३४६, ३४८, ३५१, ३७४, ३७६; ३८१, ३८९, ३९०, ३९४, ३९६, ३९८, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०५, ४०७, ४०९, ४११, ४१४, ४१६, ४३३, ४३७, ४३८, ४४०, ४६३, ४६४, ४६८, ४६९, ४७४, ४७५
गोलाघाट ४६५
गोवर्द्धन १४८
गोवर्धन शर्मा १६६
गोविन्द ८५
गोविन्दनारायण मिश्र ३७
गोविन्द भवन ११३, १६२, १७५, १८३, २०३, २८८, २८९; २९०
गोविन्दराम पोद्दार ७
गोविन्दवल्लभ पन्त १७७, ३४५, ३४७
गौरांगदास, स्वामी ३७७
गौराबाई ५५,
गौरीशंकर गोयनका २७६
गौरीशंकर द्विवेदी १५१, १५७, १५८, १५९, २५६, २७६
गौहाटी ३, ११, ५०, ११८, १३३

घ

घनश्यामदास जालान १४४, २८९, २९०,

२९४, ४३८, ४३९, ४४०
घनश्यामदास बिड़ला ३१, ३२, ३३, ३८, ५१, ५२, ५३, ११३, ११४
घासीराम २८३

च

चंडीदास ४२४
चन्दाबाई १००
चन्द्रमाधव घोष ४१
चक्रवर्ती डा० एम० एन० १९४, २००, २०१
चटगाँव ६५
चन्दनवती ३१७
चन्द्रकलादेवीं २१२
चन्द्रदीप त्रिपाठी २५७, २५८
चन्द्रशेखर पाण्डेय २६०
चन्द्रशेखरेन्द्र, महाराज २७७
चाँदपुर २२, २३, ६३
च०भास्कररामकृष्णमाचार्यलु २७७
चक्रधरपुर १०२, २८७, ४२९
चक्रधर, बाबा १२१, १६०, १७५, १८८, २०४
चारुचन्द्रदास २७७
चितपुर रोड ५१
चितरंजनदास, देशबन्धु ४४, ४५, ८७, २२८, ३१०
चित्रकूट ९८, २९७, २९८, ३२४
चित्रकूट भजनाश्रम ३२४
चिदानन्द सरस्वती २७५, २७७
चिन्मयीदेवी ४७७
चिम्मनलाल गोस्वामी १६, १३६, १४७, १६६, १६८, २००, २०३, २०९, २२०, २५६, २५९, २६०, २६१, २८२
चिरंजीलाल जाजोदिया ७१, ७४
चिरंजीलाल हनुमान प्रसाद ७१
चुरू १३५, १५०, २०६, २८७, ३००, ३२४
चैतन्यदेव ९७ ३१९, ३५५
चौपाटी ४५९, ४६१

छ

छापर १३६
छोटेलाल १८

ज

जगदीश्वरानन्द (स्वामी) २७७
जगदीश्वरानन्द भारती २१, २५
जगनराम २५२
जगन्नाथ २८३
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ३७
जगन्नाथपुरी १७३, २७५, ३३०, ३३१, ३३८
जगन्नाथ बल्लभ ४२४
जटेपुर २५६
जनक ४१४
जनहित न्यास, (सरदार शहर) ३२५
जनार्दन मिश्र पंकज २७७
जमनालाल वजाज ७०, ७१, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८२, ८८, ८९, १०२, १०८, १११, ११७, १२७, १३५, २७४, ४२९
जमशेदपुर २९८
जसराज जैन ३२
जसीडीह ४४०
जयदयाल गोयन्दका ३६, ३९, ६०, ६५,

६६, १०१, १११, १२९, १३१, १३७, १३८, १४४, १४५, १५६, १६७, १७३, १७५, १७७, २०२, २०५, २०८, २१४, २२०, २५४, २६४, २७२, २७७, २७८, २८३, २८४, २८७, २९४, २९५, २९६, २९८, २९९, ३०१, ३२३, ३२९, ३३०, ३३६, ३३८, ३४६

जयदयाल डालमिया १६८, १७५

जयदेवी २७७

जयन्तीलाल एन० मानकर २७७

जयनारायण २९४

जयनारायण मलिक २७७

जयपुर ८९, १७४, ३२२।

जयरामदास दीन १५३।

जयेन्द्रभगवान २७७।

जवाहर लाल नेहरू १४४, १५६, ३१०, ४८०

जानकीनाथशर्मा २७६

जानकी प्रसाद १५३

जान वुडरफ (सर) २७६

जालन्धर कन्या महाविद्यालय २४

जीवनशंकर याज्ञिक २७७

जुगलकिशोर बिड़ला ३९

जुहारमल खेमका ३४

जूहू ७७

जेम्स एलेन ३६

जोखीराम गोयन्दका ३९

जोधपुर ७१

जोरावरमल १२

ज्योतिजी २७३

ज्वालादत्त ६५,

ज्वालाप्रसाद कानोड़िया ३१, ३२, ३३, ४०, ५१, ५२, ५३, ५५, १०६, १०७,

ज्वालाप्रसाद सिंहल २७६

ज्ञानानन्द (स्वामी) २७७

झ

झाबरमल शर्मा ३७, ५२, ५५, ६६, २७२, ३०२, ३२९

झूसी ४८१

ट

टर्नधुल, एच० जी० २७६

टी० यल वास्वानी २७६, ३४९

टालस्टाय ३८७

ट्रेगर्ट ५१

ड

डालमिया दादरी १६७, १६८, १६९, ३६८

डिब्रूगढ़ १३३

डीडवाना १३६

डुमराँव ४५

डुराण्डा हाउस ५२, ५६

डूगरमल लौहिया ३३, २९६

ढ

ढाका २७, ३९, ४२४,

त

तारक बाबू ४३५,

ताराचन्द २, ३, ४, ८

ताराचन्द (डा०) १९४

ताराचन्द धनश्यामदास ७०

ताराचन्द्र पाण्ड्या २७६

त्रावणकोर ३८५

तिनसुकिया २९६, ४६५
तिहाड़ ३२५
तुकाराम ९९
तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' २७७
तेतलिया ७८
तैत्तरीय (उपनिषद्) २२६
त्यागसे भगत्प्राप्ति ४३०

द

दक्षिण अफ्रीका ३८६
दक्षिणेश्वर १७३
दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर २७६
दरभंगा ३८
दादा धर्माधिकारी ८८
दादाभाई नौरोजी ३०
दानचन्द चौपड़ा २२
दामोदर सातवेलकर (श्रीपाद) २७७
दिग्विजयनाथ (महन्त) ३३०
दिल्ली ८२, ११३, ११४, १२५, १३६, १४४, १७०, १७७, १८६, १९६, ३२५, ३२८, ३३८, ३३९, ३४९, ४५०
दीनानाथ सारस्वत २७६
दुदौलिया (ढाका) ३९
दुर्गाप्रसाद मिश्र २९, ३७
दुर्गाशंकर नागर २७६
दुल्ही ३१९
दुलीचन्द दुजारी १६६, १६८, २५७, २६०, २६१; ४७६
देवदास (गाँधी) ७७, ७९, ८०, ८१, १४८, १४९
देवधर शर्मा १६६, १८७
देवरिया १४५
देवलालीकर २८३
देवीबक्स सराफ ३२
देवी भागवत २३१
देवेन्द्र राव गुड़पाल २७६
देशेर कथा ३७
देहरादून ३४१
दोहावली ३०९
दौलतराम (अच्युतमुनि) १५२
दौलतराम चौरवानी ३४
दौलतराम ताम्बी १६६
द्वारका ९८, ४११
द्वारका प्रसाद चतुर्वेद २७६

ध

धन्वंतरि आयुर्वेदिक रसायनशाला, रतनगढ़ ३२५
धर्म (बंगला पत्र) ४०
धर्मनाथ ६
धामण गाँव ७०
धीरेन बाबू १६६

न

नंदग्राम १४८
नन्दराम २९६
नन्ददुलारे बाजपेयी १६६, २२०, २५७, २५८, २६०
नकुलेश्वर मजूमदार २७६
नर्मदा प्रसाद ३२
एन० रामचन्द्रन २६०, २६१
नरेन्द्र गोस्वामी ४३, ५२
नरेन्द्रदेव, आचार्य १५९
नरोत्तम १४५
नरसिंह पुराण २३६
नरहरि शास्त्री १११
नरीमैन ८८

नलवार्ड १३३
नवजादिकलाल श्रीवास्तव ३७
नवजीवन ७७
नवद्वीप भजनाश्रम ट्रस्ट ३२५
नवनीत ३८, ३०४
नवलगढ़ ७८
नाई टोली ५०, ५१
नागपुर ७१, १०५, १३९,
नागाबाबा १५३, १५४
नागरमल अजितसरिया ५४
नागरमल मोदी ३२
नाथद्वारा १७०
नाथूराम शंकर शर्मा २७६
नाभादास २२८
नाम माधुरी ४२४
नारद-भक्तिसूत्र २२८
नारदानन्द (स्वामी) १५६
नारद-विष्णु-पुराण २२८
नारायणदास बाजोरिया ३४
नारायण पुरुषोत्तम सांगाणी २७७
नारायण स्वामो १४५, २७४
नाहरमल बाजोरिया २८७
निरंजदेव तीर्थ (स्वामी) ३३१, ३३८, ३४०, ४५०
निस्तारिणी देवी ४४
नीरजाकांत चोधरी २७७
नैनी ४७४
नोवाखाली १७२; ३०९, ३२५
नौगाँव १३३
नौरंगराय रामचन्द्र ३९
नृसिह ३७

प

पंचमुख-हनुमान-कवच ७
पंचानन तर्करत्न २७६
पंचायती गोशाला, वृन्दावन ३२४
पंजाब १२, १७
पगया पट्टी १९, ४०
पटना १३३, ३२५
पटवर्धन ९५
पडरौना १४५
पत्थरगली ४७१
पद्मपुराण २२५; २३३, २३४,
पद्मसिंह शर्मा २७६
परमहंस योगानन्द ४५८
परमेश्वर १६४
परमेश्वर प्रसाद फोगला २, १४३
परशुराम चतुर्वेदी २७७
परेशचन्द्र चटर्जी ३१०
पांतंजलि योगदर्शन ३१७
पारख कोठी १९, ५८
पीयूषकान्ति धोष ४६१
पुरुषोत्तम दास टंडन २७७,४७९,४८०
पुरुषोत्तमानन्द (स्वामी) २७७
पुष्कर १७०
पूर्णीबाई २६
पेशावर १३९
पौड़ीगढ़वाल १८२
प्रज्ञानपाद (स्वामी) २७७
प्रताप ५३
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ३९, ४०, ४१, १५३, १५५, ४५०
प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका ३१, ३२, ५१, ५२,
प्रमथनाथ तर्कभूषण २७६

प्रयाग ८७, ९८, ३२५, ३३१, ४५०, ४८१
प्रश्नोपनिषद् २२६
प्रसन्नराघव २३४
प्राणकिशोर गोस्वामी २७५, २७७
पृथ्वीराज २९४
प्रेमभक्ति-प्रकाश ४३०
प्रेमानन्दतीर्थ, स्वामी २७७
प्यारेलाल डागा १७०

फ

फखरपुर २०४
फरेन्दा ३४७
फीरोजकावस दावर २७६
फीरोजाबाद १३६
फुलेरा २
फूलचंद चौधरी ३२, ५१, ५२. ५३, ५५

ब

बंगवासी ३७
बंगाल ५९
बखन्नाथ (परमहंस) ६, १२, १३, १४, ४२२
बछरारा ६
बजरंगलाल १५९
बड़ा बाजार पुस्तकालय २७
बड़ौदा ४०
वदरुद्दीन राणपुरी २७६
बद्रीदास ४०, १६३, ४२३
बद्रीनाथ ३३०, ३३१
बी०एन० मेहता १२८
बनादास ७५
बनारसीदास चतुर्वेदी १४४,३४५,३४९
बनारसीदास झुनझुनवाला ३१, ४०, ४१, ६६
वम्बई १५, ७०, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८४, ८५, ८६, ८७ ८८, ८९, ९३, ९४, ९५. ९८, ९९, १०१, १०२, १०३, १०६, १०८, १११, ११२, ११४, ११५, ११८, १२२, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १३०, १३४, ४२९, ४३२, ४३३, ४३६, ४३७, ४४४, ४५८, ४५९, ४६१, ४६३
बर्दवान २३
बरसाना १४८
वरहज ५६
बरार २९६
बलदेव उपाध्याय २७६
बलदेवदास ठाकुरदास १५
बलिया ३४६
बस्ती ४७४
बाँकुड़ा ५७, ५८, ६०, ६२, ६४; ६७, ६८, ९९, १०१, ११४, ११५, ११८, १३७, १५४, १६७, १७५, १७६, २०५, २८७, ३६८, ४२६, ४२९
बाँन्द्रा ४६१
बाँसतल्ला २८८
बाइबिल ४५२
बाबर ३२७
बाबूराव विष्णुपराडकर ३५, ३७, ५०, २७५
बाबूलाल अग्रवाल ३३८
बालकृष्ण पोद्दार ७२, ७३, ७४, १०३, १०४

बालगंगाधर तिलक ३५, ३८, ७६, २२२
बालमुकुन्द गुप्त ३७
बालमुकुन्द दास १५५
बालमुकुन्द मिश्र २७६
बालरुचि शर्मा ३१
बालूराम ७८
बालूराम शास्त्री २७६
बिपिनचन्द्र गांगुली ४२
बिहार-राज्य गोशाला-पिंजरापोल-संघ, ३२५
बिहारी लाल १८६
बीकानेर १, ६, ५७, ६७, ६८, ११६, १३६, २६०, ३६१
बीदासर १३६, ३००
बुलन्दशहर २७५
बेजवाड़ा ४७६
बेलूर ३२
बैजनाथ केडिया ५२
बैजनाथ देवड़ा ३२
बैजनाथ धानुका ३२
बोधगया १७६
ब्रजदास १७, ४२२
ब्रजलाल गोस्वामी २१२
ब्रह्मदत्तशास्त्री २७६
ब्रह्मबांधव उपाध्याय ३७, ४१, ४४, ३०२
ब्रह्मवैवर्त पुराण २३२, २३३
बी० बी० ऐण्ड० सी० आई० रेलवे ७३

भ

भगवती प्रसाद सिंह २७६, ३७३
भगवानदास २८३
भगवानदास (डा०) २७६
भगवान भजनाश्रम, वृन्दावन ३२४
भजनलाल श्रीनिवास १०
भजनसंग्रह भाग २, १२९
भजनानंद, स्वामी १५६
भरत ३५५
भवानीशंकर २७६
भविष्यपुराण २३३
भाईजी : पावन स्मरण ४६६, ४७६
भाऊनाथ ५
भागवत २१८, २२०, २२३,२३३, ३१७ ३२९, ३८९, ३९९, ४६९
भागवतदास ३१९
भागवत भवन ३२८
भारतमित्र ३७, १३४, ३०२
भारती कृष्ण तीर्थ २७५,
भारतीय चतुर्धाम वेदभवन न्यास ३२१
भारतेन्दु हरिश्चचन्द्र २२८
भारतभारती २७३
भास्करानन्द १०८
भिवानी १०२, ११४, १३६,१४६, १७२
भीखनलाल आत्रेय २७७
भीनासर २०८
भीमराज (पोद्दार) २, ३, ४, ५, ७, ११, १८, १९, २०,२१, २२, २५, २६, ४६, ५७, ६६, २०७, ३०२, ४२३
भुवनमोहनदास ४४
भुवनेश्वर १७३
भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' १६६, १९७, २५६, २५९, २६०, २७६
भूपेन्द्रनाथ दत्त ४१, ४२
भूपेन्द्रनाथ सान्याल २७२, २७६
भैरहवा ४७५

भोलानाथ शर्मा ३८
भोलेबाबा १०८; १४८, १५३, १७२, १७६

म

मँततूराम सरावगी २५, ४९, ५५
मंगलजी उद्धवजी शास्त्री २७५
मंगलदेव शास्त्री २७६
मंगलानाथ (स्वामी) ६, २७७
मगनलाल भाई १३५
मगनलाल हरिभाई व्यास २७५
मगनबाड़ी ८२
मणीन्द्रचन्द्र २७
मथुरा १७३, ३२५,
मथुरा राम शास्त्री २७७
मदन गोपाल कोठारी २०
मदन गोपाल गाड़ोदिया २७७
मदन मोहन २७३
मदन मोहन गोस्वामी २७६
मदन मोहन मालवीय ३८,६८,८३, ८४, ८५, १७२, २२८, २४१, २७६
मदन मोहन विद्याधर २७६
मदन लाल चौधरी ७०
मदुरा १७३, ३२६, ३२८
मधुसूदनाचार्य २७६, २७७
मधुसूदन सरस्वती २०५
मनीषीकी लीक यात्रा ३७२
मन्नालाल खेमका २६
मन्नालाल खुराना २१
मन्नूभाई १३५
मर्यादा ३८, ३०२
मलाड़ १००
महात्मागाँधी ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८३, ८६, ८८, ८९, ९१, ९२, ९९, १०८, ११६, १३४, १३५, १३८, १४४, १४९ १५०, १५८, १६४, १७४, २२८, ३१०, ३४०, ३८६
महादेव भाई देसाई ८८, ३१५
महादेवी १८. २४
महानामव्रत ब्रह्मचारी २७५, २७६
महावीर प्रसाद द्विवेदी ३५, २७३
महावीर प्रसाद पोद्दार (गोविन्दराम पोद्दार के पिता) ७
महावीर प्रसाद पोद्दार २८९
महावीर शर्मा ५२
महाभारत १३५, २१८, २२४, २३३, ३१७
महाराजगंज ३४७
महाराजा सिंधिया ८८
महाराष्ट्र १
महेन्द्रनाथ सरकार २७७
माडर्न रिव्यू ३६, ३०२
माण्डूक्योपनिषद् २२६
माधवाचार्य शास्त्री २७७
माधवानन्द (स्वामी) २७७
माधवप्रसाद मिश्र २७३, २७६
माधवराव सदाशिव गोलवलकर २०७, ३४०
माधवराव सप्रे १५२
माधवशरण श्रीवास्तव २६०
माधवहरि अणे २७७
मानसरोवर ४७५
मानसिंहका ७८
मानिकतल्ला ४३
मार्कण्डेय ब्रह्मपुराण २२५

मारवाड़ ११६
मारवाड़ी खादी प्रचारक मण्डल ८९
मारवाड़ी अग्रवाल महासभा ९७, ११३, ११८
मारवाड़ी बन्धु ३७
मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी ३३
मारवाड़ी सहायक समिति ३३, ३८, ९३
मालीराम ३२९
मुकुन्द ८५
मुकुन्ददास महन्त १३५
मुक्तिनाथ ४७५, ४७६
मुण्डकोपनिषद् २२६
मुनिकीं रेती ४५
मुनिलाल गुप्त २६०
मुरादाबाद २७४
मुरलीधर शर्मा २७७
मुरलीधर सराफ ३२
मुस्लिमलीग २४१
मुहम्मद अली ८६, २४०
मुहम्मदअली जिन्ना ८८, २४०
मूंडवा १३६
मूक-बधिर-विद्यालय, गोरखपुर ३२४, ३३१
मेघराज बाजोरिया ६०
मेरठ ३४९
मेरिया १५२
मैरीन ड्राइव १०४
मेहरदास, बाबा १७, ४२२
मेहरा (डा०) १९६, १९७
मैथिलीशरण गुप्त २७३
मैनचेस्टर ८९
मोतीनाथ जी (टूँटिया बाबा) ६, ७, ८, ४२२
मोतीराम भरतिया १५०
मोतीलाल जाजोदिया ६६
मोतीलाल नेहरू ८६
मोतीलाल रविशंकर २७६
मोतीलाल लाठ ३२
मोतीलाल शास्त्री २७६
मोतीशंकर २७६
मोहन लाल १६४
मोहनलाल (गोयनका) १८०
मोहनलाल पटवारी १६२
मोहनलाल सारस्वत ३२२
मोहम्मद हाफिज सैयद २७३, २७६
मोहू ४६३
मृत्युर-पर-पारे ४६१

य

यतीन्द्रनाथ दास ४२
यरवदा मन्दिर ८१, १४८, १४९
यशोदानन्दन अखौरी ३७, ३०२
यादव जी त्रीकम जी ११०
युगान्तर ३७, ४१
युगकिशोर बिड़ला ३६, ८५, ३१०
यूगलसिंह खीची २७७
योगानन्द (स्वामी) ११२
योगवाशिष्ठ २२०, २३२, २३३
योगी कथामृत ४५९

र

रंगनाथ दिवाकर २७६
रंगलाल जाजोदिया ३२, १४०
रघुनन्दन प्रसाद सिंह २७६
रघुवंश २३४
रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री २७७
रघुवीर (डा०) २७७

रतनगढ़ १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ११, १२, १४, १५, १७, १८, १९, २१, २४, २६, २७, ३३, ५७, ६६, ६८, ६९; ७४, ७९, १३६, १५०, १५१, १५७, १६४, १६५, १६६, १६७, १६९, १७०, १७१, ३२२, ३२४, ३२५, ३३२, ३३३, ३६०, ३६१, ३६३, ४२२, ४६६
रतनगढ़ नेत्र चिकित्सालय ३२५
रतनफाटक ४७१
रतीराम ७८
रम्भानाथ ६
रमाकान्त ८४
रमानाथ शास्त्री २७६
रमापति शास्त्री ८६
रमाशंकर मोहनजी भट्ट २७६
रवीन्द्र की परलोक चर्चा ४५७
रवीन्द्रनाथ ठाकुर ३६, ४२४
रस्किन ३८७
रसिकमोहन विद्याभूषण २७७, ४२३
राघवदास (बाबा) ८२, ८३, १४१, १४५, १५५, १७२, २७३, ३१०, ३३२
राघवाचार्य २७७
राजगढ़ २५
राजगोपालाचारी, चक्रवर्ती २७३, २७७
राजापुर ३१८
राजवली पाण्डेय २५७, २५८, २६०, २७६
राजस्थानी सबदकोस १
राजाराम मोतान ९७
राजाराम शास्त्री १५९
राजेन्द्र प्रसाद (राष्ट्रपति) १७३, १७४, २४४, २७७
राधा, भालोटिया १९९
राधाकमल मुखर्जी २७५
राधाकान्त ८४
राधाकुण्ड १४८
राधाकुमुद मुखर्जी २७५
राधाकृष्ण मिश्र २७२, २७६
राधाबाबा, स्वामी चक्रधर २०२, २०३
राधामाधव-रस-सुधा ३१५
राधामोहन मुखर्जी ३९२
राधेश्याम बंका २६१
रामकरण १०२
रामकुमार गोयन्दका ३७
रामकुमार जालान ३२
रामकोट ३२६
रामकौर देवी ३, ४, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १७, १८, १९, २०, २१, २४, २६, ४७, ५०, ५४, ६४, ७७, ९१, १०९, ३०२, ४२२
रामकृष्ण डालमिया १०२, १०४, १०५, ३४८
रामकृष्ण परमहंस १९४, २५४, ३४३
रामकृष्ण आचार्यलु २७६
रामगोविन्द त्रिवेदी २७०
रामचन्द्र कृष्ण कामत २७६
रामचन्द्र चक्रवर्ती २७६
रामचन्द्र दीक्षितार २७६
रामन्द्रपुर ३२५
रामचन्द्रिका २३४
रामचरण महेन्द्र २७७
रामचरितमानस ३, १०८, १०९, १४८

२२२, २३४, २५९, ३०९, ३५४, ३७५, ४२२, ४६६
रामजीदास बाजोरिया ३४, १४५,
रामदयाल मजुमदार २७६
रामदास (जालान) १६२
रामदास गौड़ २७३, २७६
रामदेई ३०, ५०, ५५, ६६, ७४, १४३
रामनारायणदत्त शास्त्री १७९, २६२, २६३, २७६,
रामनारायण रुइया १२७
रामनिरीक्षण सिंह २७७
रामनिवास शर्मा २७७
रामानन्द चटर्जी ३०२
रामप्रसाद १५६
राममनोहर लोहिया, डा० १०९
राममाधव चिंगले २७७
रामरतन दास १७
रामरसाधन २३४
रामलाल गनेड़ीवाला ९४
रामलाल पहाड़ा २७७
रामलाल वर्मा ३७, २४५, ३०२
रामलाल श्रीवास्तव २६१, २६२
रामवल्लभाशरण १४८, २७७
रामसनेही १७०, २०३, २१२, २१३
रामसुखदास (स्वामी) २०९, २७७
रामशंकर २७२,
रानेश्वरदास बिड़ला ८६
रामेश्वरप्रसाद मुरारका १३२
रामेम्वरम् ३३१
रामेश्वरलाल १५२
रायगंज २९०
रायरामानन्द ४२४
राल्फ वांल्डो ट्राइन २५४
रासमोहन चक्रवर्ती २७६
रिखी बाई ४, ७, २९
रिड़मल २
रुद्र-प्रयाग ३३१
रूड़मल गोयन्दका १९२, १९३
रूपसनातन-शिक्षामृत ४२४
रूस ३८१, ३८२, ३८३
रेवाड़ी ११४
रेहाना तय्यब जी १६९, ३५३
रोडाकाण्ड ५०
रोनाल्ड निक्सन २७६, ४७७
रोहतक १३६
रोडा एण्ड कम्पनी ५०

ल

लक्ष्मणगढ़ ७८, ११५, १५१
लक्ष्मण नारायण गर्दे १३४, २५७, ३०२, ४७१
लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर २५७, २७६
लक्ष्मीचन्द लोहिया ७३
लक्ष्मीदासभवन ३२८
लक्ष्मीनाथ ५, ६, ४२२
लक्ष्मीनारायण १०२
लक्ष्मीनारायण मुरोदिया ११४
लखनऊ १३६, १५३, ४६४
लच्छीराम चूड़ीवाला ११५, १५०
लज्जाराम मेहता २७२, २७६
लल्लन प्रसाद व्यास २७७
लौटू सिंह गौतम २७६
लादूराम (पं०) १५९, २९४, २९९, ३००

लालबहादुर शास्त्री ३१०
लालजी राम शुक्ल २७६
लालालाजपतराय ३५, ७६, ८६, ८८
लालीमाई १४७, २०८
लिडिस्टान ४२४
लिपिविस्तार परिषद ३७
लिली एलेन ३६
लिलुआ ३२, ५२
लिवरपूल ८९
लेवरनम रोड ७८
लोकमान्य तिलक ९८
लोकेश चन्द्र (डा०) २७७
लोहगंज (तारपासा) २२

व

वन्देमातरम् ४१
वणिकप्रेस २८९
वर्धा ७१, ८२
वर्ल्ड-बर्थ ३७७
वल्लभभाई पटेल ८८
वसन्त कुमार चट्टोपाध्याय २७५, २७६
वसन्ती देवी २९४
वाराणसी ७१, १७५, २५७, २६३, ४६३
वारीन्द्र घोष ४३
वाल्मीकिरामायण २२४, २३४, ३१७
वास (मि०) ६३
विक्टोरिया टर्मिनस १३८, १३९
विजय कृष्ण गोस्वामी १४९
विजयानन्द त्रिपाठी २७७
विजयराघवाचार्य ८७
विट्ठलदास मोदी २५७
विट्ठल भाई पटेल ८८
विद्याधर शास्त्री २५६
विद्यापति ४२४
विनयकुमार मित्र २८३
विनयतोष भट्टाचार्य २७६
विनय-पत्रिका २५१, ३०१
विनायक दामोदर सावरकर ८८
विनोबा ८८, ३३२
विपिनचन्द्रपाल ३०
वियोगी हरि १४३, १४४, २७६
विरधी चन्द्र पोद्दार १०६
विरधी चन्द्र शर्मा २७६
विलासराय ६
विवेकानन्द (स्वामी) ३५, ४१
विशुद्धानन्द अस्पताल ३४
विशुद्धानन्द परमहंस १०८, १४८
विशुद्धानन्द भारती २७६
विश्वनाथदास ३३०, ३३१
विश्वेश्वरलाल हलवासिया ३४
विष्णु दिगम्बर पलुस्कर १०८, १०९, ११०, १११, ३१०, ४३४, ४३५
विष्णुप्रिया ४२४
विष्णुपुराण ९७, २३३
विष्णुसहस्त्रनाम ७, २०, ४२६
वीरभूमि ४२३
वेंकटेश्वर प्रेस १०८, २१४, २५५
वेंकटेश्वर समाचार ९९
वेणीराम शर्मा गौड़ २७७
वैद्यनाथ दास ४२
वैश्यसभा २७
वृन्दावन १४८, १८६, २६५, २७३, ३२४, ३२५
वृन्दावन भजन सेवाश्रम ३२५
वृहदारण्यक उपनिषद् ३१७

वी० एच० वडेर २७६

श

शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ २७६
शंकर लाल २५६
शंकरानन्द (स्वामी) २५, ३२
शचीन्द्र बोस ४३
शब्द-कल्पद्रुम १
शरत् चन्द्रबनर्जी ४७
शा, डेस्मण्ड ३७७
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र २२८
शान्तनु बिहारी द्विवेदी १५५, १६६, २५७, २५८, २६०
शान्ता क्रुज ७३
शान्तानन्द सरस्वती २७७
शान्तिकुमार नानूराम व्यास २७७
शान्ति प्रकाश आत्रेय २७७
शारदा चरण मित्र ३७
शार्दूल फ्रीवाटर सप्लाई बर्क्स ३२४
शाहपुर ११४, २६०
शिमलापाल १४, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७ ६८, ६९, ७५, ८८, १५०, १७५, १७६, २०४, ३०४, ४३१
शिवठाकुर की गली ५०
शिवदत्तराय ७३
शिवदास मोहता ६
शिवनाथ दूबे २६१, २६२, २७६, ४४७
शिवनारायण नेमाणी १३४, ४३०
शिवनारायण नेमाणी बाड़ी १०६, २५५
शिवनारायण व्यास २०
शिवनारायण शास्त्री २७६
शिव प्रताप आचार्य २०
शिवप्रसाद गुप्त ८५
शिव पुराण २३२. ४६७
शिव भगवान फोगला १४३, १८६
शिवमूर्ति सिंह १४५
शिवरामकिंकरयोगत्रयानन्द, स्वामी २७६
शिवलाल शास्त्री २७६
शिवसागर १३३
शिवानन्द (स्वामी) १४५, १५३
शिलांग ३, ४, ५, १०, ११,१९, १३२
शिशिरकान्त घोष ४६१
शिशिर कुमार घोष ४४१
शुकदेव बाबू १५९, २९४
शुकदेवानन्द (स्वामी) १५६
शेखावाटी ७८
श्यामाकान्त द्विवेदी २७७
श्यामसुन्दर चक्रवर्ती ३७, ४३
श्वेताश्वतर उपनिषद् २२६
श्रीकृष्ण माधुरी ४२४
श्रीकृष्ण जन्मभूमि सेवासंघ; मथुरा ३२५
श्रीमूर्ति गौपिन्द ४२४
श्रीगोपाल नेवटिया ९९
श्री गोपीगीता ४२४
श्री नाम माधुरी ४२४
श्रीनिवास १०
श्रीनिवासदास ७०, ७१, ७४,
श्रीप्रकाश २७७, ३३१
श्रीरंगम् ३३१
श्रीराम गोयनका १०
श्रीराय रामानन्द ४२४
श्रीलाल याज्ञिक ९८, ११२, २७२
श्रीशचन्द्र ५०, ५२
श्रुतिशील शर्मा २७७

स

संकर्षणदास (स्वामी) २७७
संध्या ३६, ४१
संबलपुर ४६६
संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी १
सखाराम गणेश देउस्कर ३७, ३०२
सखीराम १, २
सतना ४६८
सतीशचन्द्र चटर्जी ४३
सतीशचन्द्र मुखर्जी २७६
सत्यनारायण १५८
सदानन्द (स्वामी) १८२, १८३
सदाशिव कृष्ण फड़के २७७
सदाशिव शास्त्री २७६
सनातन देव (स्वामी) २७४, २७६
सनातन पुष्टिकारिणी सभा २५
एस० एन० ताड़पत्रीकर २७६
सनावद १२६, २६०
सभापति मिश्र २८२
सम्पूर्णानन्द १५९, २५७, ३१०, ३४५
समर्थ गुरु रामदास (स्वामी) ९९
समाज सुधार समिति ३१
सरदारशहर ५, ३२५
सरस्वती ३८
सर्वदलीय गोरक्षा आन्दोलन ३२५
सरोज ३७७
सरोजनी २२, २३, २४, ४५८
सरोजनी नानावती २७६
सरोजवाला ३३६
सस्तुं साहित्य वर्द्धक मंडल १४३, २५०
साँगीदास थाणवी ७१
साँडवा १३६
सागरमल गनेडीवाला ४३३, ४३४, ४३५
साधन-पथ ४६७, ४६८
साबरमती ७७, ७९, १३४
सालासर ७, ३२६, ३२९, ४२२
सावित्री कन्यापाठशाला २७
सावित्री देवी २, १४३, १६९, ३२२
साहबगंज १४४
साहित्य संवर्द्धिनी समिति २७, ३६
सिम्पसन (लेडी) ३७९
सीकर ७८
सीतामढ़ी २८७
सीताराम ३०
सीताराम दास ओंकारनाथ (बाबा) १८८
सीताराम विद्यामार्तण्ड २७६
सीताराम शास्त्री २७३, २७६
सीताराम साँगानेरिया ५०
सीताराम सेक्सरिया ३२
सुकरात २५४
सुकुमार मित्र ४४
सुखदेव अग्रवाल २९६, २९७, २९८, ४६४, ४६५
सुखलाल २२, ५०, ५१
सुखानन्द १०६, ४३३
सुखानन्द धर्मशाला १४६
सुजानगढ़ ६, १३६
सुदर्शनसिंह २६१, २७६, १७५, ४७६
सुबोध चन्द्र मल्लिक ३९, ४३
सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ३०
सुरेमनपुर ३४६
सुबटी बाई ३५, ४६
सूतापट्टी ५१
सूर्यकान्त १८६, १८९

सूरसागर २३४, २५९
सैय्यद कासिमअली २७६
सोभनाथ ९८
सोहनाग १४३
स्कन्दपुराण २२७, २३४
स्लेड (मिस) १३५
स्वदेशबांधव समिति ४५
स्वदेशी आंदोलन ९१
स्वर्गाश्रम १७५, १८२, १८३, १८७
स्वर्गाश्रम ट्रस्ट ३२५
स्वरूपरानी नेहरू १४४
स्वरूपानन्द, स्वामी २७६

ह

हजारीलाल माहेश्वरी २६०
हनुमत्कवच ४२६
हनुमन्नाटक २३४
हनुमान चालीसा ४२२
हनुमानदास गोयन्दका ३९
हनुमान शर्मा २७६
हरिकृष्ण जौहर ३७
हरिकृष्ण दास गोयनका १३९, १४०, १६०, २५६
हरिजन-सेवक १४४
हरिदास ३१६
हरिदास साँवलका १९
हरिद्वार १७, १८, ३८, १४५
हरदेई बाई २९४
हरिप्रसाद शर्मा २७५
हरिबख्श साँवलका ३४, ४०, ४२३
हरिबाबा (स्वामी स्वतः प्रकाश) १०८, १३६, १४८, १५१, १५२, १५३, २७२
हरिराम ४६१
हरिराम गोयनका २५
हरिराम जी १६३, १८६
हरिराम शर्मा १०४
हरिवंश पुराण २३३
हरिवक्ष जोशी १०८
हरिसनरोड २३, ५०
हरिस्वरूप जौहरी २७३
हरिहरनाथ हुक्कू २७६
हाँसी ३३६
हापाराम २
हाराणचन्द्र शास्त्री २७६
हासानन्द २१
हितवार्ता ३७
हितशरणशर्मा १८६
हिन्दी भवन ३४९
हिन्दी साहित्य परिषद् २७, ३७
हिन्दी साहित्य सम्मेलन ८५, १४४
हिन्दू क्लब २७
हिन्दूपंच २४५
हिन्दू सभा २७, ३८६
हीरालाल सराफ ३२
हीरा सिंह ३००
हीरेन्द्र दत्त २७६
हेरीहेग (सर) १७६
हैदराबाद ९४
होशियारपुर २०, १५१

●
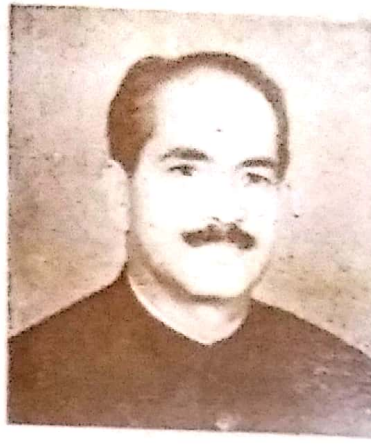
डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह

जन्म स्थान : अयोध्या के समीप का गोंडा जिले का एक ग्राम-अनभुला, सं० १९७५ वि० ।

शिक्षा : एम० ए०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; पी-एच०डी०, आगरा विश्वविद्यालय; डी० लिट्०, गोरखपुर विश्वविद्यालय ।

वृत्ति : १९४४-५८ प्राचार्य, डी० ए० वी० कालेज, बलरामपुर। १९५८ से अद्यावधि हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ।

प्रवृत्ति : हस्तलेखों एवं पुरावशेषों का अनुसंधान तथा संग्रह और संतों के जीवन-दर्शन तथा भक्ति साहित्य का अनुशीलन ।

कृतित्व :

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, मनीषी की लोकयात्रा, रामभक्ति : परम्परा और साहित्य, भुशुण्डि रामायण : आलोचना एवं कथावस्तु, राम-काव्यधारा : अनुसंधान एवं अनुचिंतन, हिन्दी साहित्य : अनिर्दिष्ट शोधभूमियाँ, महात्मा बनादास : जीवन और साहित्य, साहित्य और संस्कृति : कुछ अंतर्यात्राएँ ।

सम्पादित पुस्तकें :

दिग्विजय भूषण, भाई जी : पावन स्मरण (श्री हनुमानप्रसाद-पोद्दार-स्मृतिग्रंथ), महंत दिग्विजयनाथ-स्मृतिग्रंथ, गोरख-दर्शन, विस्मरण-सम्हार, गुरु-महात्म्य, भुशुण्डि रामायण, पद्मावती (सचित्र), उभयप्रबोधक-रामायण (महात्मा बनादास कृत), परमार्थ-पथिक (स्वामी भजनानंद अभिनंदन-ग्रंथ) ।

चित्र तथा आवरण-जौहरी प्रिन्टर्स गोदौलिया, वाराणसी । फोन : ६६८१६